ॐ

पातञ्जलयोगप्रदीप

ग्रन्थकार—

श्रीस्वामी ओमानन्द तीर्थ

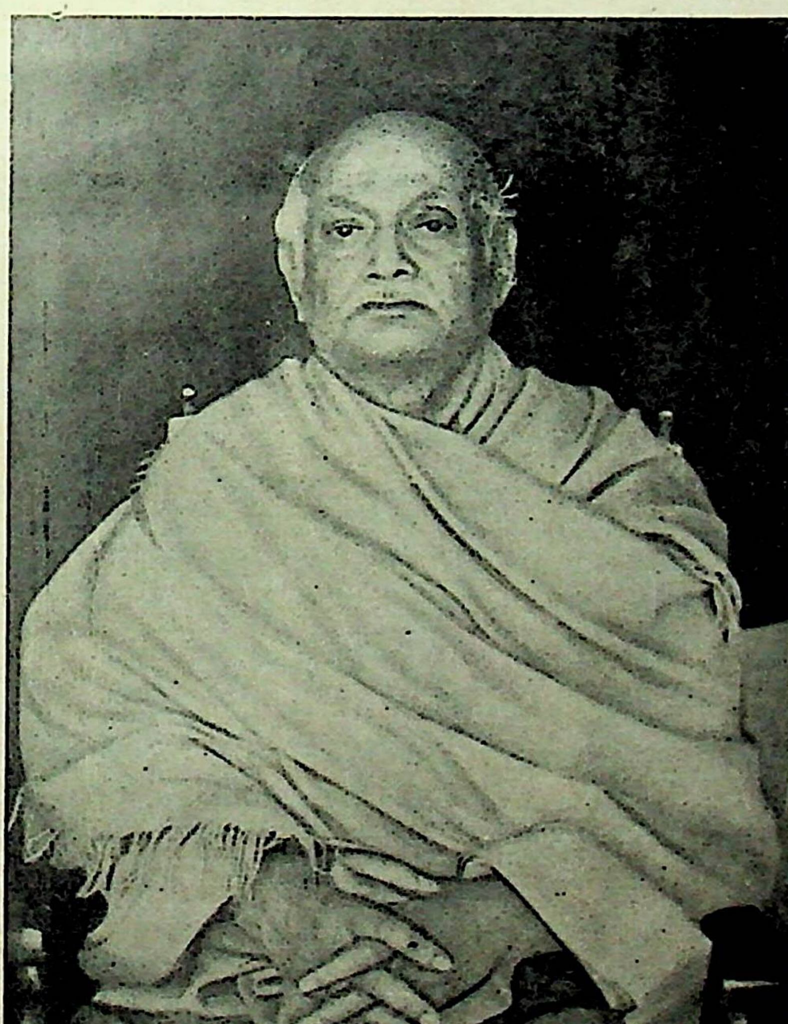
प्रकाशक
मोतीलाल जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० २०१६ से २०१८ तक		१०,०००
सं० २०२४ पञ्चम संस्करण		१०,०००
सं० २०३० षष्ठ संस्करण		५,०००
	कुल	२५,०००

मूल्य साढ़े सात रुपया

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि



श्रीयुक्त महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज, एम्० ए०, डी-लिट्०,

भूतपूर्व प्रिंसिपल, गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, वाराणसी

परम पूज्यपाद योगिराज
श्रीस्वामी सियारामजी महाराज



'मेरा यह लक्ष्य था कि मैं पुरुषों तथा स्त्रियोंमें इस बातकी जागृति करा दूँ कि यदि वे व्यवहारको शुद्ध और आहारको सात्त्विक बनाकर शरीरको ठीक रखें और विषयोंसे मनको हटाकर अन्तर्मुख करें तो उनको अपने भीतरके खजानेका पता लग सकता है ।'

—सियाराम

विषयानुक्रमणिका

ॐ

द्वितीय संस्करणके प्रकाशकका वक्तव्य

पूज्य श्रीस्वामीजी महाराजने योगके यथार्थ रहस्य तथा स्वरूपको मनुष्यमात्रके हृदयङ्गम करानेके लिये 'पातञ्जलयोगप्रदीप' नामक पुस्तक लिखी थी। उसका प्रथम संस्करण अनेक वर्षोंसे अप्राप्य हो रहा था। अब उसकी द्वितीयावृत्ति 'आर्य-साहित्य-मण्डल' द्वारा छपकर पाठकोंके सम्मुख प्रस्तुत है। इस वार श्रीस्वामीजी महाराजने इसमें अनेक विषय बढ़ा दिये हैं और योग-सम्बन्धी अनेक चित्रोंका समावेश किया है। इससे ग्रन्थ प्रथम संस्करणकी अपेक्षा लगभग दुगुना हो गया है। इस ग्रन्थमें योगदर्शन, व्यासभाष्य, भोजवृत्ति और कहीं-कहीं योगवार्त्तिकका भी भाषानुवाद दिया है। योगके अनेक रहस्य—योगसम्बन्धी विविध ग्रन्थों और स्वानुभवके आधारपर भली प्रकार खोले हैं, जिससे योगमें नये प्रवेश करनेवाले अनेक भूलोंसे बच जाते हैं। श्रीस्वामीजीने इसकी 'षड्दर्शन-समन्वय' नाम्नी भूमिकामें मीमांसा आदि छहों दर्शनोंका समन्वय बड़े सुन्दररूपसे किया है। महर्षि दयानन्द सरस्वतीको छोड़कर अर्वाचीन आचार्य तथा विद्वान् छहों दर्शनोंमें परस्पर विरोध मानते हैं, किंतु श्रीस्वामीजी महाराजने प्रबल प्रमाणों तथा युक्तियोंसे यह सिद्ध करनेका प्रयास किया है कि दर्शनोंमें परस्पर विरोध नहीं है। श्रीस्वामीजी महाराज इस प्रयासमें पूर्ण सफल हुए हैं तथा कपिल और कणाद ऋषिका अनीश्वरवादी न होना, मीमांसामें पशु-बलिका निषेध, द्वैत-अद्वैतका भेद, सृष्टि-उत्पत्ति, बन्ध और मोक्ष, वेदान्त-दर्शन अन्य दर्शनोंका खण्डन नहीं करता, सांख्य और योगकी एकता आदि कई विवादास्पद विषयोंका विवेचन स्वामीजी महाराजने बड़े सुन्दर ढंगसे किया है, इसके लिये स्वामीजी महाराज अत्यन्त धन्यवादके पात्र हैं। दर्शनों और उपनिषद् आदिमें समन्वय दिखलाने और योगसम्बन्धी तथा अन्य कई आध्यात्मिक रहस्यपूर्ण विषयोंको साम्प्रदायिक पक्षपातसे रहित होकर अनुभूति, युक्ति, श्रुति तथा आर्षग्रन्थोंके आधारपर खोलते हुए स्वामीजीने अपने स्वतन्त्र विचारोंको प्रकट किया है। अतः इन विचारोंका उत्तरदायित्व श्रीस्वामीजी महाराजपर ही समझना चाहिये न कि आर्यसाहित्य-मण्डलपर।

पुस्तकको अधिक उपयोगी बनानेके उद्देश्यसे स्वामीजीके आदेशानुसार यथोचित स्थानोंमें चित्र भी दिये गये हैं। कुछ आसनोंके चित्र पं० भद्रसेनजीके यौगिक व्यायाम-संघके ब्लाकोंसे लिये गये हैं। जिनके लिये पं० भद्रसेनजी मण्डलकी ओरसे धन्यवादके पात्र हैं।

—प्रकाशक



श्रीहरिः

गीताप्रेसद्वारा प्रकाशित तृतीय संस्करणके सम्बन्धमें

निवेदन

इस ग्रन्थके दो संस्करण अन्य स्थानोंसे प्रकाशित हो चुके थे। हमारे सम्मान्य श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दकाने जब योगदर्शनकी टीका लिखी, तब उनको इस ग्रन्थसे पर्याप्त सहायता मिली और उन्होंने अपनी टीकाकी भूमिकामें इसका उल्लेख भी किया। इससे 'योगदर्शन' के बहुत-से पाठकोंने इस ग्रन्थके लिये माँग की। पता बतलाये जानेपर अनेक पाठकोंने ग्रन्थकार महोदयसे ग्रन्थ प्राप्त करनेका भी प्रयत्न किया, किंतु ग्रन्थका दूसरा संस्करण भी समाप्तप्राय होने तथा मूल्य अधिक होनेके कारण वह सबको सुलभ न हो सका। इसपर ग्रन्थकार महोदयने उसे गीताप्रेसके द्वारा प्रकाशित किये जानेके लिये अनुरोध किया, अतः गीताप्रेसके द्वारा उसका प्रकाशन स्वीकार कर लिया गया। एवं ग्रन्थकार श्रीस्वामी ओमानन्दजी महाराजने इस ग्रन्थके प्रकाशनका सर्वाधिकार गीताप्रेसको दे दिया। यद्यपि यह ग्रन्थ प्रेसमें मुद्रणार्थ बहुत दिनोंसे दिया हुआ था, किंतु कार्य बहुत अधिक होनेके कारण शीघ्र प्रकाशित न हो सका। भगवत्कृपासे अब यह छपकर तैयार हो चुका है। मुद्रणकी अनेक कठिनाइयों और महँगाईके होते हुए भी पाठकोंको सुविधाके लिये इसका मूल्य दूसरे संस्करणसे आधा ही रखा गया है। इस ग्रन्थमें श्रीस्वामीजी महाराजने अपने दृष्टिकोणके अनुसार जो विचार प्रकट किये हैं, उनका उत्तरदायित्व उन्हींपर समझना चाहिये, प्रकाशकपर नहीं। आशा है इस ग्रन्थसे पाठक लाभ उठावेंगे।

चतुर्थ संस्करण

अबकी बार श्रीस्वामीजी महाराजने सूर्यभेदी व्यायाम (सूर्य-नमस्कार) का सविस्तर विवरण और जोड़ दिया है, अतः उसकी प्रक्रियाको प्रदर्शित करनेवाले ९ इकरंगे चित्र भी आर्टपेपरपर छापकर लगाये गये हैं। साथ ही कुछ अन्य आसनोंके भी ६ चित्र और बढ़ाये गये हैं। इनके अतिरिक्त स्थान-स्थानपर अन्यान्य उपयोगी विषयोंका भी समावेश किया गया है, जिससे इसकी उपयोगिता और भी बढ़ गयी है। इन्हीं कारणोंसे इस संस्करणमें २४ पृष्ठकी और वृद्धि हो गयी है, तथापि इसका मूल्य वही रक्खा गया है। आशा है कि इन सब उपयोगी सामग्रियोंसे पाठकगण अब और अधिक लाभ उठा सकेंगे।

पञ्चम संस्करण

इस संस्करणके प्रकाशित होनेसे पूर्व ही पू० स्वामीजी श्रीओमानन्दतीर्थजी महाराजका परलोकवास हो चुका है। उनका एक चित्र इसमें लगा दिया गया है।

—प्रकाशक

प्राक् वक्तव्य

[१]

श्रीमान् डा० मङ्गलदेवजी शास्त्री, एम्० ए०, डी० फिल्० (ऑक्सन) प्रिंसिपल संस्कृत-कालेज बनारस, सुपरिंटेंडेंट आफ संस्कृत स्टडीज यू० पी० तथा रजिस्ट्रार संस्कृत-कालेज-परीक्षा युक्तप्रान्त, वाराणसी

'योग' शब्दका मौलिक अर्थ क्या है ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। तो भी इसमें कोई संदेह नहीं कि 'योग' का अर्थ वास्तवमें निषेधपरक* न होकर विधिपरक ही है। परंतु योगसूत्रमें 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इस प्रकार योगका जो प्रारम्भिक वर्णन किया है, वह निषेधपरक ही है। इसका कारण प्राथमिक अभ्यासीको, योगके तात्त्विक स्वरूपको, जो 'स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते' के अनुसार स्वयंसंवेद्य ही है, समझनेकी क्षमताका न होना ही है।

योगके विषयमें ध्यान रखनेकी दूसरी बात यह है कि वह वास्तवमें एक दर्शन नहीं है। वह तो वृत्तियोंके रूपमें फुलझरी-सदृश प्रतिक्षण उपक्षीयमाण जीवनी-शक्तिको स्वरूपमें स्थिर करके अनघभास्वर मणिकी तरह स्वयंप्रकाश आत्माके स्वरूपको 'अनुभव' करनेकी एक विशिष्ट कला है। इसी कलाका विभिन्न दृष्टियोंसे भगवद्गीतामें 'समत्वं योग उच्यते', 'योगः कर्मसु कौशलम्' इस प्रकार वर्णन किया है। पर इस कलाका भी दार्शनिक आधार होना चाहिये। इसी दृष्टिसे जैसे न्याय (तर्क) का कला होनेपर भी, दर्शनोंमें समावेश किया जाता है, उसी प्रकार योगकी गणना दर्शनोंमें की गयी है।

उपर्युक्त कारणोंसे योगकी ठीक-ठीक व्याख्या केवल शुष्क पाण्डित्यके सहारे नहीं हो सकती। अतएव योगसूत्रोंपर अनेकानेक पाण्डित्यपूर्ण टीकाओंके होनेपर भी वास्तविक दृष्ट्या उनका कोई महत्त्व नहीं है। इसके विपरीत 'पातञ्जलयोगप्रदीप' का महत्त्व इसीमें है कि इसकी रचना एक ऐसे विशिष्ट व्यक्तिने की है, जिन्होंने जीवनकी प्रयोगशालामें इस कलाका अभ्यास किया है। ऐसी व्याख्याके एक-एक शब्दका महत्त्व होना चाहिये। ग्रन्थकर्त्ताने अपने अनुभवके आधारपर न केवल सूत्रोंकी विशद व्याख्या ही लिखी है, किंतु योगमार्गके यात्रीको जिस-जिस बातके जाननेकी आवश्यकता हो सकती है, उस-उसको बतलानेका प्रयत्न किया है। दार्शनिक जिज्ञासुओंके लिये दार्शनिक समन्वयकी विद्वत्तापूर्ण व्याख्या भी इस ग्रन्थका एक विशेष महत्त्व है।

भारतवर्षमें अत्यन्त प्राचीन कालसे ही योगशास्त्रका विकास हुआ है। इसलिये विभिन्न शास्त्रीय परम्पराओंमें योगविषयक अनेकानेक बहुमूल्य अनुभव और उपयोगी विचार बिखरे पड़े हैं। बिखरे हुए मोती-सदृश इन विचारों और अनुभवोंको भी इस व्याख्यामें विवेचनापुरःसर यथास्थान एकत्रित करके ग्रन्थकर्त्ता महोदयने जिज्ञासुओं और साधकोंका बड़ा उपकार किया है। इस संस्करणमें व्याख्याकर्त्ताने इस व्याख्याको सर्वथा सर्वाङ्गपूर्ण बनानेकी चेष्टा की है। इसके लिये हम सबको उनका आभारी होना चाहिये। आशा है, जिज्ञासुजन इस संस्करणका पूर्ण सदुपयोग करेंगे।

---

* अर्थात् शून्यवादके सदृश योग निषेधपरक नहीं है, वरं अन्वयव्यतिरेकके साथ नेति-नेतिद्वारा परब्रह्म परमात्मस्वरूपको प्राप्त कराता है।

[२]

श्रीस्वामी दिव्यानन्दजी महाराज (पूर्व बा० देवकीनन्दन गुप्त वानप्रस्थी)
(संयोजक पातञ्जलयोगप्रदीप-प्रकाशन-प्रबन्ध-परिषद्)

सन् १९३९ के अप्रैल मासमें स्वर्गीय लाला रघुवरदयालजी मैजिस्ट्रेटकी प्रेरणासे श्रीस्वामी ओमानन्दजी महाराज, स्वर्गीय लाला प्यारेलालजी रिटायर्ड डिस्ट्रिक्ट एंड सेशन जज, ब्रह्मचारी शिवचरणजी नगीनानिवासी और मैं रामगढ़ जिला नैनीताल गये। वहाँ हम 'श्रीनारायण स्वामी आश्रममें' ठहरे। वहाँके शान्त वातावरणमें श्रीस्वामी ओमानन्दजी महाराजने दो बजे अपना मौन-व्रत खोलनेके पश्चात् एक घंटा प्रतिदिन योगदर्शनका प्रवचन करना स्वीकार किया।

प्रवचन समाप्त होनेपर लाला रघुवरदयालजीकी इच्छा हुई कि जनताकी जानकारीके लिये योग-दर्शनके सिद्धान्त बहुत संक्षिप्तरूपमें जनताके समक्ष रखे जायँ। अतः उन्होंने एक छोटी-सी पुस्तक लिखी और उस पुस्तकको श्रीस्वामीजी महाराजकी ओरसे छपवानेका विचार प्रकट किया। स्वामीजीने कहा कि इससे कुछ लाभ न होगा; अच्छा तो यह होगा कि पुस्तक पर्याप्त विस्तृत हो। लालाजीके इच्छानुसार स्वामीजीने एक घंटा प्रतिदिन मौन खोलनेके पश्चात् लिखवाना शुरू कर दिया। परंतु ऐसा करनेसे पूर्व पूज्यपाद गुरुदेवजी श्री १०८ स्वामी सोमतीर्थजी महाराजकी स्वीकृति आवश्यक समझी गयी। गुरुदेवजी महाराजका उत्तर आया कि भापाटीकाएँ बहुत हैं, अतः इससे कुछ लाभ न होगा। यदि टीका विशेष महत्त्वकी हो तो कोई आपत्ति नहीं है।

स्वामीजी गुरुदेवजीके आदेशके अनुसार अपने अनुभवके आधारपर प्रतिदिन एक घंटा लिखाते रहे। ब्रह्मचारी शिवचरणजी और लाला रघुवरदयालजी लिखते थे। लिखनेके पश्चात् दोनों मिलाकर भूलोंको ठीक कर लेते थे। कुछ दिनोंके पश्चात् बाबू गंगाप्रसादजी चीफ जस्टिस भी रियासत टिहरीसे रिटायर्ड होकर वहाँ आ गये।

पहाड़से नीचे उतरनेपर यह उचित समझा गया कि छपवानेसे पूर्व गुरुजी महाराज पुस्तकको एक बार सुन लें। स्वास्थ्य अत्यन्त खराब होनेपर भी गुरुजी महाराज दिनमें अवकाश न मिलनेके कारण रातके समय सुनते रहे और अनुभवके आधारपर यथा-तथा संशोधन कराते रहे।

यह भी उचित समझा गया कि सूत्रोंकी व्याख्या व्यासभाष्यके आधारपर की जाय और जनताके लाभके लिये जहाँ आवश्यक हो भोजवृत्ति, विज्ञानभिक्षुके योगवार्त्तिक तथा वाचस्पति मिश्रकी टीका भी दी जाय।

कुछ मित्रोंके अनुरोध करनेपर हिप्नोटिज्म (Hypnotism), मेसमेरिज्म (Mesmerism) आदि एवं उत्तरायण, दक्षिणायन आदिकी यथास्थान व्याख्या भी कर दी गयी और हठयोगकी षट् क्रियाएँ तथा प्राणायाम, आसन, मुद्रा आदिका विस्तारसे वर्णन कर दिया गया, जिससे पाठकोंको दूसरी पुस्तकोंका सहारा ढूँढ़ना न पड़े। प्रत्येक पादके अन्तमें उपसंहारके रूपमें यह बतला दिया गया कि उसमें क्या-क्या विषय है।

स्वामीजी महाराजको बहुत-सी अनुभूत ओषधियाँ साधुओं, महात्माओंसे प्राप्त हुई थीं तथा उन्होंने स्वयं अनुभव किया था और कराया था। साधकोंके हितार्थ कुछ मित्रोंके आग्रहसे उनको भी यथास्थान प्रकाशित करा देना आवश्यक समझा गया। पुस्तकके प्रकाशनका कार्य एक प्रकाशन-प्रबन्ध-परिषद्के अधीन कर दिया गया, जिसके निम्नलिखित सभासद् थे—

१–श्री १०८ स्वामी सोमतीर्थजी महाराज

२–श्रीस्वामी ओमानन्दजी तीर्थ

३–रायबहादुर श्रीगंगाप्रसादजी एम्० ए० रिटायर्ड चीफ जस्टिस टिहरी गढ़वाल

४–श्री बा० प्यारेलालजी रिटायर्ड डिस्ट्रिक्ट ऐंड सेशन जज (स्वर्गीय)

५–श्री ला० रघुवरदयालजी रिटायर्ड मैजिस्ट्रेट (स्वर्गीय)

६–श्री ला० हरप्रसादजी एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, दिल्ली

७–श्री मास्टर बाबूप्रसादजी कोषाध्यक्ष, सेंट्रल को-ऑपरेटिव-बैंक, अजमेर

८–श्री बा० जगदीशप्रसादजी एम्० ए०, सम्पादक प्रदीपप्रेस, मुरादाबाद

९–श्री बा० देवकीनन्दनजी गुप्त वानप्रस्थी (वर्तमान स्वामी श्रीदिव्यानन्दजी)

श्री ला० प्यारेलालजी तथा ला० रघुवरदयालजीने पुस्तकके प्रकाशनार्थ सौ-सौ रुपये प्रदान किये। पुस्तकको अङ्कोंके रूपमें छपवाना आरम्भ किया गया। किंतु कुछ अङ्कोंके निकल जानेके पश्चात् बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ा। कुछ मित्रोंने सलाह दी कि कार्यको बंद कर दिया जाय, परंतु स्वामीजीको यह असह्य था कि कुछ ग्राहकोंसे पूरी पुस्तकके दाम लेकर उन्हें थोड़े-से अङ्क दिये जायँ। कुछ मित्रोंकी सहायतासे ऋण लेकर कार्य पूरा हो पाया। परंतु प्रेसके ऋणसे सर्वथा मुक्त करवानेका श्रेय श्री ला० ब्रजलालजी Inspector of schools D. A. V. College विभागको है।

पुराने पुस्तक-विक्रेताओंका अनुमान था कि पहला संस्करण निकलनेमें ८-१० वर्ष लग जायँगे, परंतु जनताने इसे इतना पसंद किया कि लगभग एक वर्षमें ही सब प्रतियाँ समाप्त हो गयीं और माँगको देखते हुए दूसरे संस्करणका निकालना अनिवार्य हो गया। किंतु युद्धके कारण कागजके न मिलनेसे यह कार्य स्थगित करना पड़ा। स्वामीजी महाराजने इस अवसरका लाभ उठाते हुए पुस्तकमें कई स्थानोंपर अधिक विस्तारसे व्याख्या कर दी है और कुछ चित्र भी दे दिये हैं। विशेष वक्तव्य और विशेष विचार उनके अपने अनुभवके आधारपर हैं, जिनसे पाठकोंको विशेषरूपसे लाभ उठाना चाहिये।

हम उन सब महानुभावोंके अत्यन्त आभारी हैं, जिन्होंने इस पुस्तकके प्रकाशनमें हमारी सहायता की है।

---

[३]

श्री बा० गंगाप्रसादजी एम्० ए०, एम्० आर्० ए० एस्० (रायबहादुर), रिटायर्ड चीफ जस्टिस, टिहरी गढ़वालराज्य, भूतपूर्व प्रधान सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि-सभा।

श्रीस्वामी ओमानन्दतीर्थकृत पातञ्जलयोग-प्रदीप भाष्यके पहले संस्करणका जनताने अच्छा मान किया। पहला संस्करण भी एक प्रकारसे सर्वाङ्गपूर्ण था। श्रीस्वामीजीने दूसरे संस्करणमें कई विषय बढ़ा दिये हैं। योगसम्बन्धी शायद ही कोई विषय हो, जो ग्रन्थके भीतर न आ गया हो। षड्दर्शन-समन्वयका विषय परिवर्द्धित करके बहुत स्पष्ट कर दिया है। आशा है कि योग-साधनके इच्छुक और साधक ग्रन्थसे बहुत लाभ उठायेंगे।

---

[४]

(महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०, डी० लिट्०, वाराणसी)

श्रद्धेय श्रीओमानन्द स्वामीजीकृत पातञ्जलयोगप्रदीप नामक (द्वितीय संस्करण) ग्रन्थ देखकर प्रसन्नता हुई। इस ग्रन्थमें पातञ्जलयोगसूत्रोंका भावार्थ व्यास-भाष्य, तत्त्व-वैशारदी, भोजवृत्ति तथा योग-वार्तिकके अनुसार विस्तृत रूपसे हिंदीमें संकलित किया गया है। योग-मार्गके साधकोंके लिये उपयोगी बहुत-से विषय चित्रादिकोंके साथ इसमें संनिविष्ट हुए हैं। इसमें उपनिषद् और भारतीय दर्शनोंके विभिन्न तत्त्वोंका आलोचन भी प्रासंगिक रूपमें निपुणताके साथ किया गया है। इसकी भाषा सरल तथा सुगम है और व्याख्याकारकी तत्त्वविश्लेषण-प्रणाली भी अत्यन्त चित्ताकर्षक है। ग्रन्थारम्भसे पहले ग्रन्थकारका लिखा हुआ षड्दर्शन-समन्वय भी इसमें विस्तृत भूमिकारूपमें दिया गया है। इससे ग्रन्थकी उपयोगिता और भी बढ़ गयी है। इस पुस्तकमें कुछ अनुभूत ओषधियोंका विवरण भी दे दिया गया है। आशा है, योग-तत्त्व-जिज्ञासु, ज्ञानि-समाज तथा विद्वद्-गोष्ठीमें इस ग्रन्थका समुचित आदर तथा बहुल प्रचार होगा।

ॐ

(चतुर्थ संस्करणके सम्बन्धमें)

ग्रन्थकारका वक्तव्य

पातञ्जलयोगप्रदीपका यह चौथा संस्करण पाठकोंके समक्ष आ रहा है। प्रथम संस्करणकी छपाईका कार्य सन् १९४१ में बिना किसी साधन और सामग्रीके अङ्कोंके रूपमें निकालना आरम्भ किया गया था। बीच-बीचमें कई प्रकारकी कठिनाइयाँ उपस्थित होती रहीं। वे सब जिस परम गुरु परमेश्वरकी प्रेरणासे और जिसके समर्पणरूपमें यह कार्य किया गया था, उसीकी अपार और अद्भुत शक्तिद्वारा दूर होती रहीं और अन्तमें मार्च १९४२ को यह पुस्तकरूपमें तैयार हो ही गयी। इसके प्रकाशन-प्रबन्ध-परिषद्के सदस्योंको प्रेस तथा अन्य सज्जनोंके ऋण चुकानेके सम्बन्धमें अत्यन्त चिन्ता थी, पर एक वर्षके अंदर ही पुस्तककी इतनी माँग बढ़ी कि न केवल उस ऋणका ही निबटारा हो गया प्रत्युत लगभग सारी पुस्तकें समाप्त हो गयीं और सन् १९४३ में ही दूसरी आवृत्ति निकालनेकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी। उस भयंकर युद्धके समयमें इतने बड़े धार्मिक ग्रन्थका बिना किसी बाह्य सहायताके निकालना असम्भव था। सन् १९४६ में युद्धकी समाप्तिपर ऐसा प्रयत्न किया गया कि धार्मिक ग्रन्थ छपवानेके लिये जो दानियोंके कई ट्रस्ट हैं, उनमेंसे कोई इसको छपवाकर कम-से-कम मूल्यपर जनतातक पहुँचा दे, अथवा किसी ऐसे दानी महानुभावकी सहायतासे जो अपने रुपयोंको इस प्रकारके आध्यात्मिक कार्योंमें लगाना चाहते हैं थोड़े दामोंमें पाठकोंतक पहुँच सके। इसमें सफलता प्राप्त न होनेपर दूसरे संस्करणको "आर्यसाहित्य-मण्डल, अजमेर" को जो इस प्रकारके धार्मिक ग्रन्थ छापनेमें सराहनीय कार्य कर रहा है; इस विश्वासपर सौंप दिया गया कि वह इसको अधिक-से-अधिक उपयोगी और सुन्दर बनाते हुए कम-से-कम दामोंमें सर्वसाधारणके हाथोंमें पहुँचानेका यत्न करेगा। तीसरा संस्करण गीताप्रेस, गोरखपुरद्वारा उत्तम-से-उत्तम रूपमें और कम-से-कम दामोंमें गत अगस्त १९५९ ई० में ५००० की संख्यामें प्रकाशित हुआ था। किंतु पुस्तककी माँग इतनी अधिक हुई कि प्रकाशकको जनवरी १९६० ई० के आरम्भमें ही चौथा संस्करण निकालनेकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी। नये संस्करणके मुद्रणका कार्य प्रारम्भ कर दिया गया परन्तु अनेक कठिनाइयोंके कारण छपाई शीघ्र न हो सकी। इस चतुर्थ संस्करणमें कई स्थलोंपर विषयको अधिक स्पष्ट करनेके उद्देश्यसे परिवर्द्धन किया गया है। आशा है पाठकगण इससे अधिक-से-अधिक लाभ प्राप्त कर सकेंगे।

षड्दर्शनसमन्वय—योगके दार्शनिक स्वरूपको समझनेके लिये तो दर्शनोंका ज्ञान आवश्यक है ही; किंतु दर्शनोंका यथार्थ ज्ञान भी योगद्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, इसके बिना उसको बोध करानेवाले बाह्य स्थूल शब्द आदि बुद्धिके केवल व्यायामरूप साधन ही रहते हैं। प्राचीन विशाल हृदय व्यापक-दृष्टिवाले ऋषि समत्व (समन्वय) बुद्धिसे युक्त होते थे। यथा—वेदोंके कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्डमें जो विरोध प्रतीत होने लगा था, उसीके अविरोधकी स्थापना और समन्वय-साधनके उद्देश्यसे श्रीजैमिनिजीने पूर्वमीमांसा और श्रीव्यासजीने उत्तरमीमांसाकी रचना की थी, किंतु कई नवीन संकीर्ण विचारवाले व्यक्ति नाना प्रकारके भेद-भाव उत्पन्न करके हिंदुओंके व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक और राष्ट्रीय अवनति और पतनका कारण हुए हैं, वे ही प्राचीन ऋषियोंके भाष्योंमें भी परस्पर भेद और विरोधका विष फैला गये हैं।

आधुनिक कालमें महर्षि दयानन्दने सबसे प्रथम इस त्रुटिका अनुभव किया और दर्शनोंके अविरोध तथा समन्वय-साधनपर पूरा जोर दिया, किंतु उनके पश्चात् इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया। न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग—इन चारों दर्शनोंका मुख्य उद्देश्य प्रकृतिके सर्वथा परित्यागपूर्वक शुद्ध अर्थात् परब्रह्मको प्राप्त करना है, न कि अपर ब्रह्म अर्थात् ईश्वरके खण्डनमें जैसा कि सामान्यतया उनपर दोष आरोपित किया गया है। सांख्य और योग ही दो प्राचीन निष्ठाएँ हैं और वास्तवमें यही प्राचीन वेदान्त (फिलासफी) है, जिसका श्रुतियों (उपनिषदों) और स्मृतियोंमें स्थान-स्थानपर वर्णन पाया जाता



ब्र० स्वामी श्रीओमानन्दतीर्थजी

है। गीता तो सांख्ययोगका ही मुख्य ग्रन्थ है। सांख्य और योगके आभ्यन्तर रूपके अतिरिक्त कार्य-क्षेत्रमें उनका बाह्य व्यावहारिक रूप कैसा होना चाहिये, इस बातको गीतामें विशेषताके साथ स्पष्ट शब्दोंमें दर्शाया है। उदाहरणार्थ, जहाँ ईश्वर-समर्पणद्वारा निष्काम कर्मयोग बतलाया गया है, वहाँ योगकी निष्ठा है और जहाँ 'गुण ही गुणोंमें वर्त रहे हैं, आत्मा अकर्ता है' इस भावनाद्वारा ज्ञानयोग बतलाया गया है, वह सांख्यनिष्ठा है। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ 'अन्यादेश' अर्थात् प्रथम पुरुष और मध्यम पुरुषद्वारा परमात्माकी उपासना बतलायी गयी है, वह योगकी निष्ठा है और जहाँ 'अहङ्कारादेश' और 'आत्मादेश' अर्थात् उत्तम पुरुष और आत्माद्वारा परमात्माका बोध कराया गया है वह सांख्य-निष्ठा है, इत्यादि।

जैन और बौद्ध भारतवर्षके दो प्रसिद्ध धर्मोंके प्रवर्तक आचार्य उच्चकोटिके अनुभवी योगी हुए हैं। सांख्ययोगके सदृश इनका ध्येय भी असम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् शुद्ध पर-ब्रह्म परमात्माकी ही प्राप्ति है। बाह्य स्थूल शब्दोंके भ्रमजालमें फँसकर इनके वास्तविक स्वरूपको समझनेमें भी बहुत धोखा खाया गया है। ये भी एक प्रकारसे हमारे दर्शन-समन्वयके अन्तर्गत हो सकते हैं। अर्थात् जैसे जलके सर्वत्र पृथ्वीमें व्यापक होते हुए भी पृथ्वीसे पृथक् उसके शुद्ध स्वरूपसे ही पिपासाकी तृप्ति हो सकती है, इसी प्रकार चेतन तत्त्वके सर्वत्र व्यापक होते हुए भी उनका लक्ष्य उसके शुद्ध स्वरूप परमात्मा—परब्रह्मको प्राप्त करना है। इससे उसके शबल-स्वरूप अपर ब्रह्म—ईश्वरका निराकरण न समझना चाहिये, प्रत्युत उन्होंने भी किसी रूपमें इस लक्ष्यकी प्राप्तिमें उसके अपर स्वरूपका ही सहारा लिया है। योग, किसी स्थान-विशेषपर जिसको देश कहा गया है (देशबन्धश्चित्तस्य धारणा), अपर ब्रह्म ईश्वरका सहारा लेकर (ईश्वरप्रणिधानाद्वा) त्रिगुणात्मक स्थूलभूत, तन्मात्रोंतक सूक्ष्मभूत, अहङ्कार और चित्तके आवरणोंको क्रमशः वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मितानुगत समाधिद्वारा हटाता हुआ विवेकख्यातिद्वारा गुणोंको सर्वथा पृथक् करके असम्प्रज्ञात समाधिमें शुद्ध पर-ब्रह्म परमात्म-स्वरूपमें अवस्थिति कराता है। इस सूक्ष्मदृष्टिसे उनके मन्तव्य और साधनोंमें भी अधिक अन्तर नहीं प्रतीत होगा।

योगमार्गमें प्रवेशसे पूर्व संकीर्ण विचारोंके कूपमण्डूक न रहकर अभ्यासीगण हृदयकी विशालताकी दृष्टिसे यह देख सकें कि किस प्रकार वैदिक दर्शनरूपी नदियाँ विश्वरचयिता पिताके अनन्त ज्ञानके अथाह सागरमें समावेश करती हैं, इस उद्देश्यसे षड्दर्शन-समन्वयको 'पातञ्जलयोगप्रदीप'का भूमिका-रूप बनाया गया है।

अखिल भारतवर्षीय आर्यकुमार परीक्षा परिषद्ने 'षड्दर्शन-समन्वय'को अपनी सिद्धान्त-शास्त्रकी परीक्षामें रख लिया अतः उनके आग्रहसे षड्दर्शनसमन्वयको पृथक् पुस्तकरूपमें शाहपुरा-दर्बार (स्वर्गीय) श्रीराजा उम्मेदसिंहजीने छपवा दिया है।

प्रथम संस्करणकी अपेक्षा दूसरे संस्करणमें षड्दर्शन-समन्वय द्विगुणित हो गया है; क्योंकि दर्शनोंके वास्तविक स्वरूपको विस्तारके साथ दिखलाने तथा नाना प्रकारकी प्रचलित शङ्काओंके संतोषजनक समाधान करनेका इसमें पूरा यत्न किया गया है।

पातञ्जलयोगप्रदीप—कई योगके प्रेमी सज्जनोंका विशेषकर प्रोफेसर विश्वनाथजी विद्यालङ्कार भूतपूर्व उप-आचार्य गुरुकुल काँगड़ीका आग्रह था कि सूत्रोंके भावों तथा कहीं-कहीं व्यासभाष्यको भी अधिक-से-अधिक खोलनेका यत्न किया जाय। सूत्रोंकी व्याख्यामें विशेषरूपसे व्यासभाष्य और भोजवृत्तिको जिनका उचित स्थानोंमें टिप्पणीके रूपमें भाषार्थ भी उद्धृत किया गया है तथा सामान्य-रूपसे विज्ञानभिक्षुके योगवार्तिक (जिसके बहुत-से सूत्रोंका जहाँ आवश्यकता प्रतीत हुई है टिप्पणोंमें भी भाषार्थ दे दिया गया है), वाचस्पति मिश्रके तत्त्ववैशारदी तथा और बहुत-से प्राचीन और नवीन भाष्योंको दृष्टिगोचर रक्खा गया है। विशेष विचार और विशेष वक्तव्यमें अपने स्वतन्त्र विचारोंको लेते हुए प्रसङ्गप्राप्त बहुत-से दार्शनिक और योग-सम्बन्धी विषयों तथा उपनिषदोंके रहस्योंको खोलनेका यत्न किया गया है।

योगदर्शनके दो उच्च कोटिके भाष्यकार विज्ञानभिक्षु और वाचस्पति मिश्रके भाष्योंमें जहाँ कहीं परस्पर विरोध और अर्थोंमें अयुक्ति प्रतीत हुई है, उसका भी युक्ति और प्रमाणसहित स्पष्टीकरण आवश्यक समझा गया है। यथा, स० पा० सूत्र ७ सूत्र १९ और सूत्र ४६ का वि० व०, सा० पा० सूत्र ४ का वि० व०।

साधारण मनुष्य स्थूल शरीरद्वारा कोई विचित्र क्रिया तथा भौतिक जगत्से सम्बन्ध रखनेवाले आश्चर्यजनक चमत्कार अथवा बाह्य व्यवहारसे सम्बन्धित सिद्धि और विभूति आदिको ही योगका गौरव समझते हैं, उनका यह बाह्य-दृष्टि हटाकर यह निर्देश करानेके उद्देश्यसे कि योगका वास्तविक स्वरूप अन्तर्मुख होना है, समाधिपाद सूत्र १८ के वि० व० में योगकी चार भूमियों—वितर्क, विचार, आनन्द, अस्मिता तथा विवेक-ख्याति, पर-वैराग्य, असम्प्रज्ञात-समाधि और कैवल्य तथा उनके अन्तर्गत चन्द्रलोक (सूक्ष्मलोक), आदित्यलोक (कारणजगत्) क्रममुक्ति, सद्योमुक्ति और अवतार आदिका भी वर्णन आवश्यक समझा गया है।

समाधिपाद सूत्र ३४ के वि० व० में सूक्ष्म प्राणोंके वर्णनके साथ-साथ सूक्ष्म नाड़ियों, स्वरों, तत्त्वों, चक्रों और कुण्डलिनी शक्तिका भी दिग्दर्शन करा देना आवश्यक था। चक्रोंके सम्बन्धमें बहुत-सी ऐसी बातें, जिनका राजयोगसे कोई सम्बन्ध नहीं है और काल्पनिक हैं, केवल तान्त्रिक विचारोंकी जानकारीके उद्देश्यसे लिखी गयी हैं। तान्त्रिक ग्रन्थ और तान्त्रिक सम्प्रदायोंके सम्बन्धमें हम किसी प्रकारकी विवेचना करना उचित नहीं समझते। निःसन्देह इनमेंसे कई एककी तो पञ्चमकारके सम्बन्धमें बड़ी उच्च आध्यात्मिक धारणा है; यथा—"पुण्यापुण्य पशुको ज्ञानखड्गसे मारकर पर-तत्त्वमें चित्त-लयका नाम 'मांस' भक्षण है, इन्द्रियोंका मनसे निरोध कर आत्मामें संयोजन करना 'मत्स्य' भोजन है। कुण्डलिनी शक्तिको जाग्रत् कर सहस्रदलस्थित शिवके साथ सोमरसके उत्पादनका नाम 'मैथुन' है इत्यादि"।

हिंदुओंमें वैष्णव, शैव और शाक्त—तीन प्रकारके तान्त्रिक ग्रन्थ तथा वैष्णव, शैव और शाक्त—तीन प्रकारके तान्त्रिक सम्प्रदाय हैं तथा उनके अन्तर्गत और बहुत-से अवान्तर भेद हैं। जैन और बौद्धोंमें भी बहुत-से तान्त्रिक ग्रन्थ और तान्त्रिक सम्प्रदाय हैं। इनके अतिरिक्त और बहुत-से स्वतन्त्र तान्त्रिक सम्प्रदाय और पद्धतियाँ प्रचलित हैं। लगभग सभी तान्त्रिक सम्प्रदाय शुद्ध परब्रह्म परमात्मस्वरूपमें अवस्थितिकी अपेक्षा प्राकृतिक शक्तियोंकी प्राप्तिमें विशेष प्रवृत्ति रखते हैं। राजयोगके अध्यात्म-उन्नति चाहनेवाले साधकोंके लिये उनकी केवल उन्हीं बातोंको ग्रहण करना चाहिये, जो उनके अपने मुख्य उद्देश्यमें सहायक हो सकें।

साधनपाद सूत्र ३० की व्याख्यामें जहाँ हमने योगियों तथा साधारण मनुष्योंके लिये व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धसे अहिंसा, सत्य आदि यमोंका आदर्श बतलाया है, वहाँ सूत्र ३१ के विशेष वक्तव्यमें राष्ट्रपतियोंके लिये जिनके ऊपर सारे राष्ट्र तथा मनुष्यसमाजका उत्तरदायित्व होता है, उनके लिये इसका क्या स्वरूप होना चाहिये, इसको महाभारत आदिके कई उदाहरणोंके साथ दर्शाया है तथा श्रीकृष्णजी महाराजने राष्ट्रके रक्षणार्थ कर्णपर्वमें जो सूक्ष्मदृष्टिका उपदेश दिया है, उसको भी उद्धृत कर दिया है।

साधनपाद सूत्र १७, २६, २९ की टिप्पणियोंमें वैदिक दर्शनोंके चार प्रतिपाद्य विषयोंका बौद्ध-दर्शनके चार आर्य सत्योंके साथ, योगदर्शनके अष्टाङ्गयोगका बौद्ध-दर्शनके अष्टाङ्गिक मार्गके साथ तथा योगके पाँच यमोंका बौद्धदर्शनके पञ्चशीलके साथ समन्वय दिखलाते हुए बौद्धधर्मके इन विषयोंपर यथोचित प्रकाश डाला गया है। तथा जैनधर्ममें जो पाँच यमोंका पाँच महाव्रतोंके नामसे जैन धर्मका आधारशिलारूप माना है उनको भी इन्हींकी प्राकृत भाषामें अर्थसहित दिखला दिया गया है।

आध्यात्मिक विषयसे भौतिक शरीरका क्या सम्बन्ध ऐसे विचार योगमार्गमें कोई स्थान नहीं रख सकते। आध्यात्मिक उन्नतिमें शरीर ही सबसे प्रथम और मुख्य साधन है। बिना स्वस्थ, स्वच्छ और निर्मल शरीरके योगमार्गकी प्रथम सीढ़ीपर भी पग धरना दुर्गम है। अतः शरीरके स्वच्छ, शुद्ध,

निर्मल और नीरोग रखनेके चार उपाय सा० पा० सूत्र ३२ के वि० व० में विस्तारपूर्वक बतलाये हैं— (१) हठयोगकी षट् क्रियाएँ, (२) प्राकृतिक चिकित्सा, (३) सम्मोहन और संकल्प-शक्ति। उपर्युक्त तीनों साधन तभीतक काम दे सकते हैं जबतक कि शरीर और मन इनके करनेके योग्य स्वस्थ अवस्थामें हों। किंतु किसी ऐसी व्याधि आदि पीड़ाकी उपस्थितिमें, जब शारीरिक अथवा मानसिक शक्तियाँ इन क्रियाओंके करनेमें सर्वथा असमर्थ हो जायँ, तब ओषधियोंका ही सहारा लेना पड़ता है। इस मार्गमें प्रवेश करनेवाले लगभग ९० प्रतिशत किसी-न-किसी प्रकारकी व्याधि लिये हुए शरीरसे अस्वस्थ अवस्थामें ही देखे जाते हैं, उनके लिये सबसे प्रथम कार्य उन व्याधियोंको निवृत्त अथवा शिथिल करना होता है। प्राचीन समयमें जंगलों और पहाड़ोंमें रहनेवाले योगीजनोंके लिये वहाँसे प्राप्त होनेवाली जड़ी-बूटी आदिका ज्ञान रखना आवश्यक होता था, जिससे आवश्यकतानुसार उनको काममें लाया जाता था। किंतु इस समय न तो ऐसे स्थान आसानीसे उपयुक्त हो सकते हैं और न वहाँकी कठिनाइयोंको सहन करनेके योग्य शरीर रहे हैं। आधुनिक कालमें ओषधियोंमें भी नाना प्रकारके अन्वेषण किये गये हैं और उत्तम-से-उत्तम ओषधियाँ हर स्थानपर उपलब्ध हो सकती हैं, इसलिये हमने ऐसी ओषधियोंको, जिनको हमने अनुभवी संन्यासियों, महात्माओं, डाक्टरों और वैद्योंसे प्राप्त किया है तथा जिनको हमने स्वयं अनुभव किया है अथवा कराया है, उपायरूप (४) में लेखबद्ध कर दिया है। जिससे साधक अथवा पथदर्शक किसी योग्य वैद्य तथा डाक्टरकी अनुपस्थितिमें आवश्यकतानुसार काममें ला सके। रोग तथा व्याधि एक प्रकारसे पापरूप है और ओषधि प्रायश्चित्तरूप; पूर्ण सावधानीपूर्वक यत्न होना चाहिये कि यह पाप निकट न आ सके, किंतु उसकी उपस्थितिमें प्रायश्चित्तरूप ओषधिसे वंचनेके लिये नाना प्रकारकी युक्तियोंको ढूँढ़ना बुद्धिमत्ता नहीं है। इन चार उपायोंमेंसे ओषधियोंको साधनपादके अन्तमें परिशिष्ट भागमें दे दिया गया है।

सा० पा० सूत्र ४० की व्याख्यामें जहाँ हमने ध्यानपर बैठनेके लिये कई उपयोगी आसनों और नियमोंका वर्णन किया है, वहाँ विशेष वक्तव्यमें ध्यानके उपयोगी स्थान आदिको बतलाकर सब प्रकारके बन्धों, मुद्राओं और आसनों तथा गुफामें लंबे समयतक बैठनेके नियमों आदिका वर्णन कर देना भी उचित समझा है; क्योंकि इनकी न केवल शरीरको स्वस्थ और नीरोग रखनेमें उपयोगिता है वरं वे नाड़ीशोधन और प्राणके उत्थानमें भी अत्यन्त सहायक होते हैं।

सा० पा० सूत्र ४९ की व्याख्यामें प्राणायामका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके पश्चात् उसके विशेष वक्तव्यमें हठयोगकी पुस्तकोंके आठों प्रकारके प्राणायाम तथा उनके अन्तर्गत और बहुत-सी प्राणायामकी विधियोंको भी दिखलाया गया है।

सिद्धियों, विभूतियों और चमत्कारों आदिके सम्बन्धमें प्रचलित अन्धविश्वास और भ्रान्त ज्ञान हटानेके उद्देश्यसे वि० पा० सूत्र ६ के विशेष वक्तव्यमें संयमके वास्तविक स्वरूप तथा उसके सदुपयोग और दुरुपयोगपर पूरी विवेचना की गयी है।

विभूतिपाद सूत्र २६ के पिछले संस्करणमें टिप्पणीमें व्यासभाष्यका केवल शब्दार्थ ही दिया गया था, उसके सम्बन्धमें अपने विचारोंको सुरक्षित रक्खा गया था। कई महानुभावोंके आग्रहसे नये संस्करणमें उसका स्पष्टीकरण कर दिया गया है।

विभूतिपाद सूत्र ३९ में उत्क्रान्ति शब्दको लेते हुए विशेष वक्तव्यमें देवयान, पितृयान, क्रममुक्ति, सद्योमुक्ति, अवतार आदि गूढ़ विषयोंके स्पष्टीकरणकी आवश्यकता समझी गयी है।

कैवल्यपाद सूत्र ३४ के भोजवृत्तिमें योगके साथ सब दर्शनोंका समन्वय दिखलाया गया है। किसीको उसके द्वारा अन्य दर्शनोंके खण्डनकी शङ्का न होने पावे, इस हेतु उसका स्पष्टीकरण भी उचित समझा गया है।

सूत्रोंके विशेष विचार और विशेष वक्तव्य अवश्य पढ़ने चाहिये, उनमें पाठकगण बहुत-सी उपयोगी और जानने योग्य बातोंको पायेंगे। सूत्रोंकी व्याख्यामें व्यासभाष्य, भोजवृत्ति और योगवार्त्तिक आदिकी सभी मुख्य बातें आ गयी हैं। टिप्पणियोंमें उनका भाषानुवाद केवल विशेष

जानकारीके उद्देश्यसे किया गया है। योगवार्त्तिक जो किंचित् बड़ा और गूढ़ विषयक है केवल उच्च श्रेणियोंके पाठकोंके लिये है। इन टिप्पणियोंको यदि चाहें तो स्वेच्छानुसार छोड़ सकते हैं।

बहुत-सी उपयोगी आवश्यक और जाननेयोग्य बातोंके बढ़ा देनेसे वर्तमान ग्रन्थ प्रथम संस्करणकी अपेक्षा लगभग दुगुना हो गया है।

इस प्रकार जहाँ इस पातञ्जलयोगप्रदीपमें लगभग सभी आवश्यक विषयोंका संकलन किया गया है और केवल इस एक पुस्तकको रखते हुए अन्य बहुत-सी पुस्तकोंकी आवश्यकता नहीं रहती है, वहाँ बहुत-से सत्संगियों तथा अन्य कई प्रेमी सज्जनोंके विचारोंको दृष्टिमें रखते हुए दैनिक पाठके लिये "सांख्य-तत्त्व-समास" तथा योगदर्शनके अर्थसहित सूत्र गुटकारूपमें "सांख्ययोगसार" नामसे अलग छपवा दिये गये हैं।

सारा ही मनुष्य-जीवन योगके अन्तर्गत है। इसलिये मनुष्य-जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाले सारे विषयोंको यथोचित स्थानमें दर्शाया गया है। मनुष्योंकी प्रकृतियाँ और रुचियाँ भिन्न-भिन्न हैं। यह असम्भव है कि सारी बातें सब मनुष्योंको संतुष्ट कर सकें। अतः पाठक महानुभावोंसे निवेदन है कि नाना प्रकारके विचाररूपी पुष्पोंकी इस ग्रन्थरूपी वाटिकामेंसे अपने रुचिकर पुष्पोंकी सुगन्धको ग्रहण कर लें। जो उनके दृष्टिकोणसे अनावश्यक अथवा दोषयुक्त प्रतीत हों, उनके प्रति उपेक्षावृत्ति-द्वारा अपने उदार भावोंका परिचय दें।

सारे ही विषयोंको स्वतन्त्र विचारोंके साथ युक्ति, अनुभूति और श्रुतिके आधारपर निष्पक्ष-भावसे उनके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रूपमें दर्शानेका यत्न किया गया है। आशा है पाठकगण साम्प्रदायिक पक्षपात तथा मत-मतान्तरोंकी संकीर्णताकी क्षुद्रतासे परे होकर हृदयकी विशालतामें प्रत्येक विषयपर अपनी स्वच्छ, निर्मल और सात्त्विक बुद्धिसे विवेकपूर्ण विचार करके वास्तविक लाभ उठायेंगे।

कुछ बातोंको कई प्रकरणोंमें उद्धृत किया गया है। इसको पुनरुक्ति दोष नहीं समझना चाहिये। महत्त्वपूर्ण और गहन विषयोंको पाठकोंको हृदयंगम करानेके लिये ऐसा किया गया है जैसी कि धार्मिक ग्रन्थोंकी शैली चली आ रही है।

जो महानुभाव इस ग्रन्थमें किसी प्रकारकी त्रुटियों और भूलोंके बतलाने, किसी स्थानपर न्यूनाधिक वा परिवर्तन करने अथवा अपने विशेष विचारोंके प्रकट करनेकी कृपा करेंगे, उनका बड़े आदर, सम्मान और धन्यवादके साथ स्वागत किया जायेगा तथा इसके अगले संस्करणमें उनके सम्बन्धमें पूरा विचार किया जायगा।

पाठकोंके सुभीतेके लिये ग्रन्थके अन्तमें चार परिशिष्ट दिये गये हैं। परिशिष्ट (१) में सांख्य और योगदर्शनके मूल सूत्र, (२) में वर्णानुक्रमसूत्रसूची, (३) में शब्दानुक्रमणी और (४) में विषय-सूची है। आशा की गयी थी कि दूसरे संस्करणमें अशुद्धियाँ न होने पायेंगी, किंतु प्रेसवालोंके प्रयत्न करनेपर भी बहुत-सी अशुद्धियाँ रह गयी थीं और एक लंबा शुद्धयशुद्धिपत्र लगाना पड़ा था। इस संस्करणमें उन भूलोंको यथासाध्य सुधार दिया गया है।

अन्तमें जिन महानुभावोंने इस ग्रन्थके तैयार कराने और प्रकाशन करानेमें किसी प्रकारकी भी सहायता दी है उनका धन्यवाद तथा जिन प्राचीन ऋषियों और वर्तमान समयके महापुरुषों और विद्वानोंके उच्च, पवित्र और रहस्यपूर्ण विचारोंसे इस ग्रन्थको सुशोभित किया गया है और उपयोगी बनाया गया है उनके प्रति कृतज्ञताका प्रकट कर देना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है।

ओम् तीर्थ
पातञ्जलयोगाश्रम, पुष्कर

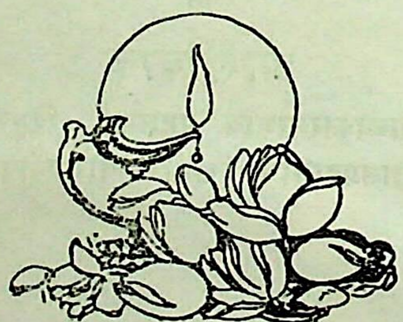


पूज्यपाद योगिराज श्री १०८ श्रीयुत स्वामी
सोमतीर्थजी महाराज

पूज्यपाद योगिराज श्री १०८
श्रीयुत स्वामी सोमतीर्थजी महाराज
का
आशीर्वाद

क्लेशान्धकारनाशाय मुमुक्षूणां विमुक्तये।
तत्त्वज्ञानप्रदानाय क्षमो योगप्रदीपकः॥
(भूयात्)

क्लेशरूपी अन्धकारको नाश करनेके लिये तथा मुमुक्षुजनोंकी मुक्तिके लिये और तत्त्वोंका ज्ञान प्रदान करनेके लिये पातञ्जलयोगप्रदीप समर्थ हो।



ॐ

पातञ्जलयोग-प्रदीप

षड्दर्शनसमन्वय

भूमिका

पहिला प्रकरण

वेद

वेद ईश्वरीय ज्ञान है, जिसका प्रादुर्भाव ऋषियोंपर सृष्टिके आरम्भमें समाधिद्वारा होता है।

१. मूल वेदमन्त्र—इन मन्त्रोंकी चार संहिताएँ हैं, जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद कहलाती हैं[1]। इनकी ही पाठादि भेदसे ११३२ शाखाएँ कहलाती हैं।

२. ब्राह्मणग्रन्थ— इनमें अधिकतर मूल वेदोंमें बतलाये हुए धर्म अर्थात् यज्ञादि कर्मों तथा विधि-निषेधकी विस्तृत व्याख्या और व्यवस्था है। 'ब्राह्मण' नामकरणका कारण यह है कि इनका प्रधान विषय ब्रह्मन् (बृहु वर्धने, बढ़नेवाला अर्थात् वितान यज्ञ) है। इनमेंसे चार प्रसिद्ध हैं—ऐतरेय ऋग्वेदका, शतपथ यजुर्वेदका, ताण्ड्यब्राह्मण सामवेदका और गोपथ अथर्ववेदका। ब्राह्मणग्रन्थोंमें कुछ अंश ऐसा भी सम्मिश्रित हो गया है, जो मूल वेदमन्त्रोंके आशयके विपरीत जाता है।

३. उपनिषद्—उपनिषद्का मुख्य अर्थ ब्रह्मविद्या है और यहाँ उपनिषद् ब्रह्मविद्या-प्रतिपादक ग्रन्थविशेषके हैं। इनमें अधिकतर वेदोंमें बताये हुए आध्यात्मिक विचारोंको समझाया गया है। इन्हींको वेदान्त कहते हैं। इनमें मुख्य ग्यारह हैं— ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, श्वेताश्वतर, छान्दोग्य और बृहदारण्यक।

दर्शन

वेदोंमें बतलाये हुए ज्ञानकी मीमांसा दर्शनशास्त्रोंमें मुनियोंद्वारा सूत्ररूपसे की गयी है। दर्शन शब्दका अर्थ है 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' जिसके द्वारा देखा जाय अर्थात् वस्तुका तात्त्विक स्वरूप जाना जावे।

"प्राणिमात्रकी दुःखनिवृत्तिकी ओर प्रवृत्ति"

छोटे-से-छोटे कीटसे लेकर बड़े-से-बड़े सम्राट्तक प्रतिक्षण तीनों प्रकारके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःखोंमेंसे किसी-न-किसी दुःखकी निवृत्तिका ही यत्न करते रहते हैं; फिर भी दुःखोंसे छुटकारा नहीं मिलता। मृगतृष्णाके सदृश जिन विषयोंके पीछे मनुष्य सुख समझकर दौड़ता है, प्राप्त होनेपर वे दुःख ही सिद्ध होते हैं। इसलिये तत्त्वदर्शीके लिये निम्न चार प्रश्न उपस्थित होते हैं—

---

१. चार उपवेद माने गये हैं—

ऋग्वेदका उपवेद अर्थवेद, यजुर्वेदका उपवेद धनुर्वेद, सामवेदका उपवेद गान्धर्ववेद, अथर्ववेदका उपवेद आयुर्वेद।

दर्शनोंके चार प्रतिपाद्य विषय

१. *हेय*—दुःखका वास्तविक स्वरूप क्या है, जो 'हेय' अर्थात् त्याज्य है?

२. *हेयहेतु*—दुःख कहाँसे उत्पन्न होता है, इसका वास्तविक कारण क्या है, जो 'हेय' अर्थात् त्याज्य दुःखका वास्तविक 'हेतु' है?

३. *हान*—दुःखका नितान्त अभाव क्या है, अर्थात् 'हान' किस अवस्थाका नाम है?

४. *हानोपाय*—हानोपाय अर्थात् नितान्त दुःखनिवृत्तिका साधन क्या है?

तीन मुख्य तत्त्व

इन प्रश्नोंपर विचार करते हुए तीन बातें और उपस्थित होती हैं—

१. *चेतनतत्त्व : आत्मा, पुरुष (जीव)*—दुःख किसको होता है? जिसको दुःख होता है, उसका वास्तविक स्वरूप क्या है? यदि उसका दुःख स्वाभाविक धर्म होता तो वह उससे बचनेका प्रयत्न ही न करता। इससे प्रतीत होता है कि वह कोई ऐसा तत्त्व है, जिसका दुःख और जडता स्वाभाविक धर्म नहीं है। वह चेतनतत्त्व है। इस चेतन—आत्मा (पुरुष) के पूर्ण ज्ञानसे तीसरा प्रश्न 'हान' सुलझ जाता है। अर्थात् आत्माके यथार्थरूपके साक्षात्कार—'स्वरूपस्थिति' से दुःखका नितान्त अभाव हो जाता है।

२. *जडतत्त्व : प्रकृति*—इस चेतनतत्त्वसे भिन्न, इसके विपरीत, किसी और तत्त्वके माननेकी भी आवश्यकता होती है, जिसका धर्म दुःख है, जहाँसे दुःखकी उत्पत्ति होती है और जो इस चेतनतत्त्वसे विपरीत धर्मवाला है। वह जडतत्त्व है, जिसको प्रकृति, माया आदि कहते हैं। इसके यथार्थरूपको समझ लेनेसे पहला और दूसरा दोनों प्रश्न सुलझ जाते हैं। अर्थात् दुःख इसी जडतत्त्वका स्वाभाविक गुण है, न कि आत्माका। जड और चेतनतत्त्वमें आसक्ति तथा अविवेकपूर्ण संयोग ही 'हेय' अर्थात् त्याज्य दुःखका वास्तविक स्वरूप है और चेतन तथा जडतत्त्वका अविवेक अर्थात् मिथ्या ज्ञान या अविद्या 'हेयहेतु' अर्थात् त्याज्य दुःखका कारण है। चेतन और जडतत्त्वका विवेकपूर्ण ज्ञान 'हानोपाय'—दुःख-निवृत्तिका मुख्य साधन है।

३. *चेतनतत्त्व : परमात्मा, पुरुषविशेष (ईश्वर, ब्रह्म)*—इन दोनों चेतन और जडतत्त्वोंके माननेके साथ एक तीसरे तत्त्वको भी मानना आवश्यक हो जाता है, जो पहले चेतनतत्त्वके सर्वांश अनुकूल हो और दूसरे जडतत्त्वके विपरीत हो, अर्थात् जिसमें पूर्ण ज्ञान हो, जो सर्वज्ञ हो, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् हो, जिसमें दुःख, जडता और अज्ञानका नितान्त अभाव हो, जहाँतक आत्माका पहुँचना आत्माका अन्तिम ध्येय है, जो ज्ञानका पूर्ण भण्डार हो, जहाँसे ज्ञान पाकर आत्मा जड-चेतनका विवेक प्राप्त कर सके और अविद्याके बन्धनोंको तोड़कर 'हेय' दुःखसे सर्वथा मुक्ति पा सके। इस तर्कके द्वारा हमें तीसरे और चौथे दोनों प्रश्नोंका उत्तर मिल जाता है, अर्थात् यही 'हान' है और 'हानोपाय' भी हो सकता है।

षड्दर्शन

इन चारों रहस्यपूर्ण प्रश्नोंको समझानेके लिये 'दर्शनशास्त्रों' में इन तीनों तत्त्वोंका छोटे-छोटे और सरल सूत्रोंमें युक्तियुक्त वर्णन किया गया है। इन दर्शनशास्त्रोंमें 'षड्दर्शन'—छः दर्शन—मुख्य हैं। १. मीमांसा, २. वेदान्त, ३. न्याय, ४. वैशेषिक, ५. सांख्य, ६. योग। ये षड्दर्शन वेदोंके उपाङ्ग कहलाते हैं।

वेदोंके अङ्ग

१. *शिक्षा*—जिसका उपयोग वैदिक वर्णों, स्वरों और मात्राओंके बोध करानेमें होता है।

२. *कल्प*—जो आश्वलायन, आपस्तम्ब, बौधायन और कात्यायन आदि ऋषियोंके बनाये श्रौत-सूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र हैं, जिनमें यागके प्रयोग, मन्त्रोंके विनियोगकी विधि है।

३. *व्याकरण*—जो प्रकृति और प्रत्यय आदिके उपदेशसे पदके स्वरूप और उसके अर्थका निश्चय करनेके लिये उपयोगी हैं।

४. *निरुक्त*—जो पदविभाग, मन्त्रका अर्थ और देवताके निरूपणद्वारा एक-एक पदके सम्भावित और अवयवार्थका निश्चय करता है।

५. *छन्द*—जो लौकिक और वैदिक पादोंकी अक्षर-संख्याको नियमित करने, पाद, यति और विराम आदिकी व्यवस्था करनेमें उपयोगी है।

६. *ज्योतिष*—जो यज्ञादि-अनुष्ठानके कालविशेषकी व्यवस्था करता है।

ये वेदोंके अङ्ग कहलाते हैं। अर्थात् इनके द्वारा वेदमन्त्रोंके अर्थोंका यथार्थ बोध प्राप्त होता है।

दूसरा प्रकरण

पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा अर्थात् मीमांसा और वेदान्तदर्शन

कर्मकाण्ड—वेदमन्त्रोंमें बतलायी हुई—कर्तव्य कर्मों अर्थात् इष्ट और पूर्त्त कर्मोंकी—शिक्षाका नाम कर्मकाण्ड है। इष्ट वे कर्म हैं, जिनकी विधि मन्त्रोंमें दी गयी हो, जैसे यज्ञादि; और पूर्त्त वे सामाजिक कर्म हैं, जिनकी आज्ञा वेदमें हो, किंतु विधि लौकिक हो, जैसे पाठशाला, कूप, विद्यालय, अनाथालय आदि बनवाना इत्यादि। इन दोनों कर्मोंके तीन अवान्तर भेद हैं—नित्यकर्म, नैमित्तिक कर्म और काम्य कर्म।

१. *नित्यकर्म*—जो नित्य करने योग्य हैं, जैसे पञ्चमहायज्ञ आदि।

२. *नैमित्तिक*—वे कर्म हैं, जो किसी निमित्तके होनेपर किये जायँ, जैसे पुत्रका जन्म होनेपर जातकर्म-संस्कार।

३. *काम्यकर्म*—जो किसी लौकिक अथवा पारलौकिक कामनासे किये जायँ। इनके अतिरिक्त कर्मोंके दो और भेद हैं, निषिद्धकर्म और प्रायश्चित्तकर्म।

(क) *निषिद्धकर्म*—जिनके करनेका शास्त्रोंमें निषेध हो।

(ख) *प्रायश्चित्तकर्म*—जो विहितकर्मके न करने अथवा विधिविरुद्धके करने, या वर्जित कर्म करनेसे अन्तःकरणपर मलिन संस्कार पड़ जाते हैं, उनके धोनेके लिये किये जायँ।

किसी कामनाकी सिद्धिके लिये किये गये कर्मोंका फल भोगना ही पड़ेगा, तथा प्रतिषिद्धकर्मोंका आचरण अशुभ फल करेगा ही। अतः इनसे निवृत्ति वाञ्छनीय है, परंतु नित्य और नैमित्तिकका अनुष्ठान नितान्त आवश्यक है। अतः काम्य और निषिद्ध कर्मोंसे निवृत्ति परंतु प्रायश्चित्त तथा नित्य और नैमित्तिक कर्मोंमें प्रवृत्ति मोक्षकी साधिका है।

उपासनाकाण्ड—वेदमन्त्रोंमें बतलायी हुई लवलीनता अर्थात् मनकी वृत्तियोंको सब ओरसे हटाकर केवल एक लक्ष्यपर ठहरानेकी शिक्षाका नाम उपासना है।

ज्ञानकाण्ड—इसी प्रकार वेदमन्त्रोंमें जहाँ-जहाँ आत्मा तथा परमात्माके स्वरूपका वर्णन है, उसको ज्ञानकाण्ड कहते हैं। मन्त्रोंके कर्मकाण्डका विस्तारपूर्वक वर्णन मुख्यतया ब्राह्मणग्रन्थोंमें, ज्ञानकाण्डका आरण्यकों तथा उपनिषदोंमें और उपासनाकाण्डका दोनोंमें किया गया है।

मीमांसा—इन तीनों काण्डोंके वेदार्थविषयक विचारको मीमांसा कहते हैं। मीमांसा शब्द 'मान ज्ञाने' से जिज्ञासा अर्थमें 'माने जिज्ञासायाम्' वार्त्तिककी सहायतासे निष्पन्न होता है। मीमांसाके दो भेद हैं—पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा।

पूर्वमीमांसामें कर्मकाण्ड और उत्तरमीमांसामें ज्ञानकाण्डपर विचार किया गया है।

उपासना दोनोंमें सम्मिलित है। इस प्रकार ये दोनों दर्शन वास्तवमें एक ही ग्रन्थके दो भाग कहे जा सकते हैं। पूर्वमीमांसा श्रीव्यासदेवजीके शिष्य जैमिनि मुनिने प्रवृत्तिमार्गी गृहस्थियों तथा कर्मकाण्डियोंके लिये बनायी है। उसका प्रसिद्ध नाम मीमांसादर्शन है। इसको जैमिनिदर्शन भी कहते हैं। इसके बारह अध्याय हैं, जो मुख्यतया कर्मकाण्डसे सम्बन्ध रखते हैं। उत्तरमीमांसा निवृत्तिमार्गवाले ज्ञानियों तथा संन्यासियोंके लिये श्रीव्यास महाराजने स्वयं रचा है। वेदोंके कर्मकाण्ड-प्रतिपादक वाक्योंमें जो विरोध प्रतीत होता है, केवल उसके वास्तविक अविरोधको दिखलानेके लिये पूर्वमीमांसाकी और वेदके

ज्ञानकाण्डमें समन्वयसाधन और अविरोधकी स्थापनाके लिये उत्तरमीमांसाकी रचना की गयी है। इस कारण इन दोनों दर्शनोंमें शब्दप्रमाणको ही प्रधानता दी गयी है। दोनों दर्शनकार लगभग समकालीन हुए हैं। इसलिये श्रीजैमिनिका भी वही समय लेना चाहिये जो उत्तरमीमांसाके प्रकरणमें श्रीव्यासदेवजी महाराजका बतलाया जायगा।

पूर्वमीमांसा

मीमांसाका प्रथम सूत्र है 'अथातो धर्मजिज्ञासा' अर्थात् अब धर्मकी जिज्ञासा करते हैं।

मीमांसाके अनुसार धर्मकी व्याख्या वेदविहित, शिष्टोंसे आचरण किये हुए कर्मोंमें अपना जीवन ढालना है। इसमें सब कर्मोंको यज्ञों तथा महायज्ञोंके अन्तर्गत कर दिया गया है। भगवान् मनुने भी ऐसा ही कहा है—'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' महायज्ञों तथा यज्ञोंद्वारा ब्राह्मण-शरीर बनता है। पूर्णिमा तथा अमावस्यामें जो छोटी-छोटी इष्टियाँ की जाती हैं, इनका नाम यज्ञ और अश्वमेधादि यज्ञोंका नाम महायज्ञ है। (१) ब्रह्मयज्ञ—प्रातः और सायंकालकी संध्या तथा स्वाध्याय। (२) देवयज्ञ—प्रातः तथा सायंकालका हवन। (३) पितृयज्ञ—देव और पितरोंकी पूजा अर्थात् माता, पिता, गुरु आदिकी सेवा तथा उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति। (४) बलिवैश्वदेवयज्ञ—पकाये हुए अन्नमेंसे अन्य प्राणियोंके लिये भाग निकालना। (५) अतिथियज्ञ—घरपर आये हुए अतिथियोंका सत्कार—ये यज्ञके अवान्तर भेद हैं।

ये यज्ञ और महायज्ञ वेदोंमें बतलायी हुई विधिके अनुसार होने चाहिये। इसलिये जैमिनि मुनिने इनकी सिद्धिके लिये 'शब्द' अर्थात् 'आगम' प्रमाण ही माना है, जो वेद है।

वेदके पाँच प्रकारके विषय हैं—(१) विधि, (२) मन्त्र, (३) नामधेय, (४) निषेध और (५) अर्थवाद। 'स्वर्गकामो यजेत' 'स्वर्गकी कामनावाला यज्ञ करे' इस प्रकारके वाक्योंको 'विधि' कहते हैं। अनुष्ठानके अर्थ-स्मारक वचनोंको 'मन्त्र' के नामसे पुकारते हैं। यज्ञोंके नामकी 'नामधेय' संज्ञा है। अनुचित कार्यसे विरत होनेको 'निषेध' कहते हैं तथा किसी पदार्थके सच्चे गुणोंके कथनको 'अर्थवाद' कहते हैं। इन पाँच विषयोंके होनेपर भी वेदका तात्पर्य विधिवाक्योंमें ही है। अन्य चारों विषय उनके केवल अङ्गभूत हैं तथा पुरुषोंको अनुष्ठानके लिये उत्सुक बनाकर विधिवाक्योंको ही सम्पन्न किया करते हैं। विधि चार प्रकारकी होती है—कर्मके स्वरूपमात्रको बतलानेवाली विधि 'उत्पत्ति-विधि' है। अङ्ग तथा प्रधान अनुष्ठानोंके सम्बन्धबोधक विधिको 'विनियोग-विधि', कर्मसे उत्पन्न फलके स्वामित्वको कहनेवाली विधिको 'अधिकार-विधि' तथा प्रयोगके प्राशुभाव (शीघ्रता) के बोधक विधिको 'प्रयोगविधि' कहते हैं। विध्यर्थके निर्णय करनेमें सहायक श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या नामक षट् प्रमाण होते हैं।

जैमिनि मुनिके मतानुसार यज्ञोंसे ही स्वर्ग अर्थात् ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। 'स्वर्गकामो यजेत' स्वर्गकी कामनावाला यज्ञ करे। यज्ञके विषयमें श्रीमद्भगवद्गीतामें ऐसा वर्णन किया गया है—

> यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
> तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ (३। ९)

यज्ञके लिये जो कर्म किये जाते हैं, उनके अतिरिक्त अन्य कर्मोंसे यह लोक बँधा हुआ है। तदर्थ अर्थात् यज्ञार्थ किये जानेवाले कर्म (भी) तू आसक्ति अथवा फलाशा छोड़कर करता जा।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ (३ । १०)

प्रारम्भमें यज्ञके साथ-साथ प्रजाको उत्पन्न करके ब्रह्माने (प्रजासे) कहा—'इस (यज्ञ) के द्वारा तुम्हारी वृद्धि हो, यह (यज्ञ) तुम्हारी कामधेनु हो अर्थात् यह तुम्हारे इष्ट फलोंको देनेवाला हो ।'

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ (३ । ११)

(प्रजापति ब्रह्मा यह भी बोले कि) तुम इस यज्ञसे देवताओंको संतुष्ट करते रहो (और) वे देवता (वर्षा आदिसे) तुम्हें संतुष्ट करते रहें । (इस प्रकार) परस्पर एक दूसरेको संतुष्ट करते हुए (दोनों) परम श्रेय अर्थात् कल्याण प्राप्त कर लो ।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ (३ । १२)

क्योंकि यज्ञसे संतुष्ट होकर देवता लोग तुम्हारे इच्छित (सब) भोग तुम्हें देंगे । उन्हींका दिया हुआ उन्हें (वापिस) न देकर जो (केवल स्वयं) उपभोग करता है, अर्थात् देवताओंसे दिये गये अन्न आदिसे पञ्चमहायज्ञ आदिद्वारा उन देवताओंका पूजन किये बिना जो व्यक्ति खाता-पीता है, वह सचमुच चोर है ।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ (३ । १३)

यज्ञ (पञ्चमहायज्ञ आदि) करके शेष बचे हुए भागको ग्रहण करनेवाले सज्जन सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं, परंतु (यज्ञ न करके केवल) अपने लिये ही जो (अन्न) पकाते हैं, वे पापीलोग पाप भक्षण करते हैं ।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ (३ । १४)

अन्नसे प्राणिमात्रकी उत्पत्ति होती है, अन्न पर्जन्यसे उत्पन्न होता है, पर्जन्य यज्ञसे उत्पन्न होता है और यज्ञकी उत्पत्ति (वैदिक) कर्मसे होती है ।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ (३ । १५)

उस कर्मको तू वेदसे उत्पन्न जान और वेद अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ है । इससे सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञमें प्रतिष्ठित है ।

यहाँ तीसरे चेतनतत्त्व अर्थात् ईश्वरको व्यष्टिरूपसे प्रत्येक यज्ञका अधिष्ठातृदेव माना गया है, जिसकी उस विशेष यज्ञद्वारा उपासना की जाती है ।

यथा—

"तद् यदिदमाहुः 'अमुं यजामुं यज' इत्येकैकं देवम्,
एतस्यैव सा विसृष्टिः, एष उ ह्येव सर्वे देवाः ।" (बृ० १ । ४ । ६)

जो यह कहते हैं कि उसका याग करो, उसका याग करो, इस प्रकार एक-एक देवताका याग बतलाते हैं, वह इसीकी 'विसृष्टिः' बिखरा हुआ अर्थात् व्यष्टिरूप है, निःसंदेह यह ही सारे देवता हैं।

अर्थात् अग्नि उस ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ, उसीका प्रकाशक है। इसी प्रकार दूसरे देवता भी उसीके प्रकाशक हैं। इसलिये यज्ञोंमें जो अग्नि, इन्द्र आदि भिन्न-भिन्न देवताओंकी उपासना पायी जाती है, वह वास्तवमें उसी एक ब्रह्मकी उपासना है।

पुनश्च—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः सः प्रजापतिः॥ (यजु० अ० ३२ मं १)

वह ही अग्नि है, वह सूर्य है, वह वायु है, वह चन्द्रमा है, वह शुक्र अर्थात् चमकता हुआ नक्षत्र है, वह ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) है, वह जल (इन्द्र) है, वह प्रजापति (विराट्) है।

स धाता स विधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम्। (अ० वेद १३।४।३)
सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः। (अ० वेद १३।४।४)
सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः। (अ० वेद १३।४।५)

वह (ईश्वर) धाता है, वह विधाता है, वही वायु, वही आकाशमें उठा मेघ है। वही अर्यमा, वही वरुण, रुद्र और महादेव है। वही अग्नि, सूर्य और महायम है।

स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन्।
स सविता भूत्वान्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम्॥
(अथर्ववेद १३।३।१३)

वह सायंकाल अग्नि और वरुण होता है और प्रातःकाल उदय होता हुआ वह मित्र होता है, वह सविता होकर अन्तरिक्षसे चलता है, वह इन्द्र होकर मध्यसे द्युलोकको तपाता है।

यास्कने निरुक्तके दैवतकाण्ड (सप्तम अध्याय) में स्पष्ट शब्दोंमें विवेचना की है कि इस जगत्‌के मूलमें एक महत्त्वशालिनी शक्ति विद्यमान है, जो निरतिशय ऐश्वर्यशालिनी होनेसे ईश्वर कहलाती है। वह एक अद्वितीय है, उसी एक देवताकी बहुत रूपोंसे स्तुति की जाती है।

यथा—

महाभाग्याद् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। (७।४।८-९)

हानोपाय—इसी प्रकार जहाँ उत्तरमीमांसामें 'हानोपाय' अर्थात् मुक्तिका साधन, ज्ञानियों तथा संन्यासियोंके लिये, ज्ञानद्वारा तीसरे तत्त्व अर्थात परमात्माकी उपासना बतलायी गयी है, वहाँ पूर्वमीमांसामें कर्मकाण्डी गृहस्थियोंके लिये यज्ञोंद्वारा व्यष्टिरूपसे उसी ब्रह्मकी उपासना बतलायी गयी है।

हान—किंतु 'हान' अर्थात् मुक्तिके सम्बन्धमें जैमिनि और व्यास भगवान्‌में कोई विशेष मतभेद नहीं है तथा अन्य दर्शनकारोंसे भी अविरोध है।

यथा—

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः। (वेदान्त-दर्शन ४।४।५)

जैमिनि आचार्यका मत है कि मुक्त पुरुष (अपर) ब्रह्मरूपसे स्थित होता है, क्योंकि श्रुतिमें उसी रूपका उपन्यास (उद्देश्य) है ।

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥ (वेदान्तदर्शन ४ । ४ । ६)

औडुलोमि आचार्य मानते हैं कि मुक्त पुरुष चितिमात्र स्वरूपसे स्थित होता है, क्योंकि यही उसका अपना स्वरूप है ।

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥ (वे० द० ४ । ४ । ७)

इस प्रकार भी उपन्यास (उद्देश्य) हैं और पूर्व कहे हुए धर्म भी उसमें पाये जाते हैं, इसलिये उन दोनोंमें कोई विरोध नहीं है । यह बादरायण (सूत्रकार व्यासदेवजी) मानते हैं ।

अर्थात् प्रवृत्तिमार्गवाले सगुण ब्रह्मके उपासक शबल (सगुण) स्वरूपसे मुक्तिमें शबल ब्रह्म (अपर ब्रह्म) के ऐश्वर्यको भोगते हैं, जो जैमिनिजीको अभिमत है और निवृत्तिमार्गवाले निर्गुण शुद्ध ब्रह्मके उपासक शुद्ध निर्गुण स्वरूपसे शुद्ध निर्गुण ब्रह्म (परब्रह्म) को प्राप्त होते हैं जैसा कि औडुलोमि आचार्यको अभिमत है । व्यासजी दोनों विचारोंको यथार्थ मानते हैं; क्योंकि श्रुतिमें दोनों प्रकारकी मुक्तिका वर्णन है ।

मीमांसकोंके मोक्षकी परिभाषा इन शब्दोंमें है—'प्रपञ्चसम्बन्धविलयो मोक्षः । त्रेधा हि प्रपञ्चः । पुरुषं बध्नाति तदस्य त्रिविधस्यापि बन्धस्य आत्यन्तिको विलयो मोक्षः' । (शास्त्रदीपिका) इस जगत्के साथ आत्माके शरीर, इन्द्रिय और विषय— इन तीन प्रकारके सम्बन्धके विनाशका नाम मोक्ष है; क्योंकि इन तीन बन्धनोंने ही पुरुषको जकड़ रक्खा है । इस त्रिविध बन्धके आत्यन्तिक नाशकी संज्ञा मोक्ष है । सांख्य और योगके अनुसार यह सम्प्रज्ञात समाधिका अन्तिम ध्येय है ।

जैमिनि ईश्वरवादी थे

पूर्वमीमांसाका मुख्य विषय यज्ञ और महायज्ञ है । इसलिये जैमिनि मुनिने प्रसङ्गप्राप्त उसमें कर्मकाण्डका ही निरूपण किया है । ईश्वरके विस्तारपूर्वक वर्णनकी, जो उत्तरमीमांसाका विषय है, अपने दर्शनमें आवश्यकता नहीं देखी । इसलिये कहीं-कहीं (वैशेषिक और सांख्यके सदृश) इस दर्शनके सम्बन्धमें भी अनीश्वरवादी होनेकी शङ्का उठायी गयी है । इसके समाधानके लिये उपर्युक्त स्पष्टीकरण पर्याप्त है । अनेक व्यास-सूत्रोंसे जैमिनिजीका ईश्वरवादी होना सिद्ध होता है । यथा—

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥ (वेदान्त द० १ । २ । २८)

जैमिनि आचार्य साक्षात् ही वैश्वानर पदके ईश्वरार्थक होनेमें अविरोध कथन करते हैं। तथा अध्याय १ पाद २ सूत्र ३१, अध्याय १ पाद ४ सूत्र १८, अध्याय ४ पाद ३ सूत्र ११ से १४ तक, अध्याय ४ पाद ४ सूत्र ५ जैमिनिके ईश्वरवादी होनेमें प्रमाण हैं ।

पूर्वमीमांसामें पशु-मांसकी बलिका निषेध

पूर्वमीमांसामें जो कहीं-कहीं पशुओंके मांसकी आहुति देनेका विधान पाया जाता है । वह पीछेकी मिलावट मालूम होती है (अथवा उसको हिंसक मांसाहारी मनुष्योंके लिये यज्ञके अतिरिक्त मांस-भक्षणमें प्रतिबन्धरूप समझना चाहिये) मूल सूत्रोंमें यज्ञमें मांसमात्रका निषेध है । यथा **"मांसपाकप्रतिषेधः"** (१२ । २ । २) मीमांसा । मांस पकाना श्रुतिसे निषिद्ध है और सब आर्षग्रन्थोंमें हिंसा वर्जित है । यथा—

सुरा मत्स्याः पशोर्मांसं द्विजातीनां बलिस्तथा।
धूर्तैः प्रवर्तितं यज्ञे नैतद् वेदेषु कथ्यते॥

(महाभारत, शान्तिपर्व)

'मद्य, मछली और पशुओंका मांस तथा यज्ञमें द्विजाति आदि मनुष्योंका बलिदान धूर्तोंद्वारा यज्ञमें प्रवर्तित हुआ है—अर्थात् दुष्ट राक्षस मांसाहारियोंने यज्ञमें चलाया है। वेदोंमें मांसका विधान नहीं है।'

अन्य सब दर्शनोंके सदृश हम पूर्वमीमांसाके भी विशेष रूपको दिखलाना चाहते थे, किंतु यह विचार करके कि उसके यज्ञादिसम्बन्धी गूढ़ विषय और पारिभाषिक शब्द योगमार्गवालोंके लिये अधिक रुचिकर न हो सकेंगे, हमने उसका केवल वह सामान्य रूप ही, जिसका हमारे षड्दर्शनसमन्वयसे सम्बन्ध है और जो इस ग्रन्थके पाठकोंको लाभदायक हो सकता है, दे दिया है।

मीमांसाग्रन्थ सब दर्शनोंमें सबसे बड़ा है। इसके सूत्रोंकी संख्या २६४४ तथा अधिकरणोंकी ९०९ है। ये सूत्र अन्य सब दर्शनोंके सूत्रोंकी सम्मिलित संख्याके बराबर हैं। द्वादश अध्यायोंमें धर्मके विषयमें ही विस्तृत विचार किया गया है। पहले अध्यायका विषय है—धर्मविषयक प्रमाण, दूसरेका भेद (एक धर्मसे दूसरे धर्मका पार्थक्य), तीसरेका अङ्गत्व, चौथेका प्रयोज्य-प्रयोजकभाव, पाँचवेंका क्रम अर्थात्—कर्मोंमें आगे-पीछे होनेका निर्देश, छठेका अधिकार (यज्ञ करनेवाले पुरुषकी योग्यता), सातवें तथा आठवेंका अतिदेश (एक कर्मकी समानतापर अन्य कर्मका विनियोग), नवेंका ऊह, दसवेंका बाध, ग्यारहवेंका तन्त्र तथा बारहवेंका विषय प्रसङ्ग है। पूर्वमीमांसापर सबसे प्राचीन वृत्ति आचार्य उपवर्षकी है।

उत्तरमीमांसा

उत्तरमीमांसाको ब्रह्मसूत्र, शारीरिक सूत्र, ब्रह्ममीमांसा तथा वेदका अन्तिम तात्पर्य बतलानेसे वेदान्तदर्शन और वेदान्तमीमांसा भी कहते हैं। इस दर्शनके चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय चार पादोंमें विभक्त है।

(१) पहले अध्यायका नाम समन्वय अध्याय है; क्योंकि इसमें सारे वेदान्तवाक्योंका एक मुख्य तात्पर्य ब्रह्ममें दिखाया गया है। इसके पहले पादमें उन वाक्योंपर विचार है, जिनमें ब्रह्मका चिह्न सर्वज्ञतादि स्पष्ट हैं। दूसरेमें उनपर विचार है, जिनमें ब्रह्मका चिह्न स्पष्ट है और तात्पर्य उपासनामें है। तीसरेमें उनपर विचार है, जिनमें ब्रह्मका चिह्न स्पष्ट है और तात्पर्य ज्ञानमें है। चौथेमें संदिग्ध पदोंपर विचार है।

(२) दूसरे अध्यायका नाम अविरोध अध्याय है; क्योंकि इसमें इस दर्शनके विषयका तर्कसे श्रुतियोंका परस्पर अविरोध दिखाया गया है। इसके पहले पादमें इस दर्शनके विषयका स्मृति और तर्कसे अविरोध; दूसरेमें विरोधी तर्कोंके दोष; तीसरेमें पञ्चमहाभूतके वाक्योंका परस्पर अविरोध; और चौथेमें लिङ्ग-शरीर-विषयक वाक्योंका परस्पर अविरोध दिखाया गया है।

(३) तीसरे अध्यायका नाम साधन अध्याय है; क्योंकि इसमें विद्याके साधनोंका निर्णय किया गया है। इसके पहले पादमें मुक्तिसे नीचेके फलोंमें त्रुटि दिखलाकर उनसे वैराग्य; दूसरेमें जीव और

ईश्वरमें भेद दिखलाकर ईश्वरको जीवके लिये फलदाता होना; तीसरेमें उपासनाका स्वरूप और चौथे पादमें ब्रह्मदर्शनके बहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग साधनोंका वर्णन है ।

(४) चौथे अध्यायमें विद्याके फलका निर्णय दिखलाया है, इसलिये इसका नाम फलाध्याय है । इसके पहले पादमें जीवन्मुक्ति; दूसरेमें जीवन्मुक्तकी मृत्यु; तीसरेमें उत्तरगति और चौथेमें ब्रह्मप्राप्ति और ब्रह्मलोकका वर्णन है ।

अधिकरण—पादोंमें जिन-जिन अवान्तर विषयपर विचार किया गया है, उनका नाम अधिकरण है ।

अधिकरणोंके विषय—अधिकरणोंमें निम्नलिखित विषयोंपर विचार किया गया है—

१. ईश्वर, २. प्रकृति, ३. जीवात्मा, ४. पुनर्जन्म, ५. मरनेके पीछेकी अवस्थाएँ, ६. कर्म, ७. उपासना, ८. ज्ञान, ९. बन्ध, १०. मोक्ष ।

ब्रह्मसूत्रमें व्यासदेवजीने जहाँ दूसरे आचार्योंके मत दिखलाकर अपना सिद्धान्त बतलाया है, वहाँ अपनेको बादरायण नामसे बोधन किया है । इस दर्शनके अनुसार —

१. *'हेय'*—त्याज्य जो दुःख है उसका मूल जडतत्त्व है अर्थात् दुःख जडतत्त्वका धर्म है ।

२. *'हेयहेतु'*—त्याज्य जो दुःख है उसका कारण अज्ञान अर्थात् जडतत्त्वमें आत्मतत्त्वका अध्यास अर्थात् जडतत्त्वको भूलसे चेतनतत्त्व मान लेना है । चारों अन्तःकरण मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार और इन्द्रियों तथा शरीरमें अहंभाव और उनके विषयमें ममत्व पैदा कर लेना ही दुःखोंमें फँसना है ।

३. *'हान'*— दुःखके नितान्त अभावकी अवस्था 'स्वरूपस्थिति' अर्थात् जडतत्त्वसे अपनेको सर्वथा भिन्न करके निर्विकार निर्लेप शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थित होना है ।

४. *'हानोपाय'*—स्वरूप-स्थितिका उपाय 'परमात्मतत्त्वका ज्ञान' है, जहाँ दुःख, अज्ञान, भ्रम आदि लेशमात्र भी नहीं हैं और जो पूर्णज्ञान और शक्तिका भण्डार है ।

द्वैत-अद्वैत सिद्धान्तके भेद

आत्मतत्त्वके सम्बन्धमें द्वैत-अद्वैत आदि मतावलम्बियोंने शब्दोंके अर्थ निकालनेमें खासी खींचातानी की है । अद्वैतवादी 'हान' अर्थात् स्वरूपस्थिति, मोक्षकी अवस्थामें आत्मतत्त्व और परमात्मतत्त्वकी भिन्नता नहीं मानते । उनके मतानुसार व्यवहार-दशामें आत्मतत्त्वके रूपमें परमात्मतत्त्वका ही व्यवहार होता है । मुक्तिकी अवस्थामें आत्मतत्त्व परमात्मतत्त्वमें, जो इसका ही अपना वास्तविक स्वरूप है, अवस्थित रहता है । द्वैतवादी आत्मतत्त्व और परमात्मतत्त्वमें जडतत्त्वसे विजातीय भेद मानते हैं; और आत्मतत्त्व-परमात्मतत्त्वमें परस्पर सजातीय भेद मानते हैं-अर्थात् आत्मा तथा परमात्मा परस्पर जडतत्त्वके सदृश भिन्न नहीं हैं; किंतु एकजातीय होते हुए भी अपनी-अपनी अलग सत्ता रखते हैं । मुक्तिकी अवस्थामें आत्मा परमात्माको प्राप्त होकर उसके सदृश, दुःखोंको त्यागकर, ज्ञान और आनन्दको प्राप्त होता है ।

इसी प्रकार जडतत्त्वके सम्बन्धमें भी उनका मतभेद है । अद्वैतवादी जडतत्त्वकी सत्ता परमात्मतत्त्वसे भिन्न नहीं मानते, उसीमें आरोपित मानते हैं, जैसे रस्सीमें साँप और सीपमें चाँदीकी सत्ता आरोपित है, वास्तविक नहीं । इस प्रकार अद्वैतवादी जडतत्त्वको 'अनिर्वचनीय माया' अथवा 'अविद्या' मानते हैं, जो न सत् है न असत् । सत् इस कारण नहीं कि मुक्ति अर्थात् स्वरूपस्थितिकी अवस्थामें

उसका नितान्त अभाव हो जाता है और असत् इसलिये नहीं कि सारा व्यवहार इसीमें चल रहा है, किंतु जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण ब्रह्म या चेतनतत्त्व ही है; क्योंकि माया ब्रह्मसे अलग कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखती, वह ब्रह्महीकी विशेष शक्ति अथवा सत्ता है। ब्रह्ममें कोई परिणाम नहीं होता, वह सदा एकरस है। जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय मायाका परिणाम है; यह केवल चेतन सत्तामें भ्रमसे भासता है। यह सिद्धान्त विवर्त्तवाद कहलाता है, जिसमें ब्रह्मको जगत्का विवर्ती उपादान कारण माना गया है, अर्थात् ब्रह्म अपने स्वरूपको किंचिन्मात्र भी नहीं बदलता है; परंतु भ्रमसे बदला-सा प्रतीत होता है।

नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका।
सदसद्भ्यामनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी॥

'माया न असद्रूप है न सद्रूप और न उभयात्मिका ही। वह सत्-असत् दोनोंसे अनिर्वचनीय मिथ्यारूपा और सनातन (नित्य) है।'

यहाँ केवल शब्दोंका उलट-फेर है। वास्तवमें तो इससे जगत्का उपादान कारण माया ही सिद्ध होती है। मायाको चाहे सत् कहो, चाहे असत्, चाहे सत् और असत् दोनोंसे विलक्षण! यथा—

मायामेघो जगन्नीरं वर्षत्येष यतस्ततः।
चिदाकाशस्य नो हानिर्न च लाभ इति स्थितिः॥

'मायारूपी मेघसे जगत्रूपी नीर बरस रहा है और आकाशके समान निर्लेप चेतनकी कुछ हानि नहीं, न वह आकाशरूपी ब्रह्म भीगता या गीला ही होता है।'

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः॥
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥

(श्वेता० ४। ९-१०)

'छन्द, यज्ञ (हविर्यज्ञ), क्रतु (ज्योतिष्टोमादि), व्रत, भूत, भविष्यत् और जो कुछ और वेद बतलाते हैं, इस सबको मायाका स्वामी (मायी) इससे रचता है और उसमें दूसरा (पुरुष) मायासे रुका (बँधा) है। प्रकृतिको माया जानो और महेश्वरको मायी, सारा विश्व उस (मायी—मायाशबल) के अङ्गोंसे व्याप्त है।'

नामरूपविनिर्मुक्तं यस्मिन् संतिष्ठते जगत्।
तमाहुः प्रकृतिं केचिन्मायामन्ये परे त्वणून्॥ (बृहद्वासिष्ठ)

'नाम और रूपसे रहित यह जगत् जिसमें ठहरता है, उसको कोई (जगत्का उपादान होनेसे) प्रकृति कहते हैं, दूसरे (जगत्को मोहक होनेसे) माया बोलते हैं और कुछ लोग परमाणु नाम लेते हैं।'

द्वैतवादमें इस जड प्रकृतिको एक स्वतन्त्र तत्त्व 'प्रकृति' नामसे मानते हैं। मुक्तिकी अवस्थामें इसका नाश केवल मुक्तिवालोंके लिये होता है। इसका अपने स्वरूपसे अभाव नहीं होता; क्योंकि जो मुक्तिअवस्थाको प्राप्त नहीं हुए हैं, उनके लिये यह बनी रहती है।

यथा—

'कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् । (योगदर्शन २ । २२)

'जिसका प्रयोजन सिद्ध हो गया है, उसके लिये नष्ट हुआ भी (वह अपने स्वरूपसे) नष्ट नहीं होता; क्योंकि वह दूसरोंके साझेकी वस्तु है ।' यही प्रकृति जगत्का उपादान कारण है, जगत् इसका कार्य है । जिस प्रकार घट (घड़ा) कार्य है, मिट्टी उसका उपादान कारण है, कुम्हार निमित्त कारण है और इसका प्रयोजन पाकादि कार्योंमें लाना है, इसी प्रकार प्रकृति जगत्का उपादान कारण, ब्रह्म निमित्त कारण और पुरुषोंका भोग अपवर्ग इसका प्रयोजन है ।

द्वैत-अद्वैत सिद्धान्तके भेदमें अविरोध

जड तथा चेतनतत्त्वके सम्बन्धमें द्वैत-अद्वैतवादियोंके सिद्धान्तमें जो भेद दिखलाया गया है वास्तवमें वह कोई भेद नहीं है । किसी साधारण दृश्यका यदि कई लेखक वर्णन करें तो वे सब एक-जैसे नहीं हो सकते । लेखकोंके विचार, उनकी रुचि, दृष्टिकोण और लेखनशैलीके अनुसार भिन्नताका होना आवश्यक है । ये तीनों तत्त्व केवल अनुभवगम्य हैं, बुद्धिसे अधिक सूक्ष्म होनेके कारण वर्णनमें ठीक-ठीक नहीं आ सकते । इस कारण तत्त्ववेत्ताओंकी वर्णनशैलीमें भिन्नताका होना स्वाभाविक है । बाह्यदृष्टिवालोंको भले ही यह भिन्नता वास्तविक प्रतीत हो, किंतु सूक्ष्मदृष्टिसे देखनेवालोंके लिये इसमें कोई भिन्नता नहीं।

इस प्रकार—

'हान'—दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति अर्थात् स्वरूपस्थिति वेदान्तके द्वैत-अद्वैत दोनों ही सिद्धान्तोंका अन्तिम लक्ष्य है । वह स्वरूपस्थिति 'ब्रह्मसदृश' होना हो अथवा 'ब्रह्मस्वरूप' होना हो, यह केवल शब्दों-का उलट-फेर ही है । इसी प्रकार 'हेयहेतु' दुःखका कारण जडतत्त्व है, इसका आत्मतत्त्वसे संयोग हटाना दोनों सिद्धान्तवालोंका ध्येय है । अद्वैतवादियोंने इसको रज्जुमें सर्पके सदृश, परमात्मतत्त्वमें आरोपित एक कल्पित वस्तु बतलाकर आत्मतत्त्वसे इसका संयोग छुड़ाया है । द्वैतवादियोंने इसको आत्मतत्त्वसे सर्वथा भिन्न एक अलग तत्त्व दिखलाकर उसमेंसे आत्मतत्त्वका अध्यास हटाया है ।

'हानोपाय'—दुःखकी निवृत्तिका साधन परमात्मतत्त्वका ज्ञान दोनों सिद्धान्तवालोंके लिये समान-रूपसे माननीय है । यही वेदान्तका मुख्य विषय है ।

हमने केवल द्वैत और अद्वैत सिद्धान्तोंका वर्णन किया है । अन्य सम्प्रदायोंके 'विशिष्टाद्वैत', 'शुद्धाद्वैत', 'द्वैताद्वैत' इत्यादि सब सिद्धान्त जिनका इसी प्रकरणके अन्तमें वर्णन किया जायगा, इन्हीं दो मुख्य सिद्धान्तोंके अन्तर्गत हैं ।

यहाँ इतना बतला देना आवश्यक है कि परिणामवाद सांख्य और योगका सिद्धान्त, जिसका वर्णन चौथे प्रकरणमें किया जायगा, एक अंशमें अद्वैतवादसे मिलता है अर्थात् 'स्वरूपावस्थिति' 'परममुक्ति' की अवस्थामें आत्मतत्त्व और परमात्मतत्त्वकी अभिन्नता होती है । व्यवहार दशामें आत्मतत्त्वके रूपमें परमात्मतत्त्वका ही व्यवहार होता है और दूसरे अंशमें द्वैतवादियोंसे मिलता है । अर्थात् जडतत्त्व एक स्वतन्त्रतत्त्व त्रिगुणात्मक प्रकृतिनामसे है । परम मुक्तिकी अवस्थामें इसका नाश केवल मुक्तिवालोंके लिये हो जाता है । दूसरोंके लिये स्वरूपसे इसका अभाव नहीं होता ।

वेदान्तदर्शनका प्रथम सूत्र है—

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'

'अब ब्रह्मके विषयमें विचार आरम्भ होता है।'

दूसरा सूत्र है—

'जन्माद्यस्य यतः'

'इस जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय जिससे होती है अर्थात् जो जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका निमित्त कारण है, वह ब्रह्म है।' जैसा कि श्रुति बतलाती है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद् विजिज्ञासस्व। तद्‌ब्रह्म॥ (तै० ३।१)

'जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जीते हैं और मरते हुए जिसमें लीन होते हैं, उसकी जिज्ञासा कर, वह सत्य ब्रह्म है।'

वेदान्तदर्शनका तीसरा सूत्र है—

'शास्त्रयोनित्वात्' (१।१।३)

ब्रह्म 'शास्त्रप्रमाणक है।' ब्रह्म इन्द्रियोंकी पहुँचसे परे है, इसलिये वह प्रत्यक्षका विषय नहीं, अनुमान भी उसकी झलकमात्र देता है। पर शास्त्र उसका दिव्य स्वरूप दर्शाता है, जिससे अनुमान इधर ही रह जाता है। अतएव कहा है—

'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः। नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (तै० ब्रा० ३।१२)

'जिस तेजसे प्रदीप्त होकर सूर्य तपता है, उस महान् (प्रभु) को वह नहीं जानता जो वेदको नहीं जानता है।'

वेदान्तदर्शनका चौथा सूत्र है—

'तत्तु समन्वयात्' (१।१।४)

'वह ब्रह्मका शास्त्रप्रमाणक होना एक तात्पर्यसे है।' सारे शास्त्रका एक तात्पर्य ब्रह्मके प्रतिपादनमें है, अतएव कहा है—

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठ० १।२।१५)

'सारे वेद जिस पदका अभ्यास करते हैं।' इसलिये श्रुतिका तात्पर्य एक ब्रह्मके प्रतिपादनमें है, कहीं शुद्धस्वरूपसे, कहीं शबलस्वरूप अथवा उपलक्षणसे।

वेदान्तदर्शनके आदिके ये चारों सूत्र वेदान्तकी चतुःसूत्री कहलाते हैं। इनमें सामान्यरूपसे वेदान्तका विचार कर दिया है, विशेषरूपसे आगे किया है।

वेदान्तमें परमात्मतत्त्व (ब्रह्म) का दो प्रकारसे वर्णन है—एक उसके शुद्ध स्वरूपका, जो प्रकृतिसे पृथक् अपना निजी निर्गुण केवल शुद्ध स्वरूप है। यह 'सर्वतत्त्वैर्विशुद्धम्' सारे तत्त्वोंसे निखरा हुआ (श्वे० २।१५) है। स्वरूपमात्र होनेसे उसे शुद्ध कहते हैं। दूसरा, प्रकृतिके सम्बन्धसे जो उसका शबल अपर अथवा सगुणरूप है, वह है।

इस शबल स्वरूपका भी समष्टि-व्यष्टि भेदसे दो प्रकारका वर्णन किया गया है अर्थात् सारे विश्वमें उसकी महिमाका एक साथ देखना उसके समष्टि रूपका दर्शन है और उसके साथ उसका वर्णन समष्टि रूपका वर्णन है। इसके तीनों भेद—

१. विराट् (चेतनतत्त्व + स्थूल जगत्),

२. हिरण्यगर्भ (चेतन-तत्त्व + सूक्ष्म जगत्) और

३. ईश्वर (चेतन-तत्त्व + कारण जगत्)

योगदर्शन समाधिपाद सूत्र २८ पर 'विशेष विचार'में विस्तारपूर्वक दिखलाये गये हैं। शबल स्वरूपको भिन्न-भिन्न शक्तियोंमें देखना उसके व्यष्टि रूपका दर्शन है और उनके द्वारा वर्णन उसके व्यष्टि रूपका वर्णन है।

वेदान्त (उपनिषदों) में शबल ब्रह्मकी उपासना समष्टि और व्यष्टि दोनों प्रकारसे बतलायी गयी है। वेदान्तदर्शनमें इसी बातको स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वेदों और उपनिषदोंमें जहाँ-जहाँ इन्द्र, सविता, वैश्वानर, अग्नि, आकाश तथा प्राणादिकी उपासना बतलायी गयी है, वह उन दिव्य शक्तियोंकी नहीं है; किंतु व्यष्टिरूपसे ब्रह्मकी ही उपासना है।

पूर्वमीमांसामें व्यष्टिरूपसे सगुण ब्रह्मकी यज्ञोंद्वारा उपासना बतायी गयी है, इसलिये कई एक तार्किकोंको इसके बहु ईश्वर तथा अनीश्वरवादी होनेकी शङ्का हुई है। इसके अनुसार उपासक मुक्तिमें अपने सगुण स्वरूप अर्थात् जीवरूपसे अपने सगुणोपास्य ईश्वर अर्थात् अपर ब्रह्मके साथ उसके ऐश्वर्य और आनन्दको भोगता है। अन्य चार दर्शनकारों (न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग) को परब्रह्म अर्थात् शुद्धरूपेण परमात्माकी उपासना अभिमत है, इसलिये कई एक तार्किकोंको उनके अनीश्वरवादी होनेकी शङ्का हुई है। इनके अनुसार उपासक कैवल्यमें अपने शुद्ध आत्मस्वरूपसे परब्रह्म निर्गुण ब्रह्म, अर्थात् शुद्ध परमात्मतत्त्वमें एकीभावसे लीन हो जाता है।

वेदान्तमें ब्रह्मका वर्णन कहीं-कहीं अन्य आदेशसे जैसे 'तत्त्वमसि', कहीं 'अहङ्कारादेश' से जैसे 'अहं ब्रह्मास्मि' और कहीं 'आत्मादेश'से जैसे 'अयमात्मा ब्रह्म' से किया गया है। अद्वैतवादी इन वाक्योंको अद्वैतपरक समझकर महावाक्य कहते हैं।

प्राचीन वेदान्त सांख्य और योगके अनुसार इन महावाक्योंका अभिप्राय शरीरमें भासनेवाले आत्माके शुद्ध स्वरूपकी परब्रह्म परमात्माके शुद्ध स्वरूपके साथ अभिन्नताकी प्रतीति कराना है। इनमें 'त्वं', 'अहम्', 'अयमात्मा' आत्माके शुद्ध स्वरूपके सूचक हैं और 'तत्', 'ब्रह्म', 'परब्रह्म' परमात्माके शुद्ध स्वरूपका निर्देश करते हैं।

उपलक्षणसे ब्रह्मका वर्णन

जहाँ बाह्य पदार्थके द्वारा उसके अन्तरात्मापर दृष्टि ले जाना अभिप्रेत होता है, वहाँ वह बाह्य पदार्थ उसके अंदर स्थित परमात्माके जाननेका उपलक्षण होता है, जैसे—

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरम् यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः। (बृह० ३।७।३)

'जो पृथिवीमें रहता हुआ पृथिवीसे अलग है; जिसको पृथिवी नहीं जानती, जिसका पृथिवी शरीर है, जो पृथिवीके अंदर रहकर नियममें रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है, (वेदान्त-दर्शन १ । २ । १८ से २० तक अन्तर्याम्यधिकरण) ।

शबल रूपमें और उपलक्षणमें यह भेद है कि शबल रूपमें बाह्यशक्तिसे विशिष्ट रूप कहा हुआ होता है और उपलक्षणमें उसके द्वारा उसमें शक्ति देता हुआ केवल स्वरूप होता है ।

चेतनतत्त्वका शुद्ध स्वरूप

तदव्यक्तमाह हि । (वेदान्त ३ । २ । २३)

'मूर्त-अमूर्तसे परे ब्रह्मका अव्यक्त शुद्धस्वरूप है ।' जैसा कि श्रुति कहती है—

शुद्धमपापविद्धम् । (ईश० ८)

'वह शुद्ध और पापसे न बाँधा हुआ है ।'

शुद्ध चेतन-तत्त्व ज्ञानवाला नहीं है, किन्तु ज्ञान-स्वरूप है—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । (तै० २ । १ । १)

'(शुद्ध) ब्रह्म, सत्य, ज्ञान और अनन्त है ।'

तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः । (मुण्डक०)

'वह शुभ्र ज्योतियोंका ज्योति है ।'

ब्रह्मका शुद्ध स्वरूप प्रायः नेति-नेति निषेधमुख शब्दोंसे वर्णन किया गया है; क्योंकि उसका स्वरूप क्या है, यह बात तो आत्मानुभवसे ही जानी जा सकती है, उपदेश केवल यही हो सकता है कि ज्ञात वस्तुओंसे उसका परे होना जँचा दिया जाय, जैसा कि महर्षि याज्ञवल्क्यने देवी गार्गीको उपदेश किया है—

एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छाय-मतमोऽवाय्वनाकाशमसंगमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमन-न्तरमबाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन । (बृह० ३ । ८ । ८)

'हे गार्गि ! इसको ब्राह्मण अक्षर कहते हैं, वह न मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न लम्बा है, न लाल है (उसमें कोई रंग नहीं हैं), विना स्नेहके है, विना छायाके है, विना अँधेरेके है, वह वायु नहीं है, आकाश नहीं है, वह असङ्ग है, रससे रहित है, गन्धसे रहित है, उसके नेत्र नहीं, श्रोत्र नहीं, वाणी नहीं, मन नहीं, उसके तेज (जीवनकी गर्मी) नहीं, प्राण नहीं, मुख नहीं, परिमाण नहीं, उसके कुछ अंदर नहीं, उसके कुछ बाहर नहीं, न वह कुछ भोगता है, न कोई उसको उपभोग करता है ।'

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम् । नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥ (मुण्डक० १ । १ । ६)

'जो आँखोंसे दिखलायी देनेवाला नहीं है, जो हाथोंसे ग्रहण नहीं किया जा सकता, जिसका कोई गोत्र नहीं है, जिसका कोई वर्ण (रंग अथवा आकृति) नहीं है; जिसकी न (भौतिक) चक्षु है, न

श्रोत्र है, जिसके न हाथ हैं, न पैर हैं, जो नित्य है, विभु है, सर्वव्यापक है, सूक्ष्मसे सूक्ष्म है, जो नाशरहित है, जो सब भूतोंका योनि है, उसको धीर लोग देखते हैं।'

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्, अन्यदेव तद् विदितादथो अविदितादधि, इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे। (केन० १।३)

'न वहाँ नेत्र पहुँचता है, न वाणी पहुँचती है, न ही मन (पहुँचता है), न समझते हैं, न जानते हैं, जैसे उसका उपदेश करें, वह जाने हुएसे निराला है (और) न जाने हुएसे अलग, यह सुना है पूर्वजोंसे, जिन्होंने हमारे लिये उसकी व्याख्या की है।'

यदातमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासञ्छिव एव केवलः। (श्वे० ४। १८)

'जब ब्रह्मज्ञानका प्रकाश उदय होता है, तब वहाँ न दिन है न रात है, न सत् है न असत् (न व्यक्त है न अव्यक्त है), वहाँ केवल शिव है।'

हमारा सारा व्यवहार जडतत्त्व अथवा शबल चेतनतत्त्वमें चल रहा है। शुद्ध चेतनतत्त्व जडतत्त्वसे विलक्षण है। वह वैशेषिक दर्शनमें बतलाये हुए द्रव्योंके सदृश किसी गुण, कर्म अथवा समवायकी अपेक्षा नहीं रखता। उपनिषदोंमें महत्त्वसे उसकी विचित्र व्यापकता और अणुत्वसे विचित्र सूक्ष्मताका, न कि परिच्छिन्नताका निर्देश किया है। जैसे—

अणोरणीयान् महतो महीयान्। (श्वे० ३। २०, कठ० २। २०, तै० आ० १०। १२। १)

'अणु-से-अणु (सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर) और महान्से महत्तर।'

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ (कठ० १। २। २२)

'उस महान् विभु आत्माको जानकर धीर पुरुष शोकसे परे हो जाता है।' शुद्ध चेतनतत्त्व अपरिणामी, निर्विकार, निष्क्रिय (केवल ज्ञान-स्वरूप) कूटस्थ नित्य है; जडतत्त्वविकारी, सक्रिय और परिणामी नित्य है; जड़तत्त्वमें ज्ञान, नियम और व्यवस्थापूर्वक क्रिया चेतनतत्त्वकी संनिधिमात्रसे है। यह सिद्धान्त सांख्य और योगके समान वेदान्तको भी अभिमत है। जैसे—

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। (श्वे० ६। १९)

'वह निरवयव है, निश्चल है, शान्त, निर्दोष और निर्लेप है।'

अनेजदेकं मनसो जवीयः। (ईश० ४)

'अडोल, एक, मनसे बढ़कर वेगवाला (सर्वत्र व्यापक होनेके कारण) है।' गीतामें इसका विस्तारके साथ वर्णन है। जैसे—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ (२। २४)

यह आत्मा अच्छेद्य है, यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है तथा यह आत्मा निःसंदेह नित्य सर्वव्यापक, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है।'

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ (३। २७)

'(वास्तवमें) सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये हुए हैं, तो भी अहङ्कारसे मोहित हुए अन्तःकरणवाला पुरुष 'मैं कर्त्ता हूँ' ऐसा मान लेता है।'

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥ (३।२८)

'परंतु हे महाबाहो! गुण-विभाग और कर्म-विभागके तत्त्वोंको जाननेवाला ज्ञानी पुरुष 'सम्पूर्ण गुण गुणोंमें बरत रहे हैं' ऐसा मानकर आसक्त नहीं होता।'

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥ (९।१०)

'हे कौन्तेय! मेरी [परमात्मतत्त्वकी] अध्यक्षतासे प्रकृति चराचर जगत्को रचती है। इस हेतुसे जगत् सदा परिवर्तित होता रहता है।'

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥ (१३।२९)

'और जो पुरुष समस्त कर्मोंको सब प्रकारसे प्रकृतिसे ही किये हुए देखता है तथा आत्माको अकर्ता देखता है, वही देखता है अर्थात् वही तत्त्वज्ञानी है।'

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ (१४।५)

'हे महाबाहो! सत्, रज और तम—यह प्रकृतिसे उत्पन्न हुए तीनों गुण अविनाशी आत्माको [अविवेकसे] शरीरमें बाँधते हैं।'

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ (१४।१९)

'जब पुरुष गुणों [त्रिगुणात्मक प्रकृति] के सिवा किसी दूसरेको कर्ता नहीं देखता है और तीनों गुणोंसे अतीत परम [शुद्ध आत्मतत्त्व] को तत्त्वसे जान लेता है, वही मेरे स्वरूप [परमात्मतत्त्व] को प्राप्त होता है।'

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥ (१४।२०)

'देहका स्वामी [पुरुष] इन स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरकी उत्पत्तिके कारण तीनों गुणोंको उल्लङ्घन करके जन्म, मृत्यु और बुढ़ापेके दुःखोंसे मुक्त होकर अमृतको प्राप्त होता है।'

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥ (१४।२३)

'जो उदासीनके समान [साक्षीभावसे] स्थित हुआ [जीवन-यात्रा करता हुआ] गुणोंसे विचलित नहीं किया जा सकता है और जो गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं ऐसा समझकर स्थिर [शान्त] रहता है, [उस स्थितिसे] चलायमान नहीं होता है [वह गुणातीत कहलाता है]।'

ब्रह्मसूत्रमें योग-साधनकी शिक्षा

आसीनः सम्भवात् ॥　　(ब्रह्मसूत्र ४ । १ । ७)

शङ्का—उपासनाके मानसिक होनेसे शरीर-स्थितिका अनियम है। इसपर बतलाते हैं—

उत्तर—उपासना किसी आसनसे बैठकर करनी चाहिये, क्योंकि एक प्रत्ययका प्रवाह करना उपासना है और उसका चलते या दौड़ते हुए पुरुषमें सम्भव नहीं है; क्योंकि गति आदि चित्तमें विक्षेप करनेवाले हैं। खड़े रहनेवालेका भी मन देहके धारण करनेमें व्यग्र रहता है, इसलिये वह सूक्ष्म वस्तुके निरीक्षण करनेमें समर्थ नहीं होता। लेटे हुएका मन भी सम्भव है कि अकस्मात् ही निद्रासे विवश हो जाय, किंतु बैठा हुआ पुरुष इस प्रकारके बहुत-से दोषोंका परिहार भलीभाँति कर सकता है। इसलिये उस उपासनाका होना सम्भव है। (शाङ्करभाष्यार्थ)

ध्यानाच्च ॥　　(ब्रह्मसूत्र ४ । १ । ८)

और एक प्रत्ययका प्रवाह करना ही 'ध्यायति' (ध्यै धातु) का अर्थ है और 'ध्यायति' शब्द, जिनकी अङ्ग-चेष्टाएँ शिथिल हों, दृष्टि शिथिल हो और चित्त एक ही विषयमें आसक्त हो, उनमें उपचारसे योजित होना दिखायी देता है। जैसे कि बगुला ध्यान करता है, जिसका प्रिय विदेशमें गया है, वह स्त्री ध्यान करती है। बैठा हुआ पुरुष आयासरहित होता है, इससे भी उपासना बैठे हुएका कर्म है। (शाङ्करभाष्यार्थ)

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥　　(ब्रह्मसूत्र ४ । १ । ९)

और 'ध्यायतीव पृथिवी' (पृथिवी मानो ध्यान करती है) इस श्रुतिमें पृथिवी आदिमें अचलत्वकी अपेक्षासे ही 'ध्यायति' शब्दका प्रयोग होता है और वह उपासना बैठे हुएका काम है, इसमें लिङ्ग है। (शाङ्करभाष्यार्थ)

स्मरन्ति च ॥　　(ब्रह्मसूत्र ४ । १ । १०)

'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः' (पवित्र देशमें अपना स्थिर आसन स्थापित करके) इत्यादि स्मृति-वचनसे शिष्टलोग उपासनाके अङ्गरूपसे आसनका विधान करते हैं। इसीसे योगशास्त्रमें पद्मक आदि आसनोंका उपदेश है। (शाङ्करभाष्यार्थ)

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥　　(ब्रह्मसूत्र ४ । १ । ११)

विशेषता न पाये जानेसे जहाँ चित्त एकाग्र हो सके, उसी देशमें बैठकर समाधि लगावे अथवा उपासना करे अर्थात् समाधि अथवा उपासनाका सम्बन्ध चित्तवृत्ति-निरोधसे है। किसी दिशा, काल और देश-विशेषसे नहीं।

जिस दिशा, देश या कालमें उपासकका मन सहजमें ही एकाग्र हो, उसी दिशा आदिमें उपासना (ध्यान) करनी चाहिये; क्योंकि पूर्व दिशा, पूर्वाह्ण, पूर्व देशकी ओर निम्न स्थान आदिके समान यहाँ विशेषका श्रवण नहीं है, क्योंकि अभीष्ट एकाग्रता सर्वत्र तुल्य है। परंतु कितने ही विशेष भी कहते हैं।

यथा—

समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥　　(श्वे० २ । १०)

'सम और पवित्र, सूक्ष्म पाषाण, वह्नि और रेतीसे वर्जित, शब्द और जलाशय आदिसे वर्जित, मनके अनुकूल और नेत्रोंको पीड़ा न देनेवाले निर्वात या एकान्त प्रदेशमें बैठकर योग साधन करे।'

इसपर कहते हैं—ठीक है, इस प्रकारका नियम है, परंतु ऐसे नियमके रहनेपर भी विशेषमें नियम नहीं है, ऐसा सुहृद् होकर आचार्य कहते हैं। 'मनोऽनुकूले' 'मनके अनुकूल' यह श्रुति जहाँ एकाग्रता है, वहीं, ऐसा इतना ही दिखलाती है। (शाङ्करभाष्यार्थ)

अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ (ब्र० सू० ३।२।२४)

उक्त परमात्माको कोई धीर पुरुष समाधि-दशामें जान सकता है। यह—

'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।' (कठ० २।१।१)

'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।' (मु० ३।१।८)

यं विनिद्रा जितश्वासाः संतुष्टाः संयतेन्द्रियाः।
ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः॥

इत्यादि श्रुति और स्मृतिसे जाना जाता है।

अर्थात् समस्त प्रपञ्चसे शून्य और अव्यक्त इस आत्माको योगीलोग संराधन समयमें देखते हैं। संराधन समयमें योगीलोग परमात्माको देखते हैं, यह कैसे समझा जाता है? प्रत्यक्ष और अनुमानसे, श्रुति और स्मृतिसे जाना जाता है, क्योंकि 'कश्चिद्धीरः०' (जिसकी नेत्रादि इन्द्रियाँ विषयोंसे व्यावृत हो गयी हैं ऐसा अमृतको चाहनेवाला कोई विवेकी पुरुष प्रत्यगात्माको देखता है) 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व०' (ज्ञानकी निर्मलतासे जिसका अन्तःकरण विशुद्ध हुआ है, वह ध्यान करता हुआ सब अवयवभेदसे वर्जित आत्माको देखता है।) इत्यादि श्रुतियाँ हैं। उसी प्रकार—

'यं विनिद्रा जितश्वासाः०' (निद्रारहित श्वासको जीते हुए मनुष्य, जिसकी इन्द्रियाँ संयममें हैं ध्यान करते हुए जिस ज्योतिको देखते हैं, उस योगलभ्य आत्माको नमस्कार है, उस सनातन भगवान्‌को योगी सम्यक्‌रूपसे देखते हैं। इस प्रकारकी स्मृतियाँ भी हैं। (शाङ्करभाष्यार्थ)

दोनों मीमांसाओंके ग्रन्थकार आचार्योंका समय और उनसे पूर्व आचार्योंके नाम

उत्तरमीमांसा अर्थात् ब्रह्मसूत्रोंके कर्ता महर्षि बादरायण हैं। इनके सम्बन्धमें ऐसा निश्चय प्रसिद्ध और प्रचलित है कि यही पराशर ऋषिके पुत्र कृष्णद्वैपायन वेदव्यास हैं, जो महाभारतके समयमें हुए हैं। जिन्होंने कुरुक्षेत्रमें होनेवाले युद्धकी सारी घटनाओंसे धृतराष्ट्रको जानकारी कराते रहनेके लिये संजयको दिव्यदृष्टि दी थी और जो स्वयं महाभारत और गीताके रचयिता बतलाये जाते हैं। कपिलमुनि, आसुरि, पञ्चशिख, जैगीषव्य, वार्षगण्य, जनक और पराशर—इन सब प्राचीन आचार्योंने क्रमशः सांख्यज्ञानमें निष्ठा प्राप्त करके जगत्‌में उसका प्रचार किया था। वास्तवमें सांख्य ही अपने व्यापकरूपमें उपनिषदोंकी प्राचीन वेदान्त फिलासफी है और जिसको पिछले कालके साम्प्रदायिक आचार्योंने, जिनका हम आगे वर्णन करेंगे, अपने सम्प्रदायकी संकीर्णतामें संकुचित करके दर्शाया है, वह सब नवीन वेदान्तविचार हैं। बादरायणका अर्थ बादरिके पुत्र हैं। इससे सिद्ध होता है कि पराशर ऋषिका दूसरा नाम बादरि था। बादरि आचार्यका

नाम ब्रह्मसूत्रोंमें चार बार (१ । २ । ३०, ३ । १ । ११, ४ । ३ । ७, ४ । ४ । १०) आया है और जैमिनिके मीमांसा सूत्रोंमें भी चार स्थानों (३ । १ । ३, ६ । १ । २७, ८ । ३ । ६, ९ । २ । ३०) में आया है। इससे सिद्ध होता है कि बादरि ऋषिने कर्म-मीमांसा और ज्ञान-मीमांसा दोनोंपर सूत्रग्रन्थ बनाये थे। इनके मतमें वैदिक कर्ममें सबका अधिकार है। उसमें जन्मसे जातिभेदको कोई स्थान नहीं दिया गया है।

बादरायणके ब्रह्मसूत्रमें जैमिनिका नाम (१ । २ । २८, १ । २ । ३१, १ । ३ । ३१, १ । ४ । १८, ३ । २ । ४०, ३ । ४ । २७, ३ । ४ । १८, ३ । ४ । ४०, ४ । ३ । १३, ४ । ४ । ५, ४ । ४ । ११) ग्यारह बार आया है। औडुलोमि आचार्यका नाम (ब्र० सू० १ । ४ । २१, ३ । ४ । ४५, ४ । ४ । ६ में) तीन बार आया है और काशकृत्स्न आचार्यका नाम (ब्रह्म० सू० १ । ४ । २२ में) एक बार आया है। आत्रेय आचार्यका नाम (ब्रह्म० सू० ३ । ४ । ४४ में) और जैमिनिदर्शनमें (४ । ३ । १८, ६ । १ । २६) दो बार आया है। आचार्य आश्मरथ्यका नाम (ब्रह्म० सू० १ । २ । २९, १ । ४ । २०) और जैमिनिसूत्र (३ । ५ । १६) में आया है। आचार्य कार्ष्णजिनिका नाम (ब्रह्म० सू० ३ । १ । ९) और मीमांसासूत्र (४ । ३ । १७, ६ । ७ । ३५) में आया है। इससे सिद्ध होता है कि जैमिनिसूत्र और बादरायणसूत्रोंसे पूर्व दोनों पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसापर बहुतसे प्राचीन आचार्योंके सूत्र विद्यमान थे और परस्पर विचारोंमें मत-भेद भी था; क्योंकि ऐसे गूढ़ विषयोंमें विचारोंकी भिन्नताका होना स्वाभाविक ही है। किंतु उन सूत्रोंके भाष्यकार नवीन साम्प्रदायिक आचार्योंकी कटाक्ष (Controversy) की शैलीके विरुद्ध वे अपने विचारोंसे भिन्नता रखनेवाले आचार्योंके मतको आदर और सम्मानसे दिखलाते थे।

वेदान्तपर भाष्यकार आचार्योंके नवीन सम्प्रदाय

प्राचीन समयमें उपनिषद् वेदान्त कहलाते थे, किंतु वे भिन्न-भिन्न समयमें भिन्न-भिन्न ऋषियोंद्वारा प्रचार किये गये तथा बनाये गये थे। इसलिये उनकी विचार-भिन्नताको जिसका हो जाना स्वाभाविक था जब बादरायण आचार्यने अपने ब्रह्मसूत्रोंमें सब उपनिषदोंकी विचारैकता सिद्ध कर दी, तब यह ब्रह्मसूत्र भी उपनिषदोंके समान ही प्रामाणिक माना जाने लगा। इन्हीं बादरायण आचार्यद्वारा व्यास नामसे भगवद्गीता-में सारे उपनिषदोंका सार अति निपुणतासे समझाया गया है। इसलिये अन्तमें उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता ये तीनों प्रस्थानत्रयी नामसे वेदान्तके मुख्य प्रामाणिक ग्रन्थ माने जाने लगे। बौद्ध धर्मके पतनके पश्चात् प्रत्येक नवीन सम्प्रदायके प्रवर्तक आचार्यको वेदान्तके प्रस्थानत्रयीके इन तीनों भागोंपर अपने सम्प्रदायके सिद्धान्तके आधारपर भाष्य लिखकर यह सिद्ध करनेकी आवश्यकता हुई कि उसका सम्प्रदाय वेदान्तके अनुसार है और अन्य सम्प्रदाय इसके विरुद्ध हैं। साम्प्रदायिक दृष्टिसे प्रस्थानत्रयीपर भाष्य लिखनेकी रीति चल पड़नेपर भिन्न-भिन्न पण्डित अपने-अपने सम्प्रदायोंके भाष्योंके आधारपर टीकाएँ लिखने लगे। इसके परिणामस्वरूप नवीन वेदान्तके पाँच सम्प्रदाय अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैतके सिद्धान्तोंके आधारपर लगभग पाँच दृष्टिकोणसे ब्रह्मसूत्रोंपर भाष्य किये गये हैं।

पाँचों अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशोंका विस्तारपूर्वक वर्णन योगदर्शन समा० पा० सू० १७ वि० व० में, तीनों स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरोंका समाधिपाद सूत्र २८ के विशेष वक्तव्यमें; पुनर्जन्मका साधनपाद सूत्र १३ के विशेष वक्तव्यमें और देवयान, पितृयान आदिका वि० पा० सू० ३९ वि० व० में देखें।

१ = ब्रह्मसूत्रपर भाष्यकार श्रीस्वामी शङ्कराचार्यका अद्वैतसिद्धान्त

अद्वैत सिद्धान्त—१. आँखोंसे दिखलायी देनेवाले सारे जगत् अर्थात् सृष्टिके पदार्थोंकी अनेकता सत्य नहीं है। वास्तवमें यह सब एक ही शुद्ध चैतन्य सत्ता (तत्त्व) है, जो निर्गुण, निर्विशेष, शुद्ध-ज्ञान-स्वरूप है, जिसको परब्रह्म या परमात्मा कहते हैं। २. परमात्माके साथ अनादिसे एक विशेष शक्ति है जिसको माया अथवा अविद्या कहते हैं, जो न सत् है और न असत् अर्थात् अनिर्वचनीय है। ब्रह्म इस सारे अनेकविध जड-चेतन सृष्टिके प्रपञ्चको इसी अविद्या अथवा मायाद्वारा रचता है। जिस प्रकार मायावी मदारी अपनी माया-शक्तिसे नाना प्रकारके जड-चेतन पदार्थोंको प्रकट करके दिखलाता है, जो अपनी वास्तविक सत्ता नहीं रखते हैं, केवल भ्रान्तिमात्र होते हैं। ३. इसलिये मायासम्बद्ध ब्रह्म ही इस जगत्का अभिन्न निमित्त उपादान कारण है। मायाके सम्बन्धसे ब्रह्मको ईश्वर कहते हैं और अविद्याके सम्बन्धसे जीव। ४. जीव अविद्याके कारण अपने ब्रह्मस्वरूप अर्थात् शुद्ध ज्ञानस्वरूपको भूलकर बुद्धि, अहंकार, मन, इन्द्रियों और शरीर आदिकी उपाधियोंको अपना वास्तविक स्वरूप समझकर उनकी अवस्थाओंको अपनी अवस्था मान लेता है। इस अध्यासके कारण अल्पज्ञता, अल्पशक्तिमत्ता और परिच्छिन्नताकी सीमामें आकर कर्ता और भोक्ता बन जाता है और सकाम कर्मोंद्वारा पुण्य और पापका संचय करता हुआ आवागमनके चक्रमें फँसकर उनके फलोंको भोगता है। ५. आत्मा और परमात्मा अथवा जीव और ब्रह्मकी एकताके अनुभवसिद्ध पूर्ण ज्ञानसे अविद्याका नाश हो जानेपर शरीर, इन्द्रियां, मन, अहंकार और बुद्धि आदि उपाधियोंमेंसे आत्मभाव मिट जाता है, जिसके उपरान्त कर्ता-भोक्ताका अभिमान निवृत्त हो जानेपर कर्म, उनके फलों और आवागमनसे मुक्ति पाकर परिच्छिन्नता और अल्पज्ञताकी सीमाको तोड़कर अपने अनन्त शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें अवस्थित हो जाता है। यह अद्वैत सिद्धान्त कहलाता है। इसको निर्विशेषाद्वैत तथा विवर्त्तवाद भी कहते हैं। इस सम्प्रदायके आचार्य श्रीस्वामी शङ्कराचार्य हुए हैं, जिनके सम्बन्धमें कई इतिहासलेखकोंद्वारा यह निश्चित किया गया है कि इन्होंने विक्रमी संवत् ८४५ तदनुसार ७८८ ई० सन्में जन्म ग्रहण किया था और ३२ वें वर्षमें वि० सं० ८७८, ई० सन् ८२० में शरीर त्याग किया था; किंतु श्रीस्वामी दयानन्दजी महाराजने स्वामी शङ्कराचार्यका समय आजसे २२०० वर्ष पूर्व माना है।

श्रीस्वामी शङ्कराचार्यजी अपने समयके अद्वितीय विद्वान् थे। इनका ब्रह्मसूत्रपर भाष्य शारीरकभाष्य कहलाता है। ब्रह्मसूत्रोंके संस्कृतमें जितने भाष्य हुए हैं, उनमें सबसे अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध श्रीस्वामी शङ्कराचार्यका है और शङ्करप्रतिपादित मत ही सामान्यरूपसे वेदान्त समझा जाने लगा है। किंतु बहुत-से विद्वानोंका विचार है कि स्वामी शङ्कराचार्यजीने अपनी अलौकिक बुद्धि और विद्याको बादरायणसूत्रोंके आशयको स्पष्ट करनेकी अपेक्षा अपने प्रवर्तित सम्प्रदायके मण्डन और अपनेसे विभिन्नता रखनेवाले मतोंके खण्डनमें अधिक प्रयोग किया है।

डाक्टर घाटेने 'वेदान्त' नामक अंग्रेजी पुस्तकमें शङ्कर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व तथा वल्लभके व्याख्यानोंका तारतम्य अनुशीलनकर मूल सूत्रोंके प्रतिपाद्य सिद्धान्तोंको खोज निकालनेका यत्न किया है। उनकी सम्मतिमें शङ्कराचार्यके अनेक सिद्धान्तोंकी पुष्टि सूत्रोंसे नहीं की जा सकती। कार्य-कारणके सम्बन्धमें सूत्रकार 'परिणामवाद'के पक्षपाती प्रतीत होते हैं न कि 'विवर्तवाद'के। 'आत्मकृतेः परिणामात्' (ब्र० सू० १।४।२६) में सूत्रकारने परिणाम शब्दका स्पष्ट निर्देश किया है।

प्रसिद्ध पाश्चात्त्य पण्डित थीबोंने शङ्कराचार्यकृत भाष्यके स्वरचित अनुवादकी भूमिकामें शङ्कराचार्यकी व्याख्याके सम्बन्धमें लिखा है कि 'बादरायणका दार्शनिक सिद्धान्त शङ्कराचार्यके सिद्धान्तसे सर्वथा भिन्न था, किंतु शङ्कराचार्यने अपने शुष्क निर्विशेष अद्वैत सिद्धान्तका प्रचार करनेके लिये बादरायणके ऊपर अपने मतका आरोप किया है, इसलिये ब्रह्मसूत्रके शाङ्करभाष्यको पढ़नेसे सूत्रकारका वास्तविक सिद्धान्त नहीं मालूम हो सकता।' इनकी समालोचनाके अनुसार ही पूर्ववर्ती बहुत-से समालोचकोंने स्वामी शङ्कराचार्यके विषयमें ऐसा ही मत प्रकट किया है। प्राचीन कालके रामानुजाचार्यने भी ब्रह्मसूत्रके व्याख्यानके प्रसङ्गमें स्वामी शङ्कराचार्यके व्याख्यानके ऊपर विभिन्न स्थलोंपर दोष दिखलाये हैं। रामानुजाचार्यके पूर्ववर्ती आचार्य भास्करने अपने भाष्यके आरम्भमें लिखा है कि 'शङ्कराचार्यने सूत्रकारके अभिप्रायको गुप्त करके अपना सिद्धान्त ब्रह्मसूत्रके भाष्यके बहाने प्रकट किया है।'

सम्भव है उपर्युक्त समालोचनाओंमें अत्युक्तिसे काम लिया गया हो; क्योंकि ब्रह्मसूत्रके भाष्यकारोंमें अपने सम्प्रदायसे भिन्न विचारवालोंके प्रति प्रायः ऐसी ही शैली चल निकली है। किंतु बादरायणके मूल सूत्रोंपर साम्प्रदायिक पक्षपातसे रहित होकर स्वतन्त्र विचारसे दृष्टि डालनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अन्य सब दर्शनकारों (न्याय, वैशेषिक, विशेषकर सांख्य और योग) के सदृश उनमें भी सांख्य और योगके द्वैतसिद्धान्तका ही प्रतिपादन किया गया है जो स्वामी शङ्कराचार्यकी अद्भुत विद्वत्ताद्वारा निर्विशेष अद्वैत सिद्धान्तके रूपमें दिखलाया गया है।

ब्रह्मसूत्रमें वैदिक दर्शनोंका खण्डन नहीं प्रत्युत श्रुतियोंके साथ उनका समन्वय है और बादरायणसे लगभग ढाई हजार वर्ष पश्चात् भगवान् बुद्धका जन्म हुआ है; जिनके सम्प्रदायोंका ब्रह्मसूत्रके शाङ्करभाष्यमें खण्डन किया गया है।

वास्तवमें यह बात प्रतीत होती है कि स्वामी शङ्कराचार्यके समयमें सारे भारतवर्षमें नास्तिकता फैल रही थी और अवैदिक मतमतान्तरोंका सब ओर प्रचार था। तान्त्रिक सम्प्रदाय, पाशुपत और पाञ्चरात्र तथा शाक्तमतवालोंकी नास्तिकता बढ़ रही थी। बौद्ध धर्म जो एक प्रकारसे सांख्य और योगका ही रूपान्तर है, जिसके निवृत्तिमार्गमें भगवान् बुद्धने अन्वय-व्यतिरेक करते हुए समाधिद्वारा नेति-नेतिरूप (सर्ववृत्तिनिरोध रूप) स्वरूप-अवस्थिति प्राप्त करना सिखलाया था। सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार, माध्यमिक आदि सम्प्रदायोंमें विभक्त होकर अपने उच्च आत्म और चैतन्यवादसे विच्युत होकर जडवादकी ओर झुक रहा था और बहुत सम्भव है कि इस जडवादके प्रभावमें उस समयके कोई-कोई दार्शनिक विद्वान् भी वैदिक दर्शनोंसे अनीश्वरवादको सिद्ध करनेमें प्रवृत्त हो रहे हों। इसलिये इस सारे अवैदिक और नास्तिक वातावरणको वैदिक धर्ममें परिवर्तित करनेके लिये स्वामी शङ्कराचार्यको पाशुपत, पाञ्चरात्र और शाक्त सम्प्रदायोंके साथ-साथ वैदिक दर्शनोंके भी खण्डनकी आवश्यकता हुई हो और जडवादके स्थानमें अद्वैत चैतन्यवाद स्थापन करना आवश्यक समझा हो। यहाँ वैदिक दर्शनों विशेषकर सांख्य और योगके द्वैत सिद्धान्तको संक्षेपसे बतलाकर उसकी शङ्करके अद्वैतसिद्धान्तसे सामान्यरूपसे तुलना दिखला देना पाठकोंकी जानकारीके लिये उचित प्रतीत होता है—

सांख्ययोगका द्वैत-सिद्धान्त—चेतन और जड दो अनादि तत्त्व हैं। चेतन तत्त्व (पुरुष)

अपरिणामी, निष्क्रिय, निर्विकार, ज्ञानस्वरूप, कूटस्थ, नित्य है। जड तत्त्व (मूलप्रकृति) त्रिगुणात्मक, सक्रिय और परिणामी नित्य है। चेतन तत्त्वकी संनिधिसे जड तत्त्वमें एक प्रकारका ज्ञान नियम और व्यवस्थापूर्वक विरूप अर्थात् विषम परिणाम हो रहा है। सत्त्वमें क्रियामात्र रज और उस क्रियाको रोकनेमात्र तमका सबसे पहला विषम परिणाम महत्तत्त्व कहलाता है। यही महत्तत्त्व सत्त्वकी विशुद्धतासे अपने समष्टिरूपमें विशुद्ध सत्त्वमय चित्त कहलाता है, जिसमें समष्टि अहंकार बीज रूपसे रहता है। यह ईश्वरका चित्त है और अपने व्यष्टि रूपमें सत्त्वकी विशुद्धताको छोड़े हुए सत्त्वचित्त कहलाते हैं, जो संख्यामें अनन्त हैं, जिनमें व्यष्टि अहंकार बीज-रूपसे रहते हैं। ये जीवोंके चित्त हैं। चेतन तत्त्वमें अपने ज्ञानके प्रकाश डालनेकी और महत्तत्त्वमें उसको ग्रहण करनेको योग्यता अनादि चली आ रही है। पुरुषसे प्रकाशित अथवा प्रतिबिम्बित समष्टि चित्त समष्टि अस्मिता और व्यष्टि चित्त व्यष्टि अस्मिता कहलाते हैं। पुरुष निष्क्रिय होता हुआ भी अपने चित्तका द्रष्टा है अर्थात् चित्तमें उसके ज्ञानके प्रकाशमें जो कुछ भी हो रहा है वह उसे स्वयं ज्ञात रहता है। व्यष्टि चित्तके सम्बन्धसे चेतन तत्त्वका नाम जीव है, जो संख्यामें अनन्त और अल्पज्ञ हैं और समष्टि चित्तके सम्बन्धसे चेतनतत्त्वका नाम ईश्वर, अपर ब्रह्म, सगुण ब्रह्म और शबल ब्रह्म है, जो एक और सर्वज्ञ है। अपने शुद्ध स्वरूपसे चेतन तत्त्वका नाम परमात्मा, निर्गुण ब्रह्म, शुद्ध ब्रह्म और परब्रह्म है। पुरुष शब्दका प्रयोग जीव, ईश्वर और परमात्मा तीनों अर्थोंमें होता है। दूसरा विषम परिणाम अहंकार है अर्थात् पुरुषसे प्रकाशित अथवा प्रतिबिम्बित महत्तत्त्व ही रज और तमकी अधिकतासे विकृत होकर अहंकाररूपसे व्यक्त भावमें बहिर्मुख हो रहा है। यह अहंकार ही अहंभावसे एकत्व, बहुत्व, व्यष्टि और समष्टिरूप सब प्रकारकी भिन्नताका उत्पन्न करनेवाला है। विभाजक अहंकारसे ग्रहण और ग्राह्य रूप दो प्रकारके विषम परिणाम हो रहे हैं। अर्थात् विभाजक अहंकार सत्त्वमें रज और तमकी अधिकतासे विकृत होकर ग्रहण रूप ग्यारह इन्द्रियों (पाँच ज्ञान-इन्द्रियाँ, पाँच कर्म-इन्द्रियाँ, ग्यारहवाँ इनका नियन्ता मन) और सत्त्वमें रज तमकी कुछ विशेषताके साथ अधिकतासे विकृत होकर परस्पर भेदवाली पाँच तन्मात्राओंमें विकृत होकर बहिर्मुख हो रहा है। पाँचवाँ विषम परिणाम पाँच स्थूल भूत हैं अर्थात् अहंकारसे व्याप्त पाँचों तन्मात्राएँ ही सत्त्वमें रज और तमकी अधिकतासे विकृत होकर पाँचों सूक्ष्म और स्थूल भूतोंमें व्यक्त भावसे बहिर्मुख हो रही हैं। इस प्रकार बहिर्मुखतामें महत्तत्त्वकी अपेक्षा अहंकारमें, अहंकारकी अपेक्षा ग्यारह इन्द्रियों और पाँचों तन्मात्राओंमें और तन्मात्राओंकी अपेक्षा पाँचों सूक्ष्म और स्थूल भूतोंमें क्रमशः रज तथा तमकी मात्रा बढ़ती जाती है और सत्त्वकी मात्रा कम होती जाती है। यहाँतक कि स्थूल जगत् और स्थूल शरीरमें रज-तमका ही व्यवहार चल रहा है। सत्त्व केवल प्रकाशमात्र ही है और महत्तत्त्वमें प्रकाशित अथवा प्रतिबिम्बित चेतन तत्त्व भी उपर्युक्त राजसी-तामसी आवरणोंमें आच्छादित होता हुआ स्थूल शरीर और भौतिक जगत्में केवल झलक मात्र ही दिखलायी दे रहा है। यह सब अवरोहक्रम (Descent) है। इससे उल्टे आरोह-क्रम (Ascent) में जितनी अन्तर्मुखता बढ़ती जायगी उतनी ही रज तथा तमका विक्षेप-आवरण हटकर सत्त्वका प्रकाश बढ़ता जायगा और उस प्रकाशमें चेतन तत्त्वकी अधिक स्पष्टतासे प्रतीति बढ़ती जायगी। इस प्रकार अन्तमें गुणोंके सबसे प्रथम विषम परिणाम रूप चित्तको भी सर्ववृत्तिनिरोधद्वारा अपने कारणमें लीन करके शुद्ध चेतन स्वरूपमें अवस्थिति प्राप्त की जा सकती है।

व्यष्टि चित्तोंमें जो लेशमात्र तम है, उसमें बीजरूपसे अविद्या विद्यमान है। इस अविद्या-क्लेशसे क्रमशः अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, क्लेश और उनसे सकाम कर्म, सकाम कर्मोंसे उन्हींके

अनुसार कर्माशय, कर्माशयके अनुसार जन्म, आयु और भोग तथा उनमें सुख और दुःख उत्पन्न होते हैं। सम्प्रज्ञात समाधिकी चारों भूमियों वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता अनुगतमें ये सब क्लेश तनु अर्थात् शिथिल हो जाते हैं और उसकी उच्चतम अवस्था विवेकख्यातिमें सत्त्वकी विशुद्धतासे सारे क्लेश अपनी जननी अविद्यासहित दग्ध बीजतुल्य हो जाते हैं। अब वही तम अपने अविद्यारूप धर्मको छोड़कर इस सबसे उच्चतम सात्त्विक वृत्तिको स्थिर रखनेमें सहायक होता है। सर्ववृत्तिनिरोधरूप असम्प्रज्ञात समाधिमें चित्तमें कोई वृत्ति न रहनेके कारण द्रष्टाकी शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति होती है। उस समय चित्तमें निरोधके संस्कारोंका परिणाम होता है। कैवल्यमें व्युत्थानके सारे संस्कारोंको नष्ट करनेके पश्चात् निरोधके संस्कार स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं। तब अपने धर्मी (उपादान-कारण) चित्तके अपने कारणमें लीन होनेके साथ दग्ध बीजरूप अविद्या-क्लेशका भी लय हो जाता है।

शंकरके निर्विशेष अद्वैतसिद्धान्त और सांख्य-योगके द्वैतसिद्धान्तमें तुलना

वैदिक दर्शनकारोंने जहाँ चेतन तत्त्वको निमित्त कारण और जड तत्त्वको इस जगत्का उपादान कारण बतलाया है, वहाँ शंकरने चेतन तत्त्वको ही जगत्का अभिन्न निमित्त-उपादान कारण माना है। शङ्करने ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें एक स्थानपर सांख्यके इस आक्षेपको कि चेतन तत्त्वसे जड तत्त्व कैसे उत्पन्न हो सकता है (अर्थात् चेतन तत्त्व जड तत्त्वका उपादान कारण नहीं हो सकता) इस प्रकार निवारण किया है कि जैसे तुम्हारे अव्यक्त मूल प्रकृतिसे व्यक्त महत्तत्त्व अहंकारादि उत्पन्न होते हैं, वैसे ही चेतन तत्त्वसे जड तत्त्व उत्पन्न हो सकता है, किंतु सांख्य-योगका जड तत्त्व मूल प्रकृति त्रिगुणात्मक है। सत्त्वमें रज और तम जितना बढ़ता जाता है उतनी ही स्थूलता और जितना रज और तम कम होता है उतनी ही सूक्ष्मता बढ़ती जाती है। स्थूलताके क्रमको व्यक्त होना और सूक्ष्मताके क्रमको अव्यक्त होना कहते हैं। इसलिये सारा सूक्ष्म और स्थूल अर्थात् अव्यक्त और व्यक्त संसार तीनों गुणोंका ही परिणाम है। किंतु एक अपरिणामी निर्विकार कूटस्थ नित्य ब्रह्ममें इन नाना प्रकारके विकारों और परिणामोंका होना कैसे सम्भव हो सकता है। इसलिये शंकरको भी जगत्के उपादान कारण त्रिगुणात्मक प्रकृतिके स्थानमें ब्रह्मके साथ एक अनादि तत्त्व माया अर्थात् अविद्याका मानना अनिवार्य हो गया, जिसके द्वारा ब्रह्म स्वयं अपरिणामी और निर्विकार रहता हुआ भी इस सारे संसारकी रचना कर सकता है। जैसा कि शांकरभाष्य उपसंहारदर्शन अधिकरणसूत्र २४ में बतलाया है—

अद्वैतं तत्त्वतो ब्रह्म तच्चाविद्यासहायवत्।
नानाकार्यकरं कार्यक्रमोऽविद्यास्थशक्तिभिः॥

(ब्र० सू० अ० २ पा० १ अधि० ८ शांकरभाष्य)

'यद्यपि परमार्थतः ब्रह्म एक ही है, तथापि वह अविद्याकी सहायतासे अनेक विचित्र कार्योंको उत्पन्न कर सकता है और अविद्याकी शक्तियोंसे कार्य-क्रमकी व्यवस्था हो सकती है।' इस माया अर्थात् अविद्याको अलग सत्ता माननेमें अद्वैतसिद्धान्त खण्डित होता था और असत् माननेमें इसके अन्तर्गत सारा संसार श्रुति, स्मृति और स्वयं अपना अद्वैतसिद्धान्त असत् और मिथ्या सिद्ध होता था, इसलिये इसको अनिर्वचनीय नाम दिया गया, जिसको न सत कह कहते हैं और न असत। इस प्रकार शंकरकी त्रिगुणात्मक माया अर्थात् अविद्या सांख्यकी त्रिगुणात्मक प्रकृति है। अनिर्वचनीय अथवा सत् और असत् दोनोंसे विलक्षण कह देना केवल शब्दोंका ही रूपान्तर है। दोनों सिद्धान्तोंका इससे परे होकर अपने शुद्ध चेतन स्वरूपमें अवस्थित होना अन्तिम ध्येय है। एक और मुख्य भेद इन दोनों सिद्धान्तों-

में यह है कि जहाँ सांख्य चेतन-तत्त्वकी संनिधिसे त्रिगुणात्मक जड-तत्त्वमें स्वाभाविक ज्ञान, नियम और व्यवस्थापूर्वक क्रियाका होना इस संसारकी रचनाका कारण बतलाता है, वहाँ शंकरको ब्रह्मकी स्वतन्त्रता, स्वेच्छाचारिता और महिमा दिखलानेके लिये यह मानना पड़ा कि ब्रह्म अपनी इच्छासे अपनी महिमा दिखलानेके लिये शोबदेबाज मदारीके सदृश अपनी अनादि माया अर्थात् अविद्यासे इस जगत्की रचना करता है। इसमें नाना प्रकारके दोष आते हैं, जिनका युक्तिद्वारा संतोषजनक उत्तर नहीं मिल सकता अर्थात्–(१) ब्रह्मको क्यों ऐसे जगत्के रचनेकी इच्छा होती है, जिसमें दुःख-ही-दुःख है और फिर स्वयं ही उससे मुक्ति पानेके लिये श्रुति-स्मृतिद्वारा उपदेश दिलवाता है। (२) यदि यह कहा जाय कि जगत और उसके अन्तर्गत सुख-दुःख सब मिथ्या और भ्रमरूप ही हैं, केवल एक ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही सत्य है तो ब्रह्मने इस भ्रमको क्यों फैलाया और निर्भ्रान्त ब्रह्ममें भ्रम कैसा? (३) अविद्यासे ब्रह्म जगत्की रचना करता है और अविद्या ब्रह्मसे अभिन्न है फिर अविद्या और जगत्से छुटकारा कैसे सम्भव हो सकता है? (४) ब्रह्मकी शक्तिरूप अविद्यासे जगत्की उत्पत्ति है, इसलिये विद्या अर्थात् ज्ञानद्वारा ही इससे मुक्ति हो सकती है; किंतु अविद्याके अन्तर्गत होनेके कारण सारे साधन श्रुति और स्मृति भी अविद्या रूप ही होंगे। विद्या और ज्ञान ब्रह्मसे बाहर कहाँसे लाया जा सकता है। (५) सर्वज्ञ ज्ञानस्वरूप ब्रह्मकी शक्ति माया अर्थात् अविद्या नहीं होनी चाहिये। प्रत्युत निर्भ्रान्त विद्या और सत्य ज्ञान होना चाहिये। (६) और यदि उसमें संसारके रचनेकी इच्छा भी हो तो वह निर्भ्रान्त विद्या और सत्य ज्ञानके साथ हो न कि माया और अविद्याके साथ। (७) मदारी पैसा कमाने अथवा अपनेसे बड़े आदमियोंको खुश करनेके प्रयोजनसे शोबदे और तमाशे दिखलाता है। आप्तकाम ब्रह्मको इस मायाजालके फैलानेमें प्रयोजन क्या है? (८) यदि अपनी महिमा और प्रभुता दिखलानेके लिये, तो यह किसको दिखलाना? जब कि एक ब्रह्मके सिवा दूसरा कोई है ही नहीं। (९) यदि अपनी प्रभुता और महिमा दिखलानेके लिये जीवोंको उत्पन्न करता है तो इस प्रकारकी महिमा और प्रभुता दिखलानेकी अभिलाषा होना ही महिमा और प्रभुताके अभावको सिद्ध करता है। (१०) यदि बिना किसी अपने विशेष प्रयोजनके ब्रह्मद्वारा संसारकी रचना केवल जीवोंके कल्याण अर्थात् भोग और अपवर्गके लिये स्वाभाविक मानी जाय तो यह सांख्य और योगका ही सिद्धान्त आ गया।

इस प्रकार जहाँ द्वैतवादी सांख्ययोग सारे दोषों, विकारों और परिणामों आदिको, त्रिगुणात्मक प्रकृतिमें डालकर ब्रह्मका अद्वैत, निर्दोष, निर्विकार, अपरिणामी, निष्काम, निष्क्रिय, कूटस्थ, नित्य शुद्ध ज्ञानस्वरूप सिद्ध करता है और उस शुद्ध-ज्ञानस्वरूपमें अवस्थिति अपना अन्तिम ध्येय ठहराता है, वहाँ यह निर्विशेष अद्वैतवाद इन सारे दोषोंका ब्रह्ममें आरोप करके ब्रह्मको सदोष, विकारी, परिणामी, सक्रिय, सकाम और अपनी महिमा दिखलाने और प्रतिष्ठा पानेका अभिलाषी, प्रसवधर्मी, अज्ञान, अविद्या और भ्रम-युक्त सिद्ध करता है; किंतु यद्यपि यह निर्विशेष अद्वैत सिद्धान्त व्यवहार-दशामें इस प्रकार दोषयुक्त और युक्तिहीन है; तथापि यह भावना कि यह सारा दृष्टव्य संसार मिथ्या, अविद्या और भ्रमरूप है, केवल एक ब्रह्म ही सत्य है, साधकोंको साधनरूपसे शुद्ध-चेतन-स्वरूपमें अवस्थिति प्राप्त करानेमें रोचक और सहायक प्रतीत होता है। इसीलिये बहुत-से महात्माओंने इस सिद्धान्तको अपनाया है और अपना रहे हैं। इसलिये सांख्ययोगके द्वैतवाद अर्थात् परिणामवाद और शंकरके निर्विशेष अद्वैतवाद अर्थात् विवर्तवादमें अन्तिम लक्ष्यकी प्राप्तिमें कोई वास्तविक अन्तर नहीं है।

२—ब्रह्मसूत्रके भाष्यकार श्रीरामानुजाचार्यका विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त

शंकरसे लगभग २५० वर्ष पश्चात् (जन्म विक्रम सं० १०७३ तदनुसार ई० सन्० १०१६) श्रीरामानुजाचार्यने विशिष्टाद्वैत-सम्प्रदाय चलाया। इनका ब्रह्मसूत्रपर भाष्य 'श्रीभाष्य' कहलाता है। प्रसिद्ध है कि ब्रह्मसूत्रपर एक अति प्राचीन व्याख्या 'वृत्ति' अथवा 'कृतकोटि', नामसे बौधायन ऋषिकी बनायी हुई थी; किंतु वह लुप्त हो चुकी थी; उसको टंकद्रमिड़, गुहदेव आदि पूर्व-आचार्योंने संक्षेप किया था। उसके आधारपर श्रीरामानुजाचार्य अपने श्रीभाष्यका लिखा जाना अपने वेदार्थ-संग्रहमें बतलाते हैं "भगवान् बौधायनकी विस्तीर्ण वृत्तिका जो पूर्व-आचार्योंने संक्षेप किया है, उनके मत-अनुसार सूत्रोंका व्याख्यान किया जाता है।"

श्रीस्वामी रामानुजाचार्यका विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त—इस सम्प्रदायका मत है कि शंकराचार्यका माया-मिथ्यात्ववाद और अद्वैत-सिद्धान्त दोनों झूठे हैं। चित् अर्थात् जीव और अचित् अर्थात् विषय, शरीर, इन्द्रियाँ आदि पाँचों स्थूल भूतोंसे बना हुआ भौतिक जगत् और ब्रह्म ये तीनों यद्यपि भिन्न हैं तथापि चित् अर्थात् जीव और अचित् अर्थात् जड जगत् ये दोनों एक ही ब्रह्मके शरीर हैं; जैसा कि अन्तर्यामी ब्राह्मण (बृह० उप० ३ । ७) में कहा है कि यह सारा बाह्य जगत् शरीर इत्यादि और जीवात्मा ब्रह्मका शरीर है और वह इनका अन्तर्यामी आत्मा है। इसलिये चित्-अचित्-विशिष्ट ब्रह्म एक ही है। इस प्रकारसे विशिष्ट रूपसे ब्रह्मको अद्वैत माननेसे यह सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत कहलाता है। इस सिद्धान्तके अनुसार मोक्षमें जीवात्मा ब्रह्मको प्राप्त होकर ब्रह्मके सदृश हो जाता है न कि ब्रह्मरूप। पुरुषोत्तम, नारायण, वासुदेव और परमेश्वर ब्रह्मके पर्यायवाचक हैं। उपर्युक्त सारी बातोंसे सिद्ध होता है कि इस सम्प्रदायमें सगुण ब्रह्म अर्थात् अपर ब्रह्म = शबल ब्रह्मकी प्राप्ति ही अपना लक्ष्य माना है, जो योगकी सम्प्रज्ञात-समाधिका अन्तिम ध्येय हो सकता है।

३—ब्रह्मसूत्रके भाष्यकार श्रीमध्वाचार्यका द्वैत-सिद्धान्त

श्रीरामानुजाचार्यके १८२ वर्ष पश्चात् विक्रमी सं० १२५४, तदनुसार ई० सन् ११९७ में श्रमदानन्द तीर्थका, जो मध्वाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हैं, जन्म हुआ। ८६ वर्षकी अवस्थामें विक्रमी सं० १३४०, तदनुसार ई० सन् १२८३ में इनका शरीर-त्याग हुआ। इनका ब्रह्मसूत्रपर भाष्य 'पूर्णप्रज्ञ-भाष्य' के नामसे प्रसिद्ध है। यह द्वैत-सम्प्रदायके प्रवर्तक हुए हैं। इनका मत है कि ब्रह्म और जीवको कुछ अंशोंमें एक और कुछ अंशोंमें भिन्न मानना परस्पर विरुद्ध और असम्बद्ध बात है। इसलिये दोनोंको सदा भिन्न ही मानना चाहिये; क्योंकि इन दोनोंमें पूर्ण अथवा अपूर्ण रीतिसे भी एकता नहीं हो सकती। लक्ष्मी ब्रह्मकी शक्ति ब्रह्मके ही अधीन रहती है; किंतु उससे भिन्न है।

आर्यसमाजके प्रवर्तक श्रीस्वामी दयानन्दजी महाराजका सिद्धान्त भी द्वैतवाद कहलाता है, किंतु इन दोनोंमें अन्तर यह है कि जहाँ श्रीमध्वाचार्यजीने अधिकतर पुराणोंका आश्रय लिया है वहाँ श्री-स्वामी दयानन्दजीने वेदों, उपनिषदों, वैदिक दर्शनों और प्रामाणिक स्मृतियोंका उसके साथ समन्वय दिखलाया है। श्रीस्वामी दयानन्दका द्वैतवाद सब वैदिक दर्शनोंके समन्वयके साथ सांख्ययोगका ही सर्वांशमें द्वैतवाद है; किंतु लेखकका यह व्यक्तिगत स्वतन्त्र विचार है कि उन्होंने चैतन्य-तत्त्वका शुद्ध

स्वरूप अर्थात् परब्रह्मको न दिखलाकर केवल ईश्वर-जीव और प्रकृतिका ही वर्णन किया है; जो इस सृष्टिकी सारी बाह्य रचनामें पाये जा रहे हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार पुनरावर्तनीयरूप अपर ब्रह्मकी प्राप्ति ही मुक्तिकी सीमा हो सकती है, जो योगकी सम्प्रज्ञात-समाधिका अन्तिम ध्येय हो सकता है, किंतु स्वामीजीका योगसाधनपर पूरा जोर देने और उसको ही परमात्माकी प्राप्तिका साधन बतलाने तथा पातञ्जल-योगको योगका मुख्य प्रामाणिक ग्रन्थ माननेसे योगकी अन्तिम सीमा असम्प्रज्ञात-समाधि और उसका अन्तिम ध्येय शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थितिरूप कैवल्य भी आ जाता है। स्वामी दयानन्दजीने ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनोंका जो विशेषरूपसे वर्णन किया है, इससे सामान्यतया इनका सिद्धान्त त्रैतवाद समझा जाता है; किंतु चेतन तत्त्वका समष्टि ब्रह्माण्डके सम्बन्धसे ईश्वर नाम है और व्यष्टि-पिण्डोंके सम्बन्धसे जीव। ये दोनों चेतन-तत्त्वके शबल अर्थात् मिश्रितरूप हैं। इसलिये लेखकके व्यक्तिगत विचारके अनुसार स्वामी दयानन्दजीका सिद्धान्त द्वैतवाद ही है। स्वामी दयानन्दजीने शुद्ध चेतन-तत्त्व अर्थात् परब्रह्मका वर्णन विशेषरूपसे इस कारण नहीं किया कि उस समयका जनसमूह उसके समझनेमें अयोग्य था और उनका मुख्य उद्देश्य समाज-सुधार और धर्मरक्षा था। स्वामी दयानन्दजीके समयमें हिंदू-समाज और वैदिक-धर्म जैसी विकट परिस्थितिमें मृत्युकी ओर जा रहा था, उसका उदाहरण किसी भी पूर्वाचार्यके समयमें न मिल सकेगा। स्वामी दयानन्दजीका हिंदू-धर्म और समाजकी निम्न प्रकारकी दुर्दशाको हटाना मुख्य उद्देश्य था—

१. वैदिक धर्मका नाना प्रकारके मत-मतान्तर और सम्प्रदायोंमें विभक्त होकर परस्पर एक-दूसरेका विरोध करना।

२. एक ईश्वर-उपासनाके स्थानमें न केवल अनेक देवी-देवताओं किंतु भूत, प्रेत, पीर, पैगम्बर, क़ब्र, मज़ार आदिको सांसारिक कामनाओंके लिये पूजना।

३. मूर्तिपूजाका दुरुपयोग और मन्दिर-तीर्थ आदि पवित्र स्थानोंमें नाना प्रकारके दुर्व्यवहार।

४. गुण, कर्म, स्वभावको छोड़कर जन्मसे जात-पातकी व्यवस्था माननेके कारण ऊँची कहलानेवाली जातियोंकी प्रमादके कारण अवनति और नीची कहलानेवाली जातियोंकी उन्नतिके मार्गमें रुकावट, इसका परिणामरूप सारे हिंदू-समाजकी अधोगति।

५. स्वयं अपने गुण, कर्म और स्वभावको ऊँचा बनानेकी अपेक्षा एक दूसरेको नीचा, छोटा, झूठा और अपूर्ण बतलाकर अपनेको ऊँचा, बड़ा सच्चा और पूर्ण सिद्ध करनेकी आसुरी चेष्टा। इस प्रकार हिंदुओंमें परस्पर भ्रातृभाव, समानता, आदर और सत्कारका अभाव।

६. ऊँचे सवर्ण कहलानेवाले संकीर्ण-हृदय मनुष्योंका नीची कहलानेवाली निर्धन जातियोंका न केवल धार्मिक-सामाजिक और नागरिक अधिकारोंका हरण करना किंतु उनके प्रति पिशाचवत् अत्याचार करके उनको दूसरे मज़हबोंके जालमें फँसनेके लिये मजबूर करना।

७. बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि नाना प्रकारकी कुरीतियाँ। स्त्रियोंको शूद्रा बतलाकर उनको जन्म-सिद्ध धार्मिक अधिकारोंसे वञ्चित रखना, विधवाओंके साथ अन्यायपूर्वक दुर्व्यवहार।

८. हिंदुओंके सामाजिक, धार्मिक, राष्ट्रिय, नागरिक और वैयक्तिक आदि सारे अङ्गोंमें स्वार्थमय जीवन।

९. सार्वभौम वैदिक-धर्मको मूर्खता और अज्ञानतासे संकीर्ण करके न केवल अन्य मतावलम्बियोंके लिये उसमें प्रवेशका द्वार बंद कर देना किंतु अपनी झूठी स्वार्थ-सिद्धिके लिये अपने वैदिकधर्मी भाइयोंको छोटी-छोटी बातोंमें अपनेसे पृथक् करके विधर्मियोंके जालमें फँसनेमें सहायक होना।

१०. उपर्युक्त सारे दोषोंसे अनुचित लाभ उठाकर दो विदेशीय मज़हबोंका न केवल विद्याहीन छोटी जातिवाले गाँवों, पहाड़ों और जंगलोंमें रहनेवाले अनपढ़ हिंदुओंको किंतु नीलकण्ठ-जैसे बड़े-बड़े अँग्रेजी पढ़े हुए विद्वानोंको पौराणिक कथाओंमें अयुक्ति और दोष दिखलाकर अपने मज़हबके जालमें फँसाना।

११. राष्ट्रका परतन्त्र होना, विदेशी राजके कारण देशभक्ति, प्राचीन सभ्यता और धर्म-भाषाके प्रति प्रेमका अभाव, दासताके विचार, विदेशी भाषा, संस्कृति और सभ्यताकी ओर प्रवृत्ति इत्यादि-इत्यादि।

४—ब्रह्मसूत्रके भाष्यकार श्री वल्लभाचार्यका शुद्धाद्वैत-सिद्धान्त

श्रीवल्लभाचार्यका जन्म विक्रमी संवत् १५३६ तदनुसार १४७९ ई० सन् में हुआ। इनका ब्रह्मसूत्रपर भाष्य "अणुभाष्य" कहलाता है। उनका मत निर्विशेष-अद्वैत, विशिष्ट-अद्वैत और द्वैत तीनों सिद्धान्तोंसे भिन्न है। यह शंकराचार्यके समान इस बातको नहीं मानते कि जीव और ब्रह्म एक हैं और न मायात्मक जगत्को मिथ्या मानते हैं; बल्कि मायाको ईश्वरकी इच्छासे विभक्त हुई एक शक्ति बतलाते हैं। माया-अधीन जीवको विना ईश्वरकी कृपाके मोक्षज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये मोक्षका मुख्य साधन ईश्वरभक्ति है। मायारहित शुद्ध जीव और परब्रह्म (शुद्ध ब्रह्म) एक वस्तु ही है दो नहीं हैं। इसलिये इसको शुद्ध-अद्वैत-सम्प्रदाय कहते हैं। इस अंशमें यह सिद्धान्त सांख्ययोगके सदृश है; किंतु पौराणिक रंगमें इसकी दार्शनिकता छिप गयी है।

५—ब्रह्मसूत्रके भाष्यकार श्रीनिम्बार्काचार्यका द्वैत-अद्वैत सिद्धान्त

श्रीनिम्बार्काचार्य लगभग विक्रम सं० १२१९ तदनुसार ११६२ ई० सन् में हुए हैं। इन्होंने 'वेदान्त-पारिजात' नामसे ब्रह्मसूत्रपर भाष्य लिखा है। जीव, जगत् और ईश्वरके सम्बन्धमें इनका मत है कि यद्यपि ये तीनों परस्पर भिन्न हैं तथापि जीव और जगत्का व्यवहार तथा अस्तित्व ईश्वरकी इच्छापर अवलम्बित है, स्वतन्त्र नहीं है और ईश्वरमें ही जीव और जगत्के सूक्ष्म तत्त्व रहते हैं। विशिष्ट-अद्वैतसे अलग करनेके लिये इसका नाम द्वैत-अद्वैत-सम्प्रदाय रखा गया है।

उपर्युक्त सम्प्रदाय शंकरके मायावादको स्वीकृत न करके ही उत्पन्न हुए हैं और ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिप्रधान हैं। वैष्णवसम्प्रदायसे सम्बन्ध रखते हैं। इसलिये जहाँ स्वामी शंकराचार्यका भाष्य उपनिषदोंपर निर्भर है, वहाँ इन सम्प्रदायोंके भाष्यमें पुराणों और विशेषकर विष्णुपुराणको अधिक उद्धृत किया गया है।

प्रायः ये सब सम्प्रदाय चार प्रकारकी मुक्ति मानते हैं—

(१) सालोक्य मुक्ति—विष्णु अर्थात् ईश्वरके लोकमें निवास करना। (२) सामीप्य मुक्ति—ईश्वरके लोकमें ईश्वरके समीप रहना। (३) सारूप्य मुक्ति—विष्णु अर्थात् ईश्वरके समान रूपवाला बन जाना। (४) सायुज्य मुक्ति—विष्णु-लोकमें विष्णुके समान विभूतिको प्राप्त होना। ये मुक्तिकी

अवस्थाएँ एक प्रकारसे द्यौ लोक अर्थात् सूक्ष्म जगत्के स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम्के अन्तर्गत हो सकती हैं।

ब्रह्मसूत्रपर विज्ञानभिक्षुका भाष्य नये ढंगका 'विज्ञानामृत' नामसे है; जिसमें श्रुति, स्मृति, और दर्शनोंकी एक तात्पर्यमें संगति दिखलायी गयी है, किंतु वह किसी भी साम्प्रदायिकरूपमें नहीं है।

ब्रह्मसूत्रोंमें अन्य वैदिक दर्शनोंका खण्डन नहीं है

ब्रह्मसूत्रोंमें किसी वैदिक दर्शनका खण्डन नहीं है; बल्कि श्रीव्यासजीने तो जिन सिद्धान्तोंमें अन्य विद्वानोंका उनसे मत-भेद था, उनको भी आदरपूर्वक दिखलाया है; किंतु साम्प्रदायिक आचार्योंने जहाँ सूत्रोंके शब्दोंसे अपने सम्प्रदायके पक्षमें और अपनेसे भिन्न सम्प्रदायोंके विपक्षमें अर्थ निकालनेमें खींचातानी की है, वहाँ प्राचीन तत्त्ववेत्ता ऋषियोंके दर्शनोंको भी जो वेदोंके उपाङ्गरूप हैं, दूषित ठहरानेमें पूरा जोर लगाया है। इसी कारण कणादमुनिप्रणीत वैशेषिक और कपिल मुनिके सांख्यका ब्रह्मसूत्रोंमें खण्डन होनेका भ्रम हुआ है।

'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१।२) के अर्थ जो तैत्तिरीय उपनिषद्के "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म" के प्रतीकमें है, तीन प्रकारसे हो सकते हैं। १. जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका अभिन्न उपादान-निमित्तकारण जड-तत्त्व (सांख्यकी प्रकृति, वैशेषिकके परमाणु अथवा चार्वाकके चार भूत) है। २. जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका अभिन्न-निमित्त-उपादान-कारण चेतन-तत्त्व है। ३. जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका निमित्त-कारण चेतन-तत्त्व अर्थात् आत्मसत्ता और उपादान-कारण जड-तत्त्व (प्रकृति अथवा परमाणु) अनात्मसत्ता है। इस प्रकार मुख्य तीन वाद अथवा सिद्धान्त हो सकते हैं।

१. जड-अद्वैत-वाद (चार्वाकवालोंका जडवाद)

२. चेतन अद्वैतवाद (नवीन वेदान्तियोंका अद्वैतवाद)

३. चेतन जड अर्थात् आत्म-अनात्म द्वैत-वाद (वैदिक दर्शनोंका द्वैत-वाद)। सिद्धान्तरूपमें तो यह द्वैतवाद है; किंतु व्यवहारदशामें त्रैतवाद हो जाता है अर्थात् (१) ईश्वर (सगुण ब्रह्म = शबल ब्रह्म = अपर ब्रह्म) जो ब्रह्माण्ड अर्थात् समष्टिरूपेण जड-तत्त्वके सम्बन्धसे चेतन-तत्त्व अर्थात् परमात्मसत्ताका नाम है। (२) जीव, जो पिण्ड अर्थात् व्यष्टिरूपेण जड-तत्त्वके सम्बन्धसे चेतन-तत्त्व अर्थात् आत्मसत्ताका नाम है और (३) प्रकृति (जड-तत्त्व) जो अनात्मसत्ता है और केवल कैवल्य-अवस्थामें ही जब द्रष्टाकी शुद्ध चैतन्य (परमात्मा = परब्रह्म = निर्गुण ब्रह्म = शुद्ध ब्रह्म) स्वरूपमें अवस्थिति होती है, तब उस कैवल्य प्राप्त किये हुए जीवकी अपेक्षासे अद्वैत कहा जा सकता है न कि सांसारिक जीवोंकी अपेक्षासे। यह द्वैतवाद सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक चारों दर्शनोंका सिद्धान्त है। दुःखनिवृत्तिके उद्देश्यसे इन प्राचीन दर्शनकारोंने खोज की है। दुःख-प्रतीति और उसकी निवृत्तिका प्रयत्न चेतन तत्त्व (आत्मसत्ता) के अस्तित्वको सिद्ध करता है। इसलिये पहला जड अद्वैतवाद दूषित ठहरता है। यदि दुःख चेतन तत्त्व (आत्मसत्ता) का ही धर्म होता तो उसकी प्रतीति न होती और यदि दुःखकी प्रतीति भी आत्माका धर्म माना जाय तो दुःख और उसकी

प्रतीति दोनों चेतन तत्त्व (आत्मसत्ता) का स्वाभाविक गुण होनेसे उसकी त्रिकालमें भी निवृत्ति असम्भव होती। इसलिये दूसरा सिद्धान्त चेतन-अद्वैत-वाद भी इनको संतुष्ट न कर सका। इसलिये ये तत्त्व-वेत्ता ऋषि इसी परिणामपर पहुँचे हैं कि एक तो चेतन-तत्त्व (आत्मसत्ता) है, जो हमारा वास्तविक स्वरूप है और इससे भिन्न एक कोई दूसरा जडतत्त्व (अनात्मसत्ता) है, जिसके स्वाभाविक धर्म दुःखादि हैं, जिनके हटानेका प्रयत्न किया जाता है। इसके अतिरिक्त सिद्धान्त सं० १ तथा सं० २ के पक्षमें न तो कोई श्रुति मिलती है न युक्ति और न संसारमें कोई उदाहरण; परंतु सिद्धान्त सं० ३ को सारी श्रुतियाँ, स्मृतियाँ, युक्ति और उदाहरण सिद्ध करते हैं।

शङ्का—जैसे सुवर्णके आभूषण नाना प्रकारकी आकृति रखते हुए भी सुवर्णरूप ही हैं, जैसे तरंगें, बुलबुले, नदी, तालाब आदि सब जलरूप ही हैं, वैसे ही सारा जगत् केवल एक अद्वितीय ब्रह्मरूप ही है।

समाधान—ये उदाहरण तो द्वैत-सिद्धान्तकी ही पुष्टि करते हैं; क्योंकि सुवर्णके आभूषणोंके आकारोंमें एक दूसरा तत्त्व आकाश, जलके तरङ्ग-बुलबुले आदिमें वायु और नदी-तालाब आदिमें पृथिवी भेदक है।

शङ्का—**"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥"**

(मु० १।१।७)

'जिस प्रकार चेतन मकड़ी जड-जन्तुओंकी अभिन्न निमित्त-उपादान-कारण है, इसी प्रकार चेतन ब्रह्म इस जड जगत्का अभिन्न निमित्त-उपादान-कारण है।' इससे चेतन-अद्वैतवाद सिद्ध होता है।

समाधान—यह श्रुति द्वैत सिद्धान्तको ही सिद्ध करती है। अर्थात् जिस प्रकार जड जन्तुकी उत्पत्तिका चेतन मकड़ी निमित्त-कारण है और उसके मुँहका जड लेप उपादान-कारण है, इसी प्रकार जड जगत्का उपादान-कारण त्रिगुणात्मक जड प्रकृति है और निमित्त-कारण चेतन ब्रह्म है।

शङ्का—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस श्रुतिसे केवल एक ब्रह्म (चेतन-तत्त्व) ही सिद्ध होता है।

समाधान—इससे यह अभिप्राय है कि ब्रह्म (चेतन-सत्ता) ही सारे त्रिगुणात्मक जगत्में व्यापक हो रहा है; जड-सत्ताका अभाव सिद्ध नहीं होता।

यह श्रुति ब्रह्मके शबल, अपर, साकार, सगुण अर्थात् त्रिगुणात्मक प्रकृतिसे मिले हुए स्वरूपका बोध करा रही है न कि शुद्ध, पर, निराकार, निर्गुण, प्रकृतिसे सर्वथा निखरे हुए केवली स्वरूपका। अन्य श्रुतियाँ भी ऐसा ही बताती हैं। यथा—

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ (ईश० उ० मन्त्र ५)

वह ब्रह्म इस सब (त्रिगुणात्मक जगत्) के अंदर है वह निश्चय ही इस सब त्रिगुणात्मक जगत्) के बाहर है। तथा—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे॥

(केन उ० १।३)

वहाँ (उस ब्रह्मतक) नेत्रेन्द्रिय नहीं जाती, वाणी नहीं जाती, मन नहीं जाता। अतः जिस प्रकार शिष्यको इस ब्रह्मका उपदेश करना चाहिये, वह हम नहीं जानते—वह हमारी समझमें नहीं आता। वह विदितसे अन्य ही है तथा अविदितसे भी परे है—ऐसा हमने पूर्व पुरुषोंसे सुना है जिन्होंने हमारे प्रति उसका व्याख्यान किया था।

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

(केन उ० १।४)

जो वाणीसे प्रकाशित नहीं है, किन्तु जिससे वाणी प्रकाशित होती है, उसीको तू ब्रह्म जान। जिस इस (इन्द्रियगोचर त्रिगुणात्मक जगत्) की लोग उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

(केन उ० १।५)

जो मनसे मनन नहीं किया जा सकता बल्कि जिससे मन मनन किया हुआ कहा जाता है, उसीको तू ब्रह्म जान। जिस इस (इन्द्रियगोचर, त्रिगुणात्मक जगत्) की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है।

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

(केन उ० १।६)

जिसे कोई नेत्रद्वारा नहीं देख सकता वरन् जिसकी सहायतासे नेत्र देखते हैं, उसीको तू ब्रह्म जान। जिस इस (इन्द्रियगोचर, त्रिगुणात्मक जगत्) की लोक उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है।

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदꣳ श्रुतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

(केन उ० १।७)

जो कानसे नहीं सुना जा सकता वरन् जिससे श्रोत्रोंमें सुननेकी शक्ति आती है, उसीको तू ब्रह्म जान। जिस इस (इन्द्रियगोचर त्रिगुणात्मक जगत्) की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है।

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

(केन उ० १।८)

जो प्राणके द्वारा विषय नहीं किया जा सकता वरन् जिससे प्राण अपने विषयोंकी ओर जाता है उसीको तू ब्रह्म जान। जिस इस (इन्द्रियगोचर, त्रिगुणात्मक जगत्) की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है।

स्मृति भी ऐसा ही बताती है। यथा—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ (गीता १३।३३)

हे भारत! जैसे सूर्य अकेला इस सारे लोकको प्रकाशित करता है वैसे क्षेत्रका मालिक (ब्रह्म) इस सारे लोक (इन्द्रियगोचर, त्रिगुणात्मक जगत्) को प्रकाशित करता है।

श्रीस्वामी शङ्कराचार्यने भी अपने निर्माण षट्कमें इसी बातको सिद्ध किया है। यथा—

मनोबुद्ध्यहंकारचित्तानि नाहं न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे।
न च व्योमभूमिर्न तेजो न वायुश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥ १॥
न च प्राणसंज्ञो न वै पञ्च वायुर्न वा सप्त धातुर्न वा पञ्च कोशः।
न वाक् पाणिपादं न चोपस्थपायुश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥ २॥

मैं अर्थात् आत्मतत्त्व, मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त नहीं है; कान और जिह्वा भी नहीं, नासिका और नेत्र नहीं हैं; आकाश और पृथ्वी नहीं, तेज नहीं है, वायु नहीं है। मैं अर्थात् आत्मतत्त्व चिदानन्दरूप है शिव है शिव है॥ १॥

मैं अर्थात् आत्मतत्त्व प्राणवर्ग नहीं है, पञ्चवायु नहीं है, सप्त धातु नहीं है, पाँच कोश नहीं है, वाणी, हाथ, पैर नहीं है, जननेन्द्रिय और गुदा नहीं है। मैं अर्थात् आत्मतत्त्व चिदानन्दरूप है शिव है शिव है॥ २॥

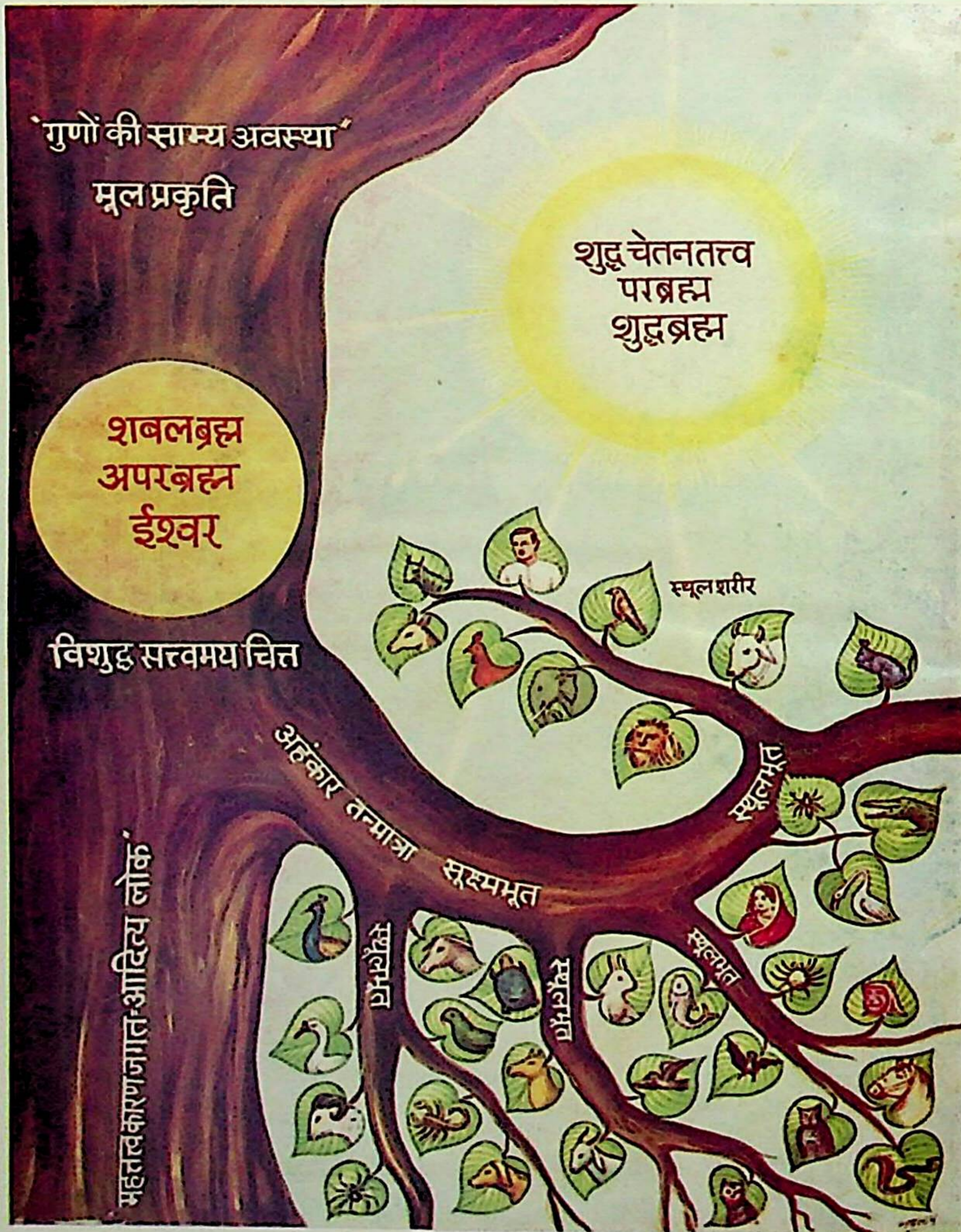
इसलिये सब दर्शनकारोंका सिद्धान्त जड़-चेतन द्वैतवाद है। जड-तत्त्व (अनात्मसत्ता) को चेतन-तत्त्व (आत्मसत्ता) से भिन्न करनेके उद्देश्यसे जड-तत्त्वके अवान्तरभेद करण, माप और वर्णन-शैलीमें भेद होनेके कारण बाह्यदृष्टि रखनेवालोंको इनमें परस्पर भेद होनेका भ्रम होता है।

दार्शनिक दृष्टिकोणसे जानना अपनेसे भिन्न वस्तु जड-तत्त्व (अनात्मसत्ता) का ही हो सकता है। अपनेको अर्थात् चेतन-तत्त्व (परमात्मसत्ता) अर्थात् परब्रह्मको जाननेका शब्द प्रयोग करना अयुक्त है। यथा "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" सबके जाननेवाले विज्ञाताको किससे जाना जा सकता है। अर्थात् किसीसे भी नहीं जाना जा सकता है। 'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्'॥ (बृ० २। ४) जिससे यह सब जाना जाता है, उसको किससे जानें? सम्प्रज्ञात-समाधिकी सारी भूमियाँ वितर्क, विचार, आनन्द, अस्मिता और विवेकख्यातिमें त्रिगुणात्मक प्रकृतिके ही सारे कार्योंको साक्षात् करते हुए इनसे आसक्ति हटाकर विरक्त होना होता है। असम्प्रज्ञात-समाधिमें कुछ जानना शेष न रहनेपर केवल शुद्ध चैतन्यस्वरूप (परमात्म = परब्रह्म) में स्वरूप-अवस्थिति होती है। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ परमात्मा अथवा परब्रह्मके जाननेका वर्णन आया है जैसे "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।" वहाँ अनात्म ज्ञेय पदार्थोंको (चाहे उन्हें प्रकृति कहो, चाहे माया, चाहे अविद्या और चाहे भ्रम) जानकर "नेति-नेति" द्वारा पृथक् करते हुए अन्तमें सारे ज्ञेय पदार्थोंकी समाप्तिपर शेष जाननेयोग्य न कुछ रहनेपर शुद्ध परमात्मस्वरूपमें ही अवस्थिति होती है। यथा—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥ (कठ० ६। १०)

जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मनके साथ रुक जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टारहित हो जाती है, उसको परमगति अर्थात् परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति कहते हैं।

इसलिये इन तत्त्ववेत्ता प्राचीन दर्शनकारोंका ऋतम्भरा-प्रज्ञाद्वारा साक्षात्कार परप्रत्यक्ष है, जो शब्द और अनुमानका बीज है अर्थात् जिसके आश्रय शब्द और अनुमान होते हैं।



'द्वा सुपर्णा सयुजा' मन्त्रके अर्थका द्योतक चित्र

'श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषयाविशेषार्थत्वात् ।' (यो० द० १ । ४९)

शब्द और अनुमानकी प्रज्ञासे ऋतम्भराप्रज्ञाका विषय अलग है, विशेषरूपसे अर्थका साक्षात्कार करानेसे । केवल शब्द और अनुमानका आश्रय लेनेवाले आचार्यों और उनके आधारपर पाश्चात्त्य विद्वानोंने उनके वास्तविक सारको न समझकर इन प्राचीन दर्शनकारोंके कहीं अनीश्वरवादी और कहीं बहु ईश्वरवादी होनेका धोखा खाया है ।

अब उत्तर-मीमांसाके जिन सूत्रोंमें अन्यदर्शनोंके खण्डन होनेका भ्रम हुआ है, उनका स्पष्टीकरण किया जाता है ।

ईक्षतेर्नाशब्दम् । (ब्रह्म० १ । १ । ५)

(ईक्षतेः) ईक्षणसे (अशब्दम्) शब्द-प्रमाणरहित (न) नहीं है । अर्थात् ब्रह्मको जगत्‌की उत्पत्ति आदिमें निमित्त-कारण मानना शब्दप्रमाणरहित नहीं है; क्योंकि उसमें यह शब्द प्रमाण है । 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति' । उसने ईक्षण किया, मैं बहुत होऊँ, प्रजावाला होऊँ ।

वि० व०—कई साम्प्रदायिक भाष्यकारोंने 'अशब्दम्' के अर्थ प्रमाणरहित प्रकृति लगाकर सांख्यदर्शनका खण्डन किया है, जो सर्वथा अनुचित और अन्यायपूर्ण है; क्योंकि सांख्यकी त्रिगुणात्मक प्रकृति अनेक श्रुतियों और स्मृतियोंसे प्रमाणित है । यथा—

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।' (श्वेता० ४ । १०)

प्रकृतिको माया जानो और महेश्वरको मायावाला ।'

'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।' (श्वेता० ४ । ५)

'एक अजा (अनादि प्रकृति) है जो लाल, श्वेत और काली (रजस्, सत्त्व और तमस्—इन तीन गुणोंवाली) है । वह अपने समान रूपवाली (तीन गुणोंवाली) बहुत-सी प्रजाओंको उत्पन्न कर रही है ।'

'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।' (कठ० १ । ३ । ११)

'महत्तत्त्वसे परे अव्यक्त (मूलप्रकृति) और अव्यक्तसे परे पुरुष (ब्रह्म) है । निम्न वेद-मन्त्रोंमें कितनी उत्तम रीतिसे प्रकृतिका वर्णन किया गया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥

(श्वेता० ४ । ६-७, अ० का ९ सूक्त ९ मंत्र २०)

'(पुरुष और पुरुषविशेष अर्थात् जीव और ईश्वररूप) दो पक्षी जो साथ रहनेवाले और मित्र हैं, वे दोनों एक ही त्रिगुणात्मक प्रकृतिरूप वृक्षको आलिङ्गन किये हुए हैं । उन दोनोंसे एक जीवरूपी पक्षी (जन्म, आयु और भोगरूपी सुख-दुःख) स्वादवाले फलको खाता है और दूसरा ईश्वर-

रूपी पक्षी फल न खाता हुआ केवल साक्षीरूपसे रहता है। उसी प्रकृतिरूप वृक्षपर जीवरूपी पक्षी आसक्त होकर असमर्थतासे धोखा खाता हुआ शोक करता है (किंतु) जब योगयुक्त होकर अपने दूसरे साथी ईश और उसकी महिमाको देखता है, तब शोकसे पार हो जाता है।'

इस प्रकृति रूप वृक्षकी जड़ ऊपरकी ओर है और शाखाएँ नीचेकी ओर। पृथ्वीमें छिपी हुई उसकी जड़ अव्यक्त मूल प्रकृति गुणोंकी साम्यावस्था है जो अलिङ्ग कहलाती है और प्रत्यक्ष न होनेके कारण केवल आगम और अनुमानगम्य है। जिसके सम्बन्धमें कहा गया है—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायैव सुतुच्छकम्॥

(वार्षगण्याचार्य षष्टितन्त्र)

अर्थ—गुणोंका असली रूप अर्थात् साम्य परिणाम दृष्टिगोचर नहीं होता। जो (विषम परिणाम) दृष्टिगोचर होता है वह माया-जैसा है और अविनाशी है।

दिखलायी देनेवाला वृक्षका आधार तना गुणोंका प्रथम विषम परिणाम व्यक्त महत्तत्त्व लिङ्गमात्र है जो सत्त्व ही सत्त्व है। उसमें क्रिया मात्र रज और उस क्रियाको रोकने मात्र तम है, जो कारण जगत्, देवयानवाला आदित्यलोक और ओ३म्‌के तीसरे पाद साधारण मनुष्योंके लिये सुषुप्ति अवस्थावाली और योगियोंके लिये अस्मिता अनुगत सम्प्रज्ञात समाधि और विवेकख्यातिकी अवस्थावाली तीसरी मात्रा मकार है। जो आनन्दमय कोश कहलाता है। यही महत्तत्त्व सत्त्वकी विशुद्धताको लिये हुए विशुद्ध सत्त्वमय चित्त, समष्टि चित्त और ईश्वरका चित्त कहलाता है। जिसमें ईश्वरका जीवोंके प्रति कल्याण करनेका नित्य संकल्प, वेदोंका ज्ञान, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता और सारी शक्तियाँ निरतिशयताको प्राप्त किये हुए विद्यमान हैं। और सत्त्वकी विशुद्धताको छोड़े हुए, सत्त्व चित्त = जीवोंका चित्त = कारण शरीर कहलाता हैं, जो संख्यामें अनन्त हैं और सत्त्वचित्तकी अपेक्षा परिच्छिन्न, अल्पज्ञ और अल्पशक्तिवाले हैं। और इनमें जो लेशमात्र तम है उसमें अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशादि क्लेशोंकी जन्मभूमि अविद्या वर्तमान है। यह तम विवेक-ख्यातिकी अवस्थामें अविद्या क्लेशोंके दबनेपर उस वृत्तिको रोकने मात्रका कार्य करता है। चेतनतत्त्व = पुरुषका शुद्ध स्वरूप, शुद्ध आत्मतत्त्व = परब्रह्म = शुद्धब्रह्म = परमात्मा जिसकी सन्निधिसे यह विषम परिणाम हो रहा है, उसीके ज्ञानका प्रकाश महत्तत्त्वके दोनों समष्टि और व्यष्टिरूपोंमें पड़ रहा है। महत्तत्त्वके ज्ञान-स्वरूप चेतनतत्त्वसे प्रकाशित होनेको गीतामें अतिसुन्दर शब्दोंमें वर्णन किया गया है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥ (९ । १०)
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ (१४ । ३)
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ (१४ । ४)

अर्थ—हे अर्जुन ! मेरा आश्रय करके प्रकृति चराचरसहित सब जगत्को रचती है इसी कारण जगत् परिवर्त्तित हो रहा है । हे अर्जुन ! मेरी योनि (गर्भ रखनेका स्थान) महत्तत्त्व है । उसीमें मैं गर्भ रखता हूँ (अपने ज्ञानका प्रकाश डालता हूँ) और उसी (जड़चेतनके) संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है । हे अर्जुन ! सब योनियोंमें जो शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी योनि महत्तत्त्व है और उनमें बीजको डालनेवाला मैं (चेतन तत्त्व) पिता हूँ ।

चेतनतत्त्वसे प्रकाशित अथवा प्रतिबिम्बित समष्टिचित्त, समष्टि अस्मिता और व्यष्टि चित्त, व्यष्टि अस्मिता कहलाते हैं । समष्टिचित्तके सम्बन्धसे चेतनतत्त्व ईश्वर = पुरुष विशेष = शबलब्रह्म = साकार ब्रह्म और व्यष्टिचित्तके सम्बन्धसे जीव कहलाता है । ईश्वर उपास्य और जीव यहाँपर प्राज्ञ रूपसे उपासक है (देखो पातञ्जलयोग-प्रदीप समाधिपाद सूत्र २८ का विशेष विचार) । यहाँ यह बात भी ध्यानमें रखनेकी है कि पुरुष शब्द तीन अर्थोंमें प्रयुक्त होता है । पहिला चेतनतत्त्वका शुद्ध स्वरूप अर्थात् परब्रह्म = शुद्धब्रह्म = परमात्मा । दूसरा समष्टि जगत्के सम्बन्धसे चेतनतत्त्वका शबल स्वरूप अर्थात् ईश्वर = अपरब्रह्म = शबलब्रह्म । और तीसरा व्यष्टि शरीरोंके सम्बन्धसे चेतन तत्त्वका शबल स्वरूप अर्थात् जीवात्मा ।

इस वृक्षके तनेमें गुणोंका दूसरा विषम परिणाम अविशेषरूप अहंकार है जो विज्ञानमय कोश कहलाता है और योगियोंके लिये आनन्द अनुगत सम्प्रज्ञात समाधिका स्थान है ।

अहंकारसे उत्पन्न हुई शाखाएँ गुणोंका तीसरा विषम परिणाम (पाँच तन्मात्राएँ) पाँच सूक्ष्मभूत और मनसहित शक्तिरूप पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं । ये प्राणमय कोश और मनोमय कोश हैं । तथा दूसरे विषम परिणाम अहंकार अर्थात् विज्ञानमय कोशको साथ लेकर व्यष्टिरूपसे जीवोंके सूक्ष्म शरीर तथा समष्टिरूपसे सूक्ष्म जगत् = द्यौः लोक = ब्रह्मलोक और पितृयाणवाला चन्द्रलोक = सोमलोक कहलाता है । स्थूलभूतोंसे लेकर तन्मात्राओंतक सूक्ष्मताका जो तारतम्य चला गया है इसीको लेकर इसको पाँच सूक्ष्म लोकों स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम्में विभक्त करके दिखलाया गया है तथा उपनिषदोंमें गन्धर्वलोक, देवलोक, पितरलोक, अजानजदेवलोक, इन्द्रलोक, बृहस्पतिलोक प्रजापतिलोक और ब्रह्मलोक आदि कई भागोंमें विभक्त करके दिखलाया है। जो वास्तवमें सूक्ष्मताकी अवस्थाएँ हैं और जिनका अनुभव योगियोंका विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधिमें होता है । इन सूक्ष्म शरीरोंके सम्बन्धसे जीवकी संज्ञा तैजस, उपासक और समष्टिरूपमें इन सूक्ष्म लोकोंके सम्बन्धसे ईश्वरकी संज्ञा हिरण्यगर्भ उपास्य है । यह ओ३म्के दूसरे पादकी उकार मात्रा है जो साधारण मनुष्योंके लिये स्वप्न और योगियोंके लिये सम्प्रज्ञात समाधिकी अवस्था है ।

अन्तकी पतली शाखाएँ पत्तोंसहित गुणोंका चौथा विषम परिणाम १६ विकृतियाँ अर्थात् पाँच स्थूलभूत और ग्यारह इन्द्रियोंके स्थूलरूप अर्थात् समष्टिरूपमें इसकी शाखाएँ स्थूल जगत—नक्षत्रलोक, भूलोक और भुवःलोक और व्यष्टिरूपमें इसके पत्ते जीवोंके स्थूल शरीर हैं जिनको अन्नमय कोश कहते हैं । यह ओ३म्के पहले पाद जाग्रत् अवस्थावाली अकार मात्रा है (देखो पातञ्जलयोगप्रदीप समाधिपाद सूत्र २८ का विशेष विचार) स्थूल जगत्के सम्बन्धसे ईश्वरकी संज्ञा उपास्य विराट् और जीवकी संज्ञा

उपासक विश्व है। यहाँ यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि भूः और भुवः दोनों स्थूल जगत् अर्थात् नक्षत्रलोकमें हैं। हमको अपनी पृथ्वीका विशेषरूपसे वर्णन करना होता है इसलिये इसको अलग भूः नामसे पुकारते हैं। दूसरे नक्षत्रवाले हमारी पृथ्वीको भुवः में शामिल करके अपने लोकको भूः कहेंगे। व्यष्टिरूपसे स्थूल शरीरके अंदर सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म शरीरके अंदर कारण शरीर व्यापक हो रहा है और समष्टिरूपमें स्थूल जगत्के अंदर सूक्ष्म जगत् और सूक्ष्म जगत्के अन्दर कारण जगत् व्यापक हो रहा है।

इस वृक्षका फल जन्म, आयु और भोग है। उसका स्वाद सुख और दुःख है, जिसको जीवरूपी पक्षी चखता रहता है।

जीवरूपी पक्षीकी असमर्थतासे धोखा खाना क्रमशः अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, क्लेश, उनसे पाप-पुण्यरूपी सकाम कर्म, सकामकर्मसे कर्माशय, कर्माशयसे जन्म, आयु और भोगके लिये स्थूल शरीररूपी अनन्त, अस्थिर पत्तोंमें घूमना है।

योगयुक्त होकर जीवरूपी पक्षीका ईश्वररूपी पक्षी और उसकी महिमाको देखना योगके अङ्गोंका अनुष्ठान तथा ईश्वरप्रणिधान है, जिसका वर्णन योगदर्शन साधनपाद सूत्र १ व ३२ में तथा समाधिपादके सूत्र २३ से २८ तक किया गया है।

"आत्मा ज्ञातव्यः प्रकृतितः विवेक्तव्यः न पुनः आवर्तते"

'आत्माको जानना चाहिये, प्रकृतिसे भिन्न उसका विवेक करना चाहिये, वह पुनः नहीं लौटता है।'

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। (गीता ३ । २७)

'सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये हुए हैं।'

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। (गीता ९ । १०)

'हे कौन्तेय! मेरी (ईश्वरकी) अध्यक्षताके रहते हुए प्रकृति चराचर जगत्को उत्पन्न करती है।'

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥ (गीता १३ । २९)

'जो पुरुष समस्त कर्मोंको सब प्रकारसे प्रकृतिसे ही किये हुए देखता है तथा आत्माको अकर्ता देखता है, वही तत्त्वज्ञानी है।'

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ (गीता १४ । ५)

'हे महाबाहो! सत्त्व, रज और तम—ये प्रकृतिसे उत्पन्न हुए तीनों गुण अविनाशी आत्माको (अविवेकसे) शरीरमें बाँधते हैं।'

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥ (गीता १३ । १९)

'प्रकृति और पुरुष—इन दोनोंको ही तू अनादि जान और विकारोंको तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थोंको भी प्रकृतिसे उत्पन्न हुए जान।'

जब स्वयं व्यासजी महाराज अपने स्वरचित गीतामें इस प्रकार प्रकृतिका स्पष्टरूपसे वर्णन कर रहे हैं तो इन्हींके सूत्रोंमें 'अशब्दम्' के अर्थ 'प्रमाणरहित' प्रकृति निकालना कितना घोर पक्षपात और अत्याचार है। यह पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

श्रुति और स्मृतिद्वारा तो सांख्य और योग ही प्राचीन वेदान्त और ब्रह्मप्राप्तिका साधन सिद्ध होता है। यथा—

'तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥'

(श्वेता० ६ । १३)

'उस देवको—जो जगत्‌की उत्पत्ति आदिका निमित्त कारण है और जो सांख्ययोगद्वारा ही जाना जा सकता है—जानकर मनुष्य सारे फाँसोंसे छूट जाता है।'

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

(गीता ३ । ३)

'हे निष्पाप अर्जुन ! इस मनुष्य-लोकमें मैंने पुरातन कालमें (कपिल मुनि और हिरण्यगर्भ रूपसे) दो निष्ठाएँ बतलायी हैं। (कपिलमुनिद्वारा बतलायी हुई) सांख्ययोगकी निष्ठा ज्ञानयोगसे होती है और (हिरण्यगर्भरूपसे बतलायी हुई) योगियोंकी निष्ठा निष्काम कर्मयोगसे।'

सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते।
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः ॥

(म० भा०)

'सांख्यके वक्ता परमर्षि कपिल हैं और योगके वक्ता हिरण्यगर्भ हैं। इनसे पुरातन इनका वक्ता और कोई नहीं है।'

ज्ञानं महद् यद्धि महत्सु राजन् वेदेषु सांख्येषु तथैव योगे।
यच्चापि दृष्टं विविधं पुराणं सांख्यागतं तन्निखिलं नरेन्द्र ॥

(महाभारत, शान्तिपर्व)

'हे नरेन्द्र ! जो महत् ज्ञान महान् व्यक्तियोंमें वेदोंके भीतर तथा योगशास्त्रोंमें देखा जाता है और पुराणमें भी विविध रूपोंमें पाया जाता है, वह सभी सांख्यसे आया है।'

इस प्रकार श्रीव्यासजी महाराजने स्वरचित गीता और महाभारतमें कपिल ऋषिके सांख्यकी महिमा बतलायी है। न केवल कपिल मुनिका सांख्य और उसकी प्रकृति ही श्रुतियों और स्मृतियोंसे प्रमाणित है, किन्तु कपिल मुनिको ऋषियोंमें सर्वोच्च और श्रेष्ठ स्थान दिया गया है। यथा—

'ऋषिप्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति'। (श्वेता०)

'जो पहिले उत्पन्न हुए कपिल मुनिको ज्ञानसे भर देता है।'

'सिद्धानां कपिलो मुनिः' (गीता १० । २६)

'सिद्धोंमें मैं कपिल मुनि हूँ।'

श्रीगौड़पादाचार्यजीने भी सांख्यके २५ तत्त्वोंके ज्ञानद्वारा मुक्तिका होना बतलाया है। यथा—

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसेत् ।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥

'जिसको (सांख्यमें बतलाये हुए) २५ तत्त्वोंका ज्ञान हो गया है, वह चाहे किसी आश्रममें स्थित हो, चाहे वह गृहस्थ हो, चाहे संन्यासी हो, वह अवश्य मुक्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ।'

उपर्युक्त प्रमाणोंसे पूर्णतया सिद्ध होता है कि श्रीव्यासजीका 'अशब्दम्' से प्रकृतिको प्रमाणरहित सिद्ध करना अभिप्राय कदापि नहीं हो सकता ।

'अशब्दम्' को 'अव्यक्त' मूलप्रकृति अथवा मायावादियोंकी 'अनिर्वचनीय' मायाका पर्यायवाचक मान लेनेपर भी (यद्यपि श्रीव्यासजीको मायावादका सिद्धान्त किसी सूत्रमें भी अभिमत नहीं है) सांख्यके साथ समन्वयमें ही सूत्रके अर्थ होते हैं न कि निराकरण (खण्डन) में । अर्थात् सांख्यकी अव्यक्त मूलप्रकृति अथवा मायावादियोंकी अनिर्वचनीय माया जगत्की उत्पत्ति आदिका निमित्तकारण नहीं हो सकती । वह केवल उपादानकारण हो सकती है; क्योंकि **'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति'** द्वारा चेतन ब्रह्म ही जगत्की उत्पत्ति आदिका निमित्त कारण हो सकता है ।

इसी अध्यायके चौथे पादके सूत्रोंके अर्थ भी इन आचार्योंने प्रकृतिके अप्रामाणिक सिद्ध करने और सांख्यके निराकरणमें निकालनेका यत्न किया है । इसलिये इनका भी संक्षेपसे स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक प्रतीत होता है ।

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ।

(ब्रह्मसूत्र १ । ४ । १)

(एकेषाम्) कई शाखावालोंकी शाखाओंमें (आनुमानिकम्) आगम और अनुमानगम्य स्वतन्त्र प्रकृतिका भी वर्णन पाया जाता है ।

यथा—**'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।'**

महत्तत्त्वसे परे अव्यक्त (मूल प्रकृति) है और उससे परे पुरुष है । (इति चेत्) यदि ऐसा कहो तो (न) यह ठीक नहीं है; क्योंकि (शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः) शरीरके तौरपर रूपकसे बतलायी हुईका ग्रहण होनेसे अर्थात् जिस प्रकार शरीर आत्माके अधीन है इसी प्रकार प्रकृतिको ब्रह्मके अधीन बतलाया गया है । (दर्शयति च) और श्रुतिवाक्से भी ऐसा ही पाया जाता है ।

यथा—**'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।'**

'आत्माको रथका स्वामी जाने और शरीरको रथ ।'

वि० व०—योगियोंको केवल तीनों गुणोंके प्रथम विषम परिणाम महत्तत्त्वतक ही समाधिद्वारा साक्षात्कार हो सकता है । उससे उसके कारण आगमगम्य गुणोंकी साम्य अवस्था 'मूल प्रकृति' का अनुमान किया जाता है इसलिये गुणोंकी साम्य अवस्था मूल प्रकृतिको आगम और अनुमानगम्य कहा जाता है ।

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् । (ब्रह्मसू० १ । ४ । २)

पदार्थ :—(तु) किंतु (तत्) वह प्रकृति इसी स्थूल जगत्‌का (सूक्ष्म) सूक्ष्मतत्त्व है (अर्हत्वात्) योग्य होनेसे अर्थात् सृष्टिका सूक्ष्म तत्त्व ही अव्यक्त शब्दके योग्य है। जिस प्रकार वृक्ष अपने बीजमें अव्यक्तरूपसे स्थित रहता है, इसी प्रकार यह सृष्टि अपने बीज सूक्ष्मतत्त्वमें अव्यक्तरूपसे स्थित रहती है।

तदधीनत्वादर्थवत्　　(ब्रह्मसू० १।४।३)

(तदधीनत्वात्) उपर्युक्त प्रकृतिका ईश्वरके अधीन होनेसे और जगत्‌की उत्पत्ति आदिमें ईश्वरके सहायक होनेसे (अर्थवत्) सार्थक अर्थात् प्रयोजनवाला होना सिद्ध होता है। प्रकृतिका मुख्य प्रयोजन पुरुषका भोग और अपवर्ग है। यथा—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।

(यो० द० २।१८)

'प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है, भूत और इन्द्रिय जिसका स्वरूप है, भोग और अपवर्ग जिसका प्रयोजन है, वह दृश्य है।'

ज्ञेयत्वावचनाच्च।　　(ब्रह्मसू० १।४।४)

(ज्ञेयत्वावचनात्) ज्ञेयताके न कहे जानेसे भी प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है, ब्रह्माधीन ही है। अर्थात् पुरुषका अन्तिम ध्येय प्रकृतिकी प्राप्ति नहीं, बल्कि ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी गयी है।

(च) इसलिये भी प्रकृति ईश्वरके अधीन ही सिद्ध होती है, न कि उससे स्वतन्त्र।

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात्।　　(ब्रह्मसू० १।४।५)

(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो कि (वदति) श्रुति अव्यक्त मूल प्रकृतिको भी ज्ञेय बतलाती है। यथा—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥

(कठ० १।३।१५)

'वह जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धसे शून्य अव्यय है, नित्य है, अनादि-अनन्त है, महत्तत्त्वसे परे है, अटल है, उसको जानकर पुरुष मृत्युके मुखसे छूट जाता है।' (न) तो यह ठीक नहीं है (हि) क्योंकि (प्रकरणात्) प्रकरणसे यहाँ (प्राज्ञः) चेतन है अर्थात् यहाँ चेतन ब्रह्मका प्रकरण ऊपरसे चला आ रहा है न कि जड प्रकृतिका।

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च।　　(ब्रह्मसू० १।४।६)

(च) और (एवं) इस प्रकार (त्रयाणाम्) तीन पदार्थोंका (एवं) ही (उपन्यासः) वर्णन = उत्तर (च) और (प्रश्नः) प्रश्न भी है। इसलिये यहाँ अव्यक्त मूल प्रकृतिका प्रसङ्गसे वर्णन है न कि मुख्यतया ज्ञेय होनेसे।

अर्थात् मृत्यु और नचिकेताके संवादमें नचिकेताके तीन ही प्रश्न हैं। अग्नि, जीवात्मा और परमात्मा उनके तीन ही उत्तर हैं। तीसरे परमात्मविषयक प्रश्नका यह उत्तर है, जो 'अशब्दमस्पर्शम्' इत्यादि

वचनमें दिया गया है। प्रधान अथवा प्रकृतिविषयक न तो प्रश्न है और न उत्तर ही। इसलिये इस वचनमें प्रधान या प्रकृतिके कारणवादकी शङ्का नहीं हो सकती।

महद्वच्च। (ब्रह्मसू० १।४।७)

(महद्वत्) महत् शब्दके समान (च) भी। अर्थात् जैसे महत् शब्द महत्तत्त्वका वाचक है, परंतु 'महान्तं विभुमात्मानम्'। (कठ० २। २२) में आया हुआ महत् शब्द महत्तत्त्वका वाचक नहीं है, इसी प्रकार अव्यक्त आदि पद भी अपने प्रकरणमें प्रकृतिवाचक हैं। परमात्माके प्रकरणमें उनको प्रकृतिवाचक मानकर अर्थ करना ठीक नहीं है।

चमसवदविशेषात् (ब्रह्मसू० १।४।८)

(अविशेषात्) विशेषके न कहनेसे (चमसवत्) चमसके समान।

जैसे चमस नाम चमसेका है और बृह० २।२।३ में चमसका लक्षण इस प्रकार किया है। **'अर्वाग्बिलश् चमस ऊर्ध्वबुध्नः'** अर्थात् जिसमें नीचे बिल हो और ऊपर बुध्न पेंदा हो, वह चमस कहलाता है। चमसके इस लक्षणसे जहाँ पर्वतकी गुहामें अथवा अन्यत्र कहीं नीचे बिल और ऊपर बुध्न अर्थात् पेंदा हो तो उसको चमस नहीं कह सकते। इसी प्रकार अव्यक्तका अर्थ इन्द्रियातीत होनेसे मूल प्रकृतिको अव्यक्त कहते हैं, किंतु परमात्मप्रकरणमें आये हुए ऐसे शब्दोंसे मूल प्रकृतिका ग्रहण नहीं किया जा सकता। प्रकरणानुसार परमात्माके ही अर्थ हो सकते हैं।

ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके। (ब्रह्मसू० १।४।९)

(ज्योतिरुपक्रमा) आरम्भ जिसका ज्योति है (तु) निश्चय करके (एके) कई आचार्य (तथा हि) वैसा ही (अधीयते) पाठ करते हैं।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥ (श्वेता० ४।५)

यहाँ जीवात्मा, ईश्वर और प्रकृति तीनोंको अज = अजन्मा अर्थात् अनादि कहा है। तो क्या कहीं अज विशेषणसे जीवात्माके प्रकरणमें ईश्वरका तथा ईश्वरके प्रकरणमें प्रकृतिका ग्रहण कोई कर सकता है? नहीं, क्योंकि कई आचार्योंने अपने पाठमें ज्योतिसे उपक्रम अर्थात् आरम्भ करके स्पष्ट पढ़ा है। जैसे कि छान्दोग्य० ६।४।१ में तेज, अप् और अन्नका स्वरूप स्पष्ट करनेको कहा है कि—

'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद् रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य'।

अग्निकी लपटमें लाल रंग तेजस् तत्त्वका, श्वेत अप्तत्त्वका और काला अन्नका रूप है। इसीको सत्त्व, रज, तमका शुक्ल, रक्त, कृष्णरूप मानकर त्रिगुणात्मक-प्रकृतिका वर्णन 'अजामेकां लोहित०' इत्यादि वाक्यमें हो जाता है। अजा शब्दके प्रयोग मात्रसे प्रकृतिको स्वतन्त्र जगत्का कारण नहीं माना जा सकता।

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः। (ब्रह्मसू० १।४।१०)

(कल्पनोपदेशात्) कल्पनापूर्वक उपदेश होनेसे (च) भी (मध्वादिवत्) मधु आदि कल्पित उपदेशके समान (अविरोधः) विरोध नहीं है । अर्थात् इन तीनोंके विषयमें 'अजा' शब्द न आकृति-निमित्तक है, न यौगिक है; किंतु कल्पनासे यह उपदेश है। अर्थात् तेज, जल, अन्न (रज, सत्त्व, तम) रूप प्रकृतिको अजा कल्पना किया गया है। जैसे कोई बकरी लोहितशुक्लकृष्णा हो और अपने-जैसी बहुत-सी संतानवाली हो, कोई अज (बकरा) इसके भोगमें आसक्त न हो, कोई भोग रहा हो । इस प्रकारकी वह है । यह ऐसी कल्पना है जैसे छान्दोग्य ३ । १ में आदित्यको जो मिठाई नहीं है मधु (शहद) कल्पना किया है तथा बृह० ५ । ८ में वाणीको जो गौ नहीं है धेनुरूपकमें कहा है ।

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥ (ब्रह्मसू० १ । ४ । ११)

(नानाभावात्) अनेक होनेसे (च) और (अतिरेकात्) बच रहनेके कारण (संख्योपसंग्रहात्) संख्याके साथ कथन करनेसे (अपि) भी (न) नहीं कह सकते [कि प्रकृति स्वतन्त्र कर्ता है ।]

जिस परमात्मारूप आधारमें प्रकृति रहती है, उसी आधारमें कहीं एक प्रकृतिके बदले अन्य पाँच संख्यावाले पदार्थोंकी भी स्थिति कही गयी है । इससे एक प्रकृतिके बदले पाँच संख्याके उपसंग्रहसे विरोध आयेगा । इसका उत्तर यह है कि यह विरोध नहीं है; क्योंकि (नानाभावात्) एक प्रकृतिके अनेक हो जानेसे अनेक कथन करना विरुद्ध नहीं है तथा पाँच संख्या भी अटल नहीं है ।

यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः ।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥

(बृह० ४ । ४ । १७)

'जिसमें पाँच पञ्चजन और आकाश ठहरा हुआ है, उसीको मैं आत्मा, ब्रह्म, अमृत मानता हूँ, उसको जानकर मैं अमृत हुआ हूँ ।'

इसमें पञ्चजन शब्दसे पाँच मनुष्य नहीं लेना है; किंतु अगले सूत्रमें बतलायेंगे कि प्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्न और मन—इन पाँचको यहाँ पञ्चजन कहा है । परंतु पञ्च पञ्चजन कहनेसे भी आधेयरूपसे पाँच ही पदार्थोंको नहीं कहा; किंतु [अतिरेकात्] आत्मा और आकाश भी पाँचके अतिरिक्त पढ़े हैं तथा एक प्रकृतिके नानारूप होनेसे एकके पाँच कहना भी विरुद्ध नहीं है ।

संगति—तो फिर 'पञ्चजनाः' से क्या अभिप्रेत है ? उत्तर—

प्राणादयो वाक्यशेषात् । (ब्रह्मसू० १ । ४ । १२)

(प्राणादयः) पाँच पञ्चजन यहाँ प्राणादि पाँच हैं । (वाक्यशेषात्) क्योंकि वाक्यशेषमें उनका ग्रहण है । 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' से उत्तरवाक्यमें ब्रह्मका स्वरूप निरूपण करनेके लिये प्राणादि पाँच कहे हैं ।

'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः'

(बृह० ४ । ४ । १८)

'जो प्राणके प्राण, नेत्रके नेत्र, श्रोत्रके श्रोत्र, अन्नके अन्न और मनके मनको जानते हैं' इस वाक्यशेषसे १. प्राण, २. चक्षु, ३. श्रोत्र, ४. अन्न, ५. मन—इन पाँचका नाम पूर्वोक्त वाक्यमें पञ्चजन है।

संगति—यदि यह कहो कि जिनके पाठमें अन्नकी गणना नहीं है, उनके पाठमें पञ्चजन किससे पूरे होंगे ? तो इसका उत्तर अगले सूत्रमें देते हैं।

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने। (ब्रह्मसू० १।४।१३)

(एकेषाम्) कई शाखाओंके (अन्ने) अन्न पद (असति) न होनेपर (ज्योतिषा) ज्योति पदसे पाँचकी संख्या पूरी की जाती है।

अर्थात् 'प्राणस्य प्राणम्' इत्यादि पूर्वोक्त माध्यन्दिन पाठमें तो प्राणादि पाँच पढ़े हैं। पर—

'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनोः विदुः।'

(बृह० ४।४।१८)

इस काण्व पाठमें अन्न नहीं पढ़ा है। इनकी पाँच संख्या ('ज्योतिषां ज्योतिः' ४।४।१६) इस पूर्वश्लोकमें पठित ज्योतिसे पूरी करनी चाहिये।

इन साम्प्रदायिक भाष्योंमें दूसरे अध्यायके प्रथम दो पादोंके लगभग सभी सूत्रोंके अर्थ सांख्य, योग और वैशेषिकके खण्डनमें लगाये गये हैं। जो वास्तवमें उनके साथ समन्वयमें हैं। इस बातको दर्शानेके उद्देश्यसे यहाँ दूसरे पादके प्रथम दस सूत्रोंको उनके पदार्थसहित उद्धृत कर देना षड्दर्शन-समन्वयके इस छोटेसे प्रकरणके लिये स्थालीपुलाकन्यायसे पर्याप्त होगा।

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्। (ब्रह्मसू० २।२।१)

पदच्छेदः-**रचनानुपपत्तेः, च, न, अनुमानम्।**

(च) पहले पादमें शब्दप्रमाणसे सिद्ध कर आये हैं कि जड प्रकृति जगत्का निमित्तकारण नहीं हो सकती, वह केवल उपादानकारण है, निमित्तकारण चेतन ब्रह्म है और अब उसी बातको यहाँ युक्तिसे सिद्ध करते हैं। (रचनानुपपत्तेः) वर्तमान सृष्टिकी सयुक्तिक रचनाके असिद्ध होनेसे (अनुमानम्) आगम और अनुमानसिद्ध प्रकृति (न) अचेतन होनेसे जगत्का निमित्तकारण नहीं हो सकती। वह केवल उपादानकारण है। जगत्का निमित्तकारण चेतन होनेसे केवल ब्रह्म ही हो सकता है।

प्रवृत्तेश्च। (ब्रह्मसू० २।२।२)

पदच्छेदः-**प्रवृत्तेः, च।**

(च) और (प्रवृत्तेः) अप्रवृत्त जड प्रकृति बिना किसी चेतन निमित्तकारणके स्वयं प्रवृत्त भी नहीं हो सकती।

पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि। (ब्रह्मसू० २।२।३)

पदच्छेदः-**पयोऽम्बुवत्, चेत्, तत्र, अपि।**

पदार्थ—(चेत्) यदि यह कहा जाय कि (पयोऽम्बुवत्) दूध और जलके सदृश जड प्रकृतिकी स्वतः प्रवृत्ति होती है तो (तत्र, अपि) वहाँ भी जड प्रवृत्ति गाय और बछड़े आदि चेतनके अधीन ही होती हैं।

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् । (ब्रह्मसू० २ । २ । ४)

पदच्छेदः-व्यतिरेकानवस्थितेः, च, अनपेक्षत्वात् ।

(व्यतिरेकानवस्थितेः) प्रकृतिके पृथग्भावसे अवस्थित न होनेसे (च) और (अनपेक्षत्वात्) अपेक्षारहित होनेसे भी प्रकृति नहीं; किंतु ब्रह्म ही जगत्का निमित्तकारण हो सकता है ।

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् । (ब्रह्मसू० २ । २ । ५)

पदच्छेदः-अन्यत्राभावात्, च, न, तृणादिवत् ।

(तृणादिवत्) जिस प्रकार गौके पेटमें जाकर जड तृणादि स्वभावसे ही दूध बन जाते हैं इसी प्रकार जड प्रकृतिकी स्वतः प्रवृत्ति हो सकती है ? उत्तर—(न) नहीं हो सकती; क्योंकि (अन्यत्र अभावात्) गौसे अतिरिक्त बैल आदिके पेटमें तृणादि दूध नहीं बनते हैं । इसलिये इस प्रवृत्तिका निमित्त-कारण चेतन गौ है ।

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् । (ब्र० सू० २ । २ । ६)

पदच्छेदः-अभ्युपगमे, अपि, अर्थाभावात् ।

(अभ्युपगमे, अपि) यदि प्रकृतिमें बिना किसी चेतनके स्वतः प्रवृत्ति मान भी ली जाय तो भी (अर्थाभावात्) सृष्टि बनानेमें जड प्रकृतिका कोई प्रयोजन नहीं हो सकता ।

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि । (ब्र० सू० २ । २ । ७)

पदच्छेदः-पुरुषाश्मवत्, इति, चेत्, तथापि ।

(पुरुषाश्मवत्) जिस प्रकार अन्धा किसीसे पूछकर मार्ग चल सकता है या लोहेमें चुम्बककी समीपतासे गति आ जाती है, उसी प्रकार अचेतन प्रकृति स्वतः जगत्को रच सकती है (इति चेत्) यदि ऐसा मानो (तथापि) तो भी ठीक नहीं है; क्योंकि अन्धोंको मार्ग दिखलानेवाले और लोहेको चुम्बककी अपेक्षा होती है, इसी प्रकार जड प्रकृतिको प्रवृत्त करानेमें किसी चेतनकी अपेक्षा होगी ।

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च । (ब्र० सू० २ । २ । ८)

पदच्छेदः-अङ्गित्वानुपपत्तेः, च ।

(च) और (अङ्गित्वानुपपत्तेः) प्रकृतिके तीन गुण सत्त्व, रजस् और तमस् जड होनेके कारण बिना किसी चेतनके स्वयं अङ्ग और अङ्गीभावसे प्रवृत्त नहीं हो सकते, इसलिये उनमें इस क्षोभका निमित्तकारण चेतन ब्रह्म ही हो सकता है ।

अन्यथानुमितौ च, ज्ञशक्तिवियोगात् । (ब्र० सू० २ । २ । ९)

पदच्छेदः-अन्यथा, अनुमितौ, च, ज्ञशक्तिवियोगात् ।

(अन्यथा) अन्य प्रकारसे (अनुमितौ) अनुमान करनेमें (च) भी (ज्ञशक्तिवियोगात्) चेतनशक्तिके वियोग होनेसे । यदि प्रकृतिके तीनों गुणोंका स्वभाव अन्यथा अर्थात् कभी संयोग और कभी वियोग भी अनुमान कर लिया जाय तो भी उनके ज्ञानरहित होनेके कारण बिना किसी चेतनके उनमें ज्ञानपूर्वक क्रिया न हो सकेगी, इसलिये चेतन ब्रह्म ही जगत्की उत्पत्ति आदिमें निमित्तकारण है ।

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् । (ब्र० सू० २ । २ । १०)

पदच्छेदः—**विप्रतिषेधात् , च, असमञ्जसम् ।**

(विप्रतिषेधात्) परस्पर विरोधसे (च) भी (असमञ्जसम्) अनियमिकता होती है ।

विना चेतन ब्रह्मके अस्तित्वको माने हुए तीनों गुणोंके परस्पर विरुद्ध उत्पादन और नाशन धर्म मान लेनेसे भी अनियमिकता होती है ।

इसी प्रकार ग्यारहसे सत्रहतक सात सूत्र वैशेषिकके साथ समन्वयमें हैं; न कि श्रीकणाद मुनिको नास्तिक सिद्ध करके उनके दर्शनके निराकरणमें । इस पादके अन्तके चार सूत्रोंमें सांख्य और वैशेषिकको सेश्वर मानकर भी इन भाष्यकारोंद्वारा इन दर्शनोंको दूषित ठहरानेका प्रयत्न किया गया है । जिसका मूल सूत्रोंमें नाम-निशान भी नहीं है । ब्रह्मसूत्र २ । १ । ३ में 'योग' शब्द देखकर कई साम्प्रदायिक आचार्योंने इस सूत्रका अर्थ योगके निराकरणमें लगानेका यत्न किया है । इस भ्रान्तिको मिटानेके लिये दूसरे अध्यायके पहले पादके प्रथम तीन सूत्रोंको उनके सरल और स्पष्ट अर्थसहित उद्धृत कर देना आवश्यक है ।

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ।
(ब्र० सू० २ । १ । १)

(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहा जाय कि (स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गः) स्मृतिके अनवकाशरूप दोष अर्थात् असंगतिका प्रसङ्ग होगा तो (न) नहीं; क्योंकि (अन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात्) अन्य स्मृतियोंके अनवकाशरूप दोषका प्रसङ्ग होगा । यहाँ सूत्रके पूर्वार्धमें यह शङ्का उठायी गयी है कि यदि ब्रह्मको निमित्तकारण माना जाय और प्रकृतिको उसके अधीन उपादानकारण, तो किसी-किसी स्मृतिमें जो केवल प्रकृतिको स्वतन्त्र उपादानकारण माना है, उन स्मृतियोंका अनवकाशरूप दोष होगा । यथा—

इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः ।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ।। (सांख्यकारिका ५६)

'इस प्रकार यह प्रकृतिसे किया हुआ महत्तत्त्वसे लेकर विशेष अर्थात् स्थूल भूतोंतकका आरम्भ प्रत्येक पुरुषके मोक्षके लिये स्वार्थकी तरह परार्थ है ।'

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ।। (गीता ८ । १८)

'सम्पूर्ण विश्वमात्र भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्त (मूल प्रकृति) से उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्त नामक मूल प्रकृतिमें ही लय होते हैं ।'

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । (गीता ३ । २७)

'(वास्तवमें) सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये हुए हैं ।'

सूत्रके उत्तरार्धमें इस शङ्काका यह समाधान किया गया है कि यदि इन स्मृतियोंके अनवकाश-दोषका डर है तो अन्य स्मृतियोंमें जहाँ ब्रह्मको निमित्तकारण और प्रकृतिको तदधीन उपादानकारण बतलाया गया है उनको भी तो अनवकाशदोषकी प्राप्ति होगी ।

यथा—

निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः प्रवर्तते ।
सत्तामात्रेण देवेन तथा चायं जगज्जनः ।। (सां० प्रवचन-भाष्य ९६)

'जैसे विना इच्छावाले चुम्बकके स्थित रहनेमात्रमें लोहा गतिशील होता है, वैसे ही सत्तामात्र ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्ति आदि होती है।'

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ (गीता ९।१०)

'हे अर्जुन! मेरी (ब्रह्मकी) अध्यक्षतामें प्रकृति चराचरसहित सब जगत्को रचती है। इस हेतुसे ही यह संसाररूप चक्र घूमता है।'

इतरेषाञ्चानुपलब्धेः। (ब्रह्मसू० २।१।२)

(च) और (इतरेषाम्) अन्योंके (अनुपलब्धेः) न पाये जानेसे। अर्थात् कई वेदविरुद्ध चार्वाक आदि स्मृतिको छोड़कर अन्य स्मृतियोंके अनवकाशका दोष पाया भी नहीं जाता, जैसा कि पहले सूत्रमें सांख्य और गीता दोनों स्मृतियोंमें स्पष्टरूपसे दिखला दिया गया है। इसलिये प्रकृति उपादान-कारण और ब्रह्म निमित्तकारण इन दोनोंकी ही व्यवस्था ठीक है।

एतेन योगः प्रत्युक्तः। (ब्रह्मसू० २।१।३)

(एतेन) इस कथनसे (योगः) संयोगके (प्रत्युक्तः) प्रतिवादका खण्डन हो गया; अर्थात् जैसे विना ब्रह्मके स्वतन्त्ररूपेण केवल प्रकृति जगत्का कारण नहीं बन सकती, इसी प्रकार विना ब्रह्मके केवल संयोग स्वतन्त्ररूपेण जगतका कारण नहीं बन सकता। इसी बातको श्वेताश्वतर उपनिषद्में दर्शाया है।

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥ (श्वेता० १।२)

'क्या काल या स्वभाव या नियति (होनी) या यदृच्छा (इत्तिफाक) या स्थूलभूत कारण हैं अथवा जीवात्मा कारण है, यह विचारणीय है। इनका संयोग भी कारण नहीं हो सकता; क्योंकि वे अनात्म (जड) पदार्थ हैं और जीवात्मा भी समर्थ नहीं; क्योंकि वह स्वयं सुख-दुःखमें पड़ा है।'

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥ (श्वेता० १।३)

'उन्होंने ध्यानयोगसे लगकर उस परमात्माकी निजशक्तिको जो कार्योंके अंदर छिपी हुई है, प्रत्यक्ष देखा—जो देव अकेला काल और जीवात्मासमेत इन सारे कारणोंका अधिष्ठाता है।'

जिस योगको ब्रह्मके साक्षात्कारका श्रुति स्पष्टरूपमें प्रशंसाके साथ मुख्य साधन बतलाती है, उसी योगकी ब्रह्मसूत्रद्वारा निराकरण किये जानेको सम्भावना कितनी आश्चर्यजनक है।

योगशिखोपनिषद्, अध्याय एकमें बतलाया है—

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः।
विना देहेऽपि योगेन न मोक्षं लभते विधे ॥ २४ ॥

'हे विधे! साधक चाहे ज्ञाननिष्ठ, विरक्त, धर्मज्ञ और जितेन्द्रिय क्यों न हो, तो भी योग बिना इस देहसे मुक्ति-लाभ न कर सकेगा।'

तीसरा प्रकरण

न्याय और वैशेषिक दर्शन

कणाद मुनिप्रवर्तित वशेषिकदर्शन और गौतम मुनिप्रवर्तित न्यायदर्शनके सिद्धान्त एक-जैसे हैं। न्यायदर्शन् एक प्रकारसे वैशेपिक सिद्धान्तकी ही विस्तृत व्याख्या है या यों कहिये कि इन दोनों दर्शनोंमें एक ही फिलासफी है जिसका पूर्वाङ्ग वैशेपिक है और उत्तराङ्ग न्याय।

इन दोनों दर्शनकारोंका ठीक-ठीक समय निश्चय करना अति कठिन है; किंतु यह सिद्ध है कि ये दोनों भगवान् कपिल और पतञ्जलि मुनिके पीछे हुए हैं; क्योंकि इन्होंने अतीन्द्रिय पदार्थोंके वास्तविक स्वरूप जाननेके लिये योगका ही सहारा लिया है और व्यास तथा जैमिनिसे पूर्वकालमें हुए हैं; क्योंकि ब्रह्मसूत्रमें उनके सिद्धान्तोंका वर्णन आया है। इन दोनोंमें कणाद गौतमसे पहले हुए हैं; क्योंकि वैशेपिक दर्शन न्यायदर्शनकी अपेक्षा अधिक प्राचीन समयका है।

वैशेपिक दर्शन

नामकरण—इस दर्शनका नाम वैशेपिक, काणाद तथा औलूक्य है। विशेप नामक पदार्थकी विशिष्ट कल्पना करनेके कारण इसको वैशेपिक संज्ञा प्राप्त हुई है और कणाद तथा उनके पिता उलूक ऋषिके नामपर इसे काणाद और औलूक्य कहते हैं। कणादका कहीं-कहीं काश्यप अर्थात् कश्यप मुनिका पुत्र अथवा कश्यप गोत्रवाला नाम भी मिलता है।

वैशेपिक सूत्रोंकी संख्या तीन सौ सत्तर है, जो दस अध्यायोंमें विभक्त है। प्रत्येक अध्यायमें दो आह्निक हैं। प्रथम अध्यायके प्रथम आह्निकमें द्रव्य, गुण तथा कर्मके लक्षण तथा विभागका और दूसरे में 'सामान्य' का, दूसरे तथा तीसरे अध्यायमें नौ द्रव्योंका, चौथे अध्यायके प्रथम आह्निकमें परमाणुवादका तथा द्वितीयमें अनित्य द्रव्य विभागका, पाँचवें अध्यायमें कर्मका, छठे अध्यायमें वेद-प्रामाण्यके विचारके बाद धर्म-अधर्मका, सातवें तथा आठवें अध्यायमें कतिपय गुणोंका, नवें अध्यायमें अभाव तथा ज्ञानका और दसवेंमें सुख-दुःख-विभेद तथा विविध कारणोंका वर्णन किया गया है।

वैशेपिकका अर्थ है पदार्थोंके भेदोंका बोधक।

पदार्थ जो प्रतीतिसे सिद्ध हो उसे कहते हैं।

वैशेपिक दर्शनमें हेय, हेय-हेतु, हान और हानोपाय—इन चारों प्रतिपाद्य विपयोंके समझनेके लिये छः पदार्थ—१—द्रव्य, २-गुण, ३-कर्म, ४-सामान्य, ५-विशेष और ६-समवायका निरूपण किया है तथा उनके सामान्य धर्म और विशेप धर्मके तत्त्वज्ञानसे निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष बतलाया है।

यथा—

धर्मविशेपप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेपसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्। (वै० १।१।४)

'धर्मविशेषसे उत्पन्न हुआ जो द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय (इतने) पदार्थोंका साधर्म्य और वैधर्म्यसे तत्त्वज्ञान, उससे मोक्ष होता है।'

इन पदार्थोंमें केवल धर्मी तो द्रव्य है, अन्य पाँच पदार्थ धर्म हैं। अर्थात् गुण और कर्म द्रव्यके धर्म हैं; सामान्य और विशेष द्रव्य, गुण और कर्म—तीनोंके धर्म हैं; और समवाय पाँचोंका धर्म है। इन छःमेंसे पहले तीन द्रव्य, गुण और कर्म मुख्य पदार्थ हैं; क्योंकि इन्हींसे अर्थ-क्रिया (प्रयोजन) सिद्ध होती है और यही धर्म अधर्मके निमित्त होते हैं। शेष तीन उपपदार्थ हैं; क्योंकि उनसे कोई अर्थ–क्रिया सिद्ध नहीं होती; वे केवल शब्दव्यवहारके ही उपयोगी हैं।

नौ द्रव्य

द्रव्य नौ हैं—

पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि।

(वै० १।१।५)

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन—ये नौ द्रव्य हैं।

१—पृथिवीके कारणरूप निरवयव सूक्ष्म परमाणु नित्य हैं और उनका कार्यरूप स्थूल भूमि अनित्य है। पृथिवीमें गन्ध, रस, रूप, स्पर्श चार गुण हैं। उनमेंसे मुख्य गन्ध है।

२ जलकी पहचान शीत स्पर्श है। उष्ण जलमें जो उष्णता प्रतीत होती है वह अग्निकी है। कारणरूप निरवयव जलके सूक्ष्म परमाणु नित्य हैं और कार्यरूप साधारण जल अनित्य है। जलमें रस, रूप और स्पर्श तीन गुण हैं; उनमेंसे मुख्य रस है।

३—अग्निकी पहचान उष्ण स्पर्श है। जहाँ उष्ण स्पर्श है वहाँ अवश्य किसी-न-किसी रूपमें अग्नि है। कारणरूप निरवयव अग्निके सूक्ष्म परमाणु नित्य हैं और कार्यरूप साधारण अग्नि अनित्य है। अग्निमें रूप और स्पर्श दो गुण हैं; उनमेंसे रूप मुख्य है।

४– वायुकी पहचान एक विलक्षण स्पर्श है। कारणरूप निरवयव वायुके परमाणु नित्य हैं और कार्यरूप साधारण वायु अनित्य है।

इन चारों द्रव्योंसे तीन प्रकारकी वस्तुएँ बनी हैं—शरीर, इन्द्रिय और विषय। मनुष्य, पशु-पक्षी आदिके शरीर तथा वृक्ष आदि पृथिवीके हैं, घ्राणेन्द्रिय पृथिवीकी है; शरीर और इन्द्रियके सिवा जितनी मिट्टी, पत्थर आदि रूप पृथिवी है, वह सब पार्थिव विषय है। इसी प्रकार जल-मण्डलस्थ जीवोंके शरीर जलीय हैं, रसना (रस अनुभव करनेवाली इन्द्रिय) जलीय है; नदी, समुद्र, बर्फ, ओले आदि जलीय विषय हैं। तेजोमण्डलस्थ जीवोंका शरीर तैजस है। नेत्रेन्द्रिय तैजस है, अग्नि, सूर्य और जठराग्नि आदि तैजस विषय हैं। वायु-मण्डलस्थ जीवोंका शरीर वायवीय है, त्वचा इन्द्रिय वायवीय है और बाहर जो वृक्ष आदिको कँपानेवाला वायु है तथा अंदर जो प्राणरूप वायु है, यह वायवीय विषय है।

५—आकाशकी पहचान शब्द है। जहाँ शब्द है वहाँ आकाश है। शब्द सर्वत्र है, अतएव आकाश विभु (व्यापक) है। विभु निरवयव होनेसे नित्य होता है, अतएव आकाश नित्य और एक है। आकाशका शरीर कोई नहीं, पर उसका इन्द्रिय श्रोत्र है; कर्ण-छिद्रके अंदरका आकाश श्रोत्र है।

पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पाँचों द्रव्य पञ्चभूत कहलाते हैं। इनके क्रमसे गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द—ये पाँच गुण हैं। घ्राण, रसना, नेत्र, त्वचा और श्रोत्र—ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। जिनके क्रमसे गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द—ये पाँच विषय हैं। घ्राण नासिकाके अग्रवर्ती है और पार्थिव होनेसे पृथिवीके गुण गन्धकी ही ग्राहक है। रसना जिह्वाग्रवर्ती है और जलीय होनेसे जलके गुण रसकी ही ग्राहक है। नेत्र काली पुतलीके अग्रवर्ती है और तैजस होनेसे रूपका ही ग्राहक है। त्वचा सर्वशरीरगत है और वायवीय होनेसे स्पर्शकी ही ग्राहक है।

६ काल—'यह उससे आयुमें छोटा है, वह इससे आयुमें बड़ा है। यह जल्दी हो गया है और वह देरसे हुआ है।' इत्यादि जो विलक्षण प्रतीतियाँ होती हैं, उनका निमित्त काल है। काल सारे कार्यों (अनित्यों) की उत्पत्ति, स्थिति और विनाशमें निमित्त होता है। काल नित्य, विभु और एक है; किंतु व्यवहारके लिये पल, घड़ी, दिन, रात, महीना, वर्ष और युग तथा भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान आदि उसके अनेक भेद कल्पनासे कर लिये जाते हैं। अनित्य पदार्थोंकी अपेक्षासे कल्पित हैं।

नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति। (वै० २।२।९)

'नित्योंमें न होनेसे और अनित्योंमें होनेसे कारणमें काल संज्ञा है।' यहाँ कारणमें कालको भी गिना है।

७ दिशा—'यह इससे पूर्व है, दक्षिण है, पश्चिम है, उत्तर है, पूर्वदक्षिण है, दक्षिणपश्चिम है, उत्तरपश्चिम है; उत्तरपूर्व है, नीचे है, ऊपर है'-आदि ये दस प्रतीतियाँ जिससे होती हैं वह दिशा है।

इत इदमिति यतस्तद्दिश्यं लिङ्गम्। (वै० २।२।१०)

'यहाँसे यह पर है या अपर' यह प्रतीति जिससे होती है वह दिशाका लिङ्ग है। सारे कार्योंकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाशमें कालवत् दिशा भी निमित्त होती है। कालवत् दिशा भी विभु है और एक है; किंतु व्यवहारके लिये उसके भी पूर्वादि भेद कर लिये जाते हैं। परिच्छिन्न पदार्थोंकी अपेक्षासे कल्पित हैं।

८ आत्मा—आत्माकी पहचान चैतन्य (ज्ञान) है। ज्ञान, शरीरका धर्म नहीं हो सकता; क्योंकि शरीरके कारण जो पृथिवी आदि भूत हैं उनमें ज्ञान नहीं। यदि उनमें ज्ञान होता तो उनसे बने हुए घटादिमें भी ज्ञान होता। ज्ञान इन्द्रियोंका भी गुण नहीं है; क्योंकि किसी इन्द्रियके नष्ट हो जानेपर भी उसके पहले अनुभव किये हुए विषयकी स्मृति रहती है और स्मृति उसीको होती है जिसने अनुभव किया हो; इसलिये यह अनुभव करनेवाला इन्द्रियोंसे भिन्न है। ज्ञान, मनका गुण भी नहीं; क्योंकि मन जाननेका साधन है; ज्ञाता नहीं। इसलिये परिशेषसे ज्ञान आत्माका गुण सिद्ध होता है। इससे आत्माका अनुमान होता है। इसी प्रकार इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख भी शरीरसे भिन्न आत्माका अनुमान कराते हैं। हितकी प्राप्ति और अहितके परिहारके लिये शरीरकी चेष्टा भी इस बातको प्रकट करती है कि रथमें रथके सारथिके सदृश अपने हित-अहितको जानकर शरीरको चलानेवाला शरीरसे पृथक् उसका अधिष्ठाता आत्मा है।

आकाशवत् आत्मा भी विभु (व्यापक) और नित्य है—

विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा। (वै० ७।१।२२)

विभु धर्मवान् महान् है आकाश, वैसे (ज्ञानस्वरूप) आत्मा है।

९ मन—जिस प्रकार बाह्यरूपादि ज्ञानके साधन नेत्रादि इन्द्रियाँ हैं, उसी प्रकार सुख-दुःखादिके ज्ञानका साधन जो इन्द्रिय है, वह मन है, मन अणु है—

तदभावादणु मनः। (वै० ७। १। २३)

उसके अर्थात् विभुत्वके अभावसे मन अणु है।

इस प्रकार द्रव्य नौ ही हैं। यद्यपि तम (अन्धकार, अँधेरा) काले रंगका और चलता हुआ प्रतीत होता है तथापि वस्तुतः वह कोई द्रव्य नहीं। प्रकाशका अभाव ही तम है, प्रकाशके न होनेसे न दीखना ही उसमें कालापन है। यदि वास्तवमें उसका कोई अपना रंग होता तो प्रकाशके साथ दीखता। जो चलता हुआ प्रतीत होता है, वास्तवमें वह अँधेरा नहीं चलता; किंतु प्रकाशके आगे-आगे चलनेसे अँधेरा चलता हुआ प्रतीत होता है, जैसे पुरुषके चलनेसे छाया चलती हुई प्रतीत होती है।

चौबीस गुण

गुण चौबीस हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार।

१ रूप—रूप श्वेत, नीला, पीला, आदि कई प्रकारका है। यह नेत्रसे ग्राह्य है; पृथिवी, जल और अग्निमें द्रव्यादिका प्रत्यक्ष करानेवाला है।

२ रस—रस मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय-भेदसे छः प्रकारका है, यह रसनेन्द्रियसे ग्राह्य है।

३ गन्ध—गन्ध सुगन्ध और दुर्गन्ध भेदसे दो प्रकारका है और घ्राणेन्द्रियसे ग्राह्य है। यह केवल पृथिवीमें रहती है।

४ स्पर्श—स्पर्श तीन प्रकारका है; शीत, उष्ण, अनुष्णाशीत (न ठंडा न गर्म); यह त्वगिन्द्रियसे ग्राह्य है और पृथिवी, जल, तेज और वायुमें रहता है।

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—पृथिवीमें ये चारों गुण हैं, जलमें गन्ध नहीं, शेष तीनों हैं, अग्निमें गन्ध और रस नहीं शेष दो हैं और वायुमें रूप भी नहीं केवल स्पर्श है।

५ संख्या—'वह एक है, दो हैं' इत्यादि व्यवहारका हेतु संख्या है। संख्या एक द्रव्यके आश्रय भी है, जैसे 'यह एक वृक्ष है'; और अनेक द्रव्योंके भी, जैसे 'ये दो वृक्ष हैं'। एकत्व संख्या नित्य द्रव्योंमें नित्य है; क्योंकि नित्य द्रव्योंके सदा बने रहनेसे एकत्व संख्या भी सदा बनी रहती है। अनित्य द्रव्योंमें एकत्व संख्या अनित्य है; क्योंकि उनके उत्पन्न होनेके साथ उत्पन्न होती है और उनके नाश होनेके साथ नष्ट हो जाती है।

एकमें एकत्व संख्या तो सदा ही होती है; किंतु द्वित्व, त्रित्वादि संख्या सदा नहीं होती। वह तब उत्पन्न होती है जब हम अलग-अलग दो अथवा दोसे अधिक वस्तुओंको इकट्ठा मिलाकर कहना चाहते हैं कि ये दो हैं अथवा तीन हैं इत्यादि। द्वित्व-त्रित्वादि संख्या अपेक्षाबुद्धिसे उत्पन्न होती है और अपेक्षाबुद्धिके नाश होनेपर नाश हो जाती है, इसलिये यह अनित्य होती है। यह द्वित्वादि संख्या

व्यासज्यवृत्ति कहलाती हैं; क्योंकि वह अपने आश्रयभूत वस्तुओंमें सबमें एक ही हैं, अलग-अलग नहीं। संख्या नित्य, अनित्य, मूर्त, अमूर्त सारे द्रव्योंमें रहती है।

६ *परिमाण*—'यह इतना है' इस व्यवहारका हेतु परिमाण है। परिमाण चार प्रकारका होता है; अणुत्व, महत्त्व, दीर्घत्व और ह्रस्वत्व। ये परिमाण एक दूसरेकी अपेक्षासे कहे जाते हैं। एक वस्तुको उससे बड़ी वस्तुकी अपेक्षासे अणु या ह्रस्व कहा जाता है और छोटीकी अपेक्षासे महत् या दीर्घ। परमाणुओंमें अणुत्व और ह्रस्वत्व तथा आकाश आदि विभु द्रव्योंमें महत्त्व और दीर्घत्व मुख्य हैं। परिमाण भी नित्य, अनित्य, मूर्त, अमूर्त सब द्रव्योंका धर्म है।

७ *पृथक्त्व*—'यह इससे पृथक् है' इस व्यवहारका हेतु पृथक्त्व है। यह भी सब द्रव्योंका धर्म है। संख्यावत् एक पृथक्त्व नित्य द्रव्योंमें नित्य होता है और अनित्योंमें अनित्य; क्योंकि आश्रयके नाशसे उसका नाश आवश्यक है।

८ *संयोग*—'यह संयुक्त है' इस प्रतीतिका निमित्त संयोग है। यह तीन प्रकारका होता है—(क) अन्यतर कर्मज अर्थात् संयुक्त होनेवाले दो पदार्थोंमेंसे एकके कर्मसे उत्पन्न होनेवाला, जैसे श्येन पक्षी और पर्वतका संयोग; (ख) उभयकर्मज अर्थात् दोनोंके कर्मसे उत्पन्न होनेवाला, जैसे दो मेढ़ोंका संयोग; (ग) संयोगज अर्थात् संयोगसे उत्पन्न होनेवाला, जैसे हाथ और पुस्तकके संयोगसे शरीर और पुस्तकका संयोग।

इनमें अन्यतर कर्मज और उभयकर्मज संयोग भी दो प्रकारका होता है।

(अ) 'अभिघात' शब्दका हेतु-संयोग और (ब) 'नोदन' अहेतु-संयोग।

संयोग सब द्रव्योंमें रहता है और अनित्य होता है; क्योंकि परमाणु आदि नित्य द्रव्योंमें भी नया ही उत्पन्न होता है। हर एक संयोग अव्याप्यवृत्ति होता है, अर्थात् जो संयुक्त हैं उनके सारे स्वरूपमें संयोग नहीं होता; किंतु किसी एक या किन्हीं एक प्रदेशोंके साथ होता है।

९ *विभाग*—संयोगका नाशक गुणविभाग है। संयोगवत् यह भी तीन प्रकारका है—(क) अन्यतर कर्मज जैसे श्येन पक्षीके उड़ जानेसे श्येन और पर्वतका विभाग, (ख) उभय कर्मज, जैसे दो मेढ़ोंके परस्पर पीछे हटनेसे मेढ़ोंका विभाग और (ग) विभागज, जैसे हाथ और पुस्तकके अलग हो जानेसे शरीर और पुस्तकका विभाग।

१०, ११ *परत्व, अपरत्व*—'यह परे है, यह वरे है' इस व्यवहारके निमित्त गुण परत्व और अपरत्व हैं। ये दो प्रकारके हैं—दैशिक और कालिक। दैशिक, दिशासे किये हुए अर्थात् दूर-निकटकी अपेक्षासे, जैसे वह वस्तु इससे परे है (दूर है), यह वरे है (निकट है); और कालिक, कालसे किये हुए अर्थात् आयुकी अपेक्षासे, जैसे वह पर है, बड़ा है और यह अपर है, छोटा है। दैशिक और कालिक, सारे परत्व और अपरत्व अपेक्षा-बुद्धिसे उत्पन्न होते हैं और अपेक्षा-बुद्धिके नाशसे नष्ट होते हैं। कालिक परत्व और अपरत्व अनित्योंके धर्म हैं, नित्योंके नहीं; दैशिक परत्व और अपरत्व पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मनके धर्म हैं, विभुके नहीं होते।

१२ *गुरुत्व*—गिरनेका निमित्त गुरुत्व (भार) है। यह जल और पृथिवीमें रहता है। वायुमें

गुरुत्वकी प्रतीति पार्थिव और जलीय परमाणुओंके संयोगसे होती है। गुरुत्व नित्योंमें नित्य और अनित्योंमें अनित्य है।

१३ द्रवत्व—यह बहनेमें निमित्त (बहनेका धर्म) है। वह दो प्रकारका है; (क) स्वाभाविक जैसे जलमें और (ख) नैमित्तिक जैसे घृत आदि पार्थिव वस्तुओंमें अग्निके संयोगसे उत्पन्न होता है। द्रवत्व भी नित्योंमें नित्य और अनित्योंमें अनित्य होता है।

१४ स्नेह—स्नेह जलका विशेष गुण है, बिखरे हुए कणोंको मिलानेका हेतु है। यह नित्योंमें नित्य और अनित्योंमें अनित्य होता है।

१५ शब्द—यह आकाशका गुण है, श्रोत्र-ग्राह्य है और दो प्रकारका है—(क) ध्वनि-स्वरूप जैसा मृदंग आदिमें होता है और (ख) वर्ण-स्वरूप जैसा मनुष्योंकी भाषामें।

१६ बुद्धि—बुद्धि ज्ञानका नाम है, यह केवल जीवात्माका गुण है, इसके दो भेद हैं—(क) अनुभव, नया ज्ञान और (ख) स्मृति, पिछले जाने हुएका स्मरण।

अनुभव दो प्रकारका होता है—(अ) यथार्थ, सच्चा, जिसको प्रमा एवं विद्या कहते हैं। इसके तीन भेद प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणके प्रसंगमें बतलाये जायँगे। (ब) अयथार्थ, मिथ्या, जिसको अप्रमा या अविद्या कहते है। इसके दो भेद संशय और विपर्ययको भी अलग बतलाया जायगा।

सांख्य और योगने आत्माको ज्ञानस्वरूप तथा बुद्धिको तीनों गुणोंका प्रथम विषम परिणाम माना है, जो सत्त्वमें रज केवल क्रियामात्र और तम उस क्रियाको केवल रोकने मात्र है। सत्त्वके प्रकाश और आत्माके ज्ञानके प्रकाशमें अत्यन्त विलक्षणता है, फिर भी बुद्धिमें सत्त्वकी स्वच्छता एवं निर्मलताके कारण आत्माके ज्ञानके प्रकाशको ग्रहण करनेकी अनादि योग्यता है। यह आत्माके ज्ञानसे प्रकाशित हुई बुद्धि किसी-न-किसी ज्ञानेन्द्रियद्वारा बहिर्मुख होकर नाना प्रकारके यथार्थ और अयथार्थ आकारोंमें परिणत होती रहती है। यह ज्ञान तथा अज्ञानका परिणाम बुद्धिमें ही होता है। इसलिये ज्ञान और अज्ञान दोनों बुद्धि-हीके धर्म माने गये हैं; किंतु बुद्धि जड है। इसलिये उसको इस ज्ञान और अज्ञानका बोध नहीं होता। इसका बोध आत्माको होता है; क्योंकि बुद्धिमें वृत्तिरूपसे यह नाना प्रकारका ज्ञान और अज्ञानका परिणाम उसीके ज्ञानके प्रकाशमें हो रहा है। इसलिये आत्माको बुद्धिकी वृत्तियोंका द्रष्टा होता हुआ भी कूटस्थ नित्य ही माना जाता है। बुद्धिको आत्माके साथ सम्मिलित करनेसे शबल अर्थात् मिश्रित आत्माकी संज्ञा जीव होती है। इसलिये बुद्धिके धर्मज्ञान आदिक वैशेपिकमें जीवात्माके गुण बतलाये गये हैं। कई समा-लोचकोंको बुद्धि और आत्मामें विवेकपूर्ण ज्ञान न होनेके कारण यह भ्रम हुआ है कि बुद्धिके अलग हो जानेसे वैशेषिकका आत्मा एक जड द्रव्य रह जाता है। उनको जानना चाहिये कि बुद्धिकी वृत्तियोंका द्रष्टा न रहते हुए भी आत्मा अपने शुद्ध ज्ञान स्वरूपसे च्युत नहीं होता है, किंतु बुद्धिके जो विकारादि उसमें आरोपित किये जाते हैं, उनका भी बाध हो जाता है।

१७ सुख—सुख इष्ट विषयकी प्राप्तिसे उत्पन्न होता है और सदा अनुकूल-स्वभाव होता है। अतीत विषयोंमें उनकी स्मृतिसे और अनागत विषयोंमें उनके संकल्पसे होता है। सुखमें मुख और नेत्र खिल जाते हैं। विज्ञानियोंको जो विषय और उसकी स्मृति तथा संकल्पके विना सुख होता है वह विद्या, शान्ति, संतोष और धर्म-विशेषसे होता है।

१८ दुःख—यह इष्टके वियोग या अनिष्टकी प्राप्तिसे उत्पन्न होता है और सदा प्रतिकूल-स्वभाव होता है। अतीत विषयोंमें स्मृति-जन्य और अनागत विषयोंमें संकल्प-जन्य होता है। दुःखमें मुख मुरझा जाता है और दीनता आ जाती है।

१९ इच्छा—अपने लिये या दूसरोंके लिये किसी अप्राप्त वस्तुकी प्रार्थना (चाहना) इच्छा है। किसी वस्तुको इष्ट-साधक या अनिष्ट-निवारक जानकर उसमें इच्छा होती है। इच्छा दो प्रकारकी होती है, फलकी इच्छा और उपायकी इच्छा। फल, सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्ति है, और सब उसके साक्षात् और परम्परासे उपाय हैं।

२० द्वेष—प्रज्वलन स्वरूप द्वेष है; यह प्रयत्न, स्मृति, धर्म और अधर्मका हेतु है अर्थात् द्वेषसे मारने या जीतनेका प्रयत्न होता है। जिससे द्वेष होता है उसकी बार-बार स्मृति होती है। दुष्टोंसे द्वेषमें धर्म और श्रेष्ठोंमें द्वेषसे अधर्म होता है। क्रोध, द्रोह, मन्यु, अक्षमा और अमर्ष—ये द्वेषके भेद हैं।

२१ प्रयत्न—उद्योग, उत्साह प्रयत्न है। यह दो प्रकारका होता है—(क) जीवन-पूर्वक जो सोये हुएके प्राण, अपानादिको चलाता है और जाग्रत्-कालमें अन्तःकरणका इन्द्रियोंके साथ संयोग कराता है; (ख) इच्छा-द्वेषपूर्वक हितके साधनोंके ग्रहणमें इच्छापूर्वक प्रयत्न होता है और दुःखके साधनोंके परित्यागमें द्वेषपूर्वक।

२२, २३ धर्म, अधर्म—वेद-विहित कर्मोंसे धर्म उत्पन्न होता है, यह पुरुषका गुण है, कर्ताके प्रिय, हित और मोक्षका हेतु होता है। इसके विपरीत प्रतिषिद्ध कर्मोंसे अधर्म उत्पन्न होता है, यह कर्त्ताके अहित और दुःखका हेतु होता है। धर्म और अधर्मको अदृष्ट कहते हैं।

२४ संस्कार—यह तीन प्रकारका होता है—(क) वेग—यह पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन—इन पाँच द्रव्योंमें कर्मसे उत्पन्न होता है और अगले कर्मका हेतु होता है। (ख) भावना—यह अनुभवसे उत्पन्न होता है, स्मृति और पहचानका हेतु है। विद्या, शिल्प, व्यायाम आदिमें बार-बारके अभ्याससे इस संस्कारका अतिशय होता है। उसके बलसे उस-उस विषयमें निपुणता आती है। (ग) स्थितिस्थापक—अन्यथा किये हुएको फिर उसी अवस्थामें लानेवाला संस्कार स्थितिस्थापक कहलाता है। जिससे टेढ़ी की हुई शाखा छोड़नेसे फिर सीधी हो जाती है। संस्कार स्पर्शवाले द्रव्योंमें रहता है।

इन चौबीस गुणोंमेंसे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिक द्रवत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना, संस्कार और शब्द—ये विशेष गुण हैं; क्योंकि ये एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यसे निखेरते हैं और संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, नैमित्तिक द्रवत्व और वेग संस्कार, ये सामान्य गुण हैं; क्योंकि ये एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यसे नहीं निखेरते।

३ कर्म—चलना (हरकत) रूप कर्म है; यह पाँच प्रकारका है—

उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि। (वै० १।१।७)

१ उत्क्षेपण—ऊपर फेंकना　　२ अवक्षेपण—नीचे गिराना

३ आकुञ्चन—सिकोड़ना　　४ प्रसारण—फैलाना और

५ गमन—अन्य सब प्रकारकी क्रिया। ये पाँच कर्म हैं।

मनुष्यके कर्म पुण्य-पाप-रूप होते हैं, महाभूतोंके नहीं। ये कर्म भी नौ द्रव्योंमेंसे किसी-न-किसी द्रव्यके धर्म हैं।

४ *सामान्य*—किसी अर्थकी जो जाति (किस्म) है वह सामान्य है, जैसे वृक्षकी वृक्षत्व और मनुष्यकी मनुष्यत्व जाति है। जाति बहुतोंमें एक होती है, जैसे सारे वृक्षोंमें वृक्षत्व जाति एक है। जो एक ही हो अथवा जो विभु हो उसमें जाति नहीं रहती, जैसे दिशा, काल, आकाश और आत्मामें।

सामान्यके दो भेद हैं—पर और अपर। एक व्यापक जाति; जिसकी अवान्तर जातियाँ और भी हों, जैसे वृक्षत्व, पर-सामान्य कहलाती है; उसकी अवान्तर जाति, जैसे आम्रत्व, अपर-सामान्य कहलाती है। अपर-सामान्यको सामान्य-विशेष भी कहते हैं; क्योंकि वह सामान्य भी है और विशेष भी। जैसे आम्रत्व सारे आम्रोंमें सामान्य है, किंतु दूसरे वृक्षोंसे आम्रोंको विशेष (अलग) करती है, इसलिये विशेष भी है।

सामान्य विशेष (पर, अपर) सापेक्ष हैं। आम्रत्वादिकी अपेक्षासे वृक्षत्व पर (सामान्य) है और वृक्षत्वकी अपेक्षासे आम्रत्व अपर (विशेष) है; किंतु वृक्षत्व भी पृथिवीत्वकी अपेक्षासे अपर है और आम्रत्व भी अपनी अवान्तर जातियोंकी अपेक्षासे पर है। जिसकी आगे कोई अवान्तर जाति न हो, वह केवल अपर होता है, जैसे घटत्वादि और जिसकी व्यापक जाति न हो वह केवल पर ही होता है। ऐसी जाति केवल सत्ता है, जो सारे द्रव्यों, सारे गुणों और सारे कर्मोंमें होती है। सत्ता वह है जिससे सत्-सत् इस प्रकारकी प्रतीति होती है, अर्थात् द्रव्य सत् है, गुण सत् है, कर्म सत् है। और सारी (द्रव्यत्वादि) जातियाँ सामान्य-विशेष हैं, किंतु इन द्रव्यत्वादि जातियोंमेंसे हर एक जाति अनेक व्यक्तियोंमें रहती है, इसलिये प्रधानतया वे सामान्य ही हैं, किंतु अपने आश्रय (द्रव्यादि) को दूसरे पदार्थोंसे अलग भी करता हैं, इसलिये गौणतया विशेष शब्दसे कही जाती हैं, किंतु जो विशेष पदार्थ है वह इनसे अलग ही है।

५ *विशेष*—जैसे घोड़ेसे गौमें विलक्षण प्रतीति जाति-निमित्तक होती है और एक गौसे दूसरी गौमें विलक्षण प्रतीतिका निमित्त रूपादि या अवयवोंकी बनावट आदिका भेद है। इसी प्रकार योगियोंको एक ही जाति, गुण और कर्मवाले परमाणुओंमें जो एक दूसरेसे विलक्षण प्रतीति होती है उसका भी कोई निमित्त होना चाहिये, परमाणुओंमें और कोई भेद (बनावट आदिका भेद) असम्भव होनेसे, जो वहाँ भेदक धर्म है वही विशेष पदार्थ है। वह विशेष सारे नित्य द्रव्योंमें रहता है, क्योंकि अनित्य द्रव्योंमें और गुण-कर्मादिमें तो आश्रयके भेदसे भेद कहा जा सकता है, किंतु नित्य द्रव्योंमें नहीं। इसलिये हर एक नित्य द्रव्यमें एक-एक विशेष होता है, जिससे वे एक दूसरेसे विलक्षण प्रतीत होते हैं और देश-कालके भेदमें भी यह वही परमाणु है, यह पहचान जो योगियोंको होती है इसका निमित्त भी विशेष पदार्थ है। अर्थात् पहचान और विलक्षण प्रतीति किसी निमित्तसे होती है, जैसे गौमें गोत्व जातिसे और शुक्लमें शुक्लत्व गुणसे; और वह निमित्त परमाणुओंमें कोई और न होनेसे उनमें भी अवश्य कोई अलग ऐसा पदार्थ है जो पहचान और विलक्षण प्रतीतिका निमित्त है, वही विशेष पदार्थ है। इस विशेष पदार्थका पता इसी दर्शनने लगाया है, इसीलिये इसको वैशेषिक कहते हैं।

६ *समवाय*—सम्बन्ध सदा दोमें होता है, जैसे कुंडे और दहीका सम्बन्ध है। इनमेंसे दही कुंडेसे और कुंडा दहीसे अलग भी रहता है। ऐसे सम्बन्धको संयोग कहते हैं। किंतु जो ऐसा घना सम्बन्ध है कि सम्बन्धी न अलग-अलग थे और न हो सकते हैं जैसे गुण-गुणीका सम्बन्ध, वहाँ सम्बन्धको समवाय कहते हैं। अर्थात् गुणीमें गुण समवाय-सम्बन्धसे रहता है। इसी प्रकार अवयवोंमें अवयवी क्रियावालोंमें क्रिया, व्यक्तिमें जाति और नित्य द्रव्योंमें विशेष समवाय सम्बन्धसे रहता है।

अभाव पदार्थ—पिछले वैशेषिक आचार्योंने उपर्युक्त छः भाव पदार्थोंके अतिरिक्त 'अभाव' भी एक अलग पदार्थ निरूपण किया है। अभाव चार प्रकारका है। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव। किसी वस्तुकी उत्पत्तिसे पहले उसका अभाव प्रागभाव और नाशके पीछे उसका अभाव प्रध्वंसाभाव है। किसी वस्तुका नितान्त अभाव अत्यन्ताभाव है और एक वस्तुमें दूसरी वस्तुका अभाव अन्योन्याभाव है।

न्याय-दर्शन

न्यायसूत्रके रचयिताका गोत्र-नाम गौतम या गोतम है और व्यक्तिगत नाम अक्षपाद है।

प्रमाणोंसे अर्थका परीक्षण अर्थात् विभिन्न प्रमाणोंकी सहायतासे वस्तुतत्त्वकी परीक्षा न्याय है।

प्रत्यक्ष और आगमके आश्रित अनुमान (न्याय) है। अनुमानमें परीक्षा करके अर्थकी सिद्धि की जाती है। परीक्षा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे होती है, जैसे अग्निकी सिद्धिमें जब यह प्रतिज्ञा को कि 'पर्वतमें अग्नि है' तो यह शब्दप्रमाण हुआ; जब रसोईका उदाहरण दिया तो वह प्रत्यक्षप्रमाण हुआ; जब 'जैसे रसोई धूमवाली है, वैसे यह पर्वत धूमवाला है' ऐसा उपनय कहा, तो यह उपमान हुआ। इस प्रकार प्रत्यक्ष, उपमान और शब्द, इन सब प्रमाणोंसे परीक्षा करके अग्निकी सिद्धि की गयी। इस प्रकार समस्त प्रमाणोंके व्यापारसे परीक्षा करके अग्निकी सिद्धि की गयी। इस प्रकार समस्त प्रमाणोंके व्यापारसे अर्थका निश्चय करना न्याय है।

न्यायसूत्र पाँच अध्यायोंमें विभक्त हैं और प्रत्येक अध्याय दो आह्निकोंमें। इनमें षोडश पदार्थोंके उद्देश्य (नाम-कथन) तथा लक्षण (परिभाषा) परीक्षण किये गये हैं।

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्ताऽवयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभास-छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। (न्याय० १।१)

'प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान, इनके तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है।' इनमेंसे प्रमेयके तत्त्वज्ञानसे मोक्ष मिलता है और प्रमाण आदि पदार्थ उस तत्त्वज्ञानके साधन हैं।

यथार्थ ज्ञानका साधन प्रमाण है, जाननेवाला प्रमाता, ज्ञान प्रमिति और जिस वस्तुको जानना है वह प्रमेय कहलाती है।

न्याय-दर्शनके अनुसार चार मुख्य प्रमाण हैं—१ प्रत्यक्ष, २ अनुमान, ३ उपमान, ४ आगम।

१ *प्रत्यक्ष प्रमाण*—इन्द्रियों और अर्थके सम्बन्धसे उत्पन्न हुआ जो अशब्द (नाममात्रसे न कहा हुआ), अव्यभिचारी (न बदलनेवाला) और निश्चयात्मक हो, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

प्रत्यक्षके दो भेद हैं— निर्विकल्पक और सविकल्पक। वस्तुका आलोचनमात्र ज्ञान, जिसमें सम्बन्धकी प्रतीति नहीं होती है, निर्विकल्पक है; और जिसमें सम्बन्धकी प्रतीति होती है, वह सविकल्पक है। निर्विकल्पक पहले होता है और सविकल्पक पीछे। जैसे गौको देखकर 'गौ' यह ज्ञान पहले-पहल नहीं होता; क्योंकि 'गौ' इस ज्ञानमें केवल व्यक्तिका ज्ञान नहीं, किंतु एक विशेष व्यक्ति, एक विशेष जाति (गोत्व) से सम्बन्ध रखनेवाली प्रतीत हो रही है। यह सम्बन्धका ज्ञान सम्बन्धियोंको पहले पहल अलग जाने बिना नहीं हो सकता। इससे अनुमान होता है कि पहले दोनों सम्बन्धियों (जाति, व्यक्ति) का सम्बन्धरहित ज्ञान अलग-अलग हुआ है, पीछे 'यह गौ है' यह ज्ञान हुआ है। इनमेंसे पहला निर्विकल्पक है; पीछे जो सम्बन्धको प्रकट करनेवाला ज्ञान हुआ है, वह सविकल्पक है। निर्विकल्पक कहनेमें नहीं आता। वह ऐसा ही प्रत्यक्ष है जैसे बालक या गूँगेको होता है। इसके विपरीत सविकल्पक कहने-सुननेमें आता है।

२ *अनुमान प्रमाण*—साधन-साध्य, लिङ्ग-लिङ्गी अथवा कार्य-कारणके सम्बन्धसे जो ज्ञान उत्पन्न हो, उसे अनुमान कहते हैं।

जहाँ 'व्याप्ति' अर्थात् साहचर्य (साथ रहने) का नियम पाया जाता है, वहीं अनुमान होता है। धूम अग्निके बिना नहीं होता, इसलिये धूमसे अग्निका अनुमान होता है; पर अग्नि बिना धूमके भी होती है, इसलिये अग्निसे धूमका अनुमान नहीं होता। जिसके द्वारा अनुमान करते हैं उसको लिङ्ग (चिह्न) कहते हैं और जिसका अनुमान होता है, उसको लिङ्गी। इस प्रकार धूम लिङ्ग है और अग्नि लिङ्गी। लिङ्गी वह होता है, जो व्यापक हो। जहाँ धूम है वहाँ अग्नि अवश्य है, धूममें अग्निकी व्यापकता है, ऐसा होनेसे ही अनुमान हो सकता है। यदि बिना अग्निके भी धूम होता तो उससे अग्निका अनुमान न होता। जैसे अग्नि बिना धूमके भी होती है, अतएव अग्निसे धूमका अनुमान नहीं हो सकता। इसलिये जहाँ व्याप्ति है वहीं अनुमान होता है। चाहे वह सम-व्याप्ति हो चाहे विषम-व्याप्ति हो। सम-व्याप्ति, जैसे गन्ध और पृथिवीत्वकी है। जहाँ गन्ध है वहीं पृथिवीत्व है और जहाँ पृथिवीत्व है वहीं गन्ध है। और विषम-व्याप्ति, जैसे अग्नि और धूमकी है; क्योंकि जहाँ धूम है वहीं अग्नि है, यह ही नियम है, पर जहाँ अग्नि है वहाँ धूम भी हो, यह नियम नहीं है।

अनुमान तीन प्रकारका है—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट।

पूर्ववत्— जहाँ प्रत्यक्षभूत लिङ्ग-लिङ्गीमेंसे एकके देखनेसे दूसरेका अनुमान हो। जैसे धूमसे अग्निका। यहाँ दोनों प्रत्यक्षके विषय हैं। अर्थात् यहाँ अनुमेय (लिङ्गी) जो अग्नि है, वह भी रसोई आदिमें विशेषरूपसे प्रत्यक्ष हो चुका है।

शेषवत्—जहाँ-जहाँ प्रसङ्ग जा सकता है, वहाँ-वहाँसे हटाकर शेष बचे हुएका अनुमान शेषवत् है, जैसे 'शब्द किसका गुण है' इस विचारमें सारे द्रव्योंका प्रसङ्ग आता है। उनमेंसे किसीका भी गुण न होनेसे परिशेषसे यह आकाशका लिङ्ग (गुण) है (वै० २ । १ । २७)। यही परिशेषानुमान शेषवत् कहलाता है।

सामान्यतोदृष्ट—जो सामान्यरूपसे देखा गया हो पर विशेषरूपसे न देखा गया हो। वह वहाँ होता है जहाँ लिङ्गीको पहले प्रत्यक्ष देखा हुआ न हो—जैसे देखने-सुनने आदि क्रियाओंसे इन्द्रियोंका

अनुमान। क्रियाका कोई साधन (करण) अवश्य होता है, जैसे छेदनेका कुल्हाड़ा। इसी प्रकार देखना, सुनना आदि क्रिया हैं, उनका भी कोई करण अवश्य होना चाहिये। यहाँ जो करण हैं वही इन्द्रिय हैं। यद्यपि सामान्यरूपसे यह देखा गया है कि जो क्रिया होती है, उसका कोई करण अवश्य होता है, जैसे छेदने आदिमें कुल्हाड़ा, पर जैसे करणका यहाँ अनुमान करना है, अर्थात् इन्द्रियरूप, वैसा करण कभी भी देखा नहीं गया, इसलिये यह अनुमान सामान्यतोदृष्ट है। इसी प्रकार जगत्‌की रचनासे इसको रचनेवालेका ज्ञान सामान्यतोदृष्ट है। पूर्ववत् वहाँ होता है, जहाँ पहले अनुमेयको भी देखा हुआ है और सामान्यतोदृष्ट वहाँ होता है, जहाँ अनुमेयको कभी देखा नहीं है। इसी अनुमानसे अतीन्द्रिय पदार्थ हैं, उनका ज्ञान होता है।

३ उपमान-प्रमाण—प्रसिद्ध-सादृश्यसे संज्ञा-संज्ञीके सम्बन्धका ज्ञान उपमान है, यथा—जो गवय (नीलगाय) को नहीं जानता वह यह सुनकर कि 'जैसी गौ वैसी गवय' वनमें जाय और गौ-सदृश व्यक्तिको देखे तो उसको यह ज्ञान होगा कि यह गवय है। यहाँ गवय व्यक्ति प्रत्यक्ष है, पर यह ज्ञान कि 'इसका नाम गवय है' प्रत्यक्ष नहीं। यदि यह भी प्रत्यक्ष होता तो सभीको प्रतीत हो जाता। यह ज्ञान अनुमानसे भी नहीं हुआ; क्योंकि संज्ञाका कोई लिङ्ग नहीं होता। शब्दसे भी नहीं हुआ; क्योंकि यह किसीने बतलाया नहीं। इसलिये जिससे यह ज्ञान हुआ है वह एक अलग ही उपमान-प्रमाण है।

४ आगम-प्रमाण—आप्तके उपदेशको शब्द-प्रमाण कहते हैं। अर्थके साक्षात् करनेवाले और यथादृष्टका उपदेश करनेवालेका नाम आप्त है। शब्दप्रमाण दो प्रकारका है—दृष्ट-अर्थ और अदृष्ट-अर्थ। जिस आप्त उपदेशका अर्थ यहाँ देखा जाता है, वह दृष्ट-अर्थ है; जिसका अर्थ यहाँ नहीं देखा जाता, जैसे स्वर्गादि, वह अदृष्ट-अर्थ है। लौकिक वाक्य दृष्टार्थ हैं, वैदिक वाक्य प्रायः अदृष्टार्थ।

न्यायदर्शनमें ऐसे पदार्थोंको जिनके न्यायद्वारा तत्त्व-ज्ञानसे निःश्रेयस् हो सकता है, सोलहकी संख्यामें विभक्त किया गया है—

१-प्रमाण—चार हैं, इनका वर्णन ऊपर कर दिया गया है।

२-प्रमेय—बारह हैं, इनका वर्णन आगे किया जायगा।

३-संशय—समान धर्मकी प्रतीतिसे, अनेकोंके धर्मकी प्रतीतिसे, विप्रतिपत्ति [परस्पर विरोधी पदार्थोंके सहभाव] से, उपलब्धिकी अव्यवस्थासे और अनुपलब्धिकी अव्यवस्थासे विशेषकी आकाङ्क्षावाला विचार संशय है। संशयका साधारण लक्षण एक धर्मीमें विरुद्ध नानाधर्मोंका ज्ञान समझना चाहिये।

४-प्रयोजन—जिस अर्थको लक्ष्यमें रखकर किसी विषयमें प्रवृत्त होना है, वह प्रयोजन है।

५-दृष्टान्त—लौकिक और परीक्षकोंकी बुद्धिकी जिस अर्थमें समता हो, वह दृष्टान्त है। जैसे अग्निके अनुमानमें रसोई। दृष्टान्तके विरोधसे ही परपक्ष खण्डनीय होता है और दृष्टान्तके समाधानसे ही स्वपक्ष स्थापनीय होता है।

६-सिद्धान्त—शास्त्रके आधारपर अर्थोंके माननेकी व्यवस्था सिद्धान्त है। सिद्धान्त चार प्रकारका है—

(क) *सर्वतन्त्र-सिद्धान्त*—जो सारे शास्त्रोंका सिद्धान्त हो, अर्थात् जिसमें किसी शास्त्रका विरोध न हो।

(ख) *प्रतितन्त्र-सिद्धान्त*—जो अपने-अपने शास्त्रका अलग-अलग सिद्धान्त हो।

(ग) *अधिकरण-सिद्धान्त*—जिसकी सिद्धि दूसरे अर्थोंकी सिद्धिपर निर्भर हो।

(घ) *अभ्युपगम-सिद्धान्त*—वादीकी मानी हुई बातको ही मानकर उसपर विचार करना।

७ *अवयव*—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन—ये पाँच अवयव हैं। जैसे 'घट अनित्य है' यह प्रतिज्ञा है; 'उत्पत्तिवाला होनेसे' यह हेतु है; 'उत्पत्ति-धर्मवाले पट आदि द्रव्य अनित्य देखनेमें आते हैं' यह उदाहरण है; 'ऐसा ही घट भी उत्पत्ति-धर्मवाला है' इसको उपनय कहते हैं; 'इसलिये उत्पत्ति-धर्मवाला होनेसे घट अनित्य सिद्ध हुआ' इसका नाम निगमन (उपसंहार) है। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि पूर्व प्रमाणोंमें जो अनुमान कहा है, वह दो प्रकारका होता है—स्वार्थानुमान अर्थात् अपने लिये अनुमान; और परार्थानुमान अर्थात् दूसरेके लिये अनुमान। स्वार्थानुमान-कर्ता जब उस ज्ञानको दूसरेको निश्चय कराना चाहता है, तब उसकी सिद्धिके लिये अपने मुखसे उसे जो वाक्य कहना पड़ता है, उसके ये पाँच अवयव होते हैं और वही अनुमान परार्थानुमान कहलाता है।

८ *तर्क*—जिसका तत्त्व ज्ञात न हो उसको जानना चाहते हुए उसमें कारणके सम्भवसे तत्त्वज्ञानके लिये जो युक्ति है, वह तर्क है।

९ *निर्णय*—संशय उठाकर पक्ष-प्रतिपक्षद्वारा अर्थका अवधारण (निश्चय) निर्णय है।

१० *वाद*—पक्ष और प्रतिपक्षका वह अङ्गीकार जिसमें प्रमाणोंसे और तर्कसे साधन और प्रतिषेध हो, जो सिद्धान्तसे विरुद्ध न हो और पाँचों अवयवोंसे युक्त हो, वाद कहलाता है।

११ *जल्प*—जो वादके विशेषणोंसे युक्त हो, किंतु जिसमें छल, जाति और निग्रहस्थानोंसे भी साधन और प्रतिषेध हो, वह जल्प है।

१२ *वितण्डा*—जल्प जब प्रतिपक्षस्थापनासे हो तो वितण्डा होता है।

इस प्रकार किसी अर्थके निर्णयके लिये वादी-प्रतिवादीकी जो बातचीत होती है, उसका नाम कथा है और वह तीन प्रकारकी होती है, तत्त्व-निर्णयके लिये वाद होता है, दूसरोंको परास्त करनेके लिये वा सिद्धान्तकी रक्षाके लिये जल्प होता है और जहाँ विजिगीषु (जीतनेकी इच्छावाला) छल-जाति आदिका भी प्रयोग करता है और अपने पक्ष-स्थापनसे हीन केवल दूसरेके पक्षपर प्रमाण, तर्क, छल, जाति आदिसे सब प्रकार आक्षेप करता है वह वितण्डा है।

१३ *हेत्वाभास*—हेत्वाभास वे हैं जो हेतु लक्षणके न होनेसे हैं तो अहेतु, किंतु हेतुके समान हेतुवत् भासते हैं। ये पाँच प्रकारके होते हैं—

(क) *सव्यभिचार हेत्वाभास*—जो एकमें अर्थात् केवल साध्यमें ही नियत न हो अर्थात् अव्यवस्थामें हो। जैसे किसीने कहा 'शब्द' नित्य है स्पर्शवान् न होनेसे, स्पर्शवाला 'घट' अनित्य देखा जाता है, 'शब्द' वैसा स्पर्शवाला नहीं, इसलिये शब्द नित्य है। यहाँ दृष्टान्तमें स्पर्शत्व और अनित्यत्वरूप धर्म साध्य-साधन-भूत नहीं है; क्योंकि परमाणु स्पर्शवान् है, किंतु अनित्य नहीं, नित्य है। ऐसे ही यदि कहें कि जो स्पर्शवान् नहीं वह नित्य है, जैसे 'आत्मा' तो यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि बुद्धि स्पर्शवाली नहीं किंतु नित्य नहीं, अनित्य है। इस कारण दोनों दृष्टान्तोंमें व्यभिचार आनेसे स्पर्शत्व न होना हेतु-सव्यभिचार हुआ।

(ख) विरुद्ध हेत्वाभास—सिद्धान्तको अङ्गीकार करके उसीका विरोधी जो हेतु है, वह विरुद्ध हेतु है। जैसे शब्द नित्य है; क्योंकि कार्य है। यह कार्य होना नित्यताका विरोधी है, न कि साधक।

(ग) प्रकरणसम हेत्वाभास— विचारके आश्रय अनिश्चित पक्ष और प्रतिपक्षको प्रकरण कहते हैं। उसकी चिन्ता संशयसे लेकर निर्णयतक जिस कारण की गयी है वही निर्णयके लिये काममें लाया जाय तो दोनों पक्षोंकी समतासे प्रकरणसे आगे नहीं बढ़ता, इसलिये प्रकरणसम हुआ। जैसे किसीने कहा कि 'शब्द' अनित्य है, तो नित्य धर्मका ज्ञान न होनेसे यह हेतु प्रकरणसम है। इससे दो पक्षोंमें किसी एक पक्षका निर्णय नहीं हो सकता; क्योंकि यदि शब्दमें नित्यत्वधर्मका ग्रहण होता तो प्रकरण ही नहीं बनता, अथवा अनित्यत्व धर्मका ज्ञान शब्दमें होता तो भी प्रकरण सिद्ध न होता। अर्थात् यदि दो धर्मोंमेंसे एकका भी ज्ञान होता तो 'शब्द अनित्य है कि नित्य'— यह विचार ही क्यों प्रवृत्त होता।

(घ) साध्यसम हेत्वाभास—स्वयं साधनीय होनेके कारण जो साध्यसे कोई विशेषता नहीं रखता वह साध्यसम है। जैसे 'छाया द्रव्य है' यह साध्य है, 'गतिवाला' होनेसे यह हेतु है, क्योंकि छायाका गतिमान् होना स्वयं साध्यकोटिमें है, इसलिये यह हेतु साध्यसे विशेष नहीं, इसलिये 'साध्य' के 'सम' हुआ; क्योंकि छायामें जैसे द्रव्यत्व साध्य है वैसे ही गति भी साध्य है।

(ङ) कालातीत हेत्वाभास—जिस अर्थका वर्णन समय चूककर किया गया हो उसे कालातीत कहते हैं। हेतुका काल वह है जब अर्थ संदिग्ध हो; किंतु जब अर्थ किसी प्रबल प्रमाणसे निश्चित हो, तो वहाँ हेतु उसे उलटकर कुछ सिद्ध नहीं कर सकता। जैसे कोई कहे कि 'अग्नि उष्ण नहीं है, क्योंकि द्रव्य है' तो यह हेतु कालातीत है; क्योंकि जब अग्निका उष्ण होना प्रत्यक्षसे निश्चित है तो यहाँ उष्ण न होना सिद्ध करनेके लिये हेतुका काल ही नहीं; क्योंकि अग्निका उष्ण न होना प्रत्यक्षसे बाधित है। अतएव नवीन नैयायिक कालातीतको बाधित भी कहते हैं।

१४ छल—अर्थको बदल देनेसे वादीके वचनका विघात करना छल है। अर्थात् वादीके कहनेका जो अभिप्राय है उससे विरुद्ध अभिप्राय लेकर उसपर आक्षेप करना छल है। यह छल तीन प्रकारका है—

(क) वाक्छल—साधारणरूपसे कहे हुए अर्थमें वक्ताके अभिप्रायसे विरुद्ध अन्य अर्थकी कल्पनाको वाक्छल कहते हैं। जैसे किसीने कहा कि 'यह बालक नवकम्बलवान् है' कहनेवालेका यहाँ आशय यह है कि 'इस बालकका कम्बल नया है'; पर छलवादी वक्ताके अभिप्रायसे विरुद्ध कहता है कि 'इस लड़केके पास तो केवल एक कम्बल है नौ कहाँ है'—नव शब्दके नवीन और नौ—ये दो अर्थ हैं। इस छलवादीकी रोक यह है कि नवकम्बल शब्द जो दो विशेष अर्थोंका एक सामान्य शब्द है, उसमें जो तुमने एक अर्थकी कल्पना कर ली है, इसका क्या हेतु है; क्योंकि बिना निश्चय किये अर्थ-विशेषका निश्चय नहीं हो सकता है कि यह अर्थ इसको अभिप्रेत है और वह विशेष तुम्हारे अर्थमें नहीं है, इसलिये यह तुम्हारा दूषण नहीं सिद्ध होता।

(ख) सामान्य छल—जो बात बन सकती है उसके स्थानमें अति समानताको लेकर एक बनती बातकी कल्पना सामान्य छल है। जैसे किसीने कहा 'यह ब्रह्मचारी विद्याविनयसम्पन्न है,' इस वचनका

खण्डन अर्थ-विकल्पसे ग्रहण तथा असम्भव अर्थकी कल्पनासे करना कि जैसे ब्रह्मचारीमें विद्याविनय-सम्पत्ति सम्भव है वैसा व्रात्य (यज्ञोपवीतके संस्कारसे हीन) में भी है तो व्रात्य भी ब्रह्मचारी है; क्योंकि वह भी विद्याविनयसम्पन्न है। इसका खण्डन यह है कि यह वाक्य प्रशंसार्थक है, इसलिये इससे असम्भव अर्थकी कल्पना नहीं हो सकती; ब्रह्मचारी सम्पत्तिका विषय है, इसका हेतु नहीं है।

(*ग*) *उपचार छल*—धर्मके अमुख्य प्रयोगमें मुख्य अर्थसे प्रतिषेध उपचार छल है। यहाँ 'धर्म' से अभिप्राय 'वृत्ति' का है। शब्दकी वृत्ति दो प्रकारकी है—मुख्य और अमुख्य। मुख्य अर्थमें मुख्य वृत्ति होती है; जैसे 'गङ्गायां स्नाति'—यहाँ गङ्गा शब्द मुख्य वृत्तिसे प्रवाहका बोधक है। मुख्य वृत्तिको 'शक्ति' कहते हैं। और 'गङ्गायां घोषः' यहाँ गङ्गा शब्द अमुख्य वृत्तिसे गङ्गातीरका बोधक है। अमुख्य वृत्तिको 'लक्षण' कहते हैं। जब लक्षण वृत्तिसे प्रयोग किया गया हो और मुख्य वृत्तिको लेकर कोई निषेध करे, जैसे कहा है गङ्गामें घोष, घोष तो उसके किनारेपर है तो यह उपचार छल है। अथवा जैसे किसीने कहा 'मचान चिल्ला रहे हैं।' इसका दूसरा खण्डन करता है कि मचानोंपर बैठे हुए पुरुष चिल्ला रहे हैं न कि मचान। मचान शब्दके मुख्य अर्थ लकड़ियोंसे बनी ऊँची बैठकके हैं, जो किसान खेतीकी रखवालीके लिये बना लेते हैं और उसमें शब्दकारिता असम्भव है; इसलिये अमुख्य वृत्ति (लक्षणा) से मञ्चपर बैठे पुरुष बोलते हैं यह वक्ताका अभिप्राय है। वादी इसके अभिप्रायको न लेकर शंका करता है कि मञ्चपर बैठे पुरुष बोलते हैं न कि मञ्च। यह उपचार छल है। इसका खण्डन यह है कि यहाँ मचान शब्द मुख्य नहीं, गौण है, मञ्चस्थ पुरुषोंके अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है। प्रधान और गौण शब्दका प्रयोग वक्ताकी इच्छापर होता है और अर्थ उसीके अभिप्रायसे लिया जाता है।

१५ जाति—साधर्म्य और वैधर्म्यसे प्रतिषेध (खण्डन) करनेको जाति कहते हैं। असत् उत्तर जाति है, जब कोई सच्चा उत्तर न सूझे तो साधर्म्य-वैधर्म्यको लेकर ही जो समय टाला जाता है वह जात्युत्तर होता है। जातिके चौबीस भेद हैं जो स्थानाभावसे यहाँ नहीं दिये जाते हैं।

१६ निग्रहस्थान (हारकी जगह)—विप्रतिपत्ति अर्थात् उलटा समझना या अप्रतिपत्ति अर्थात् प्रकरणके अज्ञानको निग्रहस्थान कहते हैं, अर्थात् विप्रतिपत्ति या अप्रतिपत्ति करनेसे पराजय होती है। प्रतिपत्तिका अर्थ प्रवृत्ति है; विपरीत अथवा निन्दित प्रवृत्तिको विप्रतिपत्ति कहते हैं और दूसरेसे सिद्ध किये पक्षका खण्डन न करना अथवा अपने पक्षपर दिये हुए दोषका समाधान न करना अप्रतिपत्ति है। निग्रहस्थान बाईस प्रकारका है। स्थानाभावसे उन भेदोंका यहाँ वर्णन नहीं किया जा सकता। निग्रहस्थानका साधारण लक्षण उत्तरका स्फुरण या उलटा स्फुरण समझ लेना चाहिये।

वैशेषिकदर्शनके नौ द्रव्योंके सदृश न्यायदर्शनके इन सोलह पदार्थोंमेंसे वास्तवमें मुख्य बारह प्रमेय ही हैं, जो प्रमाणद्वारा जानने योग्य हैं। अन्य सब पदार्थ प्रमेयका प्रमाणद्वारा ज्ञान करानेमें सहायक हैं।

प्रमेय

१ आत्मा—जिसके पहचानके लिये इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, ज्ञान और प्रयत्न लिङ्ग हैं। यही भोगता है।

२ शरीर—जो चेष्टा, इन्द्रियों और अर्थोंका आश्रय और भोगका स्थान है।

३–इन्द्रियाँ—घ्राण, रसना, चक्षु, त्वचा, श्रोत्र,— जिनके उपादान कारण क्रमसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश हैं। ये भोगके साधन (करण) हैं।

४–अर्थ—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द—जो पाँचों इन्द्रियोंके यथाक्रम भोगने योग्य विषय और पाँचों भूतोंके यथायोग्य गुण हैं।

५–बुद्धि, ज्ञान, उपलब्धि—ये तीनों पर्याय शब्द हैं। अर्थोंका भोगना अर्थात् अनुभव करना बुद्धि है।

६–मन—जिसका लिङ्ग एकसे अधिक ज्ञानेन्द्रियोंसे एक समयमें ज्ञान न होना है, जो सारी इन्द्रियोंका सहायक और सुख-दुःखादिका अनुभव करानेवाला है।

७–प्रवृत्ति—मन, वाणी और शरीरसे कार्यका आरम्भ होना प्रवृत्ति है।

८–दोष—प्रवृत्त करना जिनका लक्षण है वे राग, द्वेष और मोह तीन दोष हैं।

९–प्रेतभाव— पुनर्जन्म अर्थात् सूक्ष्म शरीरका एक स्थूल शरीर छोड़कर दूसरा धारण करना प्रेतभाव है।

१०–फल—प्रवृत्ति और दोषसे जो अर्थ उत्पन्न हो उसे फल कहते हैं। फल दो प्रकारका होता है, मुख्य और गौण। मुख्य फल सुख-दुःखका अनुभव है और सुख-दुःखके साधन शरीर, इन्द्रियाँ, विषय आदि गौण फल हैं। यहाँ दोनों फलोंके ग्रहण करनेके लिये अर्थ कहा है। राग, द्वेष और मोह जो दोष हैं, उनमेंसे मोह राग-द्वेषका कारण है और प्रवृत्ति फलकी उत्पादक है।

११–दुःख—जिसका लक्षण पीड़ा है। सुख भी दुःखके अन्तर्गत है; क्योंकि सुख बिना दुःखके नहीं रह सकता।

१२–अपवर्ग— दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति अपवर्ग है।

इन दोनों दर्शनोंके अनुसार आत्मा, आकाश, काल, दिशा, मन और (वायु, अग्नि, जल और पृथिवीके) परमाणु नित्य हैं; और शरीर, इन्द्रियाँ, चारों स्थूलभूत अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और इनसे बनी हुई सारी सृष्टि अनित्य है।

नित्य द्रव्य निरवयव होना चाहिये। आत्मा, आकाश, काल और दिशा विभु अर्थात् व्यापक होनेके कारण और मन तथा चारों भूतोंके परमाणु जो अणु हैं, अति सूक्ष्म होनेके कारण निरवयव होनेसे नित्य हैं। इस अंशमें विभु और अणु द्रव्य समान हैं किंतु अणु परिच्छिन्न, एकदेशीय होनेसे सक्रिय होते हैं और विभु व्यापक होनेसे निष्क्रिय। इस अंशमें अणु और विभु एक दूसरेसे विरोधी धर्मवाले हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, शरीर, इन्द्रियाँ तथा भूमण्डल आदि समस्त मूर्तिमान् पदार्थ अवयववाले, सक्रिय और अनित्य हैं। इन दोनों दर्शनोंने सांख्यके सदृश परमात्मतत्त्वको आत्मतत्त्वमें सम्मिलित कर दिया है अर्थात् उसका अलग वर्णन नहीं किया है। इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि इन्होंने उसके अस्तित्वको अस्वीकार किया है। ईश्वरीयज्ञान वेदको दोनों दर्शनोंने आगम (शब्द) प्रमाण माना है।

इस प्रकार परमात्मतत्त्वका अलग वर्णन न करनेका कारण यह है कि इन दोनों दर्शनोंने वेदान्तके समान 'हेयहेतु' अर्थात् दुःखका कारण अविद्या, मिथ्याज्ञान या अविवेक माना है। 'हान' अर्थात् दुःखका

अत्यन्त अभाव स्वरूप-अवस्थिति, अपवर्ग, निःश्रेय या ब्रह्म-प्राप्ति बतलाया है, किंतु 'हानोपाय' अर्थात् दुःख-निवृत्तिका साधन जहाँ वेदान्तने ब्रह्मज्ञान बतलाया है वहाँ इन दोनों दर्शनोंने जड और चेतनतत्त्वका विवेक अर्थात् तत्त्वज्ञान माना है।

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्गः ।

(न्याय १ । १ । २)

सोलह पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे मिथ्या-ज्ञान अर्थात् अविद्याका नाश होता है। मिथ्या-ज्ञानके नाशसे दोषों (राग, द्वेष, मोह) का नाश होता है। दोषोंके नाशसे प्रवृत्तिका नाश होता है। प्रवृत्तिके नाशसे जन्मका न मिलना और जन्मके न मिलनेसे सब दुःखोंका अभाव होता है। सब दुःखोंका अभाव हो अपवर्ग है।

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात् सुखदुःखे । (वैशेषिक ५ । २ । १५)

आत्मा, इन्द्रिय, मन और अर्थके सम्बन्धसे सुख-दुःख होते हैं।❀

तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखाभावः स योगः । (वैशे० ५ । २ । १६)

मनका आत्मामें स्थित होनेपर उसका (मनके कार्यका) जो अनारम्भ (कार्यका बंद कर देना) है, वह योग है, जो शरीरके दुःखके अभावका हेतु है।

अपसर्पणमुपसर्पणमशितपीतसंयोगाः कार्यान्तरसंयोगाश्चेत्यदृष्टकारितानि ।

(वैशे० ५ । २ । १७)

(यह जो मरनेके समय मनका पूर्वदेहसे) निकलना और (दूसरे देहमें) प्रवेश करना है तथा (जन्मसे ही) जो खाने-पीनेकी वस्तुओंके संयोग हैं तथा दूसरे शरीरका जो संयोग है, ये (सब मनुष्यके) अदृष्टसे कराये जाते हैं।

यहाँ अदृष्ट (धर्म-अधर्म) मीमांसकोंके अपूर्व और सांख्ययोगके कर्माशयके अर्थमें प्रयोग हुआ है।

तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः । (वैशे० ५ । २ । १८)

(तत्त्वज्ञानसे) उस (अदृष्ट) का अभाव हो जानेपर (पूर्व शरीरसे) संयोगका अभाव और नयेका प्रकट न होना मोक्ष है।

न्यायमञ्जरीमें मुक्तिके स्वरूपका इस प्रकारका वर्णन किया गया है—

स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः ।
ऊर्मिषट्कातिगं रूपं तदस्याहुर्मनीषिणः ॥
संसारबन्धनाधीनं दुःखक्लेशाद्यदूषितम् ।

मुक्त दशामें आत्मा अपने विशुद्ध (ज्ञान) स्वरूपमें प्रतिष्ठित और अखिल गुणोंसे विरहित रहता है। ऊर्मिका अर्थ क्लेशविशेष है। भूख-प्यास प्राणके, लोभ-मोह चित्तके, शीत और तप

❀ ऐसा ही उपनिषदोंमें बतलाया गया है—

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः । (कठोप०)

इन्द्रिय और मनसे युक्त आत्माको बुद्धिमान् भोक्ता कहते हैं।

शरीरके क्लेशदायक होनेसे ऊर्मि कहे जाते हैं। मुक्त आत्मा इन छः ऊर्मियोंके प्रभावको पार कर लेता है और दुःख-क्लेशादि सांसारिक बन्धनोंसे विमुक्त होता है। मुक्त अवस्थामें बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कारका मूलोच्छेद हो जाता है। आत्माके इस शुद्ध स्वरूपको वेदान्तमें बतलाया गया है **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तै० २ । १ । १) परब्रह्म सत्य ज्ञानस्वरूप और अनन्त है। यही सांख्य और योगका कैवल्य है। और वेदान्तकी शुद्ध, निर्गुण, निर्विशेष ब्रह्मके स्वरूपमें अवस्थिति है। सुख, दुःख, ज्ञान, प्रयत्न, धर्म, अधर्म आदि सांख्यमें बुद्धिके धर्म बतलाये गये हैं। किंतु न्याय (सूत्र १ । १०) और वैशेषिक (सूत्र ३ । २८) में बुद्धिको आत्मामें सम्मिलित करके आत्माके शवल स्वरूपको जडपदार्थोंसे भिन्न पहचान करनेके लिये उसके लिङ्ग (चिह्न) के रूपमें वर्णन किये गये हैं। यह भ्रममूलक शंका नहीं होनी चाहिये कि मुक्त अवस्थामें ज्ञानके न रहनेसे आत्मा एक जड पदार्थ रह जायगा; क्योंकि बुद्धिका धर्मरूप ज्ञान तो त्रिगुणात्मक जडप्रकृतिके तीनों गुणोंमें सत्त्वगुणका सात्त्विक प्रकाशरूप है; और आत्माका ज्ञान उससे अति विलक्षण चेतनरूप है; क्योंकि आत्मा स्वयं चैतन्यस्वरूप है। उससे प्रकाशित होनेके कारण बुद्धिमें चेतनताकी प्रतीति होती है। मुक्त अवस्थामें दुःख-सुख दोनोंका अभाव होता है, क्योंकि वास्तवमें तो दुःख-निवृत्तिका ही नाम सुख है। सुखके साथ राग लगा रहता है और वह बन्धनका कारण है। तथा—

'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (यो० सा० पा० १५)

क्योंकि (विषयसुखके भोगकालमें भी) परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःख बना रहता है और गुणोंके स्वभावमें भी विरोध है, इसलिये विवेकी पुरुषके लिये सब कुछ (सुख भी जो विषयजन्य है) दुःख ही है। त्रिगुणात्मक प्रकृतिके रजसमें दुःख है और सत्त्वमें सुख है। इसलिये सुखके बने रहनेमें गुणातीत अवस्था नहीं रह सकती। सुख विषय और विषयभोक्ता दोनोंकी अपेक्षा रखता है। इस कारण मुक्त अवस्थामें सुखके माननेसे निर्विशेष, निर्गुण, शुद्ध अद्वैतकी सिद्धि न हो सकेगी।

उपनिषदोंमें जहाँ ब्रह्मके साथ आनन्दका शब्द आया है वह ज्ञानके अर्थमें है। अथवा वे श्रुतियाँ शवल ब्रह्म अर्थात् अपर ब्रह्मकी सूचक हैं। और वह मुक्तिकी अवस्था शवल ब्रह्मकी प्राप्ति है जो पुनरावर्तिनी है और ब्रह्मलोकतक सूक्ष्म लोकोंके आनन्दको भोगना है। और जो सांख्य और योगके अनुसार सम्प्रज्ञातसमाधिका अन्तिम ध्येय है। इसलिये कैवल्यरूप और पुनरावर्तिनी रूप दो प्रकारकी मुक्ति है। जो जिसको अभिमत हो वह उसकी इच्छा करे और उसकी प्राप्तिके लिये यत्न करे।

कार्यकारण

प्रत्येक संहत्यकारी अर्थात् किसी प्रयोजनके लिये बनी हुई वस्तु, जैसे वस्त्र कार्य कहलाता है। बिना कारणके कोई कार्य नहीं हो सकता। यह कारण तीन प्रकारका होता है—

(१) *उपादान कारण*—जिससे वह वस्तु बनी हो, जैसे तन्तु जिससे वह वस्त्र बना है। यहाँ तन्तु वस्त्रका उपादान कारण है।

(२) *निमित्त कारण*—तन्तुओंका संयोग-विशेष करनेवाला जुलाहा निमित्त कारण है।

(३) *साधारण कारण*—तन्तुओंका ओतप्रोतरूपमें संयोग-विशेष तथा कर्घा आदि साधारण कारण हैं।

न्याय और वैशेपिकका सिद्धान्त

इन दोनों दर्शनोंका सिद्धान्त आरम्भिक उपादान कारण अर्थात् परमाणु-वाद है। इनके सिद्धान्तानुसार सारे स्थूल पदार्थोंके मूल उपादान कारण निरवयव सूक्ष्म परमाणु हैं। ऐसे दो परमाणुओंके आपसमें संयुक्त हो जानेसे द्व्यणुककी उत्पत्ति होती है, जो अणु परमाणुविशिष्ट होनेसे स्वयं अतीन्द्रिय होते हैं। ऐसे तीन द्व्यणुकोंके संयोगसे त्र्यणुक (त्रसरेणु या त्रुटि) की उत्पत्ति होती है, जो महत्परमाणुसे संयुक्त होनेसे जन्य पदार्थोंका उत्पादक तथा इन्द्रियगोचर होता है। घरके छतके छेदसे जब सूर्य-किरणें प्रवेश करती हैं, तब उनमें नाचते हुए जो छोटे-छोटे कण नेत्र-गोचर होते हैं, वे ही त्रसरेणु हैं। यथा—

जालान्तरगते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः। तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुः स उच्यते ॥

त्र्यणुकका महत्त्व द्व्यणुकोंकी संख्याके कारण उत्पन्न हुआ माना जाता है, न कि उनके अणु-परिमाणसे, चार त्रसरेणुओंके योगसे चतुरणुककी उत्पत्ति होती है, फिर स्थूल पदार्थोंकी इत्यादि। इस प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और उनके सारे स्थूल पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है। ये परमाणु उपादान कारण हैं और इनका विशेष रूपसे संयोग होना साधारण कारण है; और ईश्वर, जिसके ज्ञान और प्रेरणासे यह परमाणु विशेष रूपसे संयुक्त हो रहे हैं, वह और अदृष्ट (पुरुषका भोग और अपवर्ग अथवा कर्माशय) इनका निमित्त कारण है। इस प्रकार न्याय और वैशेषिकने सांख्यकी प्रकृति और महत्तत्त्वको जडतत्त्वके वर्णन करनेकी आवश्यकता न देखी। जिस प्रकार सांख्यने पाँच तन्मात्राओं और अहंकारको स्थूलभूतों और इन्द्रियों आदिका प्रकृति (उपादान कारण) माना है, इसी प्रकार न्याय और वैशेषिकने परमाणुओंको स्थूलभूत, शरीर और इन्द्रियोंका उपादान कारण माना है। किंतु जहाँ सांख्यने अहंकार और तन्मात्राओंको महत्तत्त्वकी विकृति (कार्य) माना है, वहाँ न्याय और वैशेषिकने मन और परमाणुओंको निरवयव होनेके कारण इनके अतिरिक्त इनके अन्य किसी कारण (प्रकृति) की खोज करनेकी आवश्यकता न समझी।

जिस प्रकार सांख्य और योगने स्थूलभूत और इन्द्रियोंको केवल विकृति (विकार) माना है, वैसे ही इन दोनों दर्शनकारोंने स्थूलभूत और इन्द्रियोंको मध्यम परिमाणवाला और अनित्य माना है।

सांख्यके तीनों गुणोंके परिणामके स्थानपर इन्होंने परमाणुओंका विशेष रूपसे संयोग ही साधारण (असमवायी) कारण माना है। तीसरा निमित्त कारण ईश्वर, चारों दर्शनकारों (न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग) को समान-रूपसे अभिमत है। यद्यपि उसको विशेष रूपसे वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं समझी है—जिस प्रकार सुवर्णसे बने हुए आभूषणकी परीक्षाके समय सुवर्णकारकी परीक्षा करनी बुद्धिमत्ता नहीं है। किंतु ईश्वरके अस्तित्वको तो सभी दर्शनकारोंने माना है यथा—

'क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवत्'

जिस प्रकार कुम्हार घटका बनानेवाला है उसी प्रकार ईश्वर जगत्का बनानेवाला है।

'ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्' (न्याय० ४। १। १९)

मनुष्योंके कर्मोंके फल जिसके हाथमें हैं वही ईश्वर है।

'संज्ञा कर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम् । प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञा कर्मणः' ।
(वैशेषिक २ । १ । १८)

इन सूत्रोंकी शंकरमिश्रने इस प्रकार व्याख्या की है—

संज्ञा नाम कर्म कार्यक्षित्यादि तदुभयम्, अस्मद्विशिष्टानामीश्वरमहर्षीणाम् सत्त्वेऽपि लिङ्गम् । घटपटादिसंज्ञानिवेशनमपि ईश्वरसंकेताधीनमेव । यः शब्दो यत्र ईश्वरेण संकेतितः स तत्र साधुः । तथा च सिद्धं संज्ञाया ईश्वरलिङ्गत्वम् । एवं कर्मापि ईश्वरे लिङ्गम् । तथा हि क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत् इति ।

संज्ञा अर्थात् नाम और कर्म अर्थात् पृथ्वी आदि कार्य ये दो चीजें हमसे बढ़कर एक विशिष्ट ईश्वर और महर्षि आदिके अस्तित्वको प्रमाणित करती हैं । घट, पट आदि नामसे वे ही पदार्थ किस प्रकार समझे जाते हैं । ईश्वरके संकेतसे । पृथ्वी, जल जब कार्य हैं, तब इनका कर्ता भी अवश्य होना चाहिये; वही ईश्वर है ।

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् । (वै० १ । १ । ३) में तद् शब्द ईश्वरका बोधक है ।

इन सूक्ष्म परमाणुओंको अवकाश देनेवाला एक व्यापक जडतत्त्व चाहिये था । उसके लिये न्याय और वैशेषिकने आकाश महान् परिमाणवाला मूल प्रकृति (प्रधान) के स्थानपर माना है । आकाशसे अतिरिक्त इन दोनों दर्शनकारोंने परमाणुओंके संयोगक्रम तथा परत्व-अपरत्व दिखलानेके लिये दिशा और कालको भी महत्परिमाणवाला माना है, जिनको सांख्य और योगने बुद्धिका निर्माण किया हुआ मानकर चौबीस तत्त्वोंमें सम्मिलित नहीं किया है ।

सांख्य तथा योगके सदृश ये दोनों दर्शन भी आत्माको विभु और शरीर, इन्द्रिय तथा मनसे पृथक् चेतन तत्त्व मानते हैं । आत्माको जड-तत्त्वसे भिन्न दिखलानेवाले चिह्न निम्न प्रकार बतलाये हैं—

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि । (वैशे० ३ । २ । ४)

प्राण, अपान, पलक मीचना-खोलना, जीवन, मनकी गति, एक इन्द्रियके प्रत्यक्षसे दूसरे इन्द्रियमें विकार उत्पन्न होना, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न आत्माके लिङ्ग (चिह्न) हैं ।

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् । (न्याय १ । १०)

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान आत्माके लिङ्ग (चिह्न, साधक) हैं ।

आत्मा शरीरसे भिन्न एक चेतन तत्त्व है; क्योंकि श्वासको बाहर निकालना, अंदर ले जाना, पलक झपकाना आदि क्रियाएँ उसी समयतक रहती हैं, जबतक उसका आत्मासे संयोग रहता है । आत्मासे संयोग छूटनेपर मृतक शरीरमें क्रियाएँ नहीं होतीं । इसलिये जहाँ ये क्रियाएँ हों, वहाँ आत्माका होना सिद्ध होता है ।

योग और सांख्यने बुद्धि अर्थात् चित्तको पृथक् तत्त्व माना है, किंतु न्याय और वैशेषिकने इसको आत्मामें ही सम्मिलित करके आत्माके शबल स्वरूपके धर्म, ज्ञान, प्रयत्न आदि बतलाये हैं। इसलिये जहाँ सांख्य और योगने आत्माको ज्ञान अथवा चेतनस्वरूप माना है वहाँ न्याय और वैशेषिकने ज्ञान और प्रयत्न आदि धर्मवाला माना है; क्योंकि ज्ञान और प्रयत्न आदिको आत्माका धर्म माने बिना वैशेषिकके

लक्षणानुसार (शुद्ध) आत्माका अस्तित्व इनके प्रमाण और लक्षणसे सिद्ध नहीं हो सकता था; क्योंकि उनके लक्षणानुसार द्रव्य या तो समवायीकरण हो, जैसे परमाणु स्थूल भूतोंके; या क्रियावाला हो जैसे मन तथा परमाणु; या गुणवाला हो जैसे आकाश शब्दगुणवाला है।

चेतन स्वरूप आत्मामें ये तीनों धर्म न होनेसे वैशेषिक और न्यायके लक्षणानुसार जो केवल भौतिक पदार्थोंके वास्तविक स्वरूपको बतलाते हैं, आत्माका वास्तविक स्वरूप नहीं सिद्ध हो सकता था। इसलिये इन्होंने बुद्धि (चित्त) को आत्मामें सम्मिलित करके उसके (बुद्धिके) धर्म, ज्ञान, प्रयत्न आदिसे आत्माके शबल स्वरूपका अस्तित्व बुद्धिके साथ सिद्ध किया है।

वैशेषिक सूत्र (३ । २ । ४) और न्याय सूत्र (१ । १०) में बतलाये हुए लिङ्ग आत्माके धर्म नहीं हैं और न इनका आत्माके साथ समवाय सम्बन्ध है। यह आत्माका शरीरके साथ अस्तित्व बतलानेके लिये केवल चिह्न मात्र हैं। जैसे रामके मकानको निर्देश करनेके लिये यह कहा जाय 'जिस मकानमें आमका वृक्ष है वही रामका मकान है' इन दोनों सूत्रोंमें आत्माके सगुण अर्थात् शबल स्वरूपको बतलाया है। जिसकी संज्ञा जीव है। क्योंकि प्राण, अपान, पलक मींचना, पलक खोलना, जीवन, यह सब प्राणके धर्म हैं। मनकी गति मनका धर्म है। इन्द्रियोंका विकार इन्द्रियोंका धर्म है। इच्छा, द्वेष, दुःख, सुख, प्रयत्न और ज्ञान बुद्धिके धर्म हैं। ये सब तीनों गुणोंके कार्योंके धर्म गुणरूप ही हैं। इसी बातको गीता अध्याय ५ के ८ वें तथा ९ वें श्लोकोंमें बताया गया है।

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्। पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥८॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥९॥

तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, आँखोंको खोलता हुआ और मीचता हुआ भी सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें वर्त रही हैं। इस प्रकार समझता हुआ निःसंदेह ऐसे माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।

आत्माका शुद्ध स्वरूप वैशेषिकके सूत्र (७ । १ । २२) में बताया गया है।

विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा। (वै० ७ । १ । २२)

विभु धर्मवान् महान् है आकाश वैसे (ज्ञानस्वरूप) आत्मा है। वैशेषिकके इस सूत्रके अनुसार ही श्रुति-स्मृतियोंमें आत्माके शुद्ध ज्ञानस्वरूपको व्यापक और निष्क्रिय ही माना है। यथा—

आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः। (छान्दोग्य० ३ । १४ । ३)

आकाशके समान आत्मा व्यापक और नित्य है।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः। (गीता २ । २४)

यह आत्मा नित्य व्यापक स्थाणु तथा निष्क्रिय और सनातन है।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते। सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः । क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥
(गीता १३ । ३२-३३)

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त हुआ आकाश (भी) सूक्ष्म होनेसे लिपायमान नहीं होता है, वैसे ही सर्वत्र देहमें स्थित हुआ (भी) आत्मा गुणातीत होनेके कारण देहके गुणोंसे लिपायमान नहीं होता है।

हे अर्जुन ! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है।

आत्माके शबल स्वरूपकी पिण्डरूप व्यष्टि शरीरोंमें सिद्धिसे सामान्यतोदृष्ट प्रमाणद्वारा परमात्माके शबल स्वरूपकी ब्रह्माण्डरूप समष्टि जगत्‌में सिद्धि होती है।

वैशेषिक और न्यायमें योगसाधनकी शिक्षा

आत्मा तथा परमात्माका अस्तित्व प्रमाण और लक्षणसे सिद्ध करनेके पश्चात् इन दोनों दर्शनकारोंने न केवल आत्मा और परमात्माका, किंतु अतीन्द्रिय जड पदार्थोंका भी वास्तविक स्वरूप जाननेके लिये योग-साधनाका ही सहारा बतलाया है। यथा—

आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम् । (वैशेषिक ९ । १ । ११)

आत्मामें आत्मा और मनके संयोगविशेषसे आत्माका प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् आत्मा और मनका योग-समाधिद्वारा जब संयोग प्रत्यक्ष होता है, तब उस संयोगविशेषसे आत्माका प्रत्यक्ष होता है।

तथा द्रव्यान्तरेषु प्रत्यक्षम् । (वैशे० ९ । १ । १२)

इसी प्रकार अन्य (सूक्ष्म अतीन्द्रिय) द्रव्योंका प्रत्यक्ष होता है।

असमाहितान्तःकरण उपसंहृतसमाधयस्तेषां च । (वैशे० ९ । १ । १३)

युक्त योगी जो समाधिको समाप्त कर चुके हैं उनके लिये (अतीन्द्रिय द्रव्योंका) बिना समाधिके भी प्रत्यक्ष होता है।

तत्समवायात् कर्मगुणेषु । (वैशे० ९ । १ । १४)

उन (द्रव्यों) में समवेत होनेसे कर्म गुणोंमें (युक्त और युञ्जान दोनों प्रकारके योगियोंको भी प्रत्यक्ष होता है)।

आत्मसमवायात्मगुणेषु । (वैशे० ९ । १ । १५)

आत्मामें समवेत होनेसे आत्माके गुणोंका प्रत्यक्ष होता है।

समाधिविशेषाभ्यासात् । (न्याय० ४ । २ । ३८)

समाधिविशेषके अभ्याससे (तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है)।

अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः । (न्याय० ४ । २ । ४२)

वन, गुहा और नदी-तीर आदि स्थानोंमें योगाभ्यासका उपदेश (किया जाता है)।

तदभावश्चापवर्गे । (न्याय० ४ । २ । ४५)

और मोक्षमें उसका (इन्द्रिय और अर्थके आश्रयभूत शरीरका) अभाव होता है।

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः । (न्याय० ४ । २ । ४६)

उस मोक्षके लिये यम और नियमोंसे तथा अभ्यासविधिके उपायोंद्वारा योगसे आत्माका संस्कार करना चाहिये अर्थात् योगके प्रतिबन्धक मल-विक्षेप और अवतरणको हटाना चाहिये।

चौथा प्रकरण

सांख्य और योगदर्शन

सांख्य और योग भारतवर्षकी प्राचीन प्रसिद्ध वैदिक तथा वेदान्त फ़िलासफ़ी है, जिसने सारे भूमण्डलके विद्वानोंको विस्मित कर दिया है।

परमात्मा (चेतनतत्त्व) के निर्गुण शुद्ध स्वरूपका वर्णन उपनिषदोंमें विस्तापूर्वक किया गया है, इसलिये उपनिषदोंको वेदान्त कहते हैं। ज्ञानका अन्त अर्थात् जिसके जाननेके पश्चात् कुछ जानना शेष न रहे। योग और सांख्यमें उसके जाननेके साधन विशेषरूपसे बतलाये गये हैं, इसलिये सांख्य और योग ही प्राचीन वेदान्त फ़िलासफ़ी है। यथा—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

(श्वेता० ६।१६)

नित्योंका नित्य, चेतनोंका चेतन जो अकेला ही बहुतोंकी कामनाओंको पूरा करता है, उस देवको जो (सृष्टि आदिका निमित्त) कारण है और जो सांख्य और योगद्वारा ही जाना जा सकता है जानकर (मनुष्य) सारी फाँसोंसे छूट जाता है।

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥

(मु० ३ ख० २ मं० ६)

वेदान्तके विज्ञानका उद्देश्य जिन्होंने ठीक-ठीक निश्चय कर लिया है और जो यतिजन संन्यास (सांख्य) और योगसे शुद्ध अन्तःकरणवाले हैं, वे लोग सबसे उत्तम अमृतको भोगते हुए मरनेके समय ब्रह्मलोकोंमें स्वतन्त्र हो जाते हैं। तथा—

नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम्।

सांख्यके समान और कोई दूसरा ज्ञान नहीं है और योगके समान और कोई दूसरा बल नहीं है।

द्वौ क्रमौ चित्तनाशाय योगो ज्ञानं च राघव। योगो वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्॥
असाध्यः कस्यचिद्योगो ज्ञानं कस्यचिदेव च। प्रकारौ द्वौ ततः साक्षाज्जगाद परमः शिवः॥

(योगवासिष्ठ)

हे राम! चित्तका नाश करनेके लिये केवल दो निष्ठाएँ बतलायी गयी हैं—योग और सांख्य। योग चित्तवृत्तिनिरोधसे प्राप्त किया जाता है और सांख्य सम्यग् ज्ञानसे। किसी-किसीके लिये योग कठिन होता है और किसी-किसीको सांख्य। इस कारण परम शिवने योग और सांख्य दोनों ही मार्गोंको बतलाया है।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥
(गीता ३। ३)

हे निष्पाप अर्जुन! इस मनुष्यलोकमें मैंने पुरातन कालमें (कपिल मुनि और हिरण्यगर्भरूपसे) दो निष्ठाएँ बतलायी हैं। (कपिल मुनिद्वारा बतलायी हुई) सांख्ययोगियोंकी निष्ठा ज्ञानयोगसे होती है और (हिरण्यगर्भरूपसे बतलायी हुई) योगियोंकी निष्ठा निष्काम कर्मयोगसे (और भक्ति योगसे) होती है। यथा—

सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते। हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यो पुरातनः॥
(महाभारत)

सांख्यके वक्ता परम ऋषि कपिल हैं और योगके वक्ता हिरण्यगर्भ हैं। इनसे पुरातन इनका वक्ता और कोई नहीं। यद्यपि ये दोनों फ़िलासफ़ी अलग-अलग नामसे वर्णन की गयी हैं, किन्तु वास्तवमें दोनों एक ही हैं। यथा—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते। एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥
(गीता ५। ४-५)

सांख्य और योगको पृथक्-पृथक् अविवेकी लोग ही जानते हैं न कि पण्डित लोग। इन दोनोंमेंसे एकका भी ठीक अनुष्ठान कर लेनेपर दोनोंका फल मिल जाता है। सांख्ययोगी जिस शुद्ध परमात्मस्वरूपका लाभ करते हैं योगी भी उसीको पाते हैं। जो सांख्य और योगको एक जानता है, वही तत्त्ववेत्ता है। किंतु इन दोनोंमें सांख्य किंचित् कठिन है। यथा—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः। योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥
(गीता ५। ६)

किन्तु हे अर्जुन! बिना योगके सांख्य साधनरूपमें कठिन है। योगसे युक्त होकर मुनि शीघ्र ही ब्रह्मको प्राप्त कर लेते हैं।

जिस प्रकार सत्त्व, रजस् और तमस्—इन तीनोंमेंसे प्रत्येक गुण बिना अन्य दो की सहायताके अपना कोई भी कार्य स्वतन्त्ररूपसे प्रारम्भ नहीं कर सकते उसी प्रकार ज्ञान, कर्म और उपासना भी अपने-अपने कार्यमें परस्पर एक दूसरेके सहयोगकी अपेक्षा रखते हैं। सांख्यनिष्ठामें ज्ञान प्रधान है तथा कर्म और उपासना गौण एवं योगनिष्ठामें कर्म और उपासनाकी प्रधानता है।

सांख्य और योग दोनों आरम्भमें एक ही स्थानसे चलते हैं और अन्तमें एक ही स्थानपर मिल जाते हैं, किंतु योग बीचमें थोड़ेसे मार्गसे घुमाववाली पक्की सड़कसे चलता है और सांख्य सीधा कठिन रास्तेसे जाता है।

सांख्य और योगमें बहिर्मुख होकर संसारचक्रमें घूमनेके कारण अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेश तथा सकाम कर्म बतलाये गये हैं और इसी क्रमानुसार अन्तर्मुख होनेके साधन-अष्टाङ्ग योग अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि है।

योगद्वारा अन्तर्मुख होना—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार—ये पाँच बहिरङ्ग साधन हैं और धारणा, ध्यान, समाधि अन्तरङ्ग साधन हैं। ये तीनों धारणा, ध्यान, समाधि भी असम्प्रज्ञात समाधि (स्वरूपावस्थिति) के बहिरङ्ग साधन हैं। उसका अन्तरङ्ग साधन नेति-नेतिरूप पर-वैराग्य है, जिसके द्वारा चित्तसे अलग आत्माको साक्षात्कार करानेवाली विवेकख्यातिरूप सात्त्विक वृत्तिका भी निरोध होकर (शुद्ध चैतन्य) स्वरूपावस्थितिका लाभ होता है।

सांख्यद्वारा अन्तर्मुख होना—अष्टाङ्ग योगके पहले पाँच बहिरङ्ग साधन सांख्य और योगमें समान हैं, किंतु जहाँ योगमें सालम्बन अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधिद्वारा किसी विषयको ध्येय बनाकर अन्तर्मुख होते हैं, वहाँ सांख्यमें निरालम्ब अर्थात् बिना किसी विषयको ध्येय बनाकर अन्तर्मुख होते हैं। उसमें धारणा, ध्यान और समाधिके स्थानमें चित्त और उसकी वृत्तियाँ दोनों ही त्रिगुणात्मक हैं, इसलिये 'गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं' इस भावनासे आत्माको चित्तसे पृथक् अकर्त्ता केवल शुद्ध स्वरूपमें देखना होता है। 'यह आत्मसाक्षात्कार करानेवाली विवेकख्यातिरूप एक गुणोंकी ही सात्त्विक वृत्ति है।' इस प्रकार पर-वैराग्यद्वारा इस वृत्तिके निरोध होनेपर (शुद्ध चैतन्य) स्वरूपावस्थितिको प्राप्त होते हैं।

योगमें उत्तम अधिकारियोंके लिये असम्प्रज्ञात समाधि-लाभका विशेष उपाय ईश्वर-प्रणिधान—यह ओ३म्‌की मात्राओंद्वारा उपासना है अर्थात् ओ३म्‌के अर्थोंकी भावना करते हुए वाणीसे जाप करना एक मात्रावाले अकार ओम्‌की उपासना है। इसमें स्थूलशरीरका अभिमान रहता है, इसलिये स्थूल शरीरके सम्बन्धसे जो आत्माकी संज्ञा विश्व है; वह उपासक होता है और स्थूल जगत्‌के सम्बन्धसे जो परमात्माकी संज्ञा विराट् है, वह उपास्य होता है।

ओ३म्‌के मानसिक जापमें अकार, उकार दो मात्रावाले ओ३म्‌की उपासना होती है। इसमें सूक्ष्म शरीरका अभिमान रहता है, इसीलिये सूक्ष्म शरीरके सम्बन्धसे जो आत्माकी संज्ञा तैजस है, वह उपासक होता है और सूक्ष्म जगत्‌के सम्बन्धसे जो परमात्माकी संज्ञा हिरण्यगर्भ है, वह उपास्य होता है। जब मानसिक जाप भी सूक्ष्म होकर केवल ओ३म्‌का ध्यान (ध्वनि) ही रह जाय तो यह अकार, उकार, मकार तीनों मात्रावाले पूरे ओ३म्‌की उपासना है। इसमें कारण-शरीरका अभिमान रहता है। इसलिये कारणशरीरके सम्बन्धसे आत्माकी जो संज्ञा प्राज्ञ है, वह उपासक होता है और कारण-जगत्‌के सम्बन्धसे जो परमात्माकी संज्ञा ईश्वर है, वह उपास्य होता है। जब यह तीन मात्रा-वाली ध्यानरूप वृत्ति भी सूक्ष्म होते-होते निरुद्ध हो जाय तो अमात्र विराम रह जाता है। यह कारण-शरीर और कारण-जगत् दोनोंसे परे शुद्ध परमात्मप्राप्तिरूप स्वरूपावस्थिति है, जो प्राणिमात्रका अन्तिम ध्येय है।

सांख्यमें उत्तम अधिकारियोंके लिये असम्प्रज्ञात-समाधि-लाभका विशेष उपाय **'ध्यानं निर्विषयं मनः'**,—इसके द्वारा जो वृत्ति आये उसको हटाना होता है। अन्तमें सब वृत्तियाँ रुक जानेपर निरोध करनेवाली वृत्तिका भी निरोध करके स्वरूपावस्थितिको प्राप्त करना होता है। योगका, भक्तिका लंबा मार्ग सुगम है। यह सांख्यके ज्ञानका छोटा मार्ग उससे कठिन है।

कार्यक्षेत्रमें सांख्य और योगका व्यवहार—

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्। (योगद० ४।७)

योगियोंका कर्म न पापमय होता है न पुण्यमय; क्योंकि योगीके लिये तो पापकर्म सर्वथा त्याज्य ही है और कर्त्तव्यरूप पुण्यकर्म वह आसक्ति, लगाव, ममता और अहंताको छोड़कर निष्कामभावसे करता है। इसलिये बन्धनरूप न होनेसे अकर्मरूप ही है। साधारण अयोगी लोगोंके कर्म पाप, पुण्य और पापपुण्यसे मिश्रित तीन प्रकारके होते हैं। यह सूत्र सांख्य और योग दोनोंके लिये समान है; किंतु योगी कर्म और उसके फलको ईश्वरके समर्पण करके आसक्तिको त्यागते हैं और सांख्ययोगी गुण गुणोंमें बरत रहे हैं, आत्मा अकर्त्ता है, इस प्रकार इसके लगावसे मुक्त रहते हैं। योगकी उपासना अर्थात् भक्तिका मार्ग लंबा किंतु सुगम है। सांख्यके ज्ञानका मार्ग छोटा किंतु कठिन है।

योगियोंका कार्यक्षेत्रमें व्यवहार—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि। योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्। अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥

(गीता ५। १०—१२)

कर्मोंको ईश्वरके समर्पण करके और आसक्तिको छोड़कर जो कर्म करता है, वह पानीमें पद्मके पत्तेके सदृश पापसे लिप्त नहीं होता ॥ १० ॥ योगी फलकी कामना और कर्त्तापनके अभिमानको छोड़कर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये केवल शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे कर्म करते हैं ॥ ११ ॥ योगी कर्मके फलको त्यागकर परमात्मप्राप्तिरूप शान्तिको लाभ करते हैं। अयोगी कामनाके अधीन होकर फलमें आसक्त हुआ बँधता है ॥ १२ ॥

सांख्ययोगियोंका कार्यक्षेत्रमें व्यवहार—

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः। गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥

(गीता ३। २८)

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्। पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥

(गीता ५। ८-९)

'हे महाबाहो! गुणविभाग (अर्थात् सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंके जो बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियादि ग्रहण और पाँचों विषयादि ग्राह्यरूप हैं और कर्मविभाग (अर्थात् उनकी परस्परकी चेष्टाएँ) को तत्त्वसे जाननेवाला' गुण गुणोंमें बरत रहे हैं (अर्थात् ग्रहण और ग्राह्यरूप तीनों गुणोंके परिणामोंमें ही व्यवहार हो रहा है, आत्मा अकर्त्ता है) ऐसा जानकर कर्म और उनके फलोंमें आसक्त नहीं होता' ॥२८॥ तत्त्ववेत्ता सांख्ययोगी देखता हुआ, सुनता हुआ, छूता हुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ, चलता हुआ, सोता हुआ, साँस लेता हुआ, बोलता हुआ, छोड़ता हुआ, पकड़ता हुआ, आँख खोलता हुआ और मीचता हुआ भी

ऐसा ही समझता है कि मैं कुछ भी नहीं करता। सब चेष्टाओंमें केवल इन्द्रियाँ ही अपने-अपने विषयोंमें प्रवृत्त हो रही हैं। (आत्मा इनका द्रष्टा, इनसे पृथक् निर्लेप है) ॥ ८, ९ ॥

सांख्य और योगकी उपासना—परमात्माका शुद्ध स्वरूप तीनों पुरुषों और तीनों लिङ्गोंसे परे है; किंतु व्यवहार-दशामें उसका संकेत किसी-न-किसी लिङ्ग और पुरुषद्वारा ही हो सकता है।

योगद्वारा उपासना—योगद्वारा उसकी उपासना अन्य आदेश अर्थात् प्रथम और मध्यम पुरुष-द्वारा की जाती है। यथा—

प्रथम पुरुषद्वारा—

ईशा वास्यमिदꣲ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

(ईशोप० १। १, यजु० ४०। १)

यह जो कुछ स्थावर और जङ्गम जगत् है, वह ईश्वरसे आच्छादनीय है अर्थात् सबमें ईश्वरको व्यापक समझना चाहिये। उसका त्यागभावसे भोग करना चाहिये अर्थात् ईश्वरसमर्पण करके व्यवहार करे। लालच न करे, अर्थात् आसक्ति न होने दे। धन किसका है ? अर्थात् किसीका नहीं।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥

(ईशा० ५)

वह हिलता है, वह नहीं हिलता है। वह दूर है, वह निश्चयसे समीप है। वह इस सबके अंदर है, वह निश्चय ही इस सबके बाहर है।

मध्यम पुरुषद्वारा—

उत वाप पिताऽसि न उत भ्रातोत नः सखा सनो जीवात वे कृधि।

(ऋग्वेद १०। १८६)

हे परमात्मन्! तू हमारा पिता है, तू भ्राता है, तू ही सखा है। हे प्रभो! हमारा आयुष्य बढ़ाओ।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

आप ही माता हैं, आप ही पिता हैं, आप ही बन्धु हैं और आप ही सखा हैं। आप ही विद्या हैं, आप ही द्रव्य हैं, हे देवोंके देव! आप ही मेरे सब कुछ हैं।

तत्त्वमसि।

"वह तू है" यहाँ "त्वम्" मध्यम पुरुष उस शुद्ध परमात्मतत्त्वका निर्देश करता है, जो सबके अंदर व्यापक हो रहा है और जहाँतक पहुँचना प्राणीमात्रका अन्तिम ध्येय है।

सांख्यद्वारा उपासना—सांख्यद्वारा उसकी उपासना अहंकारादेश अर्थात् उत्तम पुरुषद्वारा और आत्मादेश अर्थात् आत्माद्वारा की जाती है।

यथा—

उत्तम पुरुषद्वारा—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥
(गीता १०। २०)

हे अर्जुन! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित आत्मा हूँ। मैं ही सब भूतोंकी उत्पत्ति, स्थिति और संहाररूप हूँ।

अहं ब्रह्मास्मि।

"मैं ब्रह्म हूँ" यहाँ "अहम्" उत्तम पुरुष उस त्रिगुणात्मक अहंकारको नहीं बतला रहा है, जो त्रिगुणात्मक महत्तत्त्वकी विकृति है और न उसके साथ चेतन तत्त्वके सम्मिश्रणको जिसकी संज्ञा जीव है; किंतु शुद्ध परमात्मतत्त्वका निर्देश कर रहा है, जो हमारे सबके अंदर व्यापक हो रहा है, जो असम्प्रज्ञात समाधि तथा कैवल्यकी अवस्थामें शेष रह जाता है, जो हमारा अन्तिम लक्ष्य है। अर्थात् जहाँतक हमको पहुँचना है, वही हमारा वास्तविक स्वरूप हो सकता है। किंतु हमारा सारा व्यवहार त्रिगुणात्मक अहंकार-द्वारा ही किया जा सकता है। रज और तम बन्धनमें डालनेवाले होते हैं और केवल सत्त्व बन्धनसे छुड़ानेवाला है। इसलिये यहाँ सात्त्विक अहंकारके राजसी, तामसी, अंशको हटाया जा रहा है। राजसी, तामसी अहंकार नष्ट होनेके पश्चात् केवल सात्त्विक अहंकार शेष रह जाता है। यह एक प्रकारसे विवेक-ख्यातिकी अवस्था है। जिस प्रकार विवेक-ख्याति अन्य सब वृत्तियोंके निरोधपूर्वक स्वयं भी निरुद्ध हो जाती है, इसी प्रकार यहाँ भी सात्त्विक अहंकार राजसी, तामसी अहंकारको नष्ट करनेके पश्चात् स्वयं भी निवृत्त हो जाता है। इस अहंकारके सर्वथा अभावरूप असम्प्रज्ञात समाधि अथवा कैवल्यकी अवस्थामें जो शुद्ध परमात्मतत्त्व शेष रह जाता है उसीको निर्देश करानेके लिये यह अहंकारादेश है।

आत्माद्वारा—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥
(कठ० २। ५। ६, १०-११)

जिस प्रकार एक ही अग्नि नाना भुवनोंमें प्रविष्ट होकर उनके प्रतिरूप (उन-जैसा रूपवाला) हो रही है, इसी प्रकार एक ही सब भूतोंका अन्तरात्मा नाना प्रकारके रूपोंमें उन-जैसा रूपवाला हो रहा

है और उनसे बाहर भी है। जिस प्रकार एक ही वायु नाना भुवनोंमें प्रविष्ट होकर उनके प्रतिरूप अर्थात् उन-जैसा रूपवाला हो रहा है, उसी प्रकार एक ही सब भूतोंका अन्तरात्मा नाना प्रकारके रूपोंमें प्रतिरूप (उन-जैसा रूपवाला) हो रहा है और उनसे बाहर भी है। जिस प्रकार सूर्य सब लोकोंका चक्षु होकर भी आँखोंके बाह्य दोपसे लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार एक ही सब भूतोंका अन्तरात्मा लोकके बाह्य दुःखोंसे लिप्त नहीं होता; क्योंकि वह उनसे बाहर है।

अयमात्मा ब्रह्म ।

"यह आत्मा ब्रह्म है" यहाँ "आत्मा" शब्द जीवात्माके लिये नहीं है बल्कि त्रिगुणात्मक तीनों शरीरोंके परित्यागपूर्वक, शुद्ध आत्मातत्त्वका निर्देश करता है।

प्रथम पुरुप, मध्यम पुरुप, उत्तम पुरुप और आत्मा क्रमशः एक दूसरोंसे अधिक समीपताके सूचक हैं; किंतु कर्म और भक्तिप्रधान योग साधारण मनुष्योंको ज्ञानप्रधान सांख्यसे अधिक आकर्षक और सुगम प्रतीत होता है। पर भक्ति और कर्म भी अपनी अन्तिम सीमापर पहुँचकर ज्ञानका रूप ही धारण कर लेते हैं।

यथा—

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वाघास्या अहम् । स्युष्टे सत्या इहाशिषः ॥

(ऋ० ६ । ३ अ० । ४० वर्ग २३)

हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! यदि मैं तू हो जाऊँ और तू मैं हो जाय अर्थात् द्वैतभाव मिटकर एकत्वभाव उत्पन्न हो जाये तो तेरा आशीर्वाद संसारमें सत् हो जाय।

यथा—

जब मैं था तब तू न था तू पायो मैं नाय।
प्रेम गली अति सांकरी, तामें द्वै न समाय ॥

इस प्रकार सांख्य और योगमें बीचके मार्गमें थोड़ा-सा ही अन्तर है।

सांख्यदर्शन

गीतामें सांख्यको ज्ञानयोग तथा संन्यासयोगके नामसे भी वर्णन किया गया है। सांख्य नाम रखनेका यह भी कारण हो सकता है कि इसमें गिने हुए पचीस तत्त्व माने गये हैं।

सांख्य नामकरणका रहस्य इसके एक विशिष्ट सिद्धान्त 'प्रकृतिपुरुषान्यताख्याति' में भी छिपा हुआ है; क्योंकि 'प्रकृतिपुरुषान्यताख्याति' या 'प्रकृतिपुरुषविवेक' का ही दूसरा नाम 'संख्या = सम्यक्

ख्याति = सम्यक् ज्ञान = विवेकज्ञान' है । किसी वस्तुके विषयमें तद्गत दोषों तथा गुणोंकी छानबीन करना भी 'संख्या' कहलाता है ।

यथा—

दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः ।
कञ्चिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम् ॥ (महाभारत)

संख्याका अर्थ आत्माके विशुद्ध रूपका ज्ञान भी किया गया है ।

यथा—

शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते ।
(शङ्करविष्णुसहस्रनाम-भाष्य)

सांख्य-प्रवर्तक—कपिलमुनि

सांख्यके प्रवर्तक श्रीकपिलमुनि हुए हैं और योगदर्शनके निर्माता श्रीपतञ्जलिमुनि । कपिलमुनि आदि विद्वान् और प्रथम दर्शनकार हैं ।

यथा—

सिद्धानां कपिलो मुनिः । (गीता १० । २६)

सिद्धोंमें कपिल मुनि हूँ ।

ऋषिप्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति । (श्वेता० उप०)

जो पहले उत्पन्न हुए कपिल मुनिको ज्ञानसे भर देता है तथा—

आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच । (पञ्चशिखाचार्य)

आदिविद्वान् (पहले दर्शनकार) भगवान् परम ऋषि (कपिल) ने निर्माणचित्त (सांसारिक संस्कारोंसे शून्य) के अधिष्ठाता होकर जिज्ञासा करते हुए आसुरिको दयाभावसे (सांख्य) शास्त्रका उपदेश दिया ।

सर्गादावादिविद्वानत्र भगवान् कपिलो महामुनिर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यसम्पन्नः प्रादुर्बभूव ।
(वाचस्पति मिश्र)

सृष्टिके आदिमें आदि-विद्वान् पूजनीय महामुनि कपिल धर्म-ज्ञान-वैराग्य और ऐश्वर्यसे सम्पन्न प्रकट हुए ।

सांख्यके प्रसिद्ध प्राचीन आचार्य

आदिविद्वान् भगवान् कपिल मुनिके पश्चात् विज्ञानभिक्षुके समयतक सांख्यके निम्नलिखित प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं—

आसुरिमुनि, पञ्चशिखाचार्य, पतञ्जलि, जैगीषव्याचार्य, वार्षगण्याचार्य, विन्ध्यवासी (रुद्रिल) जनक, पराशर (वादरी), व्यास, ईश्वरकृष्ण आर्य। कई लेखकोंने निम्नलिखित नामोंको भी सांख्य आचार्योंमें सम्मिलित किया है—

भार्गव, उलूक, वाल्मीकि, हारीत, देवल (माठर वृत्तिका० ७१), वाद्धलि, कैरात, पौरिक, ऋषभेश्वर, पञ्चाधिकरण, कौण्डिन्य, मूक (युक्तिदीपिका का० ७१) गर्ग, गौतम, (जयमङ्गला)

सांख्यके मुख्य ग्रन्थ

सांख्यके बहुत-से प्राचीन ग्रन्थ इस समय लुप्त हैं। कई एकके केवल नाम ही मिलते हैं।

(१) *परम ऋषि कपिल मुनिप्रणीत 'तत्त्वसमास'*—इसके वर्त्तमान समयमें केवल बाईस सूत्र मिलते हैं। वास्तवमें इसीको सांख्यदर्शन कहना चाहिये। इसका उपदेश भगवान् कपिलने आसुरि जिज्ञासुको किया था और भगवान् कपिल-जैसे आदिविद्वान्द्वारा आसुरि-जैसे जिज्ञासुके लिये साक्षात्कारपर्यन्त इन्हीं सूत्रोंका उपदेश परमार्थक हो सकता है। आसुरिके बनाये हुए किसी विशेष ग्रन्थका तो पता नहीं चलता, किंतु उनके सिद्धान्तका वर्णन प्राचीन ग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है। स्याद्वादमञ्जरीमें आसुरिका एक श्लोक (पंद्रहवाँ श्लोक) उद्धृत किया गया है।

तत्त्वसमासपर विज्ञानभिक्षुके शिष्य भावागणेशकृत 'सांख्यतत्त्वयाथार्थ्यदीपन' टीका प्रसिद्ध है। तथा शिवानन्दकृत 'सांख्यतत्त्वविवेचन', 'सर्वोपकारिणी टीका', 'सांख्यसूत्रविवरण' आदि टीकाएँ भी हैं।

(२) *पञ्चशिखाचार्यके सूत्र*—आसुरिने कपिल मुनिसे प्राप्त की हुई सांख्यकी शिक्षाका पञ्चशिखाचार्यको उपदेश किया, जिसने इस शास्त्रका विस्तार किया। इस प्रकारका वर्णन सांख्यकारिकामें आता है। इन सूत्रोंका ग्रन्थ लुप्त है। व्यासजीने अपने योगदर्शनके भाष्यमें लगभग इक्कीस पञ्चशिखाचार्यके सूत्रोंको कई स्थानोंमें उद्धृत किया है।

(३) *वार्षगण्याचार्यप्रणीत षष्टि-तन्त्र*—यह ग्रन्थ भी नहीं मिलता है। साठ प्रधान विषयोंकी व्याख्या होनेके कारण अथवा साठ परिच्छेद होनेके कारण इसका नाम षष्टितन्त्र रखा गया था। ईश्वरकृष्ण आर्यने अपनी सांख्यसप्ततिको षष्टितन्त्रके आधारपर ही बनाया है। वे बहत्तरवीं कारिकामें लिखते हैं कि षष्टितन्त्रके सविस्तर विषयको सांख्यसप्ततिमें संक्षिप्त किया गया है और उसकी आख्यायिकाएँ आदि छोड़ दी गयी हैं। श्रीव्यासजी महाराजने योगदर्शनके भाष्यमें वार्षगण्याचार्यके वचनोंको कई स्थानोंमें लिखा है*।

(४) *सांख्यसप्तति*—सांख्यसप्तति अथवा सांख्यकारिका 'षष्टितन्त्र' के आधारपर आर्य मुनि ईश्वरकृष्णद्वारा लिखा गया है। इसमें मुख्य सत्तर कारिकाएँ हैं, इस कारण इसका नाम सांख्यसप्तति रखा गया है। इसपर वाचस्पति मिश्रद्वारा की हुई टीका (१) 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' कहलाती है, (२) 'गौड़पादभाष्य' भी प्राचीन और प्रामाणिक है, किंतु (३) 'माठरवृत्ति' सबसे प्राचीन मानी जाती है। (४) 'युक्ति दीपिका', (५) 'जयमङ्गला', (६) 'चन्द्रिका' भी प्रसिद्ध टीकाएँ हैं।

---

* कई विद्वानोंका ऐसा विचार है कि षष्टितन्त्रके रचयिता पञ्चशिखाचार्य हैं। किंतु पञ्चशिखाचार्यके सूत्र व्यासभाष्यमें विशेषरूपसे उद्धृत हैं तथा षष्टितन्त्रका एक श्लोक वार्षगण्याचार्यके नामसे भी मिलता है।

(५) *सांख्यसूत्र*—ये पाँच सौ सत्ताईस सांख्यसूत्र छः अध्यायोंमें विभक्त हैं। पहले अध्यायमें विषयका प्रतिपादन, दूसरेमें प्रधानके कार्योंका निरूपण, तीसरेमें वैराग्य, चौथेमें सांख्यतत्त्वोंके सुगम बोधके लिये रोचक आख्यायिकाएँ, पाँचवेंमें परपक्षका निरास और छठेमें सिद्धान्तोंका संक्षिप्त परिचय है। इसपर विज्ञानभिक्षुने 'सांख्यप्रवचनभाष्य' लिखा है। सामान्यतया ये कपिल मुनिके बनाये हुए सूत्र माने जाते हैं और षडध्यायी सांख्यदर्शनके नामसे प्रसिद्ध हैं। इनके सम्बन्धमें कई आधुनिक विद्वानोंका विचार है कि 'यह सांख्यसप्तति' के आधारपर लिखा हुआ उसके पिछले समयका ग्रन्थ है; क्योंकि इसमें बहुत-से सूत्र सांख्यकारिकासे लिये हुए प्रतीत होते हैं। शंकराचार्यने सांख्यकारिकाके अतिरिक्त इसके सूत्रोंको कहीं भी प्रमाणमें उद्धृत नहीं किया है। वाचस्पति मिश्रने, जिन्होंने अन्य सब दर्शनों और सांख्यकारिकाकी भी टीका की है, इस ग्रन्थमेंसे एक भी सूत्रको प्रमाणरूपमें नहीं दिया है। इससे सिद्ध होता है कि इन सूत्रोंके संग्रहकर्ता विज्ञानभिक्षु हैं और सम्भव है उनमेंसे बहुतसे सूत्र स्वयं उनके बनाये हुए हों, जैसा कि 'सांख्यप्रवचनभाष्य' की भूमिकासे प्रतीत होता है।

कालार्कभक्षितं सांख्यशास्त्रं ज्ञानसुधाकरम्। कलावशिष्टं भूयोऽपि पूरयिष्ये वचोऽमृतैः ॥

(सा० प्र० भा० भू० ५)

सांख्यज्ञान-चन्द्रमाको कालरूपी राहुने निगल लिया है। उसकी एक कला शेष रह गयी है, उसको फिर मैं अमृतरूपी वचनसे पूरा करूँगा। स्वयं विज्ञानभिक्षुने भी तत्त्वसमासको ही अपने सांख्यप्रवचनभाष्यका आधार माना है। जैसा कि उन्होंने अपनी भूमिकामें लिखा है—

तत्त्वसमासाख्यं हि यत् संक्षिप्तं सांख्यदर्शनम्।
तस्यैव प्रकर्षेणास्यां निर्वचनम् ॥

'तत्त्वसमास नामी जो संक्षिप्त सांख्यदर्शन है, उसीको इस (षडध्यायी दर्शन) में खोलकर बतलाया गया है।'

इसके विपरीत कई विद्वानोंने इसको प्रामाणिक और प्राचीन सांख्यदर्शन माना है। उनके विचारानुसार सांख्यसप्ततिसे इसमें सूत्र लिये गये हों, इस सम्बन्धमें कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता। हो सकता है कि इसी सांख्यसप्ततिसे वे सूत्र लिये गये हों—अथवा किसी अन्य सांख्य ग्रन्थसे इन दोनोंमें लिये गये हों। सांख्यसप्ततिको इनकी अपेक्षा अधिक प्रसिद्धि और लोक-प्रियता प्राप्त होनेका कारण इसके सरल और आर्या छन्दोंमें श्लोकबद्ध होना हो सकता है। इन सूत्रोंपर 'अनिरुद्धवृत्ति' विज्ञानभिक्षुसे पूर्व समयकी मानी जाती है। सां० प्र० भा० भू० ५ से अभिप्राय इन सूत्रोंपर 'प्रवचनभाष्य' लिखना ही हो सकता है, जिनका संकेत उनके शिष्य भावागणेशने अपने 'तत्त्वयाथार्थ्यदीपन' में स्थान-स्थानपर किया है। वैसे भी विज्ञानभिक्षुको सांख्ययोगको पुनः प्रतिष्ठित करनेका सुयश प्राप्त है। इनके योगदर्शन व्यास-भाष्यपर 'योग-वार्तिक' और सांख्ययोगके आधारपर ब्रह्मसूत्रपर 'विज्ञानामृत' भाष्य अति उत्तम और प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने 'सांख्य-सार' तथा 'योग-सार' में इन दर्शनोंके सिद्धान्तोंको संक्षिप्त और सरल ढंगसे प्रतिपादन किया है।

किंतु इन सूत्रोंको कपिलमुनिप्रणीत कहना अत्यन्त भूल है; क्योंकि आधेयशक्तियोग इति पञ्चशिखि (अ० ५ सूत्र ३२) से इनका पञ्चशिखाचार्यके पश्चात् तथा अ० ५ सूत्र ७९ में बौद्धोंका शून्यवाद, अ० ५ सूत्र ८५ में वैशेषिकोंके ६ पदार्थ और अ० ५ सूत्र ८६ में न्यायके १६ पदार्थोंका वर्णन होनेसे इनका वैशेषिक, न्याय और बौद्ध धर्मके पीछे बनाया जाना सिद्ध होता है।

(६) श्वेताश्वतर-उपनिषद् और श्रीमद्भगवद्गीता भी सांख्य और योगके ही ग्रन्थ हैं। श्वेताश्वतरमें उसके आभ्यन्तररूप और गीतामें उसके आभ्यन्तररूप और सिद्धान्तोंके अतिरिक्त कार्यक्षेत्रमें व्यावहारिक रूपको विशेषताके साथ दर्शाया है। गीतामें योग और सांख्य इन ही दो निष्ठाओंका विशेष रूपसे वर्णन है। योगकी निष्ठामें गुणोंका किसी-न-किसी अंशमें सम्बन्ध रहता है। सांख्यकी निष्ठा तीनों गुणोंके सर्वथा परित्यागपूर्वक होती है। यथा निष्काम कर्मयोगमें, योगनिष्ठामें सारे कर्मों और उनके फलोंको ईश्वर (जो त्रिगुणात्मक ब्रह्माण्डके सम्बन्धसे ब्रह्मकी संज्ञा है) के समर्पण करके फलोंकी वासनाओंसे मुक्त कराया जाता है और सांख्यनिष्ठामें 'तीनों गुण ही ग्रहण और ग्राह्यरूपसे वर्त रहे हैं, आत्मा अकर्त्ता है' इस भावनासे कर्तापनका अभिमान हटाया जाता है तथा योगनिष्ठामें अन्यादेशसे और सांख्यनिष्ठामें अहंकारादेश तथा आत्मादेशसे ब्रह्मका निर्देश किया जाता है इत्यादि।

श्रीमद्भागवतके तीसरे स्कन्धमें जो भगवान् कपिलने अपनी माताको उपदेश दिया है, वह भी सांख्यकी उच्चकोटिकी शिक्षा है।

कपिलमुनिप्रणीत तत्त्वसमास (प्राचीन सांख्य-दर्शन) की व्याख्या।

अथातस्तत्त्वसमासः ॥ १ ॥

अब (दुःखोंकी निवृत्तिका साधन तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान है) इसलिये तत्त्वोंको संक्षेपसे वर्णन करते हैं।

व्याख्या—संसारमें प्रत्येक प्राणीकी यह प्रबल इच्छा पायी जाती है कि 'मैं सुखी होऊँ, दुखी कभी न होऊँ'। किंतु सुखकी प्राप्ति बिना दुःखकी निवृत्ति असम्भव है; क्योंकि दुःखकी निवृत्तिका नाम ही सुख है। इसलिये सुखके अभिलाषियोंको दुःखकी जड़ काट देनी चाहिये। दुःखकी जड़ अज्ञान है। जितना अधिक अज्ञान होगा, उतना ही अधिक दुःख होगा। जितना कम अज्ञान होगा, उतना ही कम दुःख होगा। ज्ञान और अज्ञान तत्त्वोंके सम्बन्धसे हैं। जिस तत्त्वका अज्ञान होगा, उसीसे दुःख होगा। जिस तत्त्वका जितना यथार्थज्ञान होता जायगा, उससे उतनी ही दुःखनिवृत्तिरूप सुखकी प्राप्ति होती जायगी। जब सारे तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान हो जायगा तो सारे तत्त्वोंसे अभयरूप सुखका लाभ होगा। इसलिये सारे तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान ही सारे दुःखोंकी जड़का काटना है अतः सारे तत्त्वोंका संक्षेपसे विचार आरम्भ किया जाता है।

जडतत्त्व

संगति—दुःख-निवृत्तिकी इच्छा और प्रयत्न करनेवालेका दुःख स्वभाविक धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि यदि ऐसा होता तो वह उसकी निवृत्तिका यत्न ही नहीं करता। इससे सिद्ध होता है कि

दुःख-निवृत्तिकी इच्छा करनेवालेसे भिन्न उससे विपरीत धर्मवाला कोई दूसरा तत्त्व है, जिसका स्वाभाविक धर्म दुःख और जडता है। यदि यह कहा जाय कि दुःखनिवृत्तिकी इच्छा और प्रयत्न करनेवाला ही एक अकेला चेतनतत्त्व है। उससे भिन्न कोई दूसरा तत्त्व नहीं है। दुःखकी प्रतीति अविद्या, अज्ञान, भ्रम अथवा मायासे होती है तो ये अविद्या, अज्ञान, भ्रम और माया भी स्वयं किसी भिन्न तत्त्वके अस्तित्वको सिद्ध करते हैं जिसके ये स्वाभाविक धर्म हैं।

यदि यह कहा जाय कि यह चेतन-तत्त्वसे अतिरिक्त और कुछ नहीं है, तो यह स्वाभाविक धर्म होनेसे दुःखकी कभी भी निवृत्ति नहीं हो सकेगी और उसके लिये किसी भी प्रकारका यत्न करना व्यर्थ होगा। यदि ऐसा माना जाय कि उस चेतनतत्त्वको ठीक-ठीक न जाननेसे यह भ्रम इत्यादि हो रहा है। यथार्थरूप जाननेसे सब भ्रम और दुःखोंकी निवृत्ति हो जाती है, तो इससे भी किसी भिन्न तत्त्वकी सिद्धि होती है; क्योंकि जानना किसी दूसरी वस्तुका होता है। सबके जाननेवालेको किससे जाना जा सकता है।

यथा 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।'

इससे सिद्ध होता है कि चेतनतत्त्वसे भिन्न एक जडतत्त्व है। उसका यथार्थरूप समझानेके लिये अगले दो सूत्रोंमें उसको चौबीस अवान्तर भेदोंमें विभक्त करके दिखलाते हैं।

अष्टौ प्रकृतयः ॥ २ ॥

षोडश विकाराः ॥ ३ ॥

(जडतत्त्वके प्रथम दो भेद प्रकृति और विकृति हैं, उनमेंसे) आठ प्रकृतियाँ हैं—प्रधान अर्थात् मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ अर्थात् शब्द-तन्मात्रा, स्पर्श-तन्मात्रा, रूप-तन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा; और सोलह विकृतियाँ हैं-पाँच स्थूलभूत आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी, और ग्यारह इन्द्रियाँ अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ-श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण, और पाँच कर्मेन्द्रियाँ—वाणी, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा और ग्यारहवाँ मन।

व्याख्या— जिसके आगे कोई नया तत्त्व उत्पन्न हो उसको प्रकृति कहते हैं, अर्थात् जो किसी नये तत्त्वका उपादान कारण हो और जिसके आगे जो कोई नया तत्त्व उत्पन्न हो उसको विकृति—विकार अर्थात् कार्य कहते हैं। जड-तत्त्वके चौबीस विभागोंमेंसे जो आठ प्रकृतियाँ बतलायी हैं उनमेंसे प्रधान अर्थात् मूल प्रकृति ही एक केवल प्रकृति है, अन्य सात तो प्रकृति और विकृति दोनों हैं। अर्थात् महत्तत्त्व (चित्त) प्रधान (मूल प्रकृति) की विकृति और अहंकारकी प्रकृति है। अहंकार महत्तत्त्वकी विकृति और पाँच तन्मात्राओं और ग्यारह इन्द्रियोंकी प्रकृति है। पाँच तन्मात्राएँ अहंकारकी विकृति और पाँच स्थूलभूतोंकी प्रकृति हैं। ग्यारह इन्द्रियाँ अहंकारकी विकृतियाँ हैं। इनके आगे नया कोई तत्त्व उत्पन्न नहीं होता। इसलिये ये स्वयं किसीकी प्रकृति नहीं। अतः ये केवल विकृतियाँ हैं। इसी प्रकार पाँच स्थूलभूत पाँच तन्मात्राओंकी विकृतियाँ हैं। इनके आगे कोई नया तत्त्व उत्पन्न नहीं होता। इसलिये ये स्वयं किसीकी प्रकृतियाँ नहीं हैं। अतः ये केवल विकृतियाँ हैं। ये चौबीसों भेद वास्तवमें एक जडतत्त्व 'प्रधान' अर्थात् मूल प्रकृतिहीके हैं जो सक्रिय और चेतनारहित है।

जड-तत्त्वके इन चौबीस भेदोंको साक्षात् करानेके पश्चात् ही भगवान् कपिलने इन दोनों सूत्रों-का जिज्ञासु आसुरिको उपदेश किया है। जिससे कोई नया तत्त्व उत्पन्न हो उसे प्रकृति और जिससे आगे

कोई नया तत्त्व उत्पन्न न हो उसे विकृति कहते हैं। विकृतिस्वरूपसे अव्यापि और व्यक्त अर्थात् प्रकट होती है। उससे उसकी प्रकृति अनुमानगम्य होती है, जो उसमें व्यापि होनेसे उसकी अपेक्षा विभु होती है और उसमें अव्यक्त होनेके कारण उसकी अपेक्षा सूक्ष्म होती है।

ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच स्थूल भूत अव्यापी और व्यक्त (प्रकट-प्रत्यक्ष) हैं। इनसे आगे कोई नया तत्त्व उत्पन्न नहीं होता, इसलिये ये केवल विकृति हैं। इनकी प्रकृति अनुमानगम्य है जो इनमें व्यापि और अव्यक्त (अप्रकट) है। स्थूल शरीरसे अन्तर्मुख होनेपर ध्यानकी पहली परिपक्व अवस्थामें दिव्य निर्मल शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धका साक्षात्कार होता है। यही पाँचों तन्मात्राएँ पाँचों स्थूल भूतोंकी प्रकृति हैं। किंतु व्यक्त (प्रकट) हो जानेसे ये प्रकृति नहीं रहीं, विकृति हो गयीं। इसलिये इनकी अव्यक्त प्रकृति अनुमानगम्य माननी पड़ेगी। इन तन्मात्राओंसे भी अन्तर्मुख होनेपर ध्यानकी परिपक्व अवस्थामें केवल 'अहमस्मि' वृत्ति रह जाती है। ये ग्यारह इन्द्रियों और पाँचों तन्मात्राओंकी प्रकृति 'अहंकार' का साक्षात्कार है; किंतु व्यक्त (प्रकट) हो जानेसे यह विकृतिरूप हो गयी, इसलिये इसकी अव्यक्त प्रकृति भी अनुमानगम्य माननी पड़ेगी। इस अहंवृत्तिसे भी अन्तर्मुख होनेपर अहंकारसे रहित केवल 'अस्मितावृत्ति' रह जाती है। यह 'महत्तत्त्व' अहंकारकी प्रकृति है, किंतु अब वह महत्तत्त्व भी व्यक्त होनेसे प्रकृति न रहा, विकृति हो गया; इसलिये इसकी भी कोई प्रकृति अनुमानगम्य माननी पड़ती है। इससे आगे किसी नये जडतत्त्वका साक्षात्कार नहीं होता, केवल चेतनतत्त्व रह जाता है। इसलिये यह अनुमानगम्य प्रकृति ही अव्यक्त प्रधान अथवा मूलप्रकृति है। इस प्रकार कपिलमुनिके बतलाये हुए जडतत्त्वके ये चौबीसों अवान्तर भेद केवल बुद्धि अथवा तर्ककी उपज नहीं हैं, किंतु अनुभवसिद्ध हैं।

संगति—उपर्युक्त रीतिसे जडतत्त्वके अवान्तर भेदोंका अनुभव करनेके पश्चात् जो चेतन-तत्त्व शेष रह जाता है, उसका वर्णन अगले चौथे सूत्रमें करते हैं। उसके दो भेद हैं। एक जडतत्त्वसे मिला हुआ अर्थात् मिश्रित = शबल = अपर = सगुणस्वरूप, दूसरा शुद्ध = पर = निर्गुणस्वरूप। मिश्रितके भी दो भेद हैं।

एक व्यष्टिरूपसे अनन्त शरीरों (पिण्डों) के सम्बन्धसे, दूसरा समष्टिरूपसे सारे ब्रह्माण्ड (विश्व) के सम्बन्धसे। इन तीनों भेदोंका वर्णन एक पुरुषशब्दसे अगले सूत्रमें करते हैं।

चेतनतत्त्व (पुरुष)

पुरुषः ॥ ४ ॥

पुरुषके अर्थोंका स्पष्टीकरण—पचीसवाँ चेतनतत्त्व पुरुष है, जो तीन अर्थोंका बोधक है।❀

❀ कई एक टीकाकारोंने पुरुष शब्दके अर्थ (१) जीव, (२) हिरण्यगर्भ अर्थात् ईश्वर, अपरब्रह्म और (३) परमात्मा अर्थात् परब्रह्म तो किये हैं; किंतु पहले अर्थ जीवके अतिरिक्त अन्य दोनों अर्थोंको विशेषरूपसे नहीं खोला है। अर्थात्—

जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत् प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ (सां० का० १८)

तथा—

जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम् । (सा० द० १ । १४९)

—के अनुसार व्यष्टि अन्तःकरणोंके धर्मों अथवा स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरोंको क्रियाओंके भेदसे इन व्यष्टि अन्तःकरणों अथवा व्यष्टि शरीरोंकी अपेक्षासे जीव अर्थ पुरुषमें बहुत्व दिखलाया है और (२) समष्टि

(१) चेतनतत्त्व व्यष्टि (पिण्ड) शरीरोंसे मिश्रित यथा—

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः॥

यह जो हृदयके अंदर आकाश है, उसमें यह पुरुष है, जो मनका मालिक, अमृत और ज्योतिर्मय है। अन्तःकरणोंके अनन्त और परिच्छिन्न होनेसे ये पुरुष अनन्त और परिच्छिन्न कहलाते हैं तथा परिच्छिन्नताके कारण अल्पज्ञ हैं। इनकी संज्ञा जीव भी है। इनकी अपेक्षासे चेतनतत्त्व आत्मा कहलाता है।

(२) चेतनतत्त्व (ब्रह्माण्ड) समष्टि जगत्से मिश्रित यथा—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥ (श्वेता० ३। १४)

वह पुरुष हजारों सिर, हजारों नेत्र और हजारों पाँवोंवाला है। वह इस ब्रह्माण्डको चारों ओरसे घेरकर भी दस अंगुल परे खड़ा है अर्थात् दसों दिशाओंमें व्याप्त हो रहा है। समष्टि अन्तःकरणके एक और विभु होनेसे वह एक और सर्वव्यापक है और सर्वव्यापकताके कारण सर्वज्ञ है। इसकी संज्ञा ईश्वर = पुरुष विशेष = सगुण ब्रह्म = अपरब्रह्म और शबल ब्रह्म है। इसकी अपेक्षासे चेतनतत्त्व परमात्मा कहलाता है।

अन्तःकरणकी अपेक्षासे समष्टिरूपेण ईश्वर अर्थ पुरुषमें एकत्व इस प्रकार दिखलाया है—जैसे वृक्षोंके समूहकी वनरूप एक संज्ञा होती है और (३) परब्रह्मके शुद्ध निर्विशेष स्वरूप पुरुष अर्थमें आत्माओंके अन्तःकरणों अथवा स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरसे परे केवली अवस्थामें एक जातिके सदृश एकत्व दिखलाया है।

यथा—

एकमेव यथा सूत्रं सुवर्णे वर्त्तते पुनः।
मुक्तामणिप्रवालेषु मृण्मये रजते तथा॥
तद्वत् पशुमनुष्येषु तद्वद्धस्तिमृगादिषु।
एकोऽयमात्मा विज्ञेयः सर्वत्रैव व्यवस्थितः।
एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥
यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान्।
अपोभिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्॥
उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽप्यात्मा॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

वास्तवमें ईश्वरके अर्थमें पुरुषका स्वरूप इस प्रकार है कि व्यष्टिसत्त्व चित्तोंमें सत्त्वकी विशुद्धता, सर्वज्ञताका बीज तथा ज्ञान, धर्म, वैराग्य और ऐश्वर्यादि सातिशय हैं। जहाँपर ये पराकाष्ठाको पहुँचकर निरतिशयताको प्राप्त होते हैं, वह विशुद्ध सत्त्वमय चित्त समष्टिचित्त है। उसकी अपेक्षासे चेतनतत्त्वकी संज्ञा ईश्वर, शबल ब्रह्म और अपर ब्रह्म है। उसमें एकत्व है और व्यष्टिपिण्डों अथवा चित्तों और समष्टि ब्रह्माण्ड अथवा विशुद्ध सत्त्वमय चित्तसे परे जो चेतन तत्त्वका अपना शुद्ध केवली स्वरूप है ऐसे अर्थवाले पुरुषकी संज्ञा परमात्मा, निर्गुण ब्रह्म, शुद्धब्रह्म तथा परब्रह्म है।

(३) शुद्ध चेतनतत्त्व जडतत्त्वसे निखरा हुआ केवल शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। यथा—

एतावानस्य महिमातोज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥ (ऋ० १०।९०।३)

यह इतनी बड़ी तो उसकी महिमा है। पुरुष (परमात्मा = शुद्धचेतन-तत्त्व) इससे कहीं बड़ा है। सारे भूत इसका एकपाद हैं। उसके तीन पाद अमृतस्वरूप अपने प्रकाशमें हैं। इसकी संज्ञा शुद्धब्रह्म = निर्गुणब्रह्म = परब्रह्म और परमात्मा है। यह जडतत्त्वकी सारी उपाधियों समष्टि, व्यष्टि, एकत्व, बहुत्व इत्यादिसे परे केवल शुद्ध ज्ञानस्वरूप है, जिसका वर्णन दूसरे प्रकरणमें किया गया है।

व्यष्टि अन्तःकरणोंके समष्टि अन्तःकरणके साथ सम्बन्धित होनेसे जीव ईश्वरका ही अंशरूप भिन्न-भिन्न स्थानोंमें बतलाया गया है। यथा—

यश्चिन्मात्ररसोऽपि नित्यविमलोपाधेर्गुणैरीश्वरो हेयैः क्लेशमुखैर्गुणैर्विरहितो मुक्तः सदा निर्गुणः।

सोऽस्मान् बुद्धिगुणैः स्वयं निगडितान् स्वांशान् कृपासागरो दीनान्मोचयतु प्रभुर्गुणमयं पाशं दहन् लीलया॥ (योगवार्त्तिक पा० १ स १)

जो चिन्मात्र रस होकर भी नित्य विमल उपाधिके गुणोंसे ईश्वर है, जो क्लेशप्रमुख हुए गुणोंसे रहित, सदा मुक्त और निर्गुण है वह कृपासागर प्रभु, स्वयं बुद्धि-गुणोंसे बँधे हुए अपने अंश हम दीनोंको लीलाके तौरपर गुणमय फंदोंको जलाते हुए मुक्त करे। तथा— **"ईश्वर अंश जीव अविनाशी"**। इसलिये यद्यपि पूर्ण अंशमें जीव ईश्वर नहीं हो सकता; किंतु उसकी उपासनाद्वारा (जिन गुणोंद्वारा उसकी उपासना की जाय) उसके तद्रूप होकर उसके अनन्त ज्ञान, धर्म, ऐश्वर्य, वैराग्य इत्यादि गुणोंको ब्रह्मलोकमें उपभोग करता है। इस अवस्थाके लिये भी वैकृतिक बन्ध अर्थात् मनुष्यलोकके बन्धनोंकी अपेक्षासे मुक्तिका शब्द प्रयोग किया गया है। इस मुक्तिकी अवस्थामें जीव संकल्पमय होता है। यथा—

शृण्वन् श्रोत्रं भवति..................ऽहङ्कारो भवति। (शतपथ कां० १४।४।२।१७)

सांख्यने आत्माके शुद्ध स्वरूपको सर्वव्यापक, निर्गुण, गुणातीत, निष्क्रिय, निर्विकार, अपरिणामी, कूटस्थ नित्य माना है। जो सांख्य ग्रन्थोंके इन टीकाकारोंको भी अभिमत है। इसके अनुसार आत्मामें जाति नहीं रह सकती, क्योंकि जो विभु है उसमें जाति नहीं रहती—जैसे आकाश। इसके अतिरिक्त एक जातिमें जो व्यक्तियाँ होती हैं, उन व्यक्तियोंमें परस्पर भेद अथवा विलक्षणताके निमित्त कारणरूप, अवयवोंकी बनावट, गुण, कर्म, देश, काल, दिशा आदि होते हैं। उपर्युक्त बतलाये हुए आत्माके लक्षणमें इनमेंसे किसी भी निमित्तकी सम्भावना नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त जब त्रिगुणात्मक जड़, अग्नि, वायु आदिके शुद्ध स्वरूपमें एकत्व है तो गुणातीत आत्माके शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें बहुत्व कैसे सम्भव हो सकता है? कपिल जैसे आदिविद्वान् और सांख्य-जैसी विशाल प्राचीन फिलासफीके साथ पुरुष अर्थ परब्रह्मके इस प्रकारके लक्षणका कोई मेल नहीं बैठ सकता। बहुत सम्भव है कि नवीन वेदान्तियोंके कटाक्षके विरोधमें नवीन सांख्यवादियोंने भी अद्वैतके खण्डन और द्वैतके समर्थनमें इस प्रकारकी युक्तियोंको प्रयोग करनेमें कोई दोष न समझा हो। फिर भी प्राचीन सांख्य और इन नवीन सांख्यवादियोंमें आत्माका शुद्ध केवली स्वरूप एक ही प्रकारका है। ध्येय वस्तुके स्वरूप अथवा लक्षणमें कोई भेद नहीं है, केवल कहनेमात्रके लिये एकत्व और बहुत्वमें भेद है। जातिसे अभिप्राय सत्तामात्र ज्ञानस्वरूप माननेमें कोई दोष नहीं आता है। तत्त्व-समासकी व्याख्याके पश्चात् इसी प्रकरणमें इस विषयपर अधिक प्रकाश डाला जायगा।

स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति………तेन सम्पन्नो महीयते ॥ (छान्दोग्य० ८ । २ । १ से १० तक)

संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ॥ अतएव चानन्याधिपतिः ॥ (ब्रह्मसूत्र ४ । ४ । ८-९)

इसका अनुभव विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधिकी ऊँची अवस्थामें होता है । आत्मा और परमात्मामें अभिन्नता है । दोनों शुद्धज्ञानस्वरूप चेतनतत्त्वके सूचक हैं । आत्मा पिण्डकी अपेक्षासे और परमात्मा ब्रह्माण्डकी । असम्प्रज्ञात समाधिमें सर्ववृत्तियोंका निरोध इस दूसरे प्रकारकी मुक्तिका अनुभव है । असम्प्रज्ञातसमाधिमें सर्ववृत्तियोंके निरोध होनेसे शुद्धचेतन स्वरूपमें अवस्थिति होती है; किंतु चित्तमें संस्कार शेष रहनेके कारण पुनः व्युत्थान अवस्थामें आना होता है । चित्तमें संस्कारशेषकी निवृत्तिपर चित्तके अपने कारणमें लीन हो जानेपर जो पुनः व्युत्थानमें न आनेवाली शुद्धचेतनस्वरूपमें अवस्थिति है, वही दूसरी सर्वोत्तम मुक्ति है । यथा—

गताः कलाः पञ्चदशप्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥
यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ (मुण्डक० ३ । २ । ७-८)

उनकी पंद्रह कलाएँ अपने-अपने कारणोंमें चली जाती हैं, और उनकी सारी इन्द्रियाँ अपने सदृश देवताओंमें चली जाती हैं । उनके कर्म और विज्ञानमय आत्मा सब उस परले अव्यय ब्रह्ममें एक हो जाते हैं । जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ समुद्रमें अस्त हो जाती हैं और अपना नाम और रूप खो देती हैं, इसी प्रकार शुद्ध निर्गुण ब्रह्मका जाननेवाला नामरूपसे अलग होकर परे-से-परे जो दिव्य पुरुष है उसको प्राप्त होता है ।

योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ॥ (बृह० ४ । ४ । ६)

जो कामनाओंसे रहित है, जो कामनाओंसे बाहर निकल गया है, जिसकी कामनाएँ पूरी हो गयी हैं, या जिसको केवल आत्माकी कामना है उसके प्राण नहीं निकलते हैं । वह ब्रह्म ही हुआ ब्रह्मको पहुँचता है । इस प्रकारकी मुक्ति ही सांख्य और योगका कैवल्य है । ब्रह्मके शबल स्वरूपकी उपासना और उसका साक्षात्कार कारणशरीर (चित्त) से होता है । शुद्धचेतनतत्त्वमें कारणशरीर तथा कारण जगत् परे रह जाता है । यहाँ न द्वैत रह जाता है न अद्वैत । यथा

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे । मम तत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम् ॥

कोई-कोई अद्वैतकी इच्छा करते हैं और कोई द्वैतकी । ये दोनों मेरे शुद्ध परमात्मतत्त्वको नहीं जानते । वह द्वैत-अद्वैत दोनोंसे परे है । उसमें न द्वैत है न अद्वैत । **भेदाभेदविवर्जितपन्थः ॥** (तत्त्ववेत्ता ज्ञानीका) मार्ग भेद-अभेदसे अलग है ।

एक कहूँ तो अनेक सो दीखत । एक अनेक जहाँ कछु नाईं ॥ (सुन्दरदास)

यहाँपर यह भी बता देना आवश्यक है कि स्वरूप-अवस्थितिमें पहुँचकर चित्तसे सारे संस्कारोंके नाश कर लेनेपर भी जो योगी सब प्राणियोंके कल्याणका संकल्प अपने चित्तमें बनाये रखते हैं, इनके चित्तोंके बनानेवाले गुण अपने कारणमें लीन नहीं होते, किंतु ये चित्त अपने विशाल सात्त्विक शुद्ध स्वरूपसे ईश्वरके विशुद्ध सत्त्वमय चित्तमें जिसमें वेदोंका ज्ञान और सारे प्राणियोंके कल्याणका संकल्प विद्यमान है (समान संकल्प होनेसे) लीन रहते हैं और वे असम्प्रज्ञातसमाधिकी अवस्थाके सदृश शुद्धचैतन्य परमात्मस्वरूपमें अवस्थित रहते हैं। ईश्वरीय नियमानुसार संसारके कल्याणमें जब-जब उनकी आवश्यकता होती है, तब-तब वे अपने शुद्ध स्वरूपसे इस भौतिक जगत्‌में अवतीर्ण होते हैं। दूसरे शब्दोंमें अवतार लेते हैं। यथा—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

'हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब मैं अपने-आपको प्रकट करता हूँ। (अपने शुद्ध स्वरूपसे शबल स्वरूपमें अवतरण करता हूँ अर्थात् भौतिक जगत्‌में अवतार लेता हूँ।) सज्जनोंकी रक्षाके लिये और दूषित कार्य करनेवाले मनुष्योंका संहार करनेके लिये तथा धर्म-स्थापन करनेके लिये युग-युगमें प्रकट होता हूँ।'

सांख्य और योगको कैवल्य, जिसमें संसारका बीजमात्र भी न रहे, अभिमत है। इसलिये उन्होंने पुरुष सं० १ अर्थात् जीवात्मा जो अनन्त अन्तःकरणोंके सम्बन्धसे अनन्त हैं, जडतत्त्व अर्थात् ज्ञानरहित सक्रिय त्रिगुणात्मक प्रकृति और पुरुष संख्या ३ अर्थात् परमात्मतत्त्व जो शुद्ध चेतन निष्क्रिय ज्ञानस्वरूप है, इन तीनोंका ही विशेषरूपसे वर्णन किया है। सांख्य, पुरुष (सं० १) अर्थात् जीवोंकी जो संख्यामें अनन्त है, ज्ञान और संन्यास (त्याग) द्वारा जडतत्त्व अर्थात् त्रिगुणात्मक प्रकृतिसे पूर्णतया भिन्न करके पुरुष सं० ३ अर्थात् परमात्मतत्त्वतक ले जाता है। इसलिये उसमें पुरुष सं० १ अर्थात् जीवोंको बहुत्व (अनन्त संख्यावाला) और पुरुष संख्या ३ अर्थात् परमात्मतत्त्वको क्रियारहित शुद्ध ज्ञानस्वरूपके विशेषणके साथ वर्णन किया गया है।

योग पुरुष सं० १ अर्थात् जीवोंको पुरुष सं० २ अर्थात् पुरुषविशेष = ईश्वर-प्रणिधानद्वारा पुरुष सं० ३ अर्थात् परमात्मतत्त्वतक पहुँचता है। इसलिये उसमें पुरुष सं० २ अर्थात् ईश्वरत्वकी जडतत्त्वके साथ महिमाको विशेषरूपसे दर्शाया है।

व्याख्या—इस चेतनतत्त्वका शुद्धस्वरूप जडतत्त्वसे सर्वथा विलक्षण है, अर्थात् ज्ञानस्वरूप और निष्क्रिय है। चुम्बक और लोहेके सदृश इस चेतनतत्त्वकी सन्निधिसे ही जडतत्त्वमें ज्ञान, नियम और व्यवस्थापूर्वक क्रिया हो रही है। इस चेतनतत्त्वकी सन्निधिके कारण पूर्वोक्त जडतत्त्वमें एक प्रकारका क्षोभ हो रहा है जिससे प्रधानमें महत्तत्त्व, महत्तत्त्वमें अहंकार, अहंकारमें तन्मात्राओं और इन्द्रियोंका और तन्मात्राओंमें सूक्ष्म भूतोंसे लेकर पाँचों स्थूल भूतोंतकका परिणाम हो रहा है।

इसी आशयको उपनिषद्‌में दूसरे शब्दोंमें बतलाया है—

यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत् स नो दधाद् ब्रह्माप्ययम्॥ (श्वेता० ६। १०)

वह एक अखण्ड परमेश्वर जो मकड़ीके सदृश प्रधान (मूल प्रकृति) से उत्पन्न होनेवाले तन्तुओं (कार्यों) से अपने आपको स्वभावतः आच्छादित कर लेता है, वह हमें ब्रह्ममें लय (समाधि = स्वरूपमें) स्थिति देवे।

चेतन-तत्त्वमें जड-तत्त्व-जैसा कोई परिणाम तथा अवान्तर भेद नहीं है। अतः शुद्ध चेतनतत्त्व देश, काल, जाति तथा संख्याकी सीमासे भी परे है। जड-तत्त्वकी उपाधिसे उसमें संख्याका आरोप कर लिया जाता है। इसलिये विकल्पसे पुरुषमें बहुत्व कहा जाता है। अर्थात् व्यष्टि चित्तोंमें प्रतिबिम्बित चेतनमें, चित्तके अन्य धर्मोंके समान बहुत्व (संख्या) को भी आरोप कर लिया जाता है और स्वरूप-अवस्थिति अथवा कैवल्यकी अवस्थामें चित्तके अन्य सब धर्मोंके अभावके साथ बहुत्व (संख्या) की भी निवृत्ति हो जाती है। चेतनसे प्रतिबिम्बित महत्तत्त्वमें जब समष्टि अहंकार बीजरूपसे छिपा हुआ हो तो उसको समष्टि अस्मिता कहते हैं। उसमें समष्टि महत्तत्त्वकी वृत्ति (मैं हूँ) समष्टि अहंकार है। इस समष्टिअहंकारका क्षोभरूप परिणाम पाँच तन्मात्राएँ अर्थात् किसी दूसरे तत्त्वसे न मिला हुआ शब्द-द्रव्य, स्पर्श-द्रव्य, रूप-द्रव्य, रस-द्रव्य और गन्ध-द्रव्य हैं।

इसी प्रकार अहंकारसे ही ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं अर्थात् जब 'मैं हूँ' की वृत्तिका उत्पादक सामान्य द्रव्य उत्पन्न हुआ तो 'वही मैं देखता हूँ' 'वही मैं सुनता हूँ' इत्यादि विशेष वृत्तिके उत्पादक विशेष द्रव्यमें परिणत हुआ। उपर्युक्त महत्तत्त्व (समष्टिचित्त) में प्रतिबिम्बित चेतन, हिरण्यगर्भ पुरुषका वर्णन हुआ। इसी प्रकार व्यष्टि चित्तोंमें प्रतिबिम्बित चेतन, अन्य पुरुषों (जीवों) को समझ लेना चाहिये।

अहंकारमें विशुद्ध सत्त्वको समष्टि अहंकार और रजस् तथा तमस्से मिश्रित सत्त्वको व्यष्टि अहंकार समझना चाहिये। अतः समष्टिचित्त, विशुद्ध सत्त्वमय चित्त और व्यष्टिचित्त केवल सत्त्वचित्त कहलाते हैं। चित्तोंमें समष्टि, व्यष्टि और अनेकत्व अहंकारकी अपेक्षासे समझना चाहिये। (विशुद्ध सत्त्वमय चित्तका विस्तारपूर्वक वर्णन समाधिपादके चौबीसवें सूत्रकी व्याख्यामें दिया है।)

तन्मात्राओंके मेलसे स्थूलभूत (महाभूत) उत्पन्न होते हैं। शब्द-तन्मात्राके साथ किञ्चित् दूसरे तन्मात्राओंके मेलसे शब्द-गुणवाला आकाश उत्पन्न होता है। इसी प्रकार स्पर्श-तन्मात्राकी अधिकतासे स्पर्श-गुणवाला वायु, रूपतन्मात्राकी अधिकतासे रूप-गुणवाला अग्नि, रसतन्मात्राकी अधिकतासे रसगुणवाला जल और गन्ध-तन्मात्राकी अधिकतासे गन्ध-गुणवाली पृथ्वी उत्पन्न होती है।

तन्मात्राओं और स्थूलभूतोंके बीचमें एक अवस्था सूक्ष्मभूतोंकी है, जिनकी सूक्ष्मताका तारतम्य स्थूलभूतोंसे लेकर तन्मात्राओंतक चला गया है।

इन पाँचों स्थूलभूतोंसे आगे कोई नया तत्त्व उत्पन्न नहीं होता। मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, धातु, दूध, दही आदि सब इन्हींके रूपान्तर हैं। इसलिये ये निरे विकार अर्थात् विकृति हैं।

जडतत्त्वमें सब प्रकारके परिणामोंका निमित्तकारण पुरुष है और इन सारे परिणामोंका प्रयोजन भी पुरुषका भोग और अपवर्ग ही है। चेतनतत्त्व, जडतत्त्व, जडतत्त्वकी चेतनतत्त्वसे सन्निधि, उस सन्निधिसे क्षोभको प्राप्त हुए जडतत्त्वका चौबीस तत्त्वोंमें विभक्त होना तथा पुरुषका प्रयोजन, भोग और अपवर्ग—ये सब अनादि अर्थात् कालकी सीमासे परे हैं।

सङ्गति—शङ्का—जैसे अव्यक्त प्रधान, व्यक्त महत्तत्त्वादिका उपादान कारण हो सकता है, वैसे ही ज्ञानस्वरूप चेतन-तत्त्व जडतत्त्वका उपादान कारण हो सकता है। इसलिये जड-तत्त्वको चेतनतत्त्वसे पृथक् मानना ठीक नहीं।

समाधान—जडतत्त्व प्रधान अव्यक्त अर्थात् मूलप्रकृति त्रिगुणात्मक है। सत्त्व, रजस् और तमस्—इन तीन गुणोंकी न्यूनाधिकतासे विषमताको प्राप्त होती हुई वह चौबीस अवान्तर भेदोंमें विभक्त हो रही है, किंतु चेतन-तत्त्व निर्गुण शुद्ध ज्ञानस्वरूप है, जिसमें न कोई विषमता हो सकती है न परिणाम।

शङ्का—उसकी त्रिगुणात्मक मायासे जगत्की उत्पत्ति हो सकती है।

समाधान—यह केवल शब्दोंका अदल-बदल है अर्थात् ऐसा माननेमें प्रकृतिके स्थानमें माया शुद्धचेतन तत्त्वसे भिन्न जगत्का उपादान कारण ठहरेगी। यदि मायाको शुद्ध चेतनतत्त्व (निर्गुण-निराकार शुद्धब्रह्म) से अभिन्न उसकी ही एक अनिर्वचनीय शक्ति मान ली जाय तो परब्रह्ममें द्वैतकी सिद्धि होगी और यह द्वैत उसका स्वाभाविक गुण होनेसे किसी प्रकार भी पृथक् नहीं हो सकेगा और अद्वैतपरक महावाक्य तथा वेद-शास्त्र सब व्यर्थ हो जायँगे। इसलिये तीन गुणोंका, जिनकी विषमताके कारण प्रधान मूल प्रकृति चौबीस अवान्तर भेदोंमें विभक्त हो रही है, अगले सूत्रमें वर्णन करते हैं।

प्रकृतिके तीन गुण

त्रैगुण्यम् ॥ ९ ॥

(चौबीसों जडतत्त्व सत्त्व, रजस् और तमस्) तीन गुणवाले हैं।

व्याख्या—सत्त्वका स्वभाव प्रकाश, रजस्का क्रिया और तमस्का स्थिति है। ये तीनों स्वभाव प्रत्येक वस्तुमें पाये जाते हैं। जो वस्तु स्थिर है उसमें क्रिया उत्पन्न हो जाती है और वेगवाली क्रियाके पीछे उसमें प्रकाश प्रकट हो जाता है। जो प्रकाशवाली है वह समयान्तरमें प्रकाशहीन हो जाती है और अन्तमें क्रियाहीन भी हो जाती है। जब एक वस्तु स्थिर होती है तो उसमें तमस् प्रधान होता है, रजस् और सत्त्व गौणरूपसे रहते हैं और अपने समयपर उसमें प्रकट हो जाते हैं। जब वह वस्तु क्रियावाली होती है तो उसमें रजस् प्रधान होता है, सत्त्व और तमस् गौण होते हैं। फिर वही वस्तु जब प्रकाशवाली हो जाती है तो उसमें सत्त्व प्रधान हो जाता है, रजस् और तमस् गौण। इस प्रकार सब वस्तुओंमें तीनों गुण प्रधान या गौणरूपसे विद्यमान रहते हैं। पुरुषसे अतिरिक्त जो कुछ भी है यह सब त्रिगुणात्मक ही है।

किंतु ये सब तीनों गुणोंके विकृतरूप ही हैं।

यथा—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायैव सुतुच्छकम्॥ (वार्षगण्याचार्य-षष्ठीतन्त्र)

गुणोंका असली रूप अर्थात् साम्य परिणाम दृष्टिगोचर नहीं होता, जो (विषम परिणाम) दृष्टिगोचर होता है, वह माया-जैसा है और विनाशी है।

गुणोंका परिणाम—गुण परिणामशील हैं। परिणाम सांख्यका पारिभाषिक शब्द है। परिणामके अर्थ हैं तबदीली अर्थात् पहले धर्मको छोड़कर किसी दूसरे धर्मको ग्रहण करना। परिणाम दो प्रकारका होता है, एक साम्य अर्थात् सरूप परिणाम—जैसे दूधमें दूधके निर्विकार बने रहनेकी अवस्थामें होता है। दूसरा विषम अर्थात् विरूप परिणाम, जैसे दूधमें एक निश्चित समयके पश्चात् खटास आदि विकारके आनेसे होता है। विषम अर्थात् विरूप परिणामका ही प्रत्यक्ष होता है। उस प्रत्यक्षसे साम्य परिणामका अनुमान किया जाता है। तीनों गुणोंका साम्य परिणाम ही अनुमानगम्य अव्यक्त अर्थात् प्रधान मूल प्रकृति अथवा केवल प्रकृति है।

गुणोंका प्रथम विषम परिणाम महत्तत्त्व—चेतनतत्त्वसे इस मूल प्रकृतिमें एक प्रकारका क्षोभ होकर सत्त्वमें क्रियामात्र रजका और उस क्रियाको रोकनेमात्र तमका प्रथम विषम परिणाम हो रहा है, जो महत्तत्त्व (समष्टिरूपमें एक विशुद्ध सत्त्वमय चित्त और व्यष्टिरूपमें अनन्त सत्त्व-चित्त) है। जिसमें कर्तापनका अहंकार बीजरूपसे छिपा हुआ है। महत्तत्त्वमें चेतनतत्त्वके ज्ञानके प्रकाशको ग्रहण करनेकी अनादि योग्यता है और चेतन-तत्त्वमें महत्तत्त्वमें अपने ज्ञानके प्रकाशको डालनेकी अनादि योग्यता है। महत्तत्त्वके ज्ञानस्वरूप चेतनतत्त्वसे प्रकाशित होनेको गीतामें अति सुन्दर शब्दोंमें वर्णन किया गया है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते॥ (९ । १०)
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ (१४ । ३)
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ (१४ । ४)

हे अर्जुन! मेरा आश्रय करके प्रकृति चराचरसहित सब जगत्को रचती है, इसी कारण जगत् परिवर्तित हो रहा है।

हे अर्जुन! मेरी योनि (गर्भ रखनेका स्थान) महत्तत्त्व है, उसीमें मैं गर्भ रखता हूँ (अपने ज्ञानका प्रकाश डालता हूँ) और उसी (जड-चेतनके संयोग) से सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है।

हे अर्जुन! सब योनियोंमें जो शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी योनि महत्तत्त्व है और उनमें बीजको डालनेवाला मैं चेतनतत्त्व पिता हूँ।

इसीलिये हिरण्यगर्भके लिये जो चेतनतत्त्वकी महत्तत्त्वके सम्बन्धसे संज्ञा है, वेदोंमें इस प्रकार कहा गया है—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

हिरण्यगर्भ ही पहले उत्पन्न हुए जो समस्त भूतोंके एक पति थे। जिस प्रकार महत्तत्त्व ज्ञानस्वरूप चेतनतत्त्वके ज्ञानके प्रकाशको ग्रहण कर रहा है उसको यथार्थ रूपसे समझानेके लिये इस स्थूल जगत्में न तो कोई शब्द मिल सकता है और न कोई सर्वांशमें ठीक-ठीक घटनेवाला उदाहरण, फिर भी इसको तीन प्रकारसे बतलाया गया है—(१) जैसे वायु भुवनोंमें व्यापक है इसी प्रकार चेतन तत्त्व महत्तत्त्वमें व्यापक हो रहा है।

यथा—

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥

(कठ० २।५।१०)

जिस प्रकार एक वायु-तत्त्व सारे भुवनोंमें प्रविष्ट होकर रूप-रूपमें प्रतिरूप (उन-जैसा रूपवाला) हो रहा है, इसी प्रकार एक आत्मा, जो सबका अन्तरात्मा है, रूप-रूपमें प्रतिरूप हो रहा है और अपने शुद्ध चेतनस्वरूपसे बाहर भी है।

(२) जैसे सूर्य जलाशयोंमें प्रतिविम्बित हो रहा है, इसी प्रकार ज्ञानस्वरूप चेतन-तत्त्व महत्तत्त्व (विशुद्ध सत्त्वमय समष्टि चित्त तथा अनन्त व्यष्टि सत्त्वचित्तों) में प्रतिविम्बित हो रहा है।

यथा—

एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥

(ब्रह्मबिन्दु उप० २२)

एक ही भूतात्मा भूत-भूतमें विराजमान है। जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा जलमें अनेक होकर दीखता है, इसी प्रकार एक ही आत्मा अनेक रूपमें (समष्टि विशुद्ध सत्त्वमय चित्तमें एकत्व-भावसे और व्यष्टि सत्त्व चित्तोंमें बहुत्व-भावसे) प्रतिरूप हो रहा है।

जैसे चुम्बक पत्थरकी संनिधिसे लोहेमें क्रिया उत्पन्न होती है, इसी प्रकार चेतनतत्त्वके ज्ञानसे प्रकाशित होनेके कारण महत्तत्त्वमें ज्ञान, नियम और व्यवस्थापूर्वक क्रिया हो रही है।

यथा—

निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः प्रवर्तते।
सत्तामात्रेण देवेन तथा चायं जगज्जनः ॥

(सांख्यप्रवचनभाष्य १।९७)

जैसे बिना इच्छावाले चुम्बकके स्थित रहनेमात्रसे लोहा प्रवृत्त होता है, वैसे ही सत्तामात्र देव (परमात्मा) से जगत्की उत्पत्ति आदि होती है। आभ्यन्तर दृष्टि रखनेवाले तत्त्ववेत्ताओंके लिये ये तीनों उद्धरण समानार्थक हैं। चेतनतत्त्वके महत्तत्त्वमें प्रतिविम्बित होने और बीजरूपसे छिपे हुए विशुद्ध सत्त्वमय चित्तमें समष्टि अहंकारके और सत्त्वचित्तोंमें व्यष्टि अहंकारके क्षोभ पाकर अहंभावसे प्रकट होनेको उपनिषदोंमें अनेक प्रकारसे वर्णन किया है।

यथा—

सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदँ सर्वमसृजत यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।

(तैत्तिरीय २।६।१)

उसने कामना की कि मैं बहुत हो जाऊँ। मैं प्रजावाला होऊँ। उसने तप तपा। तप तपनेसे पीछे उसने इस सबको रचा जो कुछ यह है। इसको रचकर वह इसमें प्रविष्ट हुआ। यह स्पष्ट है कि अपने-

को अपने आप रचना और अपनेमें अपने आपको प्रवेश करना—ये दोनों बातें असम्भव हैं; क्योंकि ये दोनों क्रियाएँ कर्तासे भिन्न किसी दूसरी वस्तुकी अपेक्षा रखती हैं और यह त्रिगुणात्मक प्रकृति ही है।

(२) *महत्तत्त्वका विषम परिणाम अहंकार*—पुरुष (चेतनतत्त्व) से प्रतिबिम्बित महत्तत्त्व ही सत्त्वमें रजस् और तमस्‌की अधिकतासे विकृत होकर अहंकाररूपसे व्यक्तभावमें बहिर्मुख हो रहा है। इस अहंकारसे ही कर्तापनका भाव आरम्भ होता है।

यथा—

अहंकारः कर्त्ता न पुरुषः ॥ (सांख्य ६ । ५४)

'कर्तापन अहंकारमें है न कि पुरुषमें।' महत्तत्त्वका विषम परिणाम अहंकार ही अहंभावसे एकत्व, बहुत्व, व्यष्टि, समष्टिरूप सर्वप्रकारकी भिन्नता उत्पन्न करनेवाला है। विभाजक अहंकारहीसे ग्रहण और ग्राह्यरूप दो प्रकारके विषम परिणाम हो रहे हैं।

(३) *अहंकारका विषम परिणाम ग्रहणरूप ग्यारह इन्द्रियाँ*—महत्तत्त्वसे व्याप्य विभाजक अहंकार ही सत्त्वमें रज और तमकी अधिकतासे विकृत होकर परस्पर भेदवाली ग्रहणरूप पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों और ग्यारहवें इनके नियन्ता मनके रूपमें व्यक्त होकर बहिर्मुख हो रहा है।

(४) *अहंकारका विषम परिणाम ग्राह्यरूप पाँच तन्मात्राएँ*—महत्तत्त्वसे व्याप्य विभाजक अहंकार ही सत्त्वमें रज और तमकी अधिकतासे विकृत होकर परस्पर भेदवाली ग्राह्य पाँच तन्मात्राओंके रूपमें व्यक्तभावसे बहिर्मुख हो रहा है।

(५) *तन्मात्राओंका विषम परिणाम ग्राह्यरूप पाँच स्थूल भूत*—विभाजक अहंकारसे व्याप्य पाँचों तन्मात्राएँ ही सत्त्वमें रज और तमकी अधिकतासे विकृत होकर परस्पर भेदवाले पाँच स्थूल भूतोंमें व्यक्तभावसे बहिर्मुख हो रही हैं।

स्थूल भूत और तन्मात्राओंके बीचमें एक अवस्था सूक्ष्म भूतोंकी है, जिनकी सूक्ष्मताका तारतम्य स्थूल भूतोंसे लेकर तन्मात्राओंतक चला गया है।

इस प्रकार महत्तत्त्वकी अपेक्षा अहंकारमें, अहंकारकी अपेक्षा पाँचों तन्मात्राओंमें और ग्यारह इन्द्रियोंमें, और तन्मात्राओंकी अपेक्षा स्थूलभूतोंमें क्रमशः रज तथा तमकी मात्रा बढ़ती जाती है और सत्त्वकी मात्रा कम होती जाती है। यहाँतक कि स्थूल जगत् और स्थूल शरीरमें रज तथा तमका ही व्यवहार चल रहा है। सत्त्व केवल प्रकाशमात्र ही रह रहा है। यहाँ यह भी बतला देना आवश्यक है कि महत्तत्त्वमें प्रतिबिम्बित चेतनतत्त्व (आत्मा-परमात्मा) भी इन राजसी, तामसी आवरणोंसे ढका हुआ भौतिक शरीर तथा भौतिक जगत्‌में केवल झलकमात्र ही दिखायी देता है। इसलिये उपनिषदोंमें पुरुषका 'निवासस्थान चित्तमें जिसका विशेष स्थान आनुमानिक अङ्गुष्ठमात्र हृदय है, बतलाया गया है और सांख्य तथा योगद्वारा उसकी प्राप्तिका उपाय स्थूलभूत, तन्मात्राएँ, अहंकार और महत्तत्त्वसे क्रमशः अन्तर्मुख होते हुए स्वरूपावस्थित होना बतलाया है।

जिस प्रकार उत्तरमीमांसाके प्रथम चार सूत्र वेदान्तकी चतुःसूत्री कहलाती है, इसी प्रकार तत्त्वसमासके 'अष्टौ प्रकृतयः,' 'षोडश विकाराः,' 'पुरुषः,' 'त्रैगुण्यम्'—ये चार सूत्र सांख्यकी चतुःसूत्री है, जिनका कपिलमुनिने सारे ज्ञेय पदार्थोंका जिज्ञासु आसुरिको समाधि-अवस्थामें अनुभव कराके उपदेश किया है।

संगति—तीनों गुणोंका कार्य अगले सूत्रमें बतलाते हैं ।

सृष्टि और प्रलय

संचरः प्रतिसंचरः ॥ ६ ॥

सृष्टि और प्रलय (इन तीनों गुणोंकी अवस्थाविशेष हैं) ।

व्याख्या—ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच स्थूल भूत, इन सोलहों केवल विकृतियोंका, जो तीनों गुणोंके केवल विकार हैं, रजपर तमके अधिक-प्रभावसे वर्तमान स्थूल रूपको छोड़कर अपने कारण, अहंकार और पाँचों तन्मात्राओंमें क्रमसे लीन हो जानेका नाम प्रलय है और अपने प्रकृतियोंसे, इनका तमपर रजके अधिक प्रभावके कारण फिर विकृतिरूपमें प्रकट होनेका नाम सृष्टि है । सृष्टिके पीछे प्रलय, प्रलयके पीछे सृष्टि— यह क्रम-प्रवाह अनादिसे चला आ रहा है । जिस प्रकार ठीक रातके बारह बजेसे दिन आरम्भ होकर रातके बारह बजे समाप्त होता है, यद्यपि सूर्योदयसे सूर्यास्ततक दिन और सूर्यास्तसे सूर्योदयतक रात्रि कहनेमें आती है, इसी प्रकार सृष्टि-उन्मुख और प्रलय-उन्मुख अवस्था-परिणाम निरंतर चलता रहता है, यद्यपि स्थूलभूतोंमें जबसे व्यवहार चलानेकी योग्यताका अभिभव होता है, तबसे प्रलय और जब इसका प्रादुर्भाव होता है, तबसे सृष्टिका आरम्भ होना कहा जाता है ।

प्रलयमें सातों प्रकृतियोंका, सुषुप्तिमें अन्तर्मुख होनेके सदृश, केवल वृत्तिरूपसे ही लय होना बन सकता है, न कि स्वरूपसे; क्योंकि अविद्यादि क्लेश, कर्मोंके विपाक और वासनाओंके संस्कारोंकी निवृत्ति होनेपर चित्तका स्वरूपसे (अर्थात् चित्तको बनानेवाले सत्त्व, रजस् और तमसका) अपने कारणमें लीन होना तो केवल कैवल्यरूप मुक्तिमें ही हो सकता है ।

(ब्रह्मसूत्रमें भी अध्याय ४ पाद २ सूत्र १ से ५ तक इस बातको दर्शाया है । देखो शांकरभाष्य ।)

यहाँ यह भी बतला देना आवश्यक है कि स्थूलभूतोंकी सूक्ष्मताके तारतम्यको लिये हुए तन्मात्राओंतक एक सूक्ष्मावस्था होती है, जिसके अन्तर्गत सारे सूक्ष्म लोकलोकान्तर हैं । प्रलयमें केवल पृथिवी, जल और अग्निका स्वरूपसे लय और सृष्टिमें स्वरूपसे उत्पन्न होना होता है ।

यथा—

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत । तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत । तस्माद् यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते ॥ ३॥ ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त । तस्माद् यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यद्भ्य एव तदध्यन्नाद्यं जायते ॥ ४ ॥ (छान्दोग्य० ६ । २)

उसने ईक्षण किया—मैं बहुत हो जाऊँ, प्रजावाला होऊँ । उसने तेजको रचा । उस तेजने ईक्षण किया—मैं बहुत होऊँ, प्रजावाला होऊँ । उसने जलको रचा । इसलिये जहाँ-कहीं पुरुष गर्म होता है और उसे पसीना आता है, वहाँ तेजसे ही जल उत्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥

उस जलने ईक्षण किया—मैं बहुत होऊँ, मैं प्रजावाला होऊँ । उसने पृथिवीको रचा । इसलिये जहाँ-कहीं वर्षा होती है, वहीं बहुत अन्न अर्थात् पार्थिव पदार्थ उत्पन्न होते हैं ॥ ४ ॥

न्याय और वैशेषिक भी यहाँसे सृष्टिको आरम्भ करते हैं। श्रीकृष्णमहाराजने गीता अध्याय ८ में सृष्टिकी उत्पत्ति और प्रलयका क्रम इसी प्रकार बतलाया है।

यथा—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ १६॥
सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ १७॥
अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ १८॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥ १९॥

हे अर्जुन! ब्रह्मलोकसे लेकर सब लोक पुनरावर्ती स्वभाववाले हैं, परंतु हे कुन्तीपुत्र! मुझको (परब्रह्मको) प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता है॥ १६॥

ब्रह्माका जो एक दिन है उसको हजार चौकड़ी युगतक अवधिवाला और रात्रिको भी हजार चौकड़ी युगतक अवधिवाली जो पुरुष तत्त्वसे जानते हैं अर्थात् जो अनित्य जानते हैं, वे योगीजन कालके तत्त्वको जाननेवाले हैं॥ १७॥

सम्पूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्त मूलप्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्त मूलप्रकृतिमें ही लय होते हैं॥ १८॥

हे अर्जुन! वही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो-होकर प्रकृतिके वशमें हुआ रात्रिके प्रवेशकालमें लय होता है और दिनके प्रवेशकालमें फिर उत्पन्न होता है॥ १९॥

संगति अब सृष्टिके अवान्तर भेद बतलाते हैं॥

सृष्टिके तीन भेद

अध्यात्ममधिभूतमधिदैवं च॥ ७॥

(सृष्टिके तीन अवान्तर भेद हैं) अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव।

(१) *अध्यात्म*—जो सीधे अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले हैं, जैसे बुद्धि, अहंकार, मन, इन्द्रियाँ और शरीर।

(२) *अधिभूत*—जो अन्य प्राणियोंकी भिन्न-भिन्न सृष्टिसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं, जैसे गौ, अश्व, पशु-पक्षी आदि।

(३) *अधिदैव*—जो दिव्य शक्तियोंकी सृष्टिसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं, जैसे पृथिवी, सूर्य आदि।

व्याख्या—अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव सृष्टिके सम्बन्धसे तीन ही प्रकारका सुख-दुःख होता है—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। आध्यात्मिक सुख-दुःख दो प्रकारका है—शारीरिक और मानसिक।

शरीरका बलवान्, फुर्तीला और स्वस्थ होना शारीरिक सुख है, शरीरका दुर्बल, अस्वस्थ और रोगी होना शारीरिक दुःख है। इसी प्रकार शुभ संकल्प, शान्ति, वैराग्य आदि मानसिक सुख है, ईर्ष्या, तृष्णा, शोक, राग, द्वेष आदि मानसिक दुःख है।

आधिभौतिक सुख वह है जो दूसरे प्राणियोंसे मिलता है, जैसे गौ आदिसे दूध-घृतका, घोड़े आदिसे सवारीका और आधिभौतिक दुःख जैसे सर्प, बिच्छू आदिके काटनेसे होता है। आधिदैविक सुख प्रकाश, वृष्टि आदिसे होता है, आधिदैविक दुःख अतिवृष्टि और बिजली आदिके गिरनेसे होता है।

सङ्गति—मोक्षकी उपयोगिनी अध्यात्मसृष्टिका अगले सूत्रोंमें सविस्तर वर्णन करते हैं।

पाँच वृत्तियाँ

पञ्चाभिबुद्धयः[1] ॥ ८ ॥

बुद्धिकी वृत्तियाँ पाँच हैं।

व्याख्या- वृत्तियाँ पाँच प्रकारकी हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति।

प्रमाण यथार्थ ज्ञानको कहते हैं। यह तीन प्रकारका है—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। विपर्यय मिथ्या ज्ञानको कहते हैं, जो वस्तुके असली रूपमें प्रतिष्ठित न हो; जैसे रस्सीमें सर्प और सीपमें चाँदीकी भ्रान्ति। विकल्प भेदमें अभेद और अभेदमें भेदवाले ज्ञानको कहते हैं; जैसे 'पानीसे हाथ जल गया'—यहाँ अग्नि और पानीके भेदमें अभेदका ज्ञान है; और 'काठकी पुतली'—यहाँ काठ और पुतलीके अभेदमें भेदका ज्ञान है। निद्रा अभावकी प्रतीतिका आलम्बन करनेवाली वृत्तिका नाम है और स्मृति उन पाँचों वृत्तियोंद्वारा अनुभूत ज्ञानका स्मरण होना है। (इनका विस्तारपूर्वक वर्णन आगे योगदर्शन सा० पा० सू० ५ से ११ तक देखें।)

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ

पञ्च दृग्योनयः[2] ॥ ९ ॥

पाँच ज्ञानके स्रोत (ज्ञानेन्द्रिय—नेत्र, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचा) हैं।

व्याख्या—नेत्र, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचा—ये पाँच ज्ञानके स्रोत हैं। ये ज्ञानके प्रवाह बुद्धिके लिये अंदर बहते रहते हैं। नेत्र रूप-ज्ञानका, श्रोत्र शब्द-ज्ञानका, घ्राण गन्ध-ज्ञानका, त्वचा स्पर्श-ज्ञानका प्रवाह अंदर बहाती है।

---

१. भावागणेश आदिने आठवें सूत्रके अर्थ इस प्रकार किये हैं—

अभिबुद्धि, अभिमान, इच्छा, कर्तव्यता, क्रिया—ये पाँच अभिबुद्धि हैं। इनमें अभिबुद्धि अभिमुखी बुद्धि है अर्थात् यह अवश्य करना है, इस रूपवाली बुद्धिका नाम अभिबुद्धि है। मैं करता हूँ—यह वृत्ति अभिमान है। इच्छा चाहको कहते हैं। यह संकल्प मानसीवृत्ति है। कर्तव्यता, ज्ञानेन्द्रियोंकी शब्दादि विषयोंमें वृत्तिका नाम है। क्रिया वचन आदि लक्षणवाली कर्मेन्द्रियोंकी वृत्ति है।

२. 'सांख्य-तत्त्व-विवेचन' और 'तत्त्वयाथार्थ-दीपन' आदिमें नवें सूत्रका पाठ ''पञ्च कर्मयोनयः'' दिया है, जिसके अर्थ इस प्रकार किये हैं,—कर्मजन्य और कर्मजनक होनेसे धृति, श्रद्धा, सुखा, अविविदिषा और विविदिषा—ये पाँच कर्मयोनि कहलाती हैं। इनके क्रमसे लक्षण इस प्रकार हैं—वाणी, कर्म और संकल्पमें जो प्रतिष्ठित हो, वह धृति

पाँच प्राण

पञ्च वायवः ॥ १० ॥

पाँच वायु (प्राण) हैं ।

व्याख्या— वायु पाँच हैं—प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान; इन पाँचोंको प्राण भी कहते हैं।

प्राण-वायुका निवास-स्थान हृदय है। यह शरीरके ऊपरी भागमें रहता हुआ ऊपरकी इन्द्रियोंका काम संचालन करता है। अपान-वायुका निवास-स्थान गुदाके निकट है और शरीरके निचले भागमें संचालन करता है, निचली इन्द्रियोंद्वारा मल-मूत्रके त्यागादिका काम उसके आश्रित है। समान-वायु शरीरके मध्यभाग नाभिमें रहता हुआ हृदयसे गुदातक संचार करता है। खाये-पिये अन्न, जल आदिके रसको सब अङ्गोंमें बराबर बाँटना उसका काम है। व्यान-वायु सारी स्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म नाड़ियोंमें घूमता हुआ शरीरके प्रत्येक भागमें रुधिरका संचार करता है। उदान-वायु सूक्ष्म शरीरको शरीरान्तर वा लोकान्तरमें ले जाता है।

प्राणका विस्तारपूर्वक वर्णन योगदर्शन समाधि पा० सू० ३४ के वि० वि० में देखें।

पाँच कर्मेन्द्रियाँ

पञ्च कर्मात्मानः[1] ॥ ११ ॥

पाँच कर्मकी शक्तियाँ (कर्मेन्द्रियाँ) हैं ।

व्याख्या—बोलना, पकड़ना, चलना, मूत्र-त्याग और मल-त्याग—ये पाँच शारीरिक कर्म हैं। इन पाँचों कर्मोंके करनेवाली वाणी, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा— ये पाँच शक्तियाँ कर्मेन्द्रिय कहलाती हैं।

पाँच गाँठवाली अविद्या

पञ्चपर्वा अविद्या ॥ १२ ॥

पाँच गाँठोंवाली अविद्या है ।

व्याख्या—अविद्या पाँच प्रकारकी है—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ।

अनित्यमें नित्य, अपवित्रमें पवित्र, दुःखमें सुख और अनात्मामें आत्माका ज्ञान अविद्या है। बुद्धिमें आत्मबुद्धि अस्मिता है। सुखकी इच्छा अर्थात् लोभकी वृत्तिका नाम राग है। सुख-साधनमें विघ्न डालनेवालोंके प्रति घृणा अथवा द्वेष-वृत्ति द्वेष है और मृत्युसे भयकी वृत्तिका नाम अभिनिवेश है। इनको क्रमसे तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र कहते हैं ।

है। अनसूया, ब्रह्मचर्य, यजन, याजन, तप, दान, प्रतिग्रह और होम—यह श्रद्धाका लक्षण है। जो अर्थार्थीका विद्या, कर्म और तपका आचरण करना, नित्य प्रायश्चित्तपरायण होना (भूलोंका शोधन करना) है, इसको सुखा कहते हैं। वेद-ज्ञानकी इच्छामें प्रतिबन्धक क्रिया अविविदिषा है। यह अचेतन एकत्व है, पृथक्त्व है, नित्य है, सूक्ष्म है, सत्कार्य है, अक्षोभ्य है—यह जाननेकी इच्छा विविदिषा है। इनमें चार धृति, श्रद्धा, सुखा, अविविदिषा बन्धके कारण हैं। केवल आत्माके विषयमें एकत्व और पृथक्त्व आदि विषयवाली विविदिषा मोक्षका हेतु है; क्योंकि यह ज्ञान और मोक्षके प्रतिबन्धको नाश करनेवाले कर्मोंसे उत्पन्न होती है और उन कर्मोंकी जनक भी है।

१. ग्यारहवें सूत्रमें भावागणेश आदिने 'पञ्च कर्मात्मानः' में कर्मात्माके अर्थ वैकारिक, तैजस, भूतादि, सानुमान और निरनुमान किये हैं।

इनकी विस्तारपूर्वक व्याख्या योगदर्शन सा० पा० प्रथम नौ सूत्रोंमें देखें ।

अट्ठाईस अशक्तियाँ

अष्टाविंशतिधाऽशक्तिः ॥ १३ ॥

अट्ठाईस प्रकारकी अशक्ति है ।

एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा ।
सप्तदशवधा बुद्धेर्विपर्ययात् तुष्टिः सिद्धानाम् ॥ (सां० का० ४९)

इन्द्रियोंके जो ग्यारह वध हैं, वे बुद्धिके वधोंके साथ मिलकर (ग्यारह) अशक्ति बतलायी गयी हैं । (नौ) तुष्टि और (आठ) सिद्धिसे उलटी (नौ अतुष्टियाँ और आठ असिद्धि) ये सतरह बुद्धिके वध (सत्तरह अशक्ति) हैं । (इस भाँति अट्ठाईस प्रकारकी अशक्ति हैं)।

व्याख्या— मनुष्यके पास बुद्धि ही ऐसी शक्ति है, जिसके द्वारा वह भोग-अपवर्गका प्रयोजन सिद्ध कर सकता है, यदि उसमें पूर्ण शक्ति हो अर्थात् यदि उसकी शक्तिका किसी प्रकार भी ह्रास न हुआ हो। जितनी भी त्रुटि होती है, वह सब बुद्धिकी अशक्तिसे ही होती है । बुद्धिकी अशक्ति अट्ठाईस प्रकारकी है । ग्यारह अशक्तियाँ ग्यारह इन्द्रियोंके मारे जानेसे होती हैं; जैसे नेत्रसे अंधा होना, कानसे बहिरा होना, घ्राणसे गन्ध न ज्ञात होना, रसनासे रसका स्वाद न आना, त्वचासे कुष्ठ होना, वाणीसे गूँगा होना, हाथोंसे लूला तथा पाँवोंसे पङ्गु होना, उपस्थसे नपुंसक और गुदासे गुदावर्त (मलबन्ध) होना, मनसे उन्माद होना— ये ग्यारह इन्द्रियोंकी अशक्तिसे बुद्धिकी अशक्ति ग्यारह प्रकारकी है । बुद्धिकी साक्षात् अशक्ति सत्तरह प्रकारकी है । नौ तुष्टियाँ एवं आठ सिद्धियाँ जो अगले दो सूत्रोंमें बतलायी जायँगी उनसे उलटी नौ अतुष्टियाँ और आठ असिद्धियाँ मिलकर बुद्धिकी सतरह अशक्तियाँ हैं। ये तुष्टियाँ स्वयं अपने रूपसे तो आत्मोन्नतिमें सहायक और उपादेय हैं। इसलिये शक्तिरूप हैं। केवल इनमें आसक्ति अर्थात् इनमें संतुष्ट होकर आत्मोन्नतिके लिये यत्न करना छोड़ देना हेय कोटिमें है। इस कारण इनसे उलटी नौ अतुष्टियाँ नौ अशक्तिरूप हैं ।

नौ तुष्टियाँ

नवधा तुष्टिः ॥ १४ ॥

तुष्टियाँ नौ प्रकारकी हैं ।

आध्यात्मिकाश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः ।
बाह्या विषयोपरमात् पञ्च नव तुष्टयोऽभिमताः ॥ (सां० का० ५०)

तुष्टियाँ नौ मानी गयी हैं। उनमेंसे चार आध्यात्मिक हैं, जिनके नाम प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य हैं । और पाँच बाह्य हैं, जो (आत्मसाक्षात्कारसे पूर्व ही उसके साधनरूप) विषयोंमें वैराग्यसे होती हैं ।

व्याख्या—तुष्टि, उपरति अथवा उपरामता हटे रहनेको कहते हैं, अर्थात् मोक्ष-प्राप्तिसे पहले ही उसके साधनोंको छोड़कर संतुष्ट हो जानेका नाम तुष्टि है। यह दो प्रकारकी होती है—बाह्यतुष्टि और आध्यात्मिकतुष्टि ।

बाह्य तुष्टि अन्तरात्माको समझे बिना केवल बाहरके विषयोंसे उपरतिको कहते हैं । वह पाँच प्रकारकी है— शब्द-तुष्टि, स्पर्श-तुष्टि, रूप-तुष्टि, रस-तुष्टि और गन्ध-तुष्टि । इन शब्द-स्पर्शादि पाँचों विषयोंसे पाँच प्रकारके दुःख होते हैं । अर्थात् (१) इनके प्राप्त करनेमें दुःख, (२) रक्षामें दुःख, (३) नाशमें दुःख, (४) भोगमें दुःख; क्योंकि भोगके अभ्याससे कामना बढ़ती है और कामनाकी अपूर्तिमें दुःख होता है—और (५) दूसरोंकी हिंसाका दुःख, क्योंकि बिना किसीकी हिंसाके भोगकी प्राप्ति नहीं हो सकती। उपर्युक्त तुष्टियाँ हेयकोटिमें हैं, किंतु जब साधनरूप कर्तव्यको बिना किसी प्रकारके आलस्य और प्रमादके इन विषयोंसे सर्वथा आसक्ति और लगावको त्यागकर किया जाता है तब इस प्रकारकी तुष्टिसे संतुष्ट हुआ मन निश्चल और कामनारहित होकर परम शान्तिको प्राप्त कर लेता है। अतः इस प्रकार ही तुष्टि शक्तिरूप है ।

आध्यात्मिक तुष्टियाँ चार प्रकारकी हैं—प्रकृति-तुष्टि, उपादान-तुष्टि, काल-तुष्टि और भाग्य-तुष्टि । ये तुष्टियाँ उनको होती हैं जो यह जानते हुए भी कि जड-तत्त्व और चेतन-तत्त्व सर्वथा भिन्न हैं, किसी झूठे भरोसेपर स्वरूपावस्थितिके लिये यत्न नहीं करते। इन तुष्टियोंके क्रमसे (१) पार, (२) सुपार, (३) पारापार, (४) अनुत्तमाम्भ और (५) उत्तमाम्भ नाम हैं ।

१—प्रकृति-तुष्टि—यह जानकर भी कि आत्मा प्रकृतिसे अलग है आत्माके साक्षात्कारके लिये इस भरोसेपर धारणा-ध्यान-समाधिका अभ्यास न करना कि प्रकृति पुरुषके भोग-अपवर्गके लिये स्वयं प्रवृत्त हो रही है इसलिये भोगके सदृश अपवर्ग भी आप ही प्राप्त हो जायगा—यह प्रकृतिके भरोसेपर प्रकृति-तुष्टि है यह भरोसा इसलिये झूठा है कि प्रकृति पुरुषकी इच्छाके अधीन चल रही है, जब वह स्वयं संतुष्ट होकर मोक्षके साधनसे उपराम हो रहा है तो प्रकृति उसके लिये क्या कर सकती है ।

२—उपादान-तुष्टि— इस भरोसेपर कि संन्यास ग्रहण करनेसे अपवर्ग स्वयं मिल जायगा, उसके लिये उपाय न करना उपादान-तुष्टि है । यह भरोसा इसलिये झूठा है कि संन्यास एक चिह्नमात्र है । उसमें भी धारणा, ध्यान और समाधि ही आत्मसाक्षात्कारका हेतु है ।

३—काल-तुष्टि—इस विश्वासपर कि समय पाकर स्वयं मुक्ति प्राप्त हो जायगी, उसके लिये कोई यत्न न करना काल-तुष्टि है। यह कालका भरोसा इसलिये झूठा है कि काल सब कार्योंका समान हेतु है—उन्नतिके सदृश वह अवनतिका भी हेतु है । इसलिये उन्नतिके लिये यत्न ही अपेक्षित है ।

४—भाग्य तुष्टि—इस भरोसेपर कि यदि भाग्यमें होगा तो स्वयं तत्त्वज्ञान प्राप्त होकर मुक्ति हो जायगी, उसके लिये कोई यत्न न करना भाग्य-तुष्टि कहलाती है। यह भरोसा इसलिये झूठा है कि भाग्य भी अपने पुरुषार्थका ही बनाया हुआ होता है ।

उपर्युक्त तुष्टियाँ हेय कोटिमें हैं, किंतु जब साधनरूप कर्तव्यको बिना किसी प्रकारके आलस्य और प्रमादके किया जाता है, तब इन तुष्टियोंसे धैर्य और शान्ति प्राप्त होती है । अतः इस प्रकारकी तुष्टि शक्तिरूप हैं ।

आठ सिद्धियाँ

अष्टधा सिद्धिः ॥ १९ ॥

सिद्धि आठ प्रकारकी है ।

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः॥ (सां० का० ५१)

ऊह, शब्द, अध्ययन, तीन दुःखविघात, सुहृत्प्राप्ति और दान—ये सिद्धियाँ हैं। सिद्धिसे पूर्व तीन प्रकारका अङ्कुश है।

व्याख्या—सिद्धियाँ आठ हैं—ऊह, शब्द, अध्ययन, सुहृत्प्राप्ति, दान, आध्यात्मिक दुःखहान, आधिभौतिक दुःखहान और आधिदैविक दुःखहान।

ऊह-सिद्धि—पूर्व-जन्मके संस्कारोंसे स्वयं इस सृष्टिको देख-भालकर नित्य-अनित्य, चित्-अचित्के निर्णयसे चौबीस तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान होना।

शब्द-सिद्धि—विवेकी गुरुके उपदेशसे ज्ञान होना।

अध्ययन-सिद्धि—वेद आदि शास्त्रोंके अध्ययनसे ज्ञान होना।

सुहृत्प्राप्ति-सिद्धि—वे सिद्ध पुरुष जो स्वयं मनुष्योंका अज्ञान मिटानेके लिये घूम रहे हैं, उनमेंसे किसी दयालुके मिल जानेसे ज्ञानका प्राप्त होना।

दान-सिद्धि—वे योगी जो अपने खाने-पीनेकी आवश्यकताओंसे निरपेक्ष होकर आत्मसाक्षात्कारमें लगे हुए हैं उनकी भोजन आदि सब प्रकारकी आवश्यकताओंको श्रद्धा-भक्तिके साथ पूरा करनेसे उनके प्रसादसे ज्ञान लाभ करना।

गीता अध्याय १७ में सात्त्विक, राजस और तामस मनोवृत्तिके भेदसे तीन प्रकारका दान बतलाया गया है।

यथा—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे। देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥२०॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः। दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥२१॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते। असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥२२॥

दान देना ही कर्तव्य है—ऐसे भावसे जो दान देश, काल और पात्रके प्राप्त होनेपर प्रत्युपकार न करनेवालेके लिये दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है॥ २०॥ और जो दान क्लेशपूर्वक तथा प्रत्युपकारके प्रयोजनसे अथवा फलको उद्देश्य रखकर फिर दिया जाता है, वह दान राजस कहा गया है॥ २१॥ और जो दान बिना सत्कार किये अथवा तिरस्कार पूर्वक अयोग्य देश, कालमें कुपात्रों (मद्य-मांसादि अभक्ष्य वस्तुओंका सेवन करनेवाले, हिंसक, दुराचारी, पाप कर्म करनेवाले) के लिये दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है॥ २२॥ दान देनेवाले तथा दान लेनेवाले दोनोंके लिये सात्त्विक दान ही इष्ट है। राजस तथा तामस दान देनेवाले तथा लेनेवाले दोनोंके लिये राजसी तथा तामसी वृत्तियोंका उत्पन्न करनेवाला होता है।

उपर्युक्त पाँच सिद्धियाँ तत्त्वज्ञानके उपाय हैं और निम्न तीन सिद्धियाँ उनके फल हैं ।

आध्यात्मिक दुःख-हान—सब आध्यात्मिक दुःखोंका मिट जाना ।

आधिभौतिक दुःख-हान—सब आधिभौतिक दुःखोंका मिट जाना ।

आधिदैविक दुःख-हान—सब आधिदैविक दुःखोंका मिट जाना ।

इनसे उलटी आठ प्रकारकी असिद्धियाँ बुद्धिकी आठ प्रकारकी अशक्तियाँ हैं ।

संगति—आध्यात्मिक विपर्योंका वर्णन करके अब अगले सूत्रमें मूल तत्त्वोंका धर्म बतलाते हैं ।

दस मूल धर्म

दश मौलिकार्थाः ॥ १६ ॥

दश मूलभूत धर्म हैं (अस्तित्व, संयोग, वियोग, शेषवृत्तित्व, एकत्व, अर्थवत्त्व, परार्थ्य, अन्यता, अकर्तृत्व और बहुत्व) ।

व्याख्या—अव्यक्त और पुरुषके संयोगसे सृष्टि रचना हुई है । पुरुष तो सदा ही अपने वास्तविक शुद्ध ज्ञानस्वरूपसे असंग, निर्लेप और निर्विकार ही रहता है, यह जड अव्यक्तका धर्म-संयोग उसमें विकल्पसे कहा जाता है । सृष्टिमें जो धर्म पाये जाते हैं, वे कार्य-जगत्के धर्म हैं । उससे पहले मूलभूत अव्यक्त और पुरुषमें जो धर्म पाये जाते हैं, वे मौलिक धर्म हैं ।

अस्तित्व, संयोग, वियोग और शेषवृत्तित्व—ये चार धर्म पुरुष और अव्यक्त दोनोंके हैं । संयोग और वियोग परिणामी अव्यक्तके स्वाभाविक और वास्तविक धर्म हैं, किंतु कूटस्थ नित्य पुरुषमें विकल्पसे कहे गये हैं । अव्यक्त और पुरुष दोनोंमें अस्तित्व है । दोनों परस्पर संयुक्त होते हैं, जिससे सृष्टि-रचना होती है । दोनों वियुक्त होते हैं, जब मोक्ष होता है । दोनों विद्यमान रहते हैं, जब प्रलय होती है । (भावागणेशादिने जीवन्मुक्तके संस्कारमात्रसे 'चक्रभूमिवत्' शरीरकी जो स्थिति है, उसको शेष-वृत्ति मानकर केवल पुरुषका धर्म बतलाया है ।)

एकत्व, अर्थवत्त्व और परार्थ्य—ये तीन धर्म अव्यक्तमें हैं । अव्यक्त एक है, प्रयोजनवाला है, पुरुष (जीव) को भोग और अपवर्ग देना इसका प्रयोजन है और परार्थ है, क्योंकि पुरुषके लिये काम करता है अपने लिये नहीं । (भावागणेशादिने 'अर्थवत्त्व' को पुरुषार्थवत्त्व मानकर पुरुषका धर्म कहा है ।)

एकत्व—यह धर्म पुरुष अर्थात् शुद्ध चेतन-तत्त्वका तथा समष्टि अन्तःकरण (विशुद्ध-सत्त्वमय चित्त) की अपेक्षासे उसके शबलस्वरूप ईश्वरका भी है ।

अन्यता और बहुत्व—जडवर्गसे भिन्न होनेसे अन्यत्व धर्म पुरुषका है और व्यष्टि अन्तःकरणोंके सम्बन्धसे जीव अर्थ पुरुषका बहुत्व धर्म है, जो व्यष्टि अन्तःकरणों (सत्त्वचित्तों) की अपेक्षासे परस्पर भिन्न और संख्यामें बहुत (अनन्त) हैं ।

अकर्तृत्व—यह धर्म पुरुष (शुद्ध-चेतन-तत्त्व) का है । पुरुष अपने शुद्ध चेतन-स्वरूपसे कर्ता नहीं है, किंतु द्रष्टा है । कर्तृत्व—यह धर्म गुणोंमें है ।

सङ्गति—अगले सूत्रमें सृष्टि-रचनाका प्रयोजन बताते हैं ।

सृष्टिका रूप

अनुग्रहः सर्गः ॥ १७ ॥

अनुग्रह सृष्टि है।

इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः॥ (सां० का० ५६)

इस प्रकार यह प्रकृतिसे किया हुआ महत्तत्त्वसे लेकर विशेष अर्थात् पाँचों स्थूल भूतों और इन्द्रियों-तकका आरम्भ प्रत्येक पुरुषके मोक्षके लिये स्वार्थके सदृश परार्थ है। जिस प्रकार एक मित्र अपने मित्रके कार्यमें प्रवृत्त हुआ उसे अपने स्वार्थके सदृश साधता है, इसी प्रकार यह प्रकृति पुरुषके प्रयोजनको स्वार्थ-की भाँति साधती है; जबतक वह मोक्ष नहीं पा लेता। मोक्ष पा लेनेपर फिर उसके लिये रचना नहीं रचती, यद्यपि दूसरोंके लिये रचती है (क्योंकि मुक्तको अब उसकी रचनासे कोई प्रयोजन नहीं है)।

औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्॥ (सां० का० ५८)

उत्कण्ठाके मिटानेके लिये जैसे लोक (दुनिया) कामोंमें प्रवृत्त होता है (भूख मिटानेके लिये भोजनमें प्रवृत्त होते हैं), इसी प्रकार पुरुषके मोक्षके लिये प्रधान अर्थात् प्रकृति प्रवृत्त हो रही है।

व्याख्या—अव्यक्तकी पुरुषके अनुकूल प्रवृत्ति सृष्टि है; क्योंकि अव्यक्त सृष्टि-रचनामें पुरुषके लिये बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियाँ, शरीर और विषय आदि रचता है। उसकी सारी रचना पुरुषके भोग और अपवर्ग-के लिये ही है; क्योंकि पुरुषकी संनिधिमें पुरुषके ही ज्ञानसे पुरुषके लिये ही उसमें सारी क्रियाएँ ज्ञान, नियम और व्यवस्थापूर्वक हो रही हैं।

सङ्गति—अगले सूत्रमें प्राणियोंकी सृष्टि बतलाते हैं।

चौदह प्रकारकी प्राणि-सृष्टि

चतुर्दशविधो भूतसर्गः ॥ १८ ॥

चौदह प्रकारकी प्राणियोंकी सृष्टि है।

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति।
मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः॥
ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः॥

(सां० का० ५३-५४)

आठ प्रकारकी दैवी सृष्टि है। पाँच प्रकारकी तिर्यक् योनियोंकी है। मनुष्यकी एक प्रकारकी है। ये संक्षेपसे प्राणियोंकी सृष्टि हैं। ऊपरकी सृष्टि सत्त्वप्रधान है, निचली तमःप्रधान है और मध्यकी रजः-प्रधान है। ये ब्रह्मासे लेकर शैवालतक सृष्टि हैं।

व्याख्या—चौदह प्रकारकी प्राणियोंकी सृष्टि इस प्रकार है—ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, दैव, गान्धर्व, पित्र्य, विदेह और प्रकृतिलय—यह आठ प्रकारका देव-सर्ग है, जो भिन्न-भिन्न कर्मोपासनाका फल है।

इसके बाद नवाँ मानुष-सर्ग अर्थात् मानुषी-सृष्टि है और अन्तमें, मनुष्यसे नीचे, पशु, पक्षी, सरीसृप अर्थात् रेंगनेवाले जन्तु, कीट और स्थावर—इन पाँचका तिर्यक्-सर्ग है।

उपर्युक्त १४ प्रकारकी सृष्टिमेंसे मनुष्यसे नीचे ५ प्रकारके तिर्यक् सर्गका तो प्रत्यक्ष होता है, किंतु मनुष्यसे ऊँचे ८ प्रकारके दैव-सर्गका मनुष्योंसे सूक्ष्म होनेके कारण प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। वितर्कानुगतसे ऊँची प्रकाशमय विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधिमें सूक्ष्मताके तारतम्यसे जो आनन्दमें अन्तर है, इसी प्रकार इनमेंसे पहले ६ सर्गोंमें परस्पर अन्तर है। इन छहोंमें भी सूक्ष्मताके तारतम्यसे आनन्दमें परस्पर और कई अवान्तर भेद हो सकते हैं। इसी कारण बृहदारण्यक उपनिषद्, शतपथ ब्राह्मण और तैत्तिरीय उपनिषदादिमें इनके नामोंमें कुछ अन्तर प्रतीत होता है; किंतु जिस प्रकार प्रकाशमय विचारानुगत संकल्पमयी अवस्था समानरूपसे होती है, यद्यपि इसमें समाधि-अवस्थाकी सूक्ष्मताके अनुसार अन्तर होता है। इसी प्रकार इन सब सर्गोंमें जीव संकल्पमय होता है, यद्यपि संकल्पोंमें परस्पर सूक्ष्मता और आनन्दके तारतम्यसे अन्तर होता है। ये सब स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम्के अन्तर्गत हैं। विदेह और प्रकृतिलयोंका आनन्द और सूक्ष्मता पहले ६ सर्गोंकी अपेक्षा अधिक है और उनकी अवधि भी इनसे अधिक है; क्योंकि विदेह विचारानुगतसे ऊँची आनन्दानुगत सम्प्रज्ञातसमाधिकी भूमितक पहुँचे हुए हैं और शरीरसे अभिमान छोड़े हुए हैं तथा प्रकृतिलय इससे भी ऊँची अस्मितानुगत भूमिमें अहङ्कारका भी अभिमान छोड़े हुए हैं। ये दोनों अवस्थाएँ केवल योगियोंको ही प्राप्त होती हैं। इसलिये तैत्तिरीय उपनिषद्, बृहदारण्यक उपनिषद् और शतपथ ब्राह्मणमें इनका वर्णन नहीं है। श्रीव्यासजी महाराज विभूतिपाद सूत्र २६ के भाष्यमें इनके सम्बन्धमें लिखते हैं—"विदेह और प्रकृतिलय नामक योगी कैवल्यके तुल्य स्थितिमें हैं, इसलिये वे किसी (दिव्य) लोकमें निवास करनेवालोंके साथ नहीं उपन्यास किये गये"। अवान्तर भेदोंको लेकर ही उपर्युक्त प्रथम छः सर्गोंका कई प्रकारसे वर्णन किया गया है। यथा—

तैत्तिरीय उपनिषद्, शीक्षावल्ली अनुवाक ८।

१. मनुष्यके आनन्दकी काष्ठाका सौगुना आनन्द मनुष्य-गन्धर्वलोकवालोंको।

२. मनुष्य गन्धर्वका सौगुना आनन्द दैव-गन्धर्वलोकवालोंको।

३. दैव-गन्धर्वका सौगुना आनन्द पितरलोकवालोंको।

४. पितरका सौगुना आनन्द आजानजदेवलोकवालोंको।

५. आजानज देवताओंका सौगुना आनन्द कर्मदेवलोकवालोंको।

६. कर्मदेवका सौगुना आनन्द देवलोकवालोंको।

७. देवका सौगुना आनन्द इन्द्रलोकवालोंको।

८. इन्द्रका सौगुना आनन्द बृहस्पतिलोकवालोंको।

९. बृहस्पतिका सौगुना आनन्द प्रजापतिलोकवालोंको।

१०. प्रजापतिका सौगुना आनन्द ब्रह्माके लोकवालोंको।

बृहदारण्यक उपनिषद् ४।३।२।

१. मनुष्यके आनन्दकी पराकाष्ठाका सौगुना आनन्द पितरलोकवालोंको।

२. पितरका सौगुना आनन्द गन्धर्वलोकवालोंको।

३. गन्धर्वका सौगुना आनन्द आजानजदेवलोकवालोंको ।

४. आजानजदेवका सौगुना आनन्द प्रजापतिलोकवालोंको ।

५. प्रजापतिलोकवालोंका सौगुना आनन्द ब्रह्माके लोकवालोंको ।

शतपथ १४ । ७ । १ । ३१ ।

१. मनुष्यका सौगुना आनन्द पितरलोकवालोंको ।

२. पितरका सौगुना आनन्द कर्मदेवलोकवालोंको ।

३. कर्मदेवका सौगुना आनन्द आजानजदेवलोकवालोंको ।

४. आजानजदेवका सौगुना आनन्द देवलोकवालोंको ।

५. देवका सौगुना आनन्द गन्धर्वलोकवालोंको ।

६. गन्धर्वका सौगुना आनन्द प्रजापतिलोकवालोंको ।

७. प्रजापतिका सौगुना आनन्द ब्रह्माके लोकवालोंको ।

उन्हीं सूक्ष्म लोकोंको ही चन्द्रलोक, सोमलोक और स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् कहते हैं ।

जिस प्रकार व्युत्थानकी अपेक्षा सम्प्रज्ञात समाधि योग है, किंतु असम्प्रज्ञात समाधिकी अपेक्षा सम्प्रज्ञातसमाधि व्युत्थान है, इसी प्रकार मनुष्यके मृत्युलोककी अपेक्षा यह सब अमरलोक और मनुष्यके बन्धनकी अपेक्षासे यह पुनरावृत्ति मुक्तिकी अवस्थाएँ हैं, किंतु अपुनरावृत्ति मुक्ति (कैवल्य) की अपेक्षासे यह सब बन्धन है । यथा—

आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन । मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥

(गीता ८ । १६)

ब्रह्मलोकसे लेकर सब लोक पुनरावर्ती स्वभाववाले हैं, किंतु हे अर्जुन ! मुझ (शुद्ध चेतन-तत्त्व' परब्रह्म, परमात्मा) को प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता । इस पुनर्जन्म न होनेवाली मुक्तिके भी दो भेद हो सकते हैं—(१) वे योगी जो असम्प्रज्ञात समाधिद्वारा चित्तके सर्व संस्कार और अविद्यादि क्लेश नाश कर चुके हैं, किंतु उनके चित्तमें केवल संसारके प्राणियोंके कल्याणका संकल्प शेष रह गया है, इसलिये यह संकल्प ईश्वरके प्राणियोंके कल्याणके नित्य संकल्पके तदाकार होनेके कारण, इनके चित्त ईश्वरके विशुद्ध सत्त्वमय चित्तमें लीन होकर पुनः न आनेवाली मुक्तिका लाभ करते हैं और समय-समय-पर उसके नियमानुसार प्राणीमात्रके कल्याणके लिये संसारमें अवतरण करते हैं अर्थात् अवतार लेते हैं । यथा—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

(गीता ४ । ७-८)

हे भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब मैं अपने-आपको प्रकट करता हूँ । सज्जनोंकी रक्षा करनेके लिये और दूषित कर्म करनेवालोंका नाश करनेके लिये तथा धर्मस्थापन करनेके लिये युग-युगमें प्रकट होता हूँ ।

(२) जो योगी असम्प्रज्ञात समाधिद्वारा सारे संस्कार और अविद्यादि क्लेश नाश कर चुके हैं तथा उपर्युक्त संकल्पशेष भी निवृत्त कर चुके हैं, उनके चित्त बनानेवाले गुण अपने कारणमें लीन हो जाते हैं और आत्मा (चेतनतत्त्व) अपने शुद्ध कैवल्य स्वरूपमें अवस्थित हो जाता है। पहली अवस्थावाले योगी इस संकल्पको हटाकर चित्तके बनानेवाले गुणोंको अपने कारणमें लीन करनेका हर समय अधिकार रखते हैं तथा कहीं-कहीं कलाओंकी न्यूनाधिकता दिखलाकर अवतारोंके कई अवान्तर भेद बतलाये हैं।

इसी प्रकार कहीं-कहीं इन चित्तोंको सिद्ध चित्त तथा निर्माण चित्तके नामसे वर्णन किया गया है।

संगति—अगले सूत्रमें उनका बन्ध और मोक्ष बतलाते हैं।

बन्ध और मोक्षके तीन प्रकार

त्रिविधो बन्धः ॥ १९ ॥

त्रिविधो मोक्षः ॥ २० ॥

तीन प्रकारका बन्ध (वैकृतिक, दाक्षिणिक और प्राकृतिक) होता है ॥ १९ ॥ तीन प्रकारका मोक्ष (वैकृतिक, दाक्षिणिक और प्राकृतिक) होता है ॥ २० ॥

व्याख्या—बन्ध तीन प्रकारका है—वैकृतिक (वा वैकारिक), दाक्षिणिक और प्राकृतिक। जो योगी वितर्कानुगतवाली प्रथमभूमिमें आत्मसाक्षात्कारसे शून्य केवल भूत, इन्द्रिय, मन आदि १६ विकारोंमें ही आसक्त हो रहे हैं अथवा राजसी प्रवृत्तिवाले मनुष्य जिनके कर्म सत्त्वगुण, तमोगुण दोनोंसे मिश्रित हैं, वे इन वैकृतिक वासनाओंके अधीन उसी भूमिमें मनुष्यलोकमें जन्म लेते हैं। इनका यह बन्ध वैकृतिक वा वैकारिक कहलाता है।

जो विचारानुगतवाली दूसरी भूमिमें आत्मसाक्षात्कारसे शून्य रहकर केवल सूक्ष्म विषयोंमें ही आसक्त हो रहे हैं तथा जो आत्मसाक्षात्कारसे शून्य रहकर फल-कामनाके अधीन होकर केवल सकाम इष्ट-पूर्त आदि परोपकार और अहिंसात्मक सात्त्विक कर्मोंमें लगे हुए हैं, वे इन सात्त्विक वासनाओंके अधीन होकर दक्षिणमार्गसे चन्द्रलोक अर्थात् सात्त्विकताके तारतम्यानुसार सूत्र १८ में बतलायी हुई ६ दैव सर्गोंमें सात्त्विक वासनाओंका फल भोगकर आत्मसाक्षात्कारके लिये अपनी पिछली भूमिकी योग्यताको लिये हुए मनुष्यलोकमें फिर जन्म लेते हैं। इनका यह बन्ध दाक्षिणिक कहलाता है। (देखो विभूतिपाद सूत्र ३९ का विशेष वक्तव्य) सम्प्रज्ञात समाधिकी उच्चतर और उच्चतम भूमि आनन्दानुगत और अस्मितानुगतको प्राप्त किये हुए योगी जो आत्मसाक्षात्कारसे शून्य रहकर केवल इन भूमियोंके आनन्दमें आसक्त रहते हैं और विवेकख्यातिद्वारा स्वरूपावस्थितिका यत्न नहीं करते हैं, वे शरीर त्यागनेके पश्चात् इन वासनाओंके अधीन लंबे समयतक विदेह और (अस्मिता) प्रकृतिलय अवस्थामें कैवल्यपद-जैसी स्थितिमें रहकर आत्मसाक्षात्कारके लिये पानीमें डुबकी लगानेवाले पुरुषके सदृश फिर उठते हैं अर्थात् उच्च कुलवाले योगियोंके घरमें अपनी पिछली भूमिकी योग्यताको प्राप्त किये हुए फिर जन्म लेते हैं (देखो समाधिपाद० १८, १९)। इनका यह बन्ध प्राकृतिक बन्ध है। अर्थात् आत्मसाक्षात्कारसे शून्य रहकर वितर्कानुगत भूमिमें आसक्त हुए योगियोंका बन्ध वैकृतिक,

विचारानुगतमें आसक्त हुए योगियोंका बन्ध दाक्षिणिक और आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत भूमियोंमें आसक्त हुए योगियोंका बन्ध प्राकृतिक कहलाता है।

इन तीनों बन्धोंसे छूटना तीन प्रकारका मोक्ष है। स्थूल विषयोंसे आसक्ति हटाना तथा राजसी, तामसी वासनाओंका छोड़ना वैकारिक बन्धसे मोक्ष है। सूक्ष्म विषयोंसे आसक्ति हटाना तथा सात्त्विक कार्योंमें निष्काम भाव होना दाक्षिणिक बन्धसे मोक्ष है। आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत भूमिके आनन्दमें आसक्तिसे परवैराग्यद्वारा चित्तको हटाकर स्वरूपावस्थितिका लाभ प्राप्त करना प्राकृतिक बन्धसे मोक्ष है।

ऊपर तीन प्रकारका बन्ध और मोक्ष दिखलाकर यह बतला देना आवश्यक हो जाता है कि बन्ध और मोक्ष किसको होता है? उसका क्या स्वरूप है? और किस कारणसे होता है? तथा नास्तिकोंकी इस शङ्काका समाधान कर देना उचित प्रतीत होता है कि यदि संसारकी उत्पत्ति करनेवाला कोई ईश्वर माना जाता है तो जीवोंके बन्ध और दुःखोंका उत्तरदायित्व भी उसीपर आ जाता है।

दो अनादि तत्त्व

सांख्य और योगमें चेतन और जड दो अनादि तत्त्व माने गये हैं। पुरुष अर्थात् चेतन-तत्त्व ज्ञानस्वरूप, निष्क्रिय, असङ्ग, निर्लेप और कूटस्थ नित्य है और जड तत्त्व (सत्त्व, रजस्, तमस्) त्रिगुणात्मक, सक्रिय और परिणामी नित्य है। सत्त्व प्रकाश, हल्का, सुख, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्म स्वभाववाला है। तमस् भारी अन्धकार, मोह, अज्ञान, अवैराग्य और अधर्म स्वभाववाला है। रजस् क्रिया, गति, चञ्चलता और दुःख स्वभाववाला है। इन तीनों गुणोंके सरूप अर्थात् साम्य परिणाम-की अवस्थाका नाम मूल प्रकृति है जो केवल अनुमान और आगमगम्य है। चेतन तत्त्व पुरुषकी संनिधिसे इस जड-तत्त्वमें एक प्रकारका विरूप अर्थात् विषम परिणाम हो रहा है।

अवरोहण-क्रम (Descent)

(१) महत्तत्त्व—पहिला विषम परिणाम महत्तत्त्व है जो सत्त्वमें रजस् क्रियामात्र और तमस् उस क्रियाको रोकनेमात्र है। यह महत्तत्त्व सत्त्वकी विशुद्धतासे समष्टि रूपमें विशुद्ध सत्त्वमय चित्त कहलाता है जिसमें समष्टि अहंकार बीजरूपसे रहता है जो ईश्वरका चित्त है। और सत्त्वकी विशुद्धताको छोड़े हुए अपने व्यष्टि रूपमें सत्त्व चित्त कहलाता है जो अनन्त हैं। इन अनन्त सत्त्व चित्तोंमें व्यष्टि अहंकार बीजरूपसे रहते हैं। ये जीवोंके चित्त कहलाते हैं। चेतन-तत्त्वमें अपने ज्ञानके प्रकाश डालनेकी और महत्तत्त्वमें इस ज्ञानके प्रकाशको लेनेकी अनादि योग्यता चली आ रही है। उदाहरण थोड़े ही अंशोंमें घटा करता है। किन्तु चेतन-तत्त्व और महत्तत्त्व जैसी कोई भी वस्तु भौतिक संसारमें उदाहरण देनेके लिये नहीं मिल सकती। इसीलिये पारिभाषिक उदाहरणोंसे इन दोनों तत्त्वोंकी संनिधि बतलानेके विषयको समझ लेना चाहिये। इनके लौकिक अर्थोंपर नहीं जाना चाहिये।

योगका उदाहरण

जिस प्रकार सूर्यका प्रतिबिम्ब अनन्त जलाशयोंमें पड़ रहा है, इसी प्रकार चेतन-तत्त्वके ज्ञानका प्रकाश समष्टि विशुद्ध सत्त्वमय चित्तमें तथा व्यष्टि सत्त्व चित्तोंमें पड़ रहा है। यथा—

एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यन्ते जलचन्द्रवत् ॥ १ ॥
यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान् अपोभिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् ।
उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽप्ययमात्मा ॥ २ ॥

अर्थ—एक ही भूतात्मा भूत-भूतमें विराज रहा है । जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा जलमें अनेक होकर दीखता है उसी प्रकार वह आत्मा (चेतन-तत्त्व) भी अनेक रूपसे प्रतीत हो रहा है ॥ १ ॥ जिस प्रकार ज्योतिःस्वरूप सूर्य एक होता हुआ भी भिन्न-भिन्न जलाशयोंमें अनेक होकर दीखता है । यह भेद उसका केवल उपाधिके कारण है । उसी प्रकार अनादि परमात्मदेव (चेतन-तत्त्व) क्षेत्रभेदसे अनेक रूपमें दिखायी दे रहा है ॥ २ ॥

सांख्यका उदाहरण

जिस प्रकार चुम्बककी संनिधिसे लोहेमें क्रिया होती है इसी प्रकार चेतनतत्त्वकी संनिधिसे समष्टि तथा व्यष्टि चित्तोंमें ज्ञान-नियम और व्यवस्थापूर्वक क्रिया हो रही है । यथा—

निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः प्रवर्तते ।
सत्तामात्रेण देवेन तथा चायं जगज्जनः ॥
अत आत्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च संस्थितम् ।
निरिच्छत्वादकर्त्ताऽसौ कर्त्ता संनिधिमात्रतः ॥

(सांख्य प्रवचनभाष्य १ । ९७)

अर्थ– जैसे बिना इच्छावाले चुम्बकके स्थित रहनेमात्रमें लोहा (आप-से-आप) गतिशील होता है, वैसे सत्तामात्र देव (चेतन-तत्त्व) से जगत्की उत्पत्ति आदि होती है । इस कारण परमात्मा (चेतन-तत्त्व) में कर्तृत्व और अकर्तृत्व भी अच्छे प्रकार सिद्ध है । वह निरिच्छ होनेसे अकर्त्ता और सामीप्यमात्रसे कर्ता है ।

उपनिषदोंका उदाहरण

जिस प्रकार वायु सारे भुवनोंमें व्यापक हो रहा है, वैसे ही चेतन-तत्त्व समष्टि तथा व्यष्टि चित्तोंमें व्याप्त हो रहा है । यथा—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥

(कठोप० २ । २ । १०)

जैसे एक ही अग्नि सारे भुवनोंमें प्रविष्ट होकर प्रतिरूप हो रहा है इसी प्रकार एक ही आत्मा (चेतन-तत्त्व) जो सब भूतोंके भीतर है—रूप-रूपमें प्रतिरूप हो रहा है और बाहर भी है । जैसे एक ही वायु सारे भुवनोंमें प्रविष्ट होकर रूप-रूपमें प्रतिरूप हो रहा है इसी प्रकार एक ही आत्मा जो सब भूतोंके अंदर है । रूप-रूपमें प्रतिरूप हो रहा है और बाहर भी है ।

महत्तत्त्वके ज्ञानस्वरूप चेतन-तत्त्वसे प्रकाशित होनेको गीतामें अति सुन्दर शब्दोंमें वर्णन किया गया है । यथा—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ (अ० ९ श्लो० १०)
मम योनिर्महद्‌ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ (अ० १४ श्लो० ३-४)

हे अर्जुन ! मेरा आश्रय करके प्रकृति चराचरसहित सब जगत्‌को रचती है। इसी कारण सारा जगत् परिवर्तित हो रहा है। हे अर्जुन ! मेरी योनि (गर्भ रखनेका स्थान) महत्तत्त्व है। उसीमें मैं गर्भ रखता हूँ (अर्थात् अपने ज्ञानका प्रकाश डालता हूँ) और उसी (जड-चेतनके संयोग) से सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है। हे अर्जुन ! सब योनियोंमें जो शरीर उत्पन्न होते हैं उन सबकी योनि महत्तत्त्व है और उनमें बीजको डालनेवाला मैं (चेतन-तत्त्व) पिता हूँ।

पुरुषसे प्रतिबिम्बित समष्टि चित्त, समष्टि अस्मिता और व्यष्टि चित्त, व्यष्टि अस्मिता कहलाते हैं। पुरुष निष्क्रिय होते हुए भी अपने चित्तका द्रष्टा है अर्थात् चित्तमें उसके ज्ञानके प्रकाशमें जो कुछ भी हो रहा है वह उसे स्वयं ज्ञात रहता है। व्यष्टि चित्तोंके सम्बन्धसे चेतन-तत्त्वका नाम जीव है। जो संख्यामें अनन्त हैं और अल्पज्ञ हैं। समष्टि चित्तके सम्बन्धसे चेतन-तत्त्वका नाम ईश्वर, अपरब्रह्म, सगुण ब्रह्म और शबल ब्रह्म है जो एक, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है। अपने शुद्धस्वरूपसे चेतन-तत्त्वका नाम परमात्मा, निर्गुण ब्रह्म, परब्रह्म और शुद्धब्रह्म है। पुरुष शब्दका प्रयोग जीव, ईश्वर और परमात्मा तीनों अर्थोंमें होता है। किस प्रकरणमें पुरुष शब्दका प्रयोग किया गया है इसका ठीक-ठीक विवेक न रहनेके कारण बहुधा विद्वान् सांख्य और योगके वास्तविक सिद्धान्तको समझनेमें धोखा खाते हैं।

(२) महत्तत्त्वका विषम परिणाम अहंकार— पुरुष (चेतन-तत्त्व) से प्रतिबिम्बित महत्तत्त्व ही सत्त्वमें रज और तमकी अधिकतासे विकृत होकर अहंकार रूपसे व्यक्त भावमें बहिर्मुख हो रहा है। यह अहंकार ही अहंभावसे एकत्व, बहुत्व, व्यष्टि, समष्टि रूप सर्व प्रकारकी भिन्नता उत्पन्न करनेवाला है। विभाजक अहंकारहीसे ग्राह्य और ग्रहण रूप दो प्रकारके विषम परिणाम हो रहे हैं।

(३) अहंकारका विषम परिणाम ग्राह्यरूप पञ्च-तन्मात्राएँ— विभाजक अहंकार ही सत्त्वमें रज और तमकी अधिकतासे विकृत होकर परस्पर भेदवाली ग्राह्यरूप शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तन्मात्राओंके रूपमें व्यक्तभावसे बहिर्मुख हो रहा है।

(४) अहंकारका विषम परिणाम ग्रहणरूप एकादश इन्द्रियाँ— वही अहंकार सत्त्वमें रज और तमकी कुछ विशेषताके साथ अधिकतासे विकृत होकर परस्पर भेदवाली शक्तिमात्र पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों और ग्यारहवाँ इनके नियन्ता मन रूपमें व्यक्त होकर बहिर्मुख हो रहा है।

(५) तन्मात्राओंके विषम परिणाम ग्राह्यरूप पाँच स्थूल भूत— अहंकारसे व्याप्य पाँचों तन्मात्राएँ ही सत्त्वमें रज और तमकी अधिकतासे विकृत होकर परस्पर भेदवाले आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी रूप पाँचों स्थूल भूतोंमें व्यक्तभावसे बहिर्मुख हो रही हैं।

इस प्रकार बहिर्मुखता (अवरोहण) में महत्तत्त्वकी अपेक्षा अहंकारमें, अहंकारकी अपेक्षा पाँचों तन्मात्राओं और ग्यारह इन्द्रियोंमें और तन्मात्राओंकी अपेक्षा पाँचों स्थूल भूतोंमें क्रमशः रज और तमकी मात्रा बढ़ती जाती है और सत्त्वकी मात्रा कम होती जाती है। यहाँतक कि स्थूल जगत् और स्थूल शरीरमें रज और तमका ही व्यवहार चल रहा है। सत्त्व केवल प्रकाश मात्र ही रह रहा है। महत्तत्त्वमें प्रतिविम्बित चेतन-तत्त्व भी उपरोक्त राजसी और तामसी आवरणोंमें आच्छादित होकर स्थूल शरीर और भौतिक जगत्में केवल झलक मात्र ही दिखायी दे रहा है।

ऊपरके विवरणसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पुरुष अर्थात् चेतन-तत्त्वके शुद्ध स्वरूपमें तथा जड अर्थात् गुणोंके साम्य परिणाममें न कोई कार्य हो रहा है और न हो सकता है। जड-तत्त्व क्योंकि त्रिगुणात्मक है। इसलिये चेतन-तत्त्वकी संनिधिमात्रसे होनेवाले विषय परिणाममें ग्राह्य और ग्रहण रूपमें तीनों गुणोंकी न्यूनाधिकताके कारण सारे भेदभाव और कार्य तथा बन्ध और मोक्ष भी हो रहा है। कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल जगत्के सम्बन्धसे चेतन-तत्त्व ईश्वर और कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरके सम्बन्धसे चेतन-तत्त्व जीव कहलाता है। इसलिये सारा कार्य जीव, ईश्वर और प्रकृति—इन तीनों तत्त्वोंमें हो रहा है और हो सकता है। ईश्वरको समष्टिरूपमें और जीवको व्यष्टिरूपमें जड और चेतनका सम्मिश्रण समझना चाहिये। कारण जगत् अर्थात् समष्टि विशुद्ध सत्त्वमय चित्त एक है। इसलिये ईश्वर एक है। चूँकि इसमें जीवोंके प्रति कल्याण करनेका संकल्प, वेदोंका ज्ञान, सर्वव्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता आदि सारी शक्तियाँ निरतिशयताको प्राप्त किये हुए हैं इसलिये ईश्वर इन लक्षणोंसे युक्त है। सत्त्व-चित्त अर्थात् कारण शरीर संख्यामें अनन्त हैं इसलिये जीव संख्यामें अनन्त हैं। ये विशुद्ध सत्त्वमय चित्तकी अपेक्षा परिच्छिन्न, अल्पज्ञ और अल्प शक्तिवाले हैं इसलिये जीव भी इन लक्षणोंसे युक्त हैं। ये सत्त्व चित्त चूँकि सत्त्वकी विशुद्धताको छोड़े हुए हैं इसलिये इनमें लेश मात्र तम है जिसमें अविद्या वर्तमान है। अविद्यासे आत्मा और चित्तमें अभिन्नताकी प्रतीति करानेवाला अस्मिता क्लेश उत्पन्न हो रहा है।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता। (यो० द० सा० पाद सूत्र ६)

द्रष्टृ-शक्ति आत्मा और दर्शन-शक्ति चित्तका एक स्वरूप-जैसा भान होना अस्मिता क्लेश है।

अस्मिता क्लेशसे राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेश, उनसे सकाम कर्म, सकाम कर्मसे जन्म, आयु और भोग— उनमें सुख और दुःख होते हैं। इस प्रकार बन्धकी शृङ्खला बढ़ती जाती है।

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः। (यो० द० सा० पाद सूत्र १७)

अर्थ—द्रष्टा और दृश्यका संयोग "हेयहेतु" (दुःखका कारण) है।

तस्य हेतुरविद्या। (यो० द० सा० पाद सूत्र २४)

अर्थ—इस संयोगका कारण अविद्या है।

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्। (यो० द० सा० पाद सूत्र २५)

उसके (अविद्याके) अभावसे संयोगका अभाव 'हान' है। वह चिति शक्तिका कैवल्य है।

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः । (यो० द० सा० पाद सूत्र २६)

अविप्लव विवेक-ख्याति हानका उपाय है ।

इस विवेक-ख्यातिकी अवस्थामें सत्त्व चित्तमें सत्त्वकी विशुद्धता इतनी बढ़ जाती है कि उसके लेशमात्र तममें जो अविद्या वर्तमान थी वह अपने अस्मिता क्लेश आदि परिवारसहित दग्धबीज भावको प्राप्त होने लगती है और तम उस केवल सात्त्विक वृत्तिको रोकनेका काम करता रहता है । उस विवेकख्यातिमें जो आत्मसाक्षात्कार होता है उससे सत्त्व चित्तकी विशुद्धता इतनी बढ़ जाती है कि उस वृत्तिको स्थिर रखनेवाले तमको भी दवा दे । तव उस अन्तिम सात्त्विक वृत्तिके भी निरुद्ध हो जानेपर आत्माकी असम्प्रज्ञात समाधिरूप परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति हो जाती है । यही वास्तवमें प्राकृतिक मोक्षका नमूना है ।

किन्तु विवेक-ख्यातिकी प्राप्तिका उपाय अष्टाङ्ग योग बतलाया गया है । यथा—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः । (यो० द० सा० पाद सूत्र २८)

योगके अङ्गोंके अनुष्ठानसे अशुद्धिके नाश होनेपर ज्ञानका प्रकाश विवेक-ख्याति-पर्यन्त हो जाता है ।

योगके आठ अङ्ग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि बतलाये गये हैं । इनमें सबसे अन्तिम अङ्ग (सम्प्रज्ञात) समाधि है । इस सम्प्रज्ञात समाधिकी चार भूमियाँ, वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत हैं ।

ऊपर हमने अवरोह क्रम बतला दिया है । इससे उलटे आरोह क्रम (Ascent) में जितनी अन्तर्मुखता बढ़ती जायगी, उतना ही रज और तमका विक्षेप तथा मल हटकर सत्त्वका प्रकाश बढ़ता जायेगा । और इस सत्त्वके प्रकाशमें चेतन (आत्म-स्पर्श) की अधिक स्पष्टतासे प्रतीति बढ़ती जायेगी । यही क्रम बन्धको हटाने और मोक्षकी प्राप्तिका है ।

(१) इस आरोह क्रममें सबसे पहली अवस्था वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि है जिसमें रज और तमके दबनेपर सत्त्वके प्रकाशमें स्थूल भूतों और उनके व्यवहारके वास्तविक स्वरूपका साक्षात्कार होता है । इस भूमिका सम्बन्ध चूँकि पाँचों स्थूल भूतों और उनसे बने हुए स्थूल पदार्थ, स्थूल शरीर और स्थूल जगत् (भूः भुवः अर्थात् पृथ्वी और नक्षत्र लोक) से है । इसलिये इस भूमितक वैकारिक बन्ध बतलाया गया है ।

(२) दूसरी अवस्था विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि है । इसमें रज और तमके अधिक दबनेपर सत्त्वके अधिक प्रकाशमें पाँचों स्थूल भूतोंके कारण पाँचों सूक्ष्म भूतोंका उनकी सूक्ष्मताके तारतम्यसे पाँचों तन्मात्राओंतकका साक्षात्कार होता है और उसका सम्बन्ध पाँचों सूक्ष्म भूत, सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म जगत् (चन्द्रलोक, सोमलोक अथवा स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम् जो एक प्रकारसे सूक्ष्मताकी अवस्थाएँ हैं) से है और इनमें आसक्त योगी इस पुनरावर्त्तिनी मुक्तिको प्राप्त होता है । इसलिये इस वैकारिक बन्ध अर्थात् जन्म, मृत्यु, जरा और रोगसे तो मोक्ष हो जाता है किन्तु इसमें दाक्षिणिक बन्ध अर्थात् सूक्ष्म शरीर और उससे सम्बन्ध रखनेवाले राग-द्वेष आदि मानसिक विकार बने रहते हैं इसलिये इसे दाक्षिणिक बन्ध बतलाया गया है ।

न विशेषगतिर्निष्क्रियस्य । (सांख्य ५ । ७६)

विशेष गतिका प्राप्त हो जाना वास्तविक मुक्ति नहीं है; क्योंकि आत्मा अपने शुद्ध ज्ञान-स्वरूपसे निष्क्रिय है ।

संयोगाश्च वियोगान्ता इति न देशादिलाभोऽपि । (सांख्य ५ । ८४)

संयोग वियोगान्त है । इसलिये किसी देश विशेष (चन्द्रलोकके अन्तर्गत किसी सूक्ष्म लोक) का लाभ भी वास्तविक मुक्ति नहीं है ।

(३) तीसरी अवस्था आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि है । जिसमें तन्मात्राओंके रज और तम दब जानेपर, सत्त्वके प्रकाश बढ़नेपर उनके कारण अहंकारका "अहम् अस्मि" वृत्तिसे साक्षात्कार होता है । इस सत्त्वके आनन्द और प्रकाशमें चेतन-तत्त्वकी इतनी स्पष्टतासे प्रतीति होती है कि कुछ योगी इसी अवस्थाको आत्मस्थिति समझकर इसीमें आसक्त हो जाते हैं और शरीर त्यागनेपर इस अवस्थामें दिव्य लोकोंसे परे होकर उनके कालकी अवधिसे अधिक समयतक कैवल्य-जैसे आनन्दको भोगते रहते हैं । ये विदेह कहलाते हैं ।

(४) चौथी अवस्था अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधिकी है । इसमें अहंकारके रज और तमके दब जानेपर सत्त्वके प्रकाशमें उसके कारण चित्तका साक्षात्कार 'अस्मि' वृत्तिसे होता है । इस सत्त्वके प्रकाशमें चित्तमें प्रतिबिम्बित चैतन्य (आत्म-स्पर्श) की इतनी स्पष्टतासे प्रतीति होती है कि कई योगी इसी अवस्थाको आत्म-स्थिति समझकर इसीमें आसक्त हो जाते हैं और शरीर त्यागनेपर इस अवस्थामें दिव्य लोकोंसे भी अधिक अवधितक कैवल्य-जैसे आनन्दको भोगते रहते हैं । ये प्रकृतिलय कहलाते हैं ।

उपर्युक्त दोनों अवस्थाओंमें दाक्षिणिक बन्ध अर्थात् सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म जगत्के बन्धसे तो मोक्ष हो जाता है किन्तु इसमें भी प्राकृतिक बन्ध बना रहता है । विदेहोंको अहंकारका और प्रकृतिलयोंको अस्मिताका । यथा—

नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मत्वात् । (सांख्य ५ । ७४)

आनन्दका प्रकट हो जाना मुक्ति नहीं है, (क्योंकि वह आत्माका) धर्म नहीं है (किन्तु अन्तःकरणका धर्म है) ।

न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात् । (सांख्य १ । ५४)

कारण (अस्मिता प्रकृति) में लय होनेसे पुरुषको कृतकृत्यता (स्वरूप-अवस्थिति) नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें डुबकी लगानेवालेके समान (पानीसे ऊपर) आत्म-स्थिति प्राप्त करनेके लिये उठना (मनुष्य-लोकमें आना) होता है ।

असम्प्रज्ञात समाधि और कैवल्यकी अवस्थामें केवल इतना भेद है कि असम्प्रज्ञात समाधिमें सब वृत्तियोंका निरोध होता है । चित्तमें निरोधके संस्कारसे अन्य सब व्युत्थानके संस्कार दबे रहते हैं और वह आत्माकार होता है और आत्माकी शुद्ध परमात्म-स्वरूपमें अवस्थिति

होती है किन्तु कैवल्यमें चित्तके बनानेवाले गुण अपने कारणमें लीन हो जाते हैं। यथा—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।

(योग कैवल्य पाद सूत्र ३४)

पुरुषार्थसे शून्य हुए चित्तके बनानेवाले गुणोंका अपने कारणमें लीन हो जाना कैवल्य है अथवा चितिशक्तिका अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाना कैवल्य है।

तीन प्रमाण

त्रिविधं प्रमाणम् ॥ २१ ॥

प्रमाण तीन प्रकारका है (प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम अर्थात् आप्तवचन)।

व्याख्या—प्रत्यक्ष प्रमाण—जो किसी इन्द्रियसे जाना जाय; अनुमान—जो किसी चिह्नसे समझा जाय और आप्त-वचन—किसी आप्तका उपदेश—आप्त उसे कहते हैं जिसने पदार्थको साक्षात् किया हो और सत्यवक्ता हो। इसकी विस्तारपूर्वक व्याख्या यो० समा० पा० सू० ७ में की गयी है। विशेष वहाँ देखें।

संगति—तत्त्वज्ञानका फल कहते हुए अगले सूत्रमें ग्रन्थको समाप्त करते हैं।

एतत् सम्यग् ज्ञात्वा कृतकृत्यः स्यात्।
न पुनस्त्रिविधेन दुःखेनाभिभूयते ॥ २२ ॥

यह ठीक-ठीक जानकर पुरुष कृतकृत्य हो जाता है और फिर तीन प्रकारके दुःखोंसे नहीं दबाया जाता।

सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ।
तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः ॥ ६७ ॥
प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥ ६८ ॥

यथार्थ ज्ञान (विवेकज्ञान) की प्राप्तिसे जब कि धर्मादि अकारण बन गये तो पुरुष संस्कारके वशसे चक्रके घूमनेके सदृश शरीरको धारण किये हुए ठहरा रहता है। अर्थात् जिस प्रकार कुम्हारके चक्रको चलाना बंद करनेपर भी कुछ देरतक चाक पहलेके वेगसे चलता रहता है। इसी प्रकार यथार्थ ज्ञान (विवेकज्ञान) की प्राप्तिपर भी पहले संस्कारोंके अधीन कुछ समयतक शरीर चलता रहता है। यह अवस्था जीवन्मुक्ति कहलाती है ॥ ६७ ॥ शरीरके छूट जानेपर और चरितार्थ होनेसे प्रधानकी निवृत्ति होनेपर ऐकान्तिक (अवश्य होनेवाले) और आत्यन्तिक (सदा रहनेवाले) कैवल्यको प्राप्त होता है अर्थात् परमात्मस्वरूपमें पूर्णतया अवस्थित हो जाता है ॥ ६८ ॥

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसेत्।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥ (गौडपादाचार्य)

जिसको (सांख्यमें बतलाये हुए) २५ तत्त्वोंका (सम्यक्) ज्ञान हो गया है, वह चाहे किसी आश्रममें स्थित हो, चाहे गृहस्थमें ही हो, चाहे संन्यासमें---वह अवश्य मुक्त हो जाता है। इसमें कोई भी संशय नहीं है।

दर्शनोंके चार प्रतिपाद्य विषयोंपर सांख्यके मुख्य सिद्धान्त

हेय—त्याज्य जो दुःख है, वह तीन प्रकारकी चोट पहुँचाता रहता है—१ आध्यात्मिक अर्थात् अपने अंदरसे शारीरिक चोट, जैसे ज्वर आदि, या मानसिक चोट, जैसे राग-द्वेष आदिकी वेदना। २ आधिभौतिक अर्थात् किसी अन्य प्राणीद्वारा पीड़ा पहुँचना और ३ आधिदैविक अर्थात् किसी दिव्य शक्ति जैसे बिजली आदिसे पीड़ा पहुँचना।

इनके दूर करनेके साधन यद्यपि वर्तमान हैं और श्रौतकर्मोंसे इनका प्रतीकार हो जाता है, किंतु इनका नितान्त अभाव नहीं होता; क्योंकि इनका बीज बना ही रहता है।

हेय-हेतु—इस दुःखकी जड़ अज्ञान, अविद्या, अविवेक है। जितना अज्ञान दूर होता जाता है, उतना ही दुःखका अभाव होता जाता है। इसलिये—

हान—दुःखका नितान्त अभाव अज्ञान अर्थात् अविद्याका सर्वथा नाश हो जाना है। उपनिषदोंका भी यही सिद्धान्त है, यथा—अविद्याया अपाय एव हि परमाप्तिर्नार्थान्तरम्। अर्थात् अविद्याकी निवृत्ति ही परमात्माकी प्राप्ति है, इससे भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं। (मुण्डक १।१।५ शांकरभाष्य)

हानोपाय—सारे तत्त्वोंका विवेकपूर्ण यथार्थ ज्ञान है। जिस-जिस तत्त्वका यथार्थ ज्ञान होता जायगा, उस-उस तत्त्वके दुःखकी निवृत्ति होती जायगी। सारे तत्त्वोंका विवेकपूर्ण ज्ञान होनेसे सारे दुःखोंकी निवृत्ति हो जाती है। (तत्त्वोका यथार्थ ज्ञान समाधिद्वारा ही अपनी-अपनी भूमियोंमें हो सकता है न कि व्युत्थान दशामें।)

मुख्य तत्त्व

मुख्य तत्त्व दो हैं—जड और चेतन

जड-तत्त्वके चौबीस मुख्य विभाग हो सकते हैं; और चेतनतत्त्व पुरुष जडतत्त्वके सम्बन्धसे जीव तथा ईश्वर और अपने शुद्ध स्वरूपसे परमात्मतत्त्व कहलाता है। परमात्मतत्त्व अन्तिम ध्येय अथवा 'हान' है। सारे तत्त्वोंके विवेकपूर्ण यथार्थ ज्ञानके पश्चात् वहीं पहुँचना है। इसलिये सांख्यने उसकी परीक्षा करनेकी आवश्यकता नहीं समझी। अन्य पचीस तत्त्वोंको इस प्रकार बतलाया है—

अष्टौ प्रकृतयः, षोडश विकाराः, पुरुषः।

आठ प्रकृतियाँ, सोलह विकार और पुरुष। ये इस प्रकार हैं—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥ (सां० का० ३)

(आठ प्रकृतियोंमेंसे) मूल प्रकृति विकृति नहीं है अर्थात् कारण-द्रव्य स्वयं किसीका विकार—विकृत परिणाम—कार्य नहीं है। शेष सात महत्तत्त्व आदि (महत्तत्त्व, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ)

प्रकृति-विकृति दोनों हैं। अर्थात् महत्तत्त्व मूल प्रकृतिकी विकृति और अहंकारकी प्रकृति, अहंकार महत्तत्त्वकी विकृति और पाँच तन्मात्राओं तथा ग्यारह इन्द्रियोंको प्रकृति है और पाँच तन्मात्राएँ अहंकारकी विकृति और पाँच स्थूल भूतोंकी प्रकृति हैं।

अन्य सोलह विकृतियाँ (पाँच स्थूल-भूत और ग्यारह इन्द्रियाँ) केवल विकृति हैं, किसीकी प्रकृति नहीं हैं। यद्यपि सारी स्थूल वस्तुएँ इन्हीं पाँचों स्थूल-भूतोंके कार्य हैं, किंतु वे अपने विकृत परिणामसे आगे कोई नया तत्त्व कारणरूप होकर नहीं बनाते।

पुरुष न प्रकृति है न विकृति, अर्थात् न वह किसीका स्वयं विकृत परिणाम है, न उससे कोई विकृत परिणाम उत्पन्न होता है।

सृष्टि-क्रम

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि॥ (सां० का० २२)

मूल प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहंकार, अहंकारसे सोलहका समूह अर्थात् पाँच तन्मात्राएँ और ग्यारह इन्द्रियाँ, इन सोलहमेंसे जो पाँच तन्मात्राएँ हैं, उनसे पाँच स्थूल-भूत उत्पन्न होते हैं।

न्याय-वैशेषिक तथा सांख्य और योगके सिद्धान्तोंमें तुलना

इस प्रकार जहाँ न्याय और वैशेषिकने जड द्रव्योंमें पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुके परमाणु तथा मनको अणु (अति सूक्ष्म) और आकाश, दिशा तथा कालको विभु—व्यापकरूपसे निरवयव और नित्य माना है; सांख्य और योगने उनमेंसे काल और दिशाको जड-तत्त्वमें सम्मिलित नहीं किया है; क्योंकि ये वास्तविक तत्त्व नहीं हैं—न प्रकृति हैं, न विकृति और न पुरुषके सदृश प्रकृति और विकृति दोनोंसे भिन्न कोई चेतन पदार्थ ही। सांख्य और योगके मतमें ये दोनों एक क्रमसे दूसरे क्रममें और एक स्थानसे दूसरे स्थानमें परत्व, अपरत्व (आगे-पीछे, निकटता और दूरी) बतलानेके लिये केवल बुद्धिकी निर्माण की हुई वस्तुएँ हैं; स्वयं अपना कोई अस्तित्व नहीं रखते।

मनके स्थानपर अहंकार और पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायुके परमाणुओंके स्थानपर तन्मात्राएँ और उनको अवकाश देनेवाले आकाशके स्थानपर महत्तत्त्व हो सकता है। ऐसी अवस्थामें मूल प्रकृतिको माननेकी आवश्यकता नहीं रहती; क्योंकि तन्मात्राएँ अणु होनेसे और महत्तत्त्व विभु होनेसे अन्य किसी समवायी अर्थात् उपादान कारणकी अपेक्षा नहीं रखते; किंतु बहाँसे न्याय-वैशेषिकने स्थूल सृष्टिका क्रम दिखलाया है, वहींसे सांख्य मूल जड-तत्त्वकी खोजमें सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम सृष्टिके क्रमकी ओर गया है। जिस जड-तत्त्वके अन्तर्गत विभु और अणु दोनों प्रकारके जड पदार्थ हैं, वह सबसे प्रथम जड-तत्त्व तीन गुण हैं; सत्त्व, रजस् और तमस्। इसलिये कपिल मुनि बतलाते हैं—

त्रैगुण्यम्॥ ९॥

आठों प्रकृतियाँ और सोलह विकृतियाँ सत्त्व-रजस्-तमस् गुणरूप ही हैं। न्याय और वैशेषिकमें जिस प्रकार द्रव्योंके चौबीस गुण (धर्म) बतलाये हैं, उस प्रकार ये तीनों गुण किसी द्रव्यके गुण

(धर्म) नहीं हैं, किंतु स्वयं द्रव्य (धर्मी) हैं; जिनके संयोग-वियोगसे सारी सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है। इनको गुण इसलिये कहा गया है कि चेतन और जड-तत्त्वमें पुरुष चेतन-तत्त्व तो मुख्य है और ये जड-तत्त्व गौण हैं; अथवा जिस प्रकार तीन लपेटकी ऐंठसे रस्सी बटी हुई होती है, उसी प्रकार जड-तत्त्व तीन गुण अर्थात् तीन लपेटवाला है, जिससे सारी सृष्टि बनी हुई है।

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः॥ (सां० का० १२)

गुण सुख-दुःख और मोह-स्वरूप हैं; प्रकाश, प्रवृत्ति और रोकनेकी सामर्थ्यवाले हैं; एक दूसरेको दबाने, सहारा देने, प्रकट करने और साथ रहनेके कर्मवाले हैं।

गुणोंका स्वरूप

सत्त्वगुण सुख-स्वरूप है, रजोगुण दुःख-स्वरूप है और तमोगुण मोह-स्वरूप है।

गुणोंकी सामर्थ्य

सत्त्व प्रकाश करनेमें समर्थ है, रजस् प्रवृत्त करनेमें और तमस् रोकनेमें।

गुणोंका काम

गुण एक दूसरेको दबाते हैं। जब सत्त्वगुण प्रधान होता है तब रजस् और तमस्को दबाकर सुख-प्रकाशादि अपने धर्मोंसे शान्त वृत्ति उत्पन्न करता है। जब रजस् प्रधान होता है तब सत्त्व और तमस्को दबाकर दुःख-प्रवृत्ति आदिसे घोर वृत्तिको उत्पन्न करता है। इसी प्रकार तमस् प्रधान होकर सत्त्व और रजस्को दबाकर आलस्य— सुस्ती आदिसे मोहवृत्तिको उत्पन्न करता है।

ये तीनों गुण एक दूसरेके आश्रय हैं। सत्त्व रजस् और तमस्के सहारेपर प्रकाशको प्रकट करता है और प्रकाशद्वारा रजस्-तमस्का उपकार भी करता है। इसी प्रकार रजस्-तमस् भी अन्य दोका सहारा लेते हैं और उपकार भी करते हैं।

तीनों गुण एक-दूसरेको प्रकट करते हैं। स्थितवस्तु क्रियावाली और क्रियावाली प्रकाशवाली हो जाती है। इस प्रकार तमस् रजस्को और रजस् तमस्को प्रकट करता है।

एक गुण अन्य दोके साथ रहता है; कभी अलग नहीं होता; सब एक-दूसरेके जोड़े हैं। सब सर्वत्र हैं; विभु हैं। रजस्का जोड़ा सत्त्व है, सत्त्वका रजस; इसी प्रकार तमस्के सत्त्व-रजस् जोड़े हैं; और दोनों सत्त्व और रजस्का तमस् जोड़ा (साथी) है। इनका स्वरूपसे कोई पहला संयोग उपलब्ध नहीं होता है और न कभी वियोग उपलब्ध होता है।

सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥ (सां० का० १३)

सत्त्व हल्का और प्रकाशक माना गया है; रजस् उत्तेजक और चल; और तमस् भारी और रोकनेवाला है। दीपकके सदृश (एक) उद्देश्यसे इनका काम है।

गुणोंके धर्म

सत्त्व हल्का और प्रकाशक है, इसलिये सत्त्व-प्रधान पदार्थ हल्के होते हैं। जैसे हल्की होनेके कारण आग ऊपरको जला करती है, वायु तिरछी चलती है, इन्द्रियाँ शीघ्रतासे काम करती हैं। सत्त्वकी प्रधानतासे अग्निमें प्रकाश है; इसी प्रकार इन्द्रिय और मन प्रकाशशील हैं। सत्त्व और तमस् स्वयं अक्रिय हैं, इसलिये अपना-अपना काम करनेमें असमर्थ हैं। रजस् क्रियावाला होनेसे उनको उत्तेजना देता है और अपने-अपने काममें प्रवृत्त कराता है। जब शरीरमें रजस् प्रधान होता है, तब उत्तेजना और चञ्चलता बढ़ जाती है। रजस् चलस्वभाव होनेसे हल्के सत्त्वको प्रवृत्त करता है, किंतु तमस् भारी होनेसे रजस्को रोकता है। जब शरीरमें तमस् प्रधान होता है, तब शरीर भारी होता है और काममें प्रवृत्ति नहीं होती।

गुणोंके परस्पर विरोधी होनेपर भी सबका एक ही उद्देश्य है। सत्त्व हल्का है, तमस् भारी है। तमस् स्थिर करता है, रजस् उत्तेजित करता है। इस प्रकार तीनों गुण परस्पर विरोधी हैं, किंतु दीपकके सदृश इनकी प्रवृत्ति एक ही प्रयोजनसे है। जिस प्रकार बत्ती और तेल अग्निसे विरोधी होते हुए भी अग्निके साथ मिले हुए प्रकाशका प्रयोजन सिद्ध करते हैं, इसी प्रकार सत्त्व, रजस् और तमस् परस्पर विरोधी होते हुए भी एक-दूसरेके अनुकूल कार्य करते हैं।

प्रत्येक पदार्थमें तीनों गुण पाये जाते हैं। हरएक पदार्थ सुख, दुःख और मोहका उत्पादक है। इससे सिद्ध होता है कि उसमें सुख, दुःख और मोहको उत्पन्न करनेवाला तीन प्रकारका द्रव्य विद्यमान है। वही सत्त्व, रजस् और तमस् है। हल्कापन, प्रीति, तितिक्षा, संतोष, प्रकाश आदि सुखके साथ उदय होते हैं; इसलिये सत्त्वगुणके परिणाम हैं। इसी प्रकार दुःखके साथ चञ्चलता, उत्तेजकता आदि, और मोहके साथ निद्रा, भारीपन आदि रहते हैं। इसलिये ये क्रमशः रजस् और तमस्के परिणाम हैं।

गुणोंका परिणाम

चेतन-तत्त्व कूटस्थ नित्य है और जडतत्त्व 'गुण' परिणामी नित्य है; एक क्षण भी बिना परिणामके नहीं रहता। परिणाम सांख्य और योगका पारिभाषिक शब्द है, जो परिवर्तन अर्थात् तब्दीलीके अर्थमें प्रयुक्त होता है। परिणामका लक्षण एक धर्मको छोड़कर दूसरा धर्म धारण करना है। यह परिणाम दो प्रकारका होता है। एक सरूप अर्थात् सदृश परिणाम; दूसरा विरूप अर्थात् विसदृश परिणाम। जैसे जब दूध दूधहीकी अवस्थामें बना रहता है तब भी उसके परमाणु स्थिर नहीं रहते, चलते ही रहते हैं; इस अवस्थामें दूधमें दूध ही बने रहनेका परिणाम हो रहा है। यह सदृश अर्थात् सरूप परिणाम है। दूधमें जामन पड़नेके पश्चात् जब दही बननेका परिणाम होता है, अथवा एक निश्चित समयके पश्चात् जब दूधमें दूधके बिगड़ने अर्थात् खट्टा होनेका परिणाम होता है, तब वह विरूप अर्थात् विसदृश परिणाम है। विरूप अर्थात् विसदृश परिणामका तो प्रत्यक्ष होता है, किंतु उस प्रत्यक्षसे सरूप अर्थात् सदृश परिणाम अनुमानसे जाना जाता है। इसी प्रकार तीनों गुणोंका पृथक्-पृथक् अपने सरूपमें अर्थात् सत्त्वका सत्त्वरूपसे, रजस्का रजस्रूपसे, तमस्का तमस्रूपसे प्रवृत्त होना, अर्थात् सत्त्वका सत्त्वमें, रजस्का रजस्में और तमस्का तमस्में जो परिणाम है वह सदृश परिणाम है। यह गुणोंकी साम्य अवस्था है। इसीको मूल

प्रकृति, प्रधान, अव्यक्त कहते हैं—जो सारे जड-तत्त्वोंका मूल कारण है। जब तीनों इकट्ठे होकर एक दूसरेको दबाकर परिणाममें प्रवृत्त होते हैं तो वह विरूप परिणाम है। इसको गुणोंका विषम परिणाम कहते हैं। महत्तत्त्वसे लेकर पाँचों स्थूल-भूतपर्यन्त तेईसों तत्त्व तीनों गुणोंके विषम परिणाम ही हैं; जो सब प्रकृतिके कार्य हैं। उसकी अपेक्षा ये सब विकृति और व्यक्त हैं।

यद्यपि अपनी-अपनी विकृतियोंकी अपेक्षा महत्तत्त्व, अहंकार एवं पाँचों तन्मात्राएँ अव्यक्त और प्रकृतियाँ हैं, किंतु मूल प्रकृतिकी अपेक्षासे सब व्यक्त और विकृतियाँ हैं। यहाँ यह भी बतला देना आवश्यक है कि जिस-जिस विकृतिका प्रत्यक्ष होता जाता है उस-उस प्रत्यक्षसे उसकी प्रकृतिका अनुमान किया जाता है। समाधिद्वारा सबसे अन्तमें गुणोंका सबसे प्रथम विषम परिणाम महत्तत्त्वका विवेक-ख्यातिद्वारा साक्षात्कार होता है। उस साक्षात्कारसे गुणोंकी सबसे प्रथम साम्य परिणामवाली अवस्थाका अनुमानसे ज्ञान होता है। गुणोंका साम्य तथा विषम परिणाम, दोनों अनादि हैं। सांख्यका यह सिद्धान्त परिणामवाद कहलाता है, अर्थात् यह सारी सृष्टि गुणोंका ही परिणाम है।

न्याय और वैशेषिकसे विपरीत सांख्य और योगमें सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान, प्रयत्न, बुद्धि [चित्त अर्थात् अन्तःकरण] के धर्म माने गये हैं और यह बुद्धि पुरुषसे पृथक् एक जड-तत्त्व है। पुरुष केवल चेतनस्वरूप है। बुद्धि (चित्त अथवा अन्तःकरण) उसका गुण नहीं है, किंतु उससे पृथक् उसका दृश्य अथवा 'स्व' है। वह उसका द्रष्टा अथवा स्वामी है; उसका पुरुषके साथ आसक्ति तथा अविवेकपूर्ण संयोग होनेके कारण उसके गुण पुरुषमें अविवेकसे आरोप कर लिये जाते हैं।

सृष्टि-उत्पत्ति

गुण सारी सृष्टिकी उत्पत्तिके समवायी अर्थात् उपादान कारण हैं।

गुणका विशेष परिणाम, जिससे तत्त्वमें पृथक्ता होती है, साधारण असमवायी कारण है।

चेतनस्वरूप पुरुष व्यष्टिरूपसे और पुरुष, विशेष समष्टिरूपसे अपनी संनिधिसे चुम्बकके सदृश ज्ञान, व्यवस्था तथा नियमपूर्वक जड गुणोंके विषम परिणाममें निमित्त कारण हैं।

इस विषम परिणामका प्रयोजन पुरुषका भोग और अपवर्ग है; क्योंकि यह पुरुषकी ही संनिधिसे पुरुषके ही ज्ञानमें परार्थ अर्थात् पुरुषके ही अर्थ, ज्ञान, नियम और व्यवस्थापूर्वक हो रहा है।

त्रिगुणात्मक जड-तत्त्व और पुरुष दोनों अनादि हैं; इसलिये इनका पुरुषके साथ संनिधिमात्र संयोग, साम्य परिणाम, विषम परिणाम तथा पुरुषका भोग और अपवर्गका प्रयोजन भी अनादि हैं। अनादिका अभिप्राय कालकी सीमासे परे होना है और काल कोई वास्तविक वस्तु नहीं है; विषम परिणामके पीछे क्रमोंके परत्व और अपरत्व बतलानेके लिये केवल बुद्धिका निर्माण किया हुआ पदार्थ है।

पुरुषका बहुत्व

सांख्यने जहाँ पुरुषको अनेक माना है वहाँ केवल व्यष्टि अस्मिताकी अपेक्षासे है। चेतन-तत्त्वसे प्रतिबिम्बित व्यष्टि चित्त (महत्तत्त्व) जिनमें अहंकार बीजरूपसे छिपा रहता है, उसकी संज्ञा व्यष्टि अस्मिता है। वास्तवमें अव्यक्त प्रधान प्रकृतिके सदृश पुरुष भी संख्यारहित है। जिस प्रकार बुद्धि (चित्त अर्थात् अन्तःकरण) के धर्म सुख-दुःख, प्रेतभाव, क्रिया आदि पुरुषमें आरोपित कर लिये गये हैं, इसी

प्रकार अस्मिताका बहुत्व पुरुषमें केवल आरोपमात्र है; क्योंकि बुद्धि (चित्त अर्थात् अन्तःकरण) चेतनसे प्रतिबिम्बित होकर ही चेतन-जैसी प्रतीत होती है। जैसे एक ही सूर्य अनेक जलाशयोंमें प्रतिबिम्बित होकर उन जलाशयोंके प्रतिबिम्बकी अपेक्षासे अनेक कहा जाता है, इसी प्रकार एक ही चेतन-तत्त्व अनेक चित्तरूपी जलाशयोंमें उनकी संख्याकी अपेक्षासे अनेक कहा जाता है। जब त्रिगुणात्मक, परिणामी, सक्रिय जड-तत्त्व अपने अव्यक्तरूपमें संख्यारहित है, तब गुणातीत, अपरिणामी, निष्क्रिय चेतन-तत्त्वके शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें जो अव्यक्तसे भी सूक्ष्मतर है, संख्याकी सम्भावना कैसे हो सकती है। पुरुषमें अनेकत्वका आरोप अस्मिता क्लेशकी अहंवृत्तिके साथ आरम्भ होता है और विवेक-ख्यातिद्वारा इस अहंवृत्तिके अभावसे निवृत्त हो जाता है; क्योंकि अहंकार ही अहम्-भावसे भिन्नताका सूचक है। भाव यह है कि स्वरूप-स्थिति अथवा कैवल्यकी अवस्थामें बुद्धि (चित्त अर्थात् अन्तःकरण) का संयोग न रहनेपर उसके धर्म, सुख-दुःख, क्रिया आदिके सदृश बहुत्व (संख्या) का भी अभाव हो जाता है।

जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत् प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ (सां० का० १८)

जन्म, मरण और करणों (अन्तःकरण, इन्द्रियों) के अलग-अलग नियमोंसे, एक साथ प्रवृत्त न होनेसे और तीनों गुणोंके भेदसे पुरुषका अनेक होना सिद्ध है।

अर्थात् सब पुरुष न एक साथ जन्म लेते हैं, न एक साथ मरते हैं, उनका अलग-अलग जन्म-मरण होता है। इसी प्रकार करणोंमें भी भेद है—कोई अन्धा है, कोई बहिरा है, कोई लूला है, सब एक-जैसे नहीं हैं, सबमें एक-जैसी प्रवृत्ति भी नहीं है अर्थात् एक समयमें सब एक ही कर्म नहीं करते। जब एक सोता है, तब दूसरा जागता है, तीसरा चलता है, इत्यादि। सबके गुण भी एक-जैसे नहीं होते, कोई सत्त्वगुणवाला है, तो कोई रजोगुणी और कोई तमोगुणी।

किंतु यह अनेकत्व (संख्या) बद्ध पुरुषोंकी अपेक्षासे होता है, न कि मुक्त पुरुषोंकी अपेक्षासे; क्योंकि जन्म-मरण, इन्द्रिय-दोष और सत्त्वगुणी रजोगुणी और तमोगुणी, होना इत्यादि जो पुरुषके अनेकत्वके साधन हैं, अन्तःकरणादिके धर्म हैं, न कि शुद्ध चेतन-तत्त्वके।

यथा—

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ (कठ० २।२।१०)

जिस प्रकार एक ही वायु नाना भुवनोंमें प्रविष्ट होकर उनके प्रतिरूप (उनके रूपवाला) हो रहा है इसी प्रकार एक ही सब भूतोंका अन्तरात्मा (चेतन-तत्त्व) नाना प्रकारके रूपोंमें प्रतिरूप (उनके रूप—जैसा) हो रहा है और उनसे बाहर भी है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ (गीता १३। २२)

पुरुष (चेतन-तत्त्व) इस देहमें स्थित हुआ भी पर अर्थात् त्रिगुणात्मक प्रकृतिसे सर्वथा अतीत ही है। (केवल) यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता (एवं) सबको धारण करनेवाला होनेसे भर्ता,

जीवरूपसे भोक्ता, (तथा) ब्रह्मादिकोंका भी स्वामी होनेसे महेश्वर और अपने शुद्ध चेतन ज्ञानस्वरूपसे परमात्मा है—ऐसा कहा गया है।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥ (गीता १३ । २३)

इस प्रकार पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको जो मनुष्य तत्त्वसे (समाधिद्वारा अन्तर्मुख होकर अर्थात् विवेक-ख्यातिद्वारा) जान लेता है, वह सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता है।

अन्तःकरण अनेक हैं; इसलिये अन्तःकरणोंकी अपेक्षासे पुरुषमें भी अनेकता विकल्पसे मानी गयी है। पुरुष और अन्तःकरण आदिमें विवेक भेदज्ञान न होनेके कारण जैसे उनके अन्य सब धर्म पुरुषमें अज्ञानसे आरोपित होते हैं वैसे ही उनका धर्म अनेकत्व (संख्या) भी अज्ञानसे पुरुषमें आरोपित होता है।

विवेक-ज्ञानके पश्चात् स्वरूप-स्थितिकी अवस्थामें जहाँ चित्तके निरोध होनेके साथ उसके सारे धर्म—क्रिया आदिका अभाव हो जाता है, वैसे ही अनेकत्व (संख्या) का भी अभाव हो जाता है।

पुरुष—बन्ध और मोक्ष

यह बन्ध और मोक्ष भी वास्तवमें प्रकृतिके कार्य चित्तमें ही होते हैं। पुरुष स्वयं स्वरूपसे सदा असङ्ग है; वह न बद्ध होता है न मुक्त।

जैसे—

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥ (सां० का० ६२)

इसलिये साक्षात् न कोई बद्ध होता है, न कोई छूटता है, न कोई जन्मान्तरमें घूमता है। प्रकृति ही नाना (देव, मनुष्य, पशु आदि शरीरोंमें) आश्रयवाली घूमती, बँधती और छूटती है।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥ (गीता ३ । २७-२८)

सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये हुए हैं (तो भी) अहंकारसे मोहित हुए अन्तःकरणवाला पुरुष 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मान लेता है। परंतु हे महाबाहो! गुणविभाग (५ स्थूल भूत, ५ तन्मात्राएँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ शब्दादि विषय, मन, अहंकार, बुद्धि, चित्त) और कर्मविभाग (इनकी परस्परकी चेष्टाएँ) के तत्त्वको जाननेवाला ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण गुण गुणोंमें बर्त रहे हैं ऐसा जानकर आसक्त नहीं होता।

अज्ञान जो बन्धका कारण और ज्ञान जो मोक्षका कारण है तथा धर्म-अधर्म जो संसारके कारण हैं— ये सब बुद्धिके धर्म हैं। इनका साक्षात् सम्बन्ध बुद्धिसे है, क्योंकि परिणाम बुद्धिमें होता है, न कि अपरिणामी पुरुषमें। इसलिये इनका फल बन्ध, मोक्ष और संसारका भी साक्षात् सम्बन्ध बुद्धिसे है। पुरुष सदा बन्ध, मोक्ष और संसारमें भी एकरस रहता है। बुद्धिमें भेद होता है। अज्ञानमें जो अवस्था

बुद्धिकी होती है, ज्ञानमें उससे भिन्न हो जाती है। पुरुष बुद्धिका द्रष्टा होनेसे बुद्धिके आकारसे अपनेको भिन्न न समझनेके कारण उन अवस्थाओंको अपनी अवस्थाएँ समझ लेता है; किंतु वास्तवमें वे अवस्थाएँ उसकी नहीं, बुद्धिकी हैं। इसलिये बन्ध, मोक्ष और संसारका सम्बन्ध बुद्धिसे है, जो प्रकृतिका रूपान्तर है। ऊपर बतलाये हुए प्रकारके अनुसार बुद्धिका पुरुषके साथ परम्परा सम्बन्ध है। इसलिये ये बुद्धिके धर्म पुरुषमें आरोपित कर लिये गये हैं। जैसे योद्धाओंकी जीत-हार राजाकी जीत-हार समझी जाती है।

प्रकृति जिस प्रकार अपनेको बाँधती और छुड़ाती है, कारिकाकार उसको निम्न प्रकारसे बतलाते हैं—

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण॥ (सां० का० ६३)

प्रकृति स्वयं अपने आपको सात रूपों (धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य) से बाँधती है और वही फिर पुरुषार्थके लिये (पुरुषका परम प्रयोजन मोक्ष सम्पादन करनेके लिये) एक रूप (ज्ञानरूप) से (अपने-आपको) छुड़ाती है।

सांख्य-दर्शनमें पुरुषका बहुत्व

सांख्य-दर्शनमें जहाँ इस विषयका वर्णन किया गया है, अब उसपर प्रकाश डालते हैं।

जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम्। (सां० द० १। १४९)

जन्म आदि व्यवस्थासे पुरुष बहुत हैं—अर्थात् जन्म, मरण, सुख, दुःख सब अन्तःकरण (सत्त्वचित्त) के धर्म हैं और अन्तःकरण अनन्त हैं; इसलिये अन्तःकरणोंकी अपेक्षासे पुरुषमें बहुत्व माना जाता है यह उपाधि-भेद है, जैसा कि अगले सूत्रमें बतलाते हैं।

उपाधिभेदेऽप्येकस्य नानायोग आकाशस्येव घटादिभिः।
(सां० १। १५०)

उपाधिभेदमें भी एकका नाना प्रकारका प्रतीत होना होता है आकाशके सदृश घटादिकोंके साथ। अर्थात् एक ही आकाश नाना प्रकारके घटादिकोंके साथ उपाधि-भेदसे उन घटादिकों-जैसा भिन्न-भिन्न प्रकारका प्रतीत होता है। इसी प्रकार एक चेतन-तत्त्व अन्तःकरणोंकी उपाधिसे बहुत धर्मवाला प्रतीत होता है।

उपाधिर्भिद्यते न तु तद्वान्। (सां० १। १५१)

उपाधिका भेद होता है; परंतु उपाधिवालेका भेद नहीं होता है। अर्थात् बहुत्व केवल उपाधिरूप अन्तःकरणोंमें है, न कि पुरुषके वास्तविक शुद्ध चेतन-स्वरूपमें। (विज्ञानभिक्षुने सूत्र १५० को पूर्वपक्षमें और सूत्र १५१ को उत्तरपक्षमें रखकर अन्तःकरणोंके उपाधि-भेदसे पुरुषमें बहुत्व सिद्ध किया है, जो हमारी तत्त्व-समासके चौथे सूत्र "पुरुषः" की व्याख्यासे अविरुद्ध है, जिसमें व्यष्टि अन्तःकरणोंके सम्बन्धसे जो पुरुषकी संज्ञा जीव है इसमें बहुत्व बतलाया गया है।)

एवमेकत्वेन परिवर्तमानस्य न विरुद्धधर्माध्यासः। (सां० १। १५२)

इस प्रकार एक आत्मा (चेतन-तत्त्व) माननेसे उपाधिवालेका विरुद्ध धर्मवाला भान न होगा।

नाना प्रकारके धर्मों अर्थात् सुख-दुःख आदिका भान होना केवल अन्तःकरणोंकी उपाधिमें घट सकता है न कि निर्विकार शुद्ध चेतन-स्वरूपमें ।

अन्यधर्मत्वेऽपि नारोपात् तत्सिद्धिरेकत्वात् । (सां० १ । १५३)

अन्यके धर्म होनेपर भी एक होनेके कारण आरोप करनेसे उसकी सिद्धि नहीं है । जन्म-मरण, सुख-दुःखादि आत्माके धर्म नहीं हैं । अन्तःकरणोंके धर्म उसमें आरोप किये गये हैं । इससे आत्माके वास्तविक शुद्ध स्वरूपमें बहुत्व नहीं सिद्ध होता है ।

यदि कहो कि पुरुषोंको बहुत माननेमें अद्वैत श्रुतियोंसे विरोध आयेगा तो उसका समाधान इस प्रकार है—

नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात् । (सां० द० १ । १५४)

ये श्रुतियाँ जातिपरक हैं (अर्थात् शुद्ध चेतन-तत्त्व अर्थ पुरुषके सत्तामात्र आत्मस्वरूपका निर्देश करती हैं), इसलिये (जीव अर्थ) पुरुषको (अन्तःकरणोंकी अपेक्षासे) जन्मादि व्यवस्थासे बहुत माननेमें उनसे विरोध नहीं हो सकता ।

यहाँ जातिसे मनुष्य, पशु आदि जैसी जाति, जिसके अन्तर्गत बहुत-से व्यक्ति होते हैं, अभिप्राय नहीं है, किंतु सत्तामात्र शुद्ध चेतनतत्त्वसे, जो सदा एकरस और समानरूप है, अभिप्राय है; जो व्यक्तियोंके भेदक दिशा, काल, नाम, रूप, आकार और गुणोंके परिणामसे परे है। जिस प्रकार वेदान्त (उपनिषदों) में चेतन-तत्त्व दो प्रकार शुद्ध (पर, निर्गुण) और शबल (अपर, सगुण) रूपसे वर्णन किया गया है— शबल स्वरूपकी व्यष्टिरूपसे विश्व, तैजस और प्राज्ञ; और समष्टिरूपसे विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर संज्ञा की है; इसी प्रकार सांख्य और योगमें प्रतिबिम्बित चेतनतत्त्वकी व्यष्टिरूपसे पुरुष संज्ञा है और समष्टिरूपसे हिरण्यगर्भ, पुरुषविशेष और ईश्वर संज्ञा है । इस व्यष्टिरूपेण प्रतिबिम्बित पुरुषसंज्ञक चेतनमें बहुत्व (संज्ञा) है, न कि शुद्ध चेतनतत्त्वमें, जो कि तदाकार (एक समान रूप) है । इसीको अगले सूत्रमें और स्पष्ट करते हैं ।

विदितबन्धकारणस्य दृष्टया तद्रूपम् । (सां० द० १ । १५५)

जिसने बन्धका कारण (अविवेक) जान लिया, उसकी दृष्टिमें (सब पुरुषोंकी) तद्रूपता (समानरूपता) है ।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।।
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।।

(गीता ६ । २९, ३२)

सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एक ही भावसे स्थितिरूप योगसे युक्त हुए आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है । हे अर्जुन ! जो योगी अपनी सादृश्यतासे सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वही योगी परम श्रेष्ठ माना गया है ।

यदि यह कहा जाय कि समानरूपता है तो सबको क्यों नहीं प्रतीत होती, तो उसका समाधान इस प्रकार है—

नान्धाऽदृष्टया चक्षुष्मतामनुपलम्भः । (सां० द० १ । १५६)

अन्धोंके न देखनेसे सूझाखोंको अनुपलब्धि नहीं होती ऐसा नहीं अर्थात् यदि विवेक-चक्षुहीन अविवेकियोंको पुरुषोंकी समानरूपता नहीं दीखती तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि विवेककी आँखोंवाले सूझाखोंको भी समानरूपताकी उपलब्धि न हो ।

गीता अध्याय १८ में इस ज्ञानके सात्त्विक, राजसी और तामसी तीन भेद दिखलाये हैं । यथा—

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥
सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

ज्ञान और कर्म तथा कर्ता भी गुणोंके भेदसे सांख्य-शास्त्रमें तीन-तीन प्रकारसे कहे गये हैं । उनको भी तू भली प्रकारसे सुन ॥ १९ ॥ जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्म-भावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस भावको तू सात्त्विक जान ॥ २० ॥ और जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण भूतोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके अनेक भावोंको न्यारा-न्यारा करके जानता है, उस ज्ञानको तू राजस ज्ञान समझ ॥ २१ ॥ और जो ज्ञान सब कार्यरूप शरीरमें ही सम्पूर्णताके सदृश आसक्त है तथा जो बिना युक्तिवाला तत्त्व-अर्थसे रहित और तुच्छ है, वह ज्ञान तामस कहा गया है ॥ २२ ॥

सांख्य और ईश्वरवाद

सांख्यने पुरुषकी संनिधिको विषम-परिणाममें निमित्त कारण माना है, पुरुष-विशेषका वर्णन नहीं किया; किंतु सामान्यतोदृष्ट प्रमाणसे उसकी सिद्धि होती है, क्योंकि जिस प्रकार व्यष्टिरूपसे पुरुषकी संनिधि गुणोंके व्यष्टि परिणाममें निमित्त कारण है, इसी प्रकार समष्टिरूपसे पुरुष-विशेषकी संनिधि गुणोंके अव्यक्त साम्य परिणाम तथा समष्टि व्यक्त गुणोंके विषम परिणाममें निमित्त कारण है ।

नोट—यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि जिस प्रकार कुछ पक्षपाती अविद्या अथवा मायावादी नवीन वेदान्तियोंने सांख्यके जड-तत्त्व-प्रधान अर्थात् त्रिगुणात्मक मूल प्रकृतिके अस्तित्वके खण्डन करने और केवल अद्वैत चेतनवाद सिद्ध करनेमें श्रुति और स्मृतियोंके अर्थ निकालनेमें अर्थोंकी खींचा-तानी की है । इसी प्रकार कई एक नवीन सांख्यवादियोंने भी उनके विरोधमें श्रुति और स्मृतियोंद्वारा शुद्ध चेतन-तत्त्वमें बहुत्व सिद्ध करनेका यत्न किया है । किंतु यह उनका अविद्यावादी नवीन वेदान्तियोंके सदृश केवल पक्षपात है, जो श्रुति-स्मृति और युक्तिके विरुद्ध है और सांख्य-वेदान्तको उसके उच्चतम सिद्धान्तसे गिराता है ।

कई साम्प्रदायिक पक्षपातियोंने कपिल मुनिपर नास्तिकता और उनके दर्शनपर अनीश्वरवादका दोषारोपण किया है। इसके कई कारण हो सकते हैं—

उनके विचारमें (१) सांख्यने प्रधान (मूल प्रकृति) को जगत्‌का स्वतन्त्र कारण माना है, ईश्वरका वर्णन नहीं किया है। वास्तवमें मूल प्रकृतिको सांख्यने जगत्‌का उपादान कारण माना है, उसको उसके उपादान कार्योंकी अपेक्षासे स्वतन्त्र बतलाया है; क्योंकि वह गुणोंकी साम्य-अवस्था है, जो पुरुषके लिये निष्प्रयोजन है। इस साम्य परिणाम तथा विषम परिणाममें निमित्त कारण ईश्वर ही है, जिसकी संनिधिसे परिणाम हो रहा है। (२) सांख्यने ईश्वरको २५ तत्त्वोंमें अलग वर्णन नहीं किया है। इसके सम्बन्धमें ऊपर बतला आये हैं कि पुरुषमें पुरुष-विशेष ईश्वरको सम्मिलित कर दिया गया है।

केवल वेदान्त (उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र) ने ब्रह्मको 'हान' और ब्रह्मज्ञानको 'हानोपाय' अर्थात् साध्य और साधन दोनों माना है। इसलिये उनमें ब्रह्मका ही विशेषरूपसे विस्तारपूर्वक वर्णन है; अन्य चारों दर्शन-न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योगने परमात्मतत्त्वको केवल 'हान' अर्थात् साध्य माना है। 'हानोपाय' अर्थात् साधन जड और चेतनतत्त्वका विवेकपूर्ण ज्ञान बतलाया है, इसलिये इन्हें उसको विशेष-रूपसे अलग वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई; क्योंकि जानना तो केवल अपनेसे भिन्न वस्तुका होता है, जो दृश्य कहलाता है और वह त्रिगुणात्मक जड-तत्त्व है। जिसके वास्तविक स्वरूपको विवेकपूर्ण जानकर आत्मासे भिन्न करनेके लिये दर्शनकारोंने अपने-अपने माप और वर्णन-शैलीके अनुसार अवान्तर भेदोंमें विभक्त करके दिखलाया है। अपने शुद्ध परमात्मस्वरूपका जानना नहीं होता, उसमें तो स्वरूपावस्थिति होती है।

'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्'। (बृह० ६।४)

जिससे यह सब जाना जाता है उसको किससे जाने?

तथा—विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।

विज्ञानभिक्षुने जो उपर्युक्त सूत्रों तथा 'वामदेवादिमुक्तो नाऽद्वैतम्' (१५७) 'वामदेवादि मुक्त हुए उससे अद्वैत नहीं रहा' से जो अन्तःकरणोंके धर्मोंको साथ लेकर पुरुषमें बहुत्व बतलाया है, इससे हमारा कोई विरोध नहीं है।

हमने तत्त्व-समासके चौथे सूत्रकी व्याख्यामें तथा अन्य कई स्थानोंमें पुरुषके केवल शुद्ध चेतन-स्वरूपमें एकत्व किंतु उसके व्यष्टि अन्तःकरणोंके साथ मिश्रित स्वरूपमें जिसकी संज्ञा जीव है बहुत्व दिखलाया है। सांख्यने बन्ध और मोक्ष प्रकृतिमें ही माने हैं। यथा—

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण॥ (सां० का० ६३)

(धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य) इन सात रूपोंमें प्रकृति अपने-आपको बाँधती है। वही फिर पुरुषार्थके लिये एक रूप (ज्ञान) से अपने आपको छुड़ाती है। इसलिये प्रकृतिके कार्योंको साथ लेकर जीवसंज्ञक पुरुषमें बन्ध, मोक्ष, संख्या आदि सब कुछ सिद्ध होते हैं। सांख्यके वास्तविक स्वरूप-को समझनेके लिये इस बातका विवेक होना अति आवश्यक है, कि कहाँ पुरुषका शब्द जीव-अर्थमें प्रयोग हुआ है, कहाँ ईश्वर-अर्थमें और कहाँ शुद्ध चेतन परमात्मस्वरूपके अर्थमें।

सबके जाननेवाले विज्ञाताको किससे जाना जा सकता है अर्थात् किसीसे भी नहीं जाना जा सकता है। योगदर्शनने ईश्वरप्रणिधानको भी एक 'हानोपाय' अर्थात् साधनरूपमें वर्णन किया है। सांख्य तीनों गुणोंके सर्वथा परित्यागपूर्वक सीधा एक साथ परब्रह्मकी ओर जाता है जैसा कि हमने इसी प्रकरणमें दो स्थानोंमें सांख्यकी निष्ठामें बतलाया है।

'ईश्वरासिद्धेः' का समाधान

ईश्वरासिद्धेः। (सां० द० १। ९२)

उपर्युक्त सूत्रसे सांख्यपर अनीश्वरवादी होनेका दोष लगाया जाता है।

यह सूत्र पहले अध्यायके प्रत्यक्ष प्रमाणके प्रसङ्गमें आया है। अब उसे स्पष्ट किये देते हैं।

यत् सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्। (सां० द० १। ८९)

इस सूत्रमें प्रत्यक्षका लक्षण बतलाया है। अर्थात् इन्द्रियोंके संनिकर्षरूप सम्बन्धको प्राप्त हुआ जो उस विषयके आकारका चित्र खींचनेवाला विज्ञान (चित्तकी वृत्ति) है, वह प्रत्यक्ष कहलाता है। इसपर यह शङ्का होती है कि योगियोंको बिना इन्द्रियोंके संनिकर्षके चित्तवृत्तिका वस्तुके तदाकार होकर प्रत्यक्ष ज्ञान होता है; इसलिये उपर्युक्त लक्षणमें अव्याप्ति दोष आ जाता है। इसका समाधान अगले सूत्रमें करते हैं—

योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः। (सां० द० १। ९०)

योगियोंका बाह्य प्रत्यक्ष न होनेसे उपर्युक्त लक्षणमें अव्याप्ति दोष नहीं आता; अर्थात् उपर्युक्त लक्षण केवल बाह्य प्रत्यक्ष ज्ञानका है, योगियोंका इस प्रकारका ज्ञान बाह्य प्रत्यक्ष नहीं है, वह आभ्यन्तर प्रत्यक्ष है। इसलिये सूत्रमें बतलाये हुए लक्षणमें अव्याप्ति दोष नहीं आता।

अथवा—

लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वादोषः। (सां० द० १। ९१)

योगियोंको लीन वस्तुओं (सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट) में अतिशय सम्बन्ध होनेसे अव्याप्ति दोष नहीं आता।

दूसरी शङ्का इस प्रकार उत्पन्न होती है कि योगियोंको ईश्वरका प्रत्यक्ष होता है इसलिये सूत्रमें बतलाये हुए लक्षणमें अव्याप्ति दोष आता है। इसका उत्तर सूत्रकार निम्न सूत्रमें देते हैं—

ईश्वरासिद्धेः। (सां० द० १। ९२)

ईश्वरकी असिद्धिसे (अव्याप्ति दोष नहीं आता है)।

यह सूत्र ईश्वरके अस्तित्वके अभावको नहीं बतलाता है, किंतु इससे ईश्वरके शुद्ध स्वरूपका प्रत्यक्ष अन्तःकरणद्वारा नहीं होता अर्थात् चित्तवृत्ति ईश्वरके शुद्ध स्वरूपके तदाकार होकर उसका ज्ञान नहीं प्राप्त करा सकती है। इसलिये इस सूत्रसे ईश्वरके अस्तित्वकी असिद्धि नहीं बतलायी गयी है, किंतु जिस प्रकार भौतिक पदार्थोंका साधारण मनुष्योंको बाह्य प्रत्यक्षसे और योगियोंको सूक्ष्म पदार्थोंका आभ्यन्तर प्रत्यक्षसे ज्ञान होता है, इस प्रकार ईश्वरका प्रत्यक्षद्वारा ज्ञान नहीं होता।

सांख्यने ईश्वरको ऐसा स्वेच्छाचारी सम्राट् नहीं माना है, जो अपने मनोरञ्जनके लिये सृष्टिकी रचना करता है और स्वार्थ-सिद्धिके लिये सर्वहितकारी नियमोंका भी उल्लङ्घन कर सकता है; किंतु सर्वज्ञ,

सर्वशक्तिमान् और ज्ञानस्वरूप माना है, जिसकी ज्ञान-शक्तिसे जड-प्रकृतिमें सारे पुरुषोंके कल्याणार्थ सृष्टि, उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकी ज्ञान, नियम और व्यवस्थापूर्वक क्रिया हो रही है। जैसा स्वयं विज्ञानभिक्षुने सूत्र सत्तानवेके प्रवचन-भाष्यमें लिखा है।

निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः प्रवर्तते।
सत्तामात्रेण देवेन तथा चायं जगज्जनः॥
अत आत्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च संस्थितम्।
निरिच्छत्वादकर्तासौ कर्ता संनिधिमात्रतः॥

(सांख्य-प्रवचन भाष्य १। ९७)

जैसे बिना इच्छावाले रत्न (मणि चुम्बक) के स्थित रहनेमात्रमें लोहा (आप-से-आप) प्रवृत्त होता है, वैसे ही सत्तामात्र देव (ईश्वर) से जगत्की उत्पत्ति आदि होती है। इस कारण ईश्वरमें कर्तृत्व और अकर्तृत्व भी अच्छी प्रकार सिद्ध है। वह निरिच्छ होनेसे अकर्ता और सामीप्यमात्रसे कर्ता है।

इसी बातको गीताके पाँचवें अध्यायमें निम्नलिखित श्लोकोंमें दर्शाया है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ १४॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ १५॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥ १६॥

ईश्वर भूत-प्राणियोंके न कर्तापनको और न कर्मों तथा कर्मोंके फलके संयोगको (वास्तवमें) रचता है, किंतु परमात्माके सांनिध्यसे प्रकृति ही वर्तती है। अर्थात् गुण ही गुणोंमें वर्त रहे हैं॥ १४॥

सर्वव्यापी ईश्वर न किसीके पापको और न किसीके शुभ कर्मको भी ग्रहण करता है (किंतु) अविद्यासे ज्ञान (विवेक-ज्ञान) ढका हुआ है, इससे सब जीव मोहित हो रहे हैं॥ १५॥

परंतु जिनका अन्तःकरणका अज्ञान विवेकज्ञानद्वारा नाश हो गया है, उनका वह ज्ञान सूर्यके सदृश उस परब्रह्म परमात्माके स्वरूपको हृदयमें प्रकाशित करता है अर्थात् साक्षात् कराता है॥ १६॥

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा। (सां० द० ३। ५७)

उपर्युक्त सूत्रसे ईश्वरकी सिद्धि स्पष्ट शब्दोंमें बतलायी गयी है।

विज्ञानभिक्षुने यहाँ अपने सांख्य-प्रवचनभाष्यमें ईश्वरको प्रकृतिलयका वाचक बतलाया है। इसलिये पाठकोंके स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करनेके लिये प्रकृतिलयके प्रसङ्गके साथ इस सूत्रको बतलाये देते हैं—

न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात्। (सां० द० ३। ५४)

कारणमें लीन होनेसे पुरुषको कृतकृत्यता नहीं हो सकती, क्योंकि डुबकी लगानेवालेके समान फिर ऊपर उठना होता है। इस विषयमें योगदर्शन १। १९ की व्याख्या देखिये।

अर्थात् प्रकृतिलय होना भी मुक्ति नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार डुबकी लगानेवालेको श्वास लेनेके लिये ऊपर उठना होता है, इसी प्रकार प्रकृतिलयोंको भी एक नियत समयके पश्चात् विवेक-ज्ञानद्वारा स्वरूपावस्थिति प्राप्त करनेके लिये प्रकृतिलीनतासे निकलकर फिर जन्म लेना होता है।

अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात्। (सां० द० ३ । ५५)

यद्यपि प्रकृति कार्य नहीं है, तो भी परतन्त्रतासे उसका योग होता है। अर्थात् यद्यपि प्रकृति कार्य पदार्थ नहीं है, कारण है, फिर भी सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वरके नियमोंके अधीन पुरुषके अपवर्ग (स्वरूपावस्थिति) करानेके लिये प्रवृत्त हो रही है। प्रकृतिलय पुरुष स्वरूपावस्थितिको प्राप्त किये हुए नहीं होते हैं। इसलिये प्रकृति ईश्वरीय नियमोंसे परतन्त्र हुई, उनको अपवर्ग दिलानेके लिये प्रकृतिलीनतासे निकालकर ऊँचे योगियोंके कुलमें जन्म दिलाती है।

स हि सर्ववित् सर्वकर्ता। (सां० द० ३ । ५६)

वही सर्वज्ञ और सबका कर्ता है।

अर्थात् वह चेतन-तत्त्व ईश्वर, प्रकृति जिसके अधीन ज्ञान, व्यवस्था और नियमपूर्वक पुरुषके अपवर्गके लिये प्रवृत्त हो रही है, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है।

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा। (सां० द० ३ । ५७)

इस प्रकारकी ईश्वरकी सिद्धि सिद्ध है।

अर्थात् प्रथम अध्यायके बानवे सूत्रमें ईश्वरके बद्ध तथा मुक्त दोनों प्रकारका न होनेसे असिद्धि बतलायी थी; पर इस प्रकार सर्वसृष्टिका नियन्ता, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वरकी सिद्धि सिद्ध है।

यहाँ प्रसङ्ग तथा युक्तिसे प्रकृतिलय पुरुष जिनमें न पूरा विवेकज्ञान है और जो न स्वरूपावस्थिति-को प्राप्त किये हुए हैं, वे सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर नहीं हो सकते। यदि प्रकृतिलयसे सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वरके ही अर्थ लिये जायँ तो समष्टि प्रकृतिके अधिष्ठाता समष्टिरूपेण चेतन-तत्त्व ईश्वरके ही हो सकते हैं, जिसका योगदर्शन १ । २८ की व्याख्या तथा वि० वि० में विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है, जो उसका शुद्ध स्वरूप नहीं है, किंतु शबल अर्थात् प्रकृतिके संयोगसे है।

सम्भव है विज्ञानभिक्षुने प्रकृतिलयके सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वरके अर्थ इस अभिप्रायसे किये हों कि योगियोंको समाधिद्वारा केवल महत्तत्त्वतक ही साक्षात्कार होता है, इससे अव्यक्त मूल प्रकृति अनुमान-गम्य होती है। इसलिये अनुमानगम्य अव्यक्त कारण प्रकृतिके अधिष्ठाता ईश्वर भी महत्तत्त्वके अधिष्ठाता हिरण्यगर्भरूपसे ही व्यक्त (प्रकट प्रत्यक्ष) हो सकते हैं। अतः डुबकी लगानेवालेके सदृश प्रकृतिसे बाहर निकलनेसे अभिप्राय-महत्तत्त्व अर्थात् समष्टि सूक्ष्म जगत्के अधिष्ठाता हिरण्यगर्भरूपसे पुरुषको अपवर्ग दिलानेके लिये सृष्टि-उत्पत्तिके समय प्रकट होना है।

सांनिध्यमात्रेणेश्वरस्य सिद्धिस्तु श्रुतिस्मृतिषु सर्वसम्मतेत्यर्थः।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते एतद्वै तत्॥
सृजते च गुणान् सर्वान् क्षेत्रज्ञस्त्वनुपश्यति।
गुणान् विक्रियते सर्वानुदासीनवदीश्वरः॥

(सांख्य-प्रवचन भाष्य ३ । ५७)

अङ्गुष्ठपरिमाण हृदय-देश है, उस हृदयाकाशमें वर्तमान पुरुषको हृदयकी उपाधिके कारण अङ्गुष्ठमात्र कहा है। वह अङ्गुष्ठमात्र पुरुष शरीरके भीतर रहता है (व्यापक होनेपर भी चूँकि हृदय-देशमें उपलब्धि होती है अतः हृदयोपहित निर्देश किया है)। जो उस भूत और भविष्यत्के स्वामी आत्माको जानकर फिर कुछ भी छिपाना नहीं चाहता, वही यह आत्मतत्त्व है और (वह) सब गुणोंको उत्पन्न करता है, पीछे क्षेत्रज्ञ तो देखता है (गुणोंका द्रष्टा रहता है), ईश्वर उदासीनके सदृश सब गुणोंको कार्यरूपमें परिणत करता है।

गीताके अध्याय १३ के निम्नलिखित श्लोकोंका भी यही आशय है—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

हे अर्जुन ! अनादि होनेसे और गुणातीत होनेसे वह अविनाशी परमात्मा शरीरमें स्थित हुआ भी (वास्तवमें) न कर्ता है और न लिपायमान होता है ॥ ३१ ॥

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त हुआ भी आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिप्त नहीं रहता है, वैसे ही सर्वत्र देहमें स्थित हुआ भी आत्मा (गुणातीत होनेके कारण देहके गुणोंसे) लिप्त नहीं रहता है ॥३२॥

हे अर्जुन ! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है ॥ ३३ ॥

कपिलमुनि आस्तिक थे—अन्य युक्तियाँ

यदि कपिल मुनि नास्तिक होते तो श्वेताश्वतरादि उपनिषद् तथा गीतामें उनकी इतनी प्रशंसा नहीं की जाती जैसा कि इस प्रकरणके आरम्भमें दिखलाया गया है। सांख्य तथा योग सबसे प्राचीन वैदिक दर्शन हैं। योग कर्मयोग और सांख्य ज्ञानयोगके नामसे प्रसिद्ध हैं, जिनका गीतामें बार-बार वर्णन आता है।

श्रीमद्भागवतके तीसरे स्कन्धमें जहाँ भगवान् कपिलने अपनी माताको आध्यात्मिक उपदेश दिया है, वहाँ उनको स्वयं ईश्वरका अवतार माना गया है।

श्रीव्यासजी महाराजने योगदर्शनके भाष्यमें पञ्चशिखाचार्यके सांख्यसूत्रोंको अनेक स्थानोंपर उद्धृत किया है।

सांख्यने वेदोंको अपौरुषेय, ईश्वरीय ज्ञान और आप्त प्रमाण माना है।

न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात् (सां० द० ५ । ४६)

उन (वेदों) का बनानेवाला कोई पुरुष नहीं (दिखलायी देता है), इसलिये उनका पौरुषेयत्व नहीं बन सकता।

न मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात् । (सां० द० ५ । ४७)

मुक्त और अमुक्त (बद्ध) के अयोग्य होनेसे (वेदोंकी) पौरुषेयता नहीं बन सकती ।

निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतःप्रामाण्यम् । (सां० द० ५ । ५१)

अपनी स्वाभाविक निज शक्तिद्वारा उत्पन्न होनेसे वेदोंको स्वतःप्रमाणता है ।

सांख्यने अपने सारे सिद्धान्तोंको वेदके आधारपर माना है और उनका श्रुतियोंसे अविरोध सिद्ध किया है । जैसे—

निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति । (सां० द० १ । ५४)

निर्गुणादि श्रुतियोंसे भी विरोध है ।

पारम्पर्येण तत्सिद्धौ विमुक्तिश्रुतिः । (सां० द० ६ । ५८)

परम्परासे उस मोक्षकी सिद्धिमें मुक्ति-प्रतिपादक श्रुति है ।

समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता । (सां० द० ५ । ११६)

समाधि, सुषुप्ति तथा मोक्षमें ब्रह्मरूपता हो जाती है ।

द्वयोः सबीजमन्यत्र तद्धतिः । (सां० द० ५ । ११७)

दोमें सबीज और अन्यत्र (तीसरेमें) उस (बीज) का नाश हो जाता है ।

अर्थात् सुषुप्तिमें बन्धनके बीज पाँचों क्लेश संस्काररूपसे बने रहते हैं और (असम्प्रज्ञात) समाधिमें व्युत्थानके संस्कार चित्त-भूमिमें बीजरूपसे दबे रहते हैं, किंतु (तीसरे) मोक्षमें चित्तके नाशके साथ उस बीजका नाश हो जाता है ।

द्वयोरिव त्रयस्यापि दृष्टत्वान्न तु द्वौ । (सां० द० ५ । ११८)

दोके समान तीनोंके दृष्ट होनेसे केवल दो ही नहीं मान सकते ।

अर्थात् सुषुप्तिको सबने अनुभव किया है और समाधिको कुछ लोगोंने; इसलिये इन दोनोंसे मोक्षकी अवस्था भी सिद्ध होती है ।

वासनयानर्थख्यापनं दोषयोगेऽपि न निमित्तस्य प्रधानबाधकत्वम् । (सां० द० ५ । ११९)

दोषके योग्य होते हुए भी वासनासे अनर्थकी ख्याति नहीं हो सकती और निमित्तको मुख्य बाधकता है ।

अर्थात् यद्यपि सुषुप्तिमें तमोगुण दोषका योग है तो भी वासनासे कोई अनर्थ (क्लेशादि) प्रकट नहीं हो सकता और सुषुप्तिका निमित्त तमोगुण मुख्यतया दुःख आदिको रोके रहता है; इसलिये सुषुप्तिमें भी ब्रह्मरूपता अवश्य है ।

इससे बढ़कर सांख्यमें ईश्वर-सिद्धिको और किस प्रमाणकी आवश्यकता रह जाती है ।

योग-दर्शन

योगका महत्त्व

योग सांख्यका ही क्रियात्मक रूप है । योग सारे सम्प्रदायों और मत-मतान्तरोंके पक्षपात और वाद-विवादसे रहित सार्वभौम धर्म है, जो तत्त्वका ज्ञान स्वयं अनुभवद्वारा प्राप्त करना सिखलाता है और मनुष्यको उसके अन्तिम ध्येयतक पहुँचाता है । सारी श्रुति-स्मृतियाँ योगकी महिमाका गान कर रही हैं ।

योगका वास्तविक स्वरूप

योगके सम्बन्धमें नाना प्रकारकी फैली हुई भ्रान्तियोंके निवारणार्थ उसके वास्तविक स्वरूपको समझा देना अत्यावश्यक है। मोटे शब्दोंमें योग स्थूलतासे सूक्ष्मताकी ओर जाना अर्थात् बाहरसे अन्तर्मुख होना है। चित्तकी वृत्तियोंद्वारा हम स्थूलताकी ओर जाते हैं अर्थात् बहिर्मुख होते हैं। (आत्मतत्त्वसे प्रकाशित चित्त अहंकाररूप वृत्तिद्वारा, अहंकार इन्द्रियों और तन्मात्राओंरूप वृत्तियोंद्वारा, तन्मात्राएँ सूक्ष्म और स्थूलभूत और इन्द्रियाँ विषयोंकी वृत्तियोंद्वारा बहिर्मुख हो रही हैं)। जितनी वृत्तियाँ बहिर्मुख होती जायँगी उतनी ही उनमें रज और तमकी मात्रा बढ़ती जायगी और उससे उलटा जितनी वृत्तियाँ अन्तर्मुख होती जायेंगी उतना ही रज और तमके तिरोभावपूर्वक सत्त्वका प्रकाश बढ़ता जायगा। जब कोई भी वृत्ति न रहे तब शुद्ध परमात्मस्वरूप शेष रह जाता है।

योगके तीन अन्तर्विभाग—योगके मुख्य तीन अन्तर्विभाग किये जा सकते हैं—ज्ञानयोग, उपासनायोग और कर्मयोग।

ज्ञानयोग—भौतिक पदार्थोंका जान लेना अर्थात् सांसारिक ज्ञान और विज्ञान ज्ञानयोग नहीं है। बल्कि तीनों गुणों और उनसे बने हुए सारे पदार्थोंसे परे अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण जगत् अथवा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोष अथवा शरीर, इन्द्रियों, मन, अहंकार और चित्तसे परे गुणातीत शुद्ध परमात्मतत्त्वको जिसके द्वारा इन सबमें ज्ञान, नियम और व्यवस्थापूर्वक क्रिया हो रही है, संशय, विपर्ययरहित पूर्णरूपसे जान लेना ज्ञानयोग है। यह ज्ञान केवल पुस्तकोंके पढ़ लेनेसे या शब्दोंद्वारा सुन लेनेमात्रसे ही नहीं प्राप्त हो सकता। उसके लिये उपासनायोगकी आवश्यकता होती है।

उपासनायोग—एक प्रत्ययका प्रवाह करना अर्थात् चित्तकी वृत्तियोंको सब ओरसे हटाकर केवल एक लक्ष्यपर ठहरानेका नाम उपासना है। किसी सांसारिक विषयकी प्राप्तिके लिये इस प्रकार एक प्रत्ययका प्रवाह करना उपासना कहा जा सकता है उपासनायोग नहीं। यह उपासनायोग तभी कहलायगा जब इसका मुख्य लक्ष्य केवल शुद्ध परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो। इसको स्पष्ट शब्दोंमें यों समझना चाहिये कि जिस प्रकार जलके सर्वत्र भूमिमें व्यापक रहते हुए भी उसकी शुद्ध धाराको किसी स्थानविशेषसे खोदनेपर निकाला जा सकता है। उसी प्रकार परमात्म-तत्त्वके सर्वत्र व्याप्त रहते हुए भी उसके शुद्ध स्वरूपको किसी स्थान विशेषद्वारा अन्तर्मुख होकर प्राप्त किया जा सकता है। यह जो चित्तको किसी विशेष ध्येय (विषय-लक्ष्य) पर ठहराकर शुद्ध परमात्मस्वरूपको प्राप्त करनेका यत्न किया जाता है यही उपासनायोग है। इस एकाग्रतारूप उपासनाको सम्प्रज्ञात समाधि तथा सम्प्रज्ञात योग कहते हैं। इसके पश्चात् जो सर्ववृत्तियोंके निरोध होनेपर शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति है, वह ज्ञानयोग है। इसीको असम्प्रज्ञात समाधि तथा असम्प्रज्ञातयोग कहते हैं। इसके लिये किसी एकान्त निर्विघ्न शुद्ध स्थानमें सिर, गर्दन और कमरको सीधा एक रेखामें रखते हुए किसी स्थिर सुख आसनसे बैठना, प्राणोंकी गतिको धीमा करना और इन्द्रियोंको बाहरके विषयोंसे हटाकर चित्तके साथ अन्तर्मुख करना आवश्यक है। फिर यह देखना होगा कि अन्तर्मुख होनेके लिये किस स्थानको लक्ष्य बनाया जाय। वैसे तो परमात्मा सर्वत्र

व्यापक हैं; किंतु उनके शुद्ध स्वरूपतक पहुँचनेके लिये अपने ही शरीरमें किसी स्थानको लक्ष्य बनानेमें सुगमता रहती है। इसमें पाँच विषयवती प्रवृत्तिके स्थान हैं। अर्थात् नासिकाका अग्रभाग गन्धका, जिह्वाका अग्रभाग रसका, तालु रूपका, जिह्वाका मध्यभाग स्पर्शका और जिह्वाका मूलभाग शब्दका स्थान है।

इनसे भी अधिक प्रभावशाली 'विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति' के सुषुम्ना नाड़ीमें विद्यमान मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रारचक्र हैं। सुषुम्ना, जो गुदाके निकटसे मेरुदण्डके भीतर होती हुई मस्तिष्कके ऊपरतक चली गयी है, सर्वश्रेष्ठ नाड़ी है। यह सत्त्वप्रधान, प्रकाशमय और अद्भुत शक्तिवाली है। यही सूक्ष्मशरीर, सूक्ष्म प्राणों तथा अन्य सब शक्तियोंका स्थान है। इसमें बहुतसे सूक्ष्म शक्तियोंके केन्द्र हैं जिनमें अन्य सूक्ष्म नाड़ियाँ मिलती हैं। इन शक्तियोंके केन्द्रोंको पद्म, कमल तथा चक्र कहते हैं। उनमें उपर्युक्त सात मुख्य हैं। उनमें भी मणिपूरक, अनाहत, आज्ञा और सहस्रार विशेष महत्त्वके हैं। किसके लिये ध्यानके वास्ते कौन-सा स्थान अधिक उपयोगी हो सकता है यह इस मार्गके अनुभवी ही बतला सकते हैं।

जिस प्रकार तली तोड़ कुएँके खोदते समय कई प्रकारकी मिट्टीकी तहें तथा अन्य अद्भुत वस्तुएँ निकलती हैं ऐसा ही ध्यान अवस्थामें होता है। यहाँ भी स्थूल भूत, सूक्ष्म भूत, अहंकार और अस्मिता (आत्मासे प्रकाशित चित्त)—ये चार प्रकारकी तीनों गुणोंकी तहें आती हैं। जब स्थूल भूत अथवा उनसे सम्बन्ध रखनेवाले विषय सामने आवें उसको वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि*, जब सूक्ष्मभूत अथवा उनसे सम्बन्धित विषय उपस्थित हों उसको विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि,* जब इन दोनों विषयोंसे परे केवल 'अहमस्मि' वृत्ति रह जाय उसको आनन्दानुगत और जब उससे भी परे केवल 'अस्मि' वृत्ति रह जाये उसको अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है।

जिस प्रकार सारी मिट्टीकी तहोंके समाप्त होनेपर जलको रेतसे अलग किया जाता है इसी प्रकार गुणोंकी इन चारों तहोंके पश्चात् जब आत्माको चित्तसे अलग साक्षात् किया जाता है तब उसको विवेक ख्याति कहते हैं। उसके पश्चात् शुद्ध परमात्मस्वरूप शेष रह जाता है जो समाधि, असम्प्रज्ञात योग या ज्ञानयोग कहलाता है। अतः उपासनायोगद्वारा ही ज्ञानयोगकी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु यह उपासनायोग भी विना कर्मयोगके नहीं साधा जा सकता।

कर्मयोग—कोल्हूके बैलके सदृश कामोंमें लगे रहनेका नाम कर्मयोग नहीं है। शरीर, इन्द्रियों, धन, सम्पत्ति आदि सारे साधनों, उनसे होनेवाले कर्तव्यरूप सारे कर्मोंको तथा उनके फलोंको भी ईश्वरको समर्पण करते हुए अनासक्त निष्काम भावसे व्यवहार करनेका नाम कर्मयोग है। जिस प्रकार मञ्च (Stage) पर आया हुआ एक्टर (Actor) अपने पार्टको भलीभाँति करता हुआ अंदर इसका कोई

* पहली दो भूमियों वितर्क अनुगत और विचारानुगतमें गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द—इन पाँचों विषयोंमें प्रायः रूप और शब्द ही समक्ष आते हैं, क्योंकि रूपको ग्रहण करनेवाली नेत्र इन्द्रिय और शब्दको ग्रहण करनेवाली श्रोत्र इन्द्रिय हर समय काम करती रहती हैं। इसलिये सुगमताके कारण कई आचार्य रूप या शब्दको ही ध्येय बनाकर ध्यान आरम्भ करना बतलाते हैं।

भी प्रभाव अपने हृदयपर नहीं होने देता है इसी प्रकार कर्मयोगी ईश्वरकी ओरसे आये हुए सारे कर्तव्योंको भलीभाँति करता हुआ भी अंदरसे अलिप्त रहता है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥

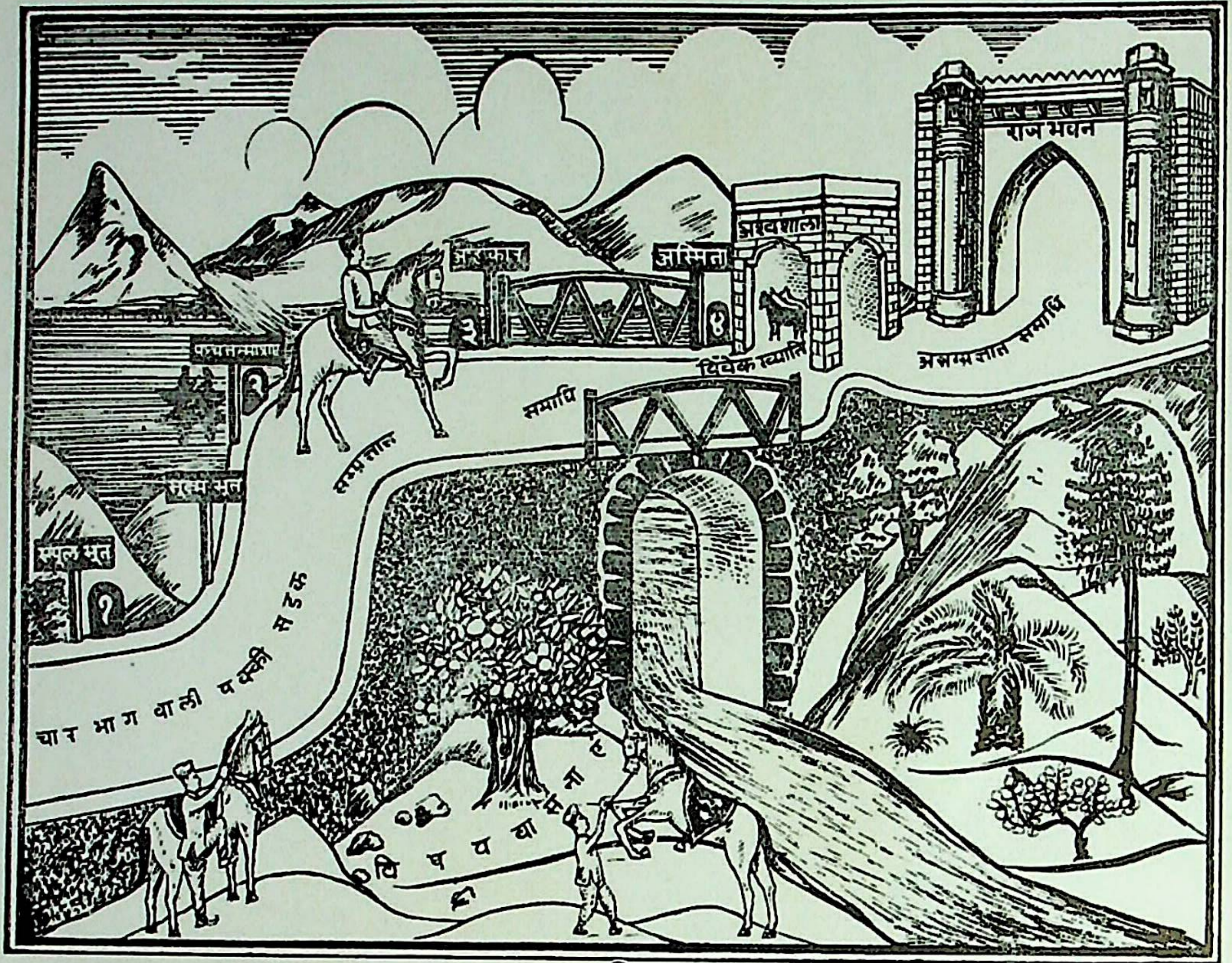
(गीता ५। १०-१२)

अर्थात् कर्मोंको ईश्वरके समर्पण करके और आसक्तिको छोड़कर जो कर्म करता है वह पानीमें पद्मपत्रके सदृश पापसे लिप्त नहीं होता ॥ १० ॥ योगी फलकी कामना और कर्तापनके अभिमानको छोड़कर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये केवल शरीर, इन्द्रियों, मन और बुद्धिसे काम करते हैं ॥ ११ ॥ योगी कर्मके फलको त्यागकर परमात्मप्राप्तिरूप शान्तिको लाभ करते हैं। अयोगी कामनाके आधीन होकर फलमें आसक्त हुआ बँधता है ॥ १२ ॥

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्। (योगद० ४। ७)

अर्थात् योगीके कर्म न पुण्यरूप होते हैं न पापरूप, क्योंकि वह कर्तव्यरूप कर्मोंको ईश्वर-समर्पण करके फलोंका त्याग कर निष्काम भावसे करता है। पाप कर्म तो वह कभी करता ही नहीं, क्योंकि वे उसके लिये सर्वदा त्याज्य हैं। दूसरे साधारण मनुष्योंका कर्म पाप, पुण्य और पुण्य-पापमिश्रित तीन प्रकारका होता है।

उपासनामें जब चित्तकी वृत्तियोंको एवं लक्ष्यविशेषपर ठहरानेका यत्न किया जाता है, तब मन अन्य विषयोंमें राग होनेके कारण उनकी ओर दौड़ता है। विषयोंमें राग सकाम कर्मोंसे होता है। इसलिये विषयोंसे वैराग्य प्राप्त करनेके लिये कर्मोंमें निष्कामता होना आवश्यक है। अर्थात् पापरूप अधर्म कर्म तो त्याज्य होते ही हैं पुण्यरूप धर्म अर्थात् कर्तव्यकर्मोंको भी उनकी फलोंकी इच्छाको छोड़कर निष्कामभावसे करना चाहिये। इसलिये उपासनायोग बिना कर्मयोगकी सहायताके नहीं सिद्ध हो सकता। किंतु ये निष्कामताके भाव भी ध्यानद्वारा ही परिपक्व हो सकते हैं। अर्थात् कर्मयोगकी सिद्धि भी उपासना योगकी सहायतासे ही हो सकती है। इसलिये जिस प्रकार संसारकी कोई भी वस्तु सत्त्व, रजस् और तमस्के सम्मिश्रणके बिना अपना अस्तित्व नहीं रख सकती, केवल इतना भेद होता है कि कहीं सत्त्वकी प्रधानता होती है कहीं रजकी और कहीं तमकी, इसी प्रकार इन तीनों योगोंमें भी तमरूप उपासनायोग चित्तको एक लक्ष्यपर ठहरानेवाला, रजरूप निष्काम कर्मयोग और सत्त्वरूप ज्ञानयोग—ये तीनों किसी-न-किसी अंशमें बने ही रहते हैं। यह अवश्य होता है कि कहीं उपासनाकी प्रधानता होती है कहीं कर्मकी और कहीं ज्ञानकी।


राजभवन
अश्वशाला
अस्मिता
विवेक ख्याति
असम्प्रज्ञात समाधि
समाधि
सम्प्रज्ञात
सूक्ष्म भूत
स्थूल भूत
चार भाग वाली पक्की सड़क

[पृष्ठ १२७

तीनों योगोंके दो मुख्य भेद—सांख्य और योग

इन तीनों योगोंके दो मुख्य भेद सांख्य और योग नामसे किये गये हैं। जहाँ भक्तियोग और कर्मयोगपर अधिक जोर दिया गया हो, वह योगनिष्ठा कहलाती है और जहाँ ज्ञानको प्रधानता दी जाती है, वह सांख्यनिष्ठा। इन दोनों निष्ठाओंका वर्णन सांख्य-प्रकरणके आरम्भमें विस्तारपूर्वक कर दिया गया है।

रूपकद्वारा योगका स्वरूप

योगका दार्शनिक महत्त्व बतलाकर अब एक रोचक रूपकद्वारा उसके अष्टाङ्ग स्वरूपको दिखलानेका यत्न किया जाता है—चित्त और पुरुषका जो अनादि स्व-स्वामी-भाव-सम्बन्ध चला आ रहा है उसके अनुसार 'स्व'रूप चित्तको अश्व और स्वामीरूप पुरुषको सवार समझना चाहिये। इस अश्वका मुख्य प्रयोजन अपने स्वामीको भोग (इष्ट) रूप मार्गको पूरा कराकर अपवर्गरूप लक्ष्यतक पहुँचा देना है। यह मार्ग एक पक्की सड़कवाला चार भागोंमें विभक्त है—पहला स्थूलभूत, दूसरा सूक्ष्मभूतोंसे तन्मात्राओंतक, तीसरा अहंकार और चौथा अस्मिता। अन्तिम किनारेपर भेदज्ञानरूपी एक अश्वशाला है। यहाँ इस घोड़ेको छोड़ देना पड़ता है और अन्तिम लक्ष्य अपवर्ग परमात्मस्वरूप एक विशाल सुन्दर राजभवन है, जहाँ इस सवारको पहुँचा देना घोड़ेका मुख्य उद्देश्य है। सकाम कर्मरूप असावधानीसे पुरुष घोड़ेकी पीठपरसे नीचे गिरकर बाग पकड़े हुए घोड़ेके इच्छानुसार असमर्थतासे उसके पीछे घूम रहा है। इस अश्वकी असंख्य चालें हैं, जो वृत्तियाँ कहलाती हैं। ये दो प्रकारकी हैं—एक क्लिष्ट, जो पुरुषके लिये अहितकारी है। दूसरी अक्लिष्ट, जो पुरुषके लिये हितकर है। वह पाँच अवस्थाओंमें रहती है— मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इनमें पहली तीन अवस्थाएँ पुरुषके प्रतिकूल हैं; केवल अन्तिम दो अनुकूल हैं। यह घोड़ा पहली तीन अवस्थाओंमें अपनी अनन्त क्लिष्ट चालोंसे संसाररूपी घोर भयङ्कर वनमें विषय-वासनारूप हरियालीकी ओर भाग रहा है और सवार जन्म, आयु और भोग (अनिष्ट) रूपी नदी-नालों, खाई-खंदक, काँटे और पत्थरोंमें असमर्थतासे घसिटता हुआ उसके पीछे चला जा रहा है और सुख-दुःखरूपी चोटोंसे पीड़ित हो रहा है। एक अपरिमित समयसे उस अवस्थामें रहते हुए पुरुष अपने वास्तविक स्वरूपको सर्वथा भूल गया है और घोड़ेके साथ एकात्मभाव करके उसके ही विषयोंको अपना मानने लगा है। ईश्वर-अनुग्रहसे जब अध्यात्मविषयक सत्-शास्त्रों और निःस्वार्थ आप्तकाम योगी गुरुओंके उपदेशसे उसको अपने और इस घोड़ेके वास्तविक स्वरूपका तथा अपने अन्तिम लक्ष्यका पता लगता है, तब वह यम-नियमके साधनोंसे घोड़ेकी क्लिष्ट चालोंको अक्लिष्ट बनाता है। आसनका सहारा लेकर घोड़ेकी रकाबपर पैर रखनेका यत्न करता है। प्राणायामकी सहायतासे रकाबपर पैर जमानेमें समर्थ होता है। प्रत्याहारद्वारा वशीकार करके उसकी पीठपर सवार होनेमें सफलता प्राप्त करता है। भोग (इष्ट) रूपी पक्की सड़ककी ओर घोड़ेका मुख फेरना धारणा है। घोड़ेको उस ओर चलाना आरम्भ कर देना ध्यान है और सड़कके निकट पहुँच जाना समाधि है। वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता अनुगतरूप एकाग्रताकी अवस्थाओंसे क्रमानुसार भोगरूपी मार्गके स्थूल, सूक्ष्म, अहंकार और अस्मितारूपी भागोंको समाप्त करता है, विवेकख्यातिद्वारा घोड़ेको अश्वशालामें छोड़कर सर्ववृत्तिनिरोध अपवर्ग नामक शुद्ध परमात्मस्वरूपरूपी विशाल राजभवनमें पहुँचता है।

दूसरे मनोरञ्जक उदाहरणद्वारा योगका स्वरूप—सिनेमाके साधारण श्वेत रंगकी चादर (पर्दा) के समान सत्त्वचित्त (जिसमें सत्त्व-ही-सत्त्व है, रज क्रियामात्र और तम उस क्रियाको रोकनेमात्र है) का स्वरूप समझना चाहिये। यह विद्युत्के सदृश आत्मा (चेतन-तत्त्व) के ज्ञानके प्रकाशसे प्रकाशित हो रहा है। भेद केवल इतना है कि विद्युत् जड होनेके कारण स्वयं सिनेमाके पर्देका देखनेवाला नहीं है। उसको दूसरे चेतन-पुरुष देखते हैं। आत्मा ज्ञानस्वरूप होनेसे अपने ज्ञानके प्रकाशमें जो कुछ चित्तमें हो रहा है, उसका द्रष्टा है।

यही चित्तरूपी पर्दा कुछ रज और तमकी अधिकताका मैल लिये हुए एक दूसरे अहंकाररूप पर्देके स्वरूपमें प्रकट हो रहा है। यह अहंकाररूपी पर्दा रज और तमकी अधिकताका मैल लिये हुए तन्मात्राओंसे लेकर सूक्ष्म भूतोंरूपी पर्देके स्वरूपमें प्रकट हो रहा है। सूक्ष्म भूतोंरूपी पर्दा कुछ रज और तमकी अधिकताको लिये हुए पाँच स्थूल भूतोंरूपी पर्देके स्वरूपमें प्रकट हो रहा है। इस पर्देपर विषय-वासनाओंसे युक्त अनन्त वृत्तियाँ सिनेमाके चित्रोंके सदृश घूम रही हैं। चित्तरूपी पर्देमें आत्माके ज्ञानका प्रकाश पड़ रहा है। इसलिये अपने ज्ञानके प्रकाशमें जो-जो रूप यह पर्दा धारण करता है उसका स्वयमेव ही आत्माको ज्ञान रहता है और अपने ज्ञानस्वरूपमें सर्वथा अवस्थित रहते हुए भी चित्तरूपी पर्देका द्रष्टा होनेके कारण जैसा आकार यह पर्दा धारण करता है वैसा ही वह प्रतीत होता है।

अष्टाङ्गयोग— बहिरङ्ग साधन यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहारकी सहायतासे अन्तरङ्ग साधन धारणा, ध्यान और समाधिद्वारा चित्तकी वृत्तिरूपी चित्रोंका वास्तविक स्वरूप साक्षात्कार होता है। वितर्कानुगत समाधिद्वारा चित्रोंका स्थूलस्वरूप तथा पाँच स्थूल भूतोंवाली चित्तकी अवस्थाका वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है। विचारानुगत समाधिद्वारा वृत्तिरूप चित्रोंके सूक्ष्मस्वरूप तथा चित्तरूपी पर्देकी सूक्ष्म भूतोंसे तन्मात्रातककी अवस्थाका ज्ञान प्राप्त होता है। इससे ऊपर आनन्दानुगत समाधिद्वारा चित्तकी अहंकाररूप अवस्थाका साक्षात्कार होता है। अस्मितानुगत समाधिद्वारा अस्मिता (आत्मासे प्रकाशित चित्त) के स्वरूपका ज्ञान प्राप्त होता है। विवेकख्यातिद्वारा आत्मारूपी विद्युत् और चित्तरूपी पर्देमें भेद-ज्ञान प्राप्त होता है। पर वैराग्यद्वारा इससे भी परे होकर आत्मारूपी विद्युत्की अपने वास्तविक परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति होती है।

योगके आदि आचार्य

योगके आदि आचार्य हिरण्यगर्भ हैं। हिरण्यगर्भ-सूत्रोंके आधारपर (जो इस समय लुप्त हैं) पतञ्जलिमुनिने योगदर्शनका निर्माण किया है। इसको विस्तारपूर्वक समाधिपादके प्रथम सूत्रमें दर्शाया जायगा। पतञ्जलि मुनिकी जीवनी तथा योगदर्शनके भाष्यकारोंका वर्णन इस प्रकरणके अन्तमें किया जायगा।

योगदर्शनके चार पाद

योगदर्शनके चार पाद हैं और १९५ सूत्र हैं। समाधिपादमें ५१, साधनपादमें ५५, विभूतिपादमें ५५ और कैवल्यपादमें ३४।

१ समाधिपाद— जिस प्रकार एक निपुण क्षेत्रज्ञ सबसे प्रथम सबसे अधिक उपजाऊ भूमिको

तैयार करके उसमें श्रेष्ठतम बीज बोता है, इसी प्रकार श्रीपतञ्जलि महाराजने समाहित चित्तवाले सबसे उत्तम अधिकारियोंके लिये सबसे प्रथम समाधिपादको आरम्भ करके उसमें विस्तारपूर्वक योगके स्वरूपको वर्णन किया है।

सारा समाधिपाद एक प्रकारसे निम्न तीन सूत्रोंकी विस्तृत व्याख्या है।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

योग चित्तकी वृत्तियोंका रोकना है।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

तब (वृत्तियोंके निरोध होनेपर) द्रष्टाकी स्वरूपमें अवस्थिति होती है।

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

दूसरी (स्वरूपावस्थितिसे अतिरिक्त) अवस्थामें द्रष्टा वृत्तिके समान रूपवाला प्रतीत होता है।

चित्त, बुद्धि, मन, अन्तःकरण लगभग पर्यायवाचक समानार्थक शब्द हैं, जिनका भिन्न-भिन्न दर्शनकारोंने अपनी-अपनी परिभाषामें प्रयोग किया है। मनकी चञ्चलता प्रसिद्ध है। सृष्टिके सारे कार्योंमें मनकी स्थिरता ही सफलताका कारण होती है। सृष्टिके सारे महान् पुरुषोंकी अद्भुत शक्तियोंमें उनके मनकी एकाग्रताका रहस्य छिपा हुआ होता है। नैपोलियनके सम्बन्धमें कहा जाता है कि वह इतना एकाग्रचित्त था कि रणभूमिमें भी शान्तिपूर्वक शयन कर सकता था, किंतु ये सब एकाग्रताके बाह्य रूप हैं।

योगके अन्तर्गत मनको दो प्रकारसे रोकना होता है—एक तो केवल एक विषयमें लगातार इस प्रकार लगाये रखना कि दूसरा विचार न आने पावे, इसको एकाग्रता अथवा सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इसके चार भेद हैं।

(१) *वितर्क*—किसी स्थूल विषयमें चित्तवृत्तिकी एकाग्रता।

(२) *विचार*—किसी सूक्ष्म विषयमें चित्तवृत्तिकी एकाग्रता।

(३) *आनन्द*—अहंकार विषयमें चित्तवृत्तिकी एकाग्रता।

(४) *अस्मिता*—अहंकाररहित अस्मिता विषयमें चित्तवृत्तिकी एकाग्रता।

इसकी सबसे ऊँची अवस्था विवेकख्याति है, जिसमें चित्तका आत्माध्यास छूट जाता है और उसके द्वारा आत्मस्वरूपका उससे पृथक्रूपमें साक्षात्कार होता है, किंतु योगदर्शन इसको वास्तविक आत्म-स्थिति नहीं बतलाता है। यह भी चित्तहीकी एक वृत्ति अथवा मनका ही एक विषय है, किंतु इसका निरन्तर अभ्यास वास्तविक स्वरूपावस्थितिमें सहायक होता है।

उपर्युक्त विवेकख्याति भी चित्तहीकी एक उच्चतम सात्त्विक वृत्ति है। इसको 'नेति-नेति' (यह वास्तविक स्वरूपावस्थिति नहीं है, यह आत्मस्थिति नहीं है इत्यादि) रूप परवैराग्यद्वारा हटाना मनका दूसरी प्रकारसे रोकना है—इसके भी हट जानेपर चित्तमें कोई भी वृत्ति न रहना अथवा मनका किसी विषयकी ओर न जाना, सर्ववृत्ति-निरोध असम्प्रज्ञात समाधि है। इसकी विस्तारपूर्वक व्याख्या योगदर्शनमें यथास्थान की जायगी।

निरोध अपने स्वरूपका सर्वथा नाश हो जाना नहीं है, किंतु जड़-तत्त्वके अविवेकपूर्ण संयोगका चेतन तत्त्वसे सर्वथा नाश हो जाना है। इस संयोगके न रहनेपर द्रष्टाकी (शुद्ध परमात्म-) स्वरूपमें अवस्थिति होती है। इसको तीसरे सूत्रमें बतलाया गया है। 'स्वरूपावस्थिति' इतना व्यापक शब्द है कि सारे सम्प्रदाय और मत-मतान्तरवाले इसके अपने अभिमत अर्थ ले सकते हैं, किंतु योग क्रियात्मकरूपसे अन्तिम लक्ष्यपर पहुँचाकर यथार्थ स्वरूप अनुभव कराकर शब्दोंके वाद-विवादमें नहीं पड़ा है। स्वरूपावस्थितिसे अतिरिक्त भिन्न अवस्थाओंमें यद्यपि द्रष्टाके स्वरूपमें किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं होता है, तथापि जैसी चित्तकी वृत्ति सुख-दुःख और मोहरूप होती है, वैसा ही द्रष्टा भी प्रतीत होता है। जैसे जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमा जलके हिलनेसे चलायमान और स्थिर होनेसे शान्त प्रतीत होता है।

ब्रह्मसूत्र तथा सांख्यसूत्रके सदृश योगदर्शनके भी प्रथम चार सूत्र योगदर्शनकी चतुःसूत्री हैं, जिनमें सारा योगदर्शन सामान्यरूपसे बतला दिया है। शेष सब सूत्र इन्हींकी विशेष व्याख्यारूप हैं।

२ *साधनपाद*—दूसरे पादमें विक्षिप्त चित्तवाले मध्यम अधिकारियोंके लिये योगका साधन बतलाया गया है—

सर्वबन्धनों और दुःखोंके मूल कारण पाँच क्लेश हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश।

अविद्या—अनित्यमें नित्य, अशुद्धमें शुद्ध, दुःखमें सुख, अनात्मामें आत्मा समझना अविद्या है। इस अविद्यारूपी क्षेत्रमें ही अन्य चारों क्लेश उत्पन्न होते हैं।

अस्मिता—इस अविद्याके कारण जड चित्त और चेतन पुरुष चितिमें भेद ज्ञान नहीं रहता। यह अविद्यासे उत्पन्न हुआ चित्त और चितिमें अविवेक अस्मिता क्लेश कहलाता है।

राग—चित्त और चितिमें विवेक न रहनेसे जडतत्त्वमें सुखकी वासना उत्पन्न होती है। अस्मिता क्लेशसे उत्पन्न हुई चित्तमें सुखकी इस वासनाका नाम राग है।

द्वेष—इस रागसे सुखमें विघ्न पड़नेपर दुःखके संस्कार उत्पन्न होते हैं। रागसे उत्पन्न हुए दुःखके संस्कारोंका नाम द्वेष है।

अभिनिवेश—दुःख पानेके भयसे भौतिक शरीरको बचाये रखनेकी वासना उत्पन्न होती है; इसका नाम अभिनिवेश क्लेश है।

क्लेशोंसे कर्मकी वासनाएँ उत्पन्न होती हैं। कर्म-वासनाओंसे जन्मरूपी वृक्ष उत्पन्न होता है। उस वृक्षमें जाति, आयु और भोगरूपी तीन प्रकारके फल लगते हैं। इन तीनों फलोंमें सुख-दुःखरूपी दो प्रकारका स्वाद होता है।

जो पुण्य-कर्म अर्थात् हिंसारहित दूसरेके कल्याणार्थ कर्म किये जाते हैं, उनसे जाति, आयु और भोगमें सुख मिलता है और जो पाप-कर्म अर्थात् हिंसात्मक दूसरोंको दुःख पहुँचानेके लिये कर्म किये जाते हैं, उनसे जाति, आयु और भोगमें दुःख पहुँचता है।

किंतु यह सुख भी तत्त्ववेत्ताकी दृष्टिमें दुःखरूप ही है; क्योंकि विषयोंमें परिणाम-दुःख, ताप-दुःख और संस्कारदुःख मिला हुआ होता है; और तीनों गुणोंके सदा अस्थिर रहनेके कारण उनकी सुख-दुःख और मोहरूपी वृत्तियाँ भी बदलती रहती हैं। इसलिये सुखके पीछे दुःखका होना आवश्यक है।

१ *हेय*—त्याज्य दुःख क्या है ?

हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

आनेवाला दुःख हेय—त्यागने योग्य है ।

२ *हेयहेतु*—त्याज्य दुःखका कारण क्या है ?

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

द्रष्टा और दृश्यका संयोग हेयहेतु—दुःखका कारण है ।

दृश्यका स्वरूप

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

सारा दृश्य त्रिगुणात्मक है; सत्त्वका स्वभाव प्रकाश है, रजस्का क्रिया और तमस्का स्थिति है । इनका स्वरूप पाँच स्थूलभूत—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और पाँच तन्मात्राएँ—गन्धतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा और शब्दतन्मात्रा तथा तेरह इन्द्रियाँ—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, अहंकार और चित्त हैं—इनका प्रयोजन पुरुषको भोग और अपवर्ग दिलाना है ।

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

गुणोंकी चार अवस्थाएँ हैं—१ विशेष—पाँचों स्थूलभूत और ग्यारहों इन्द्रियाँ, २ अविशेष—पाँच तन्मात्राएँ और अहंकार, ३ लिङ्गमात्र—महत्तत्त्व और ४ अलिङ्ग-प्रधान अर्थात् अव्यक्त मूलप्रकृति ।

द्रष्टाका स्वरूप

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

द्रष्टा यद्यपि देखनेकी शक्तिमात्र निर्मल और निर्विकार है, फिर भी उसे चित्तकी वृत्तियोंका ज्ञान रहता है ।

दृश्यका प्रयोजन

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥

यह सारा दृश्य द्रष्टा पुरुषके अपवर्ग (स्वरूपावस्थिति) करानेके लिये है ।

यह दृश्य मुक्त पुरुषोंका प्रयोजन सिद्ध करके अन्य पुरुषोंके लिये इसी प्रयोजनके सिद्ध करानेमें लगा रहता है ।

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥

जिनका प्रयोजन सिद्ध हो गया है, उनके लिये यह दृश्य नष्ट हुआ भी अपने स्वरूपसे नष्ट नहीं होता; क्योंकि वह दूसरोंकी साँझा वस्तु है अर्थात् दूसरोंके भोग-अपवर्गके साधनमें लगा रहता है ।

द्रष्टा और दृश्यके संयोगके वियोगका कारण अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥

स्वशक्ति और स्वामिशक्तिके स्वरूपकी उपलब्धिका कारण संयोग है । अर्थात् संयोग हटानेके लिये स्वशक्ति और स्वामिशक्तिके स्वरूपको उपलब्धि की जाती है । स्वशक्ति अर्थात् दृश्यके स्वरूपकी उपलब्धि,

जो भोगरूप है, सम्प्रज्ञात समाधिद्वारा और स्वामिशक्ति अर्थात् पुरुषके स्वरूपकी उपलब्धि, जो अपवर्ग-रूप है, असम्प्रज्ञात समाधिद्वारा की जाती है। दृश्य और द्रष्टा अर्थात् चित्त और पुरुषका जो आसक्ति-पूर्वक स्वस्वामि अर्थात् भोग्यत्व और भोक्तृत्व-भाव सम्बन्ध है, वह संयोग है।

संयोगकी उत्पत्तिका कारण अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

द्रष्टा और दृश्यके अविवेकपूर्ण संयोगका कारण अविद्या है।

३ *हान*—दुःखका नितान्त अभाव क्या है ?

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

अविद्याके अभावसे संयोगका अभाव होता है—यही 'हान' है। यह चेतनस्वरूप पुरुषका कैवल्य है।

४ *हानोपाय*—दुःखके नितान्त अभावका साधन क्या है ?

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

निर्मल अडोल विवेक-ख्याति हानका उपाय है।

विवेकख्यातिकी सबसे ऊँची अवस्थावाली प्रज्ञा अगले सूत्रमें बतलायी गयी है—

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

उस विवेक-ख्यातिकी सात प्रकारकी सबसे ऊँची अवस्थावाली प्रज्ञा होती है।

१ जो कुछ जानना था जान लिया, अर्थात् जितना गुणमय दृश्य है वह सब परिणाम, ताप और संस्कारदुःखों तथा गुणवृत्तिविरोधसे दुःखरूप ही है। इसलिये 'हेय' है। अब कुछ जानने योग्य नहीं रहा।

२ जो कुछ दूर करना था दूर कर दिया, अर्थात् द्रष्टा और दृश्यका संयोग जो 'हेय-हेतु' है वह दूर कर दिया। अब कुछ दूर करने योग्य नहीं रहा।

३ जो कुछ साक्षात् करना था साक्षात् कर लिया, अर्थात् निरोध समाधिद्वारा 'हान' को साक्षात् कर लिया। अब कुछ साक्षात् करने योग्य नहीं रहा।

४ जो कुछ करना था कर लिया, अर्थात् 'हान' का उपाय 'अविप्लव विवेक-ख्याति' सम्पादन कर लिया। अब कुछ करने योग्य नहीं रहा।

५ चित्तने अपने भोग अपवर्ग दिलानेका अधिकार पूरा कर दिया, अब कोई अधिकार शेष नहीं रहा।

६ चित्तके गुण अपने भोग अपवर्गका प्रयोजन सिद्ध करके अपने कारणमें लीन हो रहे हैं।

७ गुणोंसे परे होकर शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति हो रही है।

निर्मल विवेक-ख्याति, जिसे हानका उपाय बतलाया है, अब उसकी उत्पत्तिका साधन बतलाते हैं।

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

योगके अङ्गोंके अनुष्ठानसे अशुद्धिके क्षय होनेपर ज्ञानकी दीप्ति (प्रकाश) विवेक-ख्यातिपर्यन्त बढ़ जाती है।

योगके आठ अङ्ग

योगके आठ अङ्ग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि हैं। इनका विस्तारपूर्वक वर्णन योगदर्शनमें यथास्थान किया जायगा।

३ विभूतिपाद

धारणा, ध्यान और समाधि—तीनों मिलकर संयम कहलाते हैं। ये तीनों अन्य पाँच अङ्गोंकी अपेक्षा सबीज समाधिके अन्तरङ्ग साधन हैं; किंतु निर्बीज समाधिके ये भी बहिरङ्ग साधन हैं; क्योंकि उसका अन्तरङ्ग साधन पर-वैराग्य है। इस संयमके विनियोगसे नाना प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं, जिनका तीसरे पादमें वर्णन है। ये सिद्धियाँ यद्यपि अश्रद्धालुओंकी योगमें श्रद्धा बढ़ाने और असमाहित (विक्षिप्त) चित्तवालोंके चित्तको एकाग्र करनेमें सहायक होती हैं, किंतु इनमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये। इसकी कई सूत्रोंसे चेतावनी दी गयी है; जैसे—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३७ ॥

ऊपर बतलायी हुई प्रातिभ आदि सिद्धियाँ व्युत्थानमें सिद्धियाँ हैं, किंतु समाधिमें विघ्न हैं। योगमार्गपर चलनेवालेके लिये नाना प्रकारके प्रलोभन आते हैं। अभ्यासीको उनसे सावधान रहना चाहिये, उनमें फँसनेसे और घमण्डसे बचे रहना चाहिये। इस सम्बन्धमें निम्न सूत्र है—

स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात् ॥ ५१ ॥

स्थानवालोंके आदरभाव करनेपर लगाव और अभिमान नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करनेसे फिर अनिष्टके प्रसंगका भय है।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ४९ ॥

चित्त और पुरुषके भेद जाननेवाला सारे भावोंके अधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्वको प्राप्त होता है।

किंतु योगीको उसमें भी अनासक्त रहकर अपने असली ध्येयकी ओर बढ़ना चाहिये, जैसा कि अगले सूत्रमें बतलाया है—

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

उससे भी वैराग्य होनेपर, दोषोंका बीज क्षय होनेपर कैवल्य होता है।

४ कैवल्यपाद

इसमें कैवल्यके उपयोगी चित्त तथा चित्तके सम्बन्धमें जो-जो शङ्काएँ हो सकती हैं, उनका युक्तिपूर्वक निवारण किया है।

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २२ ॥

पुरुषको, जो क्रिया अथवा परिणामरहित है, स्वप्रतिबिम्बित चित्तके आकारकी तरह आकारकी प्राप्ति होनेपर अपने विषयभूत चित्तका ज्ञान होता है।

अर्थात् निर्विकार पुरुषमें दर्शन-कर्तृत्व, ज्ञातृत्व स्वाभाविक नहीं है, किंतु जैसे निर्मल जलमें प्रतिबिम्बित हुए चन्द्रमामें अपनी चञ्चलताके बिना ही जलरूपी उपाधिकी चञ्चलतासे चञ्चलता भासती है

वैसे ही चित्तमें प्रतिबिम्बित जो चेतन है, वह भी स्वाभाविक ज्ञातृत्व और भोक्तृत्वके विना ही केवल प्रतिबिम्बाधार चित्तके विषयाकार होनेसे तदाकार भासता है।

वह सदा अपरिणामी, क्रियारहित और ज्ञानस्वरूप रहता हुआ इसका साक्षी बना रहता है। अगला सूत्र चित्रके सम्बन्धमें है—

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

द्रष्टा और दृश्यसे रँगा हुआ चित्त सारे आकारवाला होता है।

अर्थात् एक तो चित्तका अपना स्वरूप है, दूसरा पुरुषसे प्रतिबिम्बित होकर चेतन अर्थात् ज्ञानवाला प्रतीत होता है। यह उसका द्रष्टासे उपरक्त हुआ गृहीता स्वरूप है। तीसरा बाह्य विषयोंसे प्रतिबिम्बित होकर उन-जैसा भासता हुआ स्वरूप है। यह उसका दृश्य उपरक्त बाह्य स्वरूप है।

इस प्रकार चित्तको एक ऐसा दर्पण समझना चाहिये, जिसमें सूर्यका प्रकाश पड़ रहा हो और अन्य विषयोंका प्रतिबिम्ब आ रहा हो। इस शङ्काके निवारणार्थ कि जब चित्तसे ही सब व्यवहार चल रहे हैं और उसीमें सब वासनाएँ रहती हैं तो द्रष्टा प्रमाणशून्य होकर चित्त ही भोक्ता सिद्ध हो जायगा। अगला सूत्र है—

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २४ ॥

यद्यपि चित्त अनगिनती वासनाओंसे चित्रित है तथापि वह पुरुषके लिये है; क्योंकि वह संहत्यकारी है।

यहाँतक चित्त और पुरुषका भेद युक्तिद्वारा बतलाकर अब अगले सूत्रमें यह बतलाते हैं कि इसका वास्तविक ज्ञान तो अनुभवगम्य है।

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥ २५ ॥

समाधिद्वारा जब योगीको पुरुष और चित्तके भेदका साक्षात्कार हो जाता है, तब उसकी आत्मभाव-भावना कि 'मैं कौन हूँ, क्या हूँ, कैसा हूँ'—इत्यादि निवृत्त हो जाती है।

अब इस पादके अन्तिम सूत्रमें कैवल्यका स्वरूप बतलाते हैं।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चिति-शक्तेरिति ॥ ३४ ॥

पुरुषार्थसे शून्य हुए गुणोंका अपने कारणमें लीन हो जाना कैवल्य है; अथवा चिति-शक्तिका अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाना कैवल्य है।

गुणोंकी प्रवृत्ति पुरुषके भोग और अपवर्गके लिये है। जब यह प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, तब उस पुरुषके प्रति उनका कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। इसलिये वे अपने कारणमें लीन हो जाते हैं। इस प्रकार पुरुषका अन्तिम लक्ष्य अपवर्ग सम्पादन करनेके पश्चात् गुणोंका अपने कारणमें लीन हो जानेका नाम कैवल्य है। अथवा यों समझना चाहिये कि धर्मी चित्तके परिणामक्रम बनानेवाले गुणोंका अपने कारणमें लीन हो जानेपर चिति-शक्ति (पुरुष) का चित्तसे किसी प्रकारका सम्बन्ध न रहनेपर (शुद्ध परमात्म-) स्वरूपमें अवस्थित हो जानेका नाम कैवल्य है।

चित्तकी नौ अवस्थाओंका संक्षिप्त वर्णन

सांख्य और योग फिलासफीमें चित्तका विषय महत्त्वपूर्ण है। उसके वास्तविक स्वरूपको समझानेकी दृष्टिसे चित्तकी नौ विशेष अवस्थाओंको यहाँ समन्वयके अन्तमें संक्षेपसे वर्णन कर देना आवश्यक समझते हैं। इसको चित्तकी क्षिप्त-विक्षिप्त आदि पाँच भूमियोंके विषयसे, जिसका समाधि-पादमें वर्णन हुआ है, पृथक् समझना चाहिये।

१ जाग्रत् अवस्था—'सत्त्व चित्त' में सत्त्वगुण गौणरूपसे दवा रहता है, तम सत्त्वको वृत्तिके यथार्थरूपके दिखलानेसे रोके रखता है, परंतु रज प्रधान होकर चित्तको इन्द्रियोंद्वारा बाह्य विषयोंमें उपरक्त करनेमें समर्थ होता है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और स्मृति-वृत्तियोंका उदय होता है। इन्द्रियाँ बहिर्मुख होकर स्थूल शरीरद्वारा कार्य करती हैं। चित्तमें व्युत्थानके संस्कार तथा व्युत्थानका परिणाम होता है। पुरुष वृत्ति-सारूप्य प्रतीत होता है।

२ स्वप्नावस्था—सत्त्वगुण गौणतर रूपसे दवा रहता है। तम रजको इतना दवा लेता है कि वह चित्तको इन्द्रियोंद्वारा बाह्य विषयोंमें उपरक्त नहीं कर सकता है किंतु रजकी क्रिया सूक्ष्मरूपसे होती रहती है, जिससे वह चित्तको मनद्वारा स्मृतिके संस्कारोंमें उपरक्त करनेमें समर्थ रहता है। इसमें भावित स्मर्तव्य स्मृति-वृत्ति रहती है। मन इन्द्रियोंके अन्तर्मुख होनेसे सूक्ष्मशरीरमें स्वप्नका कार्य करता है। चित्तमें व्युत्थानके संस्कार तथा व्युत्थानका परिणाम होता है। पुरुष वृत्तिसारूप्य प्रतीत होता है।

३ सुषुप्ति अवस्था—सत्त्वगुण गौणतम रूपसे दव जाता है। तमोगुण रजोगुणकी स्वप्नावस्थावाली क्रियाओंको भी रोककर प्रधानरूपसे चित्तपर फैल जाता है। इसलिये किसी विषयका किसी प्रकारका भी ज्ञान नहीं रहता है; किंतु रजका नितान्त अभाव नहीं होता, वह कुछ अंशमें बना ही रहता है। जिसके कारण किसी विषयके ज्ञान न होनेकी अर्थात् अभावकी प्रतीति होती रहती है। सूक्ष्मशरीरमें कार्य बंद होकर कारण-शरीरमें निद्रावृत्ति बनी रहती है। पुरुष वृत्ति-सारूप्य प्रतीत होता है।

४ प्रलयावस्था—प्रलयमें चित्तकी अवस्था सुषुप्ति-जैसी होती है, केवल इतना भेद है कि यह व्यष्टि-चित्तकी सुषुप्ति है और प्रलय समष्टि-चित्तकी, जिससे सर्वबद्ध जीव गाढ़ निद्रा-जैसी अवस्थामें रहते हैं।

५ समाधि प्रारम्भ अवस्था—तमोगुण गौणरूपसे रहता है। रजोगुणकी चित्तको चलायमान करनेकी क्रिया निर्बल होती जाती है। सत्त्वगुण प्रधान होकर चित्तको एकाग्र करने और उसमें वस्तुके यथार्थरूपको दिखलानेमें समर्थ होता जाता है। इसमें सर्वार्थताका दबना और एकाग्रवृत्तिका उदय होना प्रारम्भ होता है। पुरुष वृत्ति-सारूप्य प्रतीत होता है।

६ सम्प्रज्ञात समाधि (एकाग्रता)—तमोगुण गौणतर रूपसे दवा रहता है। सत्त्वगुण रजोगुणको दवाकर प्रधानरूपसे अपना प्रकाश करता है, जिससे चित्त वस्तुके तदाकार होकर उसका यथार्थरूप दिखलानेमें समर्थ होता है। स्थूलशरीरमें कार्य बंद होकर सूक्ष्मशरीरमें एकाग्रवृत्ति रहती है। स्वप्नावस्थासे इसमें यह विलक्षणता है कि तमके स्थानपर इसमें सत्त्वकी प्रधानता हो जाती है, चित्तमें समाधि परिणाम होता है। पुरुष एकाग्रतावृत्ति-सारूप्य प्रतीत होता है।

७ सम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात समाधिके बीचकी अवस्था (विवेकख्याति)—तमोगुण गौणतम रूपसे नाममात्र रहता है। चित्तसे रजोगुण-तमोगुणका आवरण हटकर सत्त्वगुणका पूर्णतया प्रकाश फैल जाता है। रजोगुण केवल इतनी मात्रामें रहता है कि जिससे पुरुषको चित्तसे भिन्न दिखलानेकी क्रिया हो सके और तम इस वृत्तिको रोकनेमात्र रह जाता है। सुषुप्तिसे इसमें यह विलक्षणता है कि तमके स्थानपर इसमें सत्त्व प्रधानरूपसे रहता है। सुषुप्तिमें कारण-शरीरमें अभावकी प्रतीतिके स्थानपर इसमें कारण-शरीरमें चित्तद्वारा पुरुषका चित्तसे भेदज्ञान (विवेकख्याति) होता है।

८ असम्प्रज्ञात समाधि (स्वरूपावस्थिति)—'सत्त्व चित्त' में बाहरसे तीनों गुणोंका (वृत्तिरूप) परिणाम होना बंद हो जाता है। तीनों गुणोंका नितान्त अभाव होनेसे विवेक-ख्याति अर्थात् पुरुषको चित्तसे भिन्न प्रतीत करानेवाली वृत्ति भी रुक जाती है। सर्ववृत्तियोंके निरुद्ध हो जानेपर चित्त अपने वास्तविक सत्त्व स्वरूपसे पुरुषमें अवस्थित रहता है और पुरुषकी शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति होती है। चित्तमें केवल निरोध-परिणाम अर्थात् संस्कार शेष रहते हैं, जिनके दुर्बल होनेपर उसे फिर व्युत्थान-दशामें आना होता है।

९ प्रतिप्रसव अर्थात् चित्तको बनानेवाले गुणोंकी अपने कारणमें लीन होनेकी अवस्था—चित्तमें निरोध-परिणाम अर्थात् संस्कार-शेष भी निवृत्त हो जाते हैं। चित्तको बनानेवाले गुण पुरुषका भोग-अपवर्गका प्रयोजन पूरा करके अपने कारणमें लीन हो जाते हैं और पुरुष शुद्ध कैवल्य परमात्मस्वरूपमें अवस्थित हो जाता है।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति। (३। ३४)

पुरुषार्थसे शून्य हुए गुणोंका अपने कारणमें लीन हो जाना कैवल्य है; अथवा चिति शक्तिकी स्वरूपावस्थिति कैवल्य है।

पतञ्जलिमुनिका परिचय

योगदर्शनके सूत्रकार श्रीपतञ्जलिमुनिकी जीवनीका ठीक-ठीक पता नहीं चलता, किंतु यह बात निःसंदेह सिद्ध है कि श्रीपतञ्जलिमुनि भगवान् कपिलके पश्चात् और अन्य चारों दर्शनकारोंसे बहुत पूर्व हुए हैं। किसी-किसीका मत है कि पाणिनि व्याकरणका महाभाष्य तथा वैद्यककी चरक-संहिता—ये दोनों जो अपने-अपने विषयके अद्वितीय ग्रन्थ हैं, इन्हींके रचे हुए हैं। जैसे कि कहा गया है—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥

मैं उस मुनियोंमें श्रेष्ठ पतञ्जलिको बद्धाञ्जलि (हाथ जोड़कर) नमस्कार करता हूँ, जिसने कि योगसे अन्तःकरणके, पद (व्याकरण-महाभाष्य) से वाणीके और वैद्यक (चरक-ग्रन्थके द्वारा) से शरीरके मलको दूर किया है (धोया है)।

योगदर्शनके प्रथम सूत्र 'अथ योगानुशासनम्' के सदृश महाभाष्यको भी प्रथम सूत्र 'अथ शब्दानुशासनम्' से आरम्भ किया गया है तथा चरकमें भी सांख्ययोग फिलासफीको ही वैद्यकका आधार-शिला बनाया गया है। यथा—

सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत् । लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम् । वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशितः ॥
(२ । ४५-४६)

चित्त, आत्मा और शरीर इन तीनोंका तीन दण्डोंके समान परस्पर सम्बन्ध है । इन तीनोंके सम्बन्धसे संसार ठहरा हुआ है । उसीमें सब कुछ प्रतिष्ठित है ॥ ४५ ॥

इन तीनोंके सम्बन्धको ही पुमान् (पुरुष), चेतन और (आयुर्वेदका) अधिकरण माना गया है । इस पुरुषके लिये ही इस आयुर्वेदका प्रकाश किया गया है ॥ ४६ ॥

निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः ।
चेतने कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः ॥५५॥

आत्मा निर्विकार है, पर है, चित्त, भूतगण (शरीर) और इन्द्रियोंके चैतन्यमें कारण है । नित्य है, द्रष्टा है, (क्रियारहित होता हुआ भी) सर्व चित्तकी क्रियाओंको देखनेवाला है ॥ ५५ ॥

किंतु इन दोनों ग्रन्थोंके साथ पतञ्जलिमुनिका नाम केवल इन ग्रन्थोंकी प्रतिष्ठा बढ़ानेके लिये लगाया गया है । अन्यथा दोनों ग्रन्थ योगदर्शनकी अपेक्षा बहुत पिछले समयके बने हुए हैं । वैद्यक अनुभवसिद्ध विषय है । इसलिये सांख्ययोग फिलासफीके साथ इसका समन्वय होना स्वाभाविक ही है । पाणिनि मुनिप्रणीत अष्टाध्यायीपर यह महाभाष्य लिखा गया है, इस कारण अनुशासनका शब्द प्रयोग किया गया है । प्राचीन कालके पतञ्जलिमुनिका महाभाष्यका रचयिता होना भी एक विचित्र रूपमें दिखलाया गया है । जिसके अनुसार पतञ्जलिमुनिको शेषनागका अवतार मानकर काशीमें एक बावड़ीपर पाणिनिमुनिके समक्ष सर्परूपमें प्रकट होना बतलाया गया है । पाणिनिमुनि घबराकर 'को भवान्' के स्थानपर 'कोर्भवान्' बोलते हैं । सर्प उत्तर देता है । 'सर्पोऽहम्' । पाणिनिमुनि पूछते हैं—'रेफः कुतो गतः' । सर्प उत्तर देता है —'तव मुखे' । इसके पश्चात् सर्पके आदेशानुसार एक चादरकी आड़ लगा दी गयी । उसके अंदरसे शेषनाग पतञ्जलिमुनि अपने हजारों मुखोंसे एक साथ सब प्रश्नकर्ताओंको उत्तर देने लगे । इस प्रकार सारा महाभाष्य तैयार हो गया । किंतु सर्पकी इस आज्ञाके कि कोई पुरुष चादर उठाकर अंदर न देखे एक व्यक्तिद्वारा उल्लङ्घन किये जानेपर शेषनागकी फुंकारसे ब्राह्मणोंके सारे कागज जल गये । ब्राह्मणोंकी दुखी अवस्थाको देखकर एक यक्षने, जो वृक्षपर बैठा पत्तोंपर भाष्यको लिखता जाता था, वे पत्ते उनके पास फेंक दिये । उन पत्तोंमेंसे कुछको बकरी खा गयी । इसीलिये कुछ स्थानोंमें महाभाष्यमें असङ्गति-सी पायी जाती है ।

पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः । (४ । ३ । ११०)

अष्टाध्यायीके उपर्युक्त सूत्रसे व्यासजीका पाणिनिमुनिसे पूर्व होना सिद्ध होता है । फिर पाणिनिमुनिप्रणीत अष्टाध्यायीपर महाभाष्यकर्ता पतञ्जलि योगदर्शनके सूत्रकार पतञ्जलि किस प्रकार हो सकते हैं ।

यह सम्भव है कि पतञ्जलि नामके कोई अन्य व्यक्ति इन दोनों उच्च कोटिके ग्रन्थोंके रचयिता हुए हों ।

योगदर्शनपर भाष्य तथा वृत्ति आदि

योगदर्शनके ऊपर अनेक भाष्य, वृत्तियाँ और टीकाएँ रची गयी हैं। उनमें सबसे अधिक प्रामाणिक, प्रसिद्ध और प्राचीन व्यासभाष्य है। व्यासभाष्य स्वयं बहुत ही गूढ़ार्थ है। उसके अर्थको समझानेके लिये वाचस्पति मिश्रने तत्त्ववैशारदी और विज्ञानभिक्षुने योगवार्तिककी रचना की है। विज्ञानभिक्षुने एक अलग पुस्तक योगसारमें योगके सिद्धान्तोंका सारांश उपस्थित किया है। वृत्तियोंमें "राजमार्तण्ड" जिसका प्रसिद्ध नाम "भोजवृत्ति" है, अत्यन्त लोकप्रिय और प्रामाणिक है। गणेश भट्टकी एक बड़ी वृत्ति योगवार्तिकके आधारपर निर्मित हुई है। योगदर्शनके भाष्यकार व्यासका ठीक-ठीक समय निश्चय करना कठिन है। कई एक विद्वानोंका मत है कि ब्रह्मसूत्रकार व्यास ही योगदर्शनके भाष्यकार व्यास हैं। योगदर्शनके प्रथम वार्तिकमें विज्ञानभिक्षुने भी ब्रह्मसूत्रकार बादरायणको ही योगदर्शनका भाष्यकार व्यास बतलाया है। अन्य कई विद्वान् ऐसा मानते हैं कि योगदर्शनके भाष्यकार व्यास ब्रह्मसूत्रकार व्याससे भिन्न हैं और बहुत पूर्व समयमें हुए हैं। व्यास-भाष्यमें भिन्न-भिन्न स्थानोंमें लगभग इक्कीस सूत्र पञ्चशिखाचार्यके, कुछ वचन जैगीषव्य और वार्षगण्याचार्यके तथा एक-दो घटनाएँ रामायणकी भी उद्धृत की गयी हैं। इससे सिद्ध होता है कि सांख्यके प्राचीन ग्रन्थ पञ्चशिखाचार्यके सूत्र और वार्षगण्याचार्यप्रणीत षष्ठी-तन्त्र जो इस समय लुप्त हैं तथा वाल्मीकीय रामायण व्यासभाष्यके समय विद्यमान थे।

श्रीमद्भगवद्गीता और महाभारत आदि ग्रन्थ तथा ब्रह्मसूत्र उसके पश्चात् बनाये गये हैं।

—:※:—

पूज्यपाद १०८ श्रीस्वामी सोमतीर्थजी महाराज

प्रणीत

षड्दर्शन-सदुपयोग-समन्वय-सूत्र

१–अथ षड्दर्शनसदुपयोगसमन्वयसूत्रम् ।

अब पूर्वमीमांसा आदि छहों दर्शनोंके सदुपयोगका समन्वय करनेवाले सूत्रोंको प्रारम्भ करते हैं ।

२–गर्भाधानसंस्कारादिवेदारम्भपर्यन्तसंस्कारैः संस्कृतो वेदं पठेत् ।

गर्भाधानसे लेकर वेदारम्भपर्यन्त दस संस्कारोंसे अपने शरीर, मन और अन्तःकरणको पवित्र बना ब्रह्मचारी वेदको पढ़े ।

३–अथ धर्मजिज्ञासा ।

वेदाध्ययनके पश्चात् धर्मकी जिज्ञासा अर्थात् उसके जाननेका प्रयत्न करें ।

४–तत्र अथातो धर्मजिज्ञासा इत्यस्योपयोगः ।

धर्मके ज्ञान प्राप्त करनेमें पूर्वमीमांसाका उपयोग है ।

५–कृतधर्मानुष्ठानशुद्धान्तःकरणः साधनचतुष्टयं सम्पादयेत् ।

यथार्थ स्वरूपसे जाने हुए धर्मके अनुष्ठानद्वारा अपने अन्तःकरणको निर्मल बनाकर विवेक, वैराग्य, शम-दमादिसम्पत् और मुमुक्षा—इन चार साधनोंका सम्पादन करें ।

६–संजातमुमुक्षः ब्रह्मजिज्ञासुः स्यात् ।

जब मुमुक्षा अर्थात् जन्म-मरणके बन्धनसे छूटनेकी प्रबल अभिलाषा मनमें उत्पन्न हो जाय, तब ब्रह्मको जाननेकी इच्छा करे ।

७–अथातो ब्रह्मजिज्ञासा इत्यस्यात्रोपयोगः ।

ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिमें उत्तरमीमांसा (वेदान्तदर्शन) उपयोगी है ।

८–अस्त्यत्रांशत्रयम् ।—ब्रह्मप्राप्तिके उपायके तीन भाग हैं ।

९–श्रवणं मननं निदिध्यासनं च ।—श्रवण, मनन और निदिध्यासन ।

१०–श्रवणे सर्वे वेदान्ता उपयुक्ताः ।—श्रवणके लिये सभी वेदान्त ग्रन्थ उपयोगी हैं ।

११–मनने न्यायवैशेषिकयोः सहकारिता ।—मननके लिये न्याय और वैशेषिक सहायक हैं ।

१२–क्वचित् पूर्वपक्षत्वेन । १३–क्वचित् सिद्धान्तसमर्थनात् ।

ये दोनों दर्शन कहीं तो पूर्व पक्ष उपस्थित करके विचारका द्वार खोलते हैं और कहीं सिद्धान्तका समर्थन करते हैं । इस प्रकार सहकारी हैं ।

१४–निदिध्यासने सांख्ययोगयोरुपयोगः ।

निदिध्यासनमें सांख्य और योगका उपयोग करना उचित है । इनकी रीतिसे साधन करके आत्म-निष्ठा प्राप्त करनी चाहिये ।

१५–तत्र तस्य सम्यग्विधानात् ।—क्योंकि निदिध्यासनका इनमें भलीभाँति विधान है ।

१६–इति षड्दर्शनसदुपयोगसमन्वयसूत्रम् ।

अब षड्दर्शनके सदुपयोगके समन्वयका प्रतिपादन करनेवाले सूत्र समाप्त हुए ।

—:o:—

ॐ

पातञ्जलयोगप्रदीप

समाधिपाद

निपुण क्षेत्रज्ञ जिस प्रकार सबसे प्रथम अधिक उपजाऊ भूमिको तैयार करके उसमें श्रेष्ठतम बीज बोता है, इसी प्रकार महर्षि पतञ्जलि समाहित चित्तवाले उत्तम अधिकारियोंके लिये सबसे प्रथम समाधिपाद आरम्भ करते हैं ।

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ—अथ = अब आरम्भ करते हैं । योग + अनुशासनम् = योगकी शिक्षा देनेवाले ग्रन्थको ।

अन्वयार्थ—अब योगकी शिक्षा देनेवाले ग्रन्थको आरम्भ करते हैं ।

व्याख्या—'अथ' यह शब्द अधिकार अर्थात् आरम्भवाचक और मङ्गलार्थक है । जिसके द्वारा लक्षण, भेद, उपाय और फलोंसहित शिक्षा दी जाय अर्थात् व्याख्या की जाय उसको अनुशासन कहते हैं । इसलिये 'अथ योगानुशासनम्' के अर्थ हुए 'अब लक्षण, भेद, उपाय और फलोंसहित योगकी शिक्षा देनेवाले शास्त्रको आरम्भ करते हैं । योग समाधिको कहते हैं और समाधि सारी भूमियों (अवस्थाओं) में चित्तका धर्म है । जो तीन भूमियों (अवस्थाओं) में दबा रहता है और केवल दो भूमियोंमें प्रकट होता है । चित्तकी पाँच भूमियाँ हैं— क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध । इनका विस्तारपूर्वक वर्णन दूसरे सूत्रमें किया जायगा । इनमेंसे अत्यन्त चञ्चल चित्तको क्षिप्त और निद्रा, तन्द्रा, आलस्यादिवाले चित्तको मूढ़ कहते हैं । क्षिप्तसे जो श्रेष्ठ चित्त है अर्थात् जिसमें कभी-कभी स्थिरता होती रहती है, उसे विक्षिप्त कहते हैं । क्षिप्त और मूढ़ चित्तमें तो योगका गन्ध भी नहीं होता और विक्षिप्त चित्तमें जो कभी-कभी क्षणिक स्थिरता होती है उसकी भी योग-पक्षमें गिनती नहीं है; क्योंकि यह स्थिरता दीर्घ कालतक स्थिर नहीं रहने पाती, शीघ्र ही प्रबल चञ्चलतासे नष्ट हो जाती है। इसलिये विक्षिप्त भूमि भी योगरूप नहीं है । जिसका एक ही अग्र विषय हो अर्थात् एक ही विषयमें विलक्षणवृत्तिके व्यवधानसे (बीच-बीचमें आ जानेसे) रहित सदृश वृत्तियोंके प्रवाहवाले चित्तको एकाग्र कहते हैं । यह पदार्थके सत्-स्वरूपको प्रकाश, क्लेशको नाश, बन्धनको ढीला और निरोधके अभिमुख करता है। यह सम्प्रज्ञात समाधि और सम्प्रज्ञात योग कहलाता है । इसके चार भेद—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत सत्रहवें सूत्रमें बतलाये जायँगे । पुनः सर्ववृत्तियोंके निरोधवाले चित्तको निरुद्ध कहते हैं । उस निरुद्ध चित्तमें असम्प्रज्ञात समाधि होती है, उसीको असम्प्रज्ञात योग कहते हैं ।

उसके लक्षणको प्रकाशित करनेकी इच्छासे अगला सूत्र बना है ।

विशेष विचार

अनुबन्ध-चतुष्टय—शास्त्रकार अपने शास्त्रके आरम्भमें निम्न चार बातोंका वर्णन कर दिया करते हैं—

१ विषय—इस शास्त्रका विषय क्या है ?

२ प्रयोजन—इसका प्रयोजन क्या है ?

३ अधिकारी—इसका अधिकारी कौन है ?

४ सम्बन्ध—इनके साथ शास्त्रका सम्बन्ध क्या है ?

इनको अनुबन्ध-चतुष्टय कहते हैं। महर्षि पतञ्जलिने 'अथ = अब आरम्भ करते हैं' इससे इन चारों बातोंको बतला दिया है कि—

१ इस पातञ्जलयोगदर्शनका विषय योग है, जिसमें योगके अवान्तर भेद, साधन और फलका प्रतिपादन किया गया है।

२ योगद्वारा स्वरूप-स्थिति (अपवर्ग = निःश्रेय = मोक्ष = कैवल्य = आत्मस्थिति = परमात्मप्राप्ति) कराना इस शास्त्रका प्रयोजन है।

३ स्वरूप-स्थिति एवं परमात्मप्राप्तिका जिज्ञासु एवं मुमुक्षु साधक इसका अधिकारी है।

४ यह दर्शन योगका प्रतिपादक है, इसलिये इसका योगसे प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव-सम्बन्ध है। योग साधन है, स्वरूप-स्थिति साध्य है। अतः स्वरूपस्थिति और योगका साध्य-साधनभाव सम्बन्ध है। स्वरूप-स्थितिका जिज्ञासु योगका अधिकारी है। इसलिये स्वरूपस्थिति और अधिकारीमें प्राप्य-प्रापकभाव सम्बन्ध है। अधिकारी और योगका कर्तृ-कर्तव्यभाव सम्बन्ध है।

धात्वर्थ—योग शब्द युक्ति अर्थात् मेल तथा 'युज् समाधौ' इस (धातु) से समाधिके अर्थमें प्रयुक्त होता है। श्रीव्यासजी महाराजने इस दर्शनमें योगका सर्वत्र ही समाधिके अर्थहीमें प्रयोग किया है।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि। (२। २९)

समाधिमें और योगमें अङ्गाङ्गि-भाव सम्बन्ध बतलाया गया है, परंतु समाधि जिसके दो भेद—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात बतलायेंगे, योगका मुख्य अङ्ग तथा साधन होनेके कारण योगके अर्थमें इस दर्शनमें प्रयुक्त हुआ है।

योगकी प्राचीन परम्परा—'शासन' उपदेश अथवा शिक्षाको कहते हैं। अनु + शासन = जिस विषयका शासन पहिलेसे विद्यमान हो। इसलिये अनुशासन शब्दसे श्रीपतञ्जलि महाराजने योगशिक्षाका प्राचीन परम्परासे चला आना बतलाया है, जिसका वर्णन श्रुति और स्मृतिमें पाया जाता है।

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः। (याज्ञवल्क्य)

हिरण्यगर्भ ही योगके वक्ता हैं, इनसे पुरातन और कोई वक्ता नहीं है। इत्यादि वचनोंसे श्रीयाज्ञवल्क्यने हिरण्यगर्भको योगका आदि-वक्ता अर्थात् गुरु माना है। इसी प्रकार—

सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते।
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः॥
(महाभा० १२। ३४९। ६५)

सांख्यके वक्ता कपिलाचार्य परमर्षि कहलाते हैं और योगके वक्ता हिरण्यगर्भ हैं, जिनसे पुराना और कोई वक्ता इनका नहीं है। इसी प्रकार—

इदं हि योगेश्वर योगनैपुणं हिरण्यगर्भो भगवान् जगाद यत्।
(श्रीमद्भा० ५। १९। १३)

हे योगेश्वर ! यह योगकौशल वही है, जिसे भगवान् हिरण्यगर्भने कहा था। हिरण्यगर्भ किसी भौतिक मनुष्यका नाम नहीं है, बल्कि महत्तत्त्वके सम्बन्धसे शबल ब्रह्मका वाचक है (वि० वि० सूत्र २)। जैसा कि

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

(ऋ० १० । १२१ । १, यजु० अ० १३ मन्त्र ४)

हिरण्यगर्भ ही पहले उत्पन्न हुए, जो समस्त भूतोंके एक पति थे । उन्हींने इस पृथिवी और स्वर्गलोकको धारण किया । उस सुखस्वरूप देवकी हम पूजा करते हैं ।

अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः । (छान्दो० १ । ६ । ६)

अब यह सुनहरा पुरुष जो सूर्यके अंदर दीखता है, जिसकी सुनहरी दाढ़ी मूँछें और सुनहरे बाल हैं । नखोंसे अग्रतक जो सारा ही सुवर्णमय है ।

हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एषच्छन्दसि स्तुतः ।
योगैः सम्पूज्यते नित्यं स च लोके विभुः स्मृतः ॥

(महाभा० १२ । ३४२ । ९६)

यह द्युतिमान् हिरण्यगर्भ वही हैं, जिनकी वेदमें स्तुति की गयी है । इनकी योगीलोग नित्य पूजा किया करते हैं और संसारमें इन्हें विभु कहते हैं ।

हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्मृतः ।
महानिति च योगेषु विरञ्चीति तथाप्यजः ॥

इन हिरण्यगर्भ भगवान्‌को (समष्टि) बुद्धि कहते हैं । इन्हींको योगीलोग महान् (महत्तत्त्व = समष्टि चित्त = समष्टि बुद्धि) तथा विरञ्चि और अज (अजन्मा) भी कहते हैं ।

हिरण्यगर्भो जगदन्तरात्मा । (अद्भुतरामा० १५ । ६)

हिरण्यगर्भ जगत्‌के अन्तरात्मा हैं ।

इसके अतिरिक्त श्रुति और स्मृतियोंमें जहाँ योगका वर्णन किया गया है, उसके कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

श्वेताश्वतर उपनिषद् अध्याय २—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥ ८ ॥

शरीरके तीन अङ्गों (छाती, गर्दन और सिर) को सीधा रखकर इन्द्रियोंको मनके साथ हृदयमें प्रवेश करके, ओंकारकी नौकापर सवार होकर भयके लानेवाले सारे प्रवाहोंसे पार उतर जाय ।

प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत ।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः ॥ ९ ॥

(शरीरकी) सारी चेष्टाओंको वशमें करके प्राणोंको रोके और प्राणके क्षीण होनेपर नासिकासे श्वास ले । सचेत सारथि जैसे घोड़ोंकी चञ्चलताको रोकता है, इस प्रकार अप्रमत्त होकर मनको रोके ।

समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥ १० ॥

ऐसे स्थानपर योगका अभ्यास करे जो सम है, शुद्ध है, कंकड़, बालू और अग्निसे रहित है, जो शब्द, जलाशय और लता आदिसे मनके अनुकूल है, आँखोंको पीड़ा देनेवाला नहीं है, एकान्त है। और वायुके झोंकोंसे रहित है।

नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥ ११ ॥

जब अभ्यासका प्रभाव होने लगता है, तब पहले यह रूप दीखते हैं—कुहरा, धुआँ, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू, विद्युत्, बिल्लौर और चन्द्र; यह सब रूप दीखकर जब शान्त हो जाते हैं, तब ब्रह्मका प्रकाश होता है।

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥ १२ ॥

जब पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश प्रकट होते हैं, अर्थात् पाँचों तत्त्वोंका जय हो जाता है, तब फिर योगीके लिये न रोग है, न जरा है, न दुःख है; क्योंकि उसने वह शरीर पा लिया है जो योगकी अग्निसे बना है।

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥ १३ ॥

योगका पहला फल यह कहते हैं—शरीर हल्का हो जाता है, आरोग्य रहता है, विषयोंकी लालसा मिट जाती है, कान्ति बढ़ जाती है, स्वर मधुर हो जाता है, गन्ध शुद्ध होता है और मल-मूत्र थोड़ा होता है।

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत् सुधान्तम्।
तद्वाऽऽत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥ १४ ॥

इसके पीछे उसे आत्माके शुद्धस्वरूपका साक्षात् होता है। जैसें वह रत्न जो मिट्टीसे लिथड़ा हुआ होता है, जब धोया जाता है तो फिर तेजोमय होकर चमकता है, इस प्रकार देही (पुरुष) फिर आत्मतत्त्व (आत्माके असली स्वरूप) को देखकर शोकसे पार हुआ कृतार्थ हो जाता है।

यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १५ ॥

फिर जब योगयुक्त होकर दीपकके तुल्य आत्मतत्त्वसे ब्रह्मतत्त्वको देखता है, जो अजन्मा, अटल (कूटस्थ) और सब तत्त्वोंसे विशुद्ध है, तब उस देव (शुद्ध परमात्मतत्त्व) को जानकर सब फाँसोंसे छूट जाता है।

कठोपनिषद् अ० २ वल्ली ३—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥ १० ॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ ११ ॥

जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मनके साथ स्थिर हो जाती हैं (प्रत्याहारद्वारा अन्तर्मुख हो जाती हैं) और बुद्धि भी चेष्टारहित हो जाती है (चित्तकी सब वृत्तियोंका निरोध हो जाता है) उसको परमगति

(सबसे ऊँची अवस्था) कहते हैं। उसीको योग मानते हैं, जो इन्द्रियोंकी निश्चल धारणा है। उस समय वह (योगी) प्रमादसे (अपने स्वरूपको भूला हुआ जो वृत्तिसारूप्य प्रतीत हो रहा था उससे) रहित होता है अर्थात् शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थित होता है; क्योंकि योग प्रभव और अप्यय (निरोधके संस्कारोंके प्रादुर्भाव, अर्थात् प्रकट होने और व्युत्थानके संस्कारोंके अभिभव, अर्थात् दबनेका स्थान) है।

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥ १२ ॥
अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥ १३ ॥

वह (आत्मा) न वाणीसे, न मनसे, न आँखोंसे पाया जा सकता है। 'वह है' ऐसा कहनेके सिवा उसे कैसे उपलब्ध करें। 'वह है' इस रूपसे और तत्त्वस्वरूपसे उसको जानना चाहिये। जब 'वह है' इस प्रकार अनुभव कर लिया है, तब उसका तत्त्व-स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

विशिष्ट रूपसे उसका 'वह है' करके और शुद्ध स्वरूपमें उसका तत्त्वभाव अनुभव करते हैं।

गीता अध्याय ६—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

योगी अकेला एकान्त स्थानमें बैठकर, एकाग्रचित्त होकर, आशा और संग्रहको त्यागकर निरन्तर आत्माको परमात्माके साथ जोड़े।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

वह योगी पवित्र स्थानमें, जो न अति ऊँचा हो और न अति नीचा, कुश, ऊनका आसन और वस्त्रको बिछाकर उस आसनपर एकाग्र मनसे बैठकर, इन्द्रियों और चित्तको वश करके आत्मशुद्धिके लिये योगाभ्यास करे।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

सिर, गर्दन और धड़ एक सीधमें अचल रखकर, स्थिर रहकर, इधर-उधर न देखता हुआ, नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि रखे।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

और शान्तचित्त, निर्भय, ब्रह्मचर्य-व्रतमें स्थित, मनका संयम कर मुझ (परमात्मा) में परायण हुआ योगयुक्त होवे।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

इस प्रकार निरन्तर अपने-आपको योगमें लगाये हुए तथा मनको निग्रह किये योगी मुझमें (परमात्मामें) स्थित रहनेवाली तथा परम निर्वाणको देनेवाली शान्तिको प्राप्त होता है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

योगी तपस्वियोंमें श्रेष्ठ है और (शास्त्रके जाननेवाले) ज्ञानियोंसे भी श्रेष्ठ माना गया है तथा कर्मकाण्डियोंसे भी श्रेष्ठ है। इसलिये हे अर्जुन ! तू योगी बन।

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

(गीता ८ । १०)

वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकालमें भी योगबलसे भृकुटीके मध्यमें प्राणको अच्छी प्रकार स्थापन करके फिर निश्चल मनसे स्मरण करता हुआ उस दिव्य स्वरूप परम पुरुष परमात्माको ही प्राप्त होता है।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणम् ॥

(गीता ८ । १२)

हे अर्जुन ! सब इन्द्रियोंके द्वारोंको रोककर अर्थात् इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर तथा मनको हृद्देशमें स्थिर करके और अपने प्राणको ब्रह्मरन्ध्रमें स्थापन करके योग-धारणामें स्थित हुआ।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

(गीता ८ । १३)

जो पुरुष ॐ ऐसे इस एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मेरेको (परमात्माको) चिन्तन करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है वह पुरुष परम गतिको प्राप्त होता है।

उपर्युक्त दो श्लोकोंके अर्थका स्पष्टीकरण—हृदय बहुत-सी नाड़ियोंका केन्द्र स्थान है। वहाँसे एक नाड़ी ब्रह्मरन्ध्रको जाती है जैसा कि श्रुति बतलाती है—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति ॥

(छान्दोग्य० ८ । ६ । ६; कठ० २ । ३ । १६)

एक सौ एक हृदयकी नाड़ियाँ हैं। उनमेंसे एक (सुषुम्ना नाड़ी) मूर्धाकी ओर निकलती है। उस नाड़ीसे ऊपर चढ़ता हुआ (योगी) अमृतत्व (ब्रह्मलोक) को प्राप्त होता है। दूसरी (नाड़ियाँ) निकलनेमें भिन्न-भिन्न गति (देने) वाली होती हैं। हाँ, निकलनेमें भिन्न-भिन्न गति देनेवाली होती हैं।

जो योगी प्रत्याहारद्वारा मनको हृदयमें स्थिर करके पूरे मनोबलसे सारे प्राणको उस मुख्य नाड़ीसे ब्रह्मरन्ध्रमें ले जाता है। वहाँ योग धारणाका आश्रय किये हुए ॐ का जाप करता हुआ और उसके अर्थभूत ईश्वरका चिन्तन करता हुआ शरीर त्यागता है वह परम गतिको प्राप्त होता है। किन्तु इस प्रक्रियाको अन्त समय वही कर सकता है जिसने जीवनकालमें इसका अच्छी प्रकार अभ्यास कर लिया है।

योगदर्शनकी विशेषता—योगदर्शनका प्रयोजन जो स्वरूप-स्थिति, अनुबन्ध-चतुष्टयमें बतलाया है,

जिसके पर्यायवाचक भिन्न-भिन्न दर्शनोंकी परिभाषामें कैवल्य, अपवर्ग, मोक्ष, निःश्रेयस इत्यादि हैं, इसीको लक्ष्यमें रखकर सर्वदर्शन—न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, ब्रह्मसूत्र आदिकी रचना हुई है। पर योगदर्शनने इसको अति सुगमता, सरलता, नियम तथा ज्ञानपूर्वक और क्रियात्मक रूपसे बतलाया है।

योगके भेद—साधनोंके भेदसे योगको १ राजयोग अर्थात् ध्यान-योग; २ ज्ञानयोग अर्थात् सांख्ययोग; ३ कर्मयोग अर्थात् निष्काम-कर्म अनासक्ति योग; ४ भक्तियोग; ५ हठयोग आदि श्रेणियोंमें विभक्त किया गया है।

१ इस दर्शनका मुख्य विषय राजयोग अर्थात् ध्यानयोग है। पर उपर्युक्त सब प्रकारके योग इसके अन्तर्गत हैं।

२ ज्ञानयोग अर्थात् सांख्ययोग—सारे ज्ञेयतत्त्वका ज्ञान इस योगदर्शनमें अति उत्तमतासे कराया गया है। सिद्धान्तरूपमें इसकी सांख्ययोगसे अभिन्नता है।

३ कर्मयोग अर्थात् अनासक्ति निष्कामकर्मयोग।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। (१।२४)

उपासनामें उपासक अपने अंदर उपास्यके गुण धारण करता है। इसलिये इससे निष्काम कर्म अनासक्ति योगकी शिक्षा मिलती है।

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्। (४।७)

यह भी निष्काम-कर्मकी शिक्षापरक है।

४ भक्तियोग—

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्। (१।२०)

यह श्रद्धा, भक्तिका मुख्याङ्ग है; इसलिये इस सूत्रसे तथा 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (१।२३) से भक्तिकी शिक्षा योगदर्शनके अन्तर्गत है। इसी प्रकार 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (१।२८), 'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः' (२।४४) से जप और मन्त्रयोग भी इसमें सम्मिलित हैं। 'यथाभिमतध्यानाद्वा' (१।३६) यह योगदर्शनकी व्यापकताका सूचक है।

५ हठयोगका सम्बन्ध शरीर और प्राणसे है, जो योगके आठ अङ्गों—यम, नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिमेंसे आसन और प्राणायामके अंदर आ जाते हैं। हठयोग राजयोगका साधनमात्र ही है। जैसा कि हठयोगप्रदीपिकाके श्लोक २ से विदित है—

'केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते।'

केवल राजयोगके लिये हठयोगकी विद्याका उपदेश किया जाता है।

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा। राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते॥

(हठयोगप्रदीपिका ३।२६)

राजयोगके बिना पृथ्वी (आसन) नहीं शोभित होती है। राजयोगके बिना निशा (कुम्भक प्राणायाम) नहीं शोभित होती है और राजयोगके बिना विचित्र मुद्रा शोभित नहीं होती है।

'ह' का अर्थ सूर्य (पिङ्गला नाड़ी) 'ठ' का अर्थ चन्द्रमा (इडा नाड़ी) है, इनके योगको हठयोग कहते हैं।

यथा—

हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते ।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यते ॥ (सिद्धसिद्धान्तपद्धति)

सूर्य (पिङ्गला नाड़ी अथवा प्राणवायु) को हकार और चन्द्र (इडानाड़ी अथवा अपानवायु) को ठकार कहते हैं । इन सूर्य और चन्द्र (अर्थात् पिङ्गला और इडा नाड़ियोंमें बहनेवाले प्राण-प्रवाहों अथवा प्राण और अपान वायुओं) के मिलनेको हठयोग कहते हैं ।

६ लययोग और कुण्डलिनीयोग तो राजयोग ही है, जो सूत्र ३६ समा० पा० के अन्तर्गत है ।

७ पाश्चात्त्यदेशोंमें दृष्टिबन्ध (Sightism), अन्तरावेश (Spiritualism), सम्मोहन (Mesmerism) और वशीकरण (Hipnotism), जो मनोयोगके नामसे पुकारे जाते हैं, वे भी प्रत्याहार और धारणाके अन्तर्गत हैं । ये सब भारतवर्षमें प्राचीन समयसे चले आ रहे हैं ।

८ यम और नियम न केवल व्यक्तिगत रूपसे विशेषतया योगियोंके लिये बल्कि सामान्यरूपसे सब वर्णों, आश्रमों, मत-मतान्तरों, जातियों, देशों और समस्त मनुष्य-समाजके लिये माननीय मुख्य कर्त्तव्य तथा परम धर्म हैं ।

इस प्रकार इस पातञ्जलदर्शनमें सब प्रकारके योगोंका समावेश हो गया है ।

संगति—योग किसको कहते हैं ?

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

शब्दार्थ—योगः = योग । चित्तवृत्तिनिरोधः = चित्तकी वृत्तियोंका रोकना (है) ।

अन्वयार्थ—चित्तकी वृत्तियोंका रोकना योग है ।

व्याख्या—योगका स्वरूप बतलाते हैं । निर्मल सत्त्वप्रधान चित्तकी जो अङ्गाङ्गिभावसे परिणत वृत्तियाँ हैं उनका निरोध अर्थात् जो बाहरको चित्तकी वृत्तियाँ जाती हैं उन बहिर्मुख वृत्तियोंको सांसारिक विषयोंसे हटाकर उससे उल्टा अर्थात् अन्तर्मुख करके अपने कारण चित्तमें लीन कर देना योग है । ऐसा निरोध (चित्तकी वृत्तियोंका रोकना) सब चित्तकी भूमियोंमें सब प्राणियोंका धर्म है, जो कभी किसी चित्तमें प्रकट हो जाता है, प्रायः चित्तोंमें छिपा हुआ ही रहता है ।

सूत्रमें केवल 'चित्तवृत्तिनिरोध' शब्द है, 'सर्वचित्तवृत्ति निरोध' नहीं है । इससे सूत्रकारने सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों प्रकारकी समाधियोंको योग बतलाया है । अर्थात् असम्प्रज्ञात-समाधि जिसमें सब वृत्तियोंका निरोध हो जाता है, वह निरुद्ध अवस्था तो योग है ही, किंतु सम्प्रज्ञात-समाधि भी जिसमें सात्त्विक एकाग्रवृत्ति बनी रहती है, वह एकाग्र अवस्था भी योगके लक्षणके अन्तर्गत है । अर्थात् चित्तसे तमका मल-रूप आवरण और रजसकी विक्षेपरूप चञ्चलता निवृत्त होकर सत्त्वके प्रकाशमें जो एकाग्र वृत्ति रहे, उसको भी योग समझना चाहिये ।

सारी सृष्टि सत्त्व, रजस् और तमस्, इन तीन गुणोंका ही परिणामरूप है । एक धर्म, आकार अथवा रूपको छोड़कर धर्मान्तरके ग्रहण अर्थात् दूसरे धर्म, आकार अथवा रूपके धारण करनेको परिणाम

कहते हैं। चित्त इन गुणोंका सबसे प्रथम सत्त्वप्रधान परिणाम है। इसीलिये इसको चित्तसत्त्व भी कहते हैं। यह इसका अपना व्यापक स्वरूप है। यह सारा स्थूल जगत् जिसमें हमारा व्यवहार चल रहा है, रज तथा तमप्रधान गुणोंका परिणाम है।

इसके बाह्य अथवा आभ्यन्तर संसर्गसे जो चित्तसत्त्वमें क्षण-क्षण गुणोंका परिणाम हो रहा है, उसको चित्तवृत्ति कहते हैं।

विषयको और स्पष्टरूपसे समझना चाहिये। मानो चित्त अगाध परिपूर्ण सागरका जल है। जिस प्रकार वह पृथिवीके सम्बन्धसे खाड़ी, झील आदिके आन्तरिक तदाकार परिणामको प्राप्त होता है, इसी प्रकार चित्त आन्तर राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, भयादि रूप आकारसे परिणत होता रहता है तथा जिस प्रकार वायु आदिके वेगसे जलरूपी तरङ्गें उठती हैं, इसी प्रकार चित्त इन्द्रियोंद्वारा बाह्य विषयोंसे आकर्षित होकर उन-जैसे आकारोंमें परिणत होता रहता है। यह सब चित्तकी वृत्तियाँ कहलाती हैं, जो अनन्त हैं और प्रतिक्षण उदय होती रहती हैं। इनका विस्तारपूर्वक वर्णन अगले सूत्रोंमें किया जायगा। जैसे जल, वायु आदिके अभावमें तरङ्ग आकारादि परिणामोंको त्यागकर स्वभावमें अवस्थित हो जाता है वैसे ही जब चित्त बाह्य तथा आभ्यन्तर विषयाकार परिणामको त्यागकर अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाता है, तब उसको चित्तवृत्तिनिरोध कहते हैं। उपर्युक्त परिणाम-रूप वृत्तियाँ चित्तमें इन्हीं तीनोंके प्रभावसे उदय होती रहती हैं। चित्तसत्त्व ज्ञानस्वभाववाला है। जब उसमें रजोगुण, तमोगुण—दोनोंका मेल होता है, तब ऐश्वर्य विषय प्रिय होते हैं; जब यह तमोगुणसे युक्त होता है, तब अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्यको प्राप्त होता है। वही चित्त जब तमोगुणके नष्ट होनेपर रजोगुणके अंशसे युक्त होता है, तब धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यको प्राप्त होता है। वही चित्त जब रजोगुणके लेश-मात्र मलसे भी रहित होता है, तब स्वरूपप्रतिष्ठ कहलाता है; तब चित्तसत्त्व और पुरुषकी भिन्नताका ज्ञान होता है, जिसको विवेक-ख्याति अर्थात् भेदज्ञान कहते हैं (२। २६; ३। ४९)। विवेक-ख्यातिके परिपक्व होनेपर धर्ममेघ समाधिकी अवस्था प्राप्त होती है (४। २९)। जिसको परम परसंख्यान भी कहते हैं। चिति-शक्ति (पुरुष) अपरिणामी और अप्रतिसंक्रमा अर्थात् परिणाम-क्रिया और संयोग आदिसे रहित तथा चित्तके सारे विषयोंकी द्रष्टा, शुद्ध और अनन्त है। सत्त्वगुणात्मक चित्त इस पुरुषसे विपरीत है अर्थात् परिणामी और क्रियादिवाला विषयोंका स्वयं द्रष्टा नहीं, किंतु पुरुषको दर्शानेवाला और जड होनेके कारण पुरुषकी अपेक्षा अशुद्ध तथा अन्तवाला है। इस प्रकार चित्तसे पुरुषका भिन्न देखना विवेक-ख्याति कहलाती है। जब इस विवेक-ख्यातिसे भी वैराग्य प्राप्त हो जाता है (१। १६), तब उस विवेक-ख्यातिका भी निरोध हो जाता है (१। ७); यह निर्बीज-समाधि है। इसको असम्प्रज्ञात इसलिये कहते हैं— क्योंकि इसमें कोई सांसारिक (प्राकृतिक) विषय नहीं जाना जाता है। इस प्रकार सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात भेदसे चित्तवृत्ति-निरोधरूप योग दो प्रकारका है।

यह सार्वभौम सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात-समाधि चित्तका धर्म है जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, तथापि केवल अन्तकी दो ऊँची अवस्थाओंमें उसका प्रादुर्भाव होता है। प्रथम तीन निचली अवस्थाओंमें रज तथा तमकी प्रधानतासे विक्षेप तथा मलके आवरणसे दबा रहता है।

चित्तकी पाँच अवस्थाएँ निम्न प्रकार हैं—

चित्तकी पाँच अवस्थाएँ

नाम अवस्था	गुणका परिणाम	गुणवृत्ति	दशा	वृत्ति	वृत्तिका स्वरूप	स्थिति-गति	निमित्त धर्म	प्रवृत्ति
१ मूढ़ अवस्था	तम प्रधान, रज, सत्त्व गौण	निद्रा, तन्द्रा, मोह, भय, आलस्य, दीनता, भ्रम आदि	व्युत्थान	सर्वार्थता	अस्वाभाविक	नीच मनुष्योंकी	काम, क्रोध, लोभ, मोह	अज्ञान, अधर्म, राग, अनैश्वर्य
२ क्षिप्त अवस्था	रज प्रधान; तम, सत्त्व गौण	दुःख, चञ्चलता, चिन्ता, शोक, संसारके कामोंमें प्रवृत्ति	व्युत्थान	सर्वार्थता	अस्वाभाविक	साधारण संसारी मनुष्योंकी	राग, द्वेष	अज्ञान, अधर्म, राग, अनैश्वर्य, ज्ञान, धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य
३ विक्षिप्त अवस्था	सत्त्व प्रधान; रज, तम गौण	सुख, प्रसन्नता, क्षमा, श्रद्धा, धैर्य, चैतन्यता, उत्साह, वीर्य, दान, दया आदि	व्युत्थान; समाधि आरम्भ	सर्वार्थता; एकाग्रता आरम्भ	अस्वाभाविक	ऊँचे मनुष्यों, जिज्ञासुओंकी	अनासक्ति, निष्काम कर्म	ज्ञान, धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य
४ एकाग्र अवस्था	सत्त्व प्रधान; रज, तम वृत्तिमात्र	तटस्थता	योग; सम्प्रज्ञात समाधि	एकाग्रता	स्वाभाविक	योगियोंकी	अपर वैराग्य	वस्तुका यथार्थ ज्ञान
५ निरुद्ध अवस्था	गुणोंका बाहरसे परिणाम बंद; 'चित्त सत्त्व'में निरोध परिणाम, संस्कार शेष	स्वरूपस्थिति	योग; असम्प्रज्ञात समाधि	सर्ववृत्ति-निरोध	चित्तकी स्वरूप-प्रतिष्ठिति; अस्वाभाविक और स्वाभाविक वृत्तियोंका अभाव	ऊँचे योगियोंकी	पर वैराग्य	द्रष्टाकी स्वरूप-स्थिति

१ मूढावस्था—इस अवस्थामें तम प्रधान होता है, रज तथा सत्त्व दवे हुए गौणरूपसे रहते हैं। यह अवस्था काम, क्रोध, लोभ और मोहके कारण होती है। जब चित्तकी ऐसी अवस्था होती है, तब मनुष्यकी प्रवृत्ति अज्ञान, अधर्म, राग और अनैश्वर्यमें होती है। यह अवस्था नीच मनुष्योंकी है।

२ क्षिप्तावस्था—इसमें रजोगुणकी प्रधानता होती है, तम और सत्त्व दवे हुए गौणरूपसे रहते हैं, इसका कारण रागद्वेपादि होते हैं। इस अवस्थामें धर्म-अधर्म, राग-विराग, ज्ञान-अज्ञान, ऐश्वर्य और अनैश्वर्यमें प्रवृत्ति होती है। अर्थात् जब तमोगुण सत्त्वगुणको दवा लेता है, तब अधर्म, अज्ञानादिमें और जब सत्त्व तमको दवा लेता है, तब धर्म, ज्ञानादिमें प्रवृत्ति होती है। यह अवस्था साधारण सांसारिक मनुष्योंकी है।

३ विक्षिप्तावस्था—इस अवस्थामें सत्त्वगुण प्रधान होता है, रज तथा तम दवे हुए गौणरूपसे रहते हैं। यह निष्काम कर्म करने तथा राग-द्वेप, काम-क्रोध, लोभ और मोहादिके छोड़नेसे उत्पन्न होती है। इस अवस्थामें क्योंकि सत्त्वगुण किसी मात्रामें वना रहता है, इस कारण मनुष्यकी प्रवृत्ति धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यमें होती है। परंतु रजोगुण चित्तको विक्षिप्त करता रहता है। यह अवस्था ऊँचे मनुष्यों तथा जिज्ञासुओंकी है। यह तीनों अवस्थाएँ चित्तकी अपनी स्वाभाविक नहीं हैं और न योगकी हैं, क्योंकि बाहरके विपयोंके गुणोंसे चित्तपर उनका प्रभाव पड़ता रहता है।

४ एकाग्रावस्था—जब एक ही विपयमें सदृश वृत्तियोंका प्रवाह चित्तमें निरन्तर वहता रहे, तब उसको एकाग्रता कहते हैं। यह चित्तकी स्वाभाविक अवस्था है, अर्थात् जब चित्तमें बाह्य विपयोंके रज तथा तमका प्रभाव न रहे, तब वह निर्मल चमकते हुए स्फटिकके सदृश स्वच्छ होता है। उस समय उसमें परमाणुओंसे लेकर महत्तत्त्वपर्यन्त ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीतृ विपयोंका यथार्थ साक्षात् हो सकता है। इसीकी अन्तिम स्थिति विवेक-ख्याति है, जिसकी ऊपर व्याख्या कर आये हैं। एकाग्रताको सम्प्रज्ञात समाधि भी कहते हैं। इसमें प्रकृतिके सर्व कार्यों (गुणोंके परिणामों) का पूर्णतया साक्षात् हो जाता है।

५ निरुद्धावस्था—जब विवेक-ख्यातिद्वारा चित्त और पुरुपका भेद साक्षात्कार हो जाता है, तब उस ख्यातिसे भी वैराग्य (पर-वैराग्य) उदय होता है; क्योंकि विवेक-ख्याति भी चित्तकी ही एक वृत्ति है। इस वृत्तिके भी निरुद्ध होनेपर सर्ववृत्तियोंके निरोध होनेसे चित्तकी निरोधावस्था होती है। इस निरोधावस्थामें अन्य सब संस्कारोंके तिरोभावपूर्वक पर-वैराग्यके संस्कारमात्र शेप रहते हैं। निरोधावस्थामें किसी प्रकारकी भी वृत्ति न रहनेके कारण कोई पदार्थ भी जाननेमें नहीं आता, तथा अविद्यादि पाँचों क्लेशसहित कर्माशय-रूप जन्मादिकोंके बीज नहीं रहते। इसलिये इसको असम्प्रज्ञात तथा निर्बीज-समाधि भी कहते हैं। इस शङ्काके निवारणार्थ कि सर्ववृत्तियोंके निरोध होनेपर क्या पुरुपका भी निरोध हो जाता है? अथवा क्या वह शून्य अवस्था है? अगले सूत्रमें बतलाया है कि सर्ववृत्तियोंके निरुद्ध होनेपर पुरुप (शुद्ध परमात्म) स्वरूपमें अवस्थित होता है।

विशेप विचार सूत्र २—योगके विपयको समझनेके लिये चित्तके स्वरूप तथा सृष्टिक्रमका ज्ञान अति आवश्यक है इसलिये इसका कुछ विस्तारपूर्वक वर्णन कर देना उचित समझते हैं।

मूल प्रकृति जड, अलिङ्ग, परिणामिनी तथा त्रिगुणमयी अर्थात् प्रकाश, क्रिया (प्रवृत्ति) और स्थितिशील है। प्रकाश सत्त्वका, क्रिया रजका और स्थिति (रोकना, दवाना) तमका धर्म है। गुण अपने स्वरूपसे ही परिणाम-स्वभाववाले हैं। इसलिये इनका सत्तामात्र साम्य-परिणाम अर्थात् सत्त्वसे सत्त्वमें, रजसे रजमें और तमसे तममें परिणाम, इनके विपम परिणामोंके प्रत्यक्ष होनेसे अनुमानगम्य और आगमगम्य है। गुणोंकी साम्य-परिणामवाली अवस्थाका नाम ही प्रधान अथवा मूल-प्रकृति है। यह परोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष न

होनेयोग्य अव्यक्त गुणोंका परिणाम पुरुषके लिये निष्प्रयोजन है। पुरुषका प्रयोजन भोग और अपवर्ग है। भोग गुणोंके परिणामोंका यथार्थरूपसे साक्षात्कार और अपवर्ग पुरुषकी स्वरूपावस्थिति है। बिना गुणोंके साक्षात्कार किये हुए स्वरूपावस्थिति दुर्लभ है। चेतन तत्त्वका शुद्धस्वरूप जड-तत्त्वसे सर्वथा विलक्षण है। जड-तत्त्वके सम्बन्धसे उसकी ईश्वर तथा 'जीव' संज्ञा है। जड-तत्त्व परिणामी नित्य और चेतन-तत्त्व कूटस्थ नित्य है। जडतत्त्व विकारी और चेतन-तत्त्व निर्विकार है। जड-तत्त्व सक्रिय और चेतन-तत्त्व निष्क्रिय, केवल ज्ञानस्वरूप है। जड-तत्त्वमें ज्ञान, नियम तथा व्यवस्थापूर्वक क्रिया चेतन-तत्त्वकी संनिधिमात्रसे है। अर्थात् चेतन-तत्त्व क्रियाका निमित्त-कारण और जड-तत्त्व समवायी अथवा उपादान-कारण है। समष्टि जड-तत्त्वके सम्बन्धसे चेतन-तत्त्वकी संज्ञा पुरुष-विशेष अथवा ईश्वर है। वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् है। उसके स्वाभाविक ज्ञानद्वारा पुरुषोंके कल्याणार्थ गुणोंमें विषम परिणाम हो रहा है, जिससे सारी सृष्टिकी रचना हो रही है, जो इस प्रकार है—

१ प्रथम विषम-परिणाम महत्तत्त्व—सत्त्वगुणमें रजोगुणका क्रियामात्र तथा तमोगुणका स्थितिमात्र विषम परिणाम अर्थात् सत्त्वगुण-प्रधान रजोगुण और तमोगुणका लिङ्गमात्र प्रथम विषम-परिणाम महत्तत्त्व है। यही लिङ्ग है और सृष्टिके नियमोंका बीजरूप है। इसीसे सारी सृष्टिकी उत्पत्ति होती है। वह योगदर्शनके अनुसार समष्टि तथा व्यष्टि चित्त और सांख्यके अनुसार समष्टि तथा व्यष्टि बुद्धि है। वेदान्तमें चेतन-तत्त्वकी महत्तत्त्व (समष्टि चित्त) के सम्बन्धसे 'हिरण्यगर्भ' और व्यष्टि-चित्तके सम्बन्धसे 'तैजस' संज्ञा है। यह चित्त व्यष्टिरूपमें पुरुषके लिये गुणोंका साक्षात्कार करानेका (साधन) है। कहीं-कहीं मन, बुद्धि, अहंकार और चित्तको एकार्थक और कहीं-कहीं चार प्रकारकी वृत्तिभेदसे इनको अन्तःकरण-चतुष्टय कहा गया है। अर्थात् संकल्प-विकल्प करनेसे मन, अहंभाव प्रकट करनेसे अहंकार, निर्णय तथा निश्चय करनेसे बुद्धि और स्मृति तथा संस्कारोंसे चित्रित होनेसे चित्त।

सांख्यमें महत्तत्त्वके लिये 'बुद्धि' और योगमें 'चित्त' शब्द प्रयोग हुए हैं। सांख्यमें बुद्धिमें चित्तको और योगमें चित्तमें बुद्धिको सम्मिलित कर लिया गया है। सिद्धान्तात्मक होनेसे सांख्यमें बुद्धिद्वारा सब पदार्थोंका विवेकपूर्ण निर्णय करना और क्रियात्मक होनेसे योगमें चित्तद्वारा अनुभव अर्थात् साक्षात्कार करना बताया गया है। फोटो लेनेके प्लेटके सदृश ग्राह्य तथा ग्रहण सब प्रकारके विषयोंको पुरुषको प्रत्यक्ष करानेके लिये चित्त दर्पणरूप है। चित्तहीमें सुख-दुःख, मोहादिरूप सत्त्व, रजस् तथा तमस्के परिणाम होते हैं। चित्तहीका वृत्तिमात्रसे सूक्ष्म शरीरके साथ, एक स्थूल शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जाना (आवागमन) होता है। असङ्ग, निर्लेप पुरुष केवल इसका द्रष्टा है। इस चित्तमें ही अहंकार बीजरूपसे रहता है।

२ द्वितीय विषम-परिणाम अहंकार—अहम्भावसे एकत्व-बहुत्व, व्यष्टि-समष्टि आदि सर्व प्रकारकी भिन्नता उत्पन्न करनेवाला, महत्तत्त्वका विषम-परिणाम अहंकार है। अहंकारहीके ग्राह्य और ग्रहण भेदवाले दो प्रकारके विषम-परिणाम उत्पन्न होते हैं।

३ ग्यारह इन्द्रियाँ ग्रहण विषम-परिणाम—परस्पर भेदवाली पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ शक्तिरूप—श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना, घ्राण; इसी प्रकार परस्पर भेदवाली पाँच कर्मेन्द्रियाँ शक्तिरूप—हस्त, पाद, वाक्, पायु (गुदा), उपस्थ (मूत्रत्यागकी इन्द्रिय) और ग्यारहवाँ मन। ये विभाजक अहंकारके ग्रहण विषम-परिणाम हैं।

४ ग्राह्य सूक्ष्म विषम-परिणाम पञ्च-तन्मात्राएँ—परस्पर भेदवाली शब्द-तन्मात्रा, स्पर्श-तन्मात्रा, रूप-तन्मात्रा, रस-तन्मात्रा, गन्ध-तन्मात्रा—ये भेदभाव उत्पन्न करनेवाले विभाजक अहंकारके ग्राह्य विषम-परिणाम हैं।

५ ग्राह्य स्थूल विषम-परिणाम—अर्थात् पाँच स्थूलभूत—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—पाँच तन्मात्राओंके ग्राह्य स्थूल विषम-परिणाम हैं।

इन विषम-परिणामोंमें सत्त्वमें रजस् तथा तमस्का प्रभाव क्रमसे बढ़ता जाता है। अर्थात् महत्तत्त्वकी अपेक्षा अहंकारमें, अहंकारकी अपेक्षा पञ्च-तन्मात्राओं और ग्यारह इन्द्रियोंमें और पाँच तन्मात्राओंकी अपेक्षा पाँचों स्थूल-भूतोंमें रजस् तथा तमस्की मात्रा क्रमशः बढ़ती जाती है। यहाँतक कि पाँचों स्थूल-भूतोंमें रजस् तथा तमस्की मात्रा इतनी (प्रधानरूपसे) बढ़ जाती है कि वे उसके कारण स्थूलरूपमें हमारे दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥२२॥ (सां० का०)

प्रकृतिसे महत्, उससे अहंकार, उससे सोलह (पाँच तन्मात्राएँ, ग्यारह इन्द्रियाँ) का समूह; उस सोलहमें जो पाँच (तन्मात्राएँ) हैं, उनसे पाँच (स्थूल) भूत उत्पन्न होते हैं।

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥३॥ (सां० का०)

मूल प्रकृति विकृति नहीं है (केवल प्रकृति है), महत् आदि सात (महत्तत्त्व, अहंकार, पाँच तन्मात्राएँ) प्रकृति-विकृतियाँ हैं, सोलह (पाँच स्थूलभूत, ग्यारह इन्द्रियाँ) केवल विकृतियाँ ही हैं (प्रकृतियाँ नहीं हैं)। पुरुष न प्रकृति है न विकृति। पुरुष उसका प्रयोजन—भोग और अपवर्ग, गुणोंका साम्य-परिणाम—मूल प्रकृति तथा उनके (गुणोंके) विषम-परिणाम—सात प्रकृतियाँ-विकृतियाँ अर्थात् महत्तत्त्व, अहंकार एवं पञ्च-तन्मात्राएँ, अनादि अर्थात् आरम्भरहित हैं। सोलह केवल विकृतियाँ अर्थात् ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच स्थूलभूत (और उनसे रचा हुआ यह सारा विश्व) सादि माने गये हैं, पर यह भी स्वरूपसे ही सादि हैं; क्योंकि सृष्टिके आरम्भमें अपने कारणसे कार्यरूपमें प्रकट होते हैं। प्रवाहसे तो ये भी अनादि हैं; क्योंकि प्रलयमें अपने कार्यस्वरूपको कारणमें लीन करके, दूसरी सृष्टिमें फिर पहलेकी तरह उत्पन्न होते हैं। यह प्रवाह प्रत्येक सृष्टिके आरम्भमें क्रमसे होता चला आ रहा है। इसलिये ये प्रवाहसे अनादि हैं।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्। (ऋग्० १० । १९० । ३)

उस ईश्वरने इस सूर्य और चन्द्रको पहले कल्पोंके अनुसार बनाया।

अब एक शङ्का यह उत्पन्न होती है कि चित्त जड है; उसमें वस्तुका ज्ञान किस प्रकार हो सकता है और पुरुष असङ्ग, निर्लेप और क्रियारहित है; उसमें जाननेकी क्रिया किस प्रकार हो सकती है?

इसका समाधान इस प्रकार है कि चित्त-सत्त्व जड होते हुए भी ज्ञानस्वरूप पुरुषसे प्रतिबिम्बित अर्थात् प्रकाशित है। इसलिये इसमें (चित्तमें) ज्ञान दिलानेकी योग्यता है और पुरुषको चित्तमें अपने प्रतिबिम्बित अर्थात् प्रकाश-जैसी चेतनासे उसका (चित्तका) तथा उसके सारे विषयोंका स्वतः ज्ञान रहता है। इसीलिये इस दर्शनमें चित्तको दृश्य और पुरुषको द्रष्टा कहा गया है।

ग्राह्य-ग्रहणरूप, स्थूलभूतोंसे लेकर महत्तत्त्वपर्यन्त गुणोंके सारे परिणामोंको पुरुषको साक्षात्कार करानेका चित्त ही एक करण (साधन) है।

इस प्रकार गुणोंके परिणामोंका यथार्थरूपसे साक्षात्कार करना भोग है। यही सम्प्रज्ञात समाधि है अथवा सम्प्रज्ञातयोग है और गुण-परिणामके साक्षात्कारके पश्चात् स्वरूपावस्थिति अपवर्ग है अर्थात् असम्प्रज्ञात-समाधि अथवा असम्प्रज्ञात-योग है। यह समाधि सब अवस्थाओंमें चित्तका धर्म है। इस धर्मके छिपे रहने और प्रकट न होनेका कारण यह है कि हमारा सारा व्यवहार स्थूल-जगत् अर्थात् सोलह (केवल) विकृतियोंमें ग्राह्य-ग्रहणरूपसे चल रहा है। इनमें तम तथा रजकी प्रधानता है और सत्त्व गौणरूपसे है।

इसलिये इस व्यवहारमें आसक्ति हो जानेके कारण तमस् तथा रजस्के परिणाम—राग, द्वेष और अभिनिवेशके संस्काररूप आवरण और अहंकारमें जो रजस् तथा तमस्की मात्रा है; उससे अस्मिताक्लेश-के संस्काररूपी आवरण और चित्तसत्त्वमें जो सत्तामात्र तमस् तथा रजस्का परिणाम है; उससे अविद्या, क्लेश अर्थात् जड चित्त और चेतन पुरुषमें अविवेकके संस्कारोंका आवरण, चित्तसत्त्वपर चढ़ जाता है। इस प्रकार इन आवरणोंसे मलिन और विक्षिप्त हुए चित्त-सत्त्वपर प्रतिक्षण इन संस्कारोंसे नाना रूपके आन्तरिक तथा बाह्य परिणाम होते रहते हैं, जो वृत्ति कहलाते हैं।

मूढावस्थामें जब तम प्रधान होता है, तब निद्रा, आलस्य, प्रमाद आदि तामसी वृत्तियाँ उदय होती हैं। क्षिप्तावस्थामें जब रज प्रधान होता है, तब चञ्चल, अस्थिर करनेवाली राजसी वृत्तियाँ उदय होती हैं और विक्षिप्तावस्थामें वस्तुके यथार्थस्वरूपकी प्रकाशक सात्त्विक वृत्तियाँ उदय होती हैं, किंतु यह सात्त्विक वृत्तियाँ राजसी वृत्तियोंसे अस्थिर और चलायमान होती रहती हैं।

इस प्रकार इस सर्वार्थता (मनके सब विषयोंकी ओर जानेकी प्रवृत्ति) में यथार्थ तत्त्वका प्रकाशक, चित्तका एकाग्रता—धर्म दबा रहता है। अभ्यास और वैराग्यद्वारा जब सर्वार्थताका निरोध होता है, तब तमस् तथा रजस्के दबनेसे सत्त्वके प्रकाशमें वस्तुका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करानेवाली एकाग्रता (सम्प्रज्ञात-समाधि) का उदय होता है, जिसकी पराकाष्ठा गुण-परिणाम साक्षात्कारपर्यन्त पुरुष और चित्तमें विवेक-ज्ञान है। इस वृत्तिसे भी परवैराग्यद्वारा आसक्ति निवृत्त होनेपर सब वृत्तियोंका निरोधरूप असम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् द्रष्टाकी स्वरूपावस्थिति होती है। उस समय चित्तमें केवल निरोधके संस्कार शेष रहते हैं, ये निरोधके संस्कार अपनी दुर्बल अवस्थामें निरोधसे पुनः व्युत्थानमें ले जानेके कारण होते हैं। निरन्तर अभ्यास एवं वैराग्यसे निरोध-संस्कारोंको दृढ़भूमि होनेपर अन्य सब व्युत्थानके संस्कारोंको सर्वथा निवृत्त करनेके पश्चात् ये संस्कार-शेष भी स्वयं निवृत्त हो जाते हैं तब पुनः व्युत्थान-अवस्थामें न आनेवाली स्वरूपावस्थिति कैवल्य कहलाती है।

प्रथम धर्म (रूप) को छोड़कर दूसरे धर्मको धारण करना परिणाम कहलाता है। सारा संसार गुणोंका ही संनिवेशमात्र है। इसलिये प्रत्येक वस्तुमें प्रतिक्षण परिणाम हो रहा है। परिणाम दो प्रकारसे होता है; एक साम्य अथवा सरूप-परिणाम, जैसे दूधके बने रहनेतक जो दूधसे दूधमें परिणाम हो रहा है; उसको साम्य अथवा सरूप-परिणाम कहेंगे, दूसरा दूधसे दही बनते समय अथवा उसमें और कोई अन्य विकार आते समय जो परिणाम होता है; उस दूधसे ही दही इत्यादिमें होनेवाले परिणामको विषम अथवा विरूप-परिणाम कहेंगे। विषम-परिणाम ही प्रत्यक्ष होता है, उस प्रत्यक्षसे साम्य-परिणामका अनुमान किया जाता है। इसकी विस्तार-पूर्वक व्याख्या विभूतिपाद सूत्र ९ को सङ्गति, सूत्र तेरहसे सोलहतक और कैवल्यपाद सूत्र चौदहमें की गयी है।

सृष्टि-उत्पत्ति-क्रम

१ चेतन-तत्त्व, निष्क्रिय, कूटस्थ नित्य—आत्मा तथा परमात्मा (जड-तत्त्वके सम्बन्धसे व्यष्टिरूप-में जीव तथा समष्टिरूपमें ईश्वर)।

२ जडतत्त्व, सक्रिय, परिणामिनी नित्य, अव्यक्त, अलिङ्ग, प्रधान, त्रिगुणात्मक मूल प्रकृति, अविकृति, गुणोंकी साम्यावस्था।

३ लिङ्गमात्र, गुणोंका प्रथम विषम परिणाम, प्रकृति-विकृति महत्तत्त्व (समष्टि-चित्त तथा व्यष्टि-चित्त)।

४ *महत्तत्त्वका कार्य*—अहंकार, प्रकृति-विकृति, गुणोंका द्वितीय विषम-परिणाम।

संगति—सब वृत्तियोंके निरोध होनेपर पुरुषकी क्या अवस्था होती है?

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—तदा=तब (वृत्तियोंके निरोध होनेपर); द्रष्टुः=द्रष्टाकी; स्वरूपे=स्वरूपमें; अवस्थानम्=अवस्थिति (होती है)।

अन्वयार्थ—तब द्रष्टाकी (शुद्ध परमात्म) स्वरूपमें अवस्थिति (होती है)

व्याख्या—द्रष्टा (पुरुष) की चित्तवृत्ति निरुद्धकालमें वैसी ही चेतनमात्र (शुद्ध परमात्म) स्वरूपमें स्थित होती है जैसी कैवल्यमें होती है। चित्तकी व्युत्थान (निरुद्धावस्थासे इतर) अवस्थामें भी पुरुष अपने स्वाभाविक असङ्ग चेतनरूपमें स्थित होता है। पर चित्तकी उपाधिसे चित्तवृत्ति-जैसा शान्त, घोर और मूढादि प्रतीत होता है। वृत्ति-निरोधावस्थामें वृत्तियोंके निरोधसे पुरुषका निरोध नहीं होता, किंतु चित्तरूप उपाधिकी वृत्तिके अभावसे जब औपाधिक शान्त, घोरादि रूपका अभाव हो जाता है, तब पुरुष अपने उपाधिरहित रूपमें अवस्थित होता है। अभिप्राय यह है कि विवेक-ख्याति उत्पन्न होनेपर वस्तु आकारमें परिणामसे रहित चित्तमें कर्तापनका अभिमान निवृत्त हो जाता है। अर्थात् 'मैं करता हूँ' 'मैं सुखी हूँ' 'मैं दुखी हूँ' इत्यादि अभिमानकी निवृत्ति हो जाती है और बुद्धि (अन्तःकरण) में वृत्तिरूप परिणाम होना भी रुक जाता है; तब आत्माकी (शुद्ध परमात्म) स्वरूपमें अवस्थिति होती है।

चितिशक्ति कूटस्थ नित्य होनेसे स्वरूपसे कभी प्रच्युत नहीं होती है। जैसा निरोधकालमें पुरुषका स्वभाव है वैसा ही व्युत्थानकालमें है, किंतु अविवेकसे वैसा प्रतीत नहीं होता। जिस प्रकार जब भ्रमसे शुक्ति (सीप) में रजत (चाँदीका भान होता है, तब उस भ्रमकालमें उस भ्रमसे न सीपका अभाव और न चाँदीकी ही उत्पत्ति होती है, फिर भ्रम दूर होनेपर जब यह ज्ञान होता है कि यह चाँदी नहीं किन्तु सीप है, तब इस ज्ञानसे सीपकी उत्पत्ति और चाँदीका अभाव नहीं होता—केवल अस्ति-नास्ति आदिका (भाव-अभावका) व्यवहार होता है। वैसे ही चिति-शक्ति सर्वदा एकरस ही है, किंतु व्युत्थानकालमें अविवेकके कारण अन्यरूपसे भान होती है और निरोधकालमें कैवल्यके सदृश निज शान्तरूपसे भान होती है। यह निरोध और व्युत्थानमें भेद है।

विवेक-ख्याति सबसे अन्तिम सात्त्विक वृत्ति है जिसमें चित्तद्वारा आत्माका साक्षात्कार होता है। यहाँतक पुरुषार्थका विषय है। इसमें जो आत्मसाक्षात्कार होता है उससे चित्तकी इतनी सात्त्विकता बढ़ जाती है कि इस वृत्तिसे भी आसक्ति हट जाती है। इस आसक्तिके हट जानेका नाम ही पर वैराग्य है। तब चित्तमें किसी प्रकारकी कोई भी वृत्ति न रहनेपर द्रष्टाकी शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति होती है।

द्रष्टा, पुरुष, चिति-शक्ति, दृक्शक्ति, चेतन, आत्मा एकार्थक शब्द हैं तथा अभ्यास, उपाधि, आरोप, भ्रम एकार्थक हैं।

संगति—निरोधसे भिन्न व्युत्थान अवस्थामें पुरुषका क्या स्वरूप होता है?

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—वृत्तिसारूप्यम्=वृत्तिकी समानरूपता; इतरत्र=दूसरी अर्थात् निरोधसे भिन्न व्युत्थान अवस्थामें (पुरुषकी होती है)।

अन्वयार्थ—दूसरी अर्थात् निरोधसे भिन्न व्युत्थान अवस्थामें द्रष्टाकी वृत्तियोंके समानरूपता होती है अर्थात् द्रष्टा वृत्तियोंके समान रूपवाला प्रतीत होता है।

व्याख्या—दूसरी अर्थात् निरोधसे उठनेपर व्युत्थानकालमें द्रष्टा वृत्तियोंके, जो आगे लक्षणसहित कही जायगी, समान रूपवाला प्रतीत होता है। जैसा पञ्चशिखाचार्यने कहा है—

एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्।

एक ही दर्शन है, ख्याति (वृत्ति) ही दर्शन है अर्थात् पुरुष वैसा ही दीखता है जैसी वृत्ति होती है, इसलिये सुख-दुःख, मोहरूप सत्त्वगुणवाली, रजोगुणी अथवा तमोगुणी जैसी चित्तकी वृत्तियाँ होती हैं, वैसा ही व्यवहार-दशामें पुरुषका स्वरूप जाना जाता है। अर्थात् यह सुखी है, यह दुखी है, यह मोहमें है; ऐसा लोग समझते हैं। जब चित्त एकाग्रतासे परिणत होता है, तब चितिशक्ति भी उस रूपमें प्रतिष्ठित होती है। जब चित्त इन्द्रिय-वृत्तिके साथ विषयाकारसे परिणत होता है, तब पुरुष भी उस वृत्तिके रूपाकार ही जान पड़ता है।

अर्थात् यद्यपि परमार्थतः पुरुष असङ्ग और निर्लेप है तथापि अयस्कान्तमणि (चुम्बक पत्थर) के समान

असंयुक्त रहते हुए भी केवल संनिधिमात्रसे उपकारकरणशील चित्तरूप दृश्यका दृश्यत्वरूपसे पुरुषके साथ भोग-अपवर्ग सम्पादनार्थ अनादि स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है। इसलिये शान्त, घोर, मूढ़ाकार वृत्तिविशिष्ट चित्तकी संनिधिसे पुरुष अपनेको चित्तसे भिन्न न जानकर 'मैं शान्त (सुखी) हूँ' 'मैं दुखी हूँ' 'मैं मूढ़ हूँ' इत्यादि—इस प्रकार अपनेमें चित्तके धर्मोंका आरोप कर लेता है। इसी बातको बृहदारण्यक उपनिषद्में निम्न शब्दोंमें दर्शाया है—

'स समानः सन् ध्यायतीव लेलायतीव' वह आत्मा बुद्धिके समान होकर अर्थात् बुद्धिके साथ तादात्म्याध्यासको प्राप्त होकर मानो ध्यान करता है मानो चलता है।

अथवा मलिन दर्पणमें प्रतिबिम्बित मुखमें मलिनताका आरोप करके अविवेकी-जन 'मेरा मुख मलिन है', इस प्रकार शोक करता है, वैसे ही पुरुष भी चित्तके उपाधि-धर्मोंका अपनेमें आरोप करके 'मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ' इत्यादि; इस प्रकार भ्रमजालमें फँसकर शोकग्रस्त हो जाता है। यह वृत्तिसारूप्य पदका अर्थ है।

यद्यपि पुरुष असङ्ग है तथापि उसकी चित्तके साथ योग्यता-लक्षण-संनिधि है अर्थात् पुरुषमें भोक्तृत्व-शक्ति और द्रष्टृत्व-शक्ति है और चित्तमें दृश्यत्व-शक्ति और भोग्यत्व-शक्ति है। यही इन दोनोंकी परस्पर योग्यता है। इस योग्यता-लक्षण-संनिधिसे ही चित्त सुख-दुःख, मोहाकाररूप परिणामसे भोग्य और दृश्य हुआ स्व कहा जाता है और पुरुष भोक्ता और द्रष्टा हुआ स्वामी कहा जाता है। यह जो पुरुषके भोगका हेतु स्व-स्वामि-भाव-सम्बन्ध है, यह भी चित्तसे ही अपने निजरूपके अविवेकप्रयुक्त है और अविवेक तथा वासनाका प्रवाह बीज और अंकुरके सदृश अनादि है। इस प्रकार चित्तवृत्तिविषयक उपभोगमें जो चेतनका अनादि स्व-स्वामि-भाव-सम्बन्ध है, वह वृत्ति-सारूप्यमें कारण है।

जैसे जलाशय (नदी अथवा तालाब) में जब नाना प्रकारकी तरङ्गें उछलती होती हैं, तब गगनस्थ चन्द्रमण्डलका प्रतिबिम्ब उस जलाशयमें स्थिर निज यथार्थरूपसे नहीं भान होता है और जब तरङ्गें उठना बंद हो जाती हैं, तब स्वच्छ निश्चलरूपसे प्रकाशमान होकर चन्द्र-प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है। वैसे ही जब चित्तकी वृत्तियाँ विषयाकार होनेसे चञ्चल रहती हैं, तब चेतन भी चन्द्रमण्डलकी भाँति चित्तमें प्रतिबिम्बित हुआ तदाकार होनेसे निजरूपमें नहीं भासता है। जब चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं, तब चन्द्रमण्डलके सदृश चेतन निज स्थिररूपमें स्थित हो जाता है। यह तीसरे और चौथे सूत्रका फलितार्थ है।

संगति—चित्तकी वृत्तियाँ बहुत होनेपर भी निरोध करनेयोग्य हैं। उनको अगले सूत्रमें पाँच श्रेणियोंमें विभक्त करके बतलाते हैं।

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—वृत्तयः=वृत्तियाँ; पञ्चतय्यः=पाँच प्रकार (की होती हैं); क्लिष्टाः = क्लिष्ट (राग-द्वेषादि क्लेशोंकी हेतु और); अक्लिष्टाः = अक्लिष्ट (राग-द्वेष आदि क्लेशोंकी नाश करनेवाली)।

अन्वयार्थ—वृत्तियाँ पाँच प्रकारकी होती हैं। क्लिष्ट अर्थात् रागद्वेषादि क्लेशोंकी हेतु और अक्लिष्ट अर्थात् राग-द्वेषादि क्लेशोंकी नाश करनेवाली।

व्याख्या—बाह्य-पदार्थ असंख्य होनेके कारण उनसे उत्पन्न होनेवाली वृत्तियाँ भी असंख्य हैं। इन सबका सुगमतासे ज्ञान हो सके इसलिये उन सब निरोद्धव्य वृत्तियोंको पाँच श्रेणियोंमें विभक्त किया गया है। जिनके नाम अगले सूत्रमें दिये जायँगे। इन पाँच प्रकारकी वृत्तियोंमेंसे कोई क्लिष्टरूप होती हैं और कोई अक्लिष्टरूप। सत्त्व-प्रधान वृत्तियाँ अक्लिष्टरूप और तमस्प्रधान वृत्तियाँ क्लिष्टरूप हैं अर्थात् जिन वृत्तियोंके हेतु अविद्या आदि पाँच क्लेश (२। ३) हैं, जो कर्माशय (२। १२) के समूहकी उत्पत्तिकी भूमियाँ हैं, वे क्लिष्ट कहलाती हैं अर्थात् अविद्या आदि मूलक जो कर्माशयके समूहका क्षेत्ररूप वृत्तियाँ होती हैं, वे क्लिष्ट वृत्तियाँ कहलाती हैं और जो अविद्या आदि पाँचों क्लेशोंकी नाशक और गुणाधिकारकी विरोधी विवेकख्यातिरूप वृत्ति होती है, वह अक्लिष्ट कहलाती है। पहले अक्लिष्ट वृत्तियोंको ग्रहण करके क्लिष्ट वृत्तियोंका निरोध करना चाहिये। फिर परवैराग्यसे उस अक्लिष्ट वृत्तिका भी निरोध हो जाता है।

यद्यपि क्लिष्ट वृत्तियोंके संस्कार बहुत गहरे जमे हुए होते हैं तथापि उनके छिद्रोंमें सत्-शास्त्र और गुरुजनोंके उपदेशसे अभ्यास और वैराग्यरूप अक्लिष्ट वृत्तियाँ वर्तमान रहती हैं। अर्थात् उनके द्वारा अक्लिष्ट वृत्तियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। वृत्तियोंका यह स्वभाव है कि वे अपने सदृश संस्कारोंको उत्पन्न करती हैं— क्लिष्ट वृत्तियाँ क्लिष्ट संस्कारोंको और अक्लिष्ट वृत्तियाँ अक्लिष्ट संस्कारोंको। इस प्रकार छिपी हुई अक्लिष्ट वृत्तियाँ उत्पन्न होकर अक्लिष्ट संस्कारोंको और अक्लिष्ट संस्कार अक्लिष्ट वृत्तियोंको उत्पन्न करते हैं। यह चक्र यदि निरन्तर चलता रहे तो क्लिष्ट वृत्तियोंका निरोध हो जाता है। पर इनके संस्कार सूक्ष्मरूपसे अक्लिष्ट वृत्तियोंके छिद्रों (बीच) में बने रहते हैं (४। २७)। उनका नाश निर्बीज समाधिके अभ्याससे होता है (२। १०)। उपर्युक्त विधिके अनुसार जब क्लिष्ट वृत्तियाँ सर्वथा दब जाती हैं, तब अक्लिष्ट वृत्तियोंका भी निरोध परवैराग्यसे हो जाता है। इन सब वृत्तियोंका निरोध असम्प्रज्ञात योग है।

संगति—पाँचों वृत्तियोंके नाम बतलाते हैं—

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति—ये पाँच प्रकारकी वृत्तियाँ हैं जिनका लक्षण अगले सूत्रमें बतलायेंगे।

संगति—प्रमाण वृत्तिके तीन भेद दिखलाते हैं—

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ - प्रत्यक्ष-अनुमान-आगमाः=प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम; प्रमाणानि = प्रमाण हैं।

अन्वयार्थ—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम भेदसे तीन प्रकारकी प्रमाण-वृत्ति है।

व्याख्या—प्रमा (यथार्थज्ञान) करण (साधन) को प्रमाण कहते हैं। मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ, मैं यह अनुमानसे जानता हूँ, मैं यह वेद-शास्त्रसे जानता हूँ इस प्रकारके ज्ञानका नाम बोध है। यह बोध यदि यथार्थ हो तो प्रमा कहलाता है, अयथार्थ हो तो अप्रमा। जिस वृत्तिसे प्रमा (यथार्थ बोध) उत्पन्न होता है, उसका नाम प्रमाण है।

प्रमाका लक्षण—अनधिगत (स्मृति-भिन्न) अबाधित (रस्सीमें सर्पकी तरह जो नाशवान् न हो) अर्थको विषय करनेवाले पौरुषेय ज्ञान (पुरुषनिष्ठ ज्ञान) को प्रमा कहते हैं। इसीको यथार्थ अनुभव वा सत्य-ज्ञान भी कहते हैं। यह प्रमा चक्षु आदि इन्द्रियोंद्वारा वा लिङ्ग-ज्ञानद्वारा अथवा आप्त वाक्य-श्रवणद्वारा चित्तवृत्तिसे उत्पन्न होती है। इसलिये उस चित्तवृत्तिको प्रमाका करण होनेसे प्रमाण कहा जाता है। वह प्रमाण चित्तवृत्ति तीन प्रकारकी है—

१ जो चक्षु आदि इन्द्रियोंद्वारा विषयाकार चित्तकी वृत्ति उदय होती है, वह प्रत्यक्ष-प्रमाण कहलाती है।

२ जो लिङ्गद्वारा उत्पन्न होती है, वह अनुमान-प्रमाण कहलाती है।

३ और जो आप्त-वाक्य-श्रवणद्वारा उत्पन्न होती है, वह शब्द-प्रमाण या आगम-प्रमाण कहलाती है। इन प्रमाणोंसे जो पुरुषको ज्ञान होता है, वह फलप्रमा कहलाता है। वह फलप्रमा भी चित्तवृत्ति-रूप प्रमाणोंके तीनप्रकारके होनेसे प्रत्यक्ष-प्रमा, अनुमिति-प्रमा और शाब्दी प्रमा भेदसे तीन प्रकारका है।

प्रत्यक्ष-प्रमाण एवं प्रत्यक्ष-प्रमा—ग्रहण-रूप प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय (नासिका, रसना, चक्षु, त्वचा और श्रोत्र) और ग्राह्यरूप उनके विषय (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द) क्रमसे एक ही कारणसे उत्पन्न होते हैं, इसलिये इन दोनोंमें एक-दूसरेको आकर्षण करनेकी शक्ति होती है। उदाहरणार्थ जब किसी रूपवाले घटादिक विषयका आँखसे संनिकर्ष होता है, तब आँखकी रश्मि उसपर पड़ती है। चित्तका उस विषयमें राग होनेसे वह इस नेत्र-प्रणालीद्वारा विषय-देशपर पहुँचकर उस विशेष घटादिके आकारवाला हो जाता है। चित्तके ऐसे घटादिक आकार-विशिष्ट परिणामको प्रत्यक्ष प्रमाणवृत्ति कहते हैं और उसमें जो 'अहं घटं जानामि' 'मैं घटविषयक ज्ञानवाला हूँ', इस आकारवाला जो विषयसहित चित्त-

वृत्तिविषयक पुरुषनिष्ठ ज्ञान है अर्थात् जो चिदात्मा (चितिशक्ति) का प्रतिबिम्ब उस प्रत्यक्ष-प्रमाण-वृत्ति-द्वारा उस वृत्ति-जैसा विषयाकार होना है, वह प्रत्यक्ष-प्रमा कहलाता है। प्रमाण वृत्तिका फल होनेसे उसको फलप्रमा भी कहते हैं। वही पौरुषेय-बोध अथवा पौरुषेय-ज्ञान है। इस प्रकार व्यक्तिरूप विशेष अर्थको विषय करनेवाली वृत्ति प्रत्यक्ष-प्रमाण है और उस वृत्तिके अनुसार जो प्रतिबिम्ब-रूप पौरुषेय ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष-प्रमा है तथा चित्तमें प्रतिबिम्बित जो चेतनात्मा (चितिशक्ति) है, वह प्रमाता है।

अनुमान-प्रमाण एवं अनुमान-प्रमा अर्थात् अनुमिति—लिङ्गसे लिङ्गीका सम्बन्ध सामान्यरूपसे निश्चय करके जो यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो उसको अनुमान कहते हैं। उदाहरण—जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। जैसे रसोईघरमें; और जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ-वहाँ धूम नहीं होता, जैसे तालाबमें। इस प्रकार धूमसे अग्निका सम्बन्ध सामान्य-रूपसे निश्चित करके पर्वतमें धूमको देखकर अग्निके होनेका जो यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो, उसको अनुमान-प्रमाण कहते हैं। इस अनुमान-प्रमाणसे जो चित्तमें परिणाम होता है, उसको अनुमानवृत्ति कहते हैं। उस अनुमान-वृत्तिद्वारा जो चिदात्मा (चिति-शक्ति) का प्रतिबिम्ब-रूप पौरुषेय ज्ञान (पौरुषेय बोध) है, वह अनुमिति-प्रमा कहलाता है।

आगम-प्रमाण एवं आगम-प्रमा—वेद, सत्-शास्त्र तथा आप्त-पुरुष, जो भ्रम, विप्रलिप्सा आदि दोषों-से रहित यथार्थवक्ता हों, उनके वचनोंको आगम-प्रमाण कहते हैं। वेदों एवं सत्-शास्त्रोंको पढ़कर या सुनकर तथा आप्त-पुरुषोंके वचनोंको सुनकर श्रोताके चित्तमें जो परिणाम होता है, उसे आगम अथवा शब्दप्रमाण-वृत्ति कहते हैं। उस वृत्तिद्वारा जो चिदात्मा (चितिशक्ति) का प्रतिबिम्ब-रूप पौरुषेय-ज्ञान (पौरुषेय बोध) होता है, वह फल-प्रमा, शब्द-प्रमा कहलाता है।

विशेष वक्तव्य सूत्र ७—इस सूत्रकी व्याख्यामें विज्ञानभिक्षु अपने योगवार्तिकमें प्रत्यक्ष-प्रमाणके सम्बन्धमें लिखते हैं—

प्रमाता चेतनः शुद्धः प्रमाणं वृत्तिरेव च।
प्रमार्थाकारवृत्तीनां चेतने प्रतिबिम्बनम्॥
प्रतिबिम्बितवृत्तीनां विषयो मेय उच्यते।
वृत्तयः साक्षिभास्याः स्युः करणस्यानपेक्षणात्॥
साक्षाद् दर्शनरूपं च साक्षित्वं सांख्यसूत्रितम्।
अविकारेण द्रष्टृत्वं साक्षित्वं चापरे जगुः॥

शुद्ध चेतनको प्रमाता, वृत्तिको प्रमाण और चेतनमें अर्थाकार वृत्तियोंका प्रतिबिम्ब प्रमा कहा जाता है। प्रतिबिम्बित वृत्तियोंके विषयको मेय अर्थात् प्रमेय कहते हैं। करण अर्थात् इन्द्रियोंकी अपेक्षासे रहित वृत्तियाँ साक्षिभास्य होती हैं। सांख्यसूत्रमें साक्षात् दर्शन रूपको साक्षी कहा गया है, किंतु कोई अविकारी द्रष्टाको ही साक्षी रूप मानते हैं।

समीक्षा—शुद्ध चेतनको प्रमाता मानना अयुक्त और श्रुतिविरुद्ध है; क्योंकि शुद्ध नाम सर्वधर्मरहितका है और प्रमाता नाम प्रमारूप धर्मविशिष्टका है। इसलिये चित्तमें प्रतिबिम्बित चेतन (जीवात्मा) ही प्रमाका आधार होनेसे प्रमाता है। प्रमारूप बोध शुद्ध चेतनका मुख्य धर्म नहीं है।

यथा—ज्ञानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथंचन।
ज्ञानस्वरूप एवाऽऽत्मा नित्यः सर्वगतः शिवः॥

ज्ञान आत्मा (शुद्ध चेतन) का धर्म या गुण नहीं है, किंतु यह नित्य सर्वव्यापक शिव आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है। 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' यह (सबका आत्मभूत) पुरुष असङ्ग है। 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' चेतन पुरुष निर्गुण होनेसे केवल साक्षी ही है। एवं सांख्य-प्रवचनभाष्यमें विज्ञान-भिक्षुने भी ऐसा ही लिखा है 'पुरुषस्तु प्रमासाक्ष्येव न प्रमाता'। (सांख्यसूत्र ८७) पुरुष प्रमाका साक्षी ही है प्रमाता नहीं।

तथा—'कल्पितं दर्शनकर्तृत्वं वस्तुतस्तु बुद्धेः साक्ष्येव पुरुषः' (सा० २ । २०)

पुरुषमें दर्शनकर्तृत्व कल्पित है और साक्षित्व वास्तविक है।

इसलिये इसकी व्यवस्था निम्नरूपसे समझनी चाहिये।

प्रत्यक्ष-प्रमाण— प्रत्यक्ष-प्रमाणके सम्बन्धमें प्रमाण, प्रमेय, प्रमा, प्रमाता और साक्षी-भेदसे पाँच पदार्थ माने जाते हैं—

१ जिस प्रकार तालाब आदिका जल प्रणालीद्वारा क्षेत्रमें जाकर क्षेत्राकार हो जाता है, उसी प्रकार चित्तका नेत्रादि इन्द्रियोंद्वारा बाह्य विषय घटादिसे सम्बद्ध होकर उस घट आदि आकाररूप परिणामको प्राप्त होनेपर जो 'अयं घटः' 'यह घट है' इस घटादि आकारवाली चित्तवृत्ति होती है, वह बौद्धप्रमा कही जाती है। इस प्रमाका विषय-सम्बन्ध नेत्रादि इन्द्रियोंद्वारा उत्पन्न होता है, इसलिये इसको 'प्रमाण' कहते हैं।

२ उपर्युक्त घटादि आकारवाली चित्तवृत्तिका विषय घटादि 'प्रमेय' कहलाता है।

३ पुरुषनिष्ठ बोध फल होनेसे किसीका करण नहीं है, इसलिये वह केवल 'प्रमा' कहलाता है।

४ बुद्धि-प्रतिबिम्बित चेतन जो इस प्रमाका आश्रय है, वह प्रमाता कहा जाता है।

५ और बुद्धि-वृत्ति-उपहित जो शुद्ध चेतन है, वह साक्षी है।

अनुमान-प्रमाण—लिङ्ग-लिङ्गी, साधन-साध्य अथवा कार्य-कारणके सम्बन्धसे जो यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हो, उसे अनुमान कहते हैं। अनुमान तीन प्रकारका होता है—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट।

१ *पूर्ववत्*—जहाँ कारणको देखकर कार्यका अनुमान हो, जैसे बादलोंको देखकर होनेवाली वर्षाका अनुमान।

२ *शेषवत्*—कार्यसे कारणका अनुमान, जैसे नदीके मटीले पानीको देखकर प्रथम हुई वर्षाका अनुमान।

३ *सामान्यतोदृष्ट*—जो सामान्य रूपसे देखा गया हो; परंतु विशेष रूपसे न देखा गया हो, जैसे घट (मिट्टीके बने हुए घड़े) को देखकर उसके बनानेवाले कुम्हारका अनुमान; क्योंकि प्रत्येक बनी हुई वस्तुका कोई चेतन निमित्त-कारण सामान्यरूपसे देखा जाता है।

अनुमानके सम्बन्धमें इतना जान लेना आवश्यक है कि लिङ्ग-लिङ्गी अर्थात् साधन-साध्यका जिस धर्म-विशेषके साथ सम्बन्ध होता है, वह व्याप्ति कहलाता है और ऐसे सम्बन्ध होनेके ज्ञानको व्याप्तिज्ञान कहते हैं। लिङ्गके प्रत्यक्ष होनेपर अप्रत्यक्ष लिङ्गीका इस व्याप्ति-ज्ञानसे अनुमान किया जाता है। जैसे धूम एवं अग्निके सम्बन्ध होनेके ज्ञानसे विशेषरूपसे धूमको देखकर यह निश्चय करना कि जहाँ ऐसा धूम होता है वह बिना अग्निके नहीं होता, इस व्याप्ति-ज्ञानसे धूमके प्रत्यक्ष होनेसे अप्रत्यक्ष अग्निका जानना अनुमान है।

अनुमानका मूल प्रत्यक्ष ही है, क्योंकि पूर्वप्रत्यक्षद्वारा अनुमान होता है। यदि प्रत्यक्ष विकार दोष-संयुक्त हो तो अनुमान भी मिथ्या हो जाता है। इन्द्रिय एवं अर्थके संनिकर्षसे उत्पन्न भ्रान्ति-दोषसे रहित ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। भ्रान्ति-दोषके निम्न कारण होते हैं—

१ *विषयदोष*—पदार्थ इतनी दूर हो जिससे यथार्थ ज्ञानमें भ्रम उत्पन्न हो; पदार्थ ऐसी अवस्थामें रक्खा हो जिससे यथार्थ ज्ञानमें भ्रान्ति उत्पन्न हो। द्रष्टा और दृश्यके मध्यमें शीशा आदि कोई ऐसी वस्तु आ जाय जिससे दृश्य अपने वास्तविक रूपमें न दिखलायी दे सके।

२ *इन्द्रिय-दोष*—जैसे काम्ल (पीलिया) रोगवालेको सब वस्तुएँ पीली दीखती हैं।

३ *मनोदोष*—मनके असावधान तथा अस्थिर होनेसे पदार्थका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता है।

शब्द-प्रमाण—अलौकिक विषयमें वेद ही प्रमाण हो सकते हैं, इसीलिये इस प्रमाणका नाम आगम-प्रमाण है। वेदके आश्रित जो ऋषि, मुनि और आचार्योंके वचन हैं, वे भी इसी प्रमाणके अन्तर्गत हैं। लौकिक विषयमें भी आप्तपुरुष ही प्रमाण हो सकते हैं। आप्तपुरुष तत्त्ववेत्ता होते हैं, जिनके जानने और कहनेमें (ज्ञान और क्रियामें) कोई दोष नहीं होता, अर्थात् जिनका ज्ञान भ्रान्ति-दोष (जिसका अनुमान-प्रमाणके सम्बन्धमें वर्णन कर दिया है) से युक्त न हो तथा जिनमें विप्रलिप्सा (धोखेमें डालनेका) दोष न हो।

कई आचार्योंने उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव, ऐतिह्य और संकेतको अलग प्रमाण माना है, जसे मीमांसाने प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अनुपलब्धि (अभाव) और अर्थापत्ति—ये छः प्रमाण माने हैं; न्यायने प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान—ये चार प्रमाण माने हैं; किंतु दर्शनकारोंमें प्रमाणके सम्बन्धमें यह कोई विशेष मतभेद नहीं है, केवल स्थूल बुद्धिवालोंको वर्णनशैलीकी बाह्य प्रणालीको देखकर अविवेकके कारण परस्पर विरोध होनेका भ्रम होता है; क्योंकि यह सब तीनों प्रमाणोंके अंदर ही आ जाते हैं। जैसे प्रसिद्ध पदार्थके सादृश्यसे साध्यके साधनेको 'उपमान' कहते हैं; वह अनुमानके अंदर आ जाता है। जो बात अर्थसे निकल आवे उसे 'अर्थापत्ति' कहते हैं; जैसे रामके घरपर यदि उसे पुकारें और उत्तर मिले कि 'वह घर नहीं है', तो यहाँ 'अर्थात् बाहर है', यह अपने-आप ज्ञात हो जाता है। यह भी अनुमानके अंदर आ जाता है। एक बातसे दूसरी बातका जहाँ सिद्ध होना सम्भव हो उसे 'सम्भव' कहते हैं। जैसे 'राम करोड़पति' है इससे लखपति होना सिद्ध है। यह भी अनुमानके अन्तर्गत है। 'मकानमें पुस्तक नहीं है' यह ज्ञान अभाव-प्रमाणसे होता है। पर वस्तुतः यह प्रत्यक्ष ही है, क्योंकि जिस वस्तुका ज्ञान जिस इन्द्रियसे प्रत्यक्ष होता है उसका अभाव भी उसीसे प्रत्यक्ष हो जाता है। इसलिये 'अभाव' प्रत्यक्ष प्रमाणके अन्तर्गत है 'ऐतिह्य',—जो परम्परासे कहते चले आते हों। इनमें कहनेवालेका निश्चय न होनेसे यह ज्ञान संशयवाला होता है, इसलिये यह प्रमाण नहीं और यदि कहनेवालेका आप्तपुरुष होना निश्चय हो जाय तो शब्द-प्रमाणके अंदर आ जाता है। नियत इशारोंसे अपने अभिप्रायोंको एक दूसरेपर प्रकट करनेको 'संकेत' कहते हैं। यह भी अनुमानके अंदर आ जाता है, क्योंकि संकेत नियत किया हुआ चिह्न है। इस प्रकार तीन ही प्रमाण सिद्ध होते हैं, जो सांख्य तथा योगाचार्योंने माने हैं। अन्य सब इन्हींके अन्तर्गत हो जाते हैं।

संगति—विपर्यय-वृत्तिका वर्णन करते हैं—

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—विपर्ययः = विपर्यय; मिथ्याज्ञानम् = मिथ्या ज्ञान है; अ-तद् रूप-प्रतिष्ठम् = जो उसके (पदार्थके) रूपमें प्रतिष्ठित नहीं है अर्थात् जो उस पदार्थके वास्तविक रूपको प्रकाशित नहीं करता है।

अन्वयार्थ—विपर्यय मिथ्या-ज्ञान है, जो उस पदार्थके रूपमें प्रतिष्ठित नहीं है।

व्याख्या—सूत्रमें 'विपर्यय' लक्ष्य है, 'मिथ्या-ज्ञान' लक्षण है और 'अतद्रूपप्रतिष्ठम्' हेतु है। 'अतद्रूपप्रतिष्ठम्' विकल्पमें भी हेतु (कारण) है। इसलिये विकल्प-वृत्तिमें अतिव्याप्ति दोषके निवारणार्थ अर्थात् विकल्पसे विपर्ययमें भिन्नता दिखलानेके लिये, विपर्यय-वृत्तिके लक्षणमें 'मिथ्या-ज्ञानम्' पद दिया गया है।

विषयके समान आकारसे परिणत चित्तवृत्तिको प्रमाण; और विषयसे विलक्षण आकारसे परिणत चित्तवृत्तिको विपर्यय समझना चाहिये।

मिथ्याज्ञान अर्थात् जैसा अर्थ न हो वैसा उत्पन्न हुआ ज्ञान विपर्यय कहलाता है। जैसे सीपमें चाँदीका ज्ञान, रज्जु (रस्सी) में सर्पका अथवा एक चन्द्रमें द्विचन्द्रका ज्ञान; क्योंकि वह उसके रूपमें प्रतिष्ठित (स्थित) नहीं होता अर्थात् उसके असली रूपको प्रकाशित नहीं करता। जो ज्ञान वस्तुके यथार्थरूपसे कभी भी न हटकर वस्तुके यथार्थरूपको ही प्रकाशित करता है वह 'तद्रूपप्रतिष्ठित' वस्तुके रूपमें प्रतिष्ठित (स्थित) होनेके कारण सत्य-ज्ञान, यथार्थज्ञान अर्थात् प्रमाण कहलाता है। जहाँ वस्तु अन्य हो और चित्तवृत्ति अन्य प्रकारकी हो, वहाँ चित्तकी वृत्ति उस वस्तुके यथार्थ रूपमें प्रतिष्ठित (स्थित) नहीं होती है। इसलिये वह अतद्रूपप्रतिष्ठित होनेके कारण विपर्यय-ज्ञान कहलाता है। भाव यह है कि जिस प्रकार पिघली धातु किसी साँचेमें ढाल देनेसे वैसे ही आकारकी हो जाती है और वैसे ही आकारको धारण कर लेती है, तैसे ही चित्त भी बाह्य वस्तुसे सम्बद्ध हुआ संयुक्त वस्तुके समान आकारसे परिणत हो तदाकार हो जाता है। यह चित्तका विषयाकार परिणाम ही प्रमाण-ज्ञान या प्रमाण-वृत्ति कहलाता है। यदि ढाली हुई धातुकी वस्तु किसी दोषके

कारण साँचेके आकारसे विलक्षण अथवा विपरीत हो जाय तो, वह वस्तुका आकार दोषविशिष्ट होनेसे स्वरूपमें अप्रतिष्ठित हुआ दूषित कहलाता है। इसी प्रकार यदि वस्तुके आकारसे चित्तकी वृत्ति किसी दोषके कारण विलक्षण अथवा विपरीत अथवा भिन्न प्रकारकी हो जाय तो वह वृत्तिका आकार भी वस्तुके समानाकार न होनेसे स्वरूपमें प्रतिष्ठित न होनेके कारण दूषित, मिथ्या या भ्रान्त ज्ञान कहा जाता है, जैसा कि सीपमें चाँदी-का ज्ञान, रस्सीमें सर्पका ज्ञान अथवा एक चन्द्रमें द्विचन्द्रका ज्ञान। किसी वस्तुसे विलक्षण अथवा विपरीत चित्तके आकारको ही विपर्यय ज्ञान कहते हैं अर्थात् विषयके समानाकारसे परिणत चित्तवृत्तिको प्रमाण और विषयसे विलक्षण विपरीत अथवा भिन्न आकारसे परिणत चित्तवृत्तिको विपर्यय कहते हैं।

अथवा जो ज्ञान निज-रूपमें प्रतिष्ठित नहीं है, वह अतद्-रूप-प्रतिष्ठित कहा जाता है। अर्थात् सीपमें जो सीपका ज्ञान, रज्जुमें जो रज्जुका ज्ञान और चन्द्रमें जो एकचन्द्रज्ञान है, वह निज-रूपमें प्रतिष्ठित होनेसे प्रमाण ज्ञान है और जो सीपमें चाँदीका ज्ञान, रज्जुमें सर्पका ज्ञान या एकचन्द्रमें द्विचन्द्रका ज्ञान है, वह उत्तर (अगले) कालमें होनेवाले यथार्थ ज्ञानसे बाधित होनेके कारण निज-रूपमें अप्रतिष्ठित है; क्योंकि उत्तर-कालिक (आगे होनेवाला) ज्ञानस्वरूपसे प्रच्युतकर उसकी प्रतिष्ठाको भङ्ग करनेवाला है। इसलिये रज्जु-विषयक रज्जु-ज्ञान किसी ज्ञानसे बाधित न होनेसे स्वरूप-प्रतिष्ठित होनेके कारण प्रमाण है और रज्जु-विषयक सर्प-ज्ञान उत्तरकालिक यथार्थ ज्ञानसे बाधित होनेसे स्वरूपमें अप्रतिष्ठित होनेके कारण विपर्यय ज्ञान है।

जिस प्रकार विपर्यय-ज्ञान रूपाप्रतिष्ठित है, वैसे ही संशय भी उत्तरकालिक ज्ञानसे बाधित होनेसे रूपाप्रतिष्ठित है। इसलिये संशय भी विपर्ययके अन्तर्गत है।

यह विपर्यय-संज्ञक (नामवाली) चित्तकी वृत्ति ही अविद्या कही जाती है। इसलिये अविद्यासंज्ञक विपर्यय ज्ञान अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश-भेदसे पाँच प्रकारका है, जिनका पञ्चक्लेशके नामसे (२-३) में वर्णन किया जायगा। भेद केवल इतना है कि यह विपर्यय चित्तकी एक वृत्तिरूप है और क्लेश वृत्तियोंके संस्काररूप होते हैं।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशक्लेशोंके ही सांख्यपरिभाषामें क्रमसे तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र नामान्तर हैं। इनका विस्तारपूर्वक वर्णन साधनपादके तीसरे सूत्रकी टिप्पणीमें किया जायगा।

विशेष वक्तव्य सूत्र ८—विपर्यय-वृत्ति किस प्रकार अक्लिष्टरूप हो सकती है? इस शंकाको बहुधा जिज्ञासुओंसे सुना गया है। इसलिये उसके कुछ उदाहरणोंको यहाँ दे देना आवश्यक प्रतीत होता है। यह सारा त्रिगुणात्मक जगत् 'अविद्या है', 'माया है', 'स्वप्न है', 'शून्य है', 'विज्ञान है', इत्यादि कल्पनाएँ 'अविद्यावादी', 'मायावादी', 'स्वप्नवादी', 'शून्यवादी', 'विज्ञानवादी' इत्यादिकी भ्रममूलक, अयथार्थ और विपर्ययरूप हैं; क्योंकि त्रिगुणात्मक जडतत्त्वको 'अविद्या,' 'माया' अथवा 'शून्य' माननेमें उसीके अन्तर्गत होनेके कारण सारे वेद-शास्त्र, साधन-सम्पत्ति, पुरुषार्थ, योग-अभ्यास और स्वयं ये सिद्धान्त और युक्तियाँ भी 'अविद्या', 'माया', 'स्वप्न' अथवा 'शून्य' रूप होकर विपर्यय सिद्ध होंगी और सारे सांसारिक तथा पारमार्थिक व्यवहार दूषित हो जायँगे। इसलिये त्रिगुणात्मक जडतत्त्वको 'अविद्या' 'माया' 'स्वप्न' अथवा 'शून्य' मानना विपर्ययवृत्ति है। वास्तवमें इस त्रिगुणात्मक जडतत्त्वको आत्मासे भिन्न अनात्मतत्त्व मानना ही प्रमाणवृत्ति है। इस अनात्मतत्त्वमें आत्माका भान होना अर्थात् उसमें आत्माध्यासरूप विपर्यय-वृत्ति सारे बन्धनोंका कारण होनेसे अत्यन्त क्लिष्टरूप है। इस अनात्मतत्त्वसे आत्माध्यासको हटाना ही मनुष्यका मुख्य प्रयोजन और परम पुरुषार्थ है। इसलिये उपर्युक्त 'अविद्यावादी', 'मायावादी' और 'शून्यवादियों' की विपर्यय वृत्ति बाह्य वाद-विवादको छोड़कर अन्तर्मुख होते समय जड तत्त्वसे आत्माध्यास हटानेमें साधनरूपसे जब सहायक हो तो अक्लिष्टरूप धारण कर लेती है। इसी प्रकार विज्ञान अर्थात् चित्त आत्माको बाह्य जगत् दिखलानेके लिये त्रिगुणात्मक करण अर्थात् साधनरूप ही है। इसलिये इससे अतिरिक्त बाह्य जगत्को न मानना भी विपर्यय है; किंतु अन्तर्मुख होते समय जब साधनरूपसे जड तत्त्वसे आत्माध्यास हटानेमें सहायक हो, तब यह विपर्यय-वृत्ति भी अक्लिष्टरूप धारण कर लेती है।

सङ्गति—विकल्प-वृत्तिका लक्षण बतलाते हैं—

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—शब्द-ज्ञान-अनुपाती = शब्दसे उत्पन्न जो ज्ञान, उसका अनुगामी अर्थात् उसके पीछे चलनेका जिसका स्वभाव है (और जो); वस्तुशून्यः = वस्तुसे शून्य है, वस्तुकी सत्ताकी अपेक्षा नहीं रखता है (इस प्रकारका ज्ञान); विकल्पः = विकल्प कहलाता है।

अन्वयार्थ—शब्दसे उत्पन्न जो ज्ञान, उसके पीछे चलनेका जिसका स्वभाव हो और जो वस्तुकी सत्ताकी अपेक्षा न रखता हो इस प्रकारका ज्ञान विकल्प कहलाता है।

व्याख्या—शब्दके ज्ञानके अनन्तर उदय होनेवाला जो निर्विषयक चित्तका तदाकार परिणाम है, वह विकल्पवृत्ति कहलाता है। यह वृत्ति निर्विषयक होनेके कारण प्रमाणवृत्तिसे भिन्न है और यह विपर्यय वृत्ति भी नहीं है; क्योंकि बोध होनेपर भी इसका व्यवहार चलता रहता है। जैसे 'पुरुषका चैतन्यरूप है' ऐसे शब्द-ज्ञानके अनन्तर जो 'पुरुषका चैतन्यरूप है', ऐसा चित्तका तदाकार परिणाम विकल्पवृत्ति है; क्योंकि इस वृत्तिमें पुरुष विशेषण-रूप और चैतन्य विशेष्यरूप भासता है। परन्तु जैसे 'अश्वका घोड़ा' कहनेसे एक ही पदार्थमें विशेषण-विशेष्य-भाव सम्भव नहीं है, वैसे ही पुरुषमें जो कि चैतन्य ही है विशेषण-विशेष्य-भाव नहीं है। इसलिये 'पुरुषका चैतन्यरूप है' यह ज्ञान निर्विषय होनेसे विकल्पवृत्तिरूप है। 'चैतन्य ही पुरुष है' ऐसा बोध होनेपर भी 'पुरुषका चैतन्यरूप है' ऐसा व्यवहार होता है। इससे यह विपर्ययवृत्तिरूप नहीं है। इसी प्रकार 'अनुत्पत्तिधर्मा पुरुषः' इस शब्दज्ञानके अनन्तर 'उत्पत्तिरूप धर्मके अभाववाला पुरुष है' ऐसा जो ज्ञान उदय होता है, वह भी विकल्प-वृत्ति है; क्योंकि भाव-पदार्थसे अन्य कोई अभाव-पदार्थ नहीं है। इसलिये पुरुषमें उत्पत्तिरूप धर्मके अभावका ज्ञान निर्विषयक है। ऐसा बोध होनेपर भी कि 'भाव-पदार्थसे अतिरिक्त कोई अभाव-पदार्थ नहीं है, उक्त शब्द-ज्ञानके बलसे 'अनुत्पत्तिधर्मा पुरुषः' ऐसा व्यवहार होता ही रहता है। इसलिये 'अनुत्पत्तिधर्मा पुरुषः' 'उत्पत्ति-धर्मके अभाववाला पुरुष है' यह विपर्ययरूप नहीं है, किन्तु विकल्पवृत्तिरूप है।

इसी प्रकार 'राहुका सिर' 'काठकी पुतली' यह ज्ञान भी विकल्पवृत्ति है, क्योंकि 'राहु और सिर' 'काठ और पुतली' का भेद नहीं है। यह ज्ञान भी निर्विषयक होनेसे विकल्प है। प्रमाण, विपर्यय और विकल्प-वृत्तिके भेदको सरल शब्दोंमें यों समझना चाहिये कि प्रमाण वस्तुके यथार्थ ज्ञानको कहते हैं, जैसे सीपमें सीपका ज्ञान। यह यथार्थ ज्ञान वस्तुके रूपमें प्रतिष्ठित होता है। जैसे सीपमें सीपका ज्ञान प्रतिष्ठित है अर्थात् स्थिर है, ठहरा हुआ है, बाध अर्थात् अस्थिर, हटनेवाला नहीं। चित्तमें ऐसे तदाकार परिणामको प्रमाणवृत्ति कहते हैं। विपर्यय वस्तुके मिथ्या-ज्ञानको कहते हैं। जैसे सीपमें चाँदीका ज्ञान प्रतिष्ठित नहीं है, अस्थिर है। सीपके यथार्थ ज्ञान हो जानेपर इसका बाध हो जाता है अर्थात् सीपमें चाँदीका मिथ्याज्ञान हट जाता है। चित्तमें ऐसे तदाकार परिणामको विपर्ययवृत्ति कहते हैं। विकल्प इन दोनोंसे विलक्षण है। यह वस्तुका यथार्थ ज्ञान नहीं है, क्योंकि निर्विषय होता है, अर्थात् कोई वस्तु इस ज्ञानका विषय नहीं होती, किन्तु यह केवल शब्दज्ञानके अनन्तर उदय होता है। यह इसमें प्रमाणसे भिन्नता है। यह मिथ्या-ज्ञान भी नहीं है, क्योंकि जो लोग जानते हैं कि पुरुष और चैतन्य भिन्न-भिन्न नहीं हैं, वे भी ऐसा ही व्यवहार करते हैं। यह इसमें विपर्ययसे भेद है।

साधारण लोगोंको जिसमें बाधबुद्धि उदय हो, वह विपर्यय और निपुण विद्वानोंको विचारद्वारा जिसमें बाध-ज्ञान हो, वह विकल्प समझना चाहिये। यह विकल्पवृत्ति वहाँ होती है, जहाँ अभेदमें भेद या भेदमें

अभेद आरोप किया जाता है। जैसे पुरुष और चैतन्य, राहु और सिर, काठ और पुतली, दो-दो वस्तु नहीं हैं तथापि इस अभेदमें भेद आरोप किया जाता है। लोह और आग, अथवा पानी और आग दो-दो वस्तु हैं, तथापि 'लोहेका गोला जलानेवाला है,' अथवा 'पानीसे हाथ जल गया' इस कथनसे भेदमें अभेद आरोप किया जाता है।

'अहं वृत्ति' भी एक विकल्प-वृत्ति ही है, क्योंकि इसमें चेतन और अहङ्कारके भेदमें अभेद आरोप किया जाता है। पल, घड़ी, दिन, मास आदिकी ज्ञानरूप वृत्तियाँ भी विकल्प-वृत्तियाँ हैं; क्योंकि क्षणोंके भेदमें अभेदका आरोप किया जाता है (३ । ५२)।

गौ आदि शब्दोंमें शब्द, अर्थ और ज्ञानके भेदमें अभेदसे भासनेवाली वृत्ति भी विकल्प-वृत्ति ही है, जिसकी (१ । ४२) में 'सवितर्क समापत्ति' संज्ञा की है।

टिप्पणी—विज्ञानभिक्षुने इस सूत्रका अर्थ निम्न प्रकार किया है—

शब्द-ज्ञान-अनुपाती = शब्द और ज्ञान जिसके पीछे आते हैं; वस्तुशून्यः = और वस्तुसे जो शून्य है; विकल्पः = वह विकल्प है। अर्थात् यह ज्ञान वस्तुसे शून्य है, ऐसा जाननेवाले विवेकी भी ऐसा ही कहते और समझते हैं।

संगति—निद्रा-वृत्तिका स्वरूप बतलाते हैं—

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

शब्दार्थ—अभाव-प्रत्यय-आलम्बना = (जाग्रत् तथा स्वप्नावस्थाकी वृत्तियोंके) अभावकी प्रतीतिको आश्रय करनेवाली; वृत्तिः = वृत्ति; निद्रा = निद्रा है।

अन्वयार्थ—(जाग्रत् तथा स्वप्नावस्थाकी वृत्तियोंके) अभावकी प्रतीतिको आश्रय करनेवाली वृत्ति निद्रा है।

व्याख्या—निद्रा 'वृत्ति' ही है; इसको सूचित करनेके लिये सूत्रमें वृत्ति ग्रहण है। कई आचार्य निद्राको वृत्ति नहीं मानते हैं, किन्तु योगके आचार्य आत्मस्थितिसे अतिरिक्त चित्तकी प्रत्येक अवस्थाको वृत्ति ही मानते हैं।

'अभाव' शब्दसे जाग्रत् और स्वप्नावस्थाकी वृत्तियोंका अभाव, अथवा जाग्रत् और स्वप्नकी वृत्तियोंके अभावका हेतु तमोगुणको जानना चाहिये।

रजोगुणका धर्म क्रिया और प्रवृत्ति है। जाग्रत्-अवस्थामें चित्तमें रजोगुण प्रधान होता है। इसलिये वह सत्त्वगुणको गौणरूपसे अपना सहकारी बनाकर अस्थिर रूपसे क्रियामें अर्थात् विषयोंमें प्रवृत्त करनेमें लगा रहता है। तमोगुणका धर्म स्थिति, दबाना, रोकना अर्थात् प्रकाश और क्रियाको रोकना है। सुषुप्ति-अवस्थामें तमोगुण रजस् तथा सत्त्वको प्रधानरूपसे दबा देता है। इसलिये चित्तमें तमोगुणका ही परिणाम प्रधानरूपसे होता रहता है। उस समय चित्तमें अभावकी ही प्रतीति होती है। जिस प्रकार एक अँधेरे कमरेमें सब वस्तुएँ छिप जाती हैं, किन्तु सब वस्तुओंको छिपानेवाला अन्धकार दिखलायी देता है, जो वस्तुओंके अभावकी प्रतीति कराता है, इसी प्रकार तमोगुण सुषुप्ति-अवस्थामें चित्तकी सब वृत्तियोंको दबाकर स्वयं स्थिररूपसे प्रधान रहता है, किन्तु रजोगुणका नितान्त अभाव नहीं होता है, तनिक मात्रामें रहता हुआ वह इस अभावकी भी प्रतीति कराता रहता है। चित्तके ऐसे परिणामको निद्रा-वृत्ति कहते हैं।

तब चित्तमें तमोगुणवाली, 'मैं सोता हूँ' इस प्रकारकी वृत्ति होती है। इस वृत्तिके संस्कार चित्तमें उत्पन्न होते हैं, फिर उससे स्मृति होती है कि 'मैं सोया और मैंने कुछ नहीं जाना'। यहाँपर इतना विशेष यह भी जान लेना कि जिस निद्रामें सत्त्वगुणके लेशसहित तमोगुणका प्रचार होता है, उस निद्रासे उठकर पुरुषको 'मैं सुखसे सोया, मेरा मन प्रसन्न है और मेरी प्रज्ञा स्वच्छ है' इस प्रकारकी स्मृति होती है;

और जिस निद्रामें रजोगुणके लेशसहित तमोगुणका संचार होता है उससे उठनेपर इस प्रकारकी स्मृति होती है—'मैं दुःखपूर्वक सोया, मेरा मन अस्थिर और घूमता-सा है' और जिस निद्रामें केवल तमोगुणका प्राबल्य होता है तो उससे उठनेपर 'मैं बेसुध सोया, मेरे शरीरके अङ्ग भारी हो रहे हैं, मेरा चित्त व्याकुल है' इस प्रकारकी स्मृति होती है। यदि उस वृत्तिका प्रत्यक्ष न हो तो उसके संस्कार भी न हों; और संस्कारोंके न होनेसे स्मृति भी नहीं हो सकती। इसलिये निद्रा एक वृत्ति है, वृत्तिमात्रका अभाव नहीं है। श्रुति और स्मृतियोंने भी निद्राको वृत्ति ही माना है।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः।

जाग्रत्, स्वप्न और निद्रा—ये गुणोंसे बुद्धिकी वृत्तियाँ हैं। एकाग्रताके तुल्य होते हुए भी निद्रा तमोमयी होनेसे सबीज तथा निर्बीज-समाधिकी विरोधिनी है, इसलिये रोकने योग्य है।

नशा तथा क्लोरोफार्म आदिसे उत्पन्न हुई मूर्च्छित-अवस्था भी निद्रा-वृत्तिके ही अन्तर्गत है।

विशेष विचार सूत्र १०—सुषुप्ति तथा प्रलय-कालमें तमोगुणप्रधान अन्धकारमें चित्तका लय होता है; और असम्प्रज्ञात समाधिकी अवस्थामें अविद्या आदि क्लेशोंसे रहित पुरुषके निज-रूपमें चित्त अवस्थित रहता है और पुरुष स्वरूपमें अवस्थित होता है।

सुषुप्ति व्यष्टि-चित्तोंकी अवस्था है और प्रलय समष्टि-चित्त अर्थात् महत्तत्त्वकी सुषुप्ति है।

असम्प्रज्ञात-समाधिमें चित्तमें संस्कार-शेष अर्थात् निरोधके संस्कार रहते हैं जिनके दुर्बल होनेपर व्युत्थान-अवस्थामें लौटना होता है। कैवल्य (मुक्ति) में संस्कारशेष भी निवृत्त हो जाते हैं, इसलिये पुनः आवृत्ति नहीं होती।

टिप्पणी—'प्रत्यय' पदका अर्थ ज्ञान, प्रतीति, वृत्ति तथा कारण भी है। वाचस्पतिमिश्रने प्रत्यय पदका 'कारण' रूप अर्थ मानकर सूत्रका निम्न प्रकार अर्थ किया है—जाग्रत् तथा स्वप्नकी वृत्तियोंके अभावका प्रत्यय (कारण) जो बुद्धिनिष्ठ सत्त्वगुणका आच्छादक तमोगुण या अज्ञान है आलम्बन (विषय) जिस चित्तवृत्तिका, वह निद्रा कहलाती है।

संगति—क्रमसे प्राप्त स्मृतिका वर्णन करते हैं—

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—अनुभूत = अनुभव किये हुए, जाने हुए; विषय = (किसी) विषयका; असम्प्रमोषः = जो चुराया हुआ न हो (फिर चित्तमें) उससे अधिकका नहीं, किंतु आरोहपूर्वक तन्मात्रविषयक ज्ञान होना; स्मृतिः = स्मृति है।

अन्वयार्थ—अनुभव किये हुए विषयका फिर चित्तमें आरोहपूर्वक उससे अधिक नहीं, किंतु तन्मात्रविषयक ज्ञान होना स्मृति है*।

व्याख्या—स्मृतिसे भिन्न ज्ञानका नाम अनुभव है। अनुभवसे ज्ञात (जानी हुई) वस्तुको अनुभूत कहते हैं। जब किसी दृष्ट अथवा श्रुत (देखी या सुनी हुई) आदि वस्तुका ज्ञान होता है, तब एक प्रकारका उस अनुभूत वस्तुका तदाकार संस्कार चित्तमें पड़ जाता है। फिर जब किसी समयमें उद्बोधक सामग्रीके उपस्थित होनेपर वह संस्कार-प्रफुल्लित हो जाता है, तब चित्त इस संस्कारविषयक परिणामको प्राप्त हो

* यदि 'असम्प्रमोषः' के अर्थ 'न खोया जाना' लगायें तब सूत्रके यह अर्थ होंगे "अनुभव किये हुए विषयका न खोया जाना अर्थात् किसी अभिव्यञ्जकको पाकर संस्कारप्रफुल्लित हो जाना स्मृति है।"

जाता है। यह अनुभूत पदार्थविषयक चित्तका तदाकार परिणाम स्मृति-वृत्ति कहलाता है। प्रमाण, विपर्यय और विकल्पद्वारा जाग्रत् अवस्थामें जिस किसी वस्तुको अनुभव करते हैं तो उस अनुभवसे चित्तपर संस्कार पड़ते हैं। उन संस्कारोंसे स्मृति होती है। अनुभव-सदृश संस्कार होते हैं और संस्कार-सदृश स्मृति होती है। निद्रामें अभावका अनुभव होता है। उसके संस्कारसे भी उसके सदृश स्मृति पैदा होती है। इसी प्रकार स्मृतिके भी संस्कार पड़ते हैं और उनसे भी उसके सदृश स्मृति होती है। स्मृतिका विषय अनुभूतिसे कम अथवा उसके बराबर हो सकता है, उससे अधिक नहीं हो सकता है। स्वप्न भी जाग्रत्-अवस्थाके अनुभूत पदार्थोंकी स्मृति है। इसमें जाग्रत्के स्मर्तव्य विषय भी दिखलायी देते हैं, किंतु वे सब कल्पित होते हैं। यह स्मृतिकी स्मृति है। इसमें यह यथार्थ ज्ञान नहीं होता कि हम स्मरण कर रहे हैं। इसको भावित-स्मर्तव्य-स्मृति कहते हैं। जाग्रत् अवस्थामें जो स्मृति होती है, उसमें स्मर्तव्य विषय नहीं दिखलायी देता; किंतु हमको ज्ञान होता है कि हम स्मरण कर रहे हैं; यह वास्तविक स्मृति है। इसको अभावित-स्मर्तव्य-स्मृति कहते हैं। स्मृतिको सबसे अन्तमें लिखनेका कारण यह है कि यह वृत्ति प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृतिके अनुभव-जन्य संस्कारोंसे उत्पन्न होती है।

सम्प्रमोष नाम "मुष स्तेये" धातुसे तस्करता स्तेय अर्थात् चोरीका है। इसलिये असम्प्रमोषका अर्थ तस्करताका अभाव है। जिस प्रकार लोकमें पुत्रके लिये पितासे छोड़ी हुई वस्तुका ग्रहण करना असम्प्रमोष, अस्तेय अर्थात् चोरी नहीं है, किंतु दूसरोंकी छोड़ी हुई वस्तु ग्रहण करना (चोरी) है, इसी प्रकार अनुभव, स्मरण-ज्ञानका पिता है; क्योंकि स्मरण-ज्ञान अनुभवसे ही उत्पन्न होता है। अनुभूत विषय अनुभवद्वारा छोड़ी हुई सम्पत्तिके तुल्य है। इसलिये स्मरण-ज्ञानका अनुभूत विषयसे अधिक प्रकाश करना सम्प्रमोष (चोरी) अर्थात स्मृति नहीं है। केवल अनुभूत विषयको ही उसके बराबर अथवा उससे न्यून (कम) प्रकाश करना (अधिक नहीं) असम्प्रमोष है अर्थात् स्मृति है। इसलिये स्मृतिका विषय अनुभूत विषयसे कम हो सकता है, अधिक नहीं हो सकता।

यहाँ यह शङ्का उत्पन्न होती है कि चित्त जो स्मरण करता है वह प्रत्यय-मात्र (ज्ञानमात्र ग्रहण-मात्र) का स्मरण करता है या ग्राह्यमात्र (विषयमात्र) या ग्राह्य-ग्रहण (विषय और ज्ञान)—इन दोनोंका स्मरण करता है? इसका समाधान यह है कि यद्यपि ज्ञानविषयक अनुभवके अभावसे विषयका ही स्मरण होना सम्भव है तथापि पूर्व अनुभवको ग्राह्य-ग्रहण उभयाकारविशिष्ट होनेसे उनसे उत्पन्न हुआ संस्कार भी उन दोनों आकारोंसे संयुक्त होकर ग्राह्य-ग्रहण दोनों स्वरूपवाली स्मृतिको उत्पन्न करता है, एक-विषयक-को नहीं। इसलिये ज्ञान-सम्बद्ध विषयका ही स्मरण होता है; न केवल ज्ञानका और न केवल विषयका अर्थात् अनुभव, आकार, स्मरण—ये तीनों समान ही आकारसे भान होते हैं, विभिन्न आकारसे नहीं। 'अहं घटं जानामि' मैं घट-विषयक ज्ञानवाला हूँ, इस अनुभवमें घट और ज्ञान दोनोंका ही भान होता है। इससे अनुभव-जन्य संस्कार भी दोनों विषयोंवाला मानना पड़ेगा। इसी प्रकार इस संस्कारसे उत्पन्न होनेवाली स्मृति भी दोनों विषयवाली होगी, एक विषयवाली नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि ग्राह्य और ग्रहण—इन दोनोंका ही स्मृति प्रकाश करती है, एकका नहीं।

यह स्मृति दो प्रकारकी है। एक भावित-स्मर्तव्य अर्थात् मिथ्या-पदार्थ-विषयक जो कि स्वप्नमें होती है; और एक अभावित-स्मर्तव्य अर्थात् यथार्थ पदार्थको विषय करनेवाली जो कि जाग्रत्-कालमें होती है, जैसा ऊपर व्याख्यामें बतला आये हैं।

यह प्रमाणादि पाँच भेदोंवाली उपर्युक्त सूत्रोंमें बतलायी हुई वृत्तियाँ सात्त्विक, राजस और तामस होनेसे सुख, दुःख और मोहस्वरूप हैं, और सुख, दुःख और मोह क्लेशस्वरूप हैं। इसलिये ये सब वृत्तियाँ ही निरोध करने योग्य हैं। मोह स्वयं अविद्यारूप होनेसे सर्वदुःखोंका मूल है। दुःखकी वृत्तियाँ स्वयं दुःखरूप ही हैं। सुखकी वृत्तियाँ सुखके विषयों और उनके साधनोंमें राग उत्पन्न कराती हैं। 'सुखानुशयी रागः' (२। ७) 'सुख-भोगके पश्चात् जो उसकी वासना रहती है, वह राग है'। उन सुखके विषयों और उनके साधनोंमें विघ्न होनेपर द्वेष उत्पन्न होता है 'दुःखानुशयी द्वेषः' (२। ८)। इसलिये क्लेशजनक सुख, दुःख, मोहस्वरूप होनेसे सब प्रकारकी वृत्तियाँ त्याज्य हैं। इनके निरोध होनेपर सम्प्रज्ञातयोग सिद्ध होता है। तदनन्तर पर वैराग्यके उदय होनेसे असम्प्रज्ञात-योग सिद्ध होता है।

विशेष विचार सूत्र ११—स्वप्न जागने और सोनेके बीचकी अवस्था है। सूत्रकी व्याख्यामें स्वप्नमें हमने भावित-स्मर्तव्य अर्थात् मिथ्या पदार्थविषयक स्मृतिका होना बतलाया है। स्वप्न भी अन्तः-करणके गुणभेदसे तीन प्रकारके होते हैं। तामसिक स्वप्न, राजसिक स्वप्न और सात्त्विक स्वप्न। जब स्वप्नमें तमोगुणकी प्रधानता होती है, तब कुछ-से-कुछ विचित्र स्वप्न दिखलायी देते हैं। अर्थात् सारी वस्तुएँ अस्थिर रूपसे दिखलायी देती हैं और जागनेपर उनकी कुछ भी ठीक-ठीक स्मृति नहीं रहती। यह स्वप्नकी अधम अवस्था तामसिक है। जिस समय स्वप्न-अवस्थामें रजोगुण अधिक होता है, उस समय जाग्रत्-दशामें देखे हुए पदार्थ ही कुछ रूपान्तरसे दृष्टिगोचर होते हैं और उनकी स्मृति जागनेपर रहती है। यह स्वप्नकी मध्यम अवस्था राजसिक है। ये दोनों प्रकारके स्वप्न भावित-स्मर्तव्य स्मृतिवाले होते हैं। जो स्वप्न सच्चे होते हैं अर्थात् जिनका फल सच्चा होता है, वे सात्त्विक कहलाते हैं और यह स्वप्नकी उत्तम अवस्था है। यह अधिकतर योगियोंको होती है और कभी-कभी साधारण लोगोंको भी सत्त्वके उदय होनेपर। तमके दबने और सत्त्वके प्रधान रूपसे उदय होनेके कारण यह स्वप्नकी अवस्था अकस्मात् ही एक प्रकारसे वितर्कानुगतकी भूमि बन जाती है और उस-जैसा ही अनुभव होने लगता है। इसलिये इसको भावित-स्मर्तव्य स्मृतिकी कोटिमें नहीं रखना चाहिये।

संगति—उपर्युक्त सात सूत्रोंमें पाँचों प्रकारकी वृत्तियोंका निरूपण करके अब अगले सूत्रमें उनके निरोधका उपाय बतलाते हैं—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—अभ्यास-वैराग्याभ्यां = अभ्यास और वैराग्यसे; तत्-निरोधः = उनका (वृत्तियोंका) निरोध होता है।

अन्वयार्थ— अभ्यास और वैराग्यसे उन वृत्तियोंका निरोध होता है।

व्याख्या—चित्तवृत्ति निरुद्ध करनेके दो उपाय हैं—अभ्यास और वैराग्य। चित्तका स्वाभाविक बहिर्मुख प्रवाह वैराग्यद्वारा निवृत्त होता है। अभ्यासद्वारा आत्मोन्मुख आन्तरिक प्रवाह स्थिर हो जाता है।

भगवान् व्यासदेवजीने अभ्यास और वैराग्यको बड़े सुन्दर रूपकसे वर्णन किया है, जो इस प्रकार है—

चित्त एक नदी है, जिसमें वृत्तियोंका प्रवाह बहता है! इसकी दो धाराएँ हैं। एक संसार-सागर-की ओर, दूसरी कल्याण-सागरकी ओर बहती है। जिसने पूर्व जन्ममें सांसारिक विषयोंके भोगार्थ कार्य

किये हैं, उसकी वृत्तियोंकी धारा उन संस्कारोंके कारण विषय-मार्गसे बहती हुई संसार-सागरमें जा मिलती है और जिसने पूर्व-जन्ममें कैवल्यार्थ काम किये हैं, उसकी वृत्तियोंकी धारा उन संस्कारोंके कारण विवेक-मार्गमें बहती हुई कल्याण-सागरमें जा मिलती है। संसारी लोगोंकी प्रायः पहली धारा तो जन्मसे ही खुली होती है; किंतु दूसरी धाराको शास्त्र, गुरु, आचार्य तथा ईश्वरचिन्तन खोलते हैं। पहली धाराको बंद करनेके लिये विषयोंके स्रोतपर वैराग्यका बन्ध लगाया जाता है और अभ्यासके बेलचेसे दूसरी धाराका मार्ग गहरा खोदकर वृत्तियोंके समस्त प्रवाहको विवेक-स्रोतमें डाल दिया जाता है। तब प्रबल वेगसे वह सारा प्रवाह कल्याणरूपी सागरमें जाकर लीन हो जाता है। इस कारण अभ्यास तथा वैराग्य दोनों ही इकट्ठे मिलकर चित्तकी वृत्तियोंके निरोधके साधन हैं।

जिस प्रकार पक्षीका आकाशमें उड़ना दोनों ही पक्षोंके अधीन है, न केवल एक पक्षके। इसी प्रकार समस्त वृत्तियोंका निरोध न केवल अभ्याससे ही और न केवल वैराग्यसे ही हो सकता है, किंतु उसके लिये अभ्यास और वैराग्य दोनोंका ही समुच्चय होना आवश्यक है।

तमोगुणकी अधिकतासे चित्तमें लय-रूप निद्रा, आलस्य, निरुत्साह आदि मूढावस्थाका दोष उत्पन्न होता है और रजोगुणकी अधिकतासे चित्तमें चञ्चलतारूप विक्षेप दोष उत्पन्न होता है। अभ्याससे तमोगुणकी निवृत्ति होती है और वैराग्यसे रजोगुणकी।

सूत्र--२।२८ में बतलाये हुए योगके आठ अङ्गोंमेंसे यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार; जो पाँच बहिरङ्ग हैं उनकी सिद्धिमें अभ्यास अधिक सहायक होता है और तीन अन्तरङ्ग, धारणा, ध्यान और समाधिमें वैराग्य।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने भी अर्जुनको, मनको रोकनेके अभ्यास, वैराग्य दोनों ही समुच्चयरूपसे साधन बतलाये हैं।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

(गीता ६।३५)

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः। वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

(गीता ६।३६)

हे महाबाहो! निस्संदेह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है; परंतु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! अभ्यास और वैराग्यके द्वारा वशमें हो जाता है।

मनको वशमें न करनेवाले पुरुषद्वारा योग प्राप्त होना कठिन है, यह मैं जानता हूँ; किंतु स्वाधीन मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधन करनेसे प्राप्त हो सकता है।

संगति--वृत्तियोंको रोकनेके उपाय अभ्यास और वैराग्यमेंसे प्रथम अभ्यासका स्वरूप और प्रयोजन अगले सूत्रमें बतलाते हैं--

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः॥ १३॥

शब्दार्थ--तत्र = उन दोनों अभ्यास और वैराग्यमेंसे; स्थितौ = चित्तकी स्थितिमें; यत्नः = यत्न करना; अभ्यासः = अभ्यास है।

अन्वयार्थ--उनमेंसे चित्तकी स्थितिके विषयमें यत्न करना अभ्यास है।

व्याख्या—चित्तके वृत्तिरहित होकर शान्त प्रवाहमें बहनेकी स्थिति कहते हैं। उस स्थितिके प्राप्त करनेके लिये वीर्य (पूर्ण सामर्थ्य) और उत्साहपूर्वक यत्न करना अभ्यास कहलाता है।

यम, नियम आदि योगके आठ अङ्गोंका बार-बार अनुष्ठानरूप प्रयत्न अभ्यासका स्वरूप है; और चित्तवृत्तियोंका निरोध होना अभ्यासका प्रयोजन है।

पठन-पाठन, लेखन, पाक, क्रय-विक्रय, सीवन, नृत्य-गायन आदि सर्व कार्य अभ्याससे ही सिद्ध होते हैं। अभ्यासके बलसे रस्सीपर चढ़े हुए नट तथा सरकस आदिमें न केवल मनुष्य किन्तु सिंह, अश्व आदि पशु अपनी प्रकृतिके विरुद्ध आश्चर्यजनक कार्य करते हुए देखे जाते हैं। अभ्यासके प्रभावसे अति दुःसाध्य कार्य भी सिद्ध हो सकते हैं। इसलिये जब मुमुक्षु चित्तकी स्थिरताके लिये अभ्यासनिष्ठ होगा, तब वह स्थिरता भी उसको अवश्य प्राप्त होकर चित्त वशीभूत हो जायगा; क्योंकि अभ्यासके आगे कोई कार्य दुष्कर नहीं है।

सङ्गति—राजस-तामस वृत्तियोंके अनादि प्रबल संस्कार चित्तकी एकाग्रताके विरोधी हैं। उनसे प्रतिबद्ध (घिरा हुआ) अभ्यास एकाग्रतारूप स्थिति सम्पादन करानेमें कैसे समर्थ होगा? इस शङ्काकी निवृत्ति अगले सूत्रमें अभ्यासके दृढ़-भूमि होनेसे बतलाते हैं—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—सः = वह (पूर्वोक्त अभ्यास); तु = किन्तु; दीर्घकाल = बहुत कालपर्यन्त; नैरन्तर्य = निरन्तर अर्थात् लगातार व्यवधानरहित; सत्कार-आसेवितः = सत्कारसे ठीक-ठीक सेवन किया हुआ अर्थात् श्रद्धा, वीर्य, भक्तिपूर्वक अनुष्ठान किया हुआ; दृढभूमिः = दृढ अवस्थावाला हो जाता है।

अन्वयार्थ—किन्तु वह पूर्वोक्त अभ्यास दीर्घ कालपर्यन्त निरन्तर व्यवधानरहित ठीक-ठीक श्रद्धा, वीर्य, भक्तिपूर्वक अनुष्ठान किया हुआ दृढ़ अवस्थावाला हो जाता है।

व्याख्या—विषयभोग वासनाजन्य व्युत्थानके संस्कार मनुष्यके चित्तमें अनादि जन्म-जन्मान्तरोंसे पड़े चले आ रहे हैं। उनको थोड़े-से ही समयमें बीजसहित नष्ट कर देना अत्यन्त कठिन है। वे निरोधके संस्कारोंको तनिक-सी भी असावधानी होनेपर दबा सकते हैं। इस कारण अभ्यासको दृढ़भूमि बनानेके हेतु धैर्यके साथ दीर्घ कालपर्यन्त लगातार श्रद्धा और उत्साहपूर्वक प्रयत्न करते रहना चाहिये।

सूत्रमें तीन विशेषणसे किया हुआ अभ्यास दृढ़भूमि अर्थात् दृढ़ अवस्थावाला बतलाया है। (१) पहिला विशेषण दीर्घ काल है। वहाँ दीर्घ कालसे दस-बीस आदि वर्षोंका नियम नहीं है, क्योंकि योगके अधिकारी भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं। जिन्होंने पूर्व जन्मोंमें अभ्यासके संस्कारोंको दृढ़ कर लिया है और जिनका वैराग्य भी तीव्र है, उनको शीघ्र या अति शीघ्र समाधि-लाभ होता है। इतर जनोंको शीघ्र समाधि-लाभ नहीं होता। उन्हें निराश न होना चाहिये, किन्तु धैर्यके साथ चिरकालतक एकाग्रता-निमित्त दृढ़ अवस्थाके लिये अभ्यासका सेवन करते रहना चाहिये। (२) दूसरा विशेषण 'नैरन्तर्य' है अर्थात् अभ्यासको लगातार निरन्तर व्यवधानरहित करते रहना चाहिये। ऐसा न हो कि एक मास अभ्यास किया, फिर दस दिनके लिये छोड़ दिया; फिर तीन मास किया, पुनः एक मास बन्द कर दिया; इस प्रकार व्यवधानके साथ किया हुआ अभ्यास बहुत समयमें भी दृढ़भूमि नहीं होता। इसलिये बिना व्यवधानके अभ्यासको निरन्तर करते रहना चाहिये। (३) तीसरा विशेषण 'सत्कारासेवितः' है अर्थात्

वह अभ्यास ठीक-ठीक संस्कारपूर्वक श्रद्धा, भक्ति, वीर्य, ब्रह्मचर्य और उत्साहपूर्वक अनुष्ठान किया जाना चाहिये। दीर्घकालतक निरन्तर सेवन किया हुआ अभ्यास भी विना इस विशेषणके दृढ़ अवस्थावाला न हो सकेगा। इन तीनों विशेषणोंसे युक्त अभ्यास न केवल व्युत्थानरूप राजस-तामस वृत्तियोंके संस्कारोंसे प्रतिबद्ध न हो सकेगा, किन्तु इन संस्कारोंको तिरोभूत करके चित्तकी स्थिरतारूप प्रयोजनके सिद्ध करनेमें समर्थ होगा।

अतः अभ्यासी जनोंको थोड़े कालमें ही अभ्याससे घबरा न जाना चाहिये, किन्तु दृढ़भूमि-प्राप्तिके लिये दीर्घकाल निरन्तर सत्कारसे अभ्यास करते रहना चाहिये।

विशेष विचार—श्रद्धा तीन प्रकारकी बतलायी गयी है।

यथा—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिप्रकृतिभेदतः।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसीति बुभुत्सवः॥
तासां तु लक्षणं विप्राः शृणुध्वं भक्तिभावतः।
श्रद्धा सा सात्त्विकी ज्ञेया विशुद्धज्ञानमूलिका॥
प्रवृत्तिमूलिका चैव जिज्ञासामूलिका परा।
विचारहीनसंस्कारमूलिका त्वन्तिमा मता॥

अर्थात् देहधारियोंकी प्रकृतिके भेदानुसार सात्त्विक, राजसिक और तामसिक तीन प्रकारकी श्रद्धा होती है। विशुद्ध ज्ञानमूलक श्रद्धा सात्त्विक है, प्रवृत्ति और जिज्ञासामूलक श्रद्धा राजसिक है और विचारहीन संस्कारमूलक श्रद्धा तामसिक है। इनमेंसे सात्त्विक श्रद्धा ही श्रेष्ठ है। सूत्रमें इसी श्रद्धाका 'सत्कार' शब्दसे अनुष्ठान करना बतलाया गया है।

संगति—वैराग्य दो प्रकारका है—अपर-वैराग्य और पर-वैराग्य। अगले सूत्रमें प्रथम अपर-वैराग्यका स्वरूप बतलाते हैं—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्॥ १५॥

शब्दार्थ—दृष्ट-आनुश्रविक-विषय-वितृष्णस्य = दृष्ट और आनुश्रविक विषयोंमें जिसको कोई तृष्णा नहीं है उसका; वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् = वशीकार नामवाला वैराग्य है।

अन्वयार्थ—दृष्ट और आनुश्रविक विषयोंमें जिसको तृष्णा नहीं रही है, उसका वैराग्य वशीकार नामवाला अर्थात् अपर-वैराग्य है।

व्याख्या—विषय दो प्रकारके हैं—दृष्ट और आनुश्रविक। दृष्ट वे हैं जो इस लोकमें दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, धन, सम्पत्ति, अन्न, खानपान, स्त्री, राज, ऐश्वर्य इत्यादि। आनुश्रविक वे हैं जो वेद और शास्त्रोंद्वारा सुने गये हैं, ये भी दो प्रकारके होते हैं—

(क) शरीरान्तर-वेद्य, जैसे देवलोक, स्वर्ग, विदेह और प्रकृतिलयका आनन्द (१।१९) इत्यादि।

(ख) अवस्थान्तर-वेद्य, जैसे दिव्य-गन्ध-रस आदि (१।३५), अथवा तीसरे पादमें वर्णन की हुई सिद्धियाँ आदि।

इन दोनों प्रकारके दिव्य और अदिव्य विषयोंकी उपस्थितिमें भी जब चित्त प्रसंख्यान ज्ञानके बलसे

इनके दोषों (२ । १५) को देखता हुआ इनके सङ्ग-दोषसे सर्वथा रहित हो जाता है; न इनको ग्रहण करता है, न परे ही हटाता है अर्थात् जब इनमें उसका ग्रहण करानेवाला राग और परे हटानेवाला द्वेष—दोनों निवृत्त हो जाते हैं। जैसा कि कहा गया है—

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ।

'विकारका कारण उपस्थित होनेपर भी जिनके चित्तोंमें विकार उत्पन्न नहीं होता, वे ही धीर हैं।'

इस प्रकार चित्त एकरस बना रहता है। चित्तकी ऐसी अवस्थाका नाम वशीकारसंज्ञा वैराग्य है।' इसीको अपर-वैराग्य कहते हैं, जिसकी अपेक्षासे दूसरे सूत्रमें परवैराग्य बतलाया है।

किसी विषयके केवल त्यागनेका नाम वैराग्य नहीं है; क्योंकि रोग आदिके कारण भी विषयोंसे अरुचि हो जाती है, जिससे उनका त्यागना होता है। किसी विषयके अप्राप्त होनेपर भी उसका भोग नहीं किया जा सकता है। दिखावेके लिये तथा भय, लोभ और मोहके वशीभूत होकर, अथवा दूसरोंके आग्रहसे भी किसी विषयको त्यागा जा सकता है; परंतु उसकी तृष्णा सूक्ष्मरूपसे मनमें बनी रहती है।

विवेकद्वारा विषयोंको अनन्त दुःखरूप और बन्धनका कारण समझकर उनमें पूर्णतया अरुचिका हो जाना तथा उनमें सर्वथा सङ्ग-दोषसे निवृत्त हो जाना ही वैराग्य कहा जा सकता है।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

विषयोंकी कामना विषयोंके भोगसे कभी शान्त नहीं होती है, किंतु हवि डालनेसे अग्निकी ज्वालाके सदृश और अधिक बढ़ती है।

इसी प्रकार भर्तृहरिजीने कहा है—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥

अर्थात् भोग नहीं भोगे गये (भोगोंको हमने नहीं भोगा), किंतु हमीं भोगे गये; तप नहीं तपे, हमीं तप गये; समय नहीं बीता, किंतु हमीं बीत गये; तृष्णा जीर्ण नहीं हुई, किंतु हमीं जीर्ण हो गये।

वैराग्यकी चार संज्ञाएँ (नाम) हैं—यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार।

यतमान—चित्तमें स्थित चित्तके मूलरूप राग-द्वेष आदि दोष ही इन्द्रियोंके अपने-अपने विषयोंमें प्रवर्तक हैं। उन राग-द्वेष आदि दोषोंका बार-बार चिन्तनरूप प्रयत्न जिससे इन्द्रियोंको उन विषयोंमें प्रवृत्त न कर सकें, यतमान-संज्ञक वैराग्य है।

व्यतिरेक—फिर विषयोंमें दोषोंके चिन्तन करते-करते निवृत्त और विद्यमान चित्त मलरूप दोषोंका व्यतिरेक निश्चय अर्थात् इतने मल निवृत्त हो गये हैं, इतने निवृत्त हो रहे हैं, इतने निवृत्त होनेवाले हैं, इस प्रकार जो निवृत्त और विद्यमान चित्तमलोंका पृथक्-पृथक् रूपसे ज्ञान है, वह व्यतिरेक-संज्ञक वैराग्य है।

एकेन्द्रिय—जब यह चित्तमलरूपी रागादि दोष बाह्य इन्द्रियोंको तो विषयोंमें प्रवृत्त करनेमें असमर्थ हो गये हों किंतु सूक्ष्मरूपसे मनमें बने रहें, जिससे विषयोंको संनिधिसे चित्तमें फिर क्षोभ उत्पन्न कर सकें तब यह वैराग्यकी अवस्था ऐकेन्द्रियसंज्ञक है।

वशीकार—सूक्ष्मरूपसे भी जब चित्तके मल-रागादि दोषोंकी निवृत्ति हो जाय और दिव्य-अदिव्य विषयोंके उपस्थित होनेपर भी उपेक्षा-बुद्धि रहे, तब यह तीनों संज्ञाओंसे परे वशीकार-संज्ञक वैराग्य है अर्थात् यह ज्ञान कि 'ममैते वश्या नाहमेतेषां वश्य इति' मेरे ये वशीभूत हैं, मैं इनके वशीभूत नहीं हूँ।

ये पहिली तीन भूमिवाले वैराग्य-निरोधके साक्षात् हेतु नहीं हैं। निरोधका साक्षात् हेतु चौथी भूमिवाला वशीकार-संज्ञक वैराग्य ही है। इसलिये सूत्रकारने इसीका वर्णन किया है। किंतु यह भूमि पहिली तीन भूमियोंको क्रमसे लाँघकर ही प्राप्त होती है। इसका दूसरा नाम अपर-वैराग्य है। इसका फल सम्प्रज्ञात-समाधि है, जिसकी सबसे ऊँची भूमि पुरुष और चित्तकी भिन्नता प्रतीत करानेवाली विवेक-ख्याति है। किंतु यह भी त्रिगुणात्मक चित्तकी ही एक वृत्ति है। इससे विरक्त हो जाना पर-वैराग्य है, जिसका फल असम्प्रज्ञात-समाधि है।

संगति—सम्प्रज्ञात-समाधिके साधन अपर-वैराग्यको बतलाकर अब अगले सूत्रमें असम्प्रज्ञात-समाधिका साधन पर-वैराग्यका वर्णन करते हैं—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—तत्=वह=वैराग्य; परम्=पर (सबसे ऊँचा) है जो; पुरुषख्यातेः=प्रकृति-पुरुष-विषयक विवेकज्ञान-सत्त्व-पुरुषान्यता-ख्याति-विवेकख्यातिके उदय होनेसे; गुण-वैतृष्ण्यम्='गुणोंमें तृष्णारहित हो जाना है।

अन्वयार्थ—विवेकख्यातिद्वारा गुणोंसे तृष्णारहित हो जाना पर-वैराग्य है।

व्याख्या—अपर-वैराग्य दिव्य-अदिव्य आदि विषयोंमें तृष्णारहित हो जाना है। पर-वैराग्य जहाँतक गुणोंका अधिकार है, उन सबमें तृष्णारहित हो जाना है। अपर-वैराग्यद्वारा योगी दृष्ट-आनुश्रविक विषयोंमें दोष देखकर उनसे विरक्त होता है। जब चित्तसे उनकी तृष्णा निवृत्त हो जाती है, तब चित्त एकाग्र हो जाता है। यही सम्प्रज्ञात-समाधि है। इसकी उच्चतम अवस्थामें चित्त और पुरुषके भेदका साक्षात्कार होता है। इसका नाम पुरुषख्याति, सत्त्वपुरुषान्यता-ख्याति तथा विवेकख्याति है। इस ख्यातिमें ज्यों-ज्यों अभ्यास बढ़ता जाता है त्यों-त्यों चित्त निर्मल होता जाता है और आत्मशुद्धि उत्तमोत्तम प्रतीत होती है। चित्तकी अत्यन्त निर्मलतामें यह पुरुषख्याति भी चित्तकी ही एक सात्त्विक वृत्ति और गुणोंका ही परिणाम प्रतीत होने लगती है। तब इस विवेकख्यातिसे भी वैराग्य उत्पन्न होने लगता है। इस प्रकार गुणोंसे भी तृष्णारहित अर्थात् विरक्त होना पर-वैराग्य है। इस पर-वैराग्यको ही ज्ञानप्रसाद-मात्र कहते हैं, क्योंकि इसमें रजस्-तमस् गुणका गन्धमात्र भी नहीं रहता।

इस वैराग्यके उदय होनेसे योगी धर्ममेघ-समाधिनिष्ठ हुआ अपने मनमें भाष्यकारके शब्दानुसार यह मानता है कि जो प्राप्त करने योग्य था वह प्राप्त हो गया, जो नाश करने योग्य पाँच क्लेश थे वे नष्ट हो गये, अब संसारका वह संक्रम (चक्र, सिलसिला) टूट गया है, जिसके टूटे बिना मनुष्य उत्पन्न होकर मरता है और मरकर उत्पन्न होता है। यह पर-वैराग्य ही ज्ञानकी पराकाष्ठा (परम सीमा) है। इसीके निरन्तर अभ्याससे कैवल्य होता है।

विशेष विचार सूत्र १६—गुणवैतृष्ण्यम्=जो त्रिगुणात्मक बुद्धि अथवा चित्तका कार्य है, वह सब योगीके लिये हेय-कोटिमें है। विवेक-ख्याति भी सत्त्वगुणात्मक और बुद्धिका कार्य है, इसलिये वह भी त्याज्य है।

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज । उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत् त्यज ॥

अधर्म, धर्म और असत्य, सत्य (तामसी और सात्त्विकवृत्ति) दोनोंको त्याग दे । दोनों तामसी और सात्त्विक वृत्तियोंको त्यागकर जिस वृत्तिसे इन दोनोंको त्यागा है उसे भी त्याग दे । इसमें भी तृष्णाका अभाव होना पर-वैराग्य है अर्थात् मनको विषयोंमें प्रवृत्त करानेवाला उन विषयोंमें राग ही है । जब मनको एक ध्येय विषयमें लगाया जाता है, तब वह अन्य विषयोंसे राग होनेके कारण उनकी ओर भागता है और ध्येय विषयमें स्थिर नहीं रहता । इन अन्य सब विषयोंसे राग निवृत्त होनेपर केवल एक ध्येय विषयमें रागका बना रहना अपर-वैराग्य है, जिसका फल एकाग्रता अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि है । इस सम्प्रज्ञात-समाधिकी पराकाष्ठा विवेकख्याति है, जिसमें पुरुष और चित्तकी भिन्नताका विवेक-ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् चित्तद्वारा आत्माका साक्षात्कार होता है । किन्तु यह भी सत्त्वगुणात्मक एक वृत्ति ही है और चित्तका ही कार्य है । इसमें भी रागका न रहना पर-वैराग्य है, जिसका फल असम्प्रज्ञात समाधि है। आरम्भमें असम्प्रज्ञात-समाधिमें चित्तकी वृत्तियोंका सर्वथा निरोध अर्थात् असम्प्रज्ञात-समाधि क्षणिक होती है, किन्तु धीरे-धीरे इसके संस्कार बढ़ने और व्युत्थानके संस्कार दबने लगते हैं। विवेकख्याति (प्रसंख्यान) की स्थायी अवस्थाका नाम धर्ममेघ-समाधि (४।२९) है । धर्ममेघ-समाधिकी पराकाष्ठा ज्ञान-प्रसाद नामी पर-वैराग्य है, जिसका फल असम्प्रज्ञात-समाधि है और असम्प्रज्ञात-समाधिकी अन्तिम सीमा कैवल्य (४।३४) है । साधनपाद सूत्र २६ में हानका उपाय अविप्लव विवेकख्याति बतलाया है, अतः अविप्लव विवेकख्यातितक ही मनुष्यका प्रयत्न हो सकता है। इस विवेकख्यातिमें जो आत्मसाक्षात्कार होता है, उसे आत्मसाक्षात्कारसे यह विवेकख्याति भी स्वयं ही चित्तकी एक सात्त्विक वृत्ति प्रतीत होने लगती है और उसमें भी लगाव जाता रहता है । इस विवेकख्यातिसे आसक्तिका हट जाना ही पर-वैराग्य है। इसी बातको इस सूत्रमें बतलाया गया है। 'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्' इस आसक्तिके हटते ही चित्त सर्ववृत्तिशून्य हो जाता है और पुरुष स्वरूपप्रतिष्ठित जिसका नाम असम्प्रज्ञात समाधि है ।

संगति—इस प्रकार निरोधके उपायभूत अभ्यास-वैराग्यका लक्षण प्रतिपादन करके अब इन दोनों उपायोंसे सिद्ध होनेवाली सम्प्रज्ञात-समाधिका उसके सार अवान्तर-भेदसहित स्वरूप निरूपण करते हैं—

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—वितर्क-विचार-आनन्द-अस्मितारूप-अनुगमात् = वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता नामक स्वरूपोंके सम्बन्धसे (जो चित्तकी वृत्तियोंका निरोध है) वह; सम्प्रज्ञातः=सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है।

अन्वयार्थ—वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता नामक स्वरूपोंके सम्बन्धसे जो चित्तकी वृत्तियोंका निरोध है, वह सम्प्रज्ञात-समाधि कहलाता है अर्थात् वितर्कके सम्बन्धसे जो समाधि होती है, उसका नाम वितर्कानुगत; विचारके सम्बन्धसे विचारानुगत; आनन्दके सम्बन्धसे आनन्दानुगत और अस्मिताके सम्बन्धसे होनेवाली समाधिका नाम अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि है ।

व्याख्या—सूत्रके अन्तमें समाधि शब्द शेष रहा है, उसे लगाना चाहिये ।

जिससे ध्येय (जिसका ध्यान किया जाय) वस्तुका स्वरूप अच्छी प्रकार अर्थात् संशय और

विपर्यय (अविद्या) से रहित यथार्थ रूपसे जाना जाता है, उस भावना विशेषका नाम सम्प्रज्ञात है। वह चार प्रकारका है। वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत।

इस भावनाविशेषको ही सम्प्रज्ञात-समाधि कहते हैं। अन्य विषयोंको छोड़कर केवल एक ध्येय वस्तुको बार-बार चित्तमें रखनेका नाम भावना है। इस भावनाका विषयभूत जो भाव्य है (जिसकी भावना की जाय, ध्येय) वह ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीतृभेदसे तीन प्रकारका है। इन तीनोंमें ग्राह्य स्थूल-सूक्ष्मके भेदसे दो प्रकारके हैं। पाँच स्थूलभूत और स्थूल इन्द्रियाँ स्थूल विषय हैं; पाँच सूक्ष्मभूत अर्थात् तन्मात्राएँ और सूक्ष्म इन्द्रियाँ (केवल शक्तिरूप) सूक्ष्म विषय हैं।

जिस प्रकार निशाना लगानेवाला पहले स्थूल लक्ष्यको वेधन करता है, फिर सूक्ष्मको, इसी प्रकार योगी भी पहले स्थूल वस्तुका साक्षात् करके फिर सूक्ष्म ध्येयकी भावनामें प्रवृत्त होता है। अर्थात् सूक्ष्म वस्तुको साक्षात् करता है।

(१) पाँचों स्थूलभूत-विषयक तथा स्थूल इन्द्रिय-विषयक ग्राह्य भावनाका नाम वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात है।

(२) सूक्ष्मभूत-विषयक तथा सूक्ष्म इन्द्रिय-विषयक ग्राह्य-भावनाका नाम विचारानुगत सम्प्रज्ञात है।

(३) तन्मात्राओं तथा इन्द्रियोंके कारण सत्त्व-प्रधान अहङ्कार-विषयक केवल ग्रहण-भावनाका नाम आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात है।

(४) अस्मिता अर्थात् चेतनसे प्रतिबिम्बित चित्तसत्त्व बीजरूप अहङ्कारसहित-विषयक ग्रहीतृ-भावनाका नाम अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात है।

वितर्कानुगत ग्राह्य समाधि—जिस भावनाद्वारा ग्राह्य-रूप किसी स्थूल विषय विराट्, महाभूत, सूर्य, चन्द्र, शरीर, स्थूल इन्द्रिय आदि किसी स्थूल, वस्तुपर चित्तको ठहराकर संशय-विपर्यय-रहित उसके यथार्थ स्वरूपको सारे विषयोंसहित जो पहले कभी न देखे, न सुने और न अनुमान किये थे, साक्षात् किया जाय, वह वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि है।

इसके दो भेद सवितर्क—शब्द, अर्थ और ज्ञानकी भावनासहित और निर्वितर्क—शब्द, अर्थ और ज्ञानकी भावनासे रहित केवल अर्थ-मात्र, इसी पादके बयालीस और तैंतालीस सूत्रमें बतलाये हैं, जिनकी व्याख्या वहीं की जायगी।

विचारानुगत ग्राह्य समाधि—वितर्क-अनुगतद्वारा जब चित्त वस्तुके स्थूल आकारको साक्षात् कर लेता है, तब उसकी दृष्टि आगे बढ़ती है। तब जिस भावनाद्वारा ग्राह्य-रूप स्थूल भूतोंके कारण पाँचों सूक्ष्मभूतोंका पाँचों तन्मात्राओंतक तथा शक्तिमात्र इन्द्रियोंका यथार्थ रूप, संशय-विपर्यय-रहित सारे विषयोंसहित साक्षात् किया जाय, वह विचारानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि कहलायगी।

इसके भी दो भेद सविचार—देश-काल और धर्मकी भावनासहित और निर्विचार—देश-काल और धर्मकी भावनासे रहित केवल अर्थमात्र धर्मी, इस पादके चौवालीसवें सूत्रमें बतलाये हैं, जिनकी व्याख्या वहीं की जायगी।

यहाँ यह बात स्मरण रखनेकी है कि वितर्क सम्प्रज्ञातद्वारा जहाँ स्थूल विषयोंको साक्षात् किया

जाता है। यदि योगी उस स्थूल विषयपर न रुककर आगे बढ़ना चाहे तो एकाग्रताकी दृढ़तामें उसका सूक्ष्म स्वरूप स्वयं साक्षात् होने लगता है, क्योंकि एकाग्रताकी दृढ़तामें चित्तके सत्त्वगुणका प्रकाश बढ़कर सूक्ष्म विषयोंको साक्षात् करानेमें समर्थ हो जाता है और यह भावना वितर्कसे विचार हो जाती है।

आनन्दानुगत (केवल) ग्रहणरूप समाधि—विचारानुगतके निरन्तर अभ्याससे जब चित्तकी एकाग्रता इतनी बढ़ जाय कि शक्तिमात्र इन्द्रियों तथा तन्मात्राओंके कारण अहङ्कारको उसमें धारण करके साक्षात् किया जाय तो उसको आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि कहेंगे।

विचारानुगत-समाधिमें जिस सूक्ष्म विषयका साक्षात् किया जाता है, यदि योगी वहीं न रुककर आगे बढ़ना चाहे तो चित्तको एकाग्रताद्वारा सत्त्वगुणकी अधिकतामें अहङ्कारका स्वयं साक्षात् होने लगता है।

'आनन्द' नाम रखनेका कारण यह है कि सत्त्वगुण-प्रधान अहङ्कार आनन्द-रूप है तथा सूक्ष्मताके तारतम्यको साक्षात् करते हुए योगीका चित्त सत्त्वगुणके बढ़नेसे आनन्दसे भर जाता है। उस समय कोई भी विचार अथवा ग्राह्य विषय, उसका विषय नहीं रहता, किन्तु आनन्द-ही-आनन्द उसका विषय बन जाता है और 'मैं सुखी हूँ, मैं सुखी हूँ' ऐसा अनुभव होता है। जो योगी इसीको अन्तिम ध्येय समझकर इसीमें संतुष्ट हो जाते हैं और आगे नहीं बढ़ते हैं, उनका देहसे तो अध्यास छूट जाता है परन्तु स्वरूपावस्थिति नहीं होती। शरीर त्यागनेके पश्चात् वे लम्बे समयतक कैवल्यपद-जैसे आनन्दको भोगते रहते हैं। वे विदेह कहलाते हैं, जिनका इसी पादके उन्नीसवें सूत्रमें वर्णन किया जायगा।

अस्मितानुगत ग्रहीतृ-रूप समाधि—चेतनसे प्रतिबिम्बित चित्त जिसमें बीजरूपसे अहङ्कार रहता है अर्थात् चित्त, बीजरूप अहङ्कार और अहङ्कारोपाधित पुरुष, जहाँसे पुरुष और चित्तमें अभिन्नता आरोप होती है उसका नाम अस्मिता है। अस्मिता अहङ्कारका कारण है, इसलिये उससे सूक्ष्मतर है। जब चित्तकी एकाग्रता इतनी बढ़ जाय कि अस्मितामें धारण करनेसे उसका यथार्थ रूप साक्षात् होने लगे, तब उसको अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

यदि आनन्दानुगत सम्प्रज्ञातवाला योगी वहाँ न रुककर आगे बढ़ना चाहे तो इस अवस्थामें पहुँच जाता है। इसमें आनन्दानुगतवाली वृत्ति 'अहमस्मि०' मैं सुखी हूँ, मैं सुखी हूँ' अधिक निर्मल होकर केवल 'अस्मि-अस्मि' यही ज्ञान शेष रह जाता है। इस वृत्तिवाली अवस्था बड़ी मनोरञ्जक होती है। बहुधा योगी इसीको आत्मस्थिति समझकर इसीमें संतुष्ट हो जाते हैं और आगे बढ़नेका यत्न नहीं करते, उनका आत्माध्यास अहङ्कारसे तो छूट जाता है, किन्तु अस्मितामें बना रहता है। शरीरान्त होनेपर विदेहोंसे अधिक लम्बे समयतक ये योगी कैवल्य पद-जैसा आनन्द भोगते रहते हैं। उन्हें प्रकृतिलय कहते हैं, जिनका वर्णन उन्नीसवें सूत्रमें किया जायगा। आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भूमियोंमें पाँचों सूक्ष्म विषयों-जैसा साक्षात्कार नहीं होता है। यह केवल अनुभवगम्य है (अतः इनका वर्णन शब्दमात्र समझना चाहिये)।

इन चारों समाधियोंमें वितर्क समाधि चतुष्टयानुगत अर्थात् वितर्क, विचार, आनन्द, अस्मिता—इन चारोंसे युक्त है; क्योंकि कार्यमें कारण अनुगत रहता है। इस कारण स्थूलभूतोंके तन्मात्राओंका कार्य होनेसे स्थूलभूतोंमें तन्मात्राएँ अनुगत हैं और तन्मात्राओंके अहङ्कारका कार्य होनेसे तन्मात्राद्वारा अहङ्कार

अनुगत है। अहङ्कार अस्मिताका कार्य होनेसे अहङ्कारद्वारा अस्मिता अनुगत है। इस प्रकार स्थूलभूतोंकी भावना करनेसे फलतः सबकी भावना प्राप्त होती है, इसलिये स्थूलभूतविषयक भावना चतुष्टयानुगत है।

इसी प्रकार विचारानुगतसम्प्रज्ञात त्रितयानुगत है। इस भावनामें स्थूलभूतोंका भान न होनेसे यह वितर्कसे रहित है। कार्यमें कारण अनुगत रहता है न कि कारणमें कार्य। इसलिये तन्मात्राओंको भावनामें स्थूलभूतोंका भान नहीं होता है। इसी प्रकार आनन्दानुगतसम्प्रज्ञात द्वयानुगत है, क्योंकि इस भावनामें स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकारके भूतोंका भान न होनेसे यह वितर्क तथा विचार दोनोंसे रहित है।

अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात एकानुगत है, क्योंकि इसमें अस्मितामात्रके अतिरिक्त किसी अन्यका भान नहीं होता।

ये चारों प्रकारकी समाधियाँ सालम्बन और सबीज भी कहलाती हैं। सालम्बन इसलिये कि ये किसी ध्येयका आलम्बन (सहारा) बनाकर की जाती हैं; और यह आलम्बन ही बीज है, इसलिये इनका नाम सबीज-समाधि भी है।

जब योगी किसी स्थूल ध्येयको आलम्बन बनाकर उसमें चित्त ठहराता है, तब पहिले स्थूल वस्तुको देखता है। ज्यों-ज्यों एकाग्रता बढ़ती जाती है त्यों-त्यों उसके सूक्ष्म अवयव भासते जाते हैं, यहाँतक कि स्थूलभूतोंके कारण सूक्ष्मभूतोंका भी साक्षात् होने लगता है। एकाग्रताके और अधिक बढ़नेपर यह सूक्ष्मभूत-विषयक ग्राह्य वृत्ति भी बन्द हो जाती है और तन्मात्राओंके कारण ग्रहण-रूप सत्त्व-प्रधान अहङ्कारका उसकी आनन्द-रूप प्रिय, मोद, प्रमोद आदि वृत्तियोंसे साक्षात् होता है। एकाग्रताकी सूक्ष्मता और सत्त्वगुणकी वृद्धिके साथ-साथ यह आनन्द रूपवाली अहङ्कारकी वृत्ति भी सूक्ष्म होती जाती है, यहाँतक कि अहङ्कारके कारण अस्मिताका अहङ्कारसे रहित उसकी वृत्ति 'अस्मि-अस्मि' से साक्षात् होने लगता है अर्थात् 'मैं हूँ' केवल यही ज्ञान शेष रह जाता है। इस वृत्तिकी सूक्ष्मतामें पुरुष और चित्तमें भिन्नता उत्पन्न करनेवाली विवेकख्यातिरूपी वृत्तिका उदय होता है। इस विवेकख्यातिमें भी आत्मस्थितिका अभाव प्रतीत करानेवाली पर-वैराग्यकी वृत्ति 'नेति नेति' 'यह स्वरूपावस्थिति नहीं है, यह आत्मस्थिति नहीं है' के अभ्यासपूर्वक असम्प्रज्ञात-समाधिकी सिद्धि होती है। जिसका लक्षण अगले सूत्रमें बतलाया जायगा।

विशेष वक्तव्य—सूत्र १७—कोशोंद्वारा अभ्यासकी प्रणाली:—

एक अभ्यासकी प्रणाली कोशोंद्वारा अन्तर्मुख होते हुए स्वरूप-स्थिति-प्राप्तिकी है, जिसका वर्णन उपनिषदोंमें इस प्रकार है—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥ (कठ० १।३।१३)

बुद्धिमान् वाणीको (ज्ञानेन्द्रियको) मनमें लय करे; उसको (मनको) ज्ञानात्मा (बुद्धि) में लय करे; बुद्धिको महानात्मा (महत्तत्त्व) में लय करे और उस महत्तत्त्वको शान्तात्मामें लय करे। (यदि 'ज्ञान आत्मनि' के अर्थ 'अहङ्कारमें' और 'महति' के अर्थ 'बुद्धिमें' लिये जायँ तो ये सूत्रगत चारों भावनाएँ हो जाती हैं।)

यह इस प्रकार है:—

सम्प्रज्ञात समाधिके चार भेद

नाम	रूप	विषय	सम्बन्ध	अनुगत	रहित	वृत्ति
१ वितर्कानुगत	ग्राह्य	५ स्थूल-भूत तथा स्थूल विषय शरीर, सूर्य, चन्द्र आदि और स्थूल इन्द्रियाँ	वितर्क	चतुष्टयानुगत— वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मितासे अनुगत		स्थूल विषयाकार वृत्ति
२ विचारानुगत	ग्राह्य	५ सूक्ष्मभूत, तन्मात्राओंतक सूक्ष्म इन्द्रियाँ (शक्तिरूप)	विचार	त्रितयानुगत— विचार-आनन्द और अस्मितासे अनुगत	वितर्करहित	सूक्ष्म विषयाकार वृत्ति
३ आनन्दानुगत	ग्रहण	अहंकार	आनन्द	द्वयानुगत— आनन्द और अस्मितासे अनुगत	वितर्क तथा विचारसे रहित	आनन्द विषयाकार 'अहं' वृत्ति
४ अस्मितानुगत	ग्रहीतृ	अस्मिता	अस्मिता	एकानुगत— अस्मितासे अनुगत	वितर्क, विचार और आनन्दसे रहित	अस्मिता विषयाकार 'अस्मि' वृत्ति

(१) किसी भी सुखासनपूर्वक स्थिर बैठकर अन्नमय कोशमें आत्माध्यास छोड़कर प्राणमय कोशमें घुसना ।

(२) प्राणोंकी गतिको रोककर अथवा धीमा करके इन्द्रियोंको अन्तर्मुख करके प्राणमय कोशसे आत्माध्यास हटाकर मनोमय कोशमें प्रवेश करना ।

(३) मनोमय कोशसे आत्माध्यास हटाकर विज्ञानमय कोशमें जाना ।

(४) विज्ञानमय कोशसे आत्माध्यासको छुड़ाकर आनन्दमय कोशमें स्थित होना ।

ये चारों सम्प्रज्ञात-समाधिके ही भेद हैं; क्योंकि जब आनन्दमय कोशको भी विजय कर लिया जाय, तब स्वरूपावस्थिति होती है ।

अन्नमय कोशसे आत्माध्यास हटाना अथवा उसकी विजय आसन और प्राणायामकी सिद्धिसे (२ । ४६-४९), प्राणमय कोशकी प्रत्याहार और धारणाकी सिद्धिसे (२ । ५४; ३ । १), मनोमय कोशकी वितर्क-भावनाद्वारा, विज्ञानमय कोशकी विचार और उसकी ऊँची अवस्था आनन्दानुगत समापत्तिसे और आनन्दमय कोशकी विजय निर्विचारकी सबसे ऊँची अवस्था अस्मितानुगत और ऋतम्भरा प्रज्ञा अर्थात् सम्प्रज्ञातसमाधिकी सबसे ऊँची अवस्था विवेक-ख्यातिसे होती है । तत्पश्चात् स्वरूपावस्थितिका लाभ होता है।

सूत्रमें चारों भावनाओंद्वारा किसी विषयको आलम्बन करके (ध्येय बनाकर) निरालम्ब (निर्बीज अर्थात् असम्प्रज्ञात) समाधितक पहुँचनेकी प्रक्रिया बतलायी है । यहाँ कोशोंद्वारा आरम्भमें आलम्बनका अभाव करते-करते अन्तमें अभाव करनेवाली वृत्तिका भी अभाव करके निरालम्ब-समाधिकी सिद्धि करना बतलाया गया है । यही इन दोनोंमें भेद है । प्रथम प्रक्रिया योगनिष्ठाकी है और दूसरी सांख्यनिष्ठाकी ।

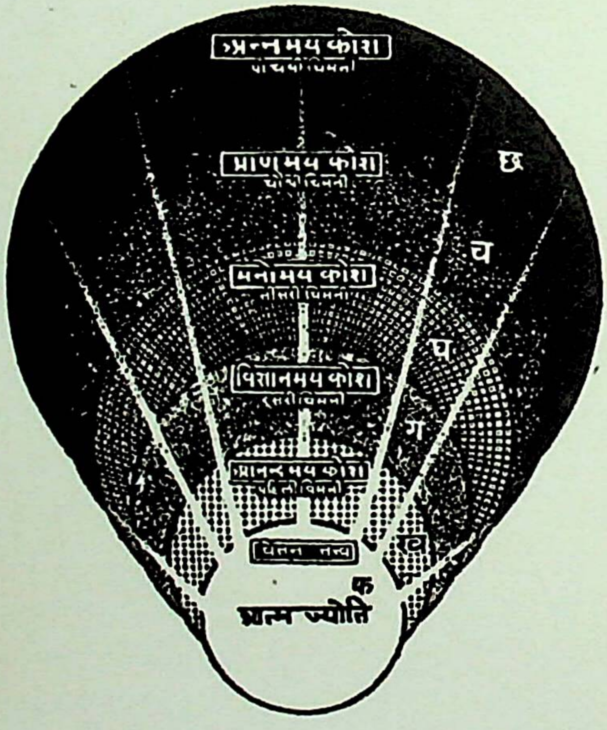
आत्माध्यास हटानेसे अभिप्राय आत्माको कोशोंसे परे अर्थात् पृथक् देखना है । इसको क्रियात्मक-रूपसे इस प्रकार करना चाहिये । किसी सुखासनसे बैठकर शरीरको ढीला छोड़कर क्रमशः पाँचों अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशोंमें ऐसी भावना करें कि आत्मा इनसे परे इनका द्रष्टा केवल चेतन ज्ञानस्वरूप है ! इसी प्रकार क्रमशः तीनों स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरोंमें भी यह भावना की जा सकती है कि आत्मा इनका द्रष्टा इनसे परे अर्थात् पृथक् केवल शुद्ध चैतन्य ज्ञानस्वरूप है, इनके विकार और परिणामोंसे उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा है । इसको शरीरसे आत्माध्यास हटानेकी साधना अथवा विदेह-भावना कह सकते हैं ।

कोश—कोश खोल अथवा म्यानको कहते हैं । वे पाँच हैं—आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय ।

इन पाँचों कोशोंको पाँच रङ्गवाली चिमनियाँ समझनी चाहिये और शुद्ध चेतनतत्त्व (आत्मतत्त्व) को एक प्रकाशकी ज्योति; जिसका प्रकाश इन भिन्न-भिन्न रङ्गवाली चिमनियोंमेंसे होकर बाहर आता हुआ उनके रङ्गों-जैसा प्रतीत होता है ।

आनन्दमय कोश—शुद्ध आत्मतत्त्वपर चित्त (महत्तत्त्व) की पहिली चिमनी है । इसको आनन्द-मय कोश कहते हैं । आनन्दका विकाररूपी यह कोश आत्मस्वरूपको आच्छादित करके (ढँककर) प्रिय, मोद, प्रमोद-रहित आत्माको प्रिय, मोद, प्रमोदवान् तथा अपरिच्छिन्न सुख-रहित आत्माको परिच्छिन्न

कोशसम्बन्धी चित्र



(१) शुद्ध आत्मतत्त्व=ज्ञान-प्रकाश, आत्मज्योति ।

(२) आनन्दमय कोश—चित्त, (महत्तत्त्व) = प्रथम चिमनी = कारण-शरीरः कारण शरीरके सम्बन्धसे शबल स्वरूप आत्माकी संज्ञा—प्राज्ञ ।

(३) विज्ञानमय कोश = बुद्धि, अहंकार = दूसरी चिमनी ।

(४) मनोमय कोश = मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (शक्तिरूप)= तीसरी चिमनी ।

(५) प्राणमय कोश = पाँच कर्मेन्द्रियाँ (शक्तिरूप), पाँच प्राण = चौथी चिमनी ।

} सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म शरीरके सम्बन्धसे शबल स्वरूप आत्माकी संज्ञा—तैजस ।

(६) अन्नमय कोश = पाँचों भूतोंसे बना हुआ स्थूल शरीर, स्थूल इन्द्रियाँ—पाँचवीं चिमनी = स्थूल शरीर, स्थूल शरीरके सम्बन्धसे शबल-स्वरूप आत्माकी संज्ञा—विश्व ।

[पृष्ठ १७७

सुखविशिष्ट रूपमें प्रकट करता है। यह आनन्दमय कोशरूप अज्ञानका आवरण ही जीवका कारण-शरीर कहलाता है। इस कारण-शरीरसहित आत्माको प्राज्ञ कहते हैं।

विज्ञानमय कोश—इस आनन्दमय कोशरूपी चिमनीके ऊपर दूसरी चिमनी अहंकार और बुद्धिकी है, इसको विज्ञानमय कोश कहते हैं। यह विज्ञानमय कोश आत्मस्वरूपको आच्छादित करके अकर्त्ता आत्माको कर्त्ता, अविज्ञाता आत्माको विज्ञाता, निश्चयरहित आत्माको निश्चययुक्त और जाति-अभिमान-रहित आत्माको जाति-अभिमानयुक्त-जैसा प्रकट करता है। इस विज्ञानमय कोशमें अभिमान वर्तमान है। कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व आदि अभिमान ही इस विज्ञानमय कोशका गुण है।

मनोमय कोश—इस विज्ञानमय कोशरूपी चिमनीपर तीसरी मन और ज्ञानेन्द्रियोंकी रङ्गवाली चिमनी चढ़ी हुई है, जिसको मनोमय कोश कहते हैं। मन और ज्ञानेन्द्रियोंका विकाररूपी यह कोश आत्मस्वरूपको आच्छादित करके संशयरहित आत्माको संशययुक्त, शोक-मोहरहित आत्माको शोक-मोहादियुक्त और दर्शनरहित आत्माको दर्शन आदिका कर्त्तारूप प्रकट करता है। इस मनोमय कोशमें इच्छाशक्ति वर्तमान है।

प्राणमय कोश—मनोमय कोशरूपी चिमनीपर चौथी चिमनी पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच प्राणोंकी चढ़ी हुई है, जिसको प्राणमय कोश कहते हैं। प्राण और इन्द्रियोंका विकाररूपी यह प्राणमय कोश आत्माको आच्छादित करके वक्तृत्वरहित आत्माको वक्ता, दातृत्वरहित आत्माको दाता, गतिरहित आत्माको गतिशील, क्षुधा-पिपासारहित आत्माको क्षुधा-पिपासायुक्त आदि नाना प्रकारके विकारोंसे युक्त-जैसा प्रकट करता है। इस प्राणमय कोशमें क्रियाशक्ति वर्तमान होनेसे यह कार्यरूप होता है।

ये तीनों विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमय कोश मिलकर सूक्ष्म-शरीर कहलाते हैं। इस सूक्ष्म-शरीरसहित आत्माका नाम तैजस है।

अन्नमय कोश—चौथी प्राणमय कोशरूपी चिमनीपर पाँचवीं स्थूल शरीरकी चिमनी है, जो अन्नमय कोश कहलाता है। यह अन्नसे बने हुए रज-वीर्यसे उत्पन्न होता है और अन्नसे ही बढ़ता है। इसलिये इसको अन्नमय कहते हैं। इस अन्नमय कोशके कारण अपरिच्छिन्न, अविभक्त आत्मा परिच्छिन्न तथा विभक्त; और तापरहित आत्मा तापयुक्त, अजर, अमर, अजन्मा आत्मा जरा, मृत्यु और जन्मसे युक्त प्रतीत होता है। इस अन्नमय कोशको ही स्थूल-शरीर कहते हैं और स्थूल-शरीरसहित आत्माको विश्व।

कोश-सम्बन्धी चित्र

(१) शुद्ध आत्मतत्त्व = ज्ञान प्रकाश आत्मज्योति।

(२) आनन्दमय कोश = चित्त (महत्तत्त्व) = प्रथम चिमनी = कारण-शरीर; कारण-शरीरके सम्बन्धसे शबल-स्वरूप आत्माकी संज्ञा—प्राज्ञ

(३) विज्ञानमय कोश = बुद्धि-अहंकार = दूसरी चिमनी (४) मनोमय कोश = मन, पाँच ज्ञानेन्द्रिय (शक्तिरूप) = तीसरी चिमनी। (५) प्राणमय कोश = पाँच कर्मेन्द्रियाँ (शक्तिरूप), पाँच प्राण = चौथी चिमनी।	सूक्ष्म-शरीर, सूक्ष्म शरीरके सम्बन्धसे शबल-स्वरूप आत्माकी संज्ञा—तैजस।

(६) अन्नमय कोश = पाँचों भूतोंसे बना हुआ स्थूल शरीर, स्थूल इन्द्रियाँ = पाँचवीं चिमनी = स्थूल-शरीर, स्थूल-शरीरके सम्बन्धसे शबल-स्वरूप आत्माकी संज्ञा—विश्व।

संगति—अपर-वैराग्यजन्य सम्प्रज्ञात-समाधिका निरूपण करके अब पर-वैराग्यजन्य असम्प्रज्ञात-समाधिका लक्षण कहते हैं—

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—विराम = (सब) वृत्तियोंके निरोधका; प्रत्यय = कारण (जो परवैराग्य है उसके); अभ्यासपूर्वः = पुनः-पुनः अनुष्ठानरूप अभ्याससे; संस्कार-शेषः = जो (उसके) संस्कार शेष रह जाते हैं वह; अन्यः = दूसरी अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि है।

अन्वयार्थ— सर्ववृत्तियोंके निरोधका कारण जो पर-वैराग्य है, उसके पुनः-पुनः अनुष्ठानरूप अभ्याससे जो उसके संस्कार शेष रह जाते हैं, वह असम्प्रज्ञात-समाधि है।

व्याख्या—सूत्रमें 'विराम-प्रत्यय०' 'संस्कारशेषः' और 'अन्यः'—ये तीन पद हैं, इनमेंसे पहिले विशेषण 'विराम-प्रत्यय' से असम्प्रज्ञात-समाधिका उपाय, दूसरे विशेषण 'संस्कारशेषः' से उसका लक्षण और तीसरे 'अन्यः' से लक्ष्य (असम्प्रज्ञात-समाधि) का निर्देश किया है।

इससे पूर्व सूत्रमें बतला आये हैं कि सम्प्रज्ञात-समाधिकी पराकाष्ठा विवेकख्याति है, जिसमें चित्त-द्वारा पुरुषका साक्षात्कार होता है, अथवा चित्त और पुरुषमें भिन्नताका विवेकज्ञान उत्पन्न होता है। किंतु यह भी एक चित्तहीकी वृत्ति है और गुणोंका ही परिणाम है। इस वृत्तिसे भी तृष्णारहित हो जाना पर-वैराग्य है (सूत्र १६) पर-वैराग्यसे विवेकख्यातिरूपी अन्तिम वृत्तिका भी निरोध हो जाता है। इसलिये उसको सूत्रमें 'विराम-प्रत्यय' 'सब वृत्तियोंके निरोधका कारण' बतलाया गया है।

इस 'विराम-प्रत्यय' अर्थात् पर-वैराग्यका अभ्यास यह है कि इस वृत्तिको भी 'नेति-नेति' 'यह आत्मस्थिति नहीं है, यह स्वरूपावस्थिति नहीं है' इस प्रकार हटाता रहे। इस प्रकार पुनः-पुनः अनुष्ठान-रूप अभ्याससे जब इस एकाग्र-वृत्तिका भी निरोध हो जाता है, तब असम्प्रज्ञात-समाधि होती है; अर्थात् उसमें कोई ज्ञेय सांसारिक वस्तु जानने योग्य नहीं रहती। इसको निर्बीज-समाधि भी कहते हैं; क्योंकि इसमें अविद्या आदि क्लेशरूप संसारका बीज नहीं रहता। असम्प्रज्ञात-समाधिमें कोई वृत्ति नहीं रहती; केवल विरामप्रत्ययरूप पर-वैराग्यके निरोधके संस्कार शेष रहते हैं। किंतु यह कोई वृत्ति नहीं है। यह निरोधका परिणाम (३ । ९-१०) है। इस अवस्थामें पुरुषकी (शुद्ध चेतन) स्वरूपमें अवस्थिति होती है। निरोधके संस्कारोंसे अतिरिक्त एकाग्रता, समाधि-प्रारम्भ और व्युत्थानके संस्कारोंमें वृत्तियाँ बनी रहती हैं; इसलिये निरोधके संस्कारोंके दुर्बल होते ही व्युत्थानके संस्कार प्रबल होने लगते हैं और असम्प्रज्ञात-समाधि भङ्ग होने लगती है।

चित्तका परिणाम (अवस्था-विशेष) चार प्रकारका होता है; व्युत्थान, समाधि-प्रारम्भ, एकाग्रता और निरोध।

(१) मूढ़ तथा क्षिप्त चित्तकी भूमियोंमें जब तम तथा रज प्रधानरूपसे होते हैं, तब व्युत्थानके संस्कारोंका परिणाम होता है।

(२) विक्षिप्त-भूमिमें सत्त्वकी प्रबलतासे समाधि-प्रारम्भके संस्कारोंका परिणाम होता है।

(३) उसके पश्चात् सत्त्वगुणकी वृद्धिसे एकाग्रता-भूमिमें एकाग्रताके संस्कारोंका परिणाम होता है।

(४) निरोध-भूमिमें निरोधके संस्कारोंका परिणाम होता है।

व्युत्थानसे उत्पन्न हुए संस्कार समाधि-प्रारम्भसे उत्पन्न होनेवाले संस्कारोंसे नष्ट हो जाते हैं। समाधि-प्रारम्भसे उत्पन्न हुए संस्कार एकाग्रतासे उत्पन्न होनेवाले संस्कारोंसे और एकाग्रतासे उत्पन्न होनेवाले संस्कार निरोधसे उत्पन्न होनेवाले संस्कारोंसे नष्ट होते हैं। ये निरोधके संस्कार ही संस्कार-शेष हैं। असम्प्रज्ञात-समाधिमें निरोधके संस्कार ही शेष रहते हैं। जैसे अग्निसे सुवर्णको तपाते हुए उसमें डाला हुआ सीसा सुवर्णके मैलको जलानेके पश्चात् अपनेको भी जला देता है, वैसे ही जब निरोधसे उत्पन्न हुए संस्कार एकाग्रतासे उत्पन्न होनेवाले संस्कारोंको नष्ट करके स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं, तब इस संस्कार-शेषकी निवृत्तिका नाम ही कैवल्य है। असम्प्रज्ञात-समाधि और कैवल्यमें इतना ही अन्तर है।

यहाँ इतना और जान लेना आवश्यक है कि सूत्रकारने असम्प्रज्ञात-समाधिका साधन विराम-प्रत्यय अर्थात् परवैराग्यका अभ्यास विशेषताके साथ बतलाया है; क्योंकि सम्प्रज्ञात-समाधि सालम्ब्य होती है अर्थात् किसी ग्राह्य-रूप वा ग्रहण-रूप वा गृहीतृ-रूप ध्येयका आलम्बन बनाकर की जाती है और यह आलम्बन ही बीजरूपसे उसमें रहता है, जिससे उसको सबीज भी कहते हैं। इसलिये उसका साधन अपर-वैराग्य भी उसकी अपेक्षासे सालम्ब्य और सबीज होता है अर्थात् अपर-वैराग्य उस बीजरूप ध्येय विषयको आलम्बन करके होता है। किन्तु असम्प्रज्ञात-समाधि निरालम्ब्य और निर्बीज है, क्योंकि यह किसी ध्येयको बीजरूप आलम्बन बनाकर नहीं की जाती है; और कार्यके समान रूपवाला ही कारण होना चाहिये, इसलिये निरालम्ब्य निर्बीज पर-वैराग्य असम्प्रज्ञात-समाधिका साधन है। अतः सर्ववृत्ति-निरोध-रूप असम्प्रज्ञात-समाधिके निमित्त सर्ववृत्तियोंके निरोधके कारण पर-वैराग्यका ही पुनः-पुनः अनुष्ठान-रूप अभ्यास करना चाहिये।*

विशेष-वक्तव्य—सूत्र १८—सूत्र १७ की व्याख्यामें हमने सम्प्रज्ञात समाधिकी चारों भूमियोंका सामान्यरूपसे वर्णन कर दिया है। यहाँ इस सम्बन्धमें कुछ विशेष बातोंका जिज्ञासुओंके हितार्थ बतला देना उचित प्रतीत होता है। ध्यानकी परिपक्व अवस्थामें जब कुण्डलिनी जाग्रत् होती है अर्थात् सारे स्थूलप्राण सुषुम्णा नाड़ीमें प्रवेश कर जाते हैं और स्थूल शरीर तथा स्थूल जगत्से परे होकर अन्तर्मुखता होती है—तब उस प्रकाशमय अवस्थामें इन भूमियोंका वास्तविक अनुभव हो सकता है।

वितर्कानुगत समाधि—वितर्कानुगतभूमिकी प्रकाशमयी अवस्थामें जिस स्थूल विषयकी ओर वृत्ति जाती है उसीका यथार्थरूप साक्षात्कार हो जाता है। सात्त्विकता और सूक्ष्मताके तारतम्यसे इस भूमिके अन्तर्गत बहुत-सी श्रेणियाँ हो सकती हैं। इसमें दो प्रकारका अनुभव होता है। एक तो पिछले तामस तथा सात्त्विक संस्कारोंका वृत्तिरूपसे उदय होना, दूसरा वस्तुके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान। जब पिछले तामस संस्कार उदय होते हैं, तब चित्त किसी कल्पित भयंकर डरावनी आकारवाली वृत्तिमें अथवा अन्य तामसी-राजसी वस्तुओंके आकारमें परिणत हो जाता है। यह तमस्के कारण प्रकाशमय नहीं होती, अथवा

* सूत्रके अर्थ वाचस्पति मिश्रकी व्याख्याके आधारपर किये गये हैं। 'प्रत्यय' पदको 'प्रतीति' अर्थमें लेकर सूत्रका अर्थ इस प्रकार होता है:—विराम-प्रत्यय-अभ्यास-पूर्व=विराम प्रतीतिका अभ्यास है पूर्व जिसके। संस्कार-शेषः=संस्कार जिसमें शेष हैं। अन्यः=दूसरा अर्थात् असम्प्रज्ञात है।

इसमें धुँधला-सा प्रकाश होता है। जब सात्त्विक संस्कार उदय होते हैं, चित्त किसी धार्मिक कल्पित आकारवाली मूर्ति अथवा किसी धर्मात्माके रूपवाली वृत्ति तथा अन्य सात्त्विक वस्तुओंके आकारमें परिणत होने लगता है। वास्तविक अनुभवमें व्यवहित (व्यवधानवाली), विप्रकृष्ट (दूरवाली) वस्तुओं, स्थानों, मनुष्यों तथा महात्माओंका साक्षात्कार होता है। इस वितर्क भूमिमें जो कभी-कभी स्थूल शरीरसहित उड़नेकी प्रतीति होती है, वह प्राणोंके उत्थानकी अवस्था है और जो कभी-कभी ऐसे भयकी प्रतीति होती है कि मानो कोई हाथ-पैर आदि अङ्गोंको बाँध रहा है अथवा पकड़ रहा है, वह उन स्थानोंमेंसे प्राणोंके अन्तर्मुख होनेकी अवस्था है। इन सारे अनुभवोंको द्रष्टा बनकर देखता रहे। इस भूमिमें आसक्तिका होना बन्धनका कारण है। कपिल मुनिने तत्त्वसमासके उन्नीसवें सूत्रमें इसको वैकारिक बन्ध बतलाया है, जो पाँचों स्थूल भूत (और उनसे बनी हुई वस्तुएँ) और ग्यारह इन्द्रियों अर्थात् इन सोलह विकृतियोंमें आसक्तिके कारण होता है। यदि इस भूमिमें आसक्ति बनी रहे और आगे बढ़नेका यत्न न किया जाय तो इस भूमिकी परिपक्व अवस्थाको प्राप्त किये हुए योगी इन सात्त्विक संस्कारोंको लिये हुए मनुष्यसे ऊँची योनि अथवा मनुष्य-लोकमें ऊँची श्रेणीमें जन्म लेते हैं। कई बालक और बालिकाएँ ऐसे देखनेमें आये हैं, जो पिछले जन्मके संस्कारोंसे प्राप्त की हुई योगबुद्धि लेकर आये हैं। जो अनुभव साधारण मनुष्योंको लम्बे समयमें भी होना कठिन था, वह उनको बहुत थोड़े कालमें प्राप्त हो गया।

विचार अनुगत-समाधि— स्थूल भूतोंसे परे तन्मात्राओंतक सूक्ष्म भूतोंकी सूक्ष्मताका तारतम्य चला गया है। इसीके अन्तर्गत सारे सूक्ष्मलोक हैं, जो वास्तवमें सूक्ष्म अवस्थाओंके ही नाम हैं। सत्त्वकी स्वच्छताके कारण वे अवस्थाएँ संकल्पमयी और आनन्दमयी होती हैं, किन्तु सात्त्विकता और सूक्ष्मताके अनुसार ही इस संकल्प और आनन्दमें भी भेद होता है। इसमें दो प्रकारका अनुभव होता है। एक वह जो भौतिक विज्ञानसे सर्वथा विलक्षण होता है। इसको अपरोक्ष ज्ञान कहना चाहिये। दूसरा वह जिसमें चित्त-भूमिमें समय-समयपर संचित हुए धार्मिक तथा सात्त्विक संस्कार वृत्तिरूपसे उदय हो जाते हैं। इनको सात्त्विक दृश्य कहते हैं। ये साधकोंके अपने-अपने काल्पनिकरूपमें प्रकाशमय आकृतिमें प्रकाश आभा-जैसे प्रकट होते हैं। वास्तवमें तो चित्त ही इन सात्त्विक संस्कारोंसे प्रेरित हुआ इन प्रकाशमय आकारवाली वृत्तियोंमें परिणत होता है। यथाः—

"क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः"

(समाधि पा० सू० ४१)

राजस तामस वृत्तिरहित स्वच्छ चित्तकी उत्तम जातीय (अतिनिर्मल) मणिके समान ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य विषयोंमें स्थिर होकर उनके तन्मय हो जाना (उनके स्वरूपको प्राप्त हो जाना) समापत्ति है। किन्तु साधकको इस बातका तनिक भी भान नहीं होता है। वह उनको यथार्थ ही समझता है और उनके साथ भौतिक दशासे कहीं अधिक स्पष्टरूपसे व्यवहार (बातें इत्यादि) कर सकता है। सत्त्वकी स्वच्छताके कारण चित्तका इस समयका सारा व्यवहार सत्य और निर्मल होता है। इन अनुभवोंको अत्यन्त गुप्त रखना चाहिये। किसीपर तनिक भी प्रकट न होने देना चाहिये। इन दृश्योंको द्रष्टारूपसे देखता रहे, आसक्ति न होनी चाहिये। कोई-कोई साधक इसकी आरम्भिक अवस्थाको पाकर इतने विस्मित हो जाते हैं कि अपनेको कृतकृत्य समझने लगते हैं और अपने इष्ट-मित्रोंपर प्रकट करने लगते हैं कि हमको अमुक देवता अथवा

देवीके दर्शन हो गये हैं। इससे सर्वसाधारणमें तो वे सिद्ध प्रसिद्ध हो जाते हैं, किंतु अंदरसे उनकी उन्नति रुक जाती है और आगेका मार्ग बंद हो जाता है। इस प्राप्त की हुई प्रतिष्ठा और अभिमानके खोये जानेके भयसे किसी अनुभवी पथ-दर्शकसे आगेका मार्ग पूछनेमें भी संकोच होने लगता है। इस दूसरी भूमिवालोंके लिये ही विशेषकर योगदर्शनमें इस प्रकार चेतावनी दी गयी है—

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्। (विभूतिपा० सू० ५१)

स्थानवालोंके आदर-भाव करनेपर आसक्ति (लगाव) और अभिमान (घमण्ड = अहंकार) नहीं करना चाहिये; क्योंकि ऐसा करनेसे फिर अनिष्टके प्रसङ्गका भय है।

ऊँची कोटिके साकार उपासक भक्तोंका निर्मल स्वच्छ चित्त उनके अभिमत एक निश्चित प्रकाशमय आकारवाली वृत्तिके रूपमें स्वेच्छानुसार परिणत होनेका अभ्यस्त हो जाता है। यह एकाग्रताकी परिपक्व अवस्था परिपक्व वैराग्य और दृढ़ निष्ठासे होती है। जो योगी इसी विचारानुगत समाधिके आनन्दमें आसक्त हो जाते हैं और आगे बढ़नेका यत्न नहीं करते, वे शरीरान्त होनेपर अपनी भूमिकी परिपक्व अवस्थाके अनुसार ही किसी दिव्यलोकके आनन्दको एक लंबे समयतक भोगते रहते हैं। यह लोक एक प्रकारसे सूक्ष्मताकी सात्त्विक अवस्था ही है। इनकी मिश्रित संज्ञा स्वर्गलोक, चन्द्रलोक तथा सोमलोक है और उनका मार्ग पितृयाण अथवा दक्षिणायनके नामसे उपनिषदोंमें बतलाया गया है। किंतु इसको हमारी पृथ्वीसे बाहर दिखलायी देनेवाले इस भौतिक चन्द्रमाको न समझना चाहिये। यह इस स्थूल जगत्के अंदर सूक्ष्म जगत् है। वहाँके आनन्दकी अपेक्षा इसको स्वर्ग, सोम अथवा चन्द्र नाम दिया गया है और वहाँका मार्ग भी बहिर्मुख गतिवाला नहीं है, किंतु अंदरको जानेवाला है; क्योंकि ध्यानकी अवस्थामें अन्तर्मुख होते हैं न कि बहिर्मुख। सूक्ष्म जगत् सूक्ष्म शरीरके सदृश इस स्थूल जगत्के अंदर होना चाहिये न कि बाहर (देखो विभूतिपाद सूत्र २६ के विशेष वक्तव्य संख्या २ में)।

सूक्ष्मता और आनन्दके तारतम्यसे इस चन्द्रलोक, सोमलोक अथवा स्वर्गलोकको भी कई अवान्तर भेदोंमें विभक्त किया गया है, जैसा कि हमने षड्दर्शनसमन्वय प्रकरण ४ में तत्त्वसमासकी सूत्र ४ एवं १८ की व्याख्यामें विस्तारपूर्वक बतलाया है, किंतु इन सूक्ष्मलोकोंमें पहुँच जाना कैवल्य अर्थात् वास्तविक मुक्ति नहीं है, यथा—

न विशेषगतिर्निष्क्रियस्य। (सां० अ० ५ सूत्र ७६)

विशेष गतिका प्राप्त हो जाना वास्तविक मुक्ति नहीं है, क्योंकि आत्मा अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें निष्क्रिय है।

संयोगाश्च वियोगान्ता इति न देशादिलाभोऽपि। (सां० अ० ५ सूत्र ८०)

संयोग वियोगान्त है। इसलिये किसी देशविशेष (चन्द्रलोकके अन्तर्गत किसी सूक्ष्मलोक) का लाभ भी वास्तविक मुक्ति नहीं है।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ (गीता ८। १६)

हे अर्जुन! ब्रह्मलोकसे लेकर सब लोक पुनरावर्ती स्वभाववाले हैं; किंतु हे कुन्तीपुत्र! मुझको (शुद्ध परमात्मतत्त्वको) प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता है।

इसलिये वास्तवमें ये भी बन्धनरूप ही हैं। कपिल मुनिने तत्त्वसमासके सूत्र १९ में इन लोकोंकी प्राप्तिको दाक्षिणिक बन्ध कहा है, जो सूक्ष्म शरीर और तन्मात्राओंतक सूक्ष्म विषयोंमें आसक्तिके कारण होता है। मनुष्यके मर्त्यलोककी अपेक्षा तो ये लोक अमर कहलाते हैं और मनुष्यके बन्धनोंकी अपेक्षा इनकी प्राप्ति मुक्ति कही जा सकती है। किंतु यह मुक्ति पुनरावर्तिनीरूप ही है, जो निवृत्ति-मार्गवालोंके लिये हेय है। एक लंबे समयतक इन लोकोंके सूक्ष्म आनन्दको भोगकर पिछली भूमिमें प्राप्त की हुई योग्यताको लिये हुए ये योगी मनुष्यलोकमें ऊँची श्रेणीके योगियोंमें जन्म लेते हैं। जिससे आत्मस्थिति-प्राप्तिके लिये यत्न कर सकें।

आनन्दानुगत-समाधि—इसमें अहंकारका साक्षात्कार होता है। यह अहङ्कारका साक्षात्कार अन्य सूक्ष्म विषयों-जैसा नहीं होता है, क्योंकि अहंकार तन्मात्राओंतक सारे सूक्ष्म विषयों और उनको विषय करनेवाली ज्ञानेन्द्रियोंका स्वयं उपादान कारण है, अहङ्कार दूसरा विषम परिणाम है, जिसमें सत्त्वकी बाहुल्यता है और सत्त्वगुणमें ही आनन्द (सुख) है। इसलिये इस भूमिमें सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म विषयोंसे परे 'अहमस्मि' वृत्तिद्वारा केवल अहङ्कारके आनन्दका ही अनुभव होता है। जैसा कि गीतामें बतलाया गया है—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥ (६। २१, २२)

जिस अवस्थामें योगी उस परम सुखको जानता है, जो बुद्धिसे ही ग्रहण किया जाता है न कि इन्द्रियोंसे और न उसमें स्थित हुआ तत्त्वसे फिसलता है। जिस आनन्दको प्राप्तकर योगी उससे बढ़कर अधिक और कोई लाभ नहीं समझता है और जिस अवस्थामें स्थित योगी महान् दुःखसे भी कभी विचलित नहीं होता, उस दुःखोंके मेलसे अलग अवस्थाको योग नामवाला जाने।

किंतु इस आनन्दानुगत भूमिमें भी आसक्त न होना चाहिये। जो योगी इस आनन्दानुगत भूमिको ही स्वरूप-अवस्थिति समझकर इसीमें आसक्त रहते हैं और आगे आत्मसाक्षात्कार करनेका यत्न नहीं करते, वे शरीरान्त होनेपर विदेह (शरीररहित) अवस्थामें कैवल्य-पद-जैसी स्थितिको प्राप्त किये हुए इसी आनन्दको भोगते रहते हैं। यह विदेहावस्था विचारानुगत भूमिमें बतलाये हुए ब्रह्मलोकपर्यन्त सूक्ष्म लोकोंसे अधिक सूक्ष्म, अधिक आनन्द और अधिक अवधिवाली है, किंतु यह भी बन्धनरूप ही है। कैवल्य अर्थात् वास्तविक मुक्ति नहीं, यथा—

नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मत्वात्। (सांख्य० ५। ७४)

आनन्दका प्रकट हो जाना मुक्ति नहीं है, (क्योंकि वह आत्माका) धर्म नहीं है (किंतु अन्तःकरणका धर्म है)।

अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि—इसमें अस्मिताका साक्षात्कार होता है। अस्मिताका साक्षात्कार भी अहंकारके साक्षात्कारके सदृश सूक्ष्म विषयों-जैसा नहीं होता है, क्योंकि अस्मिता पुरुषसे प्रतिबिम्बित अथवा प्रकाशित चित्तकी संज्ञा है, जो अहंकारका उपादान कारण और गुणोंका प्रथम विषम परिणाम है,

जिसमें सत्त्व ही सत्त्व है। रजस् क्रियामात्र और तमस् उस क्रियाको रोकनेमात्रके लिये है। इसलिये इसमें अहङ्काररहित केवल 'अस्मि' वृत्तिसे अपरिच्छिन्न, असीम और व्यापक आनन्दका अनुभव होता है। जो योगी इस असीम आनन्दमें आसक्त रहते हैं, वे शरीर छोड़नेपर अस्मिता-अवस्थामें कैवल्यपद-जैसी स्थितिको प्राप्त किये हुए लंबे समयतक इस आनन्दको भोगते रहते हैं। यह अवस्था विदेह अवस्थासे अधिक सूक्ष्म, अधिक आनन्द और अधिक अवधिवाली होती है। गुणोंकी साम्य अवस्थावाली मूल प्रकृति तो केवल अनुमान और आगमगम्य है और पुरुषके लिये निष्प्रयोजन होती है। वास्तविक प्रकृति तो गुणोंका प्रथम विषम परिणाम महत्तत्त्व (चित्त = बुद्धि) ही है। इसलिये इस अस्मिता प्रकृतिको प्राप्त किये हुए योगियोंकी संज्ञा प्रकृतिलय बतलायी गयी है। यह सबसे ऊँची भूमि असीम आनन्दवाली और कैवल्य पदके तुल्य है। किंतु बन्धनरूप ही है। वास्तविक कैवल्य नहीं है। यथा—

न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात्। (सां० १। ५४)

कारण (अस्मिता प्रकृति) में लय होनेसे पुरुषको कृतकृत्यता (स्वरूप-अवस्थिति) नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें डुबकी लगानेवालोंके समान (पानीसे ऊपर) आत्मस्थिति प्राप्त करनेके लिये उठना (मनुष्यलोकमें आना) होता है। कपिल मुनिप्रणीत तत्त्वसमासमें इन दोनों उच्चतर और उच्चतम भूमियोंको प्राकृतिक बन्ध कहा गया है, क्योंकि यद्यपि इनमें सोलह विकृतियों और पाँच तन्मात्राओंसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है, किंतु विदेहोंको अहंकार और प्रकृतिलयोंको अस्मितामें आसक्ति होनेके कारण प्रकृतिका बन्ध बना ही रहता है।

विवेकख्याति—ऊपर बतला आये हैं कि पुरुषसे प्रतिबिम्बित अथवा प्रकाशित चित्तका नाम अस्मिता है। गुणातीत चैतन्यस्वरूप पुरुष और त्रिगुणात्मक जड चित्तमें भिन्नताका विवेकज्ञान न रहकर अस्मिताकी प्रतीति अस्मिता-क्लेश है। जिससे असङ्ग पुरुषमें सङ्गका दोष आरोप होना आरम्भ होता है। इस प्रकार अस्मिता क्लेश ही राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेश तथा सकाम कर्म, उनके फलोंकी वासनाएँ, उनके अनुसार जन्म-आयु भोग तथा उसमें सुख-दुःखका कारण है। इसकी जननी अविद्या-क्लेश है, जो सत्त्व चित्तमें लेशमात्र तमस्‌में बीजरूपसे वर्तमान रहती है। विवेकख्यातिमें त्रिगुणात्मक चित्त और गुणातीत चेतन आत्मामें भेदज्ञान उत्पन्न होता है। इससे अस्मिता-क्लेश निवृत्त हो जाता है और अविद्या-क्लेश अपने अन्य सब क्लेशरूपी परिवारसहित दग्धबीज तुल्य हो जाती है। अब वही लेशमात्र तमस् जिसमें अविद्या वर्त्तमान थी, इस सात्त्विक वृत्ति (विवेकख्याति) को स्थिर रखनेमें सत्त्व-का सहायक हो जाता है। आत्मसाक्षात् करानेवाली यह विवेकख्याति भी चित्तहीकी सबसे उच्चतम सात्त्विक वृत्ति है। जिस प्रकार दर्पण (शीशा) में दिखलायी देनेवाला स्वरूप वास्तविक स्वरूप नहीं होता है, इसी प्रकार चित्तमें आत्माका साक्षात्कार वास्तविक स्वरूप-अवस्थिति नहीं है। इस प्रकार विवेकख्यातिसे भी आसक्तिका हट जाना परवैराग्यद्वारा होता है।

असम्प्रज्ञात अथवा निर्बीजसमाधि—परवैराग्यद्वारा विवेकख्यातिरूप सात्त्विक वृत्तिके निरुद्ध हो जानेपर द्रष्टाकी शुद्ध चेतन परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति होती है। यही असम्प्रज्ञात अथवा निर्बीज समाधि कहलाती है। इस समय चित्तमें कोई वृत्ति नहीं रहती है, किंतु वृत्तियोंको हटानेवाला निरोध-का परिणाम रहता है। आरम्भमें असम्प्रज्ञात समाधि क्षणिक (बहुत कम समयवाली) होती है, किंतु

ज्यों-ज्यों धीरे-धीरे निरोधके संस्कार व्युत्थानके संस्कारोंको नष्ट करते जाते हैं, त्यों-त्यों अधिक समयतक रहनेवाली होती जाती है और इसकी अवस्था परिपक्व होती जाती है। अन्तमें जब निरोधके संस्कार व्युत्थानके सारे संस्कारोंको नष्ट कर देते हैं, तब वे स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार सीसा सुवर्णके मलको जलाकर स्वयं भी जल जाता है। तब शरीर छोड़नेपर चित्तको बनानेवाले गुण अपने-अपने कारणमें लीन हो जाते हैं और द्रष्टा शुद्ध चेतन परमात्मस्वरूपमें अवस्थित हो जाता है। इस कैवल्यको सद्योमुक्ति कहते हैं। इस देहान्त अवस्थाका उपनिषदोंमें निम्न प्रकार वर्णन आया है—

यो अकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।

(बृह० ४।४।६)

जो कामनाओंसे रहित है, जो कामनाओंसे बाहर निकल गया है, जिसकी कामनाएँ पूरी हो गयी हैं अथवा जिसको केवल आत्माकी कामना है, उसके प्राण (प्राण और इन्द्रियाँ) नहीं निकलते हैं, वह ब्रह्म ही हुआ ब्रह्मको पहुँचता है।

आदित्यलोक देवयान—

जिन योगियोंने असम्प्रज्ञात समाधिका लाभ प्राप्त कर लिया है, किंतु उनके चित्तसे व्युत्थानके सारे संस्कार अभी नष्ट नहीं हो पाये हैं, कुछ शेष रह गये हैं, इस अवस्थामें शरीरान्त होनेपर वे आदित्यलोकको प्राप्त होते हैं और उनका मार्ग उत्तरायण कहलाता है, किंतु आदित्यलोक विचार-अनुगत सम्प्रज्ञात समाधिमें बतलाये हुए-जैसा कोई सूक्ष्म लोक नहीं है और न यह दिखलायी देनेवाला भौतिक स्थूल सूर्य है प्रत्युत वह विशुद्ध सत्त्वमय चित्त है, जिसको हमने ईश्वरके चित्तके नामसे कई स्थानोंमें वर्णन किया है और देवयान अथवा उत्तरायणको भौतिक-जैसी गतिका अनुमान न करना चाहिये; क्योंकि मार्ग और गति बाहरकी वस्तुओंमें होती है। यहाँ इन शब्दोंसे अभिप्राय इन योगियोंके चित्तोंका विशुद्ध सत्त्वमय चित्तमें अन्तर्मुख होना है। वहाँ 'अमानव' ईश्वरके अनुग्रहद्वारा इन शेष व्युत्थानके संस्कारोंके निवृत्त होनेपर चित्तके गुणोंके अपने कारणमें लीन होनेपर ये योगी शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति प्राप्त करते हैं। यथा—

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्। (वेदा० द० ४।३।१०)

ब्रह्मलोक (आदित्यलोक = विशुद्ध सत्त्वमय चित्त) में पहुँचकर वह कार्य [शबल ब्रह्म] को लाँघकर उस कार्यसे परे जो उसका अध्यक्ष परब्रह्म है, उसके साथ ऐश्वर्यको भोगता है। इसको क्रम-मुक्ति कहते हैं।

अवतार—स्वरूप-अवस्थितिको प्राप्त किये हुए जिन योगियोंने अपने चित्तसे असम्प्रज्ञात समाधि-द्वारा व्युत्थानके सारे संस्कारोंको नष्ट कर दिया है, किंतु उनके चित्तमें प्राणियोंके कल्याणका संकल्प बना हुआ है तो उनके चित्तोंको बनानेवाले गुण अपने कारणमें लीन नहीं होते। ये चित्त अपने विशाल सात्त्विक स्वरूपसे ईश्वरके विशुद्ध सत्त्वमय चित्तमें, जिसमें सारे प्राणियोंके कल्याणका संकल्प विद्यमान है, (समान संकल्प होनेसे) लीन रहते हैं और वे कैवल्यपदके सदृश शुद्ध चेतन परमात्मस्वरूपमें अवस्थित रहते हैं। ईश्वरीय नियमानुसार संसारके कल्याणमें जब उनकी आवश्यकता होती है तो वे इस भौतिक जगत्‌में अवतीर्ण होते हैं। दूसरे शब्दोंमें अवतार लेते हैं। यथा—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(गीता ४। ७-८)

हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब मैं अपनेको प्रकट करता हूँ (अपने शुद्ध स्वरूपसे शबल स्वरूपमें अवतरण करता हूँ अर्थात् भौतिक जगत्में अवतार लेता हूँ)। सज्जनोंकी रक्षा करनेके लिये और दूषित कार्य करनेवालोंका नाश करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ। तथा—

आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच।

आदिविद्वान् भगवान् परम ऋषि (कपिल मुनि) ने निर्माणचित्त (सांसारिक वासनाओंके संस्कारोंसे शून्य) के अधिष्ठाता होकर जिज्ञासा करते हुए आसुरि मुनिको दयाभावसे सांख्य-तत्त्व-समासका उपदेश दिया। तथा—

ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति। (श्वेताश्व०)

पहिले उत्पन्न हुए कपिल मुनिको ज्ञानसे भर देना है।

सङ्गति—सूत्र १८ में असम्प्रज्ञात समाधिका स्वरूप दिखलाकर अब अगले सूत्रमें यह बतलाते हैं कि जिन योगियोंने पिछले जन्ममें विचारानुगतसे ऊँची आनन्दानुगत अथवा अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधिकी भूमिको प्राप्त कर लिया है, उनको असम्प्रज्ञात समाधिकी प्राप्तिके लिये अन्य साधारण मनुष्यों-जैसी पुरुषार्थकी अपेक्षा नहीं होती। वे जन्महीसे पिछले योगबलके कारण इसके प्राप्त करनेकी योग्यता रखते हैं—

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्॥ १९॥

शब्दार्थ—भवप्रत्ययः = जन्मसे ही प्रतीति; विदेह-प्रकृति-लयानाम् = विदेह और प्रकृतिलयोंको होती है।

अन्वयार्थ—विदेह और प्रकृतिलयोंको जन्मसे ही असम्प्रज्ञात-समाधिकी प्रतीति होती है।

व्याख्या—सत्रहवें सूत्रमें बतला आये हैं कि विदेह वे योगी हैं, जो वितर्कानुगत तथा विचारानुगत समाधिको सिद्ध करके शरीरसे आत्माध्यास छोड़ चुके हैं और आनन्दानुगत भूमिमें प्रविष्ट होकर उसका अभ्यास कर रहे हैं। उनका देहमें आत्माभिमान निवृत्त हो गया है। इसलिये विदेह कहलाते हैं। प्रकृतिलय वे योगी हैं, जिन्होंने आनन्दानुगतको सिद्ध कर लिया है और सातों प्रकृतियोंका साक्षात् करते हुए अस्मितानुगत समाधिका अभ्यास कर रहे हैं।

कोई-कोई योगी इन दोनों समाधियोंकी मनोरञ्जक, आनन्दमय और शान्त अवस्थाओंको ही आत्मावस्थिति समझकर इन्हींमें मग्न रह जाते हैं और उनमें सन्तुष्ट होकर आगे बढ़नेका यत्न नहीं करते। शरीरान्त होनेपर ये विदेह योगी अपने संस्कार-मात्रके उपयोगवाले चित्तसे कैवल्य-पदके समान एक लम्बे समयतक आनन्द और ऐश्वर्यको भोगते हैं। इसी प्रकार प्रकृतिलय अपने अधिकारके सहित चित्तके साथ शरीर-त्यागके पश्चात् विदेहोंसे भी अधिक लम्बे समयतक अस्मिता-प्रकृतिमें कैवल्य-पदके समान आनन्द अनुभव करते हैं। किन्तु यह वास्तविक स्वरूपावस्थिति (मुक्ति) नहीं है, जैसा कि सांख्यदर्शनमें बतलाया गया है—

नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मत्वात् । (सांख्य ५ । ७४)

आनन्दका प्रकट हो जाना मुक्ति नहीं है, (क्योंकि यह आत्माका) धर्म नहीं है (किन्तु अन्तःकरणका धर्म है)

न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात् । (सांख्य ३ । ५४)

कारण (अस्मिता-प्रकृति) में लय होनेसे (पुरुषको) कृतकृत्यता (स्वरूपावस्थिति) नहीं हो सकती है, क्योंकि उसमें डुबकी लगानेवालेके समान (पानीसे ऊपर) उठना होता है अर्थात् जिस प्रकार डुबकी लगानेवालोंको एक निश्चित समयतक पानीमें रहनेके पश्चात् श्वास लेनेके लिये पानीसे ऊपर उठना होता है, इसी प्रकार विदेह और प्रकृतिलयोंको भी परम तत्त्वज्ञान अथवा आत्मस्थिति प्राप्त करनेके लिये फिर जन्म लेना पड़ता है । उनकी समाधि भवप्रत्यय कहलाती है ।

प्रत्यय नाम प्रतीति, प्रकट होने, ज्ञान होनेके हैं अर्थात् जन्मसे ही जिसकी प्रतीति होती है अथवा जो जन्मसे ही प्रकट होता है अर्थात् जन्मसे ही जिस असम्प्रज्ञात समाधिके प्राप्त करनेकी योग्यता होती है, उसे 'भवप्रत्यय' कहेंगे; अथवा 'भवात् प्रत्ययः भवप्रत्ययः' 'भवात्' नाम जन्मसे, 'प्रत्ययः' नाम ज्ञान; जन्मसे ही है ज्ञान जिस असम्प्रज्ञात योगकी प्राप्तिका, उसका नाम 'भवप्रत्यय' है ।

अथवा 'भव' नाम जन्मका है और 'प्रत्यय' कारणको कहते हैं । 'भव-प्रत्यय' से यह अभिप्राय है कि इनका चित्त पूर्वजन्मकी योग-सिद्धिके प्रभावसे जन्मसे ही असम्प्रज्ञात योगमें प्रवृत्त होता है ।

इन विदेह और प्रकृतिलय योगियोंको असम्प्रज्ञात योगकी प्राप्तिविषयक ज्ञानका अधिकार प्राप्त होता है । वे श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा आदि साधनोंका पूर्व जन्ममें अभ्यास कर चुके हैं इसलिये उनको इन साधनोंकी आवश्यकता 'उपाय प्रत्यय' वाले योगियोंकी भाँति इस जन्ममें नहीं होती । पिछले जन्मके अभ्यासके संस्कारके बलसे उनको पर-वैराग्य उदय होकर 'विराम-प्रत्यय'के अभ्यासपूर्वक असम्प्रज्ञात-समाधि सिद्ध हो जाती है । भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय छःमें ऐसे विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भूमियोंके योगियोंकी संज्ञा जिन्होंने स्वरूपावस्थितिको शरीर-त्यागसे पूर्व लाभ नहीं कर पाया है, योगभ्रष्ट कह करके उनकी गति इस प्रकार बतलायी है—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते । न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

हे अर्जुन ! उसका न इस लोकमें, न परलोकमें कोई विनाश होता है । हे तात ! कोई भी कल्याण करनेवाला दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता ।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः । शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

योगभ्रष्ट पुण्यात्माओंके लोकोंको प्राप्त होकर वहाँ बहुत कालतक निवास करके फिर उनके घरमें जन्म लेता है, जो शुचि और श्रीमान् हैं ।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् । एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

अथवा बुद्धिमान् योगियोंके कुलमें ही जन्म लेता है । लोकमें इस प्रकारका जो जन्म है, वह बड़ा दुर्लभ है ।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् । यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

वहाँ उसे पूर्व जन्मकी (योगवाली) बुद्धि मिल जाती है और हे कुरुनन्दन (अर्जुन) ! वह फिर सिद्धिके लिये यत्न करता है ।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः । जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

वह उसी पहले अभ्याससे अवश होकर (सिद्धिमें) खींच लिया जाता है । योगका जिज्ञासु भी शब्द ब्रह्मसे आगे निकल जाता है ।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः । अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

योगी लगातार प्रयत्न करता हुआ धीरे-धीरे सारे पापोंको धोकर अनेक जन्मोंकी सिद्धिके अनन्तर परम गतिको पा जाता है ।

विशेष वक्तव्य (सूत्र १९)—कई भाष्यकारोंने इस सूत्रके भ्रान्तिजनक अर्थ किये हैं । इसका मूल कारण वाचस्पति मिश्रके 'भवप्रत्यय' के सम्बन्धमें अयुक्त और 'विदेह तथा प्रकृतिलय' के प्रति संकीर्ण विचार हैं, जिनका उन्होंने न केवल अनुकरण ही किया है, किंतु उनको और अधिक विकृतरूपमें दिखलानेका यत्न किया है। विज्ञानभिक्षुने इन सब बातोंका समाधान तो कर दिया है, किंतु 'विदेह और प्रकृतिलय' का जो स्वरूप उन्होंने यहाँ तथा सांख्य-प्रवचन-भाष्यमें दिखलाया है, वह स्वयं आपत्तिजनक है । इसलिये अपनी व्याख्याके समर्थनार्थ व्यासभाष्यका भाषानुवाद तथा अन्य सब संदेहों और भ्रान्तियोंके निवारणार्थ वाचस्पति मिश्रके 'तत्त्ववैशारदी' और विज्ञानभिक्षुके 'योगवार्तिक' का भाषानुवाद कर देना आवश्यक प्रतीत होता है ।

व्या० भा० का भाषानुवाद (सूत्र १९)—विदेह देवोंकी असम्प्रज्ञात समाधिका नाम 'भवप्रत्यय' है । वे विदेह अपने संस्कारमात्रके उपयोगवाले चित्तसे कैवल्यपदके समान अनुभव करते हैं । वे अपने संस्कारके समान फल भोगकर लौटते हैं (अर्थात् आनन्दानुगत भूमिमें आसक्त योगी शरीर त्यागनेके पश्चात् एक लंबे समयतक विदेह-अवस्थामें कैवल्यपदके समान अनुभव करते हैं । फिर अपनी पिछली योगभूमिको बुद्धिको लिये हुए इस लोकमें ऊँचे योगियोंके कुलमें जन्म लेते हैं। उनको जन्मसे ही असम्प्रज्ञातसमाधिकी योग्यता होती है । इसलिये उनकी समाधि भवप्रत्यय कहलाती है) इसी प्रकार 'प्रकृतिलय' भी अपने साधिकार चित्तके (अस्मिता) प्रकृतिमें लीन होनेपर कैवल्यपदके समान अनुभव करते हैं । जबतक कि चित्तके अधिकार-वशसे पुनः इस लोकमें नहीं लौटते (अर्थात् इसी प्रकार अस्मितानुगत भूमिमें आसक्त योगी शरीर छोड़नेके पश्चात् एक लंबे समयतक अस्मिता प्रकृतिलय-अवस्थामें कैवल्यपद-जैसी स्थितिको अनुभव करते हैं, फिर इस लोकमें ऊँचे योगियोंके कुलमें अपनी पिछली भूमिके योगकी बुद्धिको लिये हुए जन्म लेते हैं । इनको भी असम्प्रज्ञातसमाधिको जन्मसे ही योग्यता होती है । इसलिये इनकी समाधि भी 'भवप्रत्यय' कहलाती है) ।

वाचस्पति मिश्रके तत्त्ववैशारदी (सूत्र १९) का भाषानुवाद—निरोध-समाधिके अवान्तर भेदको—जो कि हान (त्याग) और उपादान (ग्रहण) में अङ्ग है, उसे दिखलाते हैं कि 'यह निरोध समाधि दो प्रकारकी है—उपायप्रत्यय और भवप्रत्यय ।' उपायका अर्थ है, आगे कहे जानेवाले श्रद्धा आदि । वह श्रद्धा आदि है प्रत्यय अर्थात् कारण जिस निरोध-समाधिका, उस निरोध-समाधिको उपायप्रत्यय कहते हैं । होते हैं अर्थात् उत्पन्न होते हैं जन्तु इसमें, इस अर्थमें भवका अर्थ है अविद्या । भूत और इन्द्रियरूपी विकारों,

अथवा अव्यक्त, महत्, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रारूपी प्रकृतियोंमें— जो कि अनात्म हैं, आत्मख्याति होती है तौष्टिकोंको, जो कि वैराग्यसम्पन्न हैं। भव है प्रत्यय अर्थात् कारण जिस निरोध-समाधिका, उसे भवप्रत्यय कहते हैं। उन दोनोंमें उपायप्रत्यय (समाधि) योगियोंको होती है, जिनका कि वर्णन करेंगे। इस विशेष विधानद्वारा यह दर्शाया है कि शेषका मुमुक्षुके साथ सम्बन्ध नहीं है तो किनकी भवप्रत्यय (समाधि) होती है—इस सम्बन्धमें सूत्रद्वारा उत्तर कहा है। 'भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्' का अर्थ है विदेहोंकी और प्रकृतिलयोंकी। इसकी व्याख्या करते हैं- विदेहानाम् = 'देवानाम् भवप्रत्ययः' भूत और इन्द्रिय इनमेंसे किसीको जो आत्मा मानते हैं और उसकी उपासनाद्वारा उसकी वासनासे जिनका अन्तःकरण वासित है, वे देहपातके बाद इन्द्रियों या भूतोंमें लीन हो जाते हैं, और उनके मनोंमें केवल संस्कार अवशिष्ट रह जाते हैं और वे छः कोशोंवाले शरीरसे रहित हो जाते हैं, इन्हें विदेह कहते हैं। वे 'अपने संस्कारमात्रके उपयोगवाले चित्तद्वारा कैवल्यपदकी सदृश अवस्थाका अनुभव करते हुए अर्थात् प्राप्त करते हुए विदेह हैं। कैवल्यके साथ इनका सादृश्य है, 'वृत्तिशून्य' होना, इनके चित्तमें अधिकारसहित—संस्कारका शेष रहना (कैवल्यसे) वैरूप्य है। कहीं मूल पाठ है 'संस्कारमात्रोपभोगेन', इसका अर्थ यह है कि संस्कारमात्र ही जिसका उपभोग है, जिसमें कि चित्तवृत्ति नहीं है—ऐसे चित्तद्वारा। अवधिको प्राप्त हो जानेपर उस जातिवाले अपने संस्कार-विपाकको वे अतिक्रमण करते हैं और फिर भी संस्कारमें प्रवेश करते हैं। वायुपुराणमें कहा भी है—

दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः। भौतिकास्तु शतं पूर्णम् इति ॥

'दस मन्वन्तरोंतक इस अवस्थामें इन्द्रियचिन्तक रहते हैं और भूतचिन्तक तो पूरे सौ मन्वन्तरोंतक।'

तथा प्रकृतिलय जो कि अव्यक्त, महत्, अहंकार, पञ्चतन्मात्राओंमेंसे किसीको आत्मा मानते हैं, वे उसकी उपासनाद्वारा उसकी वासनासे वासित अन्तःकरणवाले, देहपातके पश्चात, अव्यक्त आदिमेंसे किसीमें लीन हो जाते हैं।

साधिकार चित्तका अर्थ है अचरितार्थ चित्त, इस प्रकार ही चित्त चरितार्थ होता यदि विवेकख्याति-को भी वह पैदा करता, नहीं पैदा हुई सत्त्व और पुरुषमें भेद-ख्याति जिसकी ऐसे चित्तकी—जो कि अचरितार्थ है (अर्थात् जिसने अभीतक प्रयोजन पूरा नहीं किया) साधिकारता तो बनी हुई है। प्रकृतिसाम्यको प्राप्त करके भी चित्त अवधि प्राप्तकर फिर भी प्रादुर्भूत होता है और उसके बाद विवेकको प्राप्त करता है, जैसे कि वर्षाकी समाप्तिपर मृद्भावको प्राप्त हुआ मण्डूकदेह फिर मेघ-जल-धाराके सिञ्चनसे मण्डूकदेह-सत्ताका अनुभव करता है। वायुपुराणमें कहा है—

सहस्रं त्वाभिमानिकाः ॥
बौद्धा दश सहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः।
पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः ॥
पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते।

हजार मन्वन्तरोंतक आभिमानिक (अहंकारचिन्तक), दस हजार मन्वन्तरोंतक बौद्ध स्थित रहते हैं, बिना दुःख अनुभव किये अव्यक्तचिन्तक एक लाख मन्वन्तरोंतक स्थित रहते हैं और निर्गुण पुरुषको प्राप्तकर कालकी कोई संख्या नहीं रहती।

चूँकि यह अर्थात् भवप्रत्यय पुनर्भव अर्थात् पुनर्जन्मकी प्राप्तिका हेतु है; अतः हेय है।

समीक्षा—वाचस्पति मिश्रने उपासना शब्द चिन्तन, भावनाविशेष, समापत्ति अर्थात् समाधिके अर्थमें प्रयोग किया है।

(१) पाँचों स्थूलभूतों तथा उनके अन्तर्गत स्थूलशरीर और इन्द्रियोंकी भावनासे युक्त वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। पाँचों तन्मात्राओंतक सूक्ष्म भूतों तथा उनके अन्तर्गत सारे सूक्ष्म विषयोंकी भावनाओंसे युक्त विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। इन दोनोंसे परे 'अहमिति' वृत्तिवाली अहंकारकी भावनासे युक्त आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि कहलाती है और 'अहमिति' अहंकारसे परे अस्मितावृत्तिवाली अस्मिता-भावनासे युक्त अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि कहलाती है। इसलिये आनन्दानुगत भूमिमें आसक्तिवाले योगी ही देहपातके पश्चात् विदेह देवपदको प्राप्त हो सकते हैं न कि स्थूल भूतों और इन्द्रियोंकी भावनासे युक्त वितर्कानुगत भूमिवाले अस्मितानुगत भूमिमें आसक्तिवाले योगी ही (अस्मिता) प्रकृतिलय देवपदको प्राप्त हो सकते हैं न कि तन्मात्राओं और अहंकारकी भावनासे युक्त विचारानुगत और आनन्दानुगत भूमिवाले योगी, जैसा कि हमने १८ वें सूत्रकी व्याख्या तथा उसके विशेष वक्तव्यमें दिखलाया है।

(२) भोज महाराजने भी अपनी १७ वें सूत्रकी वृत्तिमें ऐसा ही बतलाया है।

यथा—

यदा तु रजस्तमोलेशानुविद्धमन्तःकरणसत्त्वं भाव्यते, तदा गुणभावाच्चितिशक्तेः सुखप्रकाशमयस्य सत्त्वस्य भाव्यमानस्योद्रेकात्सानन्दः समाधिर्भवति अस्मिन्नेव समाधौ ये बद्धधृतयस्तत्त्वान्तरं प्रधानपुरुषरूपं न पश्यन्ति ते विगतदेहाहङ्कारत्वाद् विदेहशब्दवाच्याः।

जब रज और तमके किंचित् लेशसे युक्त हुआ अन्तःकरण सत्त्वकी भावना करता है, तब चितिशक्तिके गुणरूप होनेसे सत्त्व (चित्त) ध्येयकी प्रबलताके कारण सत्त्व (चित्त) के सुखप्रकाशमय हो जानेके कारण सत्त्वचित्तमें आनन्द प्रतीत होता है। इसी समाधिमें जो आसक्त हो गये हैं और प्रधान पुरुष-भेदरूप विवेकख्यातिको नहीं प्राप्त करते हैं, वे योगी देहके अहङ्कार निवृत्त हो जानेसे (देहमें आत्माध्यास हट जानेके कारण) विदेह कहलाते हैं। यह ग्रहण अर्थात् अहङ्कारवृत्तिविशिष्ट अन्तःकरण-विषयक समाधि है।

ततः परं रजस्तमोलेशानभिभूतं शुद्धसत्त्वमालम्बनीकृत्य या प्रवर्तते भावना तस्यां ग्राह्यस्य सत्त्वस्य न्यग्भावाद्, चितिशक्तेरुद्रेकात् सत्तामात्रावशेषत्वेन समाधिः सास्मित इत्युच्यते। न चाहङ्कारास्मितयोरभेदः शङ्कनीयः। यतो यत्रान्तःकरणमहमित्युल्लेखेन विषयान् वेदयते सोऽहङ्कारः। यत्रान्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामे प्रकृतिलीने चेतसि सत्तामात्रमवभाति सास्मिता। अस्मिन्नेव समाधौ ये कृतपरितोषाः परमात्मानं पुरुषं न पश्यन्ति तेषां चेतसि स्वकारणे लयमुपागते प्रकृतिलया इत्युच्यन्ते।

उस अहंकारसे आगे अन्तर्मुख होनेपर रजस्तमके लेशसे शून्य सत्त्वचित्तको विषय बनाकर जो भावना की जाती है तो उसमें ग्राह्यचित्तका अन्य रूप हो जाता है। वह चितिशक्तिकी प्रबलताके साथ सत्तामात्रसे शेष रह जाता है। इसलिये अस्मिता नामवाली समाधि कहलाती है। अहंकार और अस्मिता—इन दोनोंमें अभेदकी शंका न करनी चाहिये; क्योंकि जिस कालमें अन्तःकरणद्वारा 'अहमिति' 'मैं हूँ'

इस भावसे चित्रित हुआ चित्त विषयको जानता है; वह अहंकार कहलाता है; और जहाँ 'अहमिति' इस प्रकारकी वृत्तिको छोड़कर चित्त उलटे परिणामसे प्रकृति (अस्मिता) में अन्तर्मुख होता है और केवल सत्तामात्रसे रहता है तो वह अस्मिता कहलाता है। इसी समाधिमें जिन्होंने संतोष कर लिया है ऐसे योगी परमात्मा पुरुषको नहीं देखते हैं। उनका चित्त अपने कारण अस्मिता (प्रकृति) में लयको प्राप्त होनेके कारण उनको "प्रकृतिलय" कहते हैं।

(३) विदेह और प्रकृतिलय देवोंकी अवस्था अन्य सब दिव्य लोक-लोकान्तरोंके देवोंकी अपेक्षा तो सबसे अधिक दिव्य, सूक्ष्म, सात्त्विक और उच्चतम है; किंतु साधिकारचित्त होनेके कारण कैवल्य नहीं है। इसीलिये व्यासभाष्यमें उनकी अवस्थाके लिये 'कैवल्यपद इव' कैवल्यपद-जैसी लिखा गया है। तथा विभूतिपाद सूत्र २६ के व्यासभाष्यमें ऐसा ही बतलाया गया है।

त एते सप्त लोकाः सर्व एव ब्रह्मलोकाः।
विदेहप्रकृतिलयास्तु मोक्षपदे वर्तन्ते।
न लोकमध्ये न्यस्ता इति।

इन पूर्वोक्त सातों लोकोंको ही ब्रह्मलोक जानना चाहिये (जिनमें वितर्कानुगत भूमिकी परिपक्व अवस्थामें विचारानुगत भूमि तथा आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भूमिकी आरम्भिक अवस्थामें आसक्त योगी शरीर त्यागनेके पश्चात् अपनी-अपनी भूमियोंके क्रमानुसार सूक्ष्म शरीरके साथ निवास करते हैं)। विदेह और प्रकृतिलय योगी कैवल्यपदके तुल्य स्थितिमें हैं, इसलिये वे किसी लोकमें निवास करनेवालोंके साथ नहीं उपन्यास किये गये।

(४) विदेह और प्रकृतिलय देवोंकी कैवल्यपद-जैसी स्थितिको असम्प्रज्ञात समाधि कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि असम्प्रज्ञात समाधि तो मनुष्यलोकमें स्थूल देहसे सर्ववृत्तिनिरोधद्वारा लाभ की जाती है। इस बातकी भी उपेक्षा की जाय तो भी इस स्थितिको असम्प्रज्ञात समाधि नहीं कह सकते; क्योंकि असम्प्रज्ञात समाधिमें तो सर्ववृत्तिनिरोध होता है। यह तो सम्प्रज्ञात समाधिकी ही उच्चतर और उच्चतम भूमि है, जिनमें चित्त इन दोनों एकाग्रतारूप सात्त्विक वृत्तियोंमें परिणत हो रहा है। इसलिये श्रीव्यासजी महाराजने इस १९ वें सूत्रके भाष्यमें 'अतिवाहयन्ति' से यह दर्शाया है कि विदेह और प्रकृतिलय देव जब कैवल्यपद-तुल्य स्थितिसे इस लोकमें उच्च योगियोंके कुलमें जन्म लेते हैं, तब उनको अपने पिछले जन्मके योगाभ्यासके बलसे जन्मसे ही असम्प्रज्ञात समाधि लाभ करनेकी योग्यता होती है। इनको योगाभ्यास-के संस्कारोंसे शून्य चित्तवालोंके सदृश श्रद्धा, वीर्य, स्मृति आदिकी अपेक्षा नहीं होती। इसलिये इस प्रकार जो इन योगियोंको असम्प्रज्ञात समाधिका लाभ होता है, उस असम्प्रज्ञात समाधिको अपने निमित्तकारणकी अपेक्षासे भवप्रत्यय कहते हैं अर्थात् जन्म ही है कारण जिसका। भवके अर्थ यहाँ जन्म हैं।

(५) भवके अर्थ यहाँ अविद्या लेना ठीक नहीं है, क्योंकि अविद्या अथवा मिथ्याज्ञानसे कैवल्य-पद-तुल्य स्थिति अथवा असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त नहीं हो सकती। असम्प्रज्ञात समाधि तो विवेकख्याति-द्वारा प्राप्त होती है, जिसमें अविद्या आदि सारे क्लेश दग्धबीज-तुल्य हो जाते हैं।

(६) विदेह और प्रकृतिलयोंकी कैवल्यपद-तुल्य स्थितिको उसकी निकृष्टता दिखलानेके लिये वर्षाके पश्चात् मृद्भावको प्राप्त किये हुए मण्डूक-जैसी बतलाकर उसका उपहास करना भी अनुचित है,

क्योंकि यद्यपि ये दोनों चित्तकी स्थितियाँ विवेकख्यातिको प्राप्त किये हुए नहीं हैं, तथापि रज-तमसे शून्य हुआ चित्त इनमें अपने शुद्ध स्वच्छ सात्त्विक रूपमें चिति-शक्तिके प्रकाशसे भासता है। यदि इस अवस्थाको मण्डूकके मृद्भावको प्राप्त होनेके सदृश और पुनर्जन्मको जीवित भाव प्राप्त होनेके समान कहा जाय तो विवेकख्यातिके पश्चात् अपुनरावर्तिनी कैवल्य मण्डूकके ऐसे मृद्भाव प्राप्त होनेके सदृश मानी जायगी। जिसके कभी जीवित भावको प्राप्त होनेकी आशा नहीं रही हो। ऐसी कैवल्य तो बुद्धिमानोंके लिये हेयकोटिमें होगी न कि उपादेय। इसलिये ये दोनों उच्चतर और उच्चतम योगकी भूमियाँ स्वयं अपने स्वरूपसे हेय नहीं हैं। इनमें आसक्ति अर्थात् इनके आनन्दमें संतुष्ट होकर स्वरूप-अवस्थितिके लिये यत्न न करना ही अहितकर है और उनका फलस्वरूप विदेह और प्रकृतिलय अवस्था यद्यपि कैवल्य नहीं है, किंतु शरीरसे आत्माभिमान निवृत्त हो जानेके कारण कैवल्य-जैसी है और ब्रह्मलोकतक सारी सूक्ष्म और आनन्दमय अवस्थाओंसे उच्चकोटिकी है।

(७) 'उपायप्रत्ययो योगिनां भवति' इस बीसवें सूत्रके व्यासभाष्यसे उपायप्रत्यय—असम्प्रज्ञात-समाधि योगियोंकी बतलाकर 'भव प्रत्यय' असम्प्रज्ञात-समाधि अयोगियोंकी अथवा अज्ञानियोंकी सिद्ध करना भी ठीक नहीं है; क्योंकि १९ वें सूत्रके 'विदेहानां देवानां भवप्रत्ययः' इस व्यासभाष्यमें भवप्रत्यय-वाले विदेहोंके लिये देवका शब्द प्रयोग किया गया है। उपायप्रत्ययवालोंको तो श्रद्धा-वीर्य आदिका अनुष्ठान करके योगश्रेणीमें प्रवेश करना होता है, किंतु भवप्रत्ययवाले श्रद्धा-वीर्य आदिका अनुष्ठान पूर्व जन्ममें कर चुके हैं, क्योंकि बिना इसके आनन्दानुगत और अस्मितानुगतकी भूमियाँ और कैवल्यपद-तुल्य स्थितिका प्राप्त होना असम्भव है।

(८) वायुपुराणमें चिन्तनका शब्द भावना, समापत्ति अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधिके अर्थमें ले सकते हैं। इसमें क्रमसे स्थूलभूतोंसे लेकर मूलप्रकृतिपर्यन्त सम्प्रज्ञात समाधिकी भूमियोंमें आसक्त योगि-योंके शरीर त्यागनेके पश्चात् उनकी अवस्थाओंके सूक्ष्मता, सात्त्विकता और आनन्दके तारतम्यसे समयमें वृद्धि दिखलाते हुए इस बातको दर्शाया है कि एक लाख मन्वन्तरवाली स्थिति भी पुनरावर्तिनी ही है, केवल परमात्मप्राप्तिरूप कैवल्य अपुनरावर्तिनी है, जो असम्प्रज्ञात समाधिका अन्तिम ध्येय है।

यह एक प्रकारसे गीताके इस श्लोककी व्याख्या है—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन। मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ (८।१६)

विज्ञानभिक्षुके योगवार्तिकका भाषानुवाद सूत्र १९—असम्प्रज्ञात योगके भी निमित्तभेदसे दो प्रकार अगले दो सूत्रोंद्वारा सूत्रकार कहेंगे। उन्हीं दो भेदोंको युक्तिसिद्ध पूर्वाचार्योंके कहे क्रमके अनुसार दोनों सूत्रोंके अवतरणके लिये भाष्यकार दिखलाते हैं—'स खल्वयं द्विविध इति' वह असम्प्रज्ञातयोग दो प्रकारका है।

वह असम्प्रज्ञातयोग अगले सूत्रमें प्रज्ञापूर्वक बतलाया है। अतः आगे कहे श्रद्धा आदि हैं कारण जिसके ऐसा उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञातयोग योगियोंको इस लोकमें होता है तथा योगभ्रष्टोंको इस लोकमें और देवताविशेषोंको देवलोकमें 'भवप्रत्यय' जन्म है कारण जिसका वह असम्प्रज्ञातयोग होता है—यह क्रम है। सूत्रकारको उपायप्रत्यय सविस्तार कहना है, अतः सूचीकटाहन्यायसे पहले भवप्रत्ययको कहेंगे। इस कारण सूत्र और भाष्यमें क्रमभेदको दोष नहीं मानना चाहिये। उत्पत्ति-क्रमके अनुसार सूत्रके क्रमका

उलंघन करके और सम्बन्धको पूरा करके सूत्रको उठाते हैं।—तत्रेति—भवका अर्थ है जन्म, वह भव ही है प्रत्यय अर्थात कारण जिसका ऐसा विग्रह (भवप्रत्यय शब्दका) है। 'विदेहप्रकृतिलयानाम्' इसकी व्याख्या विभाग करके करते हैं कि 'विदेहानाम्' इत्यादि। शरीरकी अपेक्षाके बिना जो बुद्धिवृत्तिवाले हैं उन्हें विदेह कहते हैं—यह विभूतिपादमें स्पष्ट हो जायगा। वे विदेह महदादिदेव हैं, साधना-अनुष्ठानके बिना ही इन्हें असम्प्रज्ञातयोग केवल जन्मके ही निमित्तसे होता है (अर्थात् इस देहपातके अनन्तर उस-उस तत्त्वमें प्रादुर्भावरूप जन्मके कारणसे ही होता है। योनि अर्थात् उस-उस स्थानके अपने-अपने गुण या प्रभावद्वारा स्वाभाविक ज्ञानसे ही उन्हें असम्प्रज्ञात होता है। वे नित्यप्रति प्रलयमें और कभी-कभी सर्गकालमें भी स्वसंस्कारमात्रोपगतचित्तद्वारा अर्थात् संस्कार जिसमें शेष हैं ऐसे निरोधावस्थित चित्तद्वारा कैवल्यपदकी-सी अवस्थाको प्राप्त हुए-हुए और व्युत्थानकालमें स्वसंस्कारविपाक अर्थात् स्वभाव प्राप्त करानेवाले संस्कारके विपाक अर्थात् फलको अर्थात् ऐश्वर्यभोगको प्रारब्ध कर्मसे यन्त्रित हुए-हुए भोगते हैं। उसके पश्चात् मुक्त हो जाते हैं।

इसी प्रकार प्रकृतिलय भी ईश्वर-उपासनाद्वारा या प्रकृतिदेवताकी उपासनाद्वारा जो आवरणसमेत ब्रह्माण्डको त्यागकर लिङ्गशरीरके साथ प्रकृतिके आवरणमें गये हैं, वे यहाँ प्रकृतिलीन कहे गये हैं और वे भी चित्तके कार्य समाप्त न होनेसे अपनी इच्छासे ही प्रकृतिमें लीन होनेपर, संस्कारके शेष रह जानेपर असम्प्रज्ञातयोगमें कैवल्यपदके सदृश अवस्थाको प्राप्त होते हैं, जबतक कि शेष अधिकारके वशसे चित्त फिर व्युत्थित नहीं होता। इस (प्रकृतिलय) का भी (असम्प्रज्ञात) भवप्रत्यय ही है। अधिकारकी समाप्तिपर वे भी मुक्त हो जाते हैं, यह आशा है। कोई 'भव' का अर्थ करते हैं अविद्या। उनका कहना है कि 'यह सूत्र' इन्द्रियोंसे लेकर प्रकृतितकके चिन्तकोंको अविद्यारूपी कारणद्वारा असम्प्रज्ञात होता है, यह कह रहा है। परंतु यह नहीं है, क्योंकि असम्प्रज्ञातका हेतु है परवैराग्य और वह परवैराग्य अविद्यामें सम्भव नहीं तथा जो वायुपुराणमें है कि 'दस मन्वन्तरोंतक इस अवस्थामें इन्द्रियचिन्तक रहते हैं और भौतिक पूरे एक सौ मन्वन्तरोंतक, आभिमानिक एक हजार मन्वन्तरोंतक, बौद्ध दस हजार मन्वन्तरोंतक बिना दुःखके रहते हैं और अव्यक्तचिन्तक पूरे एक लाख मन्वन्तरोंतक रहते हैं, निर्गुण पुरुषको प्राप्त करके कालकी कोई संख्या नहीं रहती' यह वाक्य है। वह कर्मदेवोंके, जिन्हें कि ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ और जो कि इन्द्रियादिके उपासक हैं—उस-उस पदमें अवस्थितिके कालको ही नियत करता है उनके न तो असम्प्रज्ञात समाधिके कालोंको और न देहादिके अभावसे वृत्तिके अभावके कालोंको वह वाक्य निश्चित करता है; क्योंकि इन्द्रिय आदिके चिन्तनमात्रद्वारा असम्प्रज्ञात उत्पन्न नहीं हो सकती तथा कभी-कभी होनेवाला जो वृत्तिका अभाव वह प्रलय और मरणादि (में उत्पन्न होनेवाले वृत्त्यभाव) के तुल्य होनेसे अपुरुषार्थ भी है एवं इन्द्रियादिके उपासकोंको इन्द्रियादिके अभिमानी सूर्य आदि पदकी प्राप्ति होती है, यह फल अन्यत्र सुनायी भी देता है।

समीक्षा—यहाँ विदेह और प्रकृतिलयोंका जो स्वरूप दिखलाया है, उसके सम्बन्धमें हम भूमिकारूप षड्दर्शनसमन्वयके चौथे प्रकरणमें 'सांख्य और ईश्वरवाद' में लिख चुके हैं। यहाँ पुनः विचार करनेकी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। 'भव' के जो अर्थ जन्म लिये गये हैं, वे तो सूत्रकार और भाष्यकारके अभिप्रायके अनुसार ठीक ही हैं; किंतु जो देवविशेषकी देवलोकमें असम्प्रज्ञात-समाधिको भव-

प्रत्यय बतलाया गया है, सो देवलोककी समाधिकी मनुष्यलोककी समाधिके साथ कोई संगति नहीं दीखती। हाँ, इस लोकमें योगभ्रष्टकी असम्प्रज्ञात समाधि ही भवप्रत्यय हो सकती है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें भी ऐसा ही कहा है, जैसा कि इस सूत्रकी व्याख्यामें बतलाया गया है। अन्य सब बातें वाचस्पति मिश्रकी समीक्षामें आ गयी हैं।

सङ्गति—पिछले सूत्रमें विदेह और प्रकृतिलयोंकी असम्प्रज्ञात-समाधिकी जन्मसिद्ध योग्यता बतलाकर अब अगले सूत्रमें साधारण योगियोंके लिये उसका उपायसे प्राप्त करना बतलाते हैं—

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ—श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञापूर्वकः = श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक (वह असम्प्रज्ञातसमाधि); इतरेषाम् = दूसरोंकी अर्थात् जो विदेह और प्रकृतिलय नहीं हैं, उन साधारण योगियोंकी होती है।

अन्वयार्थ—दूसरे योगी जो विदेह और प्रकृतिलय नहीं हैं, उनको श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक असम्प्रज्ञात-समाधि सिद्ध होती है।

व्याख्या—विदेह और प्रकृतिलयोंसे भिन्न योगियोंकी असम्प्रज्ञात-समाधि श्रद्धा आदिपूर्वक होती है। श्रद्धा आदि क्रमसे उपाय हैं और असम्प्रज्ञात-समाधि उपेय। इसलिये इनका उपायोपेय सम्बन्ध है। योगके विषयमें चित्तकी प्रसन्नता श्रद्धा है; उत्साह वीर्य है; जाने हुए विषयका न भूलना स्मृति है; चित्तकी एकाग्रता समाधि है; ज्ञेयका ज्ञान प्रज्ञा है।

श्रद्धा—जो विदेह और प्रकृतिलयोंसे भिन्न हैं, उन्हें जन्म-जन्मान्तरोंसे योगमें नैसर्गिक रुचि नहीं होती है; किंतु उनको पहले शास्त्र और आचार्यके उपदेश सुनकर योगके विषयमें विश्वास उत्पन्न होता है। योगकी प्राप्तिके लिये अभिरुचि अथवा उत्कट इच्छाको उत्पन्न करनेवाले इस विश्वासका नाम ही श्रद्धा है। यह कल्याणकारिणी श्रद्धा योगीकी रुचि योगमें बढ़ाती है, उसके मनको प्रसन्न रखती है और माताके समान कुमार्गसे बचाती हुई उसकी रक्षा करती है।

वीर्य—श्रद्धासे वीर्य उत्पन्न होता है। योग-साधनकी तत्परता उत्पन्न करनेवाले उत्साहका नाम वीर्य है। श्रद्धाके अनुसार उत्साह और उत्साहके अनुसार साधनमें तत्परता होती है।

स्मृति—उत्साहवालेको पिछली अनुभव की हुई भूमियोंमें स्मृति उत्पन्न होती है। पिछले जन्मोंके अक्लिष्ट कर्मों और ज्ञानके संस्कारोंका जाग्रत् होना स्मृति है।

समाधि—पूर्वके अक्लिष्ट कर्म और ज्ञानके संस्कारोंके जाग्रत् होनेसे चित्त एकाग्र और स्थिर होने लगता है।

प्रज्ञा—समाधिस्थ एकाग्र चित्तमें ऋतम्भरा प्रज्ञा (विवेक-ज्ञान) उत्पन्न होती है, जिससे वस्तुका यथार्थ स्वरूप ज्ञात होता है। इसके अभ्याससे परवैराग्य और परवैराग्यसे असम्प्रज्ञात-समाधि होती है।

विशेष विचार (सूत्र २०)—कर्माशय चित्त-भूमिमें दो प्रकारसे रहते हैं। एक प्रधानरूपसे, जिन्होंने जन्म, आयु और भोगका कार्य आरम्भ कर दिया है, जिन्हें नियत विपाक तथा प्रारब्ध भी कहते हैं। दूसरे उपसर्जनरूपसे रहते हैं, जो प्रधान कर्माशयोंके सम्मुख अपने कार्यको आरम्भ करनेकी सामर्थ्य न पाकर चित्तकी निचली भूमियोंमें छिपे हुए पड़े रहते हैं, जिनको अनियत विपाक तथा संचित कर्म भी कहते हैं। क्रियमाण कर्मोंसे जो कर्माशय बनते हैं, उनमेंसे कुछ तो प्रधान रूप धारण करके प्रारब्धके साथ मिल जाते

हैं और कुछ उपसर्जनरूपसे चित्तकी निचली भूमियोंमें संचित कर्माशयोंके साथ मिल जाते हैं। यह संचित कर्माशय भी समय-समयपर अपने किसी अभिव्यञ्जकको पाकर निचली भूमियोंसे ऊपर आकर प्रधान रूप धारण करके प्रारब्ध बनते जाते हैं।

जन्म-जन्मान्तरोंमें संचित किये हुए योगके संस्कार व्युत्थानके प्रधान संस्कारोंसे दबे हुए चित्तकी निचली भूमिमें सुप्तरूपसे पड़े हुए श्रद्धा-वीर्यद्वारा व्युत्थानके संस्कारोंके दबनेपर योगके संस्कारोंको अभिव्यञ्जक (जगानेवाले) पाकर वेगके साथ जाग्रत् होकर निचली भूमियोंसे ऊपर आकर प्रधान रूप धारण कर लेते हैं। यहाँ श्रद्धा-वीर्य तो केवल निमित्त कारण है। उपादान कारण तो निचली भूमियोंमें संचित योगके संस्कार ही प्रकृतिरूप हैं—जैसा कि कैवल्यपाद सूत्र २ में बतलाया है—

'जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ।'

एक जातिसे दूसरी जातिमें बदल जाना प्रकृतियों (उपादान कारणों) के भरनेसे होता है। श्रद्धावीर्य केवल व्युत्थानके संस्कारोंकी रुकावटको हटानेमें निमित्त होते हैं। कहीं बाहरसे योगके संस्कारोंको नहीं भरते। जैसे किसान पानीको रोकनेवाली मेड़को केवल काट देता है तो मेड़से बाहर रुका हुआ पानी स्वयं कियारीमें आ जाता है।

यथा— निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् । (कै० पा० सू० ३)

धर्मादि निमित्त प्रकृतियोंका प्रेरक नहीं होता है, किंतु उससे रुकावट दूर हो जाती है, जिस प्रकार जब किसान किसी खेतमें पानी भरना चाहता है तो केवल पानीको रोकनेवाली मेड़के कुछ अंशको काट देता है। पानी स्वयं उसमें होकर खेतमें भर जाता है।

संगति—पूर्वोक्त श्रद्धा आदि उपाय पूर्वजन्मोंके संस्कारोंके बलसे मृदु, मध्य, अधिमात्र भेदसे तीन प्रकारके होते हैं अर्थात् किसीके मृदु (मन्द) उपाय होते हैं, किसीके मध्य (सामान्य) और किसीके अधिमात्र (तीव्र) उपाय होते हैं। इससे मृदु उपाय, मध्य उपाय और अधिमात्र उपाय, उपायभेदसे तीन प्रकारके योगी होते हैं।

इन तीनों उपायभेदवाले योगियोंमें भी प्रत्येक संवेग अथवा वैराग्यके मृदु, मध्य, अधिमात्र (तीव्र) तीन प्रकारके भेद होनेसे तीन-तीन प्रकारका होता है अर्थात् मृदु उपायवाला योगी, कोई मृदु संवेगवाला, कोई मध्य संवेगवाला और कोई अधिमात्र (तीव्र) संवेगवाला होता है। ऐसे ही अधिमात्र उपायवाला, कोई मृदु संवेगवाला, कोई मध्य संवेगवाला और कोई अधिमात्र (तीव्र) संवेगवाला होता है।

इस प्रकार श्रद्धा आदि उपायोंके तीन भेद तथा संवेगके तीन भेद होनेसे उपाय-प्रत्यय योगियोंके नौ भेद उत्पन्न होते हैं—

(१) मृदु-उपाय मृदु संवेगवान्, (२) मृदु-उपाय मध्य संवेगवान्, (३) मृदु-उपाय तीव्र संवेगवान्, (४) मध्य-उपाय मृदु संवेगवान्, (५) मध्य-उपाय मध्य संवेगवान्, (६) मध्य-उपाय तीव्र संवेगवान्, (७) अधिमात्र-उपाय मृदु संवेगवान्, (८) अधिमात्र-उपाय मध्य-संवेगवान्, (९) अधिमात्र-उपाय तीव्र संवेगवान्।

इन नौ प्रकारके उपाय-प्रत्यय योगियोंमेंसे उपायकी न्यूनाधिकता और वैराग्यकी न्यूनाधिकताकी अपेक्षासे किसीको विलम्बतम (अत्यन्त विलम्बसे), किसीको शीघ्रतम समाधिका लाभ प्राप्त होता है।

उपर्युक्त सबमें अन्तिम योगियोंको सर्वापेक्षया शीघ्रतम समाधि-लाभ प्राप्त होता है, उन्हींका अगले सूत्रमें वर्णन करते हैं—

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—तीव्रसंवेगानाम् = तीव्र संवेगवान् (अधिमात्र उपायवाले योगियोंको) समाधि-लाभ; आसन्नः = शीघ्रतम = निकटतम होता है।

अन्वयार्थ—तीव्र संवेग और अधिमात्र उपायवाले योगियोंको समाधि-लाभ शीघ्रतम होता है।

व्याख्या—इस सूत्रके आदिमें भाष्यकारोंने 'अधिमात्रोपायानाम्' 'अधिमात्र उपायवालोंको' इतना पाठ और सम्बद्ध किया है तथा 'समाधिलाभः समाधिफलं च भवति इति।' 'समाधिका लाभ और उसके फलका लाभ होता है' यह शब्द सूत्रके शेष हैं। वे सूत्रके अन्तमें लगाने चाहिये।

इसलिये यह अर्थ हुआ कि जिनका उपाय अधिमात्र है और जिनका संवेग तीव्र है, उन उपाय-प्रत्यय योगियोंको समाधिका लाभ तथा उसके फलका लाभ शीघ्रतम प्राप्त होता है। अर्थात् उपायके अधिमात्र और संवेगके तीव्र होनेके कारण उपर्युक्त नौ प्रकारके उपाय-प्रत्यय योगियोंमेंसे उनको शीघ्रतम अर्थात् सबसे अधिक शीघ्रतासे समाधि तथा उसका फल कैवल्यका लाभ प्राप्त होता है।

इनको अपेक्षा अधिमात्र-उपाय मध्य संवेगवालोंको कुछ विलम्बसे; और इनकी अपेक्षा अधिमात्र-उपाय मृदु संवेगवालोंको उनसे अधिक विलम्बसे होगा।

इसी प्रकार जितनी-जितनी उपायोंकी और संवेगकी न्यूनता होती है उतना-उतना विलम्बसे समाधिलाभ होता है और जितनी-जितनी उपायोंकी और संवेगकी अधिकता होती है उतना-उतना शीघ्र समाधिलाभ होता है।

सङ्गति—तीव्र संवेग भी मृदु, मध्य, अधिमात्र—विशेषान्तर भेदसे तीन प्रकारका होता है। उनमेंसे अधिमात्र तीव्र वैराग्यवाले योगियोंको शीघ्र समाधिका लाभ होता है। यह अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—मृदु-मध्य-अधिमात्रत्वात् = (तीव्र संवेगके भी) मृदु, मध्य, अधिमात्र—ये तीन भेद होनेसे; तत = उस (मृदु तीव्र संवेगवालोंके और मध्य तीव्र संवेगवालोंके समाधि-लाभ) से; अपि = भी; विशेषः = (अधिमात्र तीव्र संवेगवालोंको समाधि-लाभमें) विशेषता होती है।

अन्वयार्थ—मृदु, मध्य, अधिमात्र—ये तीन भेद होनेसे मृदु तीव्र संवेगवालों और मध्य तीव्र संवेगवालोंके समाधि-लाभसे भी अधिमात्र तीव्र संवेगवालोंको समाधिलाभमें विशेषता है।

व्याख्या—पूर्वसूत्रमें जो तीव्र संवेग बतलाया है, उस तीव्र संवेगके भी मृदु, मध्य, अधिमात्र—ये तीन भेद हैं अर्थात् मृदु तीव्र संवेग, मध्य तीव्र संवेग और अधिमात्र तीव्र संवेग।

---

१ वाचस्पतिमिश्रने संवेगके अर्थ वैराग्य किये हैं, किंतु विज्ञानभिक्षुके योगवार्तिक तथा भोजवृत्तिमें क्रम-अनुसार इस प्रकार अर्थ है—'संवेगः उपायानुष्ठाने शैघ्र्यम्' संवेग उपायके अनुष्ठानमें शीघ्रताको कहते हैं। 'संवेगः क्रियाहेतुर्दृढतरः संस्कारः' क्रियाके करनेमें जो कारणरूप दृढ़तर संस्कार है, वह संवेग कहलाता है।

इस प्रकार यह तीव्र संवेग तीन प्रकारका हुआ। इससे अधिमात्र-उपाय मध्य संवेगवाले आठवें श्रेणीके योगियोंकी अपेक्षासे अधिमात्र-उपाय मृदु-तीव्र संवेगवाले योगियोंको शीघ्र समाधि लाभ होता है और अधिमात्र-उपाय मध्य-तीव्र संवेगवाले योगियोंको शीघ्रतर और अधिमात्र-उपाय अधिमात्र-तीव्र संवेगवाले योगियोंको शीघ्रतम समाधिलाभ प्राप्त होता है। इन अधिमात्रोपाय अधिमात्र तीव्र संवेगवाले योगियोंमें पूर्वके दोनों योगियोंसे यह अत्यन्त शीघ्रतारूप समाधि-लाभमें विशेषता है।

संगति—पूर्वोक्त अधिमात्र-उपाय अधिमात्र-तीव्र संवेगसे ही शीघ्रतम-समाधिका लाभ होता है, अथवा कोई और सुगम उपाय भी है—इस आशङ्काके निवारणार्थ सूत्रकार शीघ्रतम-समाधिका उपायान्तर बतलाते हैं—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—ईश्वर-प्रणिधानात् = ईश्वर-प्रणिधानसे; वा = अथवा (शीघ्रतम समाधि-लाभ होता है)।

अन्वयार्थ—अथवा ईश्वर-प्रणिधानसे शीघ्रतम समाधि-लाभ होता है।

व्याख्या—इस सूत्रमें 'विशेष' इस पदका पूर्वसूत्रसे अनुवर्तन करनेसे आसन्नतम (शीघ्रतम) समाधि-लाभ होता है, यह अर्थ निकलते हैं।

पूर्वोक्त अधिमात्र-उपाय अधिमात्र तीव्र संवेगसे शीघ्रतम समाधि-लाभ होता है, अथवा सत्य-सङ्कल्प ईश्वरमें भक्तिविशेष अर्थात् कायिक, वाचिक, मानसिक क्रियाओंको उसके अधीन तथा कर्मों और उनके फलोंको उसके समर्पण करने और उसके गुणों तथा स्वरूपका चिन्तन करनेमे, उसके अनुग्रहसे शीघ्रतम समाधि-लाभ होता है।

साधनपाद सूत्र १ एवं ३२ में ईश्वर-प्रणिधानका सामान्य अर्थ ईश्वरकी भक्तिविशेष और शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण, अन्तःकरण आदि सब करणों, उनसे होनेवाले सारे कर्मों और उनके फलों अर्थात् सारे बाह्य और आभ्यन्तर जीवनको ईश्वरको समर्पण कर देना है, किंतु विशेषरूपसे यहाँ ईश्वर-प्रणिधानसे जो सूत्रकारका अभिप्राय है,वह अट्ठाईसवें सूत्रमें कहेंगे।

सङ्गति—जिसके प्रणिधानसे शीघ्रतम समाधि-लाभ होता है, उस ईश्वरका स्वरूप निरूपण करते हैं—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—क्लेश-कर्म-विपाक-आशयैः = क्लेश, कर्म, उनके फल और वासनाओंसे; अपरामृष्टः = न स्पर्श किया हुआ = सम्बन्ध-रहित = असम्बद्ध; पुरुषविशेषः = अन्य पुरुषोंसे विशेष (विभिन्न, उत्कृष्ट) चेतन; ईश्वरः = ईश्वर है।

अन्वयार्थ—क्लेश, कर्म, कर्मोंके फल और वासनाओंसे असम्बद्ध, अन्य पुरुषोंसे विशेष (विभिन्न उत्कृष्ट) चेतन ईश्वर है।

व्याख्या—क्लेश—'क्लिश्नन्तीति क्लेशाः' जो दुःख देते हैं, वे क्लेश कहलाते हैं। वे अविद्या, अस्मिता, राग; द्वेष, अभिनिवेश-संज्ञक पाँच प्रकारके हैं, जिनका स्वरूप सूत्र (२।३) में बतलाया जायगा।

कर्म—इन क्लेशोंसे धर्म-अधर्म अर्थात् शुभ-अशुभ और इनसे मिश्रित—ये तीन प्रकारके कर्म (४। ७) उत्पन्न होते हैं। वेदोंमें विधान किये हुए सब प्राणियोंके कल्याणकी भावनासे किये हुए (सकाम) कर्म धर्म और वेदोंमें निषेध किये हुए हिंसात्मक कर्म अधर्म हैं।

विपाकः—'विपच्यन्त इति विपाकाः' जो परिपक्व हो जाते हैं, वे विपाक कहलाते हैं अर्थात् उन सकाम कर्मोंके फल सुख-दुःखरूप जाति, आयु और भोग जिनका सूत्र (२ । १३) में वर्णन किया जायगा, विपाक कहलाते हैं।

आशयः—'आ फलविपाकाच्चित्तभूमौ शेरत इत्याशयाः' फल पकनेतक जो चित्तभूमिमें पड़ी हुई सोती हैं, वे वासना 'आशय' कहलाती हैं, अर्थात् जो कर्म अभीतक पककर जाति, आयु और भोगरूप फल नहीं दे पाये हैं, उन कर्मफलोंके वासनारूप जो संस्कार चित्तभूमिमें पड़े हुए हैं, वे आशय कहलाते हैं। (४।८)

उपर्युक्त क्लेश-कर्म आदि चारोंसे जो तीन कालमें लेशमात्र भी सम्बद्ध नहीं है, वह अन्य पुरुषोंसे विशेष (विभिन्न उत्कृष्ट) चेतन ईश्वर कहलाता है।

ईश्वरके अर्थ हैं—'ईशनशील इच्छामात्रेण सकलजगदुद्धरणक्षमः' ईशनशील अर्थात् इच्छामात्रसे सम्पूर्ण जगत्के उद्धार करनेमें समर्थ।

शङ्का—'जन्माद्यस्य यतः' इस ब्रह्मसूत्रमें ईश्वरको जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका करनेवाला बतलाया है। इस प्रकारके लक्षण नहीं किये हैं।

समाधान—वहाँ प्रकरणानुसार ईश्वरका सामान्य लक्षण बतलाया है। उपासनामें उपास्यके जिस स्वरूपको लेकर उपासना की जाती है, उसके उसी स्वरूपमें अवस्थिति होती है। असम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् ब्रह्मके शुद्धस्वरूपमें अवस्थितिके इच्छुक उपासकको संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयसे कोई प्रयोजन नहीं है। उसको क्लेश, सकामकर्म, कर्मोंके फल और वासनाओंसे, जो बन्धनके कारण हैं, छुटकारा पाना है। इसलिये ईश्वरके ऐसे विशेष स्वरूपमें उपासना करना उसको बतलाया गया है।

शङ्का—क्लेश, कर्म, विपाकादि तो चित्तके धर्म हैं, पुरुष तो ईश्वरके समान सदा असङ्ग और निर्लेप है, इसलिये ईश्वरमें अन्य पुरुषोंसे क्लेशादि धर्मसे रहित होनेकी विशेषता अयुक्त है।

समाधान—यद्यपि सभी पुरुषोंमें वास्तविक क्लेशादि नहीं हैं तथापि चित्तमें रहनेवाले क्लेशादिका पुरुषके साथ औपाधिक सम्बन्ध है अर्थात् चित्तमें रहनेवाले क्लेशादि पुरुषमें अविवेकसे आरोपित कर लिये जाते हैं। जैसे योद्धाओंमें (लड़नेवालोंमें) जीत-हार होती है, पर वह स्वामीकी कही जाती है अर्थात् जैसे राजा और सेनाका परस्पर स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध होनेसे सेनाकर्तृक (सेनासे की हुई) जय पराजयका स्वामिभूत राजामें व्यवहार होता है; क्योंकि वह उसके फलका भोक्ता है। इसी प्रकार चित्त और पुरुषका भी परस्पर स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध होनेसे चित्तमें वर्तमान क्लेशादिका ही पुरुषमें व्यवहार होता है, क्योंकि वह उसके फलका भोक्ता है। जैसा कठोपनिषद् (३ । ४) में कहा है—

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।

ज्ञानीलोग इन्द्रिय, मनसे युक्त आत्माको भोक्ता कहते हैं (इन्द्रियादिसे जो युक्त नहीं है वह भोक्ता नहीं है)।

किंतु यह अविवेक-प्रयुक्त औपाधिक क्लेशोंका सम्बन्ध विवेकशील ईश्वरमें सम्भावित नहीं है। यह औपाधिक भोगके सम्बन्धका न होना ही ईश्वरमें अन्य पुरुषोंसे विशेषता है अर्थात् पुरुषके चित्तके साथ एकरूपतापन्न सम्बन्धसे जो चित्तके पुरुषमें औपाधिक धर्म आरोपित किये जाते हैं, उन धर्मोंसे असम्बद्ध जो विशुद्ध सत्त्वगुण-प्रधान चित्तोपाधिक नित्य ज्ञान ऐश्वर्यादि धर्मविशिष्ट सत्यकाम, सत्य सङ्कल्प चेतन है वह ईश्वर-पदका वाच्य है। वह अन्य पुरुषोंसे विशेष है।

शङ्का—यदि क्लेशादिसे असम्बद्ध होना ही ईश्वरमें विशेषता है तो मुक्त पुरुष तथा प्रकृतिलय आदि भी ईश्वर-पदका वाच्य हो सकते हैं, क्योंकि क्लेशसे तो उनका भी सम्पर्क नहीं होता है।

समाधान—प्रकृतिलय और विदेह योगियोंको प्राकृत-बन्ध होता है तथा अपनी अवधिके अनन्तर संसारमें आनेसे भावी क्लेशोंसे सम्बन्ध होता है। विदेह और प्रकृतिलयोंसे भिन्न दिव्य-अदिव्य विषयोंके भोक्ता देव, मनुष्यादिकोंको क्रमशः दाक्षिणिक और वैकारिक बंध होता है। यद्यपि इन तीनों बन्धोंको काटकर कैवल्यको प्राप्त हुए पुरुष भी मुक्त ही कहलाते (वास्तवमें तो मुक्ति और बन्धन दोनों अन्तःकरणके ही धर्म हैं, पुरुष उसका द्रष्टा है इसलिये उसमें आरोपित कर लिये जाते) हैं तथापि वे सदा मुक्त नहीं हैं; क्योंकि क्लेशयुक्त होकर ही योग-साधनके अनुष्ठानद्वारा ही क्लेशोंके बन्धनसे मुक्त हुए हैं, किंतु ईश्वर सर्वदा क्लेशोंसे अपरामृष्ट होनेसे सदा ही मुक्त है। यह सदा मुक्तस्वरूपता ईश्वरमें मुक्त पुरुषों तथा प्रकृतिलयोंसे विशेषता है।

शङ्का—ज्ञानस्वरूप ऐश्वर्य तथा पुरुषोंके उद्धारके सत्यसङ्कल्परूप ऐश्वर्यका परिणाम अपरिणामी पुरुषमें होना असम्भव है और यदि यह धर्म चित्तका माना जाय तो सदा मुक्त ईश्वरका चित्तके साथ स्व-स्वामिभाव-सम्बन्ध सम्भव नहीं हो सकता; क्योंकि स्व-स्वामिभाव-सम्बन्ध अविद्यासे होता है। इस प्रकार सदा मुक्त पुरुषविशेषमें स्वाभाविक ऐश्वर्यके अभावसे और चित्तमें स्व-स्वामिभाव सम्बन्धके असम्भव होनेसे ईश्वरको सदा मुक्त पुरुषविशेष नहीं कहा जा सकता।

समाधान—यद्यपि अपरिणामी चेतनभूत ईश्वरमें इन ऐश्वर्योंका परिणाम होना असम्भव है; क्योंकि वह रजस्-तमस्रहित विशुद्ध चित्तका धर्म है और चित्तके साथ नित्यमुक्त ईश्वरका स्व-स्वामि-भाव-सम्बन्ध असम्भव है तथापि जैसे अन्य पुरुषोंका अविद्याप्रयुक्त चित्तके साथ स्व-स्वामिभाव-सम्बन्ध है वैसे ईश्वरके साथ अविद्या-प्रयुक्त नहीं है। किंतु वह चित्तके स्वभावको जानता हुआ तीनों तापोंसे दुःखित संसार-सागरमें पड़े हुए जीवोंका ज्ञान एवं धर्मके उपदेशद्वारा उद्धार करनेके लिये विशुद्ध सत्त्वरूप, न कि अज्ञान-प्रयुक्त, चित्तको धारण किये हुए है। इसी प्रकार अज्ञानपूर्वक सङ्गवाले चित्तमें परिणाम होता है। नित्य विशुद्धसत्त्वरूपचित्तमें नित्य-ज्ञान वा प्रेरणाका होना परिणामरूप नहीं है। अविद्याके सम्बन्धसे रहित ईश्वर चित्तके स्वरूपको जानता हुआ पुरुषके भोग, अपवर्ग और धर्म-ज्ञानके उपदेशके लिये विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्तके धारण करनेसे भ्रान्त नहीं कहा जा सकता। ईश्वर विशुद्ध सत्त्वरूप चित्तद्वारा जीवोंके कल्याणार्थ संसारकी रचना करनेमें भ्रान्त नहीं किंतु ज्ञानमय ही है।

ईश्वरकी इच्छामात्रसे सब जगत्का उद्धार-रूप ऐश्वर्य अनादि विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्तके योगसे है और विशुद्ध सत्त्वगुणमय, चित्तका योग उत्कृष्ट ज्ञानसे है। विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्त हो तो उत्कृष्ट ज्ञान हो और उत्कृष्ट ज्ञान हो तो विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्त हो। ऐसे अन्योन्याश्रय (एक-दूसरेका सहारा लेना) रूप दोष यहाँ नहीं है; क्योंकि ये दोनों ही ईश्वरमें अनादि हैं। इन दोनोंमें कोई किसीकी अपेक्षा नहीं रखता है। जहाँ अपेक्षा होती है वहीं यह दोष होता है। ईश्वरका उस विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्तके साथ अनादि सम्बन्ध है; क्योंकि प्रकृति और पुरुषका संयोग-विभाग अर्थात् पुरुषके भोग-अपवर्गार्थ-सृष्टि, उत्पत्ति और प्रलय बिना ईश्वर-इच्छा (सत्य-सङ्कल्प) के नहीं हो सकती।

भाव यह है कि यद्यपि धर्म एवं ज्ञानके उपदेशद्वारा पुरुषोंके उद्धार करनेकी इच्छा होनेसे ईश्वर विशुद्ध सत्त्वस्वरूप चित्तरूप उपाधिको धारण किये हुए हैं और इस उपाधिके धारणसे पूर्वोक्त इच्छा (सत्य-सङ्कल्प) होती है। अर्थात् उद्धारकी इच्छा होनेसे ईश्वरको चित्तका ग्रहण करना और चित्तके ग्रहण होनेसे इच्छाका होना; इस प्रकार परस्परकी अपेक्षा होनेसे अन्योन्याश्रित दोष आता है तथापि बीज-अङ्कुरके समान संसारके अनादि होनेसे इस दोषकी निवृत्ति हो जाती है।

जिस प्रकार अन्य पुरुषोंका चित्त पुरुषसे प्रतिबिम्बित हुआ सुख, दुःख, मोह (अविद्या) रूपसे परिणत होता है और योगियोंका चित्त पुरुषसे प्रतिबिम्बित हुआ निर्मल सात्त्विक ज्ञानसे परिणामको प्राप्त होता है; और उनकी ही उपाधिसे पुरुषमें सुख, दुःख और मोहग्रस्त होना तथा निर्मल सात्त्विक ज्ञानसे युक्त होना आरोप किया जाता है वैसा ईश्वरका विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्त नहीं है। वह केवल सात्त्विक परिणाम, उत्कर्ष (ऐश्वर्यावधि) वाला है—यह उसमें अन्य पुरुषोंसे विलक्षणता है।

उस विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्तमें निरतिशय ऐश्वर्यरूप उत्कृष्टता और वेद विद्यमान रहते हैं। उस विद्यमान उत्कृष्टता और वेदोंका वाच्य-वाचकभाव अनादि सम्बन्ध है। अर्थात् ईश्वरके चित्तमें अनादि उत्कृष्टता विद्यमान है और उसी चित्तमें उत्कृष्टताके वाचक वेद भी रहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर सदा ही ऐश्वर्यवाला और सदा ही मुक्त है।

शङ्का—यह जो ईश्वरमें विशुद्ध सत्त्वमय चित्तके ग्रहणद्वारा सर्वोत्कृष्टता बतलायी है, क्या वह उत्कृष्टता सनिमित्त (किसी शास्त्रके प्रमाणसे सिद्ध) है वा निष्प्रमाणक है? यदि श्रुति-स्मृतिको उसमें प्रमाण माना जाय तो श्रुति-स्मृतिमें क्या प्रमाण है?

समाधान—सर्वज्ञ ईश्वरके स्वाभाविक ज्ञानरूप वेद ईश्वरकी सर्वोत्कृष्टतामें प्रमाण हैं; और अन्य प्रमाणद्वारा ईश्वरके निर्भ्रान्त और सर्वज्ञ सिद्ध होनेसे ईश्वरीय ज्ञान वेदकी प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध है।

यह सर्वज्ञतादिरूप धर्म तथा वेदरूप शास्त्र ईश्वरके विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्तमें विद्यमान हैं और इन दोनोंका परस्पर अनादि निमित्त नैमित्तकभावसम्बन्ध है अर्थात् ईश्वरके चित्तमें वर्तमान विशुद्ध सत्त्वका प्रकर्ष निमित्तकारण है और वेद उसका आविर्भूत है। इस उत्कृष्टतासे ही ईश्वर नित्य-मुक्त और नित्य-ऐश्वर्यशाली कहा जाता है।

शङ्का—यदि ईश्वरको न मानकर केवल प्रधान (मूल-प्रकृति) को ही पुरुषके भोग-अपवर्ग-प्रयोजनके सम्पादनार्थ संसार-रचनामें प्रवृत्त मान लें तो क्या दोष होगा?

समाधान—ईश्वररूप प्रेरक न मानकर केवल जड-प्रधानको संसारकी रचनामें प्रवृत्त माननेमें यह दोष होगा कि जड-पदार्थ बिना चेतनकी प्रेरणाके अपने कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता है, जैसे कि सारथिके बिना रथ नहीं चल सकता। इसलिये विशुद्ध सत्त्वोपाधिक नित्य-ज्ञान-क्रियैश्वर्यशाली चेतनभूत ईश्वरको मानना ही पड़ेगा। ऐसा ही उपनिषदोंमें बतलाया है—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। (श्वेताश्वतर-उपनिषद्)

माया प्रपञ्च (संसार) का उपादानकारण है और मायाका स्वामी प्रेरक परमेश्वर निमित्त-कारण है।

अन्य कल्पनाओंका निम्न प्रकार समाधान समझ लेना चाहिये—

ईश्वर अनेक नहीं हो सकते। यदि एक-जैसे अनेक हों और उनके अभिप्राय भिन्न-भिन्न हों तो कोई कार्य नहीं चल सकेगा अर्थात् एक चाहे सृष्टि हो और दूसरा चाहे सृष्टि न हो; ऐसी दशामें कुछ भी न हो सकेगा।

यदि ईश्वरोंको अनेक मानकर छोटा-बड़ा मानें तो जो बड़ा है वही ईश्वर है, क्योंकि वही ऐश्वर्यकी पराकाष्ठा (अवधि) को प्राप्त हो जाता है।

इसलिये जिसमें ज्ञान और ऐश्वर्यकी पराकाष्ठा है और जो क्लेश, कर्म आदिसे सदा रहित है, वह सदा मुक्त, नित्य, निरतिशय, अनादि, अनन्त, सर्वज्ञ पुरुष-विशेष ईश्वर है।

विशेष विचार (सूत्र २४) —सूत्र चौबीसका सारांश— ईश्वरमें अन्य पुरुषोंसे यह विशेषता है कि वह तीनों कालमें क्लेशादिके सम्बन्धसे रहित है।

यद्यपि क्लेशादि चित्तके धर्म हैं न कि असङ्ग, निर्लेप पुरुषके, तथापि चित्तमें रहनेवाले इन क्लेशोंका पुरुषमें औपाधिक सम्बन्ध है अर्थात् पुरुषमें अविवेकसे आरोपित कर लिये जाते हैं; क्योंकि पुरुष ही इनका भोक्ता है, किंतु ईश्वरमें इन औपाधिक क्लेशोंका भी सम्बन्ध नहीं है। ईश्वरमें मुक्त पुरुषोंसे यह विशेषता है कि वे क्लेश-युक्त होकर साधनके अनुष्ठानद्वारा मुक्त हुए हैं; ईश्वर तीनों कालमें मुक्त है। ईश्वरके अर्थ हैं—ईशनशील अर्थात् इच्छामात्र (संकल्पमात्र) से सम्पूर्ण जगत्के उद्धार करनेमें समर्थ।

यह जगत्के उद्धारका ऐश्वर्य अनादि है और अनादि विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्तके अनादि योगसे है; और अनादि विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्तका अनादि उत्कृष्ट ज्ञानसे अनादि योग है।

इस प्रकार विशुद्ध सत्त्वचित्तके साथ जगत्के उद्धारका ऐश्वर्य तथा उत्कृष्ट ज्ञानके ऐश्वर्यका अनादि योग होनेसे ये दोनों ऐश्वर्य इसमें परिणामरूप नहीं हैं। अन्य चित्तोंसे इस विशुद्ध सत्त्वचित्तमें यह विलक्षणता है कि यह चित्त अन्य चित्तों-जैसा न तो गुणोंका विषम परिणाम है और न इसमें कोई विसदृश परिणाम होता है। यह चित्त विशुद्ध अर्थात् रजस्-तमस्-शून्य सत्त्व है। इसी सत्त्वके सम्बन्धसे ईश्वरमें नित्य ज्ञान, नित्य इच्छा, नित्य क्रिया रहती है। 'तीनों तापोंसे दुःखित संसार-सागरमें पड़े हुए जीवोंका उद्धार ज्ञान और धर्मके उपदेशसे करूँ' इस प्रकारकी इच्छा (सत्यसंकल्प) ईश्वरमें सर्वदा रहती है। उपनिषदोंमें भी ऐसा ही कहा गया है—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

न उसका (मनुष्य-जैसा) कोई देह है, न इन्द्रियाँ हैं, न उसके कोई बराबर है, न उससे कोई बड़ा है। उसकी उत्कृष्ट शक्ति अनेक प्रकारकी अनादिसे सुनी जाती है; और उसके ज्ञान, बल और क्रिया—ये तीनों स्वाभाविक और नित्य हैं।

सङ्गति—अब अगले सूत्रमें ईश्वरकी सर्वज्ञता अनुमान—प्रमाणद्वारा सिद्ध करते हैं—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्॥ २५॥

शब्दार्थ—तत्र = उस पूर्वोक्त ईश्वरमें; निरतिशयम् = अतिशयरहित; सर्वज्ञबीजम् = सर्वज्ञताका बीज है।

अन्वयार्थ—उस पूर्वोक्त ईश्वरमें सर्वज्ञताका बीज अतिशय (बढ़ती) रहित है।

व्याख्या—अतीत, अनागत और वर्तमान जो अतीन्द्रिय पदार्थ हैं, उनमें किसी एक या बहुत-से पदार्थोंका जो संयमजयसे (सत्त्वगुणके न्यूनाधिक होनेसे) अल्प या अधिक प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। वह प्रत्यक्ष ज्ञान सर्वज्ञताका बीज है। संयमजय अर्थात् सत्त्वगुणकी न्यूनाधिकताकी अपेक्षासे कोई योगी किंचित् ही अतीन्द्रिय वस्तुको प्रत्यक्ष कर सकता है। कोई बहुत अतीन्द्रिय वस्तुको प्रत्यक्ष कर सकता है। इस प्रकार ज्ञेय वस्तुओंकी अपेक्षासे प्रत्यक्ष ज्ञान अल्प या बहुत कहा जाता है। प्रथम संयमके जयसे योगीका जो एक या बहुत अतीन्द्रिय पदार्थोंका प्रत्यक्ष ज्ञान

होता है, वह सातिशय ज्ञान है । वह सर्वज्ञताका बीजरूप सातिशय ज्ञान वृद्धिको प्राप्त होते-होते जहाँ निरतिशय हो जाय वह सर्वज्ञ है ।

जो वस्तु किसीकी अपेक्षासे न्यून या अधिक हो, वह सातिशय कही जाती है, और जो काष्ठा (सीमा) को प्राप्त हुई कहीं विश्रान्त हो जाय, वह निरतिशय कही जाती है ।

जिस ज्ञानके बराबर अथवा अधिक ज्ञान हो, उसको सातिशय ज्ञान; और जिसके बराबर अथवा अधिक ज्ञान न हो अर्थात् जो काष्ठाको प्राप्त हो जाय, उसको निरतिशय ज्ञान कहते हैं ।

यह प्रथम संयमजयसे उत्पन्न हुआ जो योगियोंमें सर्वज्ञताका बीजरूप सातिशय ज्ञान है, वह सातिशय होनेसे वृद्धिको प्राप्त होते-होते काष्ठाको प्राप्त होकर एक सीमापर पहुँचकर निरतिशय हो जायगा; क्योंकि जो पदार्थ न्यूनाधिक-रूप (कम-ज्यादापन) धर्मविशिष्ट होनेसे सातिशय होता है, वह अवश्य ही कहीं काष्ठाको प्राप्त होकर निरतिशय हो जाता है । जैसा कि अणु (छोटा) परिमाण परमाणुओंमें और महत् (बृहत् अर्थात् बड़ा) परिमाण आकाशमें काष्ठा (अन्तिम सीमा) को प्राप्त हो जाता है अर्थात् अणु परिमाणकी विश्रान्ति परमाणुमें और महत् परिमाणकी विश्रान्ति आकाशमें है; क्योंकि परमाणुसे अधिक कोई छोटा नहीं है और आकाशसे अधिक कोई बृहत् (बड़ा) नहीं है । ऐसे ही सर्वज्ञताका बीजरूप अतीन्द्रिय वस्तुविषयक योगीका ज्ञान सातिशय है, क्योंकि उस योगीके ज्ञानसे किसी दूसरे योगीका ज्ञान अधिक होता है । इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते जहाँ परम काष्ठाको प्राप्त होकर यह निरतिशय ज्ञान हो जाय, वही सर्वज्ञ, सदा मुक्त ईश्वर है ।

जिस प्रकार ज्ञानकी काष्ठाका आधार ईश्वर बतलाया है, इसी प्रकार धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, यश, श्री, प्रभृति और सम्पत्तिकी काष्ठाका भी आधार ईश्वरको जानना चाहिये ।

भाष्यकार लिखते हैं कि यह सामान्य दृष्टिसे अनुमानद्वारा ईश्वरके सर्वज्ञ होनेका समाधान है । यह विशेष-प्राप्तिमें समर्थ नहीं है । उसके नाम, महिमा, प्रभाव आदिकी विशेष प्राप्ति वेदोंमें खोजनी चाहिये । संसारकी रचनामें ईश्वरका कोई अपना अनुग्रह नहीं है । इसमें जीवोंका भोग-अपवर्गरूप अनुग्रह करना ही प्रयोजन है । इस दयालुताहीके कारण 'ज्ञान और धर्मोपदेशद्वारा सांसारिक पुरुषोंका मैं उद्धार करूँगा' इस भावसे कल्प-प्रलय और महाप्रलयके पीछे सृष्टिके आरम्भमें वेदोंका उपदेश करता है ।

जैसे कपिल मुनिने योगबलसे निर्माण किये हुए चित्तको (अपने संकल्पसे रचे हुए न कि कर्मोंसे विवश मिले हुएको) आश्रयण कर बिना किसी अपने प्रयोजनके केवल सृष्टिके अनुग्रहके लिये उनके कल्याणार्थ करुणा करके जिज्ञासु आसुरी ब्राह्मणको समाधिद्वारा अनुभव कराके पचीस तत्त्ववाले तत्त्व-समासरूपी सांख्य-दर्शनका उपदेश दिया ।*

* भोजवृत्तिका भाषानुवाद (सूत्र २५)—उस ईश्वरमें सर्वज्ञताका बीज (सर्वज्ञताका कारण होनेसे बीजके सदृश बीज अर्थात् कारण) भूत, भविष्यत्, वर्तमान पदार्थोंके ज्ञानका अल्पत्व-महत्त्व निरतिशय है अर्थात् अवधिको प्राप्त हो गया है । जो सातिशय अल्पत्व, महत्त्व आदि धर्म हैं, उनकी अवधि देखी गयी है, जैसे परमाणुओंमें अल्पत्वकी और आकाशमें महत्त्वकी, ऐसे ही उच्च, नीच भावमें देखे हुए ज्ञान आदि चित्तके धर्म कहीं निरतिशय होते हैं । जिसमें वे निरतिशय हैं, वह ईश्वर है । यद्यपि इससे यह बोध नहीं होता

सङ्गति—पूर्वसूत्रोक्त अनुमानद्वारा ब्रह्मा आदि ही निरतिशय ज्ञानका आधार क्यों नहीं होते ? इस आशङ्काके निवारणार्थ अगले सूत्रमें ब्रह्मादिकोंसे भी ईश्वरमें विशेषता बतलाते हैं—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—पूर्वेषाम् = पूर्व उत्पन्न ब्रह्मादिकोंका; अपि = भी; गुरुः = (वह ईश्वर) उपदेष्टा है; कालेन-अनवच्छेदात् = क्योंकि वह कालसे अवच्छिन्न (परिमित) नहीं है।

अन्वयार्थ—वह ईश्वर पूर्व उत्पन्न हुए ब्रह्मादिकोंका भी गुरु है; क्योंकि वह कालसे परिच्छिन्न (परिमित) नहीं है।

व्याख्या—गुरु उपदेष्टाका और पूज्यका नाम है।

कालेन अवच्छिन्न = कालसे परिच्छिन्न अर्थात् जो किसी कालमें हो और किसी कालमें न हो।

अतः कालेन अनवच्छिन्न (कालसे अपरिच्छिन्न) के अर्थ सर्वकालमें विद्यमानके हैं।

जैसे ब्रह्मादि सृष्टिसे पूर्व और महाप्रलयके अनन्तर उत्पत्ति-विनाशशील होनेसे काल-परिच्छिन्न हैं, वैसे ईश्वर नहीं है; क्योंकि वह सर्वदा विद्यमान होनेसे कालकी परिच्छिन्नतासे रहित है। इसलिये ब्रह्मादिकोंको ज्ञान प्रदान करनेसे ईश्वर उन सबका गुरु और उपदेष्टा है।

जैसा वर्तमान सर्गके आदिमें ईश्वर ज्ञान-ऐश्वर्य-युक्त सिद्ध है, वैसे ही पूर्व सर्गोंके आदिमें भी इस प्रकार विद्यमान होनेसे ईश्वर ही अनादि, सर्वज्ञ, निरतिशय, ज्ञानका आधार है, ब्रह्मादि नहीं हैं। जैसा यजुर्वेदीय श्वेताश्वतरोपनिषद्में बतलाया गया है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ (६। १८)

जिस ईश्वरने सृष्टिके आदिमें ब्रह्माको उत्पन्न किया और जिसने ब्रह्माके हृदयमें स्वर, पाठ, रहस्य और अर्थसहित वेद-ज्ञानका प्रकाश किया, उस आत्मदेवकी मैं मुमुक्षु शरण लेता हूँ।

विशेष वक्तव्य—इस सूत्रमें ईश्वरको कालकी सीमासे परे गुरुओंका गुरु बतलाया गया है। राजा, प्रजा, स्वामी, सेवक आदि भावनाओंमें भेदभाव तथा स्वार्थसिद्धिकी सम्भावना रहती है। माता-पिताका भी पुत्रके प्रति मोह हो सकता है; किंतु गुरु-शिष्यका सम्बन्ध केवल आध्यात्मिक है, जिसमें केवल ज्ञान-प्राप्ति और आत्मोन्नति ही उद्देश्य होता है; इसलिये सूत्रमें ईश्वरको गुरुओंके गुरुकी भावनासे उपासना बतलायी गयी है।

योग-मार्गमें गुरुओंको शिष्योंसे अपनी शकल या अपनी मूर्तिका ध्यान करवाना श्रेष्ठ नहीं है। वास्तविक गुरु होनेका अधिकारी वही हो सकता है, जो गुरुओंके गुरु ईश्वरतक पहुँचावे और उसका ही प्रणिधान अर्थात् उसके ही सब कुछ समर्पण करना सिखलावे।

कि जिसमें वे निरतिशय हैं वह ईश्वर ही क्यों है, कोई अन्य क्यों नहीं; तथापि 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' इत्यादि उपनिषद्-वाक्य आदिके प्रमाणसे ईश्वरके ही सर्वज्ञत्वादि धर्म जानने चाहिये। ईश्वरका कोई प्रयोजन नहीं, तो वह जीव और प्रकृतिका क्यों संयोग-वियोग करता है ? यह शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि दयालु होनेसे प्राणियोंके ऊपर दया करना ही उसका प्रयोजन है। यह ईश्वरका अध्यवसाय (इच्छा-विशेष) है कि 'कल्पोंके प्रलय और महाप्रलयोंमें सब प्राणियोंका उद्धार करूँ।' जो जिसको इष्ट है वही उसका प्रयोजन है।

साधकोंको अपने इस आध्यात्मिक मार्गमें सच्चे पथदर्शककी खोज करनेमें पूरा सचेत रहना चाहिये । योग-मार्गमें पथदर्शकका अनुभवी होना तो आवश्यक है ही, किंतु निम्न विशेषताओंपर भी पूरा ध्यान रखना चाहिये । पथदर्शक किसी विशेष शक्ति अथवा किसी विशेष देवी-देवताके संकीर्ण उपासनाभावसे परे होकर केवल एक सर्वज्ञ सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् परमगुरु परमेश्वरका उपासक हो । जन्मसे जात-पात, मत-मतान्तरोंकी संकीर्णता तथा साम्प्रदायिक पक्षपातसे परे होकर प्राणिमात्रमें एक ही शुद्ध चेतन परमात्मतत्त्वको देखता हुआ सभीका शुभचिन्तक हो । जो साधकोंके केवल गुण, कर्म, स्वभाव और सात्त्विक संस्कारोंपर दृष्टि डालता हुआ उनको उनके अन्तिम लक्ष्यपर पहुँचानेमें प्रयत्नशील हो । साधकोंसे धन, सम्पत्ति, मान, प्रतिष्ठा आदिका इच्छुक न हो अथवा जो केवल अपने सम्प्रदायके फैलाने तथा शिष्य-मण्डलीके बढ़ानेका इच्छुक न हो, अपितु निःस्वार्थ-भावसे बिना किसी वैयक्तिक लगावके समदृष्टिसे सभीको आत्मोन्नतिमें सहायता देनेमें तत्पर हो । जो दुनियाके राग-द्वेष आदि सारे प्रपञ्चों तथा पाखण्डों और बनावटसे परे होकर निरभिमान—निरहंकारताके साथ आत्मचिन्तनमें रत हो । पथप्रदर्शकपर इस प्रकार दृष्टि डालनेसे पूर्व साधकोंको स्वयं अपने अंदर देखना चाहिये । क्या हमारी जिज्ञासा सच्ची और वैराग्य तीव्र है ? क्या हम सांसारिक कामनाओं, धन-सम्पत्ति, मान-प्रतिष्ठा अथवा अन्य किसी प्रकारकी स्वार्थ-दृष्टिसे इस मार्गमें प्रवेश नहीं कर रहे हैं ? क्या हमारा प्राणिमात्रके प्रति स्वात्मा-जैसा प्रेम-भाव है ? क्या हम जन्मसे जात-पात, मत-मतान्तर और साम्प्रदायिक संकीर्णताके कूप-मण्डूक तो नहीं हैं ? क्या हम अपने पथदर्शकको धोका तो नहीं दे रहे हैं ? क्या हम तपस्वी जीवन बिताने और पथदर्शककी सच्ची एवं हितकारी शिक्षाको ग्रहण करने और पालन करनेके लिये तैयार हैं ? इत्यादि ।

(श्रीगुरु-महिमा)

गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागूँ पाय ।
बलिहारी गुरुदेव की जिन गोविन्द दियो बताय ॥
गुरु बिन भव निधि तरै न कोई । जो बिरंचि संकर सम होई ॥

(तुलसीकृत रामायण)

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

अर्थ—गुरु ब्रह्माके समान है, गुरु विष्णुके समान है एवं गुरु भगवान् शङ्करके समान है । गुरु तो साक्षात् ब्रह्म है, इसलिये उस गुरुको नमस्कार है ।

हौं शिव शाक्त बनूँ न भजूँ चतुरानन विष्णु न इन्द्र मनाऊँ ।
तीर्थ बसूँ नहिं ताप तपूँ गिरि कन्दर अन्तर ध्यान लगाऊँ ॥
फेरूँ नहीं मठ मन्दिर में करमाल मणी, निज जोति जगाऊँ ।
पूज्य सिरी गुरु के चरणों पर "ब्रह्म" सदैव ही सीस नवाऊँ ॥
हौं सब कष्ट विपाद विनष्ट वितान समुन्नति के तन जावें ।
वाञ्छित हो फल प्राप्त सदा दिन सौख्य सुधारस में सन जावें ॥
जीव सहाय अजा अनुकूल रहे मल अन्तर के हन जावें ।
जो गुरु "ब्रह्म" दया कर दें तब देव दयालु सभी बन जावें ॥

(बाबूराम "ब्रह्म" कवि)

सङ्गति—इस प्रकार ईश्वरका निरूपण करके अब उसका प्रणिधान किस प्रकार करना चाहिये; यह बतलानेके लिये उसका वाचक (नाम) अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—तस्य = उस ईश्वरका; वाचकः = बोधक शब्द (नाम); प्रणवः = ओ३म् है ।

अन्वयार्थ—उस ईश्वरका बोधक शब्द ओ३म् है ।

व्याख्या—जिस अर्थका बोधक जो शब्द होता है, वह शब्द उस अर्थका वाचक कहलाता है और जिस वाचक शब्दसे जो बोध्य अर्थ होता है, वह अर्थ उस शब्दका वाच्य कहलाता है । जैसे गौ (गाय) शब्द वाचक है और सास्ना (गौओंके गलेमें कम्बल-सा लटका हुआ मांस)—पुच्छ आदि-वाला पशुविशेष वाच्य है । वाचक, बोधक, अभिधायक, संज्ञा, नाम एकार्थक हैं । इसी प्रकार वाच्य, बोध्य, अभिधेय, संज्ञी, नामी भी समानार्थक हैं ।

प्रकर्षेण नूयते स्तूयतेऽनेनेति नौति, स्तौतीति वा प्रणव ओंकारः । (भोजवृत्ति)

नम्रतासे स्तुति की जाय जिसके द्वारा अथवा भक्त जिसको उत्तमतासे स्तुति करता है, वह 'प्रणव' कहलाता है । वह 'ओ३म्' ही है ।

इस ओ३म्का और ईश्वरका वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध है अर्थात् निरतिशय ज्ञान-क्रियाकी शक्तिरूप ऐश्वर्यवाला व्यापक ईश्वर वाच्य है, अभिधेय है और ओ३म् वाचक, बोधक और अभिधायक है ।

भाष्यकार इस सम्बन्धको प्रश्नोत्तरद्वारा नित्य सिद्ध करते हैं । यथा—

प्रश्न—क्या वह ईश्वर और प्रणवका वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध संकेत-कृत (संकेत-जन्य) है ? या दीपक-प्रकाशवत् संकेतद्योत्य अर्थात् दीपकके प्रकाशके सदृश विद्यमान ही संकेतसे ज्ञात कराया हुआ है ?

यदि संकेतसे वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्धकी उत्पत्ति मानी जायगी तो जन्य (उत्पत्तिवाला) होनेसे सम्बन्ध अनित्य कहा जायगा; और यदि संकेतसे उत्पन्न नहीं होता, किंतु ज्ञात कराया जाता है, इस प्रकार संकेतको द्योतक (ज्ञान करानेवाला) माना जाय तो सम्बन्ध नित्य कहा जायगा । इन दोनोंमेंसे कौन-सा सम्मत है ? प्रष्टाका यह भाव है ।

उत्तर—यह ईश्वर और ओ३म्का वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध नित्य है । केवल वर्णोंके संकेतसे प्रकाशितमात्र होता है, नया उत्पन्न नहीं होता है । जैसे पिता और पुत्रका सम्बन्ध विद्यमान ही होता है, उसे कोई नया कल्पित नहीं करता, किंतु केवल बतलाया जाता है कि 'यह इसका पिता है, यह इसका पुत्र है ।'

भाव यह है कि जैसे पिता-पुत्रका परस्पर जन्य-जनक-भाव सम्बन्ध विद्यमान हुआ ही 'यह इसका पिता है और यह इसका पुत्र है' इस प्रकार संकेतसे प्रकाश किया जाता है—ऐसा नहीं है कि उस संकेतसे ही वह पिता और वह पुत्र हुआ हो—वैसे ही ईश्वरकृत संकेत भी विद्यमान शब्द-अर्थ-सम्बन्धको प्रकाश करता है, उत्पन्न नहीं करता ।

इसी प्रकार सर्वत्र ही संकेत विद्यमान सम्बन्धका प्रकाशक है, जनक नहीं है । यह संकेत जैसे इस सर्गमें है वैसे ही अन्य सर्गोंमें भी वाच्य-वाचक शक्तिकी अपेक्षासे विद्यमान ही रहता है । अतः पूर्व-पूर्व सम्बन्धके अनुसार उत्तर-उत्तर सर्गमें ईश्वर संकेत करता है ।

विशेष वक्तव्य—सूत्र २७—सूत्रकी व्याख्यामें वाच्य ईश्वर और वाचक प्रणवमें अनादि सम्बन्ध दिखलाया गया है। शास्त्रोंमें कहीं-कहीं ऐसा वर्णन आया है कि प्रणव-ध्वनि केवल ध्यानद्वारा अनुभव करने योग्य है। उसका यथार्थमें मुखसे उच्चारण होना असम्भव है, तथापि गौणरूपेण जो प्रणव-मन्त्र उच्चारण किया जाता है, वह त्र्यक्षरमय है अर्थात् अ, उ और म् ओंकाररूपी प्रणव होता है। जिसके तीनों अक्षरोंमें त्रिगुणमयी प्रकृति क्रमशः अपने तीनों गुणों तमस्, रजस् और सत्त्व, अथवा स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों जगत्सहित तथा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर उनके अधिष्ठाता विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वररूपसे अथवा सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकी अपेक्षासे ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूपसे विद्यमान हैं। और प्रणव ही ईश्वररूप है। वैज्ञानिक दृष्टिसे प्रणवका स्वरूप यह है कि जहाँ कोई कार्य है वहाँ अवश्य कम्पन होगा और जहाँ कम्पन होगा वहाँ अवश्य कोई शब्द होगा। सृष्टिके आदि कारणरूप कार्यकी ध्वनि ही ओंकार है। प्रणव-ध्वनि ही ओंकार है। प्रणव-ध्वनिरूप ध्वन्यात्मक शब्दका रूप वर्णात्मक प्रतिशब्द होनेके कारण शाब्दिक ओंकार अथवा शब्दातीत प्रणव दोनों ही पूर्वापर-सम्बन्धसे ईश्वरवाचक होकर प्रणव कहलाते हैं। प्रणव ध्वन्यात्मक होनेके कारण उसका कोई भी अङ्ग मुखसे उच्चारण करने योग्य नहीं है। किंतु मानसिक जापसे परे केवल ध्यानकी अवस्थामें अन्तःकरणमें ही प्रणव-ध्वनि सुनायी दे सकती है। उसी ध्वन्यात्मक प्रकृतिके आदि शब्द ईश्वरवाचक प्रणवका वर्णात्मक प्रतिशब्द उपासना-काण्डकी सिद्धिके लिये बताया गया है। उसी वर्णात्मक प्रणव प्रतिशब्दको ओंकार कहते हैं। यह ओंकार अर्थात् वर्णात्मक प्रणव अ, उ, म् के सम्बन्धसे कहा गया है। इस वाचक प्रणव और वाच्य ईश्वरोंमें अनादि और अविमिश्र (नित्य) सम्बन्ध है। इस वाचक अर्थात् वर्णात्मक प्रणवके मानसिक जापकी परिपक्व अवस्थाके पश्चात् योगी केवल ध्यानरूप ध्वन्यात्मक प्रणवकी भूमिमें पहुँच जाता है। उसपर पूर्ण अधिकारकी प्राप्ति असम्प्रज्ञात समाधिके प्राप्त करनेमें सहायक होती है। यह २८ वें सूत्रके वि० व० में बतलाया जायगा। योगमार्गपर चलनेवालोंको उचित है कि 'ओम्' नामसे ही ईश्वरकी उपासना करें; क्योंकि यही उसका मुख्य अनादि और नित्य नाम व्यापक अर्थवाला है, अन्य सब गौण और संकीर्ण अर्थवाले हैं। सारी श्रुतियाँ और स्मृतियाँ उसी 'ओ३म्' का मुख्य रूपसे वर्णन कर रही हैं यथा—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

(मु० २। ४)

प्रणव ('ओ३म्') धनुष है। आत्मा बाण है। ब्रह्म लक्ष्य कहा गया है। सावधानीसे उसे बींधना चाहिये। बाणके सदृश (अभ्यासी अपने लक्ष्य ब्रह्ममें) तन्मय हो जाय।

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥ १३ ॥
स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत् ॥१४॥

(श्वे० उप० १। १३-१४)

जैसा कि अरणिमें स्थित भी अग्निकी मूर्ति नहीं दीखती है और न उसके सूक्ष्म रूप (जो अरणिके अंदर उस समय भी है) का नाश है, वह (अरणिगत अग्नि) फिर-फिर अधरारणि-उत्तरारणियोंमें और (मन्थन-दण्डके रगड़नेसे) ग्रहण की जाती है। इन दोनों बातोंके सदृश आत्मा ओंकारके देहमें (ध्यानसे पहले छिपा हुआ ध्यानाभ्याससे ग्रहण किया जाता है) ॥ १३ ॥ अपने देहको अधरारणि और ओ३म्को उत्तरारणि बनाकर ध्यानरूपी मन्थन-दण्डकी रगड़ बार-बार करनेसे छिपी हुई आगके सदृश उस परम ज्योतिको देखे ॥ १४ ॥

यदा वा ऋचमाप्नोत्योमित्येवातिस्वरत्येवꣳ सामैवं यजुरेष उ स्वरो यदेतदक्षरमेतदमृतमभयं तत्प्रविश्य देवा अमृता अभया अभवन् । (छान्दो० १।४।४)

जब उपासक ऋग्वेदको पढ़ता है, ऊँचे स्वरसे ओम् बोलता है। इसी प्रकार साम और इसी प्रकार यजुको। यही ओम् शब्द स्वर है। यह अक्षर, यह अमृत और अभय है। जो उपासक ऐसा जानकर ओम्की स्तुति करता है, वह उस स्वरमें प्रवेश करता है जो अक्षर, अमृत और अभय है और जैसे देव उसमें प्रवेश होकर अमर हो गये वैसे ही अमर हो जाता है।

ओमिति ब्रह्म । ओमितीदꣳ सर्वम् । ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति । ओमिति सामानि गायन्ति । ओꣳशोमिति शस्त्राणि शꣳसन्ति । ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति । ओमिति ब्रह्मा प्रसौति । ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति । ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति । ब्रह्मैवोपाप्नोति । (तै० शी० ८)

ओम् यह ब्रह्म है। ओम् यह सब कुछ है। ओम् यह आज्ञा मानना है। ओम् अङ्गीकारका वाचक है। ओम् कहनेपर (ऋत्विज) मन्त्र सुनाते हैं। ओम् शोम् कहकर शस्त्रों (ऋग्वेदके प्रार्थना-मन्त्रविशेष) को पढ़ते हैं। ओम् कहकर (सोमयज्ञमें) अध्वर्यु यजुर्वेदी प्रतिगर (प्रोत्साहक मन्त्र-विशेष) पढ़ता है। ओम् कहकर ब्रह्मा अनुज्ञा देता है। ओम् कहकर अग्निहोत्रकी अनुज्ञा देता है। वेद अध्ययन करनेवाला ब्राह्मण ओ३म् उच्चारण करता हुआ कहता है। मैं ब्रह्म (वेद) को प्राप्त होऊँ और इस प्रकार वह ब्रह्मको अवश्य पा लेता है।

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव । (मा० १)

यह सब कुछ ओम् अक्षर है; यह जो कुछ भूत, वर्तमान और भविष्यत् है सब उसकी व्याख्या है और जो कुछ तीनों कालोंसे ऊपर है, वह भी ओंकार ही है।

सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति । (मा० ८)

वह यह आत्मा अक्षर दृष्टिसे मात्राओंवाला ओंकार है। पाद ही मात्रा है, मात्रा ही पाद है। वे मात्राएँ अकार, उकार और मकार हैं।

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद । (मा० १२)

चौथा पाद मात्रारहित है। उसमें कोई व्यवहार नहीं है, न कोई प्रपञ्च है, वह शिव और अद्वैत है। इस प्रकार ओंकार आत्मा ही है। जो उसे इस प्रकार जानता है, वह आत्मासे आत्मामें प्रवेश कर जाता है। (माण्डूक्य मन्त्रोंकी व्याख्या सूत्र २८ के वि० व० में देखें)

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ (गीता ८।१३)

जो पुरुष ॐ ऐसे इस एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप परमात्माको चिन्तन करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह पुरुष परम गतिको प्राप्त होता है। ओंकारको सारे मन्त्रोंका सेतु बतलाया गया है तथा मनोवाञ्छित फलकी प्राप्तिके लिये प्रत्येक मन्त्रको ओ३म्के साथ उच्चारण किया जाता है। यथा—

'मन्त्राणां प्रणवः सेतुः'

माङ्गल्यं पावनं धर्म्यं सर्वकामप्रसाधनम् ।
ओंकारः परमं ब्रह्म सर्वमन्त्रेषु नायकम् ॥

सङ्गति—ईश्वर अर्थ और उसका शब्द ओ३म् तथा इन दोनोंका वाच्य-वाचक नित्य सम्बन्ध बतलाकर अब तेईसवें सूत्रमें बतलाये हुए 'ईश्वर-प्रणिधान' का लक्षण कहते हैं—

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ— तत् जपः = उस प्रणव (ओ३म्) का जप; तदर्थ = उस प्रणवके अर्थभूत ईश्वरका; भावनम् = पुनः पुनः चिन्तन करना (ईश्वर-प्रणिधान है) ।

अन्वयार्थ—उस ओ३म् शब्दका जप और उसके अर्थभूत ईश्वरका ध्यान करना (पुनः-पुनः चिन्तन करना) ईश्वर-प्रणिधान है ।

व्याख्या—ओ३म्‌का मानसिक जप करना और उसका वाच्य अर्थ जो ईश्वर है उसके सूत्र चौबीस, पचीस और छब्बीसमें बतलाये हुए गुणोंकी भावना अर्थात् पुन-पुनः ध्यान करना ईश्वर-प्रणिधान है । चित्तको सब ओरसे निवृत्त करके केवल ईश्वरमें स्थिर कर देनेका नाम भावना है । इस भावनासे अविद्या आदि क्लेश, सकाम कर्म, कर्मफल और वासनाओंके संस्कार जो बन्धन अर्थात् जन्म और मृत्युके कारण हैं; चित्तसे धुल जाते हैं और सात्त्विक शुद्ध ज्ञानके संस्कार उदय होते हैं और केवल ईश्वर ही एक ध्येय रह जाता है ? यह भावना बार-बारके अभ्याससे इतनी दृढ़ हो जानी चाहिये कि ओ३म् शब्दके साथ ही उसका अर्थ (ईश्वरका स्वरूप भी) स्मरण हो जाय । जैसे निरन्तर अभ्याससे गौ शब्दके साथ उसका सारा स्वरूप स्मरण हो जाता है ।

यद्यपि जप और ईश्वर-भावनारूप ध्यान दोनोंका एक कालमें होना नहीं हो सकता है, तथापि भावनारूप ध्यानसे पूर्व और पश्चात् जप करनेका क्रम जानना चाहिये । जैसे श्रीव्यासजी महाराजने अपने भाष्यमें बतलाया है—

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत् ।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥

स्वाध्याय नाम प्रणव-जप और अध्यात्मशास्त्रके विचारका है । प्रणव-जपके पीछे योगाभ्यास करे और योगाभ्यासके पीछे प्रणवका जप करे । स्वाध्याय और योग—इन दोनों सम्पत्तियोंसे परमात्मा प्रकाशित होते हैं ।

इस प्रकार ईश्वर-प्रणिधानसे शीघ्रतम असम्प्रज्ञात समाधि-लाभ होता है ।

अभिप्राय यह है कि ओ३म्‌का जाप उसके अर्थोंकी भावनाके साथ होना चाहिये । उसका क्रम इस प्रकार होगा कि पहले सूत्र २४, २५ और २६में बतलाये हुए ईश्वरके गुणोंकी भावना की जावे फिर ओ३म्‌का मानसिक जाप एकाग्रवृत्तिके साथ किया जावे । यही सूत्र २३ में बतलाया हुआ ईश्वर-प्रणिधान है । इससे असम्प्रज्ञात समाधिका शीघ्रतम लाभ किस प्रकार प्राप्त हो सकता है यह इस सूत्रके विशेष विचारमें भली प्रकार दर्शाया जावेगा ।

विशेष विचार—सूत्र २८—

(१) जाग्रत् अवस्थामें स्थूल-जगत्‌में जो स्थूल-शरीरका व्यवहार चलता है, वह आत्माके संनिधि-मात्रसे है, इस स्थूल-शरीरके साथ आत्माके शबल-स्वरूपकी संज्ञा 'विश्व' होती है।

(२) स्वप्नावस्था अथवा सम्प्रज्ञात-समाधिमें सूक्ष्म जगत्‌में जो सूक्ष्म-शरीरका व्यवहार चलता है, वह भी आत्माकी संनिधिसे है। सूक्ष्म-शरीरके सम्बन्धसे आत्माके शबल-स्वरूपकी संज्ञा 'तैजस' होती है।

(३) सुषुप्ति अवस्थामें जो कारण-शरीरमें अभावकी प्रतीति होती है अथवा अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधिमें जो अस्मिताका अनुभव होता है तथा विवेकख्यातिमें जब गुणोंके प्रथम विकृत परिणामरूप चित्तकी आत्मासे भिन्नता प्रतीत होती है, वह भी आत्माके संनिधिमात्रसे है। इस कारण-शरीरके सम्बन्धसे आत्माके शबल-स्वरूपकी संज्ञा 'प्राज्ञ' है।

ये तीनों आत्माके अपने शुद्ध स्वरूप नहीं हैं, प्रकृतिके गुणोंसे मिश्रित हैं। इस कारण ये शबल, सगुण अथवा अपर-स्वरूप हैं। इनसे परे जो आत्माका अपना निखरा हुआ निज केवल शुद्ध स्वरूप है, वह पर अथवा निर्गुण शुद्ध है। वही स्वरूप-अवस्थिति अथवा आत्मस्थिति है।

जिस प्रकार शरीरके सम्बन्धसे आत्माको समझा है, इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत्‌के सम्बन्धसे परमात्माको समझ लेना चाहिये। समस्त संसारमें ज्ञान, नियम तथा व्यवस्थापूर्वक सम्पूर्ण कार्य परमात्माकी संनिधिमात्रसे होते हैं।

स्थूल जगत्‌के साथ परमात्माके शबल-स्वरूपकी संज्ञा 'विराट्' है। इसी प्रकार सूक्ष्म-जगत्‌के सम्बन्धसे उसके शबल-स्वरूपकी संज्ञा 'हिरण्यगर्भ' है तथा कारण-जगत्‌के सम्बन्धसे उसके शबल-स्वरूपकी संज्ञा 'ईश्वर' है।

ये तीनों परमात्माके शबल, सगुण अर्थात् अपर स्वरूप हैं; क्योंकि ये प्रकृतिके गुणोंमें मिश्रित हैं। यह सब महिमा उसके शबल-स्वरूपको ही दिखला रही है। प्रकृतिसे परे परमात्माका शुद्ध निर्गुण अर्थात् पर स्वरूप है। जैसे कि ऋग्वेदमें बतलाया गया है—

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि। (ऋक्० १।९०।३)

यह इतनी बड़ी तो उसकी महिमा है; परमात्मा इससे कहीं बड़ा है। सारे भूत इसका एक पाद हैं। उसके तीन पाद अमृत-स्वरूप अपने प्रकाशमें हैं।

ओ३म्‌की व्याख्या—ओ३म्‌की पहली मात्रा 'अकार' परमात्माके विराट्‌रूपकी बोधक है, जो विश्वका उपास्य है। दूसरी मात्रा 'उकार' हिरण्यगर्भकी बोधक है, जो तैजसका उपास्य है। तीसरी मात्रा 'मकार' ईश्वरकी बोधक है, जो प्राज्ञका उपास्य है, जिसका प्रणिधान तेईसवें सूत्रमें बतलाया गया है। चौथे 'इति विराम'में सब मात्राएँ समाप्त हो जाती हैं। वह गुणोंकी सर्वउपाधियोंसे रहित केवल शुद्ध निर्गुण परमात्मास्वरूप है, जहाँ उपास्य-उपासकके भेद-भाव समाप्त हो जाते हैं, जिसका निषेधात्मक वर्णन निम्न प्रकार किया गया है—

अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।

वह अदृष्ट है, उसको व्यवहारमें नहीं ला सकते, उसको पकड़ नहीं सकते, उसका कोई चिह्न नहीं, वह विचारमें नहीं आ सकता, उसको बतला नहीं सकते। वह आत्मा है; केवल यही प्रतीति उसमें सार है, वहाँ प्रपञ्चका झगड़ा नहीं, वह शान्त है, शिव है और अद्वैत (संख्याकी सीमासे परे) है, उसको चौथा पाद मानते हैं। वह आत्मा है, उसीको जानना चाहिये।

ओम्के पाद और मात्राएँ—माण्डूक्योपनिषद्में ओ३म्के चार पाद बतलाये गये हैं। पहले पादमें पहली मात्रा अकार, दूसरे पादमें दूसरी मात्रा उकार, तीसरे पादमें तीसरी मात्रा मकार और चौथे पादमें मात्रारहित विराम है।

१—पहले पादवाली अकार मात्रामें विराट् (स्थूल जगत्के सम्बन्धसे परमात्माका शबल स्वरूप) विश्व (स्थूल शरीरके सम्बन्धसे आत्माका शबल स्वरूप) और अग्नि (स्थूल शरीर और स्थूल जगत्की मुख्य प्रकृति अग्नि ही है, क्योंकि अग्निसे ही स्थूल शरीर और स्थूल लोक जीवित रहते हैं)।

२—दूसरे पादवाली उकार मात्रामें हिरण्यगर्भ (सूक्ष्म जगत्के सम्बन्धसे परमात्माका शबलस्वरूप), तैजस (सूक्ष्म शरीरके सम्बन्धसे आत्माका शबल स्वरूप) और वायु (सूक्ष्म शरीर तथा सूक्ष्म जगत्की मुख्य प्रकृति वायु हो है; क्योंकि सूक्ष्म शरीर तथा सूक्ष्म जगत्को वायु ही सूत्रात्मारूपसे जीवित रख रहा है)।

३—तीसरे पादवाली मकार मात्रामें ईश्वर (कारण जगत्के सम्बन्धसे परमात्माका शबल स्वरूप), प्राज्ञ (कारण शरीरके सम्बन्धसे आत्माका शबलस्वरूप) और आदित्य (कारण जगत् और कारण-शरीरकी मुख्य प्रकृति —अव्यक्त मूल प्रकृति गुणोंकी साम्य अवस्था तो केवल अनुमान और आगमगम्य है, इसलिये वास्तवमें कारण जगत् विशुद्ध सत्त्वमय चित्त ही है और कारण शरीर सत्त्वचित्त है। आदित्य महत्तत्त्व अर्थात् विशुद्ध सत्त्वमय चित्तका ही दूसरा नाम है, इसलिये वही कारण जगत् और कारणशरीरकी मुख्य प्रकृति है)।

४—चौथे पाद मात्रारहित विराममें कारण जगत् और कारण शरीरसे परे केवल शुद्ध परमात्मतत्त्व है।

मात्राओंसे ओम्की उपासना

१—पहिले पाद एक मात्रावाले ओम्की उपासना—ओम्का वाचक जाप—अर्थोंकी भावनासहित ओम्का वाणीसे जाप करना पहिले पाद एक मात्रावाले अकार ओम्की उपासना है। इसमें स्थूल शरीर-का अभिमान रहता है, इसलिये स्थूलशरीरके सम्बन्धसे जो आत्माकी संज्ञा विश्व है, वह उपासक होता है और स्थूल जगत्के सम्बन्धसे जो परमात्माकी संज्ञा विराट् है, वह उपास्य होता है। बाहरसे बिल्कुल बेसुध होकर पूरे तन्मय हो जानेकी अवस्थामें इसको वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधिकी भूमि समझना चाहिये, जिसमें ध्यानकी सूक्ष्मताके तारतम्यसे विश्वकी विराट्के स्वरूपमें अवस्थिति होती है, जिसके फलस्वरूप पाँचों स्थूल भूत आत्मोन्नतिमें प्रतिबन्धक न रहकर सहायक बन जाते हैं। (शेष सूत्र १७ की व्याख्या तथा सूत्र १८ के विशेष वक्तव्यमें देखें)।

२—दूसरे पाद दो मात्रावाले अकार-उकार ओम्की उपासना—ओम्का मानसिक जाप—अर्थोंकी भावनासहित ओम्का मनसे जप करना दूसरे पाद दो मात्रावाले अकार-उकार ओम्की उपासना है। इसमें सूक्ष्म शरीरका अभिमान रहता है, इसलिये सूक्ष्म शरीरके सम्बन्धसे जो आत्माकी संज्ञा तैजस है, वह उपासक होता है और सूक्ष्म जगत्के सम्बन्धसे जो परमात्माकी संज्ञा हिरण्यगर्भ है, वह उपास्य होता है।

स्थूल शरीरसे बिल्कुल बेसुध होकर पूर्णतया तन्मय हो जानेकी अवस्थामें इसको विचारानुगत और आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधिकी भूमि समझना चाहिये, जिसमें ध्यानकी सूक्ष्मताके तारतम्यसे तैजसकी हिरण्यगर्भके स्वरूपमें अवस्थिति होती है। जिसके फलस्वरूप सूक्ष्मभूत आत्मोन्नतिमें प्रतिबन्धक न रहकर सहायक बन जाते हैं (शेष सू० १७ की व्याख्या तथा सूत्र १८ के वि० व० में देखें)। साधकको इसी दो मात्रावाले ओम् अर्थात् ओम्के मानसिक जापसे ही साधना आरम्भ करनी चाहिये।

३—तीसरे पाद अकार, उकार और मकार तीन मात्रावाले पूरे ओम्की उपासना—ओम्का केवल ध्यान (ध्वनि)—जब मानसिक जाप अपनी परिपक्व अवस्थामें सूक्ष्म होते-होते केवल ध्यान (ध्वनि) रह जाय तब यह तीसरे पाद तीन मात्रावाले पूरे ओम्की उपासना है। इसमें कारण शरीरका अभिमान रहता है, इसलिये कारण शरीरके सम्बन्धसे जो आत्माकी संज्ञा प्राज्ञ है, वह उपासक होता है और कारण जगत्के सम्बन्धसे जो परमात्माकी संज्ञा ईश्वर है, वह उपास्य होता है। ध्यान (ध्वनि) की सूक्ष्मताके तारतम्यसे इसको अस्मितानुगत और विवेकख्यातिको भूमि समझना चाहिये। जिसमें इस ध्यानकी सूक्ष्मताके तारतम्यसे प्राज्ञकी ईश्वरके स्वरूपमें अवस्थिति होती है।

वास्तवमें यही ईश्वरप्रणिधान है जो सूत्र २३ में असम्प्रज्ञात समाधिका साधन बताया गया है। अस्मिता अर्थात् आत्मासे प्रकाशित चित्त कोई इन्द्रियगम्य सांसारिक पदार्थ-जैसी वस्तु नहीं है। न उसका इन-जैसा साक्षात्कार होता है। वह एक विलक्षण अवस्था है, जिसका शब्दोंके द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता और विवेकख्याति जिसमें आत्मा और चित्तका भेद ज्ञान होना बतलाया गया है। वह चित्त, आत्मा और उनका भेद ज्ञान भी सांसारिक पदार्थों-जैसा नहीं है। वह अति विलक्षण चित्तकी सबसे ऊँची अत्यन्त सात्त्विक अवस्था है, जो शब्दोंद्वारा नहीं बतलायी जा सकती। उसको चित्तद्वारा स्वरूप अवस्थितिका अनुभव कह सकते हैं। किंतु इस अवस्थाकी प्राप्ति साधारण बात नहीं है। यह अत्यन्त कठिन और दुर्गम्य है। ओ३म्के मानसिक जापके निरन्तर अभ्याससे जब पूर्ण वैराग्य उदय हो जाय और अन्तःकरण पूर्ण रूपसे शुद्ध हो जाय तब सत्त्व अत्यन्त वृद्धिको प्राप्त होकर सूक्ष्म शरीरमें रजको मानसिक जापकी क्रियाको करनेमें असमर्थ कर देता है। तब रज सत्त्वसे दबा हुआ कारणशरीरमें इस विवेक-ख्यातिकी वृत्तिरूप क्रियाको करना आरम्भ कर देता है। इस सत्त्वकी विशुद्धतामें तम, जिसमें अविद्या क्लेश वर्तमान है, इतना निर्मल हो जाता है अविद्या तथा अन्य सब क्लेश दग्धबीज-तुल्य हो जाते हैं। इस अवस्थामें तमका काम केवल इस अत्यन्त सात्त्विक वृत्तिको रोकने मात्र रह जाता है। यह विवेकख्यातिकी अवस्था जब निरन्तर बनी रहे तब उसको धर्ममेघ समाधि तथा अविप्लव विवेकख्याति कहते हैं। वही जीवनमुक्तिकी अवस्था है।

४—चौथा पाद ओम्का मात्रारहित विराम शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति—जब उपर्युक्त ओम्का ध्यान (ध्वनि) भी अपनी अन्तिम परिपक्व अवस्थामें सूक्ष्म होता हुआ समाप्त हो जाय, तब कारण शरीरसे परे शुद्ध आत्माकी कारण जगत्से परे शुद्ध परमात्माके स्वरूपमें अवस्थिति होती है। यह असम्प्रज्ञात समाधि है, जिसकी प्राप्तिका साधन सूत्र २३ में ईश्वरप्रणिधान बतलाया था। यहाँ पहुँचकर समस्त व्यवधान उपाधियाँ तथा उपास्य-उपासकभाव समाप्त हो जाता है। यही स्वरूपावस्थिति, आत्मस्थिति, परमात्मप्राप्ति अर्थात् प्राणिमात्रका अन्तिम ध्येय है।

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव स विशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद। (माण्डूक्योपनिषद् १२)

अमात्र (जिसकी कोई मात्रा नहीं वह ओंकार) चौथे पादवाला है, जो व्यवहारमें नहीं आता,

जहाँ प्रपञ्चका झगड़ा नहीं, जो शिव अद्वैत है, इस प्रकार ओ३म् आत्मा ही है। वह जो इसको जानता है, वह आत्मासे आत्मामें प्रवेश करता है।

भलो भयो हर बीसरो, सर से टली बलाय।
जैसे थे तैसे भये, अब कुछ कहो न जाय॥
कबीर

जब मैं था तब तू न था, तू पायो मैं नाय।
प्रेम-गली अति साँकरी, ता में द्वै न समाय॥

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वाघास्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः॥ (ऋग्वेद मण्डल ८ सूक्त ४४ मन्त्र २३)

हे प्रकाशमय परमात्मन्! यदि मैं तू हो जाऊँ और तू मैं हो जाय तो तेरा आशीर्वाद (सब प्राणियोंके कल्याणका संकल्प) संसारमें सत् हो जाय।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ (ईशोप० मन्त्र १५)

सुनहरी पात्र (अत्यन्त लुभानेवाले और आकर्षक त्रिगुणात्मक तीनों शरीर और त्रिगुणात्मक तीनों जगत्) से सत्यका मुख (शुद्ध परमात्म-तत्त्व) ढका हुआ है। उसे हे पूषन् (आदित्य अर्थात् कारण जगत्के अधिष्ठाता ईश्वर) हटा दे, सत्य धर्म (शुद्ध परमात्मतत्त्व) को देखनेके लिये।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरका वर्णन

ओ३म्की व्याख्यामें तीनों शरीरोंका संकेतमात्र ही वर्णन किया गया था। यहाँ उनका स्पष्टीकरण किये देते हैं—

स्थूल शरीर—रज-वीर्यसे उत्पन्न होनेवाला, अन्नसे बढ़नेवाला, पाँचों भूतों—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाशसे बना हुआ स्थूल शरीर है।

जाग्रत्— जब तमोगुण रजोगुणसे दबा हुआ होता है, तब जाग्रत्-अवस्थामें सारे कार्य स्थूल जगत्में इसी स्थूल शरीर द्वारा किये जाते हैं। इसी शरीरका जन्म-मरण और इसीमें जरा (बुढ़ापा), रोगादि व्याधियाँ होती हैं।

सूक्ष्म शरीर—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, शक्तिमात्र नासिका, रसना, चक्षु, श्रोत्र और त्वचा; और पाँच कर्मेन्द्रियाँ, शक्तिमात्र हस्त, पाद, वाणी, गुदा, उपस्थ; ग्यारहवाँ मन जिसके द्वारा ये शक्तियाँ काम करती हैं तथा जिसमें संकल्प-विकल्प होते हैं। पाँच सूक्ष्मभूत अथवा प्राण और अहंकार, अहंता पैदा करनेवाली शक्ति, बुद्धि चित्तसहित निर्णय करनेवाली तथा भावों और संस्कारोंको रखनेवाली शक्ति। यह अठारह शक्तियोंका समूह सूक्ष्म शरीर कहलाता है।

स्वप्न—जब बाहरके कार्योंसे स्थूल शरीर थक जाता है, तब तमोगुण रजोगुणको दबाकर स्थूल शरीरको स्थूल जगत्में कार्य करनेमें असमर्थ कर देता है; किंतु तमोगुणसे दबा हुआ सूक्ष्म शरीर जाग्रत्-अवस्थाकी स्मृतिके कल्पित विषयोंमें कार्य करना आरम्भ करता है, वह स्वप्न कहलाता है।

सम्प्रज्ञात-समाधि—इसी प्रकार जब समाधि-अवस्थामें सत्त्वगुण रजोगुणको दबा लेता है, तब स्थूल शरीर स्थूल दशामें व्युत्थानके कार्य बंद कर देता है, किंतु सूक्ष्म शरीर सत्त्वगुणका प्रकाश पाकर सूक्ष्म जगत्में कार्य करता रहता है।

जहाँ स्वप्नमें तमोगुणके अन्धकारमें सब दृश्य कल्पित होते हैं, वहाँ समाधि-अवस्थामें सत्त्वगुणकी प्रधानतासे उसके प्रकाशमें ध्येय वस्तुके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान होता है। सूक्ष्म शरीरको एक पैरमें डोरी बँधे हुए पक्षी अथवा एक पतंगके सदृश समझना चाहिये, जिसमें डोरी बँधी हुई है और वह डोरी चर्खीपर चढ़ी हुई है।

यह डोरी प्राणकी है और चर्खी हृदय-स्थानकी है, जहाँ प्राणोंकी ग्रन्थि (केन्द्र) है। उदान इस सूक्ष्म-शरीरको बाहरके समष्टि-प्राणसे जोड़े हुए हैं।

स यथा शकुनिः सूत्रे प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयते, एवमेव खलु सोम्यैतन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते, प्राणबन्धनꣳ हि सोम्य मन इति। (छान्दो० ६।८।२)

जिस प्रकार पक्षी डोरीसे बँधा हुआ अनेक दिशाओंमें घूमकर दूसरे स्थानपर आश्रय न पाकर अपने बन्धनके स्थानपर ही आ जाता है इसी प्रकार निश्चयसे, हे सोम्य ! यह मन अनेक दिशाओंमें घूम-घामकर किसी दूसरे स्थानपर आश्रय न मिलनेके कारण प्राणका ही सहारा लेता है; क्योंकि हे सोम्य मन प्राणके साथ बँधा हुआ है।

ऊँची अवस्थावाले योगीजन समाधि-अवस्थामें इस प्रकार सूक्ष्म जगत्में इस सूक्ष्म शरीरसे भ्रमण करते हैं, जिस प्रकार चर्खीपर चढ़ी हुई डोरी ढीली करनेसे पतंग आकाशमें उड़ा चला जाता है और जिस प्रकार डोरी चर्खीपर लपेटनेसे पतंग फिर अपने स्थानपर आ जाता है, इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर फिर अपने स्थानपर लौट आता है।

'महाविदेहा-बहिरकल्पिता' वृत्तिवाले (३। ४३) सिद्ध योगी समाधिसे भिन्न अवस्थामें भी स्वेच्छानुसार सूक्ष्म जगतमें सूक्ष्म शरीरसे भ्रमण कर सकते हैं।

इस सूक्ष्म शरीरद्वारा ही चित्तमें जन्म, आयु और भोग देनेवाले वासनाओंके संस्कार (कर्म आशय) एकत्रित रहते हैं। जिस प्रकार चर्खीका डोरा टूटनेपर पतंग जब दूसरी चर्खीके डोरेमें जोड़ दी जाती है तो उसका सम्बन्ध फिर उसी चर्खीसे हो जाता है, इसी प्रकार मृत्युके समय हृदयरूपी चर्खीसे प्राणरूपी डोरी टूटनेपर सूक्ष्म शरीररूपी पतंग उड़ता हुआ ऐसे गर्भके पास पहुँच जाता है जहाँ उसकी वासनाओं (प्रधान-कर्म-विपाक) की पूर्ति करनेवाले उसके समान संस्कार होते हैं, (व्याख्या २। १२-१३)। वहाँ उसके हृदयग्रन्थिरूपी चर्खीमें इसके प्राणोंकी गाँठ लग जाती है और इस शरीरके साथ पूर्ववत् कार्य होने लगते हैं।

कई योगाचार्योंका मत है कि सूक्ष्म शरीरका सूक्ष्म-जगत्में भ्रमण नहीं होता है। सूक्ष्म जगत्में काल और दिशाका ऐसा भेद नहीं रहता जैसा स्थूल जगत् और स्थूल शरीरके व्यवहारमें होता है; केवल वृत्तियाँ जाती हैं अर्थात् चित्तमें इन्हीं वृत्तियोंद्वारा ऐसा परिणाम होता है और सूक्ष्म शरीर जाता हुआ प्रतीत होता है।

अनन्तं वै मनः (बृहदारण्यकोपनिषद्)



ॐकारका भावनामय चित्र

(१) विराम=शुद्ध निर्गुण, उपाधिरहित चेतन अर्थात् परमात्म-तत्त्व (चेतन तत्त्वका शुद्ध स्वरूप)।

(२) मकार=चेतन तत्त्व+समष्टि कारण-जगत् तथा व्यष्टि कारण-शरीर । समष्टि कारण-जगत्का अधिष्ठाता 'ईश्वर', उपास्य; व्यष्टि कारण-शरीरका अभिमानी 'प्राज्ञ' उपासक (चेतन तत्त्वका शबल स्वरूप)।

(३) उपकार=चेतन तत्त्व+समष्टि सूक्ष्म जगत् तथा व्यष्टि सूक्ष्म शरीर। समष्टि सूक्ष्म जगत्का अधिष्ठाता 'हिरण्यगर्भ' तथा व्यष्टि सूक्ष्म शरीरका अभिमानी 'तैजस' उपासक (चेतन तत्त्वका शबल स्वरूप)।

(४) अकार=चेतन तत्त्व+समष्टि स्थूल जगत् तथा व्यष्टि स्थूल शरीर। समष्टि स्थूल जगत्का अधिष्ठाता 'विराट्' उपास्य; तथा व्यष्टि स्थूल शरीरका अभिमानी 'विश्व' उपासक (चेतन तत्त्वका शबल स्वरूप)।

[पृष्ठ २१३

चित्त अनन्त अर्थात् विभु है ।

वृत्तिरेवास्य विभुनश्चित्तस्य संकोचविकासिनीत्याचार्यः ।

(योगदर्शन ४ । १० व्यासभाष्य)

इस विभु चित्तकी वृत्ति ही संकोच-विकास धर्मवाली है; ऐसा आचार्य (पतञ्जलि मुनि) मानते हैं।

कई सज्जनोंका ऐसा विचार है कि समाधि-अवस्थामें जो सूक्ष्म जगत्का अनुभव होता है, वह स्वप्न जगत्के समान कल्पित ही होता है । उस समय जैसी वृत्ति उदय होती है वैसे ही दृश्य सामने आकर दिखलायी देने लगते हैं । इस सम्बन्धमें इतना कह देना पर्याप्त है कि स्वप्न रजोगुणपर तमोगुणकी अधिकता (प्रभाव) से होता है और समाधि रजोगुणपर सत्त्वगुणकी अधिकता (प्रभाव) से होती है जैसा ऊपर बतला आये हैं। समाधिमें जितनी मात्रामें सत्त्व तम और रजसे दबकर प्रधानरूपसे रहता है उतने ही अंशमें ये दृश्य कल्पित होते हैं । एकाग्रताके बढ़नेके साथ-साथ जितना-जितना सत्त्वका प्रकाश बढ़ता जाता है, उतनी-उतनी इन दृश्योंकी वास्तविकता बढ़ती जाती है ।

कारण-शरीर—चेतनसे प्रतिबिम्बित सत्त्व-चित्त जिसमें अहंकार बीजरूपसे छिपा हुआ अपने कार्यको बंद किये हुए रहता है, जिसकी संज्ञा अस्मिता है उसको कारण-शरीर समझना चाहिये । जब तमोगुण रजोगुणको इतना दबा लेता है कि सूक्ष्म शरीर स्वप्नमें भी कार्य करनेमें असमर्थ हो जाता है तब सुषुप्ति-अवस्था आती है; इस अवस्थामें केवल कारण-शरीरमें ही कार्य होता है । कारण-शरीरके तमसे आच्छादित हो जानेके कारण केवल अभावकी प्रतीति होती है। इसके अतिरिक्त तमोगुणके अन्धकारमें न कुछ बाहरका ज्ञान होता है और न भीतरका ।

इसी प्रकार जब समाधिकी एकाग्रता बढ़नेपर सत्त्व रजस्को इतना दबा देता है कि सूक्ष्म शरीर एकाग्रतावाली वृत्ति दिखानेमें भी असमर्थ हो जाता है, तब सत्त्वके अत्यन्त प्रकाशमें विवेकख्याति उत्पन्न होती है; विवेकख्यातिका कार्य कारण-शरीरमें होता है । इसमें आत्माकी चित्तसे भिन्नता प्रतीत होती है अर्थात् चित्तद्वारा आत्माका साक्षात् होता है, किंतु यह आत्माका शुद्ध स्वरूप नहीं है, इसलिये यह स्वरूपावस्थिति नहीं है । विवेकख्याति भी एक वृत्ति ही है; क्योंकि इसमें भी रजोगुण कुछ अंशमें बना रहता है, जो इस वृत्तिके उदय होनेका कारण है । जब इसका भी निरोध हो जाता है, तब इस कारण-शरीरसे भी भिन्न जो आत्माका अपना निजी शुद्ध परमात्मस्वरूप है, उसमें अवस्थिति होती है ।

ओंकारका भावनामय चित्र

(१) विराम=शुद्ध, निर्गुण, उपाधिरहित, चेतन अर्थात् परमात्मतत्त्व (चेतन तत्त्वका शुद्ध स्वरूप)।

(२) मकार=चेतनतत्त्व + समष्टि कारण-जगत् तथा व्यष्टि कारण-शरीर। समष्टि कारण जगत्का अधिष्ठाता 'ईश्वर' उपास्य; व्यष्टि कारण-शरीरका अभिमानी 'प्राज्ञ' उपासक (चेतन-तत्त्वका शबल स्वरूप)।

(३) उकार=चेतनतत्त्व=समष्टि सूक्ष्म जगत् तथा व्यष्टि सूक्ष्म शरीर । समष्टि सूक्ष्म-जगत्का अभिमानी 'हिरण्यगर्भ' उपास्य तथा व्यष्टि सूक्ष्म शरीरका अभिमानी 'तैजस' उपासक (चेतन-तत्त्वका शबल-स्वरूप) ।

(४) अकार=चेतनतत्त्व समष्टि स्थूलजगत् तथा व्यष्टि स्थूलशरीर । समष्टि स्थूल जगत्का अभिमानी 'विराट' उपास्य तथा व्यष्टि स्थूल शरीरका अभिमानी 'विश्व' उपासक (चेतन तत्त्वका शबल-स्वरूप) ।

सङ्गति—सूत्र २३ में असम्प्रज्ञात समाधिका साधन ईश्वर-प्रणिधान और सूत्र २८ में ईश्वर-प्रणिधानका स्वरूप तथा उससे प्राप्त असम्प्रज्ञात समाधिको बतलाकर उस विषयको समाप्त कर दिया। अब यहाँ अगले सूत्रमें असम्प्रज्ञात समाधिसे पूर्व ईश्वरप्रणिधानका विशेष फल दिखाते हैं—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—ततः = उस ईश्वर-प्रणिधानसे; प्रत्यक्चेतना = प्रत्यक्चेतना (जीवात्मा) का; अधिगमः = प्राप्ति (साक्षात्कार); अपि = भी होता है; अन्तरायाभावः च = और अन्तरायोंका अभाव होता है।

अन्वयार्थ—उस ईश्वर-प्रणिधानसे प्रत्यक्चेतनाका ज्ञान भी होता है और अन्तरायों (विघ्नों) का अभाव होता है।

व्याख्या—प्रत्यक्चेतना = प्राज्ञ।

विषयप्रातिकूल्येन स्वान्तःकरणाभिमुखमञ्चति या चेतना दृक्शक्तिः सा प्रत्यक्चेतना।
(भोजवृत्ति)

जो दृक्शक्ति विषयोंको छोड़कर अपने अन्तःकरणमें सम्मुख प्रवृत्त होती है, वह प्रत्यक्चेतना है।

ईश्वर-प्रणिधानसे केवल शीघ्रतम समाधिका ही लाभ नहीं होता है, किंतु अन्तराय (विघ्न) जिनका वर्णन अगले सूत्रमें किया जायगा, उनकी निवृत्तिपूर्वक प्रत्यक्चेतनाके स्वरूपका भी साथ ही साथ साक्षात्कार हो जाता है। इसीके बोधनार्थ सूत्रमें 'अपि' पद दिया है। भाव यह है कि उपास्यके जिन गुणोंकी भावना करके उपासक ध्यान करता है, उन्हीं गुणोंका उपासकमें समावेश होता है। जैसे ईश्वर चेतन, कूटस्थ नित्य है और क्लेशादिकोंसे रहित है, वैसे ही वास्तवमें जीवात्मा भी चेतन, कूटस्थ नित्य और क्लेशादिकोंसे रहित है। इस सादृश्यतासे ईश्वरके ध्यानरूप प्रणिधानसे प्रणिधान-कर्त्ताको अपने शुद्ध निर्विकार स्वरूपका भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। तात्पर्य यह है कि अत्यन्त विरुद्ध धर्मवाले पदार्थोंमें एकके ध्यानसे दूसरे विरुद्ध धर्मवाले पदार्थका साक्षात्कार नहीं हो सकता, किंतु सदृश पदार्थोंमें एकके ध्यानसे दूसरे सदृश पदार्थका भी साक्षात्कार हो सकता है। जैसे एक शास्त्रके अभ्याससे सदृश अर्थवाले दूसरे शास्त्रका भी ज्ञान हो जाता है। इससे यह अभिप्राय है कि व्यवधानका अभाव होनेसे ईश्वर-प्रणिधानसे प्रथम ईश्वरका साक्षात्कार न होकर प्रणिधान-कर्त्ताको अपने कूटस्थ नित्य शुद्ध स्वरूपका ही साक्षात्कार हो जाता है और योग-विघ्नोंका अभाव हो जाता है।

वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि—

प्रतीपं विपरीतम् अञ्चति, विजानातीति प्रत्यक् स चासौ चेतनश्च।

जो विपरीत जानता और चेतन है, उसको प्रत्यक्चेतन कहते हैं, अर्थात् अविद्याविशिष्ट जीव।

ईश्वर-चिन्तनसे जीवका यथार्थ स्वरूप जाना जाता है। यद्यपि अन्यके चिन्तनसे अन्यका ज्ञान नहीं होता; किंतु जीव ईश्वरसे चेतनता धर्ममें सदृश है, इससे सदृश वस्तुका ज्ञान हो सकता है। वस्तुतः 'प्रति-प्रतिवस्तु अञ्चति गच्छति सर्वानुगती भवति' प्रत्येक वस्तुके प्रति जाता है अथवा सबमें अनुगत (व्याप्त) होता है (वह प्रत्यक् है)—इस व्युत्पत्तिसे 'प्रत्यक्' शब्दसे ईश्वरको भी ले सकते हैं, तब ईश्वरोपासनासे जीव-ईश्वर दोनोंका ज्ञान होता है।

विशेष वक्तव्य सूत्र २९—प्रत्यक्-चेतना प्राज्ञका बोधक है और प्राज्ञ पुरुषसे प्रतिबिम्बित (प्रकाशित) चित्त, अर्थात् कारण शरीरके सम्बन्धसे आत्माका नाम है। इसलिये तीन मात्रावाले पूरे ओम्की उपासनाको अस्मित भूमिमें प्रत्यक्चेतनाका साक्षात्कार होता है। चित्तके उच्चतम एकाग्रताकी अवस्थामें रजस्-तमस्का आवरण हट जानेसे सत्त्वकी स्वच्छता और निर्मलतामें योगके अन्तरायोंका भी अभाव हो जाता है। असम्प्रज्ञात-समाधिसे पूर्व ईश्वर-प्रणिधानका यह विशेष फल है।

सङ्गति—ईश्वर-प्रणिधानसे जिन अन्तरायोंका अभाव बतलाया है, उन चित्तको विक्षिप्त करके एकाग्रताको हटानेवाले योगके विघ्नोंका स्वरूप अगले सूत्रमें निर्देश करते हैं—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वान-वस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—व्याधि····त्वानि = व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्ध-भूमिकत्व और अनवस्थितत्व; चित्तविक्षेपाः = चित्तके विक्षेप; ते = वे; अन्तरायाः = विघ्न हैं।

अन्वयार्थ—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्ध-भूमिकत्व, अनवस्थितत्व—ये चित्तके नौ विक्षेप (योगके) विघ्न हैं।

व्याख्या—व्याधि—धातु, रस और करणकी विषमतासे उत्पन्न हुए ज्वरादिक व्याधि कहलाते हैं। वात, पित्त, कफ-इन तीनोंका नाम दोष है। रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र—ये सात धातु हैं। इनकी इयत्ता (अंदाज) को त्यागकर न्यूनाधिक हो जाना धातुकी विषमता अथवा दोष-प्रकोप कहा जाता है। भुक्त-पीत (खाये-पीये) अन्न-जलके परिपाक दशाको प्राप्त हुए सारका नाम रस है। खाये-पीये अन्न-जलका सम्यक्-रूपसे (ठीक-ठीक) न पचना रसकी विषमता है। करण नेत्रादि इन्द्रियोंका नाम है। कम देखना, कम सुनना आदि करणकी विषमता है।

स्त्यान—चित्तकी अकर्मण्यता अर्थात् इच्छा होनेपर भी किसी कार्यको करनेकी (योगसाधनके अनुष्ठानकी) सामर्थ्य न होना।

संशय—'मैं योगसाधन कर सकूँगा कि नहीं कर सकूँगा, करनेपर भी योग सिद्ध होगा या नहीं' इन दो कोटियोंका विषय करनेवाला ज्ञान संशय है।

प्रमाद—समाधिके साधनोंका अनुष्ठान न करना।

आलस्य—चित्त अथवा शरीरके भारी होनेके कारण ध्यान न लगना। शरीरका भारीपन कफ आदिके प्रकोपसे और चित्तका भारीपन तमोगुणकी अधिकतासे होता है।

अविरति—विषयोंमें तृष्णा बनी रहना अर्थात् विषयेन्द्रिय-संयोगसे चित्तकी विषयोंमें तृष्णा होनेसे वैराग्यका अभाव।

भ्रान्तिदर्शन—मिथ्या-ज्ञान (योगके साधनों तथा उनके फलको मिथ्या जानना)।

अलब्ध-भूमिकत्व—किसी प्रतिबन्धक-वश समाधि-भूमिको न पाना अर्थात समाधिमें न पहुँचना।

अनवस्थितत्व—समाधि-भूमिको पाकर भी उसमें चित्तका न ठहरना अर्थात ध्येयका साक्षात् करनेसे पूर्व ही समाधिका छूट जाना।

उपर्युक्त नौ विघ्न एकाग्रतासे हटानेवाले हैं और चित्तकी वृत्तियोंके साथ होते हैं, उनके अभावमें नहीं होते। इस कारण चित्तके विक्षेप योगके मल, योगके अन्तराय और योगके प्रतिपक्षी कहलाते हैं।

सङ्गति—केवल पूर्वोक्त नौ ही योगके प्रतिबन्धक नहीं हैं, किंतु उनके वर्तमान होनेपर अन्य प्रतिबन्धक भी उपस्थित हो जाते हैं, जिनके स्वरूपका अगले सूत्रमें निर्देश करते हैं—

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—दुःख = दुःख; दौर्मनस्य = दौर्मनस्य; अङ्गमेजयत्व = अङ्गमेजयत्व; श्वासप्रश्वासाः = श्वास और प्रश्वास; विक्षेपसहभुवः = विक्षेपोंके साथ होनेवाले हैं अर्थात् पूर्वोक्त अन्तरायोंके होनेसे यह पाँच अन्य प्रतिबन्धक भी उपस्थित हो जाते हैं।

अन्वयार्थ—दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वासप्रश्वास—ये विक्षेपोंके साथ होनेवाले हैं अर्थात् उनके होनेसे ये पाँच प्रतिबन्धक भी उपस्थित हो जाते हैं।

व्याख्या—दुःख-पीड़ा जिसकी चोट खाकर उसके नाश करनेका यत्न करते हैं, वह आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक भेदसे तीन प्रकारका है। उनमेंसे (क) काम, क्रोध आदिजन्य मानस परिताप और व्याधि आदिजन्य शारीरिक परिताप आध्यात्मिक दुःख कहलाते हैं। आत्मा यहाँ मन तथा शरीरके अर्थमें प्रयोग हुआ है। (ख) सिंह, सर्प आदि भूतोंसे जन्य दुःख आधिभौतिक हैं। भूत यहाँ प्राणियोंके अर्थमें प्रयोग हुआ है। (ग) विद्युत्पात, अति-वर्षण, अग्नि, अति-वायु आदि दैविक शक्तियोंसे जन्य दुःख आधिदैविक हैं।

दौर्मनस्य—इच्छाकी पूर्ति न होनेपर मनमें क्षोभ होना।

अङ्गमेजयत्व—शरीरके अङ्गोंका काँपना।

श्वास—बिना इच्छाके बाहरके वायुका नासिकाद्वारा अंदर आना।

प्रश्वास—बिना इच्छाके भीतरके वायुका नासिका-छिद्रोंद्वारा बाहर निकलना। ये विक्षेपोंके साथ होनेवाले उपविक्षेप अथवा उपविघ्न हैं।

सङ्गति—उपर्युक्त विक्षेप और उपविक्षेप विक्षिप्त चित्तवालोंको ही होते हैं, एकाग्र चित्तवालोंको नहीं होते। इन समाधिके शत्रुओंको अभ्यास-वैराग्यद्वारा निरोध करना चाहिये। उन दोनोंमेंसे अभ्यासके विषयको उपसंहार करनेके लिये अगला सूत्र है—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—तत् = उन पूर्वोक्त विक्षेप तथा उपविक्षेपोंके; प्रतिषेधार्थम् = दूर करनेके लिये; एकतत्त्व-अभ्यासः = एकतत्त्वका अभ्यास करना चाहिये अर्थात् किसी अभिमत एक तत्त्वद्वारा चित्तकी स्थितिके लिये यत्न करना चाहिये।

अन्वयार्थ—उन पूर्वोक्त विक्षेप तथा उपविक्षेपोंको दूर करनेके लिये एकतत्त्वका अभ्यास करना चाहिये अर्थात् किसी अभिमत एक तत्त्वद्वारा चित्तकी स्थितिके लिये यत्न करना चाहिये।

व्याख्या—विक्षेप तथा उपविक्षेपोंको दूर करनेके लिये किसी एक अभिमत (इष्ट) तत्त्वमें चित्तको बार-बार लगाना चाहिये अर्थात् किसी अभिमत एक तत्त्वद्वारा चित्तकी स्थितिके लिये यत्न करना चाहिये।

इस प्रकार एकाग्रताके उदय होनेपर सब विक्षेपोंका नाश हो जाता है। यह एक साधारण उपाय है। सबसे उत्तम उपाय तो ईश्वर-प्रणिधान है, जिसको सूत्र २९ में बतला दिया गया है।

योगवार्तिककार विज्ञानभिक्षु तथा भोजवृत्तिकारने इस सूत्रमें एकतत्त्वाभ्याससे किसी इष्ट अभिमत एकतत्त्वके अभ्यासका अर्थ ग्रहण किया है और वाचस्पति मिश्रने एकतत्त्वका अर्थ प्रधान तत्त्व और प्रधान तत्त्वको ईश्वर मानकर ईश्वर-प्रणिधानका अर्थ ग्रहण किया है। असम्प्रज्ञात-समाधिसे पूर्व ईश्वर-प्रणिधानका फल विक्षेपोंकी निवृत्ति सूत्र २९ में बतला दिया है, पुनः उसी बातका निर्देश करनेके लिये एक नये सूत्रकी रचना अनावश्यक है। इसलिये एकतत्त्वसे किसी इष्ट अभिमत तत्त्वका अर्थ लेना ही ठीक हो सकता है और सूत्र ३४ से ३९ तक जो चित्तकी स्थितिके उपाय बतलाये हैं, इनका इसी सूत्रसे सम्बन्ध है।

टिप्पणी ॥ ३२ ॥—इस सूत्रमें व्यास-भाष्यके आधारपर वाचस्पति मिश्र आदि बौद्धधर्मके पश्चात्‌के कई भाष्यकारोंने क्षणिकवाद मतको हटाकर 'सोऽहम्' 'मैं वही हूँ' इत्यादि प्रत्यभिज्ञासे चित्तकी स्थिरता सिद्ध की है, अर्थात् एक ही चित्त अनेक विषयोंका ग्रहण करनेवाला है, नहीं तो 'जिसको मैंने देखा था उसीको स्पर्श करता हूँ' यह ज्ञान न हो, इत्यादि निरूपण किया है। सूत्रकी व्याख्यामें इसका प्रसङ्ग न देखकर तथा विस्तारके भयसे वहाँ न देकर पाठकोंकी जानकारीके लिये उसको यहाँ लिख देते हैं—

बुद्ध भगवान्‌के शिष्य क्षणिक-विज्ञानवादी योगाचारके मतानुयायी जो वैनाशिक लोग हैं, उनके मतमें सब पदार्थ क्षणिक हैं। जो वस्तु एक क्षणमें होकर दूसरे क्षणमें नष्ट हो जाय, उसे क्षणिक कहते हैं। उन वैनाशिकोंके मतमें चित्त भी क्षणिक है, प्रत्ययमात्र है अर्थात् निराधार विज्ञानमात्र है और प्रत्यर्थनियत है अर्थात् क्षणिक होनेसे एक विषयको ग्रहण करके चित्त नष्ट हो जाता है और अन्य विषयमें गमन नहीं कर सकता। फिर दूसरा चित्त दूसरेको ग्रहण करके नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार एक-एक विषयका विज्ञानरूप क्षणिक चित्त भिन्न-भिन्न होता है। इस प्रकार एक ही विषयको ग्रहण करनेवाले चित्तको प्रत्यर्थनियत कहते हैं। ऐसा क्षणिक प्रत्यय-मात्र प्रत्यर्थ-नियत जो चित्त है, वही आत्मा है। उनके मतमें उस क्षणिकचित्तसे भिन्न और कोई आत्मा नहीं है और सब पदार्थ एक क्षणमें उत्पन्न होकर दूसरे क्षणमें नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार सब पदार्थोंका नाश माननेसे उनको वैनाशिक कहते हैं।

बाह्य सर्व पदार्थोंको स्वप्नके पदार्थोंके सदृश मिथ्या मानकर क्षणिक विज्ञान-मात्रको ही ये 'तत्त्व' 'अमिथ्या' कहते हैं। इससे इनको क्षणिक-विज्ञानवादी कहते हैं। इनके मतमें प्रत्यय मात्र क्षणिक-चित्त प्रत्यर्थ-नियत है। इससे चित्तमें अनेक पदार्थविषयक गमन-रूप चञ्चलता होती ही नहीं। इस प्रकार चित्तको क्षणिक माननेसे चित्तका एकाग्र होना भी सम्भव नहीं हो सकेगा। इस कारण एकाग्रताके लिये उपदेश करना तथा एकाग्रताके लिये प्रयत्न करना भी व्यर्थ होगा।

इन वैनाशिकोंसे यह प्रश्न किया जाय कि तुम्हारे गुरु भगवान् बुद्धदेवजीने जो चञ्चलतानिवृत्ति-द्वारा चित्तकी एकाग्रताके लिये योगके साधनका उपदेश दिया है, वह व्यर्थ ही है!

यदि वैनाशिक लोग इसका उत्तर यह दें कि 'यद्यपि एक विषयको ग्रहण करके दूसरेमें गमन

करना, दूसरेको त्यागकर तीसरेमें गमन करना, उसको त्यागकर अन्यमें गमन करना इत्यादि इस प्रकारकी चञ्चलता और चित्तकी एक ही विषयमें निरन्तर स्थितिरूप एकाग्रताका होना हमारे मतमें सम्भव नहीं है, क्योंकि चित्त-क्षणिक है और उसका विषय भी क्षणिक है तथापि हमारे मतमें चित्तका प्रवाह क्षणिक नहीं है किंतु अनादि है। उस अनादि 'प्रत्यय-प्रवाह' में अर्थात् चित्तके प्रवाहमें विलक्षण-विलक्षण विषयाकारतारूप चञ्चलताका अभाव करके सदृश-सदृश विषयाकारतारूप एकाग्रताका होना सम्भव है। अर्थात् प्रथम क्षणमें चित्त जैसा विषयाकार होकर नष्ट हुआ, फिर दूसरे क्षणमें दूसरा चित्त वैसा ही अन्य विषयाकार उत्पन्न होकर समाप्त होना, पुनः तीसरे चित्तका भी वैसा ही अन्य विषयाकार उत्पन्न होकर नष्ट हो जाना; इस प्रकार चित्त-प्रवाहमें सदृश-सदृश विषयाकाररूप एकाग्रता हो सकती है।

ऐसा उत्तर देनेपर उनसे फिर पूछा जाय कि यह एकाग्रता-प्रवाह चित्तका धर्म है अथवा प्रवाहके अंश चित्तका धर्म है?

यदि वे कहें कि एकाग्रता-प्रवाह चित्तका धर्म है तो यह सम्भव न हो सकेगा; क्योंकि क्षणिक-क्षणिक चित्तोंसे भिन्न प्रवाह तो कोई पदार्थ ही नहीं है अर्थात् सदृश प्रत्यय-प्रवाहका आश्रय कोई एक चित्त तुम्हारे मतमें है ही नहीं, जिसका धर्म एकाग्रता माना जाय। इससे प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। और यदि वे कहें कि प्रवाहके अंश चित्तका धर्म है तो यह दूसरा पक्ष भी अयुक्त है; क्योंकि चाहे प्रवाहका अंश चित्त सदृश प्रत्यय-प्रवाहमें हो अथवा विलक्षण प्रत्यय-प्रवाहमें हो, तुम्हारे मतमें क्षणिक होनेसे प्रत्यर्थ नियत है अर्थात् एक ही पदार्थको विषय करनेवाला होता है। इससे क्षणिक-चित्तमें अनेकाकारतारूप चञ्चलता और एकाग्रता सम्भव नहीं है। इससे चित्तमें चञ्चलताके और एकाग्रताके असम्भव होनेसे चञ्चलताके निवृत्तिपूर्वक एकाग्रताके लिये तुम्हारे गुरु भगवान् बुद्धदेवजीका उपदेश फिर भी व्यर्थ ही सिद्ध होता है। इसलिये प्रत्यय-प्रवाहका आश्रय एक स्थायी चित्त मानना ही योग्य है, जिस स्थायी चित्तका धर्म एकाग्रता सम्भव हो सके।

और यदि प्रत्यय-प्रवाहका आश्रय एकचित्त न मानकर भिन्न-भिन्न क्षणिक-प्रत्ययरूप ही चित्त उत्पन्न होना मानें तो पहिले अन्य चित्तके किये हुए कर्मका पिछले अन्य चित्तको फल किस प्रकार हो सकेगा? जैसे भङ्ग पीनेवाला चित्त तो पहिले ही नष्ट हो गया और जिसने भङ्ग नहीं पिया उस दूसरे चित्तको नशा कैसे होगा? और यदि यह कहें कि जैसे पुत्रके किये श्राद्धका माता-पिताको फल होता है और जैसे पुत्रमें तेजस्विता, वीरता आदि गुणोंके लिये पुत्रके जन्मादिमें पिताके किये वैश्वानरयज्ञका फल पुत्रको होता है, वसे ही पहिले अन्य चित्तके किये हुए कर्मका, पश्चात् अन्य चित्तको फल प्राप्त होगा तो यह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि पुत्र-पिता आदिका परस्पर जैसा जन्य-जनक-भाव सम्बन्ध है, वैसा पूर्व-उत्तर चित्तोंका जन्य-जनकभाव सम्बन्ध होता तो ऐसा कह सकते थे। परंतु तुम्हारे मतमें तो पूर्व-उत्तर चित्तोंका जन्य-जनक-भाव सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि पूर्व चित्तके नष्ट होनेपर उत्तरवाला चित्त उत्पन्न होता है और क्षणिक चित्तसे अपनी उत्पत्ति-विनाशके अतिरिक्त और कोई व्यापार हो भी नहीं सकता।

जैसे पिताके निमित्त पुत्र श्राद्ध करता है तो पुत्रके किये श्राद्धका फल पिताको प्राप्त होता है

वैसे 'मैं भङ्ग पीता हूँ, मेरे नशा होनेके पश्चात् इसका नशा उत्तरवाले चित्तको हो' इस प्रकार पूर्व-चित्त उत्तर-चित्तके निमित्त कर्म नहीं करता है तो उत्तरवाले चित्तको फल कैसे प्राप्त होगा ? इसलिये ये आपकी युक्तियाँ 'गोमयपायसीयन्याय' से भी अधिक अयुक्त हैं; क्योंकि गोबर और पायसकी तुल्यतामें तो गौसे उत्पन्न होना हेतु है, परंतु अन्य चित्तके किये कर्मका अन्य चित्त फल भोगता है, इसमें तो कोई हेतु नहीं है।

'गोमयपायसीय-न्याय' यह है कि जैसे कोई कहे 'गोमय' (गोबर) और 'पायस' (खड़ी), ये दोनों तुल्य ही हैं, क्योंकि ये दोनों गौसे पैदा होते हैं।

यदि क्षणिक-प्रत्ययोंके प्रवाहका आश्रय एकचित्त न मानें, किंतु क्षणिक-प्रत्यय मात्र ही चित्त मानें तो पहिले एक चित्तसे देखे पदार्थका अन्य दूसरा चित्त स्मर्ता कैसे होगा ? क्योंकि जो जिस पदार्थका द्रष्टा होता है, कालान्तरमें वही उस पदार्थका स्मर्ता होता है। तुम्हारे मतमें द्रष्टा चित्त तो पहिले ही नष्ट हो गया, पश्चात् अन्य चित्त कैसे स्मरण करेगा ? अर्थात् आपके मतमें कोई स्मृति नहीं होनी चाहिये। और यदि प्रत्यय-प्रवाहका आश्रय एक स्थायी चित्त न मानकर क्षणिक-प्रत्यय-मात्र चित्तको ही आत्मा मानोगे तो स्वात्माके अनुभवका भी खण्डन प्राप्त होगा। यह स्वात्माके अनुभव अर्थात् प्रतीतिका खण्डन अत्यन्त अयुक्त है, क्योंकि 'जो मैं दूरसे गङ्गाको देखता था वह मैं अब गङ्गाजलको स्पर्श करता हूँ'; 'जो मैं स्पर्श करता था वह मैं अब स्नान करके गङ्गाको नमस्कार करता हूँ', 'जो मैं बाल-अवस्थामें नाना प्रकारकी क्रीड़ा करता था, यौवनावस्थामें मदसे मत्त हुआ काल व्यतीत करके अब जरारूप राक्षससे गृहीत हुआ काँप रहा हूँ' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा ज्ञानोंमें अनेक क्रियाओंका एक ही कर्ता और उन सब प्रत्ययोंका एक ही आश्रय अहम् पदका अर्थ जीवात्मा प्रतीत होता है। वह सब प्रत्ययका आश्रय अहम् पदके अर्थ स्वात्माकी प्रतीति क्षणिक-प्रत्यय-रूप आत्मा माननेसे सम्भव नहीं हो सकती, क्योंकि क्षणिक-प्रत्यय-रूप आत्मा बाल्य, यौवनादि अवस्थाओंमें अनेक क्रियाओंका कर्ता नहीं हो सकता और उन सर्वप्रत्ययोंका एक आश्रय अहम् पदके अर्थको विषय करनेवाले 'अहम्-अहम्' इस प्रत्यय-ज्ञानके सामर्थ्यको कोई प्रमाणान्तर तिरोभूत नहीं कर सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष-प्रमाणके ही बलसे अन्य प्रमाण प्रवृत्त होते हैं। इस प्रत्यक्ष-प्रमाणका अन्य कोई प्रमाण तिरस्कार नहीं कर सकता।

इस प्रकार क्षणिक-प्रत्यय-मात्र प्रत्यय नियत चित्त नहीं, किंतु अनेक पदार्थोंको विषय करनेवाला सर्वप्रत्ययोंका आश्रय एक स्थायी चित्त है। यह बात ध्यानमें रखना आवश्यक है कि भगवान् व्यासजीने तो केवल चित्तका प्रत्ययमात्र और क्षणिक होना अयुक्त बतलाकर उसकी स्थिरता सिद्ध की है, किंतु बौद्ध धर्मके पश्चात्के भाष्यकारोंने इसको भगवान् बुद्धके वैनाशिक शिष्योंके क्षणिकवादके साथ मिलाकर विस्तार दे दिया है।

विशेष वक्तव्य सूत्र ३२—बुद्ध भगवान् उच्चतम कोटिके अनुभवी योगी हुए हैं। उन्होंने जो असम्प्रज्ञात समाधिका स्वरूप दिखलाया है, वह सांख्ययोगके ही सदृश है, किंतु शब्दोंके यथार्थ अभिप्रायको समझनेमें बहुत धोका खाया गया है। सारे सृष्टिके व्यवहारमें सत्त्व, रजस् और तमस्—ये तीन गुण ही ग्राह्यग्रहणरूपसे बर्त रहे हैं। व्यष्टिरूपमें सत्त्व चित्त ही इनके कार्यक्षेत्र हैं। असम्प्रज्ञात समाधिमें चित्तके निरुद्ध हो जानेपर गुणोंका सारा व्यवहार उसके प्रति शून्य हो जाता है, किंतु उस शून्य अवस्थामें आत्म-तत्त्व शेष रहकर अपने स्वरूपमें अवस्थित होता है। इसलिये इस शून्यवादमें भी आत्मसत्ताका अस्तित्व

वास्तविक रूपमें सिद्ध होता है। शब्दोंकि बाह्य अर्थोंमें ही खींचातानी की गयी है। ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीतृ सारे विषयोंमें चित्त ही वृत्तिरूपसे परिणत होकर उनका बोध करा रहा है अर्थात् प्रत्येक व्यक्तिका सारा संसार विज्ञानरूप चित्तहीमें चल रहा है। आत्मा केवल उसका द्रष्टा है। इस अंशमें भगवान् बुद्धका बतलाया हुआ विज्ञानवाद सार्थक ही है, किंतु इसको दार्शनिक रूप देनेमें उनके विज्ञानवादी शिष्य इस आशयसे बहुत दूर चले गये हैं। इसी प्रकार गुण परिणामशील हैं। "चलं हि गुणवृत्ति', गुण परिणाम-स्वभाववाले हैं। क्षण-क्षणमें परिणाम हो रहा है। गुणोंसे बनी हुई सारी वस्तुएँ तथा चित्तमें भी प्रतिक्षण परिणाम हो रहा है, इसलिये सारी वस्तुएँ तथा विज्ञानरूप चित्त भी क्षणिक ही है। इसको श्रीव्यासजी महाराजने भी ३। ५२ सूत्रकी व्याख्यामें भली प्रकार दर्शाया है। भगवान् बुद्धके इस क्षणिक परिणामको लेकर उनके क्षणिकवादी वैनाशिक शिष्योंने महात्मा बुद्धके अभिप्रायके विरुद्ध उसको अपने ढंगपर दार्शनिक रूप दे दिया है।

सङ्गति—जब चित्तमें असूया आदि कलुष (मल) होते हैं, तब वह स्थितिको नहीं लाभ कर सकता। उनके दूर करनेका अगले सूत्रमें उपाय बतलाते हैं—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—मैत्री-करुणा-मुदितोपेक्षाणाम् = मित्रता, दया, हर्ष और उदासीनता—इन धर्मोंकी सुख-दुःख-पुण्यापुण्य-विषयाणाम् = सुखी, दुखी, पुण्यात्मा और पापियोंके विषयमें (यथाक्रम); भावनातः = भावनाके अनुष्ठानसे; चित्तप्रसादनम् = चित्तकी निर्मलता और प्रसन्नता होती है।

अन्वयार्थ—सुखी, दुखी, पुण्यात्मा और पापियोंके विषयमें यथाक्रम मित्रता, दया, हर्ष और उपेक्षाकी भावनाके अनुष्ठानसे चित्त प्रसन्न और निर्मल होता है।

व्याख्या—राग, ईर्ष्या, परापकार-चिकीर्षा, असूया, द्वेष और अमर्ष-संज्ञक राजस-तामसरूप—ये छः धर्म चित्तको विक्षिप्त करके कलुषित (मलिन) कर देते हैं। अतः ये छः चित्तके मल कहे जाते हैं।

इन छः प्रकारके मलोंके होनेसे चित्तमें छः प्रकारका कालुष्य (मल) उत्पन्न होता है। जो क्रमसे राग-कालुष्य, ईर्ष्या-कालुष्य, परापकारचिकीर्षा-कालुष्य, असूया-कालुष्य, द्वेष-कालुष्य और अमर्ष-कालुष्य कहलाते हैं।

राग-कालुष्य—स्नेहपूर्वक अनुभव किये हुए सुखके अनन्तर जो 'यह सुख मुझको सर्वदा ही प्राप्त हो' इत्याकारक (ऐसा आकारवाली) जो राजस वृत्ति-विशेष है, वह राग-कालुष्य है; क्योंकि यह राग सर्व-सुख-साधन विषयोंकी प्राप्तिके न होनेसे चित्तको विक्षिप्त करके कलुषित (मलिन) कर देता है।

ईर्ष्या-कालुष्य—दूसरोंकी गुणादि या सम्पत्ति आदिकी अधिकता देखकर जो चित्तमें क्षोभ (एक प्रकारकी जलन अर्थात् दाह) उत्पन्न होना है, वह ईर्ष्या-कालुष्य कहलाता है; क्योंकि यह भी चित्तको विक्षिप्त करके कलुषित कर देता है।

परापकारचिकीर्षा-कालुष्य—किसीके अपकार (बुराई करने, दुःख पहुँचाने) करनेकी इच्छा चित्तको विह्वल करके कलुषित कर देती है।

असूया-कालुष्य—दूसरोंके गुणोंमें दोष आरोप करना असूया पदका अर्थ है। जैसे किसी व्रतशीलको दम्भी जानना और आचारवालेको पाखण्डी जानना अर्थात् सदाचारीपर झूठे कलङ्क लगाना असूया-कालुष्य है।

द्वेष-कालुष्य— क्षमाका विरोधी कोप-कालुष्य (द्वेष-कालुष्य) भी चित्तको विक्षिप्त करके कलुषित कर देता है ।

अमर्ष-कालुष्य— किसीसे कठोर वचन सुनकर या अन्य किसी प्रकारसे अपमानित होकर जो उसको न सहन करके बदला लेनेकी चेष्टा है, वह अमर्ष-कालुष्य कहलाता है ।

इन उपर्युक्त कालुष्यों (मलों) से चित्त मलिन होकर विक्षिप्त हो जाता है और स्थितिके साधनमें प्रवृत्त होनेपर भी एकाग्र नहीं हो सकता । अतः इन मलोंको निवृत्त करके चित्तको प्रसन्न और एकाग्र करनेका सूत्रमें निम्न प्रकार उपाय बतलाया गया है—

(१) सुखी मनुष्योंको देखकर उनपर मित्रताकी भावना करनेसे राग तथा ईर्ष्या-कालुष्य (मल) की निवृत्ति होती है अर्थात् ऐसा समझनेसे कि 'यह सब सुख मेरे मित्रको हैं तो मुझे भी हैं', तब जैसे अपने राज्यके न होनेपर भी अपने पुत्रके राज्यलाभको अपना जानकर उस राज्यमें ईर्ष्या तथा रागकी निवृत्ति हो जाती है । वैसे ही मित्रके सुखको भी अपना सुख मानकर उसमें राग-निवृत्ति हो जायगी । एवं जब उसके सुखको अपना हो सुख समझेगा तो उसके ऐश्वर्यको देखकर चित्तमें जलन न होनेसे ईर्ष्या भी निवृत्त हो जायगी ।

(२) दुखी जनोंपर करुणा अर्थात् दयाकी भावना करनेसे घृणा अर्थात् परापकारचिकीर्षारूप (दूसरेका अपकार अर्थात बुराई करनेकी इच्छा) मलका अभाव होता है ।

अर्थात् जब किसी दुखी पुरुषको देखें तो इस वाक्यके अनुसार—

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा । आत्मौपम्येन सर्वत्र दयां कुर्वन्ति साधवः ॥

जैसे हमें अपने प्राण परम प्रिय हैं, वैसे ही अन्य प्राणियोंको भी अपने प्राण प्रिय हैं; इस विचारसे साधुजन अपने प्राणोंके समान सबके ऊपर दया करते हैं ।

अपने मनमें यह विचार करे कि 'इस दुखियाको बड़ा कष्ट होता होगा; क्योंकि जब हमारे ऊपर कोई संकट आ जाता है, तब हमको कितना दुःख भोगना पड़ता है' उसके दुःख दूर करनेकी चेष्टा करे । ऐसा न समझे कि हमें सुख-दुःखसे कोई प्रयोजन नहीं है । जब इस प्रकार करुणामयी भावना चित्तमें उत्पन्न हो जायगी, तब अपने समान सबके सुखकी चाहसे घृणा और परापकारचिकीर्षा (बुराई करनेकी इच्छा) की निवृत्ति हो जायगी ।

(३) पुण्यात्मा अर्थात् धर्म-मार्गमें जो पुरुष प्रवृत्त हैं, उन पुण्यशील पुरुषोंके प्रति हर्षकी भावना करनेसे असूया मलकी निवृत्ति होती है । अर्थात् जब पुण्यजनोंको देखे तो चित्तमें 'अहोभाग्य इसके माता-पिताके; जिन्होंने ऐसा पुण्यात्मा पुत्र उत्पन्न किया और धन्य है इसको जो तन-मन-धनसे धर्म-मार्गमें प्रवृत्त हो रहा है' इस प्रकार आनन्दको प्राप्त हो । जब इस प्रकार मुदिता-भावना चित्तमें उत्पन्न होगी, तब असूया-रूप चित्तका मल निवृत्त हो जायगा ।

(४) पाप-मार्गमें प्रवृत्त जो पापशील मनुष्य हैं, उनमें उपेक्षा (उदासीनता) की भावना करनेसे द्वेष तथा आमर्षक (बदला लेनेकी चेष्टा) या घृणारूप मलकी निवृत्ति होती है । अर्थात् जब पापी पुरुष कठोर वचन बोले अथवा किसी अन्य प्रकारसे अपमान करे तो चित्तमें ऐसा विचारे कि 'यह पुरुष स्वयं अपनी हानि कर रहा है, इसके ऐसे व्यवहारसे कोई प्रयोजन नहीं, मैं इसके प्रति द्वेष या घृणा करके

अपनेको क्यों दूषित करूँ, इसको तो स्वयं अपने पापोंका दुःख भोगना है इत्यादि'; इस प्रकार उनपर उपेक्षाकी भावना करे। इस उपेक्षाकी भावनासे द्वेष तथा अमर्षरूप चित्त-मलकी निवृत्ति हो जाती है।

इस प्रकार जब इन चारों भावनाओंके अनुष्ठानसे चित्तके मल धुल जाते हैं, तब निर्मल चित्त प्रसन्नताको प्राप्त होता है और प्रसन्न होता हुआ चित्त एकाग्रताका लाभ करता है।*

भोज महाराजने इस सूत्रकी व्याख्या निम्न प्रकार की है—

मैत्री=मित्रता (प्रेम); करुणा=दया (पराये दुःखोंको निवृत्त करनेकी इच्छा); मुदिता=हर्ष; उपेक्षा=उदासीनता; इन चारोंको क्रमसे सुखियोंमें, दुखियोंमें, पुण्यवालोंमें और पापियोंमें व्यवहार करना चाहिये। जैसे सुखी जनोंमें 'ये सुखी हैं' ऐसा समझकर उनके साथ प्रेम करे, न कि ईर्ष्या अर्थात् उनकी बड़ाईका सहन न करना। दुखियोंको देखकर 'इनके दुःखकी कैसे निवृत्ति हो', इस प्रकार दया ही करे, न कि घृणा और तिरस्कार। पुण्यात्माओंमें उनके पुण्यकी बड़ाई करके अपनी प्रसन्नता ही प्रकट करे, न कि 'यह पुण्यात्मा क्यों है ?' ऐसा विरोध करना। पापियोंमें उदासीनताको धारण करे अर्थात् न उनके पापमें सम्मति प्रकट करे न उनसे द्वेष करे।

सूत्रमें सुखादि शब्दोंसे सुख-दुःखवालेका प्रतिपादन किया है। जब इस प्रकार मैत्री आदि करनेसे चित्त प्रसन्न होता है, तब सुखसे समाधि प्रकट होती है। यह परिकर्म ऊपरका कर्म है, जैसे मिश्रकादि व्यवहार, गणित-सिद्धिके लिये; और संकलित आदि (जोड़ आदि) कर्म उपकारकरूपसे प्रधान क्रियाकी सिद्धिके लिये होता है। ऐसे ही राग, द्वेष आदिके विरोधी मैत्री आदि करनेसे प्रसन्नताको प्राप्त हुआ चित्त, सम्प्रज्ञात-समाधिके योग्य हो जाता है। प्रधानतासे राग (विषयोंमें इच्छा), द्वेष (वैर, अनिष्टोंमें रोष)—ये दो ही चित्तके विक्षेपक हैं। यदि ये दोनों ही जड़से उखाड़ दिये जायँ तो चित्तकी प्रसन्नता होनेसे एकाग्रता होती है।

सङ्गति—मैत्री आदि भावनाओंसे निर्मल और प्रसन्न हुआ चित्त जिन उपायोंद्वारा स्थितिको प्राप्त होता है, उनका वर्णन अगले सूत्रमें करते हैं। यहाँ यह बात स्मरण रहे कि अगले सब उपाय केवल समाहित चित्तवाले उत्तम अधिकारियोंके लिये हैं। विक्षिप्त चित्तवाले मध्यम अधिकारियोंको तो साधनपादमें बताये अष्टाङ्गयोगका ही आश्रय लेना होगा—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—प्रच्छर्दनविधारणाभ्याम्=नासिकाद्वारा बाहर फेंकने और रोकने—दोनोंसे; वा=अथवा; प्राणस्य=कोष्ठस्थित (कोठामें रहनेवाली) वायुके (मनकी स्थितिको सम्पादन करे)।

अन्वयार्थ—अथवा कोष्ठस्थित (कोठामें रहनेवाली) वायुको नासिकापुटद्वारा (प्रयत्नविशेषसे) बाहर फेंकने और बाहर रोकने—दोनोंसे मनकी स्थितिको सम्पादन करे।

व्याख्या—**कौष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनम्, विधारणं प्राणायामस्ताभ्यां वा मनसः स्थितिं सम्पादयेत्** ॥ (व्यासभाष्य)

---

* मैत्रीसे द्वेषभावका ही ग्रहण करना चाहिये, स्नेहका नहीं; क्योंकि स्नेहका भी एक प्रकारका राग होनेके कारण बन्धन ही है।

मुदितासे भी शोककी निवृत्ति ही समझना चाहिये, हर्ष नहीं; क्योंकि हर्ष भी एक प्रकारसे रागका हेतु होनेसे त्याज्य ही है।—(मनु भाष्यकार मेधातिथि भट्ट)

कोष्ठस्थित (कोठामें रहनेवाली) वायुको विशेष प्रयत्नसे बाहर वमन करने (एकदम नासिकाके दोनों छिद्रोंद्वारा बाहर फेंकने) को प्रच्छर्दन कहते हैं। उस बाहर वमन की हुई वायुको वहीं रोक देनेको विधारण कहते हैं। प्रच्छर्दन और विधारण दोनों प्राणायामोंसे मनकी स्थितिको सम्पादन करे।

प्राणायामके तीन भेद—रेचक, श्वासको नासिका-छिद्रोंद्वारा बाहर निकालना; पूरक, नासिका-छिद्रोंद्वारा श्वासको अंदर ले जाना और कुम्भक, श्वासको बाहर अथवा अंदर रोक देना (२।५०) में विस्तारपूर्वक बतलाये जायँगे। इस सूत्रमें केवल दो भेद रेचक और कुम्भक बतलाये हैं। रेचकके लिये यहाँ प्रच्छर्दन शब्द प्रयोग हुआ है और उसकी विधि कोष्ठस्थित वायुको प्रयत्न विशेषसे एकदम नासिका-पुटद्वारा बाहर फेंकना बतलायी है। यहाँ केवल बाह्य-कुम्भक बतलाया गया है और उसके लिये विधारण शब्द प्रयोग हुआ है। यह प्राणायाम कपाल-भातिसे मिलता-जुलता है, जिसकी सारी विधियाँ २।३२ के वि० व० में षट्कर्मके अन्तर्गत बतलायी जायँगी। यहाँ भी प्रसंगसे उसकी दो प्रक्रियाएँ लिखी जाती हैं।

प्रक्रिया नं० १—केवल प्रच्छर्दन—किसी सुखासनसे बैठकर मूलबन्ध और किंचित् उड्डीयान बन्ध लगाकर नाभिको उठाकर कोष्ठस्थित वायुको दोनों नासिका-पुटद्वारा वमनकी भाँति एकदम बाहर फेंक देना चाहिये। बाहर बिना रोके हुए इसी प्रकार लोहारकी धौंकनीके सदृश इस प्राणवायुको बाहर फेंकते रहना चाहिये। इसमें केवल रेचक किया जाता है। पूरक स्वयं होता रहता है। यह क्रिया बिना कुम्भकके की जाती है। आरम्भमें इस प्राणायामको इक्कीस बार अथवा यथासामर्थ्य करना चाहिये। शनैः शनैः अभ्यास बढ़ावे।

प्रक्रिया नं० २—प्रच्छर्दन-विधारण—ऊपर बतलायी हुई प्रक्रियामें पाँचवें प्राणायामपर अथवा इससे अधिक जितनी सामर्थ्य हो उसके पश्चात् पूरे उड्डीयानके साथ श्वासको बाहर निकालकर बाहर ही रोक दें और किसी विशेष मन्त्रकी मात्रासे अथवा बिना मन्त्रके जितनी देर सुगमतासे रोक सकें बाहर ही रोक दें। यह एक प्राणायाम हुआ। इस प्रकार तीन प्राणायाम करें।

भाष्यकारने केवल बाह्य कुम्भक बतलाया है, इसलिये भाष्यके अनुसार युक्त विधिसे प्रच्छर्दन अर्थात् रेचक करते-करते जब थक जायँ, तब विधारण अर्थात् उड्डीयानके साथ बाह्य कुम्भक यथाशक्ति करें। इस प्रकार कई बार करें अथवा प्रत्येक रेचकके पश्चात् यथाशक्ति बाह्य कुम्भक करें।

कई टीकाकारोंने कुम्भक-वाचक 'विधारण' पदसे पूरकका भी ग्रहण करके रेचक-पूरक-कुम्भक प्राणायामके अर्थ किये हैं, जिनका विस्तारपूर्वक वर्णन साधनपादके ५० वें सूत्रमें किया गया है। इसके अनुसार उपर्युक्त प्रक्रिया नं० २ में बतलाये हुए तीन प्राणायामोंमें बाह्य कुम्भकके पश्चात् पूरक करके आभ्यन्तर कुम्भक करें।

इस प्राणायामको अभ्यासीगण ध्यानसे पूर्व निम्न प्रकारसे करें।

गुदा और नाभीसे प्राणको एक साथ दोनों नथनोंसे बाहर पचीस, पचास अथवा सौ बार फेंके। अंदर लेनेकी आवश्यकता नहीं, केवल बाहर ही फेंकते रहें। अंदर स्वयं श्वास आता रहेगा। इस मात्रामें बाहर फेंकनेके पश्चात् एक साथ बाहर रोक दें। सामर्थ्य अनुसार बाह्य कुम्भक करे, उसके पश्चात् अंदर लेकर आभ्यन्तर कुम्भक करे। इसका समय बाह्य कुम्भकके बराबर या आधा रख सकते हैं। आभ्यन्तर कुम्भकमें नाभीपर ध्यान रखें।

साधनपाद सूत्र ३२ के विशेष वक्तव्यमें षट् कर्ममें बतलायी हुई कपाल-भाँतिकी प्रक्रिया इससे कुछ भिन्न है। उसका नाम हमने नाड़ीशोधन रखा है।

प्राणायाम चित्तकी एकाग्र स्थिति उत्पन्न करता है।

द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्पन्दनवासने। एकस्मिंश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः॥
(वशिष्ठ-वाक्य)

चित्तरूपी वृक्षके दो बीज हैं—प्राणस्पन्दन अर्थात् प्राणोंकी निरन्तर क्रिया; और दूसरी वासना। इन दोनोंमेंसे एकके क्षीण (सूक्ष्म) होनेसे दूसरा भी शीघ्र ही क्षीण (सूक्ष्म) हो जाता है।

सब इन्द्रियोंका काम प्राणके व्यापारसे चलता है और मन तथा प्राणका अपने-अपने व्यापारमें परस्पर एक-सा ही योग-क्षेम (अप्राप्तकी प्राप्ति—योग और प्राप्तकी रक्षा—क्षेम) है। अर्थात् दोनोंका कार्य करनेमें अधिक सम्बन्ध है। इसलिये प्राण सब इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको रोककर मनकी एकाग्रता करनेमें समर्थ होता है। प्राणायाम सब दोषोंका नाशक है।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥ (मनु०)

जैसे अग्नि-संयोगसे धातुओंके मल नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही इन्द्रियोंके दोष भी प्राणके रोकनेसे नष्ट हो जाते हैं।

दोषोंसे ही चित्तकी वृत्तियाँ विक्षिप्त होती हैं। प्राणायाम दोषोंको दूर करके चित्तकी एकाग्रता करनेमें समर्थ होता है।

विशेष वक्तव्य (सूत्र ३४)—'प्राण'—चित्तके सदृश प्राणका ज्ञान भी योगमार्गके पथिकके लिये आवश्यक है। प्राण श्वास नहीं है जैसा कि कुछ व्यक्ति समझते हैं और न आत्मतत्त्व है जैसा कि कई पाश्चात्त्य विद्वान् मानते हैं, किंतु प्राण वह जडतत्त्व है, जिससे श्वास-प्रश्वास आदि समस्त क्रियाएँ एक जीवित शरीरमें होती हैं।

सृष्टिके आरम्भमें पाँचों स्थूलभूत, लोक-लोकान्तर और सारे जङ्गम तथा स्थावर पदार्थ अपने उपादान कारण आकाशसे प्राणशक्तिद्वारा उत्पन्न होते हैं; इसी प्राणशक्तिसे सहारा पाकर जीवित रहते हैं और प्रलयके समय इसीका आश्रय न पाकर कार्यरूपसे नष्ट होकर अपने कारणरूप आकाशमें मिल जाते हैं।

सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति।
(छा० १।९।१)

ये सारे भूत आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं और आकाशमें ही लीन हो जाते हैं।

सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति, प्राणमभ्युज्जिहते।
(छा० १।११।५)

ये सब भूत प्राणमें लीन होते हैं और प्राणसे प्रादुर्भूत होते हैं।

भौतिक पदार्थोंमें सबसे अधिक व्यापकताका सूचक आकाश और सबसे अधिक शक्तिका प्रकाशक (ज्ञापक) प्राण माना गया है, इसीलिये परमात्माकी व्यापकताको आकाशसे और ज्ञानमय सर्वशक्तिमत्ताको प्राणसे निर्दिष्ट किया गया है।

प्राणं देवा अनुप्राणन्ति । मनुष्याः पशवश्च ये । प्राणो हि भूतानामायुः । तस्मात्सर्वायुषमुच्यते । (तै० उ० ब्रह्म व० अनु० ३)

देवता प्राणके सहारे साँस लेते हैं और जो मनुष्य तथा पशु हैं वे भी (प्राणके सहारे साँस लेते हैं)। प्राण सब जन्तुओंका आयु है, इसलिये सर्वायुष (सबका आयु) कहलाता है।

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात् । प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । प्राणेन जातानि जीवन्ति प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥ (तै० उ० भृगुवल्ली अनु० ३)

उसने प्राणको ब्रह्म जाना। प्राणसे ही सब भूत उत्पन्न होकर प्राणसे ही जीते हैं और मरते हुए प्राणमें प्रवेश करते हैं।

सृष्टि-उत्पत्तिके सम्बन्धमें प्रश्नोपनिषद्में बड़े सौन्दर्यके साथ प्राणका वर्णन किया गया है।

स मैथुनमुत्पादयते—रयिं च प्राणं च । (प्र० १ । ४)

प्रजापति (हिरण्यगर्भ) ने एक जोड़ा उत्पन्न किया—रयि और प्राण।

आकाशसे उत्पन्न हुए वायु, अग्नि, जल, पृथिवी और इनके परमाणुसे लेकर बड़े-बड़े तारागण और सूर्यमण्डल सब रयि हैं; और वह शक्ति जिससे इनमें कम्पन हो रहा है, जिससे यह स्थिर रहकर अपना कार्य कर रहे हैं प्राण है। अथवा यों समझो कि सारा ब्रह्माण्ड एक बड़ा वाष्प-यन्त्र है, प्राण वाष्प है जिससे इस मशीनके सारे पुर्जे चल रहे हैं; और हिरण्यगर्भ इंजीनियरके सदृश है, जो नियम और व्यवस्थाके साथ ज्ञानपूर्वक प्राणरूपी वाष्पसे ब्रह्माण्डरूपी मशीनको चला रहा है।

प्राण जीवन-शक्ति है और रयि मूर्त्त तथा अमूर्त्त सारे पदार्थ हैं, जो प्राण-शक्तिसे अपने व्यक्तित्वको रखते हुए कार्य कर रहे हैं। प्राण धन-विद्युत् है और रयि ऋण-विद्युत् है।

समष्टि प्राणको उपनिषदोंमें मातरिश्वा और सूत्रात्मा कहा गया है।

यह प्राण समष्टिरूपसे सारे ब्रह्माण्डको चला रहा है, इसी प्रकार व्यष्टिरूपसे न केवल मनुष्यके पिण्ड-शरीरको ही किंतु सारे जड पदार्थ—वृक्ष, लता आदि तथा चेतन—कीट, पतङ्ग, जलचर, पशु-पक्षी आदि सारे शरीर इससे जीवन पा रहे हैं, इसलिये ये सब 'प्राणी' एवं 'प्राणधारी' कहलाते हैं।

सब इन्द्रियोंका कार्य प्राणशक्तिसे ही चल रहा है, इसलिये उपनिषदोंमें कहीं-कहीं प्राणका शब्द इन्द्रियोंके लिये भी प्रयुक्त हुआ है।

मनुष्य-शरीरमें वृत्तिके कार्य-भेदसे इस प्राणको मुख्यतया दस भिन्न-भिन्न नामोंमें विभक्त किया गया है—

प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः ।
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनंजयः ॥ —गोरक्षसंहित,

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय—ये दस प्रकारके वायु अर्थात् प्राण-वायु हैं।

निःश्वासोच्छ्वासकासाश्च प्राणकर्मेति कीर्त्तिताः ।
अपानवायोः कर्मैतत् विण्मूत्रादिविसर्जनम् ॥
हानोपादानचेष्टादि व्यानकर्मेति चेष्यते ।
उदानकर्म तत् प्रोक्तं देहस्योन्नयनादि यत् ॥

पोषणादि समानस्य शरीरे कर्म कीर्त्तितम् ।
उद्गारादि गुणो यस्तु नागकर्मेति चोच्यते ॥
निमीलनादि कूर्मस्य क्षुतं वै कृकरस्य च ।
देवदत्तस्य विप्रेन्द्र तन्द्री कर्मेति कीर्त्तितम् ॥
धनंजयस्य शोफादि सर्वकर्मप्रकीर्तितम् ।

(योगी याज्ञवल्क्य ४ अध्याय ६६ से ६९ तक)

श्वासका अंदर ले जाना और बाहर निकालना, मुख और नासिकाद्वारा गति करना, भुक्त अन्न-जलको पचाना और अलग करना, अन्नको पुरीष; पानीको पसीना और मूत्र तथा रसादिको वीर्य बनाना प्राण-वायुका काम है। हृदयसे लेकर नासिकापर्यन्त शरीरके ऊपरी भागमें वर्तमान है। ऊपरकी इन्द्रियोंका काम उसके आश्रित है।

अपान-वायुका काम गुदासे मल, उपस्थसे मूत्र और अण्डकोशसे वीर्य निकालना तथा गर्भ आदिको नीचे ले जाना, कमर, घुटने और जाँघका काम करना है। नीचेकी ओर गति करता हुआ, नाभिसे लेकर पादतलतक अवस्थित है, निचली इन्द्रियोंका काम इसके अधीन है।

समान—देहके मध्यभागमें नाभिसे हृदयतक वर्तमान है। पचे हुए रस आदिको सब अङ्गों और नाड़ियोंमें बराबर बाँटना इसका काम है।

व्यान—इसका मुख्य स्थान उपस्थ-मूलसे ऊपर है, सारी स्थूल और सूक्ष्म नाड़ियोंमें गति करता हुआ शरीरके सब अङ्गोंमें रुधिरका संचार करता है।

उदान—कण्ठमें रहता हुआ सिरपर्यन्त गति करनेवाला है, शरीरको उठाये रखना इसका काम है। उसके द्वारा शरीरके व्यष्टि प्राणका समष्टि प्राणसे सम्बन्ध है। उदानद्वारा ही मृत्युके समय सूक्ष्म शरीरका स्थूलशरीरसे बाहर निकलना तथा सूक्ष्मशरीरके कर्म, गुण, वासनाओं और संस्कारोंके अनुसार गर्भमें प्रवेश होना होता है। योगीजन इसीके द्वारा स्थूलशरीरसे निकलकर लोकलोकान्तरमें घूम सकते हैं।

नागवायु उद्गारादि (छींकना आदि); कूर्मवायु संकोचनीय; कृकरवायु क्षुधा, तृष्णादि; देवदत्त-वायु निद्रा-तन्द्रा आदि और धनञ्जय-वायु पोषणादिका कार्य करता है।

इनमेंसे अगले पाँच मुख्य हैं, पिछले पाँच उन्हींके अन्तर्गत हैं।

हृदि प्राणो वसेन्नित्यमपानो गुह्यमण्डले। समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः ॥
व्यानो व्यापी शरीरे तु प्रधानाः पञ्च वायवः ॥ (गोरक्षसंहिता ३०)

हृदयमें प्राण-वायु, गुह्यदेशमें अपान, नाभि-मण्डलमें समान, कण्ठमें उदान और सारे शरीरमें व्यान व्याप्त है।

प्राणोंको अपने अधिकारमें चलानेवाले मनुष्यका अधिकार उसके शरीर, इन्द्रियों तथा मनपर हो जाता है। प्राणोंको वशमें करनेका नाम प्राणायाम है।

प्राणवायुका स्थान हृदय है, यहाँ व्याप्त होकर नासिकाद्वारा बाहरकी ओर चलता है। अपान गुदामें व्याप्त होकर नीचेकी ओर गति करता है। समान नाभिमें व्याप्त होकर भुक्त अन्न आदिके रसको अङ्गों और नाड़ियोंमें पहुँचाता है।

पूरकमें प्राणवायुको गुदास्थानतक ले जाकर अपान-वायुसे मिलाया जाता है, रेचकमें अपानको प्राणद्वारा ऊपरकी ओर खींचा जाता है, कुम्भकमें प्राण और अपान दोनोंकी गतिको समानके स्थान नाभिमें रोक दिया जाता है। इससे रज और तमका मल दग्ध होकर सत्त्वका प्रकाश बढ़ता है और मन शीघ्र एकाग्र हो जाता है।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे । प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥

(गीता ४ । २९)

कोई योगी अपानवायुमें प्राणवायुको होमते हैं (पूरक करते हैं), वैसे ही कुछ योगीजन प्राणमें अपानका हवन करते हैं (रेचक करते हैं) तथा कई योगीजन प्राण और अपानकी गतिको रोककर (कुम्भक करके) प्राणायामके परायण होते हैं ।

प्राणायामसे मनुष्य स्वस्थ एवं नीरोग रहकर दीर्घायु तथा मन और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर सकता है। मनका प्राणसे घनिष्ठ सम्बन्ध है, मनको रोकना अति कठिन है, पर प्राणके निरोध तथा वशीकारसे मनका निरोध एवं वशीकार करना सुगम हो जाता है, इसलिये प्राणायाम योगका आवश्यक साधन है ।

सूक्ष्म प्राणका वर्णन— मनुष्य-शरीरमें प्राण-प्रवाहिनी नाड़ियाँ असंख्य हैं, इसमेंसे पंद्रह मुख्य हैं। (१) सुषुम्णा, (२) इड़ा, (३) पिंगला, (४) गांधारी, (५) हस्तजिह्वा । ये दोनों क्रमशः वाम और दक्षिण नेत्रोंसे वाम और दक्षिण पैरके अँगूठेपर्यन्त चली गयी हैं । (६) पूषा, (७) यशस्विनी क्रमशः दक्षिण और वाम कर्णमें श्रवण-साधनार्थ और (८) शूरा गन्ध-ग्रहणार्थ नासिका देशमें भ्रूमध्यपर्यन्त जाती है, (९) कुहू मुखमें जाती है, (१०) सरस्वती जिह्वाके अग्रभागपर्यन्त जाकर इसके ज्ञान और वाक्योंको प्रकट करती है, (११) वारुणी, (१२) अलम्बुषा, (१३) विश्वोदरी, (१४) शङ्खिनी, (१५) चित्रा । इन पंद्रहमेंसे भी सुषुम्णा, इड़ा, पिङ्गला—ये तीन प्रधान हैं (जिनका योगसे घनिष्ठ सम्बन्ध है)। इन तीनोंमें सुषुम्णा सर्वश्रेष्ठ है। यह नाड़ी अति सूक्ष्म नलीके सदृश है, जो गुदाके निकटसे मेरु-दण्डके भीतर होती हुई मस्तिष्कके ऊपर चली गयी है । इसी स्थान (गुदा-स्थानके निकट) से इसके वाम भागसे इडा और दक्षिण भागसे पिङ्गला नासिका-मूलपर्यन्त चली गयी है ।

वहाँ भ्रूमध्यमें ये तीनों नाड़ियाँ परस्पर मिल जाती हैं । सुषुम्णाको सरस्वती, इडाको गङ्गा और पिङ्गलाको यमुना भी कहते हैं । गुदाके समीप जहाँसे ये तीनों नाड़ियाँ पृथक् होती हैं, उसको 'मुक्त-त्रिवेणी' और भ्रूमध्यमें जहाँ ये तीनों पुनः मिल गयी हैं, उसको 'युक्त-त्रिवेणी' कहते हैं ।

साधारणतया प्राण-शक्ति निरन्तर इडा और पिङ्गला नाड़ियोंसे श्वास-प्रश्वासरूपसे प्रवाहित होती रहती है। इडाको चन्द्र-नाड़ी और पिङ्गलाको सूर्य-नाड़ी कहते हैं । इडा तमःप्रधान और पिङ्गला रजःप्रधान है। श्वास कभी दायें नथुनेसे अधिक वेगसे चलता है, कभी बायेंसे और कभी दोनोंसे समान गतिसे प्रवाहित होता है । जब बायें नथुनेसे श्वास अधिक वेगसे चलता रहे तो उसे इडा या चन्द्र-स्वर कहते हैं और जब दायेंसे अधिक वेगसे बहे तो उसे पिङ्गला व सूर्यस्वर कहते हैं एवं जब दोनों नथुनोंसे समान गतिसे अथवा एक क्षण एक नथुनेसे, दूसरे क्षण दूसरे नथुनेसे प्रवाहित हो तो उसे सुषुम्णा स्वर कहते हैं ।

स्वस्थ मनुष्यका स्वर प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्योदयके समयसे ढाई-ढाई घड़ीके हिसाबसे क्रमशः एक-एक नथुनेसे चला करता है । इस प्रकार अहोरात्र (एक दिन-रात) से बारह बार [बारह वक्त] बायें और बारह बार ही दायें नथुनेसे क्रमानुसार श्वास चलता है । किस दिन किस नथुनेसे श्वास चलता है, इसका निश्चित नियम है—

आदौ चन्द्रः सिते पक्षे भास्करस्तु सितेतरे ।
प्रतिपदा दिनान्याहुस्त्रीणि त्रीणि क्रमोदये ॥ (पवनविजय स्वरोदय)

शुक्लपक्षकी प्रतिपदा तिथिसे तीन दिनकी बारीसे चन्द्रसे (बायें नथुनेसे) तथा कृष्णपक्षकी प्रतिपदासे तीन-तीन दिनकी बारीसे सूर्य-नाड़ी (दायें नथुने) से सूर्योदयके समय श्वास (ढाई घड़ीतक) प्रथम प्रवाहित होता है ।

पाठकोंके सुभीतेके लिये इस सम्बन्धमें पृथक् चित्र दिया गया है, विस्तारके लिये उसमें देखें ।

शारीरिक विकार एवं रोगकी अवस्थामें स्वर अनियमितरूपसे चलने लगते हैं। प्रतिश्याय (जुकाम) की अवस्थामें सम्भवतः पाठकोंको स्वयं इसका अनुभव हुआ होगा । उस अवस्थामें अपने प्रयत्नद्वारा स्वरको बदलनेसे रोग-निवृत्तिमें बड़ी सहायता मिलती है । स्वर-साधनसे स्वेच्छानुसार स्वरका बदलना अति सुगम हो जाता है ।

जब इडा (चन्द्र—वाम स्वर) चल रहा हो, तब स्थायी काम करना चाहिये, जिसमें अल्प श्रम और प्रबन्धकी आवश्यकता हो तथा दूध, जल आदि तरल पदार्थोंके पीने, पेशाब करने, यात्रा और भजन, साधन आदि शान्तिके कार्य करने चाहिये ।

पिङ्गला—(सूर्य—दायें स्वर) चलनेके समय इनसे अधिक कठिन कार्य करने चाहिये, जिनमें अधिक परिश्रम अपेक्षित हो तथा कठिन यात्रा, मेहनतके कार्य (व्यायाम आदि), भोजन, शौच, स्नान और शयन आदि करने चाहिये ।

सुषुम्णा (जब दोनों स्वर सम अथवा एक-एक क्षणमें बदलते हुए चल रहे हों) में योग-साधन तथा सात्त्विक धर्मार्थ कार्य करने चाहिये ।

दिवा न पूजयेल्लिङ्गं रात्रावपि न पूजयेत् ।
सर्वदा पूजयेल्लिङ्गं दिवारात्रनिरोधतः ॥ (पवनविजय स्वरोदय)

दिनमें अर्थात् जब रजोगुण-प्रधान सूर्य-स्वर चल रहा हो, तब योगसाधन न करे और रात्रिमें भी अर्थात् जब तमः-प्रधान चन्द्र-स्वर चल रहा हो, तब भी योगाभ्यास न करे । दिन-रात दोनों अर्थात् सूर्य और चन्द्र दोनों स्वरोंका निरोध करके सुषुम्णाके समय जो पिङ्गला और इडारूपी दिन और रात दोनोंका सन्धि समय है उसमें सदा योगाभ्यास करे ।

इस सूत्रकी व्याख्यामें बताये हुए कपाल-भाति प्राणायाम अथवा अन्य प्राणायाम करनेसे सुषुम्णा स्वर चलने लगता है । अतः अभ्यासके आरम्भमें (ध्यानादिसे पूर्व) प्राणायाम कर लेना चाहिये ।

स्वर-साधन—स्वर बदलनेकी क्रियाएँ

(१) जो स्वर चलाना हो उस नथुनेपर कुछ समयतक ध्यान करनेसे वह स्वर चलने लगता है । (२) जो स्वर चलाना हो उससे विपरीत करवटसे लेटकर पसलीके निकट तकिया दबानेसे कुछ कालमें वह स्वर चलने लगता है । (३) जो स्वर चलाना हो उससे विपरीत स्वरमें रूई अथवा वस्त्रकी गोली रखनेसे वह चलने लगता है। (४) बन्द स्वरको अंगूठे या अंगुलीसे दबाकर चालू स्वरसे श्वास लेकर पुनः उसे दबाकर बन्द स्वरसे श्वास निकालें । इस प्रकार कई बार करनेसे बन्द स्वर चलने लगता है । (५) दौड़ने, परिश्रम करने और प्राणायाम आदि करनेसे स्वर बदल जाता है ।

ज्वर और जुकाम आदि रोगोंकी अवस्थामें स्वर-परिवर्तनसे रोगकी शीघ्र निवृत्ति होती है।

स्वर-साधनकी सिद्धिसे इच्छानुसार सुगमतासे स्वर बदला जा सकता है। उसके अभ्यासकी एक विधि यह है कि दिनके समय सूर्योदयसे चन्द्रस्वरके निश्चित समयसे चन्द्रस्वर चलायें। अपने बायें नथुनेकी ओर ओ३म्‌का जप करते हुए ध्यान रखनेसे बायाँ (चन्द्र) स्वर चलता रहेगा, भोजन और शौचादिके समय इससे विपरीत स्वर (सूर्य-स्वर) ध्यानद्वारा चलायें। रात्रिके समय सूर्यास्तपर सूर्य-स्वरके निश्चित समयसे सूर्य-स्वर चलायें। दायें नथुनेकी ओर ओ३म्‌का जप करते हुए ध्यान रखनेसे सूर्यस्वर चलता रहेगा। जल और दूध आदि पीने तथा मूत्र-त्यागादिके समय विपरीत नथुनेपर ध्यान रखकर चन्द्रस्वर चलायें।

दूसरी विधि—प्रातःकाल सूर्योदयके समयसे ढाई-ढाई घड़ीके हिसाबसे क्रमशः एक-एक नथुनेसे स्वाभाविक स्वर चलायें।

इसी प्रकार योगाभ्यास, भजन-ध्यानादिके आरम्भ करनेसे पूर्व नासिकाके अग्रभागके मध्यभागमें नोकपर ध्यान करनेसे सुषुम्णा-स्वर चलाया जा सकता है।

तत्त्व—स्वरोंका तत्त्वोंसे घनिष्ठ सम्बन्ध है, उनका चक्रोंमें भी वर्णन आयेगा। इसलिये उनका संक्षिप्त वर्णन चित्रद्वारा कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

तत्त्व पाँच हैं—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी। ये प्रत्येक स्वरके साथ चलते रहते हैं।

प्रथमं वहते वायुर्द्वितीयं च तथानलः।
तृतीयं वहते भूमिश्चतुर्थं वारुणो वहेत्॥ (७१ शिवस्वरोदय)

प्रथम वायुतत्त्व बहता है, द्वितीय बार अग्नितत्त्व, तृतीय बार भूमितत्त्व, चतुर्थ बार वारुण (जल) तत्त्व और पाँचवाँ बार आकाश-तत्त्व बहता है।

तत्त्व-सम्बन्धी सामान्य बातें तथा किस समय कौन तत्त्व चल रहा है, इनको दी हुई तालिकाद्वारा पाठक जान सकेंगे।

तत्त्व पहचाननेकी रीति

(१) हाथके दोनों अँगूठोंसे कानके दोनों छिद्र, बीचकी दोनों अँगुलियोंसे नथुनों, दोनों अनामिका और दोनों कनिष्ठिका अँगुलियोंसे मुँह तथा दोनों तर्जनियोंसे दोनों आँखें बंद करनेपर जिस तत्त्वका रंग दिखलायी दे उसीका उदय समझना चाहिये।

(२) दर्पण (आइना) पर जोरसे श्वास मारनेपर उसकी भापसे दर्पणपर जिस तत्त्वके चिह्न बनें उसीका उदय समझना चाहिये।

(३) जैसा मुँहका स्वाद हो उससे उसी तत्त्वका उदय समझना चाहिये।

(४) शान्तिसे बैठकर स्वास लें, फिर देखें जिस तत्त्वके अनुसार श्वासकी गति हो और जिस तत्त्वके अनुसार श्वासका परिमाण हो, उसी तत्त्वका उदय समझना चाहिये।

तत्त्व-साधन-विधि—(१) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश—इस क्रमसे एक-एक तत्त्वका साधन करना चाहिये। (२) जो तत्त्व साधना है उस तत्त्वके आकार एवं रंगका यन्त्र बनवाकर उस तत्त्वकी बाह्य गतिके परिमाण-अनुसार दूर रखकर ओ३म्‌के मानसिक जापके साथ त्राटक करना चाहिये। (३) ऐसी भावना करनी चाहिये कि जापके साथ श्वास-प्रश्वासकी गति यन्त्रतक हो रही है।

स्वर-सम्बन्धी तालिका

नाम नाड़ी तथा स्वर	नाम प्रधान प्रकृति	पक्ष तथा तिथि जिसमें स्वर चलता है	शुभ कार्य जो जिस तिथिमें किये जायँ	नाम तत्त्व शुभकार्यके लिये	नाम दिन जो शुभ कार्यके लिये स्वरसे सम्बन्ध रखते हैं	दिशाएँ यात्राके लिये	स्वर-साधनके लिये स्वर चलानेका समय
नाड़ी— इडा, गङ्गा, चन्द्र	तम-प्रधान शीतल प्रकृति, रात्रिके समान, शुक्ल पक्ष १५ दिनतक प्रधानता	शुक्ल पक्ष, १, २, ३, ७, ८, ९, १३, १४, १५ कृष्ण पक्ष ४, ५, ६, १०, ११, १२,	स्थिर तथा शुभ कार्य तीर्थ-यात्रा, मकान, तालाव, कुआँ आदि वनवाना, नये मकानमें प्रवेश, औषध आदि सेवन, दूध-जलादि पीना मूत्र-त्याग—सब प्रकारके शुभ कार्य	जल-तत्त्व पृथ्वी-तत्त्व	बुधवार बृहस्पतिवार शुक्रवार सोमवार	पश्चिम दक्षिण	सूर्योदयसे दिनमें चलना चाहिये
स्वर— चन्द्र, वाम		सूर्योदयसे ढाई घड़ी अर्थात् एक घंटातक चन्द्र-स्वर चलता है फिर सूर्य-स्वर एक घंटेतक					भोजन, सोने, मलत्याग, स्नानमें सूर्यस्वर कर लेना चाहिये

नाड़ी— पिङ्गला, यमुना, सूर्य स्वर— सूर्य दाहिना	रजःप्रधान, गरम प्रकृति, कृष्ण पक्षमें १५ दिनतक इसकी प्रधानता दिनके समान	कृष्ण पक्ष १, २, ३, ७, ८, ९, १३, १४, १५ शुक्ल पक्ष ४, ५, ६, १०, ११, १२ सूर्योदयसे ढाई घड़ी अर्थात् एक घंटातक सूर्य-स्वर चलता है, उसके पश्चात् चन्द्र-स्वर; यह क्रम बराबर चलता रहता है	चर, कठिन कार्य, व्यायाम आदि परिश्रमके काम, कठोर यात्रा, विद्याध्ययन, अध्यापन, दान, भोजन, मल-त्याग, संतानोत्पत्ति, मन्त्रजाप, ध्यान करना, सोना ।	अग्नितत्त्व वायुतत्त्व	रविवार शनिवार मङ्गलवार	पूर्व, उत्तर	सूर्यास्तसे रात्रिमें चलाना चाहिये जल, दूध आदि पीनेके समय, मूत्र-त्यागमें चन्द्र-स्वर कर लेना चाहिये
नाड़ी— सुषुम्णा, सरस्वती स्वर— दोनों स्वर बराबर चलना	सत्त्व-प्रधान, दिन-रात-की संधि, प्रातःकाल तथा सायंकाल-के समान	सूर्य-स्वरसे चन्द्र-स्वर और चन्द्र-स्वरसे सूर्य-स्वर बदलनेके समय चलता है । असाधारण अवस्थामें एक क्षण सूर्य और एक क्षण चन्द्र-स्वर चलता है ।	शुभाशुभ, स्थिर, चर, कोई कार्य न करना चाहिये । योग-साधन, अभ्यास, ईश्वर-भक्ति, ध्यानादि करना चाहिये ।	आकाश-तत्त्व			प्रातःकाल तथा सायंकाल योगाभ्यासके समय

तत्त्व-सम्बन्धी तालिका

नं०	नाम तत्त्व	तत्त्वका रंग	तत्त्वका चिह्न	तत्त्वका स्वाद	तत्त्वकी गति	तत्त्वका परिमाण	तत्त्वका स्वभाव	तत्त्वमें करने योग्य कार्य
१	पृथ्वी	पीला	चौकोण	मीठा	सामनेको	१२ अङ्गुल	भारी	स्थिर कार्य
२	जल	सफेद	अर्धचन्द्राकार	कसैला	नीचेको	१६ अङ्गुल	शीतल	चर कार्य
३	अग्नि	लाल	त्रिकोण	चर्परा	ऊपरको	४ अङ्गुल	गरम	क्रूर कार्य
४	वायु	धूम्र मेघ-जैसा	षट्कोण-सदृश गोल	खट्टा	तिरछा	८ अङ्गुल	चञ्चल	शारीरिक व्यायामादि
५	आकाश	मिश्रित रंग	बूँद-बूँद-जैसा	कड़ुआ	कई तत्त्वोंकी मिश्रित गति	दोनों नासिका-ओंके भीतर	कई तत्त्वोंसे मिला हुआ	योगाभ्यास आदि

(४) प्रायः २ घंटे २४ मिनटतक त्राटक करना चाहिये। (५) प्रायः छः मास अथवा परिस्थिति-अनुसार एक ही तत्त्वका साधन करते रहना चाहिये। (६) जब बराबर तत्त्वके परिमाणतक श्वास-प्रश्वासकी गति लगातार होने लगे, तब उस तत्त्वकी सिद्धि समझना चाहिये।

पृथ्वीतत्त्वका साधन— एक इंच चौड़ा और एक इंच लंबा स्वर्ण, पीतल अथवा पीले कागजका चतुष्कोण यन्त्र बनवाकर चन्द्र-स्वरके पृथ्वी-तत्त्वके उदयकालमें नासिकाके अग्रभागसे १२ अङ्गुल दूर रखकर ओम्‌के मानसिक जापके साथ त्राटक करना चाहिये।

जलतत्त्वका साधन—चाँदी या काँसेका अर्धवृत्ताकार यन्त्र इतना लंबा एवं चौड़ा कि पृथ्वीतत्त्वके चतुष्कोण यन्त्रके मध्यमें आ सके। चन्द्रस्वरके जलतत्त्वके उदयके समय नासाग्रभागसे १६ अङ्गुल दूर रखकर उपर्युक्त विधि-अनुसार त्राटक करना चाहिये।

अग्नितत्त्व-साधन— ताँबे अथवा मूँगाका त्रिकोणाकार यन्त्र इतना लंबा-चौड़ा कि जलतत्त्वके अर्धवृत्ताकार यन्त्रके मध्यमें आ सके। चन्द्रस्वरके अग्नितत्त्वके उदयकालमें ४ अङ्गुल नासाग्रभागसे दूर रखकर उपर्युक्त विधि-अनुसार त्राटक करना चाहिये।

वायुतत्त्व-साधन—स्वच्छ नीलाथोथाका ऐसा गोलाकार यन्त्र या कागजपर नीले रंगका ऐसा गोलाकार निशान बनवाये कि अग्नितत्त्वके त्रिकोणाकार यन्त्रके मध्यमें आ सके। यन्त्रको नासाग्रभागसे आठ अङ्गुल दूर रखकर उपर्युक्त विधि-अनुसार त्राटक करना चाहिये।

आकाशतत्त्वका साधन— चन्द्रस्वरमें आकाशतत्त्वके उदयकालमें नासाग्रभागपर ओम्‌के मानसिक जापके साथ त्राटक करना चाहिये।

सुषुम्णा नाड़ी—ऊपर वर्णन कर चुके हैं कि सुषुम्णा नाड़ी सर्वश्रेष्ठ है, जो मेरुदण्डके भीतर सूक्ष्म नलीके सदृश चली गयी है।

सुषुम्णाके अन्तर्गत सूक्ष्म नाड़ियाँ— सुषुम्णाके भीतर एक वज्र-नाड़ी है, वज्रके अंदर चित्रणी है और चित्रणीके मध्यमें ब्रह्म-नाड़ी है। ये सब नाड़ियाँ मकड़ीके जाले-जैसी अतिसूक्ष्म हैं, जिनका ज्ञान केवल योगियोंको ही हो सकता है। ये नाड़ियाँ सत्त्व-प्रधान, प्रकाशमय और अद्भुत शक्तिवाली हैं। ये ही सूक्ष्म-शरीर तथा सूक्ष्म प्राणके स्थान हैं। इनमें बहुत-से सूक्ष्म शक्तियोंके केन्द्र हैं, जिनमें बहुत-सी अन्य सूक्ष्म नाड़ियाँ मिलती हैं। इन शक्तियोंके केन्द्रोंको पद्म तथा कमल कहते हैं। इनमेंसे मुख्य सात हैं—

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार।

ये चक्र पाँचों तत्त्वों, पाँचों तन्मात्राओं, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों, पाँचों प्राणों, अन्तःकरण, समस्त वर्णों-स्वरों तथा सातों लोकोंके मण्डल हैं और नाना प्रकारके प्रकाश तथा विद्युत्से युक्त हैं। साधारण अवस्थामें ये चक्र बिना खिले कमलके सदृश अधोमुख हुए अविकसित रहते हैं। ध्यानद्वारा तथा अन्य प्रकारसे उत्तेजना पाकर जब ये ऊर्ध्वमुख होकर विकसित होते हैं, तब उनकी अलौकिक शक्तियोंका विकास होता है।

प्रत्येक चक्रमें नाना प्रकारकी अद्भुत शक्तियाँ हैं। तान्त्रिक तथा हठयोगके ग्रन्थोंमें प्रायः इनका वर्णन है। हम जिज्ञासुओंकी जानकारीके लिये उनका उतना वर्णन कर देना आवश्यक समझते हैं, जितने-

का राजयोगसे सम्बन्ध है तथा तान्त्रिक ग्रन्थोंकी उन बातोंका भी जिनकी पाठकोंके जाननेकी जिज्ञासा हो सकती है। तथा—तत्त्व-बीजका वाहन, अधिपति देवता, देवताकी शक्ति, यन्त्र, फल इत्यादि। (आत्मोन्नति चाहनेवालोंको इनकी ओर विशेष ध्यान न देना चाहिये।)

चित्रद्वारा दिखलायी हुई चक्रोंकी स्थूलाकृति उनके सूक्ष्म-स्वरूपका बोध करानेके लिये केवल आनुमानिक है। इसी प्रकार Pelvic Plexus आदि अंग्रेजी नाम उनके वास्तविक स्थानको नहीं बतलाते हैं, केवल संकेतमात्र हैं।

चक्रोंका वर्णन

मूलाधार चक्र—Pelvic Plexus के स्थूल स्वरूपसे इसके सूक्ष्म स्वरूपका संकेत किया जा सकता है।

(१) चक्रस्थान—गुदामूलसे दो अंगुल ऊपर और उपस्थ मूलसे दो अंगुल नीचे है।

(२) आकृति—रक्त-रंगके प्रकाशसे उज्ज्वलित चार पंखड़ी (दलों) वाले कमलके सदृश है।

(३) दलोंके अक्षर (वर्ण)—चारों पंखड़ियों (दलों) पर वं, शं, षं और सं—ये चार अक्षर हैं।

(४) तत्त्व-स्थान—चौकोण सुवर्ण रंगवाले पृथ्वी-तत्त्वका मुख्य स्थान है।

(५) तत्त्व-बीज 'लं' है।

(६) तत्त्व-बीजकी गति—ऐरावत हाथीके समान सामनेकी ओर गति है।

(७) गुण—गंध गुण है।

(८) वायु-स्थान—नीचेकी ओर चलनेवाले अपानवायुका मुख्य स्थान है।

(९) ज्ञानेन्द्रिय—गंधतन्मात्रासे उत्पन्न होनेवाली सूँघनेकी शक्ति नासिकाका स्थान है।

(१०) कर्मेन्द्रिय—पृथ्वी-तत्त्वसे उत्पन्न होनेवाली मलत्याग-शक्ति गुदाका स्थान है।

(११) लोक—भूलोक है (भू)।

(१२) तत्त्व-बीजका वाहन—ऐरावत हस्ती जिसके ऊपर इन्द्र विराजमान हैं।

(१३) अधिपति देवता—चतुर्भुज ब्रह्मा अपनी शक्ति चतुर्भुज डाकिनीके साथ।

(१४) यन्त्र—चतुष्कोण, सुवर्णरंग।

(१५) चक्रपर ध्यानका फल—आरोग्यता, आनन्दचित्त, वाक्य, काव्य, प्रबन्ध-दक्षता। इस चक्रके नीचे त्रिकोण यन्त्र-जैसा एक सूक्ष्म योनिमण्डल है, जिसके मध्यके कोणसे सुषुम्णा (सरस्वती) नाड़ी, दक्षिण कोणसे पिंगला (यमुना) नाड़ी और वाम कोणसे इडा (गङ्गा) नाड़ी निकलती है। इसलिये इसको मुक्तत्रिवेणी भी कहते हैं।

तान्त्रिक ग्रन्थोंमें बतलाया गया है कि इस योनि-मण्डलके मध्यमें तेजोमय रक्तवर्ण क्लीं बीजरूप कन्दर्प नामका स्थिर वायु विद्यमान है, जिसके मध्यमें ब्रह्मनाड़ीके मुखमें स्वयंभू लिङ्ग है। इसमें कुण्डलिनी शक्ति साढ़े तीन कुण्डलमें लिपटी हुई शङ्खके आवर्तनके समान है। कुण्डलिनी शक्तिका वर्णन आगे किया जायगा। मूलशक्ति अर्थात् कुण्डलिनी शक्तिका आधार होनेसे इस चक्रको मूलाधार कहते हैं।

स्वाधिष्ठान चक्र—Hypogastric Plexus के स्थूल स्वरूपसे इसके सूक्ष्म स्वरूपका संकेत किया जा सकता है।

(१) स्थान—मूलाधार चक्रसे दो अंगुल ऊपर पेंडूके पास इस चक्रका स्थान है ।

(२) आकृति—सिंदूरी रंगके प्रकाशसे प्रकाशित छः पंखड़ी (दलों) वाले कमलके समान है ।

(३) दलोंके अक्षर (वर्ण)—छहों पंखड़ियां (दलों) पर बं, भं, मं, यं, रं, लं—ये छः अक्षर (वर्ण) हैं ।

(४) तत्त्व-स्थान—श्वेत रंग, अर्द्धचन्द्राकारवाले जल-तत्त्वका मुख्य स्थान है ।

(५) तत्त्व-बीज—'वं' है ।

(६) तत्त्व-बीज-गति—जिस प्रकार मकर लंबी डुबकी लगाता है, इसी प्रकार इस तत्त्वकी नीचेकी ओर लंबी गति है ।

(७) गुण—रस है ।

(८) वायु-स्थान—सर्वशरीरमें व्यापक होकर गति करनेवाले व्यानवायुका मुख्य स्थान है ।

(९) ज्ञानेन्द्रिय—रसतन्मात्रासे उत्पन्न स्वाद लेनेकी शक्ति रसनाका स्थान है ।

(१०) कर्म-इन्द्रिय—जलतत्त्वसे उत्पन्न मूत्र-त्याग-शक्ति उपस्थका स्थान है ।

(११) लोक—भुवः है ।

(१२) तत्त्व-बीजका वाहन—मकर जिसके ऊपर वरुण विराजमान हैं ।

(१३) अधिपति देवता—विष्णु अपनी चतुर्भुजा राकिनी शक्तिके साथ ।

(१४) यन्त्र—अर्धचन्द्राकार श्वेत रंग ।

(१५) चक्रपर ध्यानका फल—तान्त्रिक ग्रन्थोंमें इस चक्रमें ध्यानका फल सृजन, पालन और निधनमें समर्थता तथा जिह्वापर सरस्वती देवीका होना बतलाया गया है ।

मणिपूरक चक्र—Epigastric Plexus अथवा Solar Plexus के स्थूल स्वरूपद्वारा इसके सूक्ष्म स्वरूपका संकेत किया जा सकता है ।

(१) स्थान—नाभिमूल है ।

(२) आकृति—नीले रंगके प्रकाशसे आलोकित (प्रकाशित) दस पंखड़ी (दलों) वाले कमलके तुल्य है ।

(३) दलोंके अक्षर (वर्ण)—दसों पंखड़ियों (दलों) पर डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं, नं, पं, फं—ये दस अक्षर (वर्ण) हैं । इन दस वर्णोंकी ध्वनियाँ निकलती हैं ।

(४) तत्त्वस्थान—रक्त रंग त्रिकोणाकारवाले अग्नि-तत्त्वका मुख्य स्थान है ।

(५) तत्त्व-बीज—'रं' है ।

(६) तत्त्व-बीज-गति—जिस प्रकार मेष (मेंढ़ा) ऊपरको उछलकर चलता है, इसी प्रकार इस तत्त्वकी ऊपरको गति है ।

(७) गुण—रूप है ।

(८) वायु-स्थान—खान-पानके रसको सम्पूर्ण शरीरमें स्व-स्व-स्थानपर समानरूपसे पहुँचाने-वाले समानवायुका मुख्य स्थान है ।

(९) ज्ञानेन्द्रिय—रूप-तन्मात्रासे उत्पन्न देखनेकी शक्ति चक्षुका स्थान है ।

(१०) कर्मेन्द्रिय—अग्नि-तत्त्वसे उत्पन्न चलनेकी शक्ति पाद (पैर) का स्थान है ।

(११) लोक—स्वः है ।

(१२) तत्त्व-बीजका वाहन—मेष (मेढ़ा) जिसके ऊपर अग्निदेवता विराजमान हैं ।

(१३) अधिपति देवता—रुद्र अपनी चतुर्भुजा-शक्ति लाकिनीके साथ ।

(१४) यन्त्र—त्रिकोण रक्त रंग ।

(१५) फल—विभूतिपादमें इस चक्रपर ध्यानका फल शरीरव्यूहका ज्ञान बतलाया है । इसमें ध्यान करनेसे अजीर्ण आदि रोग दूर होते हैं ।

अनाहत चक्र—इसके सूक्ष्म स्वरूपका संकेतक Cardiac Plexus का स्थूल स्वरूप है ।

(१) स्थान—हृदयके पास ।

(२) आकृति—सिंदूरी रंगके प्रकाशसे भासित (उज्ज्वलित) बारह पंखड़ी (दलों) वाले कमलके सदृश है ।

(३) दलोंके अक्षर (वर्ण)—बारह पंखड़ियोंपर कं, खं, गं, घं, ङं, चं, छं, जं, झं, ञं, टं, ठं—ये बारह अक्षर (वर्ण) हैं ।

(४) तत्त्व-स्थान—धूम्र रंग, षट्कोणाकार वायुतत्त्वका मुख्य स्थान है ।

(५) तत्त्व-बीज—यं है ।

(६) तत्त्व-बीज-गति—जिस प्रकार मृग तिरछा चलता है, इसी प्रकार इस तत्त्वकी तिरछी गति है ।

(७) गुण-स्पर्श है ।

(८) वायुस्थान—मुख और नासिकासे गति करनेवाले प्राणवायुका मुख्य स्थान है ।

(९) ज्ञानेन्द्रिय—स्पर्श-तन्मात्रासे उत्पन्न स्पर्शकी शक्ति त्वचाका केन्द्र है ।

(१०) कर्मेन्द्रिय—वायुतत्त्वसे उत्पन्न पकड़नेकी शक्ति कर (हाथ) का स्थान है ।

(११) लोक—महर्लोक है । अन्तःकरणका मुख्य स्थान है ।

(१२) तत्त्व-बीजका वाहन – मृग ।

(१३) अधिपति देवता—ईशान-रुद्र अपनी त्रिनेत्र चतुर्भुजा शक्ति काकिनीके साथ ।

(१४) यन्त्र-षट्कोणाकार धूम्र रंग ।

(१५) फल—वाक्पतित्व, कवित्वशक्तिका लाभ, जितेन्द्रिय होना इत्यादि तान्त्रिक ग्रन्थोंमें बतलाया है । शिवसारतन्त्रमें कहा है कि इस स्थानमें उत्पन्न होनेवाली अनाहत ध्वनि ही सदा शिव है और त्रिगुणमय ओंकार इसी स्थानमें व्यक्त होता है । यथा—

शब्दं ब्रह्मेति तं प्राह साक्षाद्देवः सदाशिवः ।
अनाहतेषु चक्रेषु स शब्दः परिकीर्त्यते ।। (परापरिमलोल्लासः)

जिसको शब्दब्रह्म कहते हैं, वही साक्षात् सदाशिव है । वही शब्द अनाहत चक्रमें है । कहीं-कहीं इस चक्रके समीप आठ दलोंका एक 'निम्न मनश्चक्र' (Lower mind plexus) बतलाया गया है । स्त्रियों तथा भक्तिभाववालोंको ध्यान करनेके लिये अनाहतचक्र अच्छा उपयुक्त स्थान है ।

विशुद्ध चक्र—इसका संकेतक स्थूल स्वरूप Carotid Plexus है ।

(१) स्थान—कण्ठदेश है।

(२) आकृति—धूम्र अथवा धुँधले रंगके प्रकाशसे उज्ज्वलित १६ पंखड़ी (दलों) वाले कमल-जैसी है।

(३) दलोंके अक्षर—सोलहों पङ्खड़ियोंपर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः—ये सोलह अक्षर हैं।

(४) तत्त्व-स्थान—चित्र-विचित्र आकार तथा नाना रंगवाले अथवा पूर्णचन्द्रके सदृश गोलाकार आकाश-तत्त्वका मुख्य स्थान है।

(५) तत्त्व-बीज—हं है।

(६) तत्त्व-बीजकी गति—जैसे हाथी घूम-घूमकर चलता है, उसी प्रकार इस तत्त्वकी घुमावके साथ गति है।

(७) गुण—शब्द है।

(८) वायु-स्थान—ऊपरकी गतिका हेतु शरीरपर्यन्त वर्तनेवाले उदानवायुका मुख्य स्थान है।

(९) ज्ञानेन्द्रिय—शब्द-तन्मात्रासे उत्पन्न श्रवण-शक्ति श्रोत्रका स्थान है।

(१०) कर्मेन्द्रिय—आकाश-तत्त्वसे उत्पन्न वाक्शक्ति वाणीका स्थान है।

(११) लोक—जनः है।

(१२) तत्त्व-बीजका वाहन—हस्ती जिसके ऊपर प्रकाश देवता आरूढ़ हैं।

(१३) अधिपति देवता—पञ्चमुखवाले सदाशिव अपनी शक्ति चतुर्भुजा शाकिनीके साथ।

(१४) यन्त्र—पूर्णचन्द्रके सदृश गोलाकार आकाशमण्डल।

(१५) चक्रपर ध्यानका फल—कवि, महाज्ञानी, शान्तचित्त, नीरोग, शोकहीन और दीर्घजीवी होना बतलाया गया है। इसके 'विशुद्ध' नाम रखनेका यह कारण बतलाया गया है कि इस स्थानपर मनकी स्थिति होनेसे मन आकाशके समान विशुद्ध हो जाता है।

आज्ञाचक्र— इसका संकेतक Medula Plexus का स्थूल रूप है।

(१) स्थान—दोनों भ्रुवोंके मध्यमें भृकुटीके भीतर है।

(२) आकृति—श्वेत प्रकाशके दो पंखड़ियों (दलों) वाले कमलके सदृश है।

(३) दलोंके अक्षर (वर्ण)—दोनों पंखड़ियोंपर हं, क्षं हैं।

इन दोनों पंखड़ियोंके संकेतक पाश्चात्यविज्ञानके Pineal Gland और Pituitary Body समझना चाहिये; जिनको मनुष्यके मस्तिष्कके भीतर दो निरर्थक बालसे ढके हुए मांस-पिण्ड कहा गया है। ये दोनों मांस-पिण्ड अपने स्थानपर रहते हुए आज्ञाचक्रके ऊर्ध्वमुख होकर विकसित होनेपर उससे दिव्य शक्तिको प्राप्त होते हैं।

(४) तत्त्व—लिङ्ग अर्थात् लिङ्ग-आकार महत्तत्त्व है।

(५) तत्त्व-बीज—ओ३म् है।

(६) तत्त्व-बीज गति—नाद है।

(७) लोक—तपः है।

(८) तत्त्वबीजका वाहन— नाद जिसपर लिङ्गदेवता हैं ।

(९) अधिपति देवता—ज्ञानदाता शिव अपनी चतुर्हस्ता षडानना (छः मुख) हाकिनी शक्तिके साथ ।

(१०) यन्त्र—लिङ्गाकार ।

(११) फल—भिन्न-भिन्न चक्रोंके ध्यानद्वारा जो फल प्राप्त होते हैं, वे सब एकमात्र इस चक्र-पर ध्यान करनेसे प्राप्त हो जाते हैं ।

इस स्थानपर प्राण तथा मनके स्थिर हो जानेपर सम्प्रज्ञात-समाधिकी योग्यता होती है ।

मूलाधारसे इडा, पिङ्गला और सुषुम्णा पृथक्-पृथक् प्रवाहित होकर इस स्थानपर मिलती हैं; इसलिये इसको युक्त-त्रिवेणी भी कहते हैं ।

इडा भागीरथी गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी ।
तयोर्मध्यगता नाडी सुषुम्णाख्या सरस्वती ॥
त्रिवेणीसंगमो यत्र तीर्थराजः स उच्यते ।
तत्र स्नानं प्रकुर्वीत सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

(ज्ञानसंकलिनी-तन्त्र)

इडाको गङ्गा और पिङ्गलाको यमुना तथा इन दोनोंके मध्यमें जानेवाली नाड़ी सुषुम्णाको सरस्वती कहते हैं। इस त्रिवेणीका जहाँ संगम है, उसे तीर्थराज कहते हैं । इसमें स्नान करके सारे पापोंसे मुक्त हो जाते हैं ।

तदेव हृदयं नाम सर्वशास्त्रादिसम्मतम् ।
अन्यथा हृदि किंचास्ति प्रोक्तं यत् स्थूलबुद्धिभिः ॥ (योगस्वरोदय)

यही अर्थात् आज्ञाचक्र ही सर्वशास्त्र-सम्मत हृदय है । स्थूल-बुद्धिवाले ही अन्य स्थूल स्थानको हृदय कहते हैं ।

यह आज्ञाचक्र शिवनेत्र, (Organ of Clairvoyance) दिव्यदृष्टिका यन्त्र है ।

प्राणतोषिणी तन्त्रमें एक चौंसठ दलवाले ललना-संज्ञक चक्रकी तालुमें और एक शतदलवाले गुरु चक्रकी अवस्थिति ब्रह्मरन्ध्रमें बतलायी है तथा किसी-किसीने सोमचक्र (गुरु-चक्र), मानस-चक्र, ललाट-चक्र आदिका भी वर्णन किया है, किंतु ये सब सातों चक्रोंके ही अन्तर्गत हैं । क्रियात्मकरूपसे इनकी अधिक उपयोगिता नहीं है ।

सहस्रार वा शून्य चक्र—इसका संकेतक स्थूलरूप Cerebral Plexus है ।

(१) स्थान—तालुके ऊपर मस्तिष्कमें, ब्रह्मरन्ध्रसे ऊपर सब शक्तियोंका केन्द्र है ।

(२) *आकृति*—नाना रंगके प्रकाशसे युक्त सहस्र पङ्खड़ियों (दलों) वाले कमल-जैसी है ।

(३) दलोंके अक्षर—पङ्खोंपर 'अ' से लेकर 'क्ष' तक सब स्वर और वर्ण हैं ।

(४) तत्त्व—तत्त्वातीत है ।

(५) तत्त्व-बीज—विसर्ग है ।

(६) तत्त्व-बीज गति—बिन्दु है ।

(७) लोक—सत्यम् है ।

(८) तत्त्व-बीजका वाहन—बिन्दु है ।

(९) अधिपति देवता—परब्रह्म अपनी महाशक्तिके साथ ।

(१०) यन्त्र—पूर्ण चन्द्र शुभ्र वर्ण ।

(११) फल—अमर होना, मुक्ति ।

इस स्थानपर प्राण तथा मनके स्थिर हो जानेपर सर्ववृत्तियोंके निरोधरूप असम्प्रज्ञात-समाधिकी योग्यता प्राप्त होती है ।

कुछ विद्वानों तथा अभ्यासियोंका विचार है कि उपनिषदोंमें जो अङ्गुष्ठमात्र हृदय पुरुषका स्थान बतलाया गया है, वह ब्रह्मरन्ध्र ही है, जिसके ऊपर सहस्रारचक्र है; क्योंकि यही अङ्गुष्ठमात्र आकाशवाला है । यहीं चित्तका स्थान है, जिसमें आत्माके ज्ञानका प्रकाश अथवा प्रतिबिम्ब पड़ रहा है और इसी स्थानपर प्राण तथा मनके स्थिर हो जानेपर असम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् सर्ववृत्तिनिरोध होता है ।

शरीरमें जीवात्माका कौन-सा स्थान है ? इस सम्बन्धमें कई बार प्रश्न किये गये हैं । वास्तवमें आत्माके ज्ञानका प्रकाश चित्तपर पड़ रहा है । चित्त ही कारणशरीर है । इस कारणशरीरके सम्बन्धसे आत्माकी संज्ञा जीवात्मा होती है । कारणशरीर सूक्ष्मशरीरमें व्यापक हो रहा है और सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीरमें । इस प्रकार जीवात्मा सारे ही शरीरमें व्यापक हो रहा है । फिर भी कार्य-भेदसे उसके कई स्थान बतलाये जा सकते हैं ।

सामान्यतः तथा सुषुप्ति अवस्थामें जीवात्माका स्थान हृदयदेश बतलाया गया है; क्योंकि हृदय शरीरका मुख्य स्थान है । वहींसे सारे शरीरमें नाड़ियाँ जा रही हैं । सारे शरीरका आन्तरिक कार्य यहींसे हो रहा है । हृदयकी गति रुकनेसे सारे शरीरके कार्य बन्द हो जाते हैं, इसलिये सुषुप्तिकी अवस्थामें जीवात्माका स्थान हृदय कहा जा सकता है । जैसा कि उपनिषदोंमें बतलाया गया है—

यत्रैष एतत् सुप्तोऽभूद् य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते ।

(बृह० २ । १ । १७)

जब कि यह पुरुष जो यह विज्ञानस्वभाव है गहरा सोया हुआ होता है, तब वह इन इन्द्रियोंके विज्ञानके द्वारा विज्ञानको लेकर जो यह हृदयके अन्दर आकाश है वहाँ आराम करता है ।

स्वप्नावस्थामें जीवका स्थान कण्ठ बतलाया है, क्योंकि जाग्रत्-अवस्थामें जो पदार्थ देखे, सुने या भोगे जाते हैं, उनका संस्कार बालके हजारवें भाग-जैसी बारीक कण्ठमें स्थित एक हिता नामकी नाड़ीमें रहना बतलाया गया है । इसलिये अनुभूत पदार्थ और उनका ज्ञान स्वप्न—अवस्थामें कण्ठमें होता है ।

जाग्रत्-अवस्थामें जीवात्मा बाह्य इन्द्रियोंके द्वारा बाहरके विषयोंको देखता है। बाह्य इन्द्रियोंमें नेत्र प्रधान है, इसलिये जाग्रत्में जीवात्माकी स्थिति उपनिषद्में नेत्रमें बतलायी गयी है । यथा—

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति ।

(छान्दो० ८ । ७ । ४)

यह जो आँखमें पुरुष दीखता है, यह आत्मा है ।

सम्प्रज्ञात समाधिमें जीवात्माका स्थान आज्ञाचक्र कहा जा सकता है, क्योंकि यही दिव्यदृष्टिका स्थान है । इसीको दिव्यनेत्र तथा शिवनेत्र भी कहते हैं ।

इसी प्रकार असम्प्रज्ञात समाधिमें जीवात्माका स्थान ब्रह्मरन्ध्र है, क्योंकि इसी स्थानपर प्राण तथा मनके स्थिर हो जानेपर असम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् सर्ववृत्तिनिरोध होता है ।

कुण्डलिनी शक्ति—पाठकोंको सुषुम्णा नाड़ीकी महत्ता उसके भीतर तीन शक्तिशाली नाड़ियोंके केन्द्रोंके वर्णन कर देनेसे प्रकट हो गयी होगी। वास्तवमें ब्रह्माण्डमें जितनी शक्तियाँ वर्तमान हैं, उन सबको ईश्वरने शरीररूपी पिण्डके इस भागमें एकत्रित कर दी है, किंतु सुषुम्णा नाड़ीका मुख त्रिकोण योनि-मण्डलके मध्य स्थानपर जहाँसे यह मेरुदण्डके भीतर होती हुई ऊपरकी ओर चलती है, साधारण अवस्थामें बन्द रहता है । इसी कारण इसकी शक्ति अविकसित रहती है और प्राणशक्ति केवल इडा और पिङ्गलाद्वारा जो इस त्रिकोण मण्डलके वाम और दक्षिण भागसे ऊपरकी ओर चक्रोंको छूती हुई चलती है, सारे शरीरमें निरन्तर प्रवाहित होती रहती है । इसी त्रिकोण योनिमण्डलमें एक अतिसूक्ष्म विद्युत्-समान अद्भुत दिव्य-शक्तिवाली नाड़ी लिपटी हुई पड़ी है। इसका दृष्टान्त एक ऐसी सर्पिणीसे दे सकते हैं, जो साढ़े तीन लपेट खाये हुए अपनी पूँछको मुखमें दबाये शंखाकार होकर सो रही हो । इसीको कुण्डलिनी-शक्ति कहते हैं । यह नाड़ी बिना प्रयोगके सुप्त-जैसी पड़ी रहती है। इसका शरीर-सम्बन्धी कोई कार्य बाह्य दृष्टिसे प्रतीत नहीं होता । इस कारण पाश्चात्त्य शरीर-शास्त्रके विद्वान् (Physiologist) अभीतक इसका कुछ पता नहीं लगा सके, किंतु प्राचीन यूनान, रोम आदि देशोंके तत्त्ववेत्ता जहाँ भारतवर्षसे सारी विद्याओंका प्रकाश फैला था; इससे परिचित थे । अफलातूं (Plato) तथा पिथागोरस (Pythogorus)—जैसे आत्मदर्शी विद्वानोंके लेखोंमें इसका इस प्रकार संकेत पाया जाता है कि नाभिके पास एक ऐसी अद्भुत शक्ति विद्यमान है, जो मस्तिष्ककी प्रभुता अर्थात् बुद्धिके प्रकाशको उज्ज्वल कर देती है और जिससे मनुष्यके अन्दर दिव्य शक्तियाँ प्रकट होने लगती हैं ।

कुण्डलिनी शक्तिका जाग्रत् होना—यह नाड़ी यदि किसी प्रकारसे अपने लपेटोंको खोलकर सीधी हो जाय और इसका मुख सुषुम्णा नाड़ीके भीतर चला जाय तो इसको कुण्डलिनीका जाग्रत् होना कहेंगे।

जिस प्रकार सुसज्जित कमरेमें बिजलीके तार, नाना वर्णके ग्लोब, झाड़-फानूस तथा बिजलीके यन्त्र, पंखे आदि लगे हों तो बिजलीके बटन (Switch) दबानेसे ये सब क्रमशः प्रकाश देने तथा अपना-अपना कार्य करना आरम्भ कर देते हैं, इसी प्रकार जब इस कुण्डलिनीरूपी बटन (Switch) के दबानेसे विद्युत्का प्रवाह (Electric Current) सुषुम्णारूपी तारमें पहुँचता है, तब क्रमशः सारे चक्रों और नाड़ियोंको प्रकाशित कर देता है । जिस-जिस चक्रपर यह कुण्डलिनी शक्ति पहुँच जाती है, वह अधोमुखसे ऊर्ध्वमुख होकर विकसित होता जाता है । जब यह आज्ञाचक्रपर पहुँच जाती है, तब सम्प्रज्ञात और जब सहस्रारतक पहुँच जाती है, तब सारी वृत्तियोंका निरोध होकर असम्प्रज्ञात समाधिकी वास्तविक रूपमें योग्यता प्राप्त होती है । इस अवस्थामें मनुष्यको सारे संसारका ज्ञान बहुत शीघ्र प्राप्त हो सकता है । कुण्डलिनी शक्तिके सुषुम्णाके मुखमें प्रवेश होनेपर नाना प्रकारके अनुभव होते हैं, उनका प्रकट करना

वर्जित है। किंतु हम कुण्डलिनी जाग्रत् करनेके कुछ उपाय तथा साधकोंके लाभार्थ कुछ चेतावनियाँ दे देना आवश्यक समझते हैं।

कुण्डलिनी जाग्रत् करनेके उपाय—विशेषतया कुण्डलिनी शक्ति तो शरीरके शुद्ध और सूक्ष्म होनेपर सात्त्विक विचार, शुद्ध अन्तःकरण, ईश्वरकी सच्ची भक्ति और परिपक्व वैराग्यकी अवस्थामें एकाग्रता अर्थात् निश्चल ध्यानसे जाग्रत् होती है। जहाँ कहीं अकस्मात् किसी मनुष्यमें अलौकिक शक्ति, अद्भुत चमत्कार तथा असाधारण ज्ञानका विकास देखनेमें आवे तो समझना चाहिये कि पूर्व जन्मके किन्हीं सात्त्विक संस्कारोंके उदय होने अथवा हृदयपर सात्त्विक प्रभाव डालनेवाली अन्य किसी घटनासे कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत् होकर सुषुम्णाके मुखमें चली गयी है।

जिस प्रकार पृथ्वीमें लगे हुए नलद्वारा पानी ऊपर जानेके लिये केवल नलके ऊपर लगी हुई मशीन (Handle) को चलानेसे (Pumping से) नलीमेंसे पानी स्वयं ऊपर आना आरम्भ हो जाता है, इसी प्रकार साधनपादमें चतुर्थ प्राणायामकी पाँचवीं विधिद्वारा कुण्डलिनी शक्तिको चेतन करके सुषुम्णामें लानेका यत्न किया जाता है।

निम्नलिखित प्राणायाम तथा मुद्राएँ कुण्डलिनी शक्तिको चेतन करनेमें सहायक हो सकती हैं।

(१) भस्त्रिका, कपाल-भाति, सूर्यभेदी प्राणायाम इत्यादि चतुर्थ प्राणायाम (वि० व० २। ३२, ४९, ५०, ५१)।

(२) महाबन्ध, महावेध, महामुद्रा, खेचरी-मुद्रा, विपरीतकरणी-मुद्रा, अश्विनी-मुद्रा, योनि-मुद्रा, शक्तिचालिनी-मुद्रा इत्यादि (वि० व० २। ४६)

किंतु ये सब बाह्य साधन हैं, जो कुण्डलिनीको चेतन करनेमें सहायक होते हैं। उसके मुखका सुषुम्णामें प्रवेश केवल ध्यानकी परिपक्व अवस्थामें हो सकता है। बिना ध्यानके केवल बाह्य साधनोंसे कुण्डलिनी शक्तिको क्षोभ पहुँचानेसे अधिक-से-अधिक मूर्छा-जैसी अवस्था प्राप्त हो सकती है; जो सुषुप्ति तथा बेहोशीसे तो ऊँची है, किंतु वास्तविक स्वरूपावस्थिति नहीं है और न उसमें सूक्ष्म जगत्‌हीका कुछ अनुभव हो सकता है। कुण्डलिनी जाग्रत् करनेका सबसे उत्तम उपाय तो मूलाधारसे लेकर सहस्रारतक सब चक्रोंका भेदन करना है। विशेष विधि क्रियात्मक होनेके कारण लेखबद्ध नहीं की जा सकती। किसी अनुभवी निःस्वार्थ पथ-दर्शकसे ही सीखनी चाहिये। उसकी सामान्य विधि निम्न प्रकार है—

चक्रभेदन *अर्थात् कुण्डलिनीयोग*—(१) बद्धपद्म, (दोनों जंघाओंको दोनों पैरोंसे दबाकर), पद्म, सिद्ध, वज्र, स्वस्तिक आदि किसी आसन (२। ४६, ४७) से मेरुदण्डको सीधा किये हुए सिर, गर्दन और पीठको सम सूत्रमें करके मूलबन्ध लगाकर खेचरी-मुद्राके साथ बैठें।

(२) स्थान एकान्त, बंद और शुद्ध हो। प्रातःकाल कम-से-कम तीन घंटे और सायंकाल दो घंटे ध्यान करना चाहिये।

(३) कपालभाति, भस्त्रिका आदि प्राणायामके पश्चात् योनि-मुद्रा करके खेचरी-मुद्रा करें अर्थात् जिह्वाको ऊपरकी ओर घुमाकर तालुके पास कण्ठके छिद्रमें लगायें और दाँतोंको दबाये रखें।

(४) प्राण मूलाधार चक्रमें योनिमण्डलतक ले जाकर ऐसी भावना करें कि वहीं श्वास-प्रश्वास चल रहा है।

(५) वहीं मानसिक ध्वनिके साथ ॐका मानसिक जाप करें । (चौथा प्राणायाम विधि ५)।

(६) ध्यान करते समय ऐसी भावना करें कि कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्णामें प्रवेश करके मूलाधारको ऊर्ध्वमुख करती हुई विकसित कर रही है ।

इस प्रकार जब छः मास, एक वर्ष अथवा दो वर्षमें इस चक्रमें ध्यान पक्का हो जाय और प्राणोत्थान भली प्रकार होने लगे तो इसी भाँति अगले अगले चक्रोंको भेदन करना चाहिये । आज्ञाचक्र और सहस्रारमें अधिक समय देना चाहिये । प्रथम चक्रोंके ठीक-ठीक स्थान निश्चय करनेमें कठिनाई होगी किंतु कुछ दिनोंके अभ्यासके पश्चात् स्वयं यथास्थानपर मन स्थिर होने लगेगा ।

यह चक्रभेदनका क्रम दीर्घकालतक धैर्यके साथ करते रहना चाहिये । सुगमता और शीघ्र सिद्धि प्राप्त करनेके विचारसे आज्ञाचक्र और सहस्रार-चक्र ध्यानके लिये पर्याप्त हैं । यहींपर विधिपूर्वक ध्यान करनेसे कुण्डलिनी जाग्रत् हो सकती है । यद्यपि निचले चक्रोंका विशेष ज्ञान और उनकी विशेष शक्तियाँ उनके अपने-अपने विशेष स्थानपर ध्यान करनेके सदृश नहीं प्राप्त होतीं । डाकगाड़ी (Mail Train) से लंबी यात्रापर जानेवाले यात्रियोंको मार्गमें आनेवाले स्टेशनोंकी भाँति इनका सामान्य ही ज्ञान होता है, किंतु दोनों चक्रोंपर ध्यानके परिपक्व होनेके पश्चात् निचले चक्रोंका भेदन अति सुगमता और शीघ्रताके साथ हो सकता है ।

आत्मस्थितिके जिज्ञासुके लिये तो इन चक्रोंके चक्रमें अधिक न पड़कर अपने अन्तिम ध्येयको लक्ष्यमें रखना ही श्रेयस्कर है ।

इन चक्रोंपर दो प्रकारसे ध्यान किया जाता है—

(१) सिद्धियों तथा शक्तियोंके प्राप्त करनेके उद्देश्यसे चक्रोंमें दी हुई विशेष-विशेष बातोंकी विशेष-विशेष चक्रपर भावनाके साथ ध्यान किया जाता है । यह मार्ग तान्त्रिकोंका है तथा लंबा है ।

(२) आध्यात्मिक उन्नति तथा परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यसे इन सब बातोंपर ध्यान न देकर केवल इन स्थानोंको ध्येय बनाकर अंदर घुसना होता है । ऐसे अभ्यासियोंके जो कुछ भी समक्ष आवे, उसको द्रष्टारूपसे देखना होता है; क्योंकि उनका लक्ष्य केवल परमात्मतत्त्व है ।

कुण्डलिनी जाग्रत् करनेका एक अनुभूत साधन—

सबसे प्रथम साधनपाद सूत्र ५१ के विशेष वक्तव्यमें दी हुई चतुर्थ प्राणायामकी पाँचवीं विधि-अनुसार प्राणको ब्रह्मरन्ध्रमें चार-पाँच घंटेतक स्थिर करनेका अभ्यास परिपक्व कर लें । उपर्युक्त योग्यताकी प्राप्तिके पश्चात् शरीरके पूर्णरूपसे स्वस्थ अवस्थामें कार्तिकसे फाल्गुन अर्थात् नवम्बर माससे मार्चतकके समयमें सारे बाह्य व्यवहारसे निवृत्त होकर शान्त एकान्त निर्विघ्न स्थानमें साधन आरम्भ करें । वस्ती अथवा एनिमाद्वारा उदर-शोधन करते रहें । यदि आवश्यकता हो तो धौती और नेती भी करते रहें । भोजन प्रातःकाल बादामका छौंका; बादामकी गिरी छिलके निकाली हुई, सौंफ, कासनी, काली मिर्च पीसकर छानकर पिसे हुए बादामके साथ घीमें छौंक लिये जायँ । उसमें मुनक्के, अञ्जीर आदि डाले जा सकते हैं । रातको दूध ।

चतुर्थ प्राणायामद्वारा ब्रह्मरन्ध्रमें प्राणोंको अच्छी प्रकार स्थिर करनेके पश्चात् भ्रुकुटिपर ध्यान अर्थात् अन्तर्दृष्टिसे देखना आरम्भ कर दे । यदि इस प्रकार प्राणोंका उत्थान न हो सके तो शवासनसे

लेटकर यह प्रक्रिया करे। प्राणोंके उत्थानके समय किसी प्रकारके भयकी वृत्ति न आने दे। किसी अनुभवी निःस्वार्थ पथप्रदर्शककी संरक्षकतामें साधन करे। इस प्रक्रियामें भी मुख्य वस्तु ईश्वर-प्रणिधान और तीव्र वैराग्य है।

ब्रह्मरन्ध्र और भ्रुकुटिपर ध्यान करनेवाले जिन साधकोंको गर्मीके दिनोंमें इन स्थानोंपर ध्यान करनेसे अधिक गर्मी और खुश्की प्रतीत हो, वे एक-एक मासका समय निचले चक्रभेदनमें लगा सकते हैं। अर्थात्—

प्रथम एक मास मूलाधार चक्रभेदन—सामर्थ्यानुसार एक निश्चित संख्यामें अनुलोम-विलोम भस्त्रिका। एक निश्चित संख्यामें मूलाधारतक मध्यम भस्त्रिका। एक निश्चित संख्यामें मूलाधार चक्रपर अश्विनी मुद्रासदृश क्रिया। इसके पश्चात् चतुर्थ प्राणायामकी पाँचवीं विधि अनुसार ओम्‌का मानसिक जाप। मूलाधारपर जब प्राण स्थिर हो जायँ तब वहाँ केवल ध्यान अर्थात् अन्तर्दृष्टिसे टकटकी लगाकर देखते रहना अथवा वहाँ अनहद शब्दोंको सुनते रहना। दूसरे मासमें विशुद्ध चक्रभेदन इसी प्रकार करें तथा अन्य सब चक्रोंमें स्वाधिष्ठान चक्रतक इसी प्रक्रियाको रखें।

साधकोंके लिये चेतावनी

महात्मा मूसा, जो यहूदी धर्मके प्रवर्तक हुए हैं, उनके सम्बन्धमें कहा गया है कि होरब (Mount Horeb) पर योग-साधनके समय जब उनको प्रथम बार ईश्वरके प्रकाशके दर्शन हुए तो वे उस तेजको सहन न कर सके। इस रहस्यको उनके शिष्य योगमार्गसे अनभिज्ञ होनेके कारण नहीं समझ सके हैं।

(१) कुण्डलिनी शक्ति जब सुषुम्णा नाड़ीके अंदर प्रवेश होती है, तब उसकी पहिली टक्कर मूलाधार चक्रपर लगती है, इससे उपस्थ इन्द्रियपर दबाव पड़ता है; इसलिये मूलबन्ध सावधानीसे लगाये रहें।

(२) उस समय स्थूल-जगत्‌से सूक्ष्म-जगत्‌में प्रवेश तथा स्थूल-शरीरसे सारे प्राणोंका प्रवाह सुषुम्णा नाड़ीमें जाना आरम्भ होने लगता है, सारे बाह्य प्राण हाथ-पैर आदिसे खिंचावके साथ अंदर जाने लगते हैं; उस समय भयभीत न होना चाहिये; अन्यथा भयकी वृत्ति आनेके साथ ही प्राण फिर उतर जायँगे और पछतावा रह जायगा।

(३) विद्युन्मय सूक्ष्म नाड़ियों, चक्रों, तन्मात्राओं तथा तत्त्वों आदिके प्रकाश इतने अलौकिक होते हैं कि साधकको प्रथम अवस्थामें उनका सहन करना कठिन हो जाता है। इसी प्रकार सूक्ष्म-जगत्‌के शब्द भी अपरिचित होनेके कारण अति भयानक प्रतीत होते हैं। इसलिये द्रष्टा बनकर देखता रहे; अन्यथा भयकी वृत्ति आनेके साथ ही कुण्डलिनी शक्ति जहाँ पहुँची है, वहींसे फिर लौट जायगी।

(४) सूक्ष्म-जगत् स्थूल-जगत्‌से अति विलक्षण है, वहाँकी सूक्ष्मता और विलक्षणता भी प्रथम अवस्थामें भयका कारण बन सकती है, उससे भयभीत न हों।

(५) कभी-कभी अप्रिय और भयंकर दृश्य भी सम्मुख आते हैं, वह कुछ हानि नहीं पहुँचा सकते; स्वयं हट जाते हैं, उनसे भय उत्पन्न न हो।

(६) भ्रुकुटि अथवा ब्रह्मरन्ध्रमें प्राण रुक जानेके पश्चात् शवासनसे लेटकर ध्यान करनेसे शरीर-के सीधे रहनेके कारण प्राणोंका प्रवाह कुण्डलिनीमें खिंच आने और फिर उससे सुषुम्णा नाड़ीमें प्रवेश

होनेमें आसनसे बैठनेकी अपेक्षा सुगमतासे होता है, परंतु इस तरह लेटकर क्रिया करना स्वास्थ्यके लिये लाभदायक नहीं है।

चित लेटनेकी अवस्थामें जब मूलाधार चक्रपर सारे प्राणोंके वेगकी टक्कर लगती है और इसलिये उपस्थ-इन्द्रियपर अधिक खिंचाव पड़ता है, उस समय मूलबन्ध पूरी दृढ़ताके साथ बँधा रहना चाहिये; अन्यथा कमजोर क्षीण शुक्रवालोंके लिये वीर्य अथवा मूत्र निकलनेकी सम्भावना हो सकती है।

(७) ये सब प्रकारके भय उसी समयतक रहते हैं, जबतक कुण्डलिनी भ्रुकुटितक न पहुँच जाय। आज्ञाचक्रपर स्थिर होनेके पश्चात् कोई भय नहीं रहता। उस समय सारे सूक्ष्म-जगत्का ज्ञान प्राप्त हो सकता है, जिस ओर वृत्ति जाती है उसीका यथार्थ स्वरूप समक्ष आने लगता है। यही वास्तविक समाधि है। जब सहस्रारमें पहुँचती है तो सारी वृत्तियोंका निरोध होकर असम्प्रज्ञात-समाधि सिद्ध होती है।

(८) एक बार कुण्डलिनी जाग्रत् हो जानेपर यह न समझना चाहिये कि सर्वदा ऐसा ही होता रहेगा। मन तथा शरीरकी स्वस्थ अवस्था, निर्मलता, सूक्ष्मता, विचारोंकी पवित्रता और वैराग्यका बना रहना अत्यावश्यक है; इनके अभावमें यह कार्य बंद हो सकता है।

(९) भ्रुकुटि, ब्रह्मरन्ध्र आदि स्थानोंपर प्राणोंके ठहर जानेको कुण्डलिनी जाग्रत् हो जाना न समझना चाहिये, किंतु सारे प्राणोंका प्रवाह जब स्थूलशरीरसे सुषुम्णा नाड़ीमें आ जाय और स्थूल-शरीर तथा स्थूल-जगत्से बेसुध होकर सूक्ष्म-शरीर तथा सूक्ष्म-जगत्में प्रवेश हो जाय तो कुण्डलिनी शक्तिका जाग्रत् होना समझना चाहिये।

(१०) मांसभक्षण करनेवाले तो योगमार्गके अधिकारी ही नहीं हो सकते, इसलिये मांस तो सदा अभक्ष्य ही है। मादक पदार्थ, शराब, भङ्ग, सुलफा, सिगरेट, बीड़ी आदि; लाल मिर्च, खटाई, तेल, गरिष्ठ, बादी, कोष्ठबद्धता करनेवाले और कफवर्द्धक तथा तीक्ष्ण पदार्थोंका सेवन न करें। ध्यान तथा प्राणके उत्थानसे उत्पन्न होनेवाली खुश्की और गर्मीको दूर करनेके लिये दही, छाँछ और मट्ठेका सेवन कदापि न करे, इससे वायु आदिके कई रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी अवस्थामें घृत, बादामका छौंका तथा मीठे बादामका रोगन और दूध लाभदायक होता है।

(११) मैथुन, कुसङ्ग, क्रोध, शोक, भय आदि उत्पन्न करनेवाली बातों तथा अधिक शारीरिक परिश्रमवाले कार्योंसे इन दिनों बचा रहे।

(१२) आहार—सूक्ष्म, सात्त्विक, स्निग्ध पदार्थ; दाल मूँग, सब्जी, लौकी, पपीता आदि; दूध, घी (घृत और बादाम, कासनी, सौंफ, काली मिर्चका छौंका जिसकी विधि सा० पा० सू० ३२ के वि० व० में बतलायी जायगी) एवं मीठे स्वास्थ्य-वर्द्धक फल, मेवेका रहना चाहिये।

(१३) शरीरका शोधन वस्ती (एनिमा) से होता रहे, आँतोंमें मल न रहने पावे, न कब्जी रहे, धौती, नेती भी होती रहे तो अच्छा है; किसी रेचक ओषधि—इतरीफल, त्रिफला, त्रिकुटा आदिका सेवन अच्छा है। (वि० व० सूत्र २। ३२)

(१४) कुपथ्य करनेसे प्रमेह, वायु-विकार, शरीर-कम्पन आदि रोगोंमें ग्रस्त हो जानेका भय है।

(१५) शारीरिक ब्रह्मचर्यके समान मानसिक तथा आध्यात्मिक ब्रह्मचर्य अति आवश्यक है, अर्थात् आध्यात्मिक शक्तियोंका शारीरिक कामोंमें प्रयोग तथा अपने अनुभवोंको दूसरेपर प्रकट न करना चाहिये; अन्यथा शक्तियोंके खोये जानेकी सम्भावना है।

(१६) इस मार्गमें आडम्बर, बनावट (Fashion) से बचते हुए अपनी शक्तियों तथा अनुभवोंको छिपाये हुए साधारणावस्थामें रहना कल्याणकारी है। इसी सम्बन्धमें बतलाया गया है—

यं न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम्।
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित् स ब्राह्मणः॥
गूढधर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत्।
अन्धवच्च जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत्॥

जिसको कोई संत या असंत, अश्रुत या बहुश्रुत, सुवृत्त या दुर्वृत्त नहीं जानता, वह ब्रह्मनिष्ठ योगी है। गूढ धर्मका पालन करता हुआ विद्वान् योगी दूसरोंसे अज्ञातचरित रहे। अन्धेके समान, जडके समान और मूकके समान पृथ्वीपर विचरण करे।

(१७) विशेष दूसरे पादके सूत्र ३०, ३१, ३२, ४६, ४७, ४९, ५०, ५१ के वि० वि० तथा वि० व० में देखें।

(१८) सं० ५ में बतलाये हुए दृश्य ध्यानकी निचली प्रकाशरहित अवस्थामें ही सामने आते हैं और अधिकतर अपना कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं रखते हैं। मनकी एकाग्रतामें अपने ही पिछले संस्कार वृत्तिरूपसे उदय हो जाते हैं। निर्भय होकर उनको द्रष्टा बनकर देखता रहे और यदि कोई अभ्यासी अपने पिछले संस्कारवश इनको वास्तविक रूपसे ही अनुभव करे और उनसे अपना अनिष्ट समझकर उनको हटाना चाहे तो संकल्पमात्रसे ही अथवा ॐ या गायत्रीके जापसे तुरंत ही अदृश्य हो जायँगे।

(१९) और वे जो ज्योतिर्मय अद्भुत दिव्य प्रकाशके साथ सामने आते हैं, उनमें भी आसक्त न हो। केवल द्रष्टारूपसे देखता रहे। वे भी अधिकतर अपने ही सात्त्विक संस्कार होते हैं, जो चित्तकी प्रकाशमय अवस्थामें वृत्तिरूपसे उदय होते हैं तथा ब्रह्मलोकतक जो सात्त्विक संसार है, वह भी चित्तकी वृत्तिरूपसे ही द्रष्टाके सामने आता है। सम्प्रज्ञात समाधिकी यह प्रकाशमय अवस्था उस सबीजमुक्तिका अनुभव कराती है, जिसका वर्णन १८ सूत्रके विशेष वक्तव्यमें किया गया है।

(२०) सं० १६ में बतला आये हैं कि योगकी शक्तियोंको सांसारिक व्यवहारकी बातोंमें प्रयोग करना अहितकर है। इस सम्बन्धमें एक साधकने जो अपनी प्रारम्भिक अवस्थाका अनुभव बतलाया है, उसको अन्य साधकोंके हितार्थ लिखते हैं। उस अभ्यासीने बतलाया कि बड़े तप और साधनके पश्चात् जब उसको किसी एक आसनसे छः-सात घंटे बैठनेका अभ्यास हो गया और प्राण भी किसी विशेष स्थानपर उतनी देरतक स्थिर होने लगे, तब गुरुकृपा और ईश्वर-अनुग्रहसे एक रात दो बजेके समय कुण्डलिनी जाग्रत् हुई। उस दिनसे लगभग दो बजे रातके चाहे वह जागता हो, सोता हो, बैठा हो या भजन कर रहा हो स्वयमेव विचित्र सनसनाहटके शब्दोंके साथ उसके शरीरके सारे स्थूलप्राण सुषुम्णा नाडीमें प्रवेश कर जाते और इस स्थूलशरीरसे परे होकर सूक्ष्म जगत्के नाना प्रकारके अनुभवोंको वह ग्रहण करने लगता। कुछ दिनोंतक इसी प्रकारसे कार्यक्रम चलता रहा। उसने पाश्चात्य (Spiritualism)

स्पिरिच्युलिज्मकी बातोंमें सुन रखा था कि सब मृतक आत्माओंसे बातचीत हो सकती है (वास्तवमें यह बात ठीक नहीं है; इसको साधनपाद सूत्र ३२ के विशेष वक्तव्यमें सम्मोहन शक्तिके प्रकरणमें समझाया जायगा)। उसका एक सम्बन्धी जिसके प्रति उसका मोह था कुछ समय पूर्व मर चुका था। एक दिन उसने संकल्प किया कि आज रात अपने निश्चित समयपर उसको देखेंगे कि वह कहाँ है। ठीक रातके दो बजेके पश्चात् जब सूक्ष्म जगत्के अनुभवका कार्य आरम्भ हुआ तो उसके समक्ष एक गर्भ आया। पूछनेपर अपमान और घृणाके साथ बतलाया गया कि यह वह व्यक्ति है जिसको तुम देखना चाहते हो। इस गर्भरूपमें अमुक घर और अमुक स्थानमें है। यह सब बातें कई मासके पश्चात् ठीक निकलीं; किंतु उसी दिनसे उस साधकका वह कार्य बंद हो गया और दो वर्षतक कई घृणित रोगोंमें ग्रस्त रहा, जिनके कारण अभ्यासपर बैठना असम्भव हो गया। अन्तमें रानपर गाँठवाले फोड़े निकलने आरम्भ हुए। जब पाँचवाँ फोड़ा निकल रहा था तब एक दिन उसको अपनी इस अधोगतिकी अवस्थापर अत्यन्त शोक और दुःख हुआ। उस रात दोनों हाथोंको नीचेकी ओर सीधा करके दीवारका सहारा लेकर यह निश्चय कर लिया कि पिछली अवस्थाको प्राप्त किये बिना न उठेगा। अधिक समय बीतनेके पश्चात् उस अवस्थामें प्रकाशके साथ एक आवाज आयी 'कल आयेंगे'। उसने उत्तर दिया नहीं आज ही आना पड़ेगा। थोड़ी देरके पश्चात् उस प्रकाशमें एक और अत्यन्त दिव्य प्रकाशके साथ एक विशाल दिव्य प्रकाशमय आकृति उसके समक्ष आयी। उस समयकी सारी बातें वह साधक बतलाना नहीं चाहता, किंतु उस सारी रात तथा उसके पश्चात् कई दिनतक सुरीले मनोरञ्जक वेदोंके मन्त्र सुनायी देते रहे। उस दिनसे उसका कार्य फिर पूर्ववत् आरम्भ हो गया; किंतु यह उससे कुछ विचित्र रूपका था। इसमें पिछली-जैसी मनोरञ्जकता और आकर्षण तो न था, किंतु उससे अधिक आध्यात्मिकताकी ओर ले जानेवाला था। सम्भव है कि पिछले अनुभवोंकी सूक्ष्मताको अधिक समयतक सहन करनेयोग्य उसका स्थूलशरीर न हो और उसको कुछ विशेष भोगोंका भोगना और विशेष कार्योंका करना हो।

ईश्वरकी ओरसे जो कुछ भी होता है, वह मनुष्यके कल्याणार्थ ही होता है; किंतु हमारा उद्देश्य केवल इतना बता देना है कि इन शक्तियोंका सांसारिक कार्योंमें प्रयोग न करना चाहिये।

अपने अनुभवोंको दूसरोंपर प्रकट करनेमें जहाँ अपनी इन शक्तियोंका ह्रास होना तथा अभिमान और अहंकारका होना है, वहाँ दूसरोंके लिये भी अहितकर है। योगकी रहस्यपूर्ण बातोंको साधारण लोग समझनेमें असमर्थ होते हैं। परिणामरूप कुछ अन्धविश्वासी बनकर धोका खाते हैं और कुछ पाखण्ड रचकर सीधे-सच्चे लोगोंको धोका देते हैं। परस्पर भी एक दूसरेको अनुभव बतानेमें राग-द्वेष, असन्तोष और अभिमानकी वृत्तियाँ उदय होकर साधनामें विघ्नकारी होती हैं।

सङ्गति—अब चित्त-स्थितिका दूसरा उपाय बतलाते हैं—

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ—विषयवती = (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द) विषयोंवाली; वा = अथवा; प्रवृत्तिः = प्रवृत्ति; उत्पन्ना = उत्पन्न हुई; मनसः = मनकी; स्थितिनिबन्धिनी = स्थितिको बाँधनेवाली होती है।

अन्वयार्थ— अथवा (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द) विषयोंवाली प्रवृत्ति उत्पन्न हुई मनकी स्थितिको बाँधनेवाली होती है।

व्याख्या—नासिकाके अग्रभागमें संयमकी दृढ़तासे जो दिव्य गन्धका साक्षात्कार होता है, उसको गन्धप्रवृत्ति तथा गन्ध-संवित् कहते हैं।

जिह्वाके अग्रभागमें संयमकी स्थिरतासे जो दिव्य रसका साक्षात्कार होता है, उसे रसप्रवृत्ति तथा रससंवित् कहते हैं।

तालुमें संयमकी स्थितिमें जो दिव्य रूपका साक्षात्कार होता है, उसको रूपप्रवृत्ति और रूप-संवित् कहते हैं।

जिह्वाके मध्यभागमें संयम करनेसे जो दिव्य स्पर्शका साक्षात्कार होता है, उसका नाम स्पर्श-प्रवृत्ति और स्पर्श-संवित् है।

जिह्वाके मूलमें संयमकी दृढ़तासे जो दिव्य शब्दका साक्षात्कार होता है, उसको शब्दप्रवृत्ति और शब्दसंवित् कहते हैं।

इस प्रकार ये प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुई चित्तकी स्थितिको बाँधती हैं, संशयको नाश करती हैं, समाधि-प्रज्ञाकी उत्पत्तिमें द्वाररूप होती हैं। चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, मणि, प्रदीप, रत्न, प्रभादिमें चित्तके संयमसे जो इनका साक्षात्कार होता है, वह भी विषयवती प्रवृत्ति ही जाननी चाहिये।

भाष्यकार लिखते हैं कि यद्यपि शास्त्र, अनुमान और आचार्यके उपदेशसे सम्यक् जाना हुआ अर्थ यथार्थ ही होता है; क्योंकि शास्त्र और आचार्य यथार्थ अर्थके प्रतिपादनमें समर्थ होते हैं तथापि शास्त्रों और आचार्योंसे उपदेश किये हुए पदार्थोंमें जबतक किसी एक सूक्ष्मपदार्थका साक्षात्कार नहीं होता, तबतक कैवल्यपर्यन्त सूक्ष्म और सूक्ष्मतम पदार्थोंमें दृढ़ विश्वास नहीं होता। इसलिये शास्त्र, अनुमान और आचार्यके उपदेशमें दृढ़ विश्वास उत्पन्न करनेके लिये किसी एक सूक्ष्म, व्यवहित अथवा विप्रकृष्ट पदार्थका साक्षात्कार संयमकी दृढ़ताके लिये अवश्य करना चाहिये।

जब शास्त्रादि-उपदिष्ट अर्थका एक देशमें जिज्ञासुको प्रत्यक्ष हो जाता है, तब कैवल्यपर्यन्त जितने सूक्ष्म विषय हैं, उन सबमें उसका श्रद्धापूर्वक दृढ़ विश्वास हो जाता है। इसीलिये इन विषयवती प्रवृत्तियोंका निरूपण किया गया है, जिनका शीघ्र साक्षात्कार हो जाता है।

इन प्रवृत्तियोंमेंसे किसी एक प्रवृत्तिके लाभसे उस शास्त्रोक्त अर्थमें वशीकारिता (स्वाधीनता) के होनेसे उस शास्त्रोक्त अर्थके प्रत्यक्ष करनेमें पुरुषकी सहज ही शक्ति हो जाती है और शास्त्रोक्त अर्थमें श्रद्धाकी अधिकतासे श्रद्धा, वीर्य, स्मृति और समाधिका लाभ भी योगीको निर्विघ्न हो जाता है।

अतः विश्वास और श्रद्धाके लिये तथा चित्तकी स्थितिके लिये पहिले इन विषयवती प्रवृत्तियोंमेंसे किसी एकका सम्पादन करना चाहिये।

विशेष विचार—सूत्र ३५—सूत्रकी व्याख्यामें गन्ध-विषयका स्थान नासिकाका अग्रभाग, रसना-विषयका जिह्वाका अग्र-भाग, रूप-विषयका तालु, स्पर्श-विषयका जिह्वाका मध्यभाग और शब्द-विषयका जिह्वाका मूल स्थान बतलाया है।

वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात—इन स्थानोंपर यदि स्थूल ग्राह्य विषयोंका अर्थात् किसी विशेष गन्ध, रस, रूप, स्पर्श अथवा शब्दका ध्यान किया जाय तो जब पूरी एकाग्रता होनेपर उसका साक्षात्कार होने लगे तब वह वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि होगी।

विचारानुगत सम्प्रज्ञात—यदि वहाँ न रुककर एकाग्रताको और अधिक बढ़ाया जाय अथवा इनके सूक्ष्म विषय तन्मात्राओं तकका साक्षात्कार होने लगे तो वह विचारानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि कहलायगी।

आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात—यदि उसमें भी रागको छोड़कर ध्यानको अन्तर्मुख किया जाय तो अहंकारका साक्षात्कार होने लगेगा। यह अहंकार गन्ध आदि विषय-जैसी कोई ग्राह्य वस्तु नहीं है, न इसका इस प्रकार-जैसा साक्षात्कार होता है। इसमें एक विचित्र आनन्दके साथ बाहरके सारे व्यवहारोंसे भूली-जैसी अवस्था होती है; किंतु यह भूलापन स्वप्न अथवा सुषुप्ति-जैसा नहीं होता। इसमें अहं-वृत्तिसे अहंकारका साक्षात्कार होता है। यही अहंकार है और इस समाधिका नाम आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि होगा।

अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात—यदि आनन्दानुगतमें आसक्ति और लगावको छोड़कर ध्यानको और अंदरकी ओर बढ़ाया जाय तो अस्मिता (पुरुषसे प्रतिबिम्बित चित्त सत्त्व) का साक्षात्कार होने लगता है; इसमें भी चित्तका किसी ग्राह्य विषय-जैसा साक्षात्कार नहीं होता। इसकी प्रथम अवस्थाका ही कुछ वर्णन हो सकता है। अन्तिम अवस्थाका यथार्थ रूप शब्दोंमें नहीं आ सकता। इसमें अहंकारद्वारा आत्म-तत्त्वकी अहं-भावसे प्रतीति करानेवाली 'अहंवृत्ति' नहीं रहती। कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ममता, देश, दिशा, काल आदिसे भिन्न आत्म-तत्त्वकी प्रतीति होती है। बीच-बीचमें ध्यानके शिथिल होनेपर जब कोई अहंकारवाली वृत्ति आकर अपने कर्तृत्व, भोक्तृत्व और ममताकी सीमासे परिच्छिन्न अवस्थाकी स्मृति कराती है तो उस दशामें बड़ा आश्चर्य होता है। इसकी उच्चतम अवस्था विवेकख्याति है, जिसमें चित्तसे भिन्न आत्माका साक्षात्कार होता है; किंतु यह चित्तद्वारा आत्मसाक्षात्कार वास्तविक नहीं है।

इसमें भी राग और आसक्तिके छूटनेपर और अंदरकी ओर घुसनेपर (परवैराग्यद्वारा) जब यह वृत्ति भी न रहे, तब सब वृत्तियोंके निरोध होनेपर स्वरूपावस्थिति होती है; किंतु ये सब बातें एक साथ अथवा सुगमता और शीघ्रतासे आनेवाली नहीं हैं। दीर्घकालतक निरन्तर सत्कारसे अभ्यास करते हुए और क्रम-क्रमसे भूमियोंको विजय करते हुए धैर्यके साथ उन्नति करते रहना चाहिये।

अधिकारी पाठकोंकी जानकारीके लिये यह भी बता देना आवश्यक है कि सम्प्रज्ञातकी सिद्धिके लिये भ्रुकुटि (आज्ञा-चक्र) और असम्प्रज्ञात-समाधिकी सिद्धिके लिये ब्रह्मरन्ध्र (सहस्रार) ध्यानके लिये सबसे उत्तम स्थान हैं, किंतु अभ्यासके लिये आरम्भमें अंदरसे इन स्थानोंका अनुमानद्वारा पता लगाना कठिन होता है। यदि रूपविषयका स्थान जो तालु है, उसके समक्ष अंदरसे ध्यान किया जाय तो ध्यान स्वयं भ्रुकुटि (आज्ञाचक्र) तक पहुँच जाता है। इसी प्रकार जिह्वामूल (ऊपरका स्थान अथवा छोटी जिह्वा) जो शब्द-विषयका स्थान है, वहाँसे तालुकी ओर ऊपरको ध्यान किया जाय तो ध्यान ब्रह्मरन्ध्रतक स्वयं पहुँच जाता है। ध्यानके लिये तालुको भ्रुकुटिका द्वार और जिह्वामूल अथवा छोटी जिह्वाको ब्रह्मरन्ध्रका द्वार समझना चाहिये। कहीं-कहीं जिह्वामूलसे ऊपर तालुमूलको एक ललनाचक्रका स्थान बतलाया है।

संगति—चित्त-स्थितिका विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति तीसरा उपाय अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ—विशोका=शोकरहित; वा=अथवा; ज्योतिष्मती=प्रकाशवाली (प्रवृत्ति उत्पन्न हुई मनकी स्थितिको बाँधनेवाली होती है)।

अन्वयार्थ—अथवा शोकरहित प्रकाशवाली प्रवृत्ति उत्पन्न हुई मनकी स्थितिको बाँधनेवाली होती है।

व्याख्या—सूत्रमें 'उत्पन्न मनसः स्थितिनिबन्धिनी'—'उत्पन्न हुई मनकी स्थितिको बाँधनेवाली होती है'—इतना वाक्य शेष है, सो लगाना चाहिये। विशोका=सुखमय (सात्त्विक) अभ्याससे जिसका शोक (दुःख) अर्थात् रजोगुणका परिणाम दूर हो गया है। ज्योतिः=सात्त्विक प्रकाश। ज्योतिष्मती प्रवृत्ति=सात्त्विक प्रकाश जिसमें अधिक या श्रेष्ठ हो, वह प्रवृत्ति ज्योतिष्मती कहलाती है।

जिस प्रकार पूर्वोक्त विषयवती प्रवृत्ति उत्पन्न हुई मनको स्थिर कर देती है, वैसे ही 'विशोका ज्योतिष्मती' संज्ञक प्रवृत्ति भी उत्पन्न होकर चित्तको स्थिर कर देती है।

जैसे विषयवती प्रवृत्तिके नासिका-अग्रभाग, जिह्वा-अग्रभागादि पाँच विशेष स्थान हैं, जहाँ मनको स्थिर किया जाता है; वैसे ही 'विशोका ज्योतिष्मती' प्रवृत्तिके भी सुषुम्णा नाड़ीमें विद्यमान मणिपूरक, अनाहत, आज्ञा आदि सात पद्म अर्थात् चक्र (जिनका सूत्र चौंतीसके वि० व०में वर्णन कर दिया गया है) विशेष स्थान हैं, जहाँ चित्तको स्थिर करना होता है।

भाष्यकारोंने इन चक्रोंमेंसे हृदयकमल अर्थात् अनाहत-चक्रमें मनको स्थिर करनेका वर्णन इस प्रकार किया है—

हृदय-कमलमें धारणा करनेसे (योगीको) जो बुद्धि-संवित् होती है (बुद्धि-सत्त्व भास्वर आकाश-सदृश है), उसमें स्थितिकी दृढ़तासे प्रवृत्ति सूर्य, चन्द्र, मणि और प्रभा रूपाकारसे विकल्पित होती है। इसी भाँति अस्मितामें समापन्न चित्त निस्तरङ्ग समुद्रके सदृश शान्त, अनन्त और अस्मिता मात्र होता है, जिसमें कि यह कहा है 'तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत् सम्प्रजानीते' उस अणुमात्र आत्माको जानकर अस्मि (हूँ) इतना ही जानता है। यह दो प्रकारकी विशोका विषयवती और अस्मितामात्र प्रवृत्ति ज्योतिष्मती कहलाती है, जिससे योगीका चित्त स्थिर होता है।

भाव यह है कि नाभिके ऊपर हृदय-देशमें जो हृदय-पद्म है, यद्यपि वह मुख नीचेकी ओर, नालिकाके ऊपरकी ओर होनेसे अधोमुख है तथापि प्रथम रेचक (जैसे प्रच्छर्दन सूत्र ३४) प्राणायामके अभ्यासद्वारा वह ऊर्ध्वमुख और प्रफुल्लित किया जाता है। उस ऊर्ध्वमुख प्रफुल्लित पद्मके मध्यमें 'ॐ' है, उसका 'अकार' सूर्यमण्डल और जाग्रत् स्थान है। उसके ऊपर 'उकार' चन्द्रमण्डल और स्वप्न-स्थान है। उसके ऊपर 'मकार' वह्निमण्डल ओर सुषुप्ति-स्थान है। उसके ऊपर आकाश-स्वरूप ब्रह्मनाद तथा अर्द्धमात्र तुरीय स्थान है। उस कमलकी कर्णिकाओंमें स्थित जो ऊर्ध्वमुखी सुषुम्णा नाडी है, उसको ब्रह्मनाडी भी कहते हैं (अथवा उसके बीचमें उससे भी सूक्ष्म एक और नाडी है जो ब्रह्मनाडी कहलाती है)। यह नाडी आन्तरिक सूर्यादि मण्डलोंके बीचसे होकर मूर्द्धापर्यन्त चली गयी है। इसलिये यह नाडी बाह्य सूर्यादि मण्डलोंसे भी सम्बद्ध है। यही चित्तका निवास-स्थान है। जब योगी उसमें बुद्धिविषयक संयम करता है, तब वह सात्त्विक ज्योतिःस्वरूप आकाश-तुल्य भासता हुआ चित्त

पा० यो० प्र० ३४—

कभी सूर्य, कभी चन्द्र, कभी नक्षत्र, कभी मणि-प्रभा आदि रूपकी आकृतिवाला भान होता है। फिर उस बुद्धिसत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है। यह ज्योतिःस्वरूप बुद्धि-सत्त्वका साक्षात्कार ज्योतिष्मती प्रवृत्ति-पदका वाच्य है। इसमें पूर्वोक्त सूर्यादि अनेक विषय रहते हैं, इसलिये यह भी विषयवती है और सत्त्वगुण-प्रधान होनेसे यह वृत्ति रजोगुण, तमोगुणसे रहित है, इसलिये विशोका कहलाती है।

इसी प्रकार अस्मितामें धारणा किया हुआ चित्त जब निस्तरङ्ग समुद्रके तुल्य शान्त और अनन्त होकर सत्त्व-प्रधान हो जाता है, तब उस चित्तकी दशाको अस्मिता-मात्र ज्योतिष्मती कहते हैं। इसी अस्मिताके विषयमें पञ्चशिखाचार्यका निम्नलिखित सूत्र है—

तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत्सम्प्रजानीते।

उस अणुमात्र अस्मिताका धारणापूर्वक अनुभव 'हूँ' इस प्रकार जानता है।

इन सबमेंसे प्रथम निरूपित जो बुद्धि—संवित् (बुद्धि-साक्षात्कार-रूप प्रवृत्ति) है, उसका नाम विषयवती ज्योतिष्मती प्रवृत्ति है और दूसरी जो अस्मिता-स्वरूप चित्तकी प्रवृत्ति है, वह अस्मिता-मात्र ज्योतिष्मती कहलाती है। विशोका इन दोनोंका विशेषण है, क्योंकि शोकके कारण रजोगुण-से ये दोनों शून्य हैं।

इन दोनों प्रवृत्तियोंके उत्पन्न होनेसे भी योगीका चित्त स्थितिपदको योग्यता प्राप्त कर लेता है।

सङ्गति—मनके स्थिर करनेका अन्य चौथा उपाय बतलाते हैं—

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ—वीतराग-विषयम् = रागरहित योगियोंके चित्त-विषयक संयम करनेवाला; वा = अथवा; चित्तम् = चित्त (मनकी स्थितिको बाँधनेवाला होता है)।

अन्वयार्थ—अथवा रागरहित योगी-गणके चित्तविषयक संयम करनेवाला (आलम्बनवाला) चित्त मनकी स्थितिको बाँधनेवाला होता है।

व्याख्या— 'मनसः स्थितिनिबन्धिनी'—मनकी स्थितिको बाँधनेवाला होता है— इतना मिलानेसे सूत्रका अर्थ पूरा होता है।

जिन महान् योगियोंने विषयोंकी अभिलाषा पूर्णतया छोड़ दी है, जिसके कारण उनके चित्तसे अविद्यादि क्लेशोंके संस्कार मिट गये हैं, उनके चित्तका ध्यान करनेवाले चित्तमें भी वैसे ही सात्त्विक संस्कार उत्पन्न होते हैं और वह सुगमतासे एकाग्र हो जाता है।

सूत्रका यह भी अर्थ निकल सकता है कि साधक यदि क्रमशः विषयरागरहित अवस्थाको प्राप्त करके पूर्ण वैराग्यकी भूमिपर पहुँच जाय तो भी मनको स्थितिको बाँधनेमें समर्थ हो जाता है।

सङ्गति—चित्तकी एकाग्रताका अन्य पाँचवाँ उपाय अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ—स्वप्न-निद्रा-ज्ञान-आलम्बनम् = स्वप्नज्ञान और निद्राज्ञानको आलम्बन करनेवाला; वा = अथवा (चित्त मनकी स्थितिको बाँधनेवाला होता है)।

अन्वयार्थ— अथवा स्वप्नज्ञान और निद्राज्ञानको आश्रय करनेवाला चित्त मनकी स्थितिको बाँधनेवाला होता है।

व्याख्या—'चित्तं मनसः स्थितिनिबन्धनम्'—'चित्त मनकी स्थितिको बाँधनेवाला होता है'—इतना मिलानेसे सूत्रका अर्थ पूरा होता है।

जाग्रत्-अवस्थामें चित्तमें रजोगुण प्रधान होता है, इस कारण वृत्तियाँ बहिर्मुख होती हैं। स्वप्नमें रजोगुण बना रहता है; परंतु तमोगुणसे आच्छादित होता है, इस कारण वृत्तियाँ अन्तर्मुख हो जाती हैं। निद्रामें तमोगुण रजोगुणको प्रधान-रूपसे पूर्णतया दबा लेता है, इस कारण उस समय केवल अभावकी प्रतीति करानेवाली वृत्ति रहती है।

स्वप्न और निद्रा-ज्ञान आलम्बनसे यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार स्वप्नमें तमोगुणके कारण वृत्तियाँ अन्तर्मुख होती हैं, इसी प्रकार ध्यानकी अवस्थामें तमके स्थानपर सत्त्वगुणसे वृत्तियोंको अन्तर्मुख करना चाहिये और जिस प्रकार निद्रामें तमोगुणकी अधिकतासे अभावकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार सत्त्वगुणकी प्रधानतासे एकाग्रता उत्पन्न करनी चाहिये, जिससे वस्तुका यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो। इस प्रकार स्वप्न और निद्राके ज्ञानका आलम्बन करने (सहारा लेने) से मन स्थिर हो जाता है।

इस सूत्रके ये अर्थ भी निकल सकते हैं कि जिस प्रकार कभी-कभी मनुष्य अच्छे सात्त्विक और मनोरञ्जक स्वप्नके तथा गहरी सात्त्विक निद्राके पश्चात् जागनेपर भी कुछ समयतक यत्नपूर्वक उसी अवस्थाको बनाये रखता है, इसी प्रकार जाग्रत्-अवस्थासे भूले-जैसे होकर वृत्तियोंको अन्तर्मुख करते रहनेसे चित्त एकाग्र हो जाता है।

टिप्पणी सूत्र ३८—विज्ञानभिक्षुने सूत्रकी व्याख्या निम्न प्रकार की है। स्वप्नरूप जो ज्ञान उस आलम्बनवाला चित्त अर्थात् प्रपञ्च-ज्ञानमें स्वप्नदृष्टिवाला चित्त जैसा कि कहा है 'दीर्घ-स्वप्नमिमं विद्धि दीर्घं वा चित्तविभ्रमम्' 'इस प्रपञ्चको लंबा स्वप्न जानो या लंबा चित्तका भ्रम समझो' यह दृष्टि कामदुघत्वादि गुणोंसे वाणीमें धेनु-दृष्टिके समान है। क्षणभंगुर आदि गुणोंसे जाग्रत् ज्ञानमें दृष्टिरूप है। यह भी वैराग्यद्वारा चित्तकी स्थिरताकी कारण है—यह आशय है। निद्रारूप ज्ञान ही है आलम्बन जिसका वह निद्रा-ज्ञान-आलम्बन चित्त स्थिर हो जाता है। विस्मृतरूप सब जीवोंमें सुषुप्ति दृष्टिवाला चित्त स्थिर हो जाता है। जैसा कि कहा है—

> ब्रह्माद्यं स्थावरान्तं च प्रसुप्तं यस्य मायया।
> तस्य विष्णोः प्रसादेन यदि कश्चित् प्रमुच्यते॥
> चराचरं लय इव प्रसुप्तमिह पश्यताम्।
> किं मृषा व्यवहारेषु न विरक्तं भवेन्मनः॥

ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त जिसकी मायासे प्रसुप्त है, उस विष्णुकी कृपासे ही कोई मुक्त होता है। यहाँ इस चराचरको लयकी भाँति प्रसुप्त देखनेवाले पुरुषका मन मिथ्या व्यवहारमें विरक्त क्यों न हो अर्थात् अवश्य हो जाता है।

सङ्गति—मनुष्योंकी रुचियाँ भिन्न-भिन्न होनेसे जिस वस्तुमें जिसकी अधिक रुचि हो, उसीका वह ध्यान करे—अगले सूत्रमें यह बतलाकर प्रवृत्तिके प्रकरणको समाप्त करते हैं—

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ—यथा-अभिमत-ध्यानात् = जिसको जो अभिमत हो उसके ध्यानसे (मनकी स्थिति बँध जाती है); वा = अथवा ।

अन्वयार्थ—अथवा जो जिसको अभिमत (इष्ट) हो, उसके ध्यानसे मनकी स्थिति बँध जाती है।

व्याख्या—मनुष्योंकी भिन्न-भिन्न रुचियाँ होती हैं, इस कारण जिसकी जिसमें शास्त्रीय मर्यादानुसार सात्त्विक श्रद्धा हो, उसमें ध्यान लगानेसे चित्त एकाग्र हो जाता है ।

इस प्रकार जब चित्तमें एकाग्रताकी योग्यता प्राप्त हो जाय तो उसको जहाँ चाहें लगा सकते हैं।

सङ्गति—चित्तके एकाग्र करनेके उपाय बतलाकर अगले सूत्रमें उनका फल बतलाते हैं—

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ—परमाणु-परम-महत्त्व-अन्तः = परमाणु (सबसे बढ़कर सूक्ष्म) और परम-महत्त्व (सबसे बढ़कर महान्) पदार्थों पर्यन्त; अस्य = पूर्वोक्त उपायोंसे स्थित हुए चित्तका; वशीकारः = वशीकार हो जाता है ।

अन्वयार्थ—पूर्वोक्त उपायोंसे स्थित हुए चित्तका सूक्ष्म पदार्थोंमें परमाणुपर्यन्त और महान् पदार्थोंमें परम-महान् (आकाश) पर्यन्त वशीकार हो जाता है ।

व्याख्या—जब ऊपर बतलाये हुए उपायोंसे चित्तमें एकाग्र होनेकी योग्यता प्राप्त हो जाती है, तब वह पूर्णतया वशमें हो जाता है और छोटे-से-छोटे तथा बड़े-से-बड़े विषयमें बिना रुकावटके लगाया जा सकता है । फिर अन्य किसी उपायकी आवश्यकता नहीं रहती । सूक्ष्म विषयोंकी अवधि परमाणु है और बृहत् विषयोंकी अवधि आकाश है । जब इन दोनोंमें चित्त स्थित हो जाता है, तब स्थिरता चित्तके वशीभूत हो जाती है अर्थात् इच्छानुसार चित्तको स्थिर किया जा सकता है । इस प्रकार दोनों कोटियोंमें जाते हुए चित्तका जो रुकावटका न होना है, वह चित्तका परम वशीकार कहलाता है । इस वशीकारसे परिपूर्ण हुआ योगीका चित्त पुनः किसी अन्य अभ्यास-साध्य-स्थिति-उपायकी अपेक्षा नहीं रखता ।

सङ्गति—इस प्रकार इन उपायोंद्वारा संस्कृत हुए चित्तकी किस स्वरूपवाली, किस विषयवाली और कैसी समापत्ति होती है ?—यह बतलाते हैं—

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ।४१।

शब्दार्थ—क्षीण-वृत्तेः = जिसकी राजस-तामस वृत्तियाँ क्षीण हो गयी हैं (ऐसे स्वच्छ चित्तकी); अभिजातस्य-मणेः इव = उत्तम जाति (अति-निर्मल) स्फटिक मणिके समान; ग्रहीतृ = अस्मिता; ग्रहण = इन्द्रिय; ग्राह्येषु = स्थूल भूतादि पदार्थ तथा तन्मात्रातक सूक्ष्म विषयोंमें, तत्स्थ = एकाग्र स्थित होकर तदञ्जनता = उन्हींके स्वरूपको प्राप्त हो जाना; समापत्तिः = समापत्ति (तदाकार होना) है ।

अन्वयार्थ—राजस-तामस वृत्तिरहित स्वच्छ चित्तकी उत्तम जातीय (अति-निर्मल) मणिके समान ग्रहीता (अस्मिता), ग्रहण (इन्द्रियाँ), ग्राह्य (स्थूल तथा सूक्ष्म विषयों) में स्थित होकर उनके तन्मय हो जाना (उनके स्वरूपको प्राप्त हो जाना) समापत्ति (तद्रूप होना) है ।

व्याख्या—यहाँ ऊपर बतलाये हुए उपायोंसे स्वच्छ हुए चित्तकी उपमा अति-निर्मल स्फटिक अर्थात्

बिल्लोरसे दी गयी है । जिस प्रकार अति-निर्मल स्फटिकके सामने जैसी वस्तु नीली, पीली अथवा लाल वर्णकी रखी जाय तो वह वैसा ही प्रतीत होता है । इसी प्रकार चित्तकी जब सब प्रकारकी राजस-तामस वृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं, तब वह सत्त्वके प्रकाश और सात्त्विकताके बढ़नेसे इतना स्वच्छ हो जाता है कि उसको जिस वस्तुमें लगावें उसके तदाकार होकर उसको साक्षात् करा देता है, चाहे वह ग्राह्य अर्थात् स्थूल अथवा सूक्ष्म विषय हो, चाहे ग्रहण अर्थात् इन्द्रियाँ और अहंकार और चाहे ग्रहीतृ अर्थात् अस्मिता हो ।

यह वस्तुका साक्षात् कराना इस प्रकार होता है कि वह उस वस्तुके स्वरूपको धारण कर लेता है । चित्तके इस प्रकार तदाकार (वस्तु-आकार) हो जानेका नाम समापत्ति अर्थात् सम्प्रज्ञात-समाधि है।

यद्यपि अनुष्ठानके क्रमसे ग्राह्य, ग्रहण, ग्रहीतृ होना चाहिये था तथापि ध्येयकी और समाधिकी उत्कृष्टता-अपकृष्टता बतलानेके अभिप्रायसे ग्रहीतृ, ग्रहण, ग्राह्य इस क्रमसे सूत्रमें इसको बतलाया गया है ।

सङ्गति—अब इस समापत्तिके चार भेद दिखलाते हैं—

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ—तत्र = उन समापत्तियोंमेंसे; शब्द-अर्थ-ज्ञान-विकल्पैः = शब्द, अर्थ और ज्ञानके विकल्पोंसे (भेदोंसे); संकीर्णा = मिली हुई; सवितर्का-समापत्तिः = सवितर्क समापत्ति है । तर्क शब्दका प्राचीन अर्थ शब्दमय चिन्ता है । वितर्क = विशेष तर्क । जिस समाधि प्रज्ञामें वितर्क रहता है, वह सवितर्का समापत्ति है ।

अन्वयार्थ—उन समापत्तियोंमेंसे शब्द, अर्थ और ज्ञानके विकल्पों (भेदों) से मिली हुई (अर्थात् इन तीनों भिन्न-भिन्न पदार्थोंका अभेदरूपसे जिसमें भान होता है) सवितर्क समापत्ति होती है ।

व्याख्या— शब्द—जो कर्णेन्द्रियसे ग्रहण किया जा सके, अथवा अर्थोंके विशेष योजना-रूप हो; जैसे 'गौ' ।

अर्थ—जाति आदि, जैसे 'गौ'—चार पाद, दो सींग, सास्ना और पुच्छवाला पशु-विशेष ।

ज्ञान—इन शब्द और अर्थ दोनोंका प्रकाश करनेवाली सत्त्वप्रधान बुद्धिवृत्ति जो शब्द 'गौ' और उसके अर्थ 'गौ' को मिलाकर बतलाती है कि जो 'गौ' शब्द है उसीका यह 'गौ' पशु-विशेष अर्थ है।

ये तीनों भिन्न हैं, परंतु निरन्तर अभ्यासके कारण मिले हुए प्रतीत होते हैं । जब 'गौ' में चित्तको एकाग्र किया जाय, तब समाधिस्थ चित्तमें 'गौ' अर्थ, 'गौ' शब्द और 'गौ' ज्ञानके भेदोंसे वह मिला हुआ भासे अर्थात् जब इन तीनोंमें तदाकार रहे, तब उस समापत्तिको सवितर्क समापत्ति कहेंगे। इसीको सविकल्प भी कहते हैं; क्योंकि इसमें शब्द, अर्थ और ज्ञान—इन तीनोंका विकल्प बना रहता है । जब शब्द और ज्ञानका विकल्प (भेद) जाता रहे और केवल 'गौ' अर्थ ही चित्तमें भासता रहे, तब वह निर्वितर्क (वितर्करहित) समापत्ति कहलाती है ।

इसको विस्तार-रूपसे यों समझना चाहिये कि 'गौ' ऐसा कहनेसे 'गौ अर्थ', 'गौ-शब्द' और 'गौ-ज्ञान' तीनों अभिन्न भान होते हैं। इनमें यद्यपि उदात्त, अनुदात्त आदि धर्मवाला 'गौ' शब्द भिन्न है, 'गौ' शब्दका अर्थ सास्ना, शृङ्ग, पुच्छ आदि धर्मवाला पशु-विशेष भिन्न है और 'गौ' शब्दसे जो ज्ञान होता है वह प्रकाश आदि धर्मवाला ज्ञान भी भिन्न है । इसी प्रकार घट-पट आदि शब्द, अर्थ और ज्ञान

भिन्न-भिन्न ही होते हैं, तथापि शब्द, अर्थ और ज्ञानका अभेद-सा भान होता है। इसलिये असत्य, अभेद-विषयक होनेसे यह भान विकल्प-रूप ही है (१ । ९)।

जैसे कि 'गौ' यह शब्द है; यह एक विकल्प है। यह विकल्प 'गौ' इस अंशसे गृहीत हुए अर्थका और ज्ञानका शब्दसे अभेद-विषयक है। इसी प्रकार 'गौ' यह अर्थ है; यह दूसरा विकल्प है। ऐसे ही 'गौ' यह ज्ञान है; यह तीसरा विकल्प है। यह विकल्प 'गौ' इस अंशसे गृहीत हुए शब्दका और अर्थका ज्ञानसे अभेद-विषयक है।

भाव यह है कि शब्द, अर्थ और ज्ञान—ये तीनों परस्पर भिन्न-भिन्न हैं, परंतु शब्द-संकेतकी स्मृतिसे एकका ज्ञान होनेसे दूसरे दोनोंका भी साथ ही भान होता है। इससे शब्द-ज्ञानपूर्वक—इस शब्द, अर्थ, ज्ञानके असत्य अभेद-विषयक होनेसे यह ज्ञान विकल्परूप है।

इसलिये संकेत-स्मृतिपूर्वक स्थूलभूत अर्थ या भौतिक पदार्थमें समाहित योगीके जो शब्द, अर्थ और ज्ञानके विकल्पसे मिश्रित समाधि होती है, वह सवितर्क समापत्ति है।

और जब शब्द-संकेतकी स्मृतिके परित्यागपूर्वक कार्यरूप आगम और अनुमानरूप विकल्पसे रहित, जिस समाधि-अवस्थामें स्थूलभूत या भौतिक-रूप अर्थमात्रका ही भान होता है, वह निर्वितर्क समापत्ति कहलाती है।

संकेत-स्मृतिपूर्वक सवितर्क-समाधि अवस्थामें जो शब्दसे और ज्ञानसे मिश्रित स्थूलभूत अथवा भौतिक पदार्थका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसको विकल्प होनेसे अप्रत्यक्ष ही कहना चाहिये; क्योंकि शब्दसंकेतकी स्मृतिपूर्वक जो ज्ञान होता है; वह विकल्परूप ही होता है।

संकेत-स्मृतिके परित्यागपूर्वक निर्वितर्क समापत्ति अवस्थामें शब्दसे और ज्ञानसे रहित जो अर्थमात्रका प्रत्यक्ष होता है, उसको पर-प्रत्यक्ष कहते हैं। वह पर-प्रत्यक्ष आगम-ज्ञानका और अनुमान-ज्ञानका बीज है, क्योंकि इस पर-प्रत्यक्षके बलसे ही योगीजन उपदेश करते हैं और उपदिष्ट अर्थका अनुमानद्वारा निश्चय कराते हैं। जैसे महर्षि कपिल, भगवान् पतञ्जलि, याज्ञवल्क्य आदि योगीश्वरोंने उसी पर-प्रत्यक्षके बलसे शब्दसंकेतके बोधनद्वारा शास्त्र-स्मृति आदि रूप प्रथम उपदेश किया था। इसलिये महर्षि कपिल आदि योगीजनोंका वह पर-प्रत्यक्ष संकेत-बोधनद्वारा आगमज्ञानका और अनुमान-ज्ञानका कारण है।

अर्थात् उस पर-प्रत्यक्षसे आगम और अनुमानज्ञान उत्पन्न होते हैं। आगम और अनुमान-ज्ञानके पश्चात् पर-प्रत्यक्ष नहीं होता, किंतु उसके आश्रित आगम और अनुमान होता है। इसलिये योगीको निर्वितर्क-समाधिसे उत्पन्न हुआ पर-प्रत्यक्ष ज्ञान दूसरे प्रमाणोंसे असम्बद्ध होता है।

संगति—इस निर्वितर्क समापत्तिका लक्षण अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ—स्मृति-परिशुद्धौ = स्मृतिके शुद्ध हो जानेपर (अर्थात् आगम, अनुमान, ज्ञानके कारणीभूत शब्दसंकेत स्मरणके निवृत्त होनेसे); स्वरूपशून्या इव = स्वरूपसेशून्य-जैसी (अर्थात् अपने ग्रहण आकार ज्ञानात्मकरूपसे रहित चित्तवृत्ति); अर्थमात्रनिर्भासा = अर्थमात्र-सी भासनेवाली (अर्थात् केवल ग्राह्य-रूप अर्थमात्रको ही प्रकाश करनेवाली); निर्वितर्का = निर्वितर्क समापत्ति है।

अन्वयार्थ—स्मृतिके शुद्ध हो जानेपर (अर्थात् आगम-अनुमानके कारणीभूत शब्द-संकेत स्मरणके निवृत्त होनेसे) अर्थमात्र-सी भासनेवाली अपने (ग्रहण कार ज्ञानात्मक) रूपसे रहित (चित्तवृत्ति)

निर्वितर्क समापत्ति है ।

व्याख्या—'स्वरूपशून्या इव' में 'इव' शब्दसे यह बतलाया है कि चित्त अपने ग्रहणात्मक स्वरूपसे नितान्त शून्य नहीं हो जाता है, क्योंकि ऐसा होनेपर अपने ग्राह्य अर्थके स्वरूपकी धारणा नहीं कर सकता । वह अर्थके ग्राह्यमात्र स्वरूपमें इतना तदाकार हो जाता है कि अपने ग्रहणात्मक स्वरूपसे शून्य-जैसा प्रतीत होता है ।

सवितर्क समापत्तिमें चित्तमें शब्द, अर्थ और ज्ञान—तीनों भासते रहते हैं, अर्थात् चित्त इन तीनोंमें तदाकार रहता है । जितनी एकाग्रता बढ़ती जाती है उतनी ही बाह्यवृत्ति अन्तर्मुख होती जाती है । जब एकाग्रता इतनी सीमातक पहुँच जाय कि शब्द और उस शब्दके अर्थके सम्बन्धसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है, इन दोनोंकी स्मृति भी न रहे और चित्त अपने ग्रहणात्मक स्वरूपसे शून्य-जैसा होकर उस बाह्य वस्तुके, जिसमें वह लगाया गया है, शब्द और ज्ञानसे निखरे हुए केवल अपने निजी अर्थमात्र स्वरूपको साक्षात् करावे अर्थात् शब्द और ज्ञानको छोड़कर केवल ध्येय-वस्तुके तदाकार हो जाय तो उस समापत्तिको निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं । इसीका निर्विकल्प भी नाम है; क्योंकि इसमें शब्द और ज्ञान-का विकल्प नहीं रहता ।

सूत्र ४२ में बतला आये हैं कि तर्क शब्दका प्राचीन अर्थ शब्दमय चिन्ता है । वितर्क = विशेष तर्क । और सूत्र ९ में विकल्पोंको भेदमें अभेद और अभेदमें भेद ज्ञान करानेवाली वृत्ति बतलाया गया है। जब चित्त अर्थ गौके साथ शब्द गौ और ज्ञान गौमें भी तदाकार हो रहा हो तब चित्त तीन आकारवाला होगा और अर्थ गौको पूर्णरूपसे न दर्शा सकेगा । अतः ये तीन आकारवाली वृत्ति सवितर्क अथवा सविकल्प समापत्ति कहलावेगी। किंतु जब सत्त्वका प्रकाश इतना बढ़ जावे कि वह रज और तमको दबाकर जितने अंशमें चित्त शब्द गौ और ज्ञान गौमें तदाकार हो रहा हो उससे शून्य-जैसा करके उसमें भी गौ अर्थमें तदाकार करने लगे तब यह पूर्णतया गौ अर्थसे भासनेवाली चित्तकी एकाकारवाली वृत्ति निर्वितर्क या निर्वि-कल्प समापत्ति कहलावेगी । इसी प्रकार सूत्र ४४ में सविचार और निर्विचार समापत्तिको सूक्ष्म विषयमें समझ लेना चाहिये ।

विशेष विचार—(सूत्र ४३)—सवितर्क-समापत्तिसे निर्वितर्क-समापत्तिमें भेदबोधक जो 'अर्थमात्र-निर्भासा' पद है, उसके अर्थको यों समझना चाहिये कि जैसे सवितर्क समापत्तिमें ग्राह्य ध्येय पदार्थ तथा ग्राह्य ध्येय पदार्थका वाचक शब्द और ग्राह्य ध्येय पदार्थका ज्ञान—ये तीनों विषय चित्तमें वर्तमान रहते हैं, वैसे निर्वितर्क समापत्तिमें ये तीनों विषय चित्तमें नहीं रहते हैं, क्योंकि इस दशामें केवल ग्राह्य (ध्येय) वस्तुविषयक ही चित्त स्थिर रहता है, शब्द और ज्ञानविषयक नहीं रहता । इसलिये इसको 'अर्थमात्र-निर्भासा' कहते हैं; क्योंकि इस समापत्तिमें शब्द, अर्थ, ज्ञान-रूप (त्रिपुटीरूप) विकल्पका भान न होकर केवल अर्थाकारसे ही चित्त विद्यमान रहता है ।

यद्यपि इस अवस्थामें ग्रहणाकार ज्ञानात्मक चित्तवृत्ति भी रहती है, परंतु वह अपने रूपसे भान नही होती है, किंतु ध्येयरूप ही हो जाती है, इसलिये 'स्वरूपशून्या इव' में यह 'इव' पद दिया है ।

शब्द और ज्ञान भान न होकर केवल अर्थका ही भान क्यों होता है ? इसमें हेतु दिखलानेके लिये 'स्मृतिपरिशुद्धौ' यह पद प्रयोग किया है, अर्थात् यदि विकल्पात्मक आगम-अनुमान ज्ञानके कारणीभूत शब्द-संकेतका स्मरण इसमें रहता तो शब्द और ज्ञानका भी भान होता । परंतु वह स्मरण इस दशामें नहीं रहता; क्योंकि उसकी इस दशामें परिशुद्धि (निवृत्ति) हो गयी है । इसलिये शब्द और ज्ञानका भान न होकर केवल स्थूल 'गौ' 'घटादि' पदार्थोंके स्वरूपका ही भान होता है, अन्यथा नहीं ।

टिप्पणी—(सूत्र ४३)—यहाँ प्रसङ्गसे भाष्यकारोंने यह भी बतलाया है कि इस निर्वितर्क समापत्तिके विषयभूत जो स्थूल 'गो' 'घटादि' पदार्थ हैं, वे न तो* अणु-समुदायरूप हैं, न† ज्ञानस्वरूप हैं और न‡ अणुओंसे उत्पन्न भिन्न कार्यस्वरूप हैं। = किंतु 'यह घट है' इस एकबुद्धिके उत्पन्न करनेवाले अणुओंका स्थूल परिणाम-विशेष है।

संगति—इस प्रकार स्थूलभूत तथा भौतिक पदार्थ-विषयक ग्राह्य समापत्तिके सवितर्क-निर्वितर्क-रूप दो भेद निरूपण करके अगले सूत्रमें सूक्ष्म पदार्थविषयक समापत्तिके सविचार-निर्विचार दो भेद निरूपण करते हैं—

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ—एतया-एव = इस सवितर्क-निर्वितर्क समापत्तिहीके निरूपणसे; सविचारा निर्विचारा च = सविचार और निर्विचार समापत्ति भी; सूक्ष्म-विषया = सूक्ष्म विषयवाली; व्याख्याता = व्याख्यानकी हुई समझनी चाहिये।

अन्वयार्थ—इस सवितर्क और निर्वितर्क समापत्तिके निरूपणसे ही सविचार और निर्विचार समापत्तियाँ सूक्ष्म विषयमें व्याख्यान की हुई समझनी चाहिये।

व्याख्या—जब ध्येय कोई सूक्ष्म विषय हो और चित्त उसके देश, काल और निमित्त* विचारसे मिला हुआ तद्रूप होकर उसको साक्षात् करावे, तब वह सविचार समापत्ति कहलाती है; और चित्त जब एकाग्रताके बढ़नेपर देश, काल और निमित्त आदिकी स्मृतिसे शुद्ध होकर उस सूक्ष्म विषयको केवल धर्मिमात्र स्वरूपसे तदाकार होकर प्रकाश करे, तब वह निर्विचार समापत्ति कहलाती है।

अर्थात् जैसे स्थूलभूत या भौतिक पदार्थोंमें शब्द, अर्थ, ज्ञानके विकल्पसे संकीर्ण (मिश्रित) सवितर्क समापत्ति होती है, वैसे ही देश कालरूप विशेषणोंसे अनुभवपूर्वक सूक्ष्मभूत परमाणुओंमें जो शब्द, अर्थ ज्ञानके विकल्पोंसे मिश्रित समापत्ति है, वह सविचार समापत्ति कहलाती है, अर्थात् ऊपर-नीचे आदि जो देश, वर्तमान आदि काल और कार्य-कारणरूप जो ज्ञान है, जैसे पार्थिव परमाणु (सूक्ष्म पृथ्वी) का गन्धतन्मात्र-प्रधान पञ्च तन्मात्राएँ कारण हैं; जल परमाणु (सूक्ष्म जल) का गन्धतन्मात्ररहित रसतन्मात्रप्रधान चार तन्मात्राएँ कारण हैं; अग्नि परमाणु (सूक्ष्म अग्नि) का गन्ध-रसतन्मात्ररहित रूपतन्मात्रप्रधान तीन तन्मात्राएँ कारण हैं; एवं वायु परमाणु (सूक्ष्म वायु) का गन्ध-रस-रूपतन्मात्ररहित स्पर्शतन्मात्रप्रधान दो तन्मात्राएँ कारण हैं; एवं आकाश परमाणु (सूक्ष्म आकाश) का केवल शब्द तन्मात्र ही कारण है।

ऐसे देश-काल और कार्य-कारण अनुभवपूर्वक जो सूक्ष्म तन्मात्राओं सवितर्क समापत्तिके सदृश शब्द, अर्थ, ज्ञानके विकल्पोंसे मिश्रित समापत्ति होती है, वह सविचार समापत्ति है।

और देश-काल, कार्य-कारण-रूप विशेषणोंके अनुभवके त्यागपूर्वक और विकल्पज्ञानकी कारण शब्दसंकेतकी स्मृतिसे परिशुद्ध हुए सूक्ष्मभूत परमाणुरूप अर्थमात्र-विषयक जो समापत्ति स्वरूपसे शून्य-जैसी अर्थमात्रके रूपमें भासमान (प्रकाशमान) होती है, वह निर्विचार समापत्ति कहलाती है।

---

* वैभाषिक सौत्रान्तिक-संज्ञक बौद्धमतवालोंका सिद्धान्त है कि जितने स्थूल घटादि पदार्थ दृष्टिगोचर हो रहे हैं, वे अनन्त परमाणु ही मिले हुए हैं; परमाणुओंका कार्य या परिणाम घटादि नहीं है, अतः परमाणु-पुञ्ज ही घट है; इस सिद्धान्तको संघातवाद कहते हैं।

† योगाचार-संज्ञक विज्ञानवादी बौद्धोंका मत है कि यह सब घट आदि विज्ञानस्वरूप हैं।

‡ नैयायिक तथा वैशेषिक यह मानते हैं कि अणुओंसे द्व्यणुक, द्व्यणुकसे त्रसरेणु इत्यादि प्रकारसे परमाणु आदिका कार्य घट है; इस सिद्धान्तका नाम आरम्भवाद है।

= इन तीनोंसे भिन्न सांख्ययोगका सिद्धान्त परिणामवाद है, जिसको यहाँ सिद्ध किया गया है।

इस निर्विचार समापत्तिमें भी निर्वितर्क समापत्तिके समान प्रज्ञा-संज्ञक चित्तकी वृत्ति स्वरूपसे शून्य-जैसी होकर अर्थमात्रसे भासती है।

भाव यह है कि सविचार समापत्तिमें (सूक्ष्म पृथ्वी गन्धतन्मात्र-प्रधान पञ्चतन्मात्राओंसे उत्पन्न हुई है और गन्ध इसका धर्म है इत्यादि प्रकारसे) कार्य-कारण-भावका विचार विद्यमान रहता है और निर्विचारमें केवल सूक्ष्मभूतोंका ही भान होता है, पूर्वोक्त विचार नहीं होता। यही इन दोनोंमें भेद है।

इस प्रकार स्थूल पदार्थ-विषयक सवितर्क-निर्वितर्क और सूक्ष्म पदार्थ-विषयक सविचार-निर्विचार-रूप भेदसे यह समापत्ति चार प्रकारकी है।

टिप्पणी सूत्र ४४—समापत्ति और सम्प्रज्ञात-समाधि पर्यायवाचक शब्द हैं।

सवितर्क समाधिके समान सविचार समापत्तिको भी नाम (शब्द), रूप (अर्थ) और ज्ञानके विकल्पोंसे संयुक्त होनेके कारण सविकल्प कहते हैं। इसी प्रकार निर्विचार समाधिको, जिसमें स्मृतिके परिशुद्ध होनेपर अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञानके विकल्पोंसे रहित होकर चित्तवृत्ति केवल अर्थमात्रसे भासती है, निर्विकल्प भी कहते हैं। निर्विकल्पको असम्प्रज्ञात समाधि समझ लेना बड़ी भूल है, क्योंकि निर्विकल्प-में यद्यपि त्रिपुटीका अभाव होता है तथापि संसारका बीज बना ही रहता है और असम्प्रज्ञात समाधिमें शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति होती है।

ध्यान, सवितर्क तथा सविचार-समापत्ति और समाधिमें भेद

ध्यानमें ध्याता, ध्यान और ध्येयकी त्रिपुटि बनी रहती है।

सवितर्क और सविचार समापत्तिमें केवल ध्यानविषयक ही शब्द, अर्थ और ज्ञानसे मिला हुआ विकल्प रहता है।

समाधिमें केवल ध्येयका स्वरूपमात्र ही रह जाता है।

अतः सवितर्क और सविचार समापत्ति ध्यानसे उत्तर एवं समाधिकी पूर्व अवस्था है। इसे तटस्थ समापत्ति भी कहते हैं; इसलिये इसे भी समाधि समझा जाता है।

सङ्गति—सूक्ष्म विषय कहाँतक हैं, यह अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ—सूक्ष्म-विषयत्वं च = और सूक्ष्म-विषयता; अलिङ्गपर्यवसानम् = किसीमें लीन न होनेवाली अथवा लिङ्गरहित मूल-प्रकृति (गुणोंकी साम्यावस्था) पर्यन्त है।

अन्वयार्थ—सूक्ष्मविषयता अलिङ्ग प्रकृतिपर्यन्त है।

व्याख्या—सूक्ष्म-विषय जो सविचार और निर्विचार समापत्तिमें बतलाये हैं, उनकी सूक्ष्मविषयता परमाणुओंमें समाप्त नहीं हो जाती, किंतु प्रकृति-पर्यन्त है।

अर्थात्* पार्थिव-परमाणु तथा इसका कारणभूत गन्धतन्मात्रा, जल-परमाणु तथा इसका कारणीभूत रसतन्मात्रा, अग्नि-परमाणु तथा इसका कारणीभूत रूपतन्मात्रा, वायु-परमाणु तथा इसका कारणीभूत स्पर्श-

* शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन पाँच तन्मात्राओंसे प्रथम आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी संज्ञक सूक्ष्मभूत उत्पन्न होते हैं। तत्पश्चात् सूक्ष्मभूतोंसे आकाशादि स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं। पाँचों स्थूलभूतोंसे लेकर पाँचों तन्मात्राओंतक सूक्ष्म भूतोंकी सूक्ष्मताका तारतम्य चला गया है।

तन्मात्रा, आकाश-परमाणु तथा इसका कारणीभूत शब्दतन्मात्रा एवं पञ्चतन्मात्राओंका कारणीभूत अहंकार, अहङ्कारका कारणीभूत लिङ्ग-संज्ञक महत्तत्त्व और महत्तत्त्वका कारण* अलिङ्ग-संज्ञक प्रकृति—ये सब सूक्ष्म विषयोंके अन्तर्गत हैं।

इन सबमेंसे पूर्व-पूर्व कार्यकी अपेक्षासे उत्तर-उत्तर कारणीभूत सूक्ष्म हैं। प्रकृतिसे परे अन्य किसी सूक्ष्म पदार्थके न होनेसे प्रकृतिमें ही सूक्ष्मताकी पराकाष्ठा है।

यद्यपि 'अव्यक्तात्पुरुषः परः' इस श्रुतिसे प्रकृतिकी अपेक्षा पुरुष सूक्ष्म है तथापि पुरुषके अग्राह्य और चेतन होनेसे उसकी सूक्ष्मता जडतत्त्वकी सूक्ष्मतासे विलक्षण है।

अर्थात् जैसे महत्तत्त्वकी अपेक्षासे प्रकृतिमें सूक्ष्मता है वैसी पुरुषमें नहीं; क्योंकि जिस प्रकार महत्तत्त्वका प्रकृति उपादान कारण है वैसा पुरुष उपादान कारण नहीं है, किंतु निमित्त-कारण है। इसलिये यद्यपि वस्तुतः पुरुष ही सूक्ष्मतम है तथापि जड-ग्राह्य, परिणामी उपादानकारणसहित सूक्ष्मताकी विश्रान्ति यहाँ प्रकृतिमें बतलायी गयी है।

सूक्ष्मभूतोंसे लेकर प्रकृतिपर्यन्त जितने सूक्ष्म पदार्थ हैं, वे सब विचार समापत्तिके विषय हैं। इसलिये आनन्दानुगत और अस्मितानुगत निर्विचार समापत्तिकी ग्रहण और ग्रहीता-रूप उच्चतर तथा उच्चतम अवस्थाएँ हैं।

सूक्ष्मता किसी नये तत्त्वके उपादान-कारण होनेकी अपेक्षासे बतलायी गयी है, इसलिये पाँच स्थूल भूत और ग्यारह इन्द्रियाँ किसी नये तत्त्वके उपादानकारण न होनेसे स्थूल विषय माने गये हैं।

विशेष वक्तव्य सूत्र ४५—इस सूत्रमें केवल सूक्ष्म विषयोंकी सूक्ष्मताकी पराकाष्ठा बतलायी गयी है। इससे यह न समझना चाहिये कि अलिङ्ग मूल-प्रकृति भी योगीके संयमका विषय बन सकती है; क्योंकि—(१) वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधिमें केवल विकृति अर्थात् स्थूलभूतों और उनसे बनी हुई चीजोंका साक्षात्कार होता है। विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधिमें स्थूलभूतोंकी प्रकृति सूक्ष्मभूतोंसे लेकर तन्मात्राओं-तकका जो अहङ्कारकी विकृति हैं साक्षात्कार होता है। विचारानुगतकी उच्चतर भूमि आनन्दानुगत सम्प्रज्ञातसमाधिमें उनकी प्रकृति अहङ्कारका जो महत्तत्त्व अर्थात् चित्तकी विकृति हैं साक्षात्कार होता है। और विचारानुगतकी उच्चतम भूमि अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधिमें उसकी प्रकृति अस्मिता अर्थात् आत्मासे प्रकाशित चित्तका जो अलिङ्ग मूल-प्रकृतिकी विकृति है साक्षात्कार होता है। उसके पश्चात् मूल प्रकृतिका साक्षात्कार नहीं होता है, प्रत्युत विवेकख्यातिद्वारा चित्त और आत्माके भेदका ज्ञान होता है।

(२) विकृति व्यक्त होती है, उससे उसकी सूक्ष्मतर अव्यक्त प्रकृति अनुमानगम्य होती है। वितर्कानुगत सम्प्रज्ञातसमाधिमें केवल विकृति अर्थात् व्यक्त स्थूल भूतोंका साक्षात्कार होता है। उससे उनकी अव्यक्त प्रकृति - सूक्ष्म भूतोंका अनुमान किया जाता है। विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधिमें जब उनकी प्रकृति—सूक्ष्म भूतोंका साक्षात्कार होता है, तब वे व्यक्त हो जानेसे किसी अव्यक्त प्रकृतिकी विकृति सिद्ध

* जो तत्त्व कारणमें लीन हो जाता है अथवा कारणका बोधन करता है, वह लिङ्ग कहलाता है। अर्थात् स्थूल-भूत और इन्द्रियाँ विशिष्टलिङ्ग हैं, सूक्ष्मभूत तन्मात्राएँ और अहंकार अविशिष्ट-लिङ्ग हैं और महत्तत्त्व केवल लिङ्गमात्र है। ये महत्तत्त्व आदि अपने-अपने कारणमें लीन होनेसे और अपने कारण प्रधानको बोधन करनेसे लिङ्ग हैं। प्रधान-प्रकृति किसीमें लीन न होनेसे और किसी कारणको बोधन न करनेसे अलिङ्ग है।

होते हैं। अतः उनकी अव्यक्त प्रकृति अहङ्कार अनुमानगम्य होती है। आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधिमें जब अहङ्कारका साक्षात्कार होता है, तब वह व्यक्त हो जानेसे विकृतिरूप सिद्ध होता है और उसकी अव्यक्त प्रकृति अस्मिता अर्थात् आत्मासे प्रकाशित चित्त अनुमानगम्य होता है। अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधिमें जब अस्मिताका साक्षात्कार होता है, तब व्यक्त हो जानेसे वह विकृतिरूप सिद्ध हो जाता है और किसी अव्यक्त प्रकृतिकी अपेक्षा रखता है, जो अनुमानगम्य होती है। यह अलिङ्ग मूलप्रकृति अर्थात् गुणोंकी साम्यावस्था है। इसका साक्षात्कार नहीं होता। विवेकख्यातिद्वारा आत्मा और चित्तमें भेदज्ञान होता है। यदि इसके पश्चात् और किसी प्रकृतिका समाधिद्वारा साक्षात्कार माना जाय तो व्यक्त हो जानेसे वह विकृति-रूप सिद्ध हो जायगी और उसकी कोई और अव्यक्त मूल प्रकृति अनुमानगम्य माननी पड़ेगी। इस प्रकार अनवस्था दोष आयेगा (विशेष कैवल्यपाद सूत्र १० के विशेष वक्तव्यमें देखें)।

(३) अलिङ्ग-मूल-प्रकृति गुणोंकी साम्यावस्थाका नाम है, जिसमें साम्य परिणाम अर्थात् सत्त्वका सत्त्वमें, रजका रजमें और तमका तममें सरूप परिणाम हो रहा है। चित्त तीनों गुणोंका प्रथम विरूप परिणाम है, जो सत्त्वप्रधान है और जिसमें सत्त्वमें रज क्रियामात्र और तम उस क्रियाको रोकनेमात्र काम कर रहा है। चूँकि चित्त त्रिगुणात्मक विषम परिणाम है, अतः उसके द्वारा गुणोंके साम्य परिणामका साक्षात्कार नहीं हो सकता।

(४) सम्प्रज्ञात समाधिकी चार भूमियों—वितर्कानुगतमें स्थूल भूतोंका, विचारानुगतमें सूक्ष्म भूतोंका तन्मात्राओंतक, आनन्दानुगतमें अहङ्कारका और अस्मितानुगतमें अस्मिताका साक्षात्कार बतलाया गया है। कोई ऐसी भूमि नहीं बतलायी गयी है, जिसमें मूलप्रकृतिका साक्षात्कार होता हो। तथा सूत्र ४१ में ग्राह्यरूप स्थूल एवं सूक्ष्म भूतोंका ग्रहणरूप अहङ्कारका और ग्रहीतृरूप अस्मिताकी ही समापत्ति बतलायी गयी है। यदि सूत्रकारको मूलप्रकृतिका भी बतलाना अभिमत होता तो उसका भी वर्णन किया जाता। अतः सूत्र ४६ "ता एव सबीजः समाधिः" से अभिप्राय इन्हीं बतलायी हुई समापत्तियोंसे है जिनमें मूल-प्रकृति सम्मिलित नहीं है।

(५) मूल-प्रकृति अर्थात् गुणोंकी साम्यावस्थाका पुरुषके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर इसके साक्षात्कार करनेमें पुरुषका क्या प्रयोजन हो सकता है।

(६) कई अभ्यासियोंके सम्बन्धमें यह कहा जाता है कि उन्होंने मूल-प्रकृतिका भी साक्षात्कार किया है। इस सम्बन्धमें हम केवल इतना बतला देना उचित समझते हैं कि यह धोखा विचारानुगत सम्प्रज्ञातसमाधिकी ही प्रकाशमय अवस्थामें होने लगता है। इससे ऊपरकी भूमियों आनन्दानुगतमें केवल अहङ्कारका और अस्मितानुगतमें अस्मिताका ही भान होता है। अन्य सब विषय नीचे ही रह जाते हैं। मूल-प्रकृतिका यदि किसी विषयके रूपमें साक्षात्कार हो तो वह अस्मिता और अहङ्कारसे नीचे केवल तन्मात्रा या कोई सूक्ष्म विषय ही सिद्ध होगी। हाँ, जिस प्रकार विवेक-ख्यातिमें पुरुष (आत्मा) का साक्षात्कार चित्तद्वारा कहा जाता है, यद्यपि वह स्वरूपप्रतिष्ठित अवस्था नहीं है। इसी प्रकार विवेक-ख्यातिमें चित्तके साक्षात्कारसे साथ-ही-साथ गुणोंकी साम्यावस्थाका भी साक्षात्कार कहा जा सकता है। यद्यपि चित्तके बनानेवाले गुणोंका साम्य परिणाम तो पुरुषका भोग और अपवर्ग सम्पादन करनेके पश्चात् उनके प्रतिप्रसव अवस्थामें ही होता है।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति ।
(४ । ३४)

सङ्गति—ये चारों समापत्तियाँ सबीज-समाधि हैं; यह बतलाते हैं—

ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ—ता एव=ये पूर्वोक्त चारों समापत्तियाँ ही; सबीजः समाधिः=सबीज समाधि कहलाती हैं।

अन्वयार्थ—ये पूर्वोक्त चारों समापत्तियाँ ही सबीज समाधि कहलाती हैं ।

व्याख्या—बाह्य अनात्मवस्तु अर्थात् कार्यसहित प्रकृति जो ग्राह्य-ग्रहण और ग्रहीतृरूप दृश्य-वर्ग है, इसीका नाम बीज तथा आलम्बन (आश्रय) है । इसलिये इसको लेकर होनेवाली समाधिका नाम सबीज, सालम्बन तथा सम्प्रज्ञात है ।

उपर्युक्त चारों समापत्तियाँ सबीज-समाधि कहलाती हैं, क्योंकि सवितर्क और निर्वितर्क समापत्ति तो स्थूल ग्राह्य वस्तुके बीजसहित (आलम्बनसहित = आश्रयसहित) होती हैं और सविचार तथा निर्विचार सूक्ष्म ग्राह्य वस्तुके बीजसहित (आलम्बनसहित) होती है ।

सत्रहवें सूत्रमें बतलायी हुई आनन्दानुगत ग्रहणरूप और अस्मितानुगत ग्रहीतृरूप दोनों समाधियाँ निर्विचार समापत्तिके क्रमसे उच्चतर और उच्चतम अवस्थाओंके रूपसे निर्विचार समापत्तिके ही अन्तर्गत इस सूत्रमें कर दी गयी हैं । निर्विचारकी इन दोनों उच्चतर और उच्चतम अवस्थाओंको पृथक्-पृथक् रूपसे सम्मिलित करनेसे सबीज-समाधिके छः भेद होते हैं—

(१) सवितर्क समापत्ति—स्थूल पदार्थोंमें शब्द, अर्थ और ज्ञानके विकल्पोंसे युक्त भासनेवाली चित्तवृत्ति ।

(२) निर्वितर्क—स्थूल पदार्थोंमें शब्द (नाम,) अर्थ (रूप) और ज्ञानके विकल्पोंसे रहित स्वरूपसे शून्य-जैसी केवल अर्थमात्रसे भासनेवाली चित्तवृत्ति ।

(३) सविचार-सूक्ष्म विषयोंमें देश-काल और निमित्त (धर्म) के विकल्पोंसे युक्त भासनेवाली चित्तवृत्ति ।

(४) निर्विचार—सूक्ष्म विषयोंमें देश-काल और निमित्त (धर्म) के विकल्पोंसे रहित केवल धर्ममात्रसे भासनेवाली चित्तवृत्ति ।

(५) निर्विचारकी उच्चतर अवस्था आनन्दानुगत—सत्त्व-प्रधान अहंकारकी 'अहमस्मि' से भासनेवाली चित्तवृत्ति ।

(६) निर्विचारकी उच्चतम अवस्था अस्मितानुगत—बीजरूप अहंकारसहित चेतनसे प्रतिबिम्बित चित्त, 'अस्मिता' की अहंकाररहित 'अस्मि' से भासनेवाली चित्तवृत्ति ।

विशेष वक्तव्य (सूत्र ४६)—वाचस्पति मिश्रने आनन्दानुगत और अस्मितानुगतके भी दो-दो अवान्तर भेद करके सबीज-समाधिके आठ भेद बतलाये हैं । उनका कथन है कि 'ता एव सबीजः' इस पाठसे यह अर्थ न लेना चाहिये कि यही चार सबीज-समाधि हैं, अन्य नहीं; क्योंकि ऐसा माननेसे ग्रहण और ग्रहीतृ समापत्तिको सबीजत्वका लाभ नहीं हो सकेगा, किंतु 'ताः सबीज एव' इस प्रकार भिन्न क्रमसे 'एव' शब्दका सबीज शब्दके साथ अन्वय करके यह अर्थ करना चाहिये कि चारों सबीज ही हैं, निर्बीज नहीं हैं ।

इस प्रकार इन चारोंके निर्बीजत्वका निषेध हुआ है। ग्रहण और ग्रहीतृ समापत्तिके सबीजत्वका निषेध नहीं हुआ है। इसलिये इन दोनोंमें भी सबीजत्वकी विद्यमानतासे ग्रहण-ग्रहीतृ समापत्तियोंको भी सबीज जानना चाहिये।

जैसे ग्राह्य समापत्तिके विकल्प और विकल्पके अभावसे दो-दो भेद निरूपण किये गये हैं, वैसे ही ग्रहण और ग्रहीतृ समापत्तिमें भी दो-दो भेद जान लेना चाहिये। अर्थात् ग्रहण नाम श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका है। शब्द श्रोत्रका विषय है और अहंकार इसका कारण है। इस प्रकार विचारपूर्वक भावना करनेसे सविचार ग्रहण समापत्ति और केवल इन्द्रियमात्रकी भावना करनेसे निर्विचार ग्रहण समापत्ति, एवं महत्तत्त्वका कार्य अहंकार त्रिगुणात्मक है, इस प्रकार भावना करनेसे सविचार ग्रहीतृ समापत्ति और केवल अहंकारमात्रकी भावना करनेसे निर्विचार ग्रहीतृ समापत्ति जानना चाहिये।

अतः चार प्रकारकी ग्राह्य समापत्ति, दो प्रकारकी ग्रहण समापत्ति और दो प्रकारकी ग्रहीतृ समापत्ति—ये सब मिलकर सबीज-समाधिके आठ भेद हुए।

विज्ञानभिक्षुने सबीज-समाधिके छः भेद दिखलाये हैं—

सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार और निर्विचारके अन्तर्गत उसकी दो ऊँची अवस्थाएँ—आनन्दानुगत और अस्मितानुगत।

यही मूलसूत्र व्यासभाष्य तथा अनुभवके आधारपर ठीक प्रतीत होता है; क्योंकि केवल सवितर्क और सविचार समापत्ति शब्द, अर्थ और ज्ञान अथवा देश-काल और निमित्तसे युक्त होती हैं, न कि निर्वितर्क और निर्विचार। फिर निर्विचारकी उत्कृष्ट भूमियों आनन्दानुगत और अस्मितानुगत सम्प्रज्ञातमें उपर्युक्त विकल्पोंकी सम्भावना कैसे हो सकती है? आनन्दानुगत तन्मात्राओंके कारण अहंकारकी केवल 'अहमस्मि' वृत्ति रहती है और अस्मितानुगतमें अहंकारके कारण अस्मिताकी अहंकारसे रहित केवल 'अस्मि' वृत्ति रहती है। इसलिये वितर्क और विचार-जैसे आनन्द और अस्मिता समापत्तिके दो-दो भेद नहीं किये जा सकते।

सङ्गति—निर्विचार समापत्ति इन चारोंमें सबसे बढ़कर है; उसका फल अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ—निर्विचार-वैशारद्ये = निर्विचारकी वैशारद्य = प्रवीणता = निर्मल होनेपर; अध्यात्मप्रसादः = अध्यात्म (प्रज्ञा) की निर्मलता होती है।

अन्वयार्थ—निर्विचार समाधिकी वैशारद्य (प्रवीणता) होनेपर अध्यात्म (प्रज्ञा) की निर्मलता होती है।

व्याख्या—वैशारद्य—"स्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम्" = शुद्ध स्थितिका प्रवाह वैशारद्य कहलाता है।

अध्यात्म—"आत्मनि बुद्धौ वर्तत इत्यध्यात्म" जो आत्मा अर्थात् बुद्धिमें स्थित रहता है वह अध्यात्म है।

प्रसाद—प्रसन्नता, निर्मलता।

अध्यात्म-प्रसाद— बुद्धिमें जो प्रसन्नता अर्थात् निर्मलता रहती है, वह अध्यात्म-प्रसाद है। निर्विचार समाधिकी उच्चतम अवस्थामें रज-तम-रूप मल और आवरणका क्षय होनेपर प्रकाशस्वरूप बुद्धिका सत्त्व-गुणकी प्रधानतासे रजस्-तमस्से अनभिभूत (अतिरस्कृत) स्वच्छ स्थिरता-रूप एकाग्र-प्रवाह निरन्तर बहता रहता है। इसीका नाम वैशारद्य है। इससे योगीको प्रकृति-पर्यन्त सब पदार्थोंका एक ही कालमें साक्षात्कार हो जाता है। इस साक्षात्कारका नाम अध्यात्म-प्रसाद है। इसीको स्फुट-प्रज्ञा-लोक तथा प्रज्ञाप्रसाद भी कहते हैं। श्रीव्यासजी महाराज इस अवस्थाका वर्णन इस प्रकार करते हैं—

प्रज्ञाप्रासादमारुह्याशोच्यः शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति॥

प्रज्ञारूपी प्रासाद (महल-अटारी) पर चढ़कर शोकरहित प्राज्ञ (योगी) शोकमें पड़े जनोंको ऐसे देखता है, जैसे पहाड़की चोटीपर खड़ा मनुष्य नीचे पृथ्वीपर खड़े मनुष्योंको देखता है। (यहाँ निर्वि-चारके अन्तर्गत ही आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भूमियाँ आ गयी हैं।)

सङ्गति—अध्यात्म-प्रसादसे जिस प्रज्ञा (बुद्धि) का योगीको लाभ होता है, उसका सार्थक नाम अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा॥ ४८॥

शब्दार्थ—ऋतम्भरा = सच्चाईको धारण करनेवाली, अविद्यादिसे रहित; तत्र = उस अध्यात्म-प्रसादके लाभ होनेपर; प्रज्ञा = बुद्धि अर्थात् ज्ञान (उत्पन्न) होता है।

अन्वयार्थ—अध्यात्म-प्रसादके लाभ होनेपर जो प्रज्ञा (समाधिजन्य बुद्धि) उत्पन्न होती है, उसका नाम ऋतम्भरा प्रज्ञा (सच्चाईको धारण करनेवाली अविद्यादिसे रहित बुद्धि) है।

व्याख्या—निर्विचार समाधिकी विशारदतासे जन्य अध्यात्म-प्रसादके होनेपर जो समाहित-चित्त योगीकी प्रज्ञा उत्पन्न होती है, उसका नाम ऋतम्भरा-प्रज्ञा है। यह उसका यथार्थ नाम है; क्योंकि 'ऋत' नाम सत्यका है, और 'भरा' के अर्थ धारण करनेवालीके हैं। अर्थात् यह प्रज्ञा सत्यहीको धारण करने-वाली होती है; इसमें भ्रान्ति, विपर्यय-ज्ञान अर्थात् अविद्यादिका गन्ध भी नहीं होता।

इस प्रज्ञाके होनेसे ही उत्तम योगका लाभ होता है, जैसा कि श्रीव्यासजीने कहा है—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्॥

वेदविहित श्रवणसे, अनुमान (मनन) से और ध्यानाभ्यासमें आदर (निदिध्यासन) से—तीन प्रकारसे प्रज्ञाका सम्पादन करता हुआ योगी उत्तम योगको प्राप्त करता है।

सत्य और ऋतमें इस प्रकारका भेद समझ लेना चाहिये कि आगम और अनुमानद्वारा जो यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् Conceptual fact वह सत्य है। और साक्षात् करनेके पश्चात् जो यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् Perceptual fact वह ऋत है। अर्थात् ऋतका अर्थ साक्षात् अनुभूत सत्य है।

सङ्गति—अगले सूत्रमें आगम अनुमान-जन्य ज्ञानसे ऋतम्भरा-प्रज्ञाजन्य प्रत्यक्षज्ञानकी श्रेष्ठता बतलाते हैं—

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ—श्रुत-अनुमान-प्रज्ञाभ्याम् = आगम और अनुमानकी प्रज्ञासे; अन्य-विषया = इस ऋतम्भरा प्रज्ञाका विषय अलग है; विशेष-अर्थत्वात् = विशेषरूपसे अर्थका साक्षात्कार करनेसे।

अन्वयार्थ—आगम और अनुमानकी प्रज्ञासे ऋतम्भरा प्रज्ञाका विषय अलग है, विशेषरूपसे अर्थका साक्षात्कार करनेसे।

व्याख्या—पदार्थके दो रूप होते हैं—एक सामान्य दूसरा विशेष। सामान्य वह है, जो उस प्रकारके सब पदार्थोंमें पाया जाता है और विशेष वह है, जो प्रत्येक व्यक्तिका अपना-अपना रूप है, जिससे एक ही प्रकारके पदार्थोंमें भी एक-दूसरेसे भेद हो सकता है। आगम-जन्य ज्ञान वस्तुके सामान्य रूपको ही विषय करता है, विशेष रूपको नहीं; क्योंकि विशेषके साथ शब्दका वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध नहीं होता है। शास्त्रने जिस वस्तुके साथ शब्दका संकेत किया है, उस वस्तुको वह शब्द सामान्यरूपसे ही बोधन करता है, न कि विशेषरूपसे। गो, वृक्षादि शब्दोंके सुननेसे गो, वृक्षादिका सामान्य ज्ञान होता है, व्यक्तिविशेष गो, वृक्षादिका विशेष ज्ञान नहीं होता।

इसी प्रकार अनुमान भी सामान्यरूपसे वस्तुका ज्ञान उत्पन्न कराता है, विशेषरूपसे नहीं; क्योंकि अनुमानमें लिङ्गसे लिङ्गीका ज्ञान होता है, जहाँ लिङ्गकी प्राप्ति नहीं वहाँ अनुमान नहीं हो सकता, जैसे 'जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है, जहाँ प्राप्ति है वहाँ गति है; जहाँ गतिका अभाव है, वहाँ प्राप्तिका अभाव है।'

केवल प्रत्यक्ष-प्रमाण ही वस्तुके विशेष रूपको दिखलानेमें समर्थ होता है; किंतु इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष-ज्ञान भी स्थूल वस्तुओंके ही प्रत्यक्ष रूपको दिखला सकता है, न कि सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट अतीन्द्रिय पदार्थोंको। पञ्चतन्मात्राएँ, अहंकार, महत्तत्त्व, प्रकृति, पुरुष आदि सूक्ष्म पदार्थोंमें प्रत्यक्षकी भी पहुँच नहीं है। आगम और अनुमानसे इनके सामान्य रूपका ही पता लग सकता है, इनके विशेष रूपको नहीं बतला सकते।

निर्विचार समाधिकी विशारदतामें होनेवाली ऋतम्भरा प्रज्ञासे ही इन सूक्ष्म पदार्थोंके विशेष रूपका साक्षात्कार हो सकता है, अन्य किसी प्रमाणसे नहीं। अतएव यह प्रज्ञा विशेषविषयक होनेसे श्रुत-अनुमान प्रज्ञासे अन्य और उत्कृष्ट है। यही परम प्रत्यक्ष है। यह श्रुत और अनुमानका बीज है, अर्थात् श्रुत और अनुमान इसके आश्रय हैं, न कि यह उनके। वस्तुके इस यथार्थ स्वरूपको ही आगम बतलाता है और इसीका अनुमान किया जाता है। यहाँ ऋतम्भरा प्रज्ञाको प्रसंख्यान अर्थात् विवेक-ख्यातिके तुल्य समझना चाहिये।

संगति—इस प्रज्ञाका फल अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

शब्दार्थ—तत्-जः = उस ऋतम्भरा प्रज्ञासे उत्पन्न होनेवाला; संस्कारः = संस्कार; अन्य-संस्कार-प्रतिबन्धी = दूसरे (सब व्युत्थानके) संस्कारोंका प्रतिबन्धक (रोकनेवाला) होता है।

अन्वयार्थ—उस ऋतम्भरा प्रज्ञासे उत्पन्न होनेवाला संस्कार अन्य सब व्युत्थानके संस्कारोंका बाधक (रोकनेवाला) होता है।

व्याख्या— समाधिसे पूर्व चित्त केवल व्युत्थानके संस्कारोंसे ही संस्कृत होता है । फिर जब समाधिकी अवस्थामें जो उसको अनुभव होता है उसके भी संस्कार पड़ते हैं । ये संस्कार व्युत्थानके संस्कारोंसे बलवान् होते हैं; क्योंकि समाधि-प्रज्ञा व्युत्थानकी प्रज्ञासे अधिक निर्मल होती है । उसकी निर्मलतामें पदार्थका तत्त्व अनुभव होता है । जितना तत्त्वका अनुभव होता है उतने ही उसके संस्कार प्रबल होते हैं । इन संस्कारोंकी प्रबलतासे फिर समाधि-प्रज्ञा होती है । इस समाधिप्रज्ञासे उत्पन्न हुए संस्कार व्युत्थानके संस्कारों और वासनाओंको हटाते हैं । व्युत्थानके संस्कारोंके दबनेसे उनसे उत्पन्न होनेवाली वृत्तियाँ भी दब जाती हैं । उन वृत्तियोंके निरोध होनेपर समाधि उत्पन्न होती है । इससे समाधि-प्रज्ञा, समाधि-प्रज्ञासे फिर समाधिके संस्कार—इस प्रकार यह चक्र लगातार चलता रहता है । यहाँतक कि निर्विचार-समाधि उपस्थित हो जाती है। फिर निर्विचार समाधिसे ऋतम्भरा प्रज्ञाका लाभ होता है। उस प्रज्ञासे निरोध-संस्कार होता है, निरोध-संस्कारसे फिर ऋतम्भरा-प्रज्ञाका प्रकर्ष, उस प्रज्ञासे फिर निरोध-संस्कारका प्रकर्ष—इस प्रकार लगातार चक्रसे निरोधके संस्कार पुष्ट हो-होकर व्युत्थानके संस्कारोंको सर्वथा रोक देते हैं ।

शङ्का—जब समाधि-प्रज्ञा-जन्य संस्कार विद्यमान ही रहते हैं, तब वे संस्कार चित्तको अधिकार-विशिष्ट क्यों नहीं करते; क्योंकि जो चित्त वासना-जनित संस्कारोंसे युक्त होता है, वह जन्मादि दुःख देनेकी योग्यतावाला होनेसे अधिकार-विशिष्ट कहा जाता है ।

समाधान—यद्यपि संस्कार विद्यमान रहते हैं तथापि वे संस्कार क्लेशक्षयके हेतु होनेसे चित्तको अधिकार-विशिष्ट नहीं करते; प्रत्युत चित्तको अधिकारसे रहित करते हैं; क्योंकि जो संस्कार क्लेशादि वासनासे उत्पन्न होते हैं, वे ही संस्कार चित्तको अधिकार-विशिष्ट करते हैं, न कि ऋतम्भरा-प्रज्ञा-जन्य ।

भाव यह है कि चित्तका दो कार्योंमें अधिकार है; एक शब्द-रूप-रसादि विषयोंका पुरुषको भोग देना, दूसरा विवेक-ख्याति उत्पन्न करना । उनमें भोग-हेतु क्लेशादि वासना-जनित संस्कार-विशिष्ट चित्त भोगादि अधिकारवाला होता है और समाधि-जन्य संस्कारसे क्लेश-संस्काररहित हुआ चित्त विवेक-ख्याति अधिकारवाला कहा जाता है । इन दोनोंमेंसे पहिला ही अधिकार योगका हेतु है, न कि दूसरा ।

विवेक-ख्यातिके उदय होनेसे भोगाधिकारकी समाप्ति हो जाती है; क्योंकि विवेक-ख्यातिके उत्पादन-पर्यन्त ही चित्तकी चेष्टा रहती है, इसके पश्चात् नहीं रहती ।

सङ्गति—सबीज-समाधिका सबसे ऊँची चोटीतक वर्णन करके अब निर्बीज-समाधिको बतलाते हैं-

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ—तस्य = (पर-वैराग्यद्वारा) उस ऋतम्भरा-प्रज्ञा-जन्य संस्कारके; अपि = भी; निरोधे = निरोध हो जानेपर; सर्वनिरोधात् = (पुरातन-नूतन) सब संस्कारोंके निरोध होनेसे; निर्बीजः समाधिः = निर्बीज-समाधि होती है ।

अन्वयार्थ—पर-वैराग्यद्वारा उस ऋतम्भरा-प्रज्ञा-जन्य संस्कारके भी निरोध हो जानेपर पुरातन-नूतन सब संस्कारोंके निरोध हो जानेसे निर्बीज-समाधि होती है ।

व्याख्या—पर-वैराग्यद्वारा जो निखिल-वृत्ति प्रवाह तथा संस्कार-प्रवाहका निरोध है, वह निर्बीज-समाधि है ।

सम्प्रज्ञात-समाधि किसी ध्येयको आलम्बन (आश्रय) बनाकर की जाती है। यह आलम्बन ही बीज है। इसलिये उसको सबीज, सालम्ब्य तथा सम्प्रज्ञात कहते हैं; किंतु असम्प्रज्ञात-समाधिमें आलम्बनका अभाव होता है। आलम्बनका अभाव करते-करते अभाव करनेवाली वृत्तियोंका भी अभाव होनेपर जो समाधि होती है, वह असम्प्रज्ञात है। आलम्बन न रहनेसे इसको निर्बीज, निरालम्ब्य तथा असम्प्रज्ञात-समाधि कहते हैं।

यह निरोध केवल समाधि-जन्य ऋतम्भरा-प्रज्ञाका ही विरोधी नहीं है; किंतु प्रज्ञाजन्य संस्कारोंका भी विरोधी है। इसीके बोधनार्थ सूत्रमें (तस्यापि) यह 'अपि' शब्द दिया गया है। अर्थात् इस निरोधसे जो संस्कार उत्पन्न होता है, वह सब सम्प्रज्ञात-समाधि-जन्य संस्कारोंको रोककर ही उदय होता है।

यद्यपि इस सर्ववृत्ति-निरोधमें तथा पर-वैराग्य-जन्य संस्कारोंमें प्रत्यक्ष-प्रमाणकी योग्यता नहीं है; क्योंकि सर्ववृत्ति-निरोधका योगीको प्रत्यक्ष होना असम्भव है। इसी प्रकार स्मृतिरूप कार्यसे भी निरोध-संस्कारका अनुमान नहीं हो सकता; क्योंकि वृत्तिमात्रका निरोध होनेके कारण ये संस्कार स्मृति उत्पन्न नहीं कर सकते हैं, तथापि चित्तकी निरुद्धावस्थाका जो मुहूर्त, प्रहर, दिन-रात्रिरूपादि कालक्रम है, उससे निरोध-संस्कारोंका अनुमान होता है। अर्थात् योगीकी जो वृत्तियोंका निरोध होता है, वह एक कालमें नहीं होता है; किंतु पहिले एक घटी, फिर दो घटी, फिर एक प्रहर इत्यादि क्रमसे होता है। इसीसे निरोध-वृद्धिका सद्भाव सिद्ध होता है।

भाव यह है, जैसे-जैसे स्वरूपस्थितिके अभ्याससे व्युत्थान तथा समाधिके संस्कारोंकी न्यूनता होती है, वैसे-वैसे निरोधके संस्कारोंकी सत्ताका अनुमान कर लेना चाहिये; क्योंकि बिना निरोध-संस्कारकी सत्ताके समाधि-प्रज्ञा-जन्य संस्कारोंकी न्यूनता होनी असम्भव है।

इस निरोधावस्थामें क्लेश-जनक व्युत्थान-संस्कार तथा कैवल्योपयोगी सम्प्रज्ञात-समाधि-जन्य संस्कारोंके सहित ही चित्त अपनी प्रकृतिमें प्रविलय होकर अवस्थित हो जाता है।

यद्यपि निरोध-संस्कारोंके सद्भावसे यह चित्त किंचित् अधिकार-विशिष्ट ही प्रतीत होता है तथापि ये संस्कार अधिकारके विरोधी ही हैं, न कि भोगके हेतु; क्योंकि उस दशामें शब्द-रूप-रसाद्युपभोग तथा विवेकख्याति—ये दोनों ही अधिकार निवृत्त हो जाते हैं।

इसलिये यह चित्त निरोधावस्थामें समाप्त अधिकारवाला होकर संस्कारोंके सहित निवृत्त हो जाता है।

इस समाप्त अधिकारवाले चित्तके निवृत्त होनेसे पुरुष शुद्ध परमात्मस्वरूपमें प्रतिष्ठित हुआ केवल शुद्ध तथा मुक्त कहा जाता है। इस असम्प्रज्ञात-समाधिके लाभसे ही योगी जीवन्मुक्त-पदको प्राप्त होता है। यह असम्प्रज्ञात-योग ही सब कर्तव्योंकी सीमा है।

विशेष विचार (सूत्र ५१)—गुण एक क्षण भी बिना परिणामके नहीं रहते। चित्तमें दो प्रकारका परिणाम होता है। एक आन्तरिक परिणाम—जो स्वाभाविक, वास्तविक स्वरूप "सत्त्वचित्त" में होता है; दूसरा बाह्य—जो नाना प्रकारकी वृत्तियोंसे होता है।

'असम्प्रज्ञात अर्थात् निर्बीज-समाधिकी अवस्थामें चित्तमें कोई वृत्ति नहीं रहती। वृत्तियोंको रोकनेवाले संस्कार रहते हैं, जिनको (१ । १८) में संस्कार-शेषके नामसे वर्णन किया गया है। इन

संस्कारोंके कारण चित्तमें बाहरसे निरोध अर्थात् वृत्तियोंके रोकनेका परिणाम होता रहता है (३ । ९)। चित्तमें इस निरोध-परिणामके कारण पुरुष किसी बाह्य दृश्यका द्रष्टा नहीं रहता; किंतु शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थित रहता है और चित्त पुरुषको दृश्य दिखलानेके कार्यको बंद करके अपने स्वरूपमें अवस्थित होता है। ये चित्तको बनानेवाले गुण कैवल्यकी अवस्थामें तो अपने कारणमें लीन हो जाते हैं; परंतु इस निरोध-परिणामकी अवस्थामें अपने "सत्त्वचित्त" स्वरूपमें अवस्थित रहते हैं। इनमें अब केवल आन्तरिक परिणाम होता रहता है, जो शान्त प्रवाहवाला और स्वाभाविक है, जिसका वर्णन (३ । १०) में किया जायगा। निरोधसे भिन्न व्युत्थान-अवस्थामें पुरुष वृत्ति-सारूप्य प्रतीत होता है और असम्प्रज्ञात-समाधिमें चित्त पुरुष-सारूप्य वृत्तिरहित चेतन प्रतीत होता है। असम्प्रज्ञात-समाधि भङ्ग होनेपर निरोध-संस्कार दबते जाते हैं और व्युत्थानके संस्कार प्रबल होते जाते हैं। यहाँपर व्याख्याताके गुरु-भाई श्रीमान् हरिभजनजीने (अपने काष्ठमौन-व्रत धारण करनेसे कुछ पूर्व मौनावस्थामें) इस सम्बन्धमें जो अपने अनुभवद्वारा प्राप्त किये हुए विचारोंको लिखकर दिया था, उनको उन्हींके शब्दोंमें लिख देना जिज्ञासुओंके लिये उपयोगी होगा।

श्रीमान् हरिभजनजीका संक्षिप्त परिचय

ये महात्मा पूर्व-जन्मके वैराग्यके संस्कारोंके उदय होनेपर अपने बाल्यकालहीमें पूज्यपाद श्रीस्वामी सोमतीर्थजी महाराजकी सेवामें रहकर कई वर्षतक योग-साधन करते रहे। तत्पश्चात् कई वर्षतक पुराने गुरुकुल काँगड़ीके एक स्थानमें मौन साधकर अपनी अवस्थाको परिपक्व करते रहे। गत हरिद्वार कुम्भके पश्चात् मास मई सन् १९३८ ई० में काष्ठमौन धारण कर लिया। मास जून १९३९ ई० से उनके कोई समाचार किसी प्रकारके नहीं मिले। उनके पिता, भाई, कुटुम्बियों तथा भक्त और प्रेमी मित्रोंने उनके खोजनेमें पूर्ण प्रयत्न किया, परंतु अबतक कुछ पता नहीं लगा है।

उनके अनुभव

"अब स्वरूप-स्थितिको समझें। प्रयत्नसे जब विक्षिप्त चित्तको एकाग्र किया जाता है और फिर उसे निरुद्ध किया जाता है, तब सर्ववृत्ति-निरोध हो जानेपर जो पुरुषका अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाना है, उसका नाम स्वरूपस्थिति नहीं है, उसका नाम पुरुषका अपने स्वरूपमें अवस्थित होना है। स्वरूप-स्थिति उससे बहुत ऊँची स्थिति है। जैसे विक्षिप्त-भूमि चित्तको यदि हम किसी साधन-विशेषसे एकाग्र कर दें तो थोड़ी देर एकाग्र रह जानेपर भी हम उसको एकाग्र-स्थिति नहीं कह सकते; यह उसकी एकाग्र-अवस्था ही है। अथवा एकाग्र-भूमि चित्तको यदि हम प्रयत्नसे वृत्ति-निरोधद्वारा निरुद्ध कर दें तो हम उसे निरुद्ध-भूमि-चित्त नहीं कह सकते; यह उसकी निरुद्धावस्था है, निरुद्ध-स्थिति नहीं है। इसी तरह जबतक हम चित्तको विक्षिप्त और एकाग्रस्थितिसे किसी साधनद्वारा निरुद्ध करते हैं, तबतक हम स्वरूप-स्थिति नहीं कह सकते; यह पुरुषका अपने स्वरूपमें केवल अवस्थित होनामात्र है। जब चित्तकी विक्षिप्त और एकाग्र-भूमि सर्वथा निरुद्ध-भूमिमें बदल दी जाय, जब यह बिना किसी साधनके निरुद्ध रहने लगे, तब ऐसी अवस्थामें जो पुरुषका अपने स्वरूपमें स्थित हो जाना है वही स्वरूप-स्थिति है। स्वरूप-स्थितिवालेकी पुनः इतर (व्युत्थान) स्थिति कहना पूरी-पूरी भूल है; क्योंकि स्वरूप-स्थिति स्वाभाविक स्थिति है, वह बदल नहीं सकती; और जबतक वह स्वाभाविक नहीं तबतक स्वरूप-स्थिति नहीं कहला सकती।

अतः स्वरूप-स्थिति वह स्थिति है जब कि चित्तकी विक्षिप्त और एकाग्र-भूमि पूर्णरूपसे निरुद्ध-भूमिमें बदल चुकी हो और ऐसी स्थितिमें चित्त-वृत्ति-निरुद्ध सहज ही, स्वाभाविक ही, अनायास ही रहने लगी हो; और इसीलिये उसे किसी प्रकारके भी प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं रहती है। ऐसी स्थिति आनेपर जो पुरुषका सहज ही, स्वाभाविक ही, अनायास ही अपने स्वरूपमें स्थित हो जाना है; वही स्वरूप-स्थिति है। स्वरूप-स्थिति तो उस स्थितिका नाम है जहाँ चित्त अनायास ही, सहज ही, स्वाभाविक ही निरुद्ध-स्थितिमें रहता हो। पुरुषकी 'स्वरूपमें अवस्थिति' और 'स्वरूपस्थिति' में बड़ा भारी अन्तर है। पहली प्रयत्नकी अवस्था है, दूसरी सहज-स्थिति है। इतना और याद रहे कि ऐसी स्थिति आनेपर, जिस जिज्ञासुकी स्वरूप-स्थिति हो गयी हो, उसको भोगवश कोशमयी अवस्थामें भी प्रारब्धानुसार यद्यपि आना पड़ता है, परंतु उस समयसे पहिले; क्योंकि वह स्वरूपमें स्थित था और भोग-समयके समाप्त हो जानेके बाद वह स्वरूप-स्थितिमें ही रहता है, इसलिये भोगकालकी स्थिति भी उसकी स्वरूपस्थिति ही कही जायगी। भोगसे पहिले तथा भोगके पीछे जिसकी स्वरूपमें स्थिति है, वह भोग-कालमें भी स्वरूपमें स्थित कहा जायगा। यद्यपि वह भोग भोगते समय कोशमयी हालतमें है; परंतु वह उसकी कोशमयी अवस्था है, कोशमयी स्थिति नहीं।

जैसे एकाग्रभूमि चित्तको जब हम प्रयत्नसे निरुद्ध कर देते हैं, तब वह उसकी निरुद्ध-स्थिति नहीं, वरं निरुद्धावस्था है। इसी तरह स्वरूपस्थितिवालेको जब-जब भी भोगवश कोशमयी हालतमें आना पड़ता है, तब-तब वह उसकी कोशमयी-अवस्था ही कही जायगी, न कि कोशमयी-स्थिति। स्थिति तो उसकी स्वरूपस्थिति ही है और उस कोशमयी अवस्थामें भी वह तभीतक आता है जबतक भोग समाप्त हो जानेपर वह सदाके लिये अपने स्वरूपमें सुप्रतिष्ठित नहीं हो जाता है।"

अर्थात् जबतक व्युत्थान-चित्तकी दशामें वृत्तियोंका निरोध क्रिया-जन्य हो, प्रयत्नसे हो और स्थायी, दृढ़भूमि, स्वाभाविक, सहज और स्वयं होनेवाला न हो गया हो, तबतक वह 'निरोधकी अवस्था' अथवा 'स्वरूपावस्था' है, 'निरोधकी स्थिति' अथवा 'स्वरूपस्थिति' नहीं है; बल्कि उस समयतक व्युत्थानकी ही स्थिति है जो कि स्वाभाविक और दृढ़भूमि बनी हुई है। जब चित्तकी वृत्तियोंका निरोध स्थायी और दृढ़भूमि हो जाय और बिना किसी क्रिया और प्रयत्नके स्वाभाविक, सहज ही प्रतिक्षण (हर समय) बना रहे, तब वह 'निरोधकी स्थिति' अथवा 'स्वरूपस्थिति' कहलायेगी।

प्रश्न—क्या स्वरूपस्थिति हो जानेपर योगीके सब कार्य बंद हो जाते हैं? क्योंकि कोई भी काम बिना व्युत्थानकी अवस्थाके नहीं हो सकता।

उत्तर—नहीं; बिना कर्मके कोई शरीरधारी नहीं रह सकता।

(श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ३। ४—९)

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ ४॥

मनुष्य न (तो) कर्मोंके न करनेसे 'निष्कर्मता' को प्राप्त होता है (क्योंकि कर्मोंका न करना भी एक प्रकारका सकाम कर्म है) और न कर्मोंको त्यागनेमात्रसे 'स्वरूप-स्थिति' रूप सिद्धिको प्राप्त होता है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ ५॥

क्योंकि कोई भी (पुरुष) किसी काल क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता, निःसंदेह सभी पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोंद्वारा परवश हुए कर्म करते हैं ।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

जो मूढ़बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियोंको (हठसे) रोककर इन्द्रियोंके भोगोंका मनसे चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी, असंयमी कहा जाता है (क्योंकि उसकी इन्द्रियाँ वास्तवमें संयमित नहीं होतीं) ।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

और हे अर्जुन ! जो (पुरुष) मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्त हुआ, कर्मेन्द्रियोंसे कर्मयोगका आचरण करता है, वह श्रेष्ठ है ।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

तू शास्त्रविधिसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप (कर्तव्यरूप) कर्मको कर; क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करनेसे तेरी शरीर-यात्रा भी सिद्ध नहीं होगी (कर्म करते रहना ही जीवित शरीरका स्वभाव है, हठसे कर्म छोड़ देना शरीरका दुरुपयोग और अज्ञान है) ।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

यज्ञ अर्थात् आसक्तिरहित निष्कामभावसे सब प्राणियोंके कल्याणार्थ अथवा अपनी भोग-निवृत्तिके लिये ईश्वर-निमित्त किये हुए कर्मके सिवा अन्य कर्ममें (लगा हुआ ही) यह मनुष्य कर्मोंद्वारा बँधता है, इसलिये हे अर्जुन ! आसक्तिसे रहित हुआ उस परमेश्वरके निमित्त कर्मका भली प्रकार आचरण कर ।

'निरोध-स्थिति' अथवा 'स्वरूप-स्थिति' वाले योगीके कर्म भोग-निवृत्ति अथवा परमात्माकी आज्ञा पालन करते हुए प्राणिमात्रके कल्याणार्थ ईश्वर-निमित्त होते हैं । इन निष्काम और आसक्तिरहित कर्मोंके करनेमें उसकी 'व्युत्थान' की स्थिति नहीं होती, स्थिति तो 'निरोध' की ही रहती है । यह उसकी 'व्युत्थानकी अवस्था' है, जो अस्वाभाविक, अस्थायी और अदृढ़ तथा क्रिया-जन्य है । ये कर्म निष्कामभावसे और आसक्ति तथा वासना-रहित होते हैं, इसलिये आगेके लिये भोग और बन्धनके संस्कारोंके उत्पादक नहीं होते । इस 'स्वरूप-स्थिति' को गीतामें 'समाधि-स्थिति' और ऐसे योगीको 'स्थितप्रज्ञ' के नामसे वर्णन किया है ।

(गीता अध्याय २ श्लोक ५४ से ६१)—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

हे केशव ! 'समाधिस्थस्थितप्रज्ञ' का क्या लक्षण है ? (और) 'स्थितप्रज्ञ' कैसे बोलता है ? कैसे बैठता है ? कैसे चलता है ?

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

हे अर्जुन ! जिस समय (यह पुरुष) मनमें इच्छित सब इच्छाओंको त्याग देता है, उस समय आत्मासे ही आत्मामें संतुष्ट हुआ, 'स्वरूपस्थिति' को प्राप्त हुआ, 'स्थितप्रज्ञ' कहा जाता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

दुःखोंकी प्राप्तिमें उद्वेग-रहित है मन जिसका, (और) सुखोंकी प्राप्तिमें दूर हो गयी है स्पृहा जिसकी (तथा) नष्ट हो गये हैं राग, भय और क्रोध जिसके; ऐसे मुनिको 'स्थितप्रज्ञ' कहा जाता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ, उस-उस शुभ तथा अशुभ (वस्तुओं) को प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है (और) न द्वेष करता है, उसकी प्रज्ञा स्थिर है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

और कछुवा (अपने) अङ्गोंको जैसे (समेट लेता) है (वैसे ही) यह पुरुष जब सब ओरसे (अपनी) इन्द्रियोंको इन्द्रियोंके विषयोंसे समेट लेता है (तब) उसकी 'प्रज्ञा' स्थिर होती है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

(इन्द्रियोंके द्वारा) विषयोंको न ग्रहण करनेवाले पुरुषके (भी केवल) विषय (तो) निवृत्त हो जाते हैं (परंतु) राग नहीं (निवृत्त होता); और इस (स्थितप्रज्ञ समाधिस्थ) पुरुषका (तो) राग भी 'परम-तत्त्व' को साक्षात् करके निवृत्त हो जाता है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः। इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मन. ।।६०।।

हे अर्जुन ! जिससे (कि) यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके भी मनको यह प्रमथन करनेवाली इन्द्रियाँ बलात्कारसे हर लेती हैं।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

उससे उन सब इन्द्रियोंको वशमें करके समाहित-चित्त हुआ, मेरे (परमात्म-तत्त्वके) परायण (स्थित) होवे; क्योंकि जिस पुरुषके इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, उसकी ही 'प्रज्ञा' स्थिर होती है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ (गीता २ । ६९)

सर्व प्राणियोंकी जो रात है, उसमें संयमीसमाधिस्थ (स्थितप्रज्ञ योगी) जागता है। जिसमें अन्य प्राणी जागते हैं, वह तत्त्वको जाननेवाले (स्थितप्रज्ञ) मुनिके लिये रात है। अर्थात् सुषुप्ति-अवस्थामें सब प्राणी तमोगुणके प्रभावसे अन्तर्मुखवृत्ति होकर हृदयाकाशमें आनन्दमय कोश (कारण-शरीर) में रहते हैं। तमोगुणके अन्धकारके कारण ब्रह्मानन्दमें रहते हुए भी वे उससे वञ्चित रहते हैं, जैसा कि उपनिषदोंमें कहा गया है—

इमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति। (छा० ६ । ९ । २)

सुषुप्तिमें ये सारी प्रजाएँ (प्राणी) सत्-ब्रह्ममें रहते हुए भी नहीं जानते कि हम ब्रह्ममें स्थित हैं।

स्थितप्रज्ञ योगी सत्त्वगुणके प्रभावसे आनन्दमय कोश अर्थात् कारण-शरीरमें अन्तर्मुख होता है, इसलिये ज्ञानके प्रकाशसे ब्रह्मानन्दको प्राप्त करता है; यह उसका जागना है। जाग्रत्-अवस्थामें सब प्राणी व्युत्थान दशामें रहते हुए सांसारिक कार्य करते हैं, किंतु स्थितप्रज्ञ योगी सब कार्योंको अपने भोग-निवृत्ति अथवा ईश्वरकी ओरसे कर्तव्यमात्र समझता हुआ ममता और अहंतासे रहित, अनासक्ति और निष्काम-भावसे करता है। इससे उत्पन्न होनेवाली वासनाओं तथा ममता और अहंताके भावोंसे न स्पर्श किया हुआ अन्तर्मुख (ही) बना रहता है। इसलिये उसका जाग्रत्-दशामें कार्य-क्षेत्रमें रहना भी रात्रिकी सुषुप्ति-अवस्थाके सदृश है, क्योंकि उससे भोग दिलानेवाली वासनाएँ तथा संस्कार चित्तमें नहीं पड़ते।

ये योगी जो स्वरूपस्थितिको प्राप्त कर चुके हैं, दो प्रकारके होते हैं; पहिले— जिनके कर्म केवल भोग-निवृत्तिके लिये ही होते हैं; दूसरे वे योगी जिनके कर्म भोग-निवृत्ति तथा निष्काम आसक्तिरहित, परमात्माकी आज्ञा पालन करते हुए समस्त प्राणियोंके कल्याणार्थ ईश्वरार्पण होते हैं।

दो प्रकारकी मुक्ति—इसीके अनुसार इन दोनों प्रकारके स्वरूप-स्थितिवाले योगियोंकी मुक्ति भी दो प्रकारकी होती है—

प्रथम प्रकारके योगियोंकी मुक्तिमें चित्तको बनानेवाले गुण अपने कारणमें लीन हो जाते हैं, जो सांख्य और योगका कैवल्य है। दूसरे प्रकारवालोंकी मुक्तिमें 'चित्त-सत्त्व' अपने स्वरूपसहित ईश्वरके विशुद्ध सत्त्वमय चित्तमें (जिसका दूसरा नाम आदित्यलोक है) लीन (अवस्थित) रहता है।

ईश्वरीय नियमानुसार जब-जब उनकी आवश्यकता होती है, तब-तब वे सम्पूर्ण प्राणियोंके कल्याणार्थ तथा संसारमें धर्म-मर्यादा स्थापन करनेके लिये शुद्ध चैतन्य स्वरूपसे शबल स्वरूपमें भौतिक जगत्में अवतरण करते हैं; जिस प्रकार स्वरूपस्थिति प्राप्त किया हुआ योगी असम्प्रज्ञात-समाधिसे व्यवहार दशामें आता है। यथा—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(गीता ४। ७-८)

'हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब मैं अपने-आपको प्रकट करता हूँ, अर्थात् शुद्ध-स्वरूपसे शबल-स्वरूपमें आता हूँ। सज्जनोंकी रक्षाके लिये और दूषित कर्म करनेवालोंका नाश करनेके लिये (तथा) धर्म-स्थापन करनेके लिये युग-युगमें प्रकट होता हूँ।'

यहाँ यह भी बतला देना आवश्यक है कि आना-जाना, बन्धन और मुक्ति आदि सब क्रियाएँ अन्तःकरणमें होती हैं, चेतन तत्त्व (पुरुष अर्थात् आत्मा) उनका केवल साक्षी, अप्रसवधर्मी, अपरिणामी, निष्क्रिय, नित्य, सदा एकरस रहता है।

उसमें बन्धन तथा मुक्तिका होना विकल्पसे आरोप किया जाता है जैसा कि सांख्यसूत्रमें बतलाया गया है। "वाङ् मात्रं न तु तत्त्वं चित्तस्थिति" 'पुरुषमें बन्ध आदि कथनमात्र हैं; क्योंकि चित्तमें ही बन्ध आदिकी स्थिति है', इन निर्मल, विशाल, ज्ञानवान्, शक्तिशाली, ऐश्वर्यवान्, वैराग्ययुक्त चित्तोंमें

यद्यपि अविद्या आदि क्लेशोंका बीज सर्वथा दग्ध हो गया है, किंतु संसारके कल्याणके संस्कार शेष रहते हैं, जिनके कारण ईश्वरीय नियमानुसार समय-समयपर उनका प्रादुर्भाव होता है। इन्हें इस संकल्पको हटाकर चित्त बनानेवाले गुणोंको अपने कारणमें लीन करके कैवल्यप्राप्तिका सर्वदा अधिकार रहता है।

जिस प्रकार विदेहमुक्त और जीवन्मुक्त इन दो प्रकारके भेदोंमें उन जीवन्मुक्त योगियोंको भी मुक्त माना जाता है, जिनके चित्तके बनानेवाले गुण अपने कारणमें लीन नहीं हुए हैं; किंतु उनमें अविद्या आदि क्लेश सर्वथा दग्धबीज होकर पुनः बन्धनरूप अंकुरके उत्पन्न करनेमें सर्वथा असमर्थ हो गये हैं। इसी प्रकार यहाँ भी मुक्तिके इन दोनों भेदोंको समझ लेना चाहिये।

उपसंहार

पूर्व अधिकार किये हुए योगका लक्षण चित्तवृत्ति-निरोध इन पदोंका व्याख्यान, अभ्यास और वैराग्यरूप दोनों उपायोंका स्वरूप और भेद कहकर, सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात भेदसे योगके मुख्य और गौणभेदको कहकर, योगाभ्यासको दिखलाते हुए, विस्तारसे उसके उपायोंको बतलाकर; और सुगम उपाय होनेसे ईश्वरका स्वरूप, प्रमाण, प्रभाव और उसका वाचक नाम तथा उपासनाओंको बतलाकर और उनके फलोंका निर्णय कर, फिर चित्तके विक्षेप (व्याधिस्त्यानादि तीसवें सूत्रोक्त) और चित्त-विक्षेपके सहकारी दुःख आदि (इकतीसवें सूत्रोक्त) को कहकर और विस्तारसे चित्त-विक्षेपादिको हटानेवाले, एकतत्त्वके अभ्यास, मैत्री, करुणा आदि और प्राणायाम आदिको कहकर तथा सम्प्रज्ञात-असम्प्रज्ञात दोनों अङ्गरूप 'विषयवती वा प्रवृत्तिः' (पैंतीसवें सूत्रसे लेकर) इत्यादि विषयोंको कहकर; और उपसंहारद्वारा अपने-अपने विषयसहित अपने स्वरूप और फलसहित समापत्तिको कहकर, सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञातकी समाप्ति कर, सबीज-समाधिपूर्वक निर्बीज-समाधि कही गयी है। यह उपसंहार केवल सूत्रोंका है, इसमें व्याख्याताके अपने वि० वि०, वि० व०, टिप्पणी इत्यादि अर्थात् (सूत्र एकमें) अनुबन्ध-चतुष्टय जिसमें योगकी प्राचीन परम्परा, योग-दर्शनकी विशेषता, योगके भेद आदि विस्तारपूर्वक वर्णन हैं, (सूत्र दोमें) चित्त तथा सृष्टिक्रमका विस्तारके साथ वर्णन, (सूत्र सत्रहमें) कोशोंद्वारा अभ्यासकी प्रणाली तथा कोशोंकी विस्तृत व्याख्या, (सूत्र १८ में) सम्प्रज्ञात-समाधिकी भूमियों, असम्प्रज्ञात-समाधि और कैवल्यका विशेष वर्णन, (सूत्र १९ में) 'भव-प्रत्यय' के सम्बन्धमें अयुक्त और 'विदेह' तथा 'प्रकृतिलय' के प्रति संकीर्ण विचारोंके निराकरणार्थ तथा युक्त और यथार्थ अर्थके समर्थनार्थ 'व्यासभाष्य' 'तत्त्व वैशारदी' तथा 'योगवार्त्तिक' का भाषानुवाद, (सूत्र २६ में) गुरुका यथार्थ स्वरूप, (सूत्र २७ में) प्रणवका वर्णात्मक तथा ध्वन्यात्मक स्वरूप, (सूत्र २८ में) ओम्, स्थूल-सूक्ष्म तथा कारण-शरीरकी व्याख्या; जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा समाधि-अवस्थाओंमें भेद, (सूत्र ३४ में) सूक्ष्म प्राण, स्वर, स्वर साधन, तत्त्व, तत्त्व साधन, चक्र, चक्र-भेदन, कुण्डलिनी-शक्ति, कुण्डलिनी जाग्रत् करनेके उपाय, साधकोंको आवश्यक चेतावनी; और (सूत्र ५१ में) स्थितप्रज्ञके लक्षण इत्यादिको भी उपसंहृत कर लेना चाहिये। इस प्रकार पातञ्जलयोगप्रदीपमें समाधि नामवाले पहले पादकी व्याख्या समाप्त हुई।

इति पातञ्जलयोगप्रदीपे प्रथमः समाधिपादः समाप्तः ॥

साधनपाद

प्रथम पादमें समाहित चित्तवाले योगके उत्तम अधिकारियोंके लिये योगका स्वरूप, उसके भेद और उसका फल सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधिको विस्तारके साथ वर्णन किया गया है और योगके मुख्य उपाय अभ्यास तथा वैराग्य-साधनकी कई विधियाँ बतलायी हैं। पर विक्षिप्त चित्तवाले मध्यमाधिकारी जिनका चित्त सांसारिक वासनाओं तथा राग-द्वेष आदिसे कलुषित (मलिन) हैं, उनके लिये अभ्यास और वैराग्यका होना कठिन है उनका चित्त भी शुद्ध होकर अभ्यास और वैराग्यको सम्पादन कर सके इस अभिप्रायसे चित्तको एकाग्रताके असंदिग्ध उपाय क्रियायोगपूर्वक यम-नियमादि योगके आठ अङ्गोंको बतलानेके लिये दूसरे साधनपादको आरम्भ करते हैं।

योगके अङ्गोंमें प्रवृत्त करानेसे पूर्व सबसे प्रथम चित्तकी शुद्धिका एक सरल और उपयोगी उपाय क्रियायोग बतलाते हैं—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥

शब्दार्थ—तपःस्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधानानि = तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान; क्रियायोगः = क्रियायोग है।

अन्वयार्थ—तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान क्रियायोग है।

व्याख्या—तपः—जिस प्रकार अश्व-विद्यामें कुशल सारथि चञ्चल घोड़ोंको साधता है इसी प्रकार शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ और मनको उचित रीति और अभ्याससे वशीकार करनेको तप कहते हैं, जिससे सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, सुख-दुःख, हर्ष-शोक और मान-अपमान आदि सम्पूर्ण द्वन्द्वोंकी अवस्थामें बिना विक्षेपके स्वस्थ शरीर और निर्मल अन्तःकरणके साथ योगमार्गमें प्रवृत्त रह सके। शरीरमें व्याधि तथा पीड़ा, इन्द्रियोंमें विकार और चित्तमें अप्रसन्नता उत्पन्न करनेवाला तामसी तप योगमार्गमें निन्दित तथा वर्जित है। श्रीव्यासजी महाराज लिखते हैं "अनादि कर्म क्लेश वासनासे चित्रित हुआ जो विषयोंमें प्रवृत्ति करानेवाला अशुद्धिसंज्ञक रजस्-तमस्का प्रसार है, वह बिना तपके अनुष्ठानके नाशको प्राप्त होना असम्भव है। अतः सबसे पहले तपरूप साधनका उपदेश किया है। तच्च चित्तप्रसादनं-बाधमानमनेनाऽऽसेव्यमिति-मन्यते 'जो तप चित्तकी प्रसन्नताका हेतु हो तथा शरीर-इन्द्रियादिका बाधाकारक (पीड़ाकारक) न हो। वही सेवनीय है अन्य नहीं' वही सूत्रकारादि महर्षियोंको अभिमत है; क्योंकि व्याधि, शरीरकी पीड़ा

आदि और चित्तकी अप्रसन्नता योगके विघ्न हैं। ऐसा ही उपनिषदोंमें बतलाया है 'तपसाऽनाशकेन' 'जो शरीरका नाशक न हो'। तपकी विशेष व्याख्या इस सूत्रके विशेष वक्तव्यमें देखें।

स्वाध्याय—वेद-उपनिषद् आदि तथा योग और सांख्यके अध्यात्मसम्बन्धी विवेक-ज्ञान उत्पन्न करनेवाले सत्-शास्त्रोंका नियमपूर्वक अध्ययन और ओंकारसहित गायत्री आदि मन्त्रोंका जाप।

ईश्वर-प्रणिधानके सामान्य अर्थ—(१) ईश्वरकी भक्ति-विशेष और शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण, अन्तःकरण आदि सब बाह्य और आभ्यन्तर करणों, उनसे होनेवाले सारे कर्मों और उनके फलोंको अर्थात् सारे बाह्य और आभ्यन्तर जीवनको ईश्वरके समर्पण कर देना है। और उसके विशेष अर्थ (२) ओ३म्‌का उसके अर्थोंकी भावनासहित मानसिक जाप है। जैसा कि समाधिपाद सू० २८ की व्याख्या तथा विशेष वक्तव्यमें बतलाया गया है। दूसरे अर्थका सम्बन्ध आभ्यन्तर क्रियासे है। यह असम्प्रज्ञात समाधिके लाभ तथा क्लेशोंकी निवृत्तिमें साधनरूप है। समाधिपाद सू० २३ में समाहित चित्तवाले उत्तम अधिकारियोंके लिये यह अर्थ प्रधानरूपमें लिया गया है। पहले अर्थका सम्बन्ध अधिकतर हमारे व्यावहारिक जीवनसे है। यह सम्प्रज्ञात समाधि तथा क्लेशोंको तनु (शिथिल) करनेमें साधनरूप है। इस सूत्रमें तथा इस पादके सूत्र ३२ में विक्षिप्त चित्तवाले मध्यमाधिकारियोंके लिये ये ही अर्थ प्रधानरूपसे लिये गये हैं।

कामतोऽकामतो वापि यत् करोमि शुभाशुभम्।
तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम्॥

फलेच्छासे या निष्कामतासे जो शुभाशुभ कर्मका मैं अनुष्ठान करता हूँ, वह सब आप परमेश्वरके ही मैं समर्पण करता हूँ; क्योंकि आप अन्तर्यामीसे ही प्रेरित होकर मैं सब कर्म करता हूँ।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ (गीता ९। २७)

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! जो तुम कार्य करो, भक्षण करो, यज्ञ करो अथवा दान करो और जो तप करो, वह सब मेरे (परमेश्वरके) ही अर्पण करो। यहाँ यह ध्यान रखनेकी बात है कि जिस योगीने अपने समस्त कार्य ईश्वरके समर्पण कर दिये हैं, उसका कोई काम अशुभ न होगा। सब शुभ ही होंगे तथा फलोंको ईश्वर-समर्पण कर देनेके कारण उसके कर्म फलेच्छा-परित्यागपूर्वक ही होंगे। कर्मों और उनके फलोंको ईश्वर-समर्पण कर देनेके अर्थ कर्महीन बन जाना नहीं है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ (गीता २। ४७)

हे अर्जुन! कर्मोंके अनुष्ठानहीमें तुम्हें अधिकार है, कर्मोंके फलमें कदापि नहीं; अतः फलके अर्थ कर्मोंका अनुष्ठान मत करो और कर्महीनतामें भी तेरी आसक्ति न होनी चाहिये अर्थात् ईश्वर-समर्पण करके सदा निष्कामभावसे अपने कर्तव्यरूप शुभ कर्म करते रहना चाहिये।

शङ्का—समाधिपादमें उत्तम अधिकारियोंके लिये वैराग्य-अभ्यासादि साधन बतलाये गये हैं और इस साधनपादमें मध्यमाधिकारियोंके लिये अष्टाङ्गयोग। फिर यहाँ उस अष्टाङ्गयोगके केवल तीन नियमोंको ही क्यों साधनरूप बतलाया गया है?

समाधान—इस पादमें मध्यमाधिकारियोंके लिये वास्तवमें तो अष्टाङ्गयोग ही साधनरूप बतलाया गया है। और तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान पाँचों नियमोंके अन्तिम तीन भाग हैं। किंतु ये व्यावहारिक जीवनको शुद्ध और सात्त्विक बनानेमें अधिक सहायक होते हैं। जिससे चित्त शुद्ध और निर्मल होकर अष्टाङ्गयोगपर सुगमतासे आरूढ़ हो सकता है।

गीतामें ऐसे योगेच्छुको आरुरुक्षु नामसे पुकारा गया है और इस क्रियायोगका नाम कर्मयोग दिया गया है। यथा—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।

आरुरुक्षु अर्थात् योगारूढ़ होनेकी इच्छा रखनेवाले मननशील पुरुषोंके लिये कर्मयोगको कारण अर्थात् साधन कहा है। तपसे शरीर, वाणी, मन और अन्तःकरणकी अशुद्धि दूर होती है। स्वाध्यायसे तत्त्व-ज्ञानकी प्राप्ति तथा मनकी एकाग्रता और ईश्वर-प्रणिधानसे कर्मोंमें कामना और फलोंमें आसक्तिका त्याग तथा ईश्वरका अनुग्रह प्राप्त होता है। इसलिये इनको क्रियायोग नामसे अष्टाङ्गयोगके पूर्व अनुष्ठान करना बतलाया है और यदि इन तीनोंके व्यापक अर्थ लिये जायँ तो सारे योगके आठों अङ्ग इन्हींके अन्तर्गत हो जाते हैं।

विशेष वक्तव्य—सूत्र १

तपकी व्याख्या—जिस प्रकार अग्निमें तपानेसे धातुका मल भस्म हो जानेपर उसमें स्वच्छता और चमक आ जाती है, इसी प्रकार तपकी अग्निमें शरीर, इन्द्रियों आदिका तमोगुणी आवरणके नाश हो जानेपर उनका सत्त्वरूपी प्रकाश बढ़ जाता है। योगमार्गमें आसन-प्राणायाम जिनका सूत्र ४६ एवं ४९ में क्रमसे वर्णन किया जायगा और सात्त्विक आहार-विहारादि शरीरके तप माने गये हैं तथा प्रत्याहार जिसका वर्णन सूत्र ५४ में किया जायगा और शम-दम आदि इन्द्रियों तथा मनके तप हैं।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥ (गीता ६।१६)

यह योग न तो बहुत अधिक खानेवालेको और न कोरे उपवासीको, वैसे ही न बहुत सोनेवालेको और न बहुत जागनेवालेको प्राप्त होता है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ (गीता ६।१७)

जो मनुष्य आहार-विहारमें, दूसरे कर्मोंमें, सोने-जागनेमें नियमित रहता है, उसका योग दुःख-नाशक होता है।

युक्ताहार (मिताहार) यथा—

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः।
भुज्यते शिवसम्प्रीत्यै मिताहारः स उच्यते॥

स्निग्ध, मीठा, प्रिय आहार, क्षुधा-परिमाणसे चतुर्थ भागसे न्यून, शिव (ईश्वर) की सम्यक् प्रीतिके लिये जो किया जाता है, वह मिताहार कहा जाता है। तामसी, राजसी, हिंसासे प्राप्त किये हुए तथा गरिष्ठ, वात-कफकारक, अति उष्ण, खट्टे, चरपरे, बासी, अतिरूक्ष, सूखे हुए, रूखे, सड़े हुए,

जूठे, नशा करनेवाले, उत्तेजक, स्वास्थ्यको हानि पहुँचानेवाले पदार्थोंको त्यागकर केवल शुद्ध, सात्त्विक, हलके, मधुर, रसदार, स्निग्ध, ताजा, स्वास्थ्य-वर्धक, चित्तको प्रसन्न करनेवाले पदार्थ जैसे दूध, घृत, ताजे रसदार मीठे सात्त्विक फल—जैसे मीठा संतरा, मीठा अनार, मुसम्मी (माल्टा), अंगूर, सेब, केला, मीठा आड़ू, खूबानी आदि तथा खुश्क फल जैसे बादाम, अंजीर, मुनक्का इत्यादि, सात्त्विक सब्जी—जैसे लौकी, परवल, तुरई आदि; सात्त्विक अनाज—जैसे गेहूँ, मूँग, चावल आदिका नियमितरूपसे भूखसे न्यून मात्रामें सेवन करना अर्थात् उदरको दो भाग अन्नसे भरना, एक भाग जलसे और एक भाग वायुके संचारार्थ खाली रखना । रात्रिमें सोनेसे पूर्व दूध, फल आदि स्वल्पमात्रामें लेना चाहिये ।

योगीजन स्वादको वशीकार किये हुए शरीरसे आसक्ति और ममता त्यागे हुए शरीरको केवल भजनके कार्यमें उपयोगी बनानेके निमित्त खान-पान आदिका विशेष ध्यान रखते हैं । साधारण मनुष्य स्वादके वशीभूत होकर, शरीरमें आसक्ति और ममताके साथ खान-पान आदिके व्यवहारमें लिप्त रहता है। यह योगी और भोगीमें भेद है । योगाभ्यासीके लिये मांस, मादक पदार्थ तथा लाल मिर्च आदि सर्वथा त्याज्य हैं । उनके सेवनकी अपेक्षा भूखा रहना हितकर है । उनके सेवनमें आपत्ति तथा धर्मकी आड़ किसी अवस्थामें नहीं ली जा सकती ।

अभ्यासियोंको अन्नके सम्बन्धमें पूरी सावधानी रखनी चाहिये । क्योंकि अन्नका शरीर तथा मनपर बड़ा प्रभाव पड़ता है । अन्न सात्त्विक तथा पवित्र कमाईका होना चाहिये। इस सम्बन्धमें हमारे एक प्रेमी सत्संगी पं० बाबूराम ब्रह्म कविकी एक कविता लिखी जाती है ।

अन्न ही बनावे मन, मन जैसी इन्द्रियाँ हों
इन्द्रियोंसे कर्म, कर्म भोग भुगवाते हैं ।
अन्नहीसे वीर क्लीब, क्लीब वीर होते देखे
अन्नके प्रताप योगी भोगी बन जाते हैं ॥
अन्नहीके दूषणसे तामसी ले जन्म जीव
अन्नकी पवित्रतासे देव खिंच आते हैं ।
मृत्युलोकमें है 'ब्रह्म' मोक्ष और बन्धनका
वेद आदि मूल तत्त्व अन्न ही बताते हैं ॥

युक्त विहार—ऐसी लंबी कठिन यात्राका न करना जिससे भजनमें विघ्न पड़े । चलना-फिरना बिल्कुल बंद न कर दिया जाय जिससे तमोगुणरूपी आलस्य तथा प्रमाद उत्पन्न होकर भजनमें बाधक हों; बल्कि इतना चलता-फिरता और घूमता रहे जिससे शरीर स्वस्थ और चित्त प्रसन्न रहे और भजनका कार्य सफलतापूर्वक होता रहे ।

युक्त कर्मचेष्टा—नियमितरूपसे कर्तव्य तथा नियत सत्कर्मोंको नित्य करते रहना अर्थात् न इतना अधिक शारीरिक परिश्रम करना जिससे थकान उत्पन्न होकर भजनमें विघ्न पड़े और न सर्वथा कर्तव्यहीन होकर आलसी बन जाना ।

युक्तस्वप्नावबोध—रात्रिमें सात घंटेसे अधिक न सोना जिससे तमोगुण न बढ़े, न चार घंटेसे कम सोना जिससे भजन करते समय नींद न सतावे ।

योगमार्गमें चान्द्रायण आदि व्रत तथा लंबे उपवास वर्जित हैं। सप्ताहमें एक दिन उपवास रखना प्रशस्त है, जिससे सप्ताहमें संचित हुए शारीरिक तथा मानसिक विकार निवृत्त होते रहें। उपवास-वाले दिन अन्न सर्वथा त्याग दे, दूध-फलादि हलका आहार लेना चाहिये। सर्वथा निराहार रहनेसे प्राणोंके निरोधके साथ भजन करनेकी अवस्थामें मस्तिष्कमें खुश्की पहुँचने और कई दिनोंतक भजनके कार्यमें विघ्न पड़नेकी सम्भावना हो सकती है। विशेष अवस्थामें किसी-किसी ऐसे साधकसे जो शरीरके स्थूल तथा विकारी होने अथवा रजोगुणी मनकी चञ्चलताके कारण योगमार्गपर सुगमतासे नहीं चल सकते, चान्द्रायण आदि व्रत तथा लंबे उपवास भी कराये जाते हैं। ये किसी अनुभवीकी अध्यक्षता और पूरी देखभालमें होने चाहिये। प्रत्येक दिन नमक और साबुनमिश्रित गुनगुने जलसे एनिमा करते रहना आवश्यक है। ऐसा न करनेसे पिछला बचा हुआ मल आँतोंमें सूख जाता है। उससे आँतोंमें खराश तथा अन्य विकार उत्पन्न होनेकी सम्भावना रहती है। लंबे उपवासमें पित्त बढ़ जाता है। इसलिये उपवासकी समाप्तिपर कागजी नीबूका शरबत अथवा शिकञ्जवी पिलावे। दूध तथा रसीले फल, कागजी नीबू, मीठा अनार, सेब, मीठा संतरा, मुसम्मी, अंगूर आदि शनैः-शनैः बढ़ाते जायँ। खट्टे फलोंको दूधके साथ न दें। कई दिनोंके पश्चात् अन्नको प्रथम मूँगकी दालके पानीसे आरम्भ करें और शनैः-शनैः मात्रा बढ़ाते जायँ। ऐसा करनेसे शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य सुधर जायगा। लंबे उपवासके पश्चात् आँतोंमें पाचन-शक्ति कम हो जाती है और भूख बढ़ जाती है। थोड़ी-सी भूलमें नाना प्रकारके रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

वाणीका तप—वाणीका तप वाणीको संयममें रखना है अर्थात् केवल सत्य, प्रिय, आवश्यकता-नुसार दूसरोंका यथायोग्य सम्मान करते हुए वाणीसे वचन निकालना। वाणीको संयममें रखनेका यत्न करते हुए सप्ताहमें एक दिन मौनव्रत रखना प्रशस्त है। वाणीको संयममें रखनेका यत्न किये बिना केवल देखा-देखी मौन रखना मिथ्याचार है।

मनका तप—मनका तप मनको संयममें रखना है अर्थात् हिंसात्मक, क्लिष्ट भावनाओं तथा अपवित्र विचारोंको मनसे हटाते हुए हिंसात्मक अक्लिष्ट भावनाओं और शुद्ध विचारोंको मनमें धारण करना है। इस प्रकार क्लिष्ट विचारोंपर विजय प्राप्त करनेके पश्चात् सब प्रकारके विचार भविष्यके संकल्प-विकल्प और भूतकालकी स्मृतिसे मनको शून्य करनेका अभ्यास करना चाहिये।

गीताके अध्याय १७ के अनुसार सात्त्विक, राजसी और तामसी तप—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

फलको न चाहनेवाले निष्कामी योगी पुरुषोंद्वारा परम श्रद्धासे किये हुए उस तीन प्रकारके (शारीरिक, वाचिक और मानसिक) तपको सात्त्विक कहते हैं और जो तप सत्कार, मान और पूजाके लिये अथवा केवल पाखण्डसे किया जाता है वह अनिश्चित और क्षणिक फलवाला तप यहाँ

राजस कहा गया है। जो तप मूढ़तापूर्वक हठसे मन-वाणी और शरीरको पीड़ा देकर अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है।

स्वाध्याय—स्वाध्यायकी व्याख्यामें हमने जो ओंकारसहित गायत्री आदिका जाप बतलाया है, उस गायत्री-मन्त्रके अर्थोंको विशेषरूपसे खोल देना उचित प्रतीत होता है। गायत्री-मन्त्रके सम्बन्धमें मनु महाराज लिखते हैं—

ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम्॥ (२।८)

तीन मात्रावाले ओंकारपूर्वक तीन महाव्याहृति और त्रिपदा सावित्रीको ब्रह्मका मुख (द्वार) जानना चाहिये।

गायत्री-मन्त्र

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥

(य० अ० ३६ मन्त्र ३) (ऋ० म० ३ सू० ६२ मं० १०) (साम १४६२)

(१) ओंकारकी तीन मात्राएँ— अकार, उकार, मकार और चौथा अमात्र विराम।

अकार—एक मात्रावाले विराट् जो स्थूल जगत्के सम्बन्धसे परमात्माका नाम है।

फल—पाँचों स्थूल भूतों और उनसे बने हुए पदार्थोंको आत्मोन्नतिमें बाधक होनेसे हटाकर साधक बनानेवाला अपने विराट् रूपके साथ स्थूल जगत्के ऐश्वर्यका उपभोग करानेवाला।

उकार—दो मात्रावाले हिरण्यगर्भ जो सूक्ष्म जगत्के सम्बन्धसे परमात्माका नाम है।

फल— पाँचों स्थूल-सूक्ष्म भूतों और अहंकार आदिको आत्मोन्नतिमें बाधक होनेसे हटाकर साधक बनानेवाला, अपने हिरण्यगर्भरूपके साथ सूक्ष्म जगत्में ऐश्वर्यका उपभोग करानेवाला।

मकार— तीनों मात्रावाले ईश्वर जो कारण जगत्के सम्बन्धसे परमात्माका नाम है।

फल— कारण जगत्को आत्मोन्नतिमें बाधक बननेसे हटाकर साधक बनानेवाला, अपने अपर स्वरूपके साथ कारण जगत्के ऐश्वर्यका उपभोग करानेवाला।

अमात्र विराम—परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति अर्थात् स्वरूपावस्थिति जो प्राणिमात्रका अन्तिम ध्येय है।

(२) तीन महाव्याहृतियाँ—भूः, भुवः, स्वः।

भूः—सारे ब्रह्माण्डका प्राणरूप (जीवन देनेवाला) ईश्वर, सब प्राणधारियोंका प्राण-सदृश आधार और प्यारा पृथ्वीलोकका नियन्ता।

भुवः—सारे ब्रह्माण्डका अपानरूप (पालन-पोषण करनेवाला) ईश्वर, सब प्राणियोंको तीनों प्रकारके दुःखोंसे छुड़ानेवाला, अन्तरिक्षलोकका नियन्ता।

स्वः—सारे ब्रह्माण्डका व्यानरूप (व्यापक) ईश्वर, सब प्राणधारियोंको सुख और ज्ञानका देनेवाला द्यौलोकका नियन्ता।

(३) गायत्रीके तीन पाद—तत्सवितुर्वरेण्यम्। भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥

सवितुः—सब जगत्को उत्पन्न करनेवाले अर्थात् सब प्राणधारियोंके परम माता-पिता।

देवस्य—ज्ञानरूप प्रकाशके देनेवाले देवके।

तत्— उस।

वरेण्यम्—ग्रहण करने योग्य अर्थात् उपासना करने योग्य ।
भर्गः —शुद्ध स्वरूपका ।
धीमहि—हम ध्यान करते हैं ।
यः —जो (पूर्वोक्त सविता देव) ।
नः— हमारी ।
धियः—बुद्धियोंको ।
प्रचोदयात्— ठीक मार्गमें प्रवृत्त करे ।

सब प्राणियोंके परम पिता-माता, ज्ञानरूप प्रकाशके देनेवाले देवके उस उपासना करनेयोग्य शुद्धस्वरूपका हम ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धियोंको ठीक मार्गमें प्रवृत्त करें ।

तीनों गुणोंका प्रथम विषम परिणाम महत्तत्त्व है । इसको व्यष्टिरूपमें बुद्धि तथा चित्त कहते हैं । इसीसे सत्-असत्, कर्तव्याकर्तव्य, धर्म-अधर्म आदिका निर्णय किया जाता है । इसीमें जन्म, आयु और भोग देनेवाले सारे संस्कार रहते हैं । इसके पवित्र होनेसे सन्मार्गकी प्राप्ति, संस्कारोंकी निवृत्ति और जन्म-आयु और भोगसे मुक्ति हो सकती है । इस गायत्री-मन्त्रमें विशेषरूपसे बुद्धि अथवा चित्तकी पवित्रताके लिये प्रार्थना की गयी है ।

वानप्रस्थ-आश्रम और संन्यास-आश्रमके प्रवेश तथा अभ्यासके आरम्भसे कई दिन पूर्व और प्रायश्चित्तार्थ आत्मोन्नति तथा शुभ-कामनाकी पूर्तिके लिये एक निश्चित संख्यामें गायत्री-मन्त्रका जप अत्यन्त श्रेयस्कर है ।

गायत्र्यास्तु परं नास्ति शोधनं पापकर्मणाम् ।
महाव्याहृतिसंयुक्तां प्रणवेन च संजपेत् ॥ (संवर्तस्मृति श्लोक २१८)

गायत्रीसे बढ़कर पापकर्मोंका शोधक (प्रायश्चित्त) दूसरा कुछ भी नहीं है । प्रणव (ओंकार) सहित तीन महाव्याहृतियोंसे युक्त गायत्री मन्त्रका जाप करना चाहिये ।

इस गायत्री-मन्त्रके ऋषि विश्वामित्र हैं, देवता सविता और छन्द गायत्री है ।

सङ्गति—वह क्रियायोग किसलिये है ? यह बतलाते हैं—

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥

शब्दार्थ—(क्रियायोग) समाधि-भावनार्थः = समाधिकी भावना (समाधिका चित्तमें पुनः-पुनः निवेश) के लिये; क्लेश-तनू-करण-अर्थः = और क्लेशोंके तनूकरण (दुबले करने) के लिये है ।

(स हि क्रियायोगः) 'सो वह उपर्युक्त क्रियायोग' इतना पाठ भाष्यकारोंने सूत्रके आदिमें अध्याहार किया है ।

अन्वयार्थ—समाधिकी भावनाके लिये और क्लेशोंके तनू करनेके लिये क्रियायोग है ।

व्याख्या—समाधि-भावना = 'समाधिरुक्तलक्षणस्तस्य भावना चेतसि पुनः पुनर्निवेशनम्' = समाधि जिसका लक्षण १ । २ में कहा है, उसकी भावना अर्थात् समाधिका चित्तमें बार-बार निवेश (लाना) है ।—(भोजवृत्ति)

क्लेशतनूकरणार्थः = क्लेशा वक्ष्यमाणास्तेषां तनूकरणं स्वकार्यकारणप्रतिबन्धः = क्लेश अविद्यादि अगले सूत्रमें कहे हैं, उनका तनूकरण 'उनके स्वकार्यके कारण होनेमें प्रतिबन्धकता' ।—(भोजवृत्ति)

अविद्या आदि क्लेश जिनका आगे वर्णन किया जायगा, जिनके संस्कार बीजरूपसे चित्त-भूमिमें अनादि-कालसे पड़े हुए हैं, उनको शिथिल करने और चित्तको समाधिकी प्राप्तिके योग्य बनानेके हेतु क्रियायोग किया जाता है। तपसे शरीर, प्राण, इन्द्रिय और मनकी अशुद्धि दूर होनेपर वे स्वच्छ होकर क्लेशोंके दूर करने और समाधि-प्राप्तिमें सहायता देते हैं। स्वाध्यायसे अन्तःकरण शुद्ध होता है और चित्त विक्षेपोंके आवरणसे शुद्ध होकर समाहित होनेकी योग्यता प्राप्त कर लेता है। ईश्वरप्रणिधानसे समाधि सिद्ध होती है और क्लेशोंकी निवृत्ति होती है।

भाव यह है कि क्रियायोगद्वारा क्लेशोंको तनू करना चाहिये। क्लेशोंके शिथिल होनेपर अभ्यास-वैराग्यका सुगमतासे सम्पादन हो सकेगा। अभ्यास-वैराग्यसे क्रमप्राप्त सम्प्रज्ञात-समाधिकी सबसे ऊँची अवस्था विवेक-ख्यातिरूप अग्निसे सूक्ष्म किये हुए क्लेशोंके संस्काररूप बीज दग्ध हो जाते हैं और चित्तका भोग-अधिकार समाप्त हो जाता है। क्लेशरूप बीजोंके दग्ध होनेपर परवैराग्य उत्पन्न होता है। परवैराग्यके संस्कारोंकी वृद्धिसे चित्तका विवेकख्याति-अधिकार भी समाप्त हो जाता है और असम्प्रज्ञात-समाधिका लाभ प्राप्त होता है।

सङ्गति—जिन क्लेशोंके दूर करनेके लिये क्रियायोग बतलाया गया है, वे क्लेश कौनसे हैं? यह अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशाः क्लेशाः = अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेश हैं।

व्याख्या—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेश हैं। ये पाँचों बाधनारूप पीड़ाको उत्पन्न करते हैं। और चित्तमें वर्तमान रहते हुए संस्काररूप गुणोंके परिणामको दृढ़ करते हैं; इसलिये क्लेश नामसे कहे गये हैं। ये पाँचों विपर्यय अर्थात् मिथ्याज्ञान ही हैं, क्योंकि उन सबका कारण अविद्या ही है।

टिप्पणी—सूत्र ॥ ३ ॥ अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेशोंके ही सांख्य-परिभाषामें क्रमसे तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र नामान्तर हैं।

तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञकः।
अविद्या पञ्चपर्वैषा सांख्ययोगेषु कीर्तिता ॥

तमस् (अविद्या), मोह (अस्मिता), महामोह (राग), तामिस्र (द्वेष) और अन्धतामिस्र (अभिनिवेश)—यह सांख्य और योगमें पञ्चपर्वा अविद्या कही गयी है। ये तमस् आदि अवान्तरभेदसे बासठ प्रकारके हैं, जैसा कि सांख्यकारिकामें बतलाया है—

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः।
तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः ॥ (सा० का० ४८)

तमस् और मोहका आठ-आठ प्रकारका भेद है। महामोह दस प्रकारका है। तामिस्र और अन्धतामिस्र अठारह-अठारह प्रकारके हैं।

तमस् (अविद्या)—प्रधान, महत्तत्त्व, अहङ्कार और पाँच तन्मात्राएँ—इन आठ अनात्मप्रकृतियोंमें आत्मभ्रान्तिरूप अविद्या-संज्ञक तम आठ विषयवाला होनेसे आठ प्रकारका है।

मोह (अस्मिता)—गौण फलरूप अणिमा-महिमा आदि आठ ऐश्वर्योंमें जो परम पुरुषार्थ भ्रान्तिरूप ज्ञान है, वह अस्मिता-संज्ञक मोह कहलाता है। यह भी अणिमा आदि (३-४५) आठ भेदसे आठ प्रकारका है।

महामोह (राग)—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धसंज्ञक लौकिक और दिव्य विषयोंमें जो अनुराग है, वह रागसंज्ञक महामोह कहा जाता है । यह भी दस विषयवाला होनेसे दस प्रकारका है ।

तामिस्र (द्वेष)—उपर्युक्त आठ ऐश्वर्यों और दस विषयोंके भोगार्थ प्रवृत्त होनेपर किसी प्रतिबन्धकसे इन विषयोंके भोगलाभमें विघ्न पड़नेसे जो प्रतिबन्धकविषयक द्वेष होता है, वह तामिस्र कहलाता है । वह तामिस्र आठ ऐश्वर्यों और दिव्य-अदिव्य दस विषयोंके प्रतिबन्धक होनेसे अठारह प्रकारका है ।

अन्धतामिस्र (अभिनिवेश)—आठ प्रकारके ऐश्वर्य और दस प्रकारके विषय-भोगोंके उपस्थित होनेपर भी जो चित्तमें भय रहता है कि यह सब प्रलयकालमें नष्ट हो जायँगे, यह अभिनिवेश अन्धतामिस्र कहलाता है । अभिनिवेशरूप अन्धतामिस्र भी उपर्युक्त अठारहके नाशका भयरूप होनेसे अठारह प्रकारका है ।

ये सब अज्ञानमूलक और दुःखजनक होनेसे अज्ञान, अविद्या, विपर्यय-ज्ञान, मिथ्याज्ञान, भ्रान्तिज्ञान और क्लेश आदि नामोंसे कहे जाते हैं ।

सङ्गति—अविद्या सब क्लेशोंका मूल कारण है, यह अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—अविद्या-क्षेत्रम्=अविद्या क्षेत्र अर्थात् उत्पत्तिकी भूमि है; उत्तरेषाम्=अगलोंकी (अस्मिता-आदिकी); प्रसुप्त-तनु-विच्छिन्न-उदाराणाम्=जो प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार अवस्थामें रहते हैं ।

अन्वयार्थ—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार अवस्थावाले अस्मिता आदि क्लेशोंका अविद्या क्षेत्र है।

व्याख्या—जिस प्रकार भूमिमें रहकर ही बीज उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार अविद्याके क्षेत्रमें रहकर सब क्लेश बन्धनरूपी फल देते हैं । अविद्या ही इन सबोंका मूल-कारण है । ये क्लेश चार अवस्थाओंमें रहते हैं—

प्रसुप्त—जो क्लेश चित्त-भूमिमें अवस्थित हैं, पर अभी जागे नहीं; क्योंकि अपने विषय आदि-के अभाव-कालमें अपने कार्योंको आरम्भ नहीं कर सकते हैं, वे प्रसुप्त कहलाते हैं । जिस प्रकार बाल्यावस्थामें विषयभोगकी वासनाएँ बीजरूपसे दबी रहती हैं, जवान होनेपर जाग्रत् होकर अपना फल दिखलाती हैं ।

तनु—तनु वे क्लेश हैं, जो प्रतिपक्षभावनाद्वारा अथवा क्रियायोग आदिसे शिथिल कर दिये गये हैं । इस कारण वे विषयके होते हुए भी अपने कार्यके आरम्भ करनेमें समर्थ नहीं होते, शान्त रहते हैं । परंतु इनकी वासनाएँ सूक्ष्मरूपसे चित्तमें बनी रहती हैं ।

निम्न प्रकारसे इनको शिथिल (तनु) किया जाता है—

यथार्थ ज्ञानके अभ्याससे अविद्याको, भेद-दर्शनके अभ्याससे अस्मिताको, मध्यस्थ रहनेके विचार-से राग-द्वेषको, ममताके त्यागसे अभिनिवेश क्लेशको तनु (शिथिल) किया जाता है तथा धारणा, ध्यान और समाधिद्वारा अविद्या, अस्मिता आदि सारे क्लेश तनु किये जाते हैं ।

विच्छिन्न—विच्छिन्न क्लेशोंकी वह अवस्था है, जिसमें क्लेश किसी दूसरे बलवान् क्लेशसे दबे हुए शक्तिरूपसे रहते हैं और उसके अभावमें वर्त्तमान हो जाते हैं । जैसे द्वेष-अवस्थामें राग छिपा रहता है और राग-अवस्थामें द्वेष ।

उदार—उदार क्लेशोंकी वह अवस्था है, जो अपने सहायक विषयोंको पाकर अपने कार्यमें प्रवृत्त

हो रहे हैं। जैसे व्युत्थान अवस्थामें साधारण मनुष्योंमें होते हैं।

इन सबका मूलकारण अविद्या है। उसीके नाश होनेसे सर्वक्लेश समूल नाश हो जाते हैं।

दग्ध बीज—क्रियायोग अथवा सम्प्रज्ञात समाधिद्वारा तनु किये हुए क्लेश प्रसंख्यान अर्थात् विवेकख्यातिरूप अग्निमें दग्धबीज भावको प्राप्त हो जाते हैं। तत्पश्चात् पुनः अंकुर उत्पन्न करने और फल देनेमें असमर्थ हो जाते हैं। यथा—

बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मना सम्पद्यते पुनः॥

जिस प्रकार अग्निसे जले हुए बीज फिर नहीं उगते हैं, इसी प्रकार विवेकज्ञानरूप अग्निसे जले हुए क्लेश फिर उत्पन्न नहीं हो सकते।

शङ्का—सूत्रकारने क्लेशोंकी इस पाँचवीं दग्धबीज-अवस्थाका वर्णन इस सूत्रमें क्यों नहीं किया?

समाधान—सूत्रकारने इस सूत्रमें 'अविद्याक्षेत्र' इस पदसे क्लेशोंकी अविद्यामूलक चारों हेय (त्यागनेयोग्य) अवस्थाओंका ही निरूपण किया है। क्लेशोंकी पाँचवीं दग्धबीज अवस्था अविद्याकी विरोधी होनेसे उपादेय (ग्रहण करनेयोग्य) है। अतः उसका इनके साथ कथन करना ठीक न था। इन पाँचवीं दग्धबीज अवस्थावाले क्लेशोंकी निवृत्ति किसी प्रयत्नविशेषकी अपेक्षा नहीं रखती। असम्प्रज्ञात समाधिद्वारा उनके धर्मी चित्तके अपने कारणमें लीन होनेके साथ उनकी स्वयं ही निवृत्ति हो जाती है और कैवल्य अवस्थामें चित्तके अपने स्वरूपसे नाश होनेके साथ इनका भी नाश हो जाता है जैसा कि इसी पादके दसवें सूत्रमें बतलाया गया है 'ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः।'

विशेष वक्तव्य—सूत्र ४–समाधिपाद सूत्र १९ के सदृश इस सूत्रकी व्याख्यामें भी कई भाष्यकारोंने क्लेशोंकी प्रसुप्त अवस्थाके समझानेमें प्रसुप्त क्लेशोंका उदाहरण विदेह और प्रकृतिलयोंके क्लेशोंसे देकर विदेह और प्रकृतिलयोंके सम्बन्धमें भ्रान्तिजनक अर्थ किये हैं। इसका आधार भी वाचस्पति मिश्रकी ही व्याख्या है, जिसका इन सबने अनुकरण किया है। वाचस्पति मिश्रने सूत्रकी व्याख्याके अन्तमें यह श्लोक दिया है—

प्रसुप्तास्तत्त्वलीनानां तन्ववस्थाश्च योगिनाम्।
विच्छिन्नोदाररूपाश्च क्लेशा विषयसङ्गिनाम्॥

'तत्त्वलीनोंके क्लेश प्रसुप्त, योगियोंके तनु और विषयी पुरुषोंके क्लेश विच्छिन्न और उदार (अवस्थावाले) होते हैं।' तत्त्वलीनोंसे अभिप्राय विदेह और प्रकृतिलय लिया है। उन्हें अज्ञानी और अयोगी मानकर प्रसुप्तक्लेशयुक्त सिद्ध करनेका यत्न किया गया है।

(१) समाधिपाद सूत्र १९ की व्याख्या तथा विशेष वक्तव्यमें बतला दिया गया है कि सम्प्रज्ञात समाधिकी चारों भूमियोंमें उच्चतर और उच्चतम भूमि आनन्दानुगत और अस्मितानुगतको विदेह और प्रकृतिलय क्रमानुसार प्राप्त किये हुए होते हैं। इन योगियोंको अज्ञानी और अयोगी कहना अनुचित है।
(२) सम्प्रज्ञातसमाधिमें क्लेश तनु और विवेकख्यातिमें दग्धबीज भावको प्राप्त होते हैं। इसलिये इनके क्लेश यद्यपि दग्धबीज-भावको प्राप्त नहीं हुए हैं तथापि उनके तनु होनेमें तो कोई संदेह नहीं हो सकता।
(३) समाधिपाद सूत्र ३२ में एक तत्त्वके अभ्यासको चित्तकी स्थितिका साधन बतलाया है। सम्प्रज्ञात-समाधिमें किसी-न-किसी विषयको ही आलम्बन (ध्येय) बनाकर धारणा, ध्यान और समाधि

लगायी जाती है। फिर इस बतलायी हुई प्रणालीपर चलनेवाले साधकोंको योगदर्शनके सूत्रोंकी ही व्याख्यामें अयोगी और अज्ञानी कहना कब ठीक हो सकता है। (४) फिर भी यदि किसी स्थूल अथवा सूक्ष्म-विषयको ध्येय बनाकर समाधि लगानेवालोंको तत्त्वलीन कहा जाय तो भी यह सीमा वितर्कानुगत और विचारानुगत तक ही रह जाती है अर्थात् उन्हीं दोनों भूमियोंमें किसी अन्य ग्राह्यविषयको आलम्बन बनाना होता है। आनन्दानुगत और अस्मितानुगतमें तो सारे अन्य विषयोंसे परे होकर केवल ग्रहण और ग्रहीतृ, अहंकार और अस्मिता क्रमानुसार रह जाते हैं। उस उच्चतर और उच्चतम सत्त्वके प्रकाशमें क्लेश बिना तनु हुए प्रसुप्त कैसे रह सकते हैं। (५) यदि इस अवस्थाको भी अविद्या और अज्ञानमय समझा जाय तब भी क्लेशोंकी इस अवस्थाको उदार कहना होगा न कि प्रसुप्त। विदेह और प्रकृतिलयोंकी इस प्रकार अधोगतिकी अवस्था दिखलाना सूत्रकारके आशयके विरुद्ध है। (६) तथा व्यास-भाष्य और भोजवृत्तिमें विदेह और प्रकृतिलयोंका नाम-निशान भी नहीं है। इसके स्पष्टीकरणके लिये इस सूत्रके व्यासभाष्य तथा भोजवृत्तिका भाषानुवाद कर देना उचित प्रतीत होता है।

व्यासभाष्यका अर्थ सूत्र ४—इनमें अविद्या उत्तर-क्लेश, अस्मिता आदि प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न, उदार—चार अवस्थावालोंकी क्षेत्र अर्थात् उत्पत्तिकी भूमि है। उनमें प्रसुप्त क्लेश कौन-से हैं ? इसका उत्तर यह है कि जो चित्तमें बीजभावको प्राप्त हुए शक्तिमात्रसे रहते हैं। आलम्बन अर्थात् विषयके सम्मुख होनेपर उनकी जागृति होती है। प्रसंख्यान (विवेकख्याति) ज्ञानवाले योगीको, जिसके क्लेश दग्धबीज भावको प्राप्त हो गये हैं, विषयरूप आश्रयके सम्मुख होनेपर भी इन क्लेशोंकी फिर जागृति नहीं होती; क्योंकि जले हुए बीजकी कहाँसे उत्पत्ति हो सकती है। इसलिये जिस योगीके क्लेश क्षीण हो गये हैं, वह 'कुशल चरमदेह' (जिसकी मुक्तिमें देह पड़नेतककी देर है) कहलाता है। उसी योगीमें यह पाँचवीं दग्ध-बीज-भाववाली क्लेशोंकी अवस्था है, दूसरेमें नहीं। क्लेशोंके रहते हुए भी उस पाँचवीं अवस्थामें बीजकी सामर्थ्य जल जाती है। इस कारण विषयोंके सम्मुखरूपसे रहते हुए भी उनकी जागृति नहीं होती। सोते हुए क्लेशोंका स्वरूप और दग्धबीज क्लेशोंकी अनुत्पत्ति यहाँतक कही गयी है।

अब तनुक्लेशोंकी निर्बलताका स्वरूप कहा जाता है। प्रतिपक्षभावनाद्वारा नष्ट किये हुए क्लेश तनु होते हैं। उसी प्रकार नष्ट हो-होकर उस-उस रूपसे फिर-फिर जो बर्तने लगते हैं, वे विच्छिन्न कहलाते हैं। किस प्रकार ? उत्तर देते हैं, रागकालमें क्रोधके न देखे जानेसे निश्चय रागकालमें क्रोध नहीं बर्तता। राग भी किसी एक पदार्थमें देखे जाते हुए अन्य विषयमें नहीं है—यह नहीं देखा जाता है। ऐसा नहीं है कि एक स्त्रीमें चैत्र नामी पुरुष प्रीतिमान् हो और अन्य स्त्रियोंमें न हो, किंतु उसमें राग वर्तमान है और अन्यमें आगे होनेवाला है। यह लब्धवृत्ति ही तब प्रसुप्त तनु और विच्छिन्न होती है।

विषयमें जो वर्तमान वृत्ति है, वह उदार कहलाती है। ये सब क्लेश विषयत्वको नहीं छोड़ते। तब वे कौन-से क्लेश नहीं छोड़ते हैं ? उत्तर—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न, उदार चारों नहीं छोड़ते। यह सत्य ही है। तो पुनः इस विशेषरूप हुओंका विच्छिन्नादित्व क्या है ? जैसे प्रतिपक्षभावना करते हुए इनकी निवृत्ति होती है, वैसे ही अपने प्रकाशक संस्कार और विषयके द्वारा प्रकाशित होकर प्रकटता होती है। ये सब क्लेश अविद्याके भेद हैं, क्योंकि सबमें अविद्या ही प्रकाशित होती है। जब अविद्यासे वस्तुके स्वरूपको धारण किया जाता है, तब क्लेश चित्तमें सोये हुए अविद्या-वृत्तिकालमें उपलब्ध हो जाते हैं और

अविद्याके नाश होनेपर नाश हो जाते हैं ।

भोजवृत्तिका अर्थ सूत्र ४—क्लेशत्व धर्मका पाँचोंके ऊपर तुल्य होनेपर भी सबका कारण अविद्या है । अतः अविद्याकी प्रधानताका प्रतिपादन करते हैं—

अस्मिता, रागादि, जो प्रसुप्तादि भेदसे चार प्रकारके हैं, उन सबको उत्पन्न करनेवाली भूमि अविद्या है । मोहको अर्थात् अनात्मपदार्थ देहादिमें आत्माभिमानको अविद्या कहते हैं । जहाँ यह अविद्या शिथिल पड़ जाती है, वहाँ अस्मितादि क्लेशकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती (और अविद्याके होनेपर देखी जाती है), इससे यह सिद्ध हुआ कि सबका मूल अविद्या है । जो क्लेश चित्तरूपी भूमिमें रहते हुए भी प्रबोधक-उद्बोधक (उकसानेवाले) के न मिलनेपर अपने कामका आरम्भ नहीं करते, वे प्रसुप्त कहलाते हैं। जैसे बाल अवस्थामें बालकके चित्तमें संस्काररूपसे बैठे हुए भी क्लेश किसी सहकारी प्रबोधकके न मिलनेसे प्रकट नहीं होते । जो अपने-अपने प्रतिपक्षभावनासे कार्य करनेकी शक्तिको शिथिल करनेवाले केवल वासनायुक्त चित्तमें रहते हुए बिना अधिक सामग्रीके अपने काम आरम्भ करनेमें असमर्थ हैं, वे तनु अर्थात् सूक्ष्म कहलाते हैं, जैसे अभ्यास करनेवाले योगीके। जो किसी बलवान् क्लेशसे दबाव पाकर ठहरे रहते हैं, वे विच्छिन्न कहलाते हैं,—जैसे द्वेष होनेपर राग और राग होनेपर द्वेष; क्योंकि ये राग और द्वेष दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। कभी एक कालमें नहीं हो सकते । किसी सहकारीका मेल पाकर जो अपने-अपने कामको सिद्ध करते हैं, वे उदार कहलाते हैं, जैसे योग विरोधी पुरुषके सर्वदा ही व्युत्थान अवस्थामें हुआ करते हैं । अस्मिता आदि जो प्रत्येक चार प्रकारके हैं, इनका सम्बन्ध कारणीभूत अविद्याके साथ है । अविद्याके सम्बन्धसे शून्य क्लेशोंका स्वरूप कहीं भी उपलब्ध नहीं होता तो मिथ्याज्ञानरूप अविद्याकी निवृत्ति यथार्थ ज्ञानके होनेपर भूने हुए बीजके समान अस्मितादि अंकुरित नहीं होते । इससे इनका कारण भी अविद्या और इन सबमें अविद्याका सम्बन्ध भी निश्चित है । इसीसे यह सब अविद्या शब्दसे व्यवहृत होते हैं । सभी क्लेश चित्तको विक्षिप्त करनेवाले हैं, इससे इनके उच्छेदमें योगीको पहिले यत्न करना चाहिये ।

सङ्गति—अविद्याको सर्वक्लेशोंका मूलकारण बताकर अब उसका यथार्थ स्वरूप दिखलाते हैं—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—अनित्य-अशुचि-दुःख-अनात्मसु = अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्मा (जड) में (क्रमसे); नित्य-अशुचि-सुख-आत्मख्यातिः = नित्य, पवित्र, सुख और आत्मभाव अर्थात् चेतनताका ज्ञान; अविद्या = अविद्या है ।

अन्वयार्थ—अनित्यमें नित्य, अपवित्रमें पवित्र, दुःखमें सुख और अनात्मामें आत्माका ज्ञान अविद्या है।

व्याख्या—जिसमें जो धर्म नहीं है, उसमें उसका भान होना अविद्याका सामान्य लक्षण है । पशुके तुल्य अविद्याके भी चार पाद हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

(१) अनित्यमें नित्यका ज्ञान—यह सम्पूर्ण जगत् और उसकी सम्पत्ति अनित्य है, क्योंकि उत्पत्तिवाला और विनाशी है । इसको नित्य समझना ।

(२) अपवित्रमें पवित्रताका ज्ञान—शरीर कफ, रुधिर, मल-मूत्र आदिका स्थान अपवित्र है । इसको पवित्र मानना । अन्याय, चोरी, हिंसा आदिसे कमाया हुआ धन अपवित्र है, उसको पवित्र मानना । अधर्म, पाप, हिंसा आदिसे रँगा हुआ अन्तःकरण अपवित्र है, उसको पवित्र समझना ।

(३) दुःखमें सुखका ज्ञान—संसारके सब विषय दुःखरूप हैं (२ । १५), उनमें सुख समझना ।

(४) अनात्म (जड) में आत्मज्ञान—शरीर, इन्द्रिय और चित्त—ये सब अनात्म (जड) हैं, इनको ही आत्मा समझना। ये चार प्रकारके भेदवाली अविद्या है, यही बन्धनका मूल कारण है।

विशेष विचार सूत्र ५—अविद्याका उत्पत्ति-स्थान—तीनों गुणोंका प्रथम विषम परिणाम महत्तत्त्व है। जो सत्त्वमें रज क्रियामात्र और तम उस क्रियाको रोकने मात्र है। यह महत्तत्त्व सत्त्वकी विशुद्धतासे समष्टिरूपमें विशुद्ध सत्त्वमय चित्त कहलाता है, जिसमें समष्टि अहंकार बीजरूपसे रहता है, जो ईश्वरका चित्त है और सत्त्वकी इस विशुद्धताको छोड़कर व्यष्टिरूपमें सत्त्व चित्त कहलाता है, जो संख्यामें अनन्त हैं, जिनमें व्यष्टि अहंकार बीजरूपसे रहते हैं, जो जीवोंके चित्त कहलाते हैं। इन व्यष्टि चित्तोंमें जो लेश-मात्र तम है, उस तममें ही अविद्या वर्तमान है। उस अविद्यासे अस्मिता क्लेश उत्पन्न होता है अर्थात् चेतन तत्त्वसे प्रतिबिम्बित अथवा प्रकाशित व्यष्टि सत्त्वचित्त व्यष्टि अस्मिता कहलाते हैं। त्रिगुणात्मक जड चित्त और गुणातीत चेतन पुरुष जिसके ज्ञानका प्रकाश चित्तमें पड़ रहा है, दोनों भिन्न-भिन्न हैं। उपर्युक्त अविद्याके कारण इन दोनोंमें अभिन्नताकी प्रतीति होना अस्मिता क्लेश है। उस अस्मिता क्लेशसे राग-द्वेष आदि क्लेश उत्पन्न होते हैं, जैसा कि आगे बतलाया जायगा। अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधिमें अस्मिताका साक्षात्कार होता है। विवेकख्यातिमें सत्त्वकी विशुद्धतामें जड चित्त और चेतन पुरुषमें भेदज्ञान उत्पन्न होनेसे अस्मिता क्लेश निवृत्त हो जाता है और अविद्या अन्य सब क्लेशोंके सहित दग्धबीजतुल्य हो जाती है। अब वही लेशमात्र तमस्, जिसमें अविद्या वर्तमान थी, विवेकख्यातिरूप सात्त्विक वृत्तिको स्थिर रखनेमें सहायक हो जाता है।

समाधिपाद सूत्र ८ में विपर्यय (अविद्या) वृत्तिरूपसे और यहाँ अविद्या आदि क्लेश संस्काररूपसे बतलाये गये हैं।

सङ्गति—इस अविद्याके कारण सबसे प्रथम जब चित्त और आत्मामें विवेक जाता रहता है, तब जड चित्तमें आत्माका भाव आरोप हो जानेसे उसमें और आत्मामें अभिन्नता प्रकट होने लगती है; इससे अस्मिता क्लेश उत्पन्न होता है, जिसका लक्षण अगले सूत्रमें बतलाया गया है—

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—दृग्-दर्शन-शक्त्योः = दृक्शक्ति और दर्शनशक्तिका; एकात्मता-इव = एक रूप-जैसा (भान) होना; अस्मिता = अस्मिता (क्लेश है)।

अन्वयार्थ—दृक्शक्ति और दर्शनशक्तिका एक स्वरूप-जैसा भान होना अस्मिता (क्लेश) है।

व्याख्या—पुरुष द्रष्टा है, चित्त दिखानेवाला उसका एक करण है। पुरुष चैतन्य है, चित्त जड है। पुरुष क्रियारहित है, चित्त प्रसवधर्मी अर्थात् क्रियावाला है। पुरुष केवल है, चित्त त्रिगुणमय है। पुरुष अपरिणामी है, चित्त परिणामशील है। पुरुष स्वामी और चित्त उसकी 'स्व'—मिलकियत है। इस प्रकार ये दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। पर अविद्याके कारण दोनोंमें भेदकी प्रतीति जाती रहती है। जैसा कि पञ्चशिखाचार्यने कहा है—

बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्यात् तत्रात्मबुद्धिं मोहेन ॥

(पुरुष) बुद्धिसे परे पुरुषको स्वरूपशील और अविद्या आदि क्लेशसे अलग न देखता हुआ मोह (अविद्या) से बुद्धि (चित्त) में आत्मबुद्धि कर लेता है।

इस प्रकार पुरुष और चित्तमें अविद्याके कारण एक-जैसा भान होना अस्मिता क्लेश है। इसीको हृदय-ग्रन्थि भी कहते हैं। यही असङ्गपुरुष और चित्तका परस्पर अध्यारोप है। इस अध्यारोपसे आत्मामें बन्धनका आरोप होता है।

मुण्डक उपनिषद्में इस ग्रन्थिके भेदनका उपाय विवेकख्याति बतलाया है। यथा—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ (२।२।८)

उस पर और अवर अर्थात् चेतनरूप पुरुष और जडरूप चित्तके भेदका विवेकपूर्ण साक्षात् हो जानेसे हृदय-ग्रन्थिका भेदन हो जाता है। सारे संशय निवृत्त हो जाते हैं और सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं।

वि० व०—पुरुषसे प्रतिबिम्बित अथवा प्रकाशित चित्तकी संज्ञा अस्मिता है और पुरुष एवं चित्तमें अभिन्नताकी प्रतीति अस्मिताक्लेश है। पुरुष और चित्तमें भेद-ज्ञान विवेकख्याति है।

सङ्गति—इस अस्मिता क्लेशके कारण मन, इन्द्रियों और शरीरमें आत्मभाव अर्थात् ममत्व और अहमत्व पैदा हो जाता है और उनके सुख पहुँचानेवाले विषयोंमें और वस्तुओंमें राग उत्पन्न हो जाता है, जिसका लक्षण अगले सूत्रमें कहते हैं—

सुखानुशयी रागः॥ ७॥

शब्दार्थ—सुख-अनुशयी = सुख भोगनेके पीछे जो चित्तमें उसके भोगकी इच्छा रहती है; रागः = उसका नाम राग है।

अन्वयार्थ—सुख-भोगके पीछे जो चित्तमें उसके भोगकी इच्छा रहती है, वह राग है।

व्याख्या—शरीर, इन्द्रियों और मनमें आत्माध्यास हो जानेपर जिन वस्तुओं और विषयोंसे सुख प्रतीत होता है, उनमें और उनके प्राप्त करनेके साधनोंमें जो इच्छा-रूप तृष्णा और लोभ पैदा हो जाता है, उसके जो संस्कार चित्तमें पड़ जाते हैं, उसीका नाम राग-क्लेश है।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ (गीता ३।३४)

इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् सभी इन्द्रियोंके भोगोंमें स्थित जो राग और द्वेष हैं, उन दोनोंके वशमें नहीं होवे; क्योंकि वे दोनों ही कल्याणमार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं।

सङ्गति—यह राग ही द्वेषका कारण है, क्योंकि चित्तमें रागके संस्कार जम जानेपर जिन वस्तुओंसे शरीर, इन्द्रियों और मनको दुःख प्रतीत हो अथवा जिनसे सुखके साधनोंमें विघ्न पड़े, उनसे द्वेष होने लगता है। अब द्वेषका लक्षण कहते हैं—

दुःखानुशयी द्वेषः॥ ८॥

शब्दार्थ—दुःख-अनुशयी = दुःखके अनुभवके पीछे जो घृणाकी वासना चित्तमें रहती है उसको; द्वेषः = द्वेष कहते हैं।

अन्वयार्थ—दुःखके अनुभवके पीछे जो घृणाकी वासना चित्तमें रहती है, उसको द्वेष कहते हैं।

व्याख्या—जिन वस्तुओं अथवा जिन साधनोंसे दुःख प्रतीत हो, उनसे जो घृणा और क्रोध हो, उसके जो संस्कार चित्तमें पड़े, उसको द्वेष-क्लेश कहते हैं।

सङ्गति—द्वेष-क्लेश ही अर्थात् शरीर, इन्द्रियों आदिको दुःखोंसे बचानेके संस्कार ही अभिनिवेशके कारण हैं, जैसा अगले सूत्रसे स्पष्ट है—

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—स्वरसवाही = स्वभावसे बहनेवाला (जो कुदरती तौरपर बह रहा है); विदुषः-अपि = विद्वान्‌के लिये भी; तथारूढः = ऐसा ही प्रसिद्ध है (जैसा कि मूर्खोंके लिये वह), अभिनि-वेशः = अभिनिवेश क्लेश है।

अन्वयार्थ—(जो मरनेका भय हर एक प्राणीमें) स्वभावतः बह रहा है और विद्वानोंके लिये भी ऐसा ही प्रसिद्ध है (जैसा कि मूर्खोंके लिये), वह अभिनिवेश क्लेश है।

व्याख्या—स्वरसवाही—स्वरस नाम वासनाद्वारा; वाही नाम प्रवृत्त है अर्थात् मरणभयके संस्कार जो जन्म-जन्मान्तरोंसे प्राणीमात्रके चित्तमें स्वभावसे ही चले आ रहे हैं।

विदुषः—यह शब्द यहाँ केवल शब्दोंके जाननेवाले विद्वान्‌के लिये प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् वह पुरुष जिसने कोरे शास्त्रोंको पढ़ा है और क्रियात्मकरूपसे योगद्वारा अनुभव तथा यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं किया है। अभिनिवेशके अर्थ हैं 'मा न भूयं भूयासमिति' = ऐसा न हो कि मैं न होऊँ, किंतु मैं बना रहूँ। 'शरीरविषयादिभिः मम वियोगो मा भूदिति' = शरीर और विषयादि (रूप-रसादि) से मेरा वियोग न हो। आत्मा अजर-अमर है, जैसा गीता अध्याय २ में बतलाया है—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा (मरनेवाला) समझता है, वे दोनों ही (तत्त्वको) नहीं जानते हैं। यह आत्मा न मारता है, न मारा जाता है।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

यह आत्मा किसी कालमें भी न जन्मता है, न मरता है, अथवा न यह होकर फिर न होनेवाला है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीरके नाश होनेपर भी इसका नाश नहीं होता है।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

हे अर्जुन! जो पुरुष इस आत्माको नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही आत्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर नये शरीरोंको धारण करता है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

इस आत्माको शस्त्रादि नहीं काट सकते, इसको आग नहीं जला सकती, इसको जल नहीं गला सकता और वायु नहीं सुखा सकता है।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

यह आत्मा शस्त्रोंसे छेदन नहीं किया जा सकता, यह आत्मा जलाया नहीं जा सकता, गलाया नहीं जा सकता और सुखाया नहीं जा सकता है तथा यह आत्मा निस्संदेह नित्य, सर्वव्यापक, अचल, कूटस्थ और सनातन है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

यह आत्मा अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियोंका अविषय और यह आत्मा अचिन्त्य अर्थात् मनका अविषय और यह आत्मा अविकारी कहा जाता है। इससे इस आत्माको ऐसा जानकर तुझे शोक करना उचित नहीं है।

फिर भी राग-द्वेषके कारण शरीरमें आत्माध्यास हो जाता है और मूर्खसे लेकर विद्वान्तक अपने वास्तविक आत्मस्वरूपको भूलकर भौतिक शरीरकी रक्षामें लगे रहते हैं और उसके नाशसे घबराते हैं। इस मृत्युके भयके जो संस्कार चित्तमें पड़ जाते हैं, इन्हींको अभिनिवेश क्लेश कहते हैं। यह अभिनिवेश क्लेश ही सकाम कर्मोंका कारण है, जिनकी वासनाएँ चित्तभूमिमें बैठकर वर्तमान और अगले जन्मों (आवागमन) को देनेवाली होती हैं; जो सूत्र बारहमें बतलाया जायगा।

सङ्गति—सब क्लेशोंके बीजरूप होनेसे जो पाँचों क्लेश त्यागने योग्य हैं, उन पाँचों क्लेशों और उन क्लेशोंकी प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार-रूप चार अवस्थाओंका पूर्व सूत्रोंमें निरूपण किया गया है। परंतु प्रसंख्यान-रूप (विवेक-ख्यातिरूप) अग्निद्वारा दग्ध-बीज-भावको प्राप्त हुए क्लेशोंकी पाँचवीं अवस्थाका क्यों नहीं वर्णन किया गया? इस शङ्काके निवारणार्थ अगला सूत्र है—

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

शब्दार्थ—ते = वे (पूर्वोक्त पाँच क्लेश); प्रतिप्रसवहेयाः = (असम्प्रज्ञात-समाधिद्वारा) चित्तके अपने कारणमें लीन होनेसे त्यागने अर्थात् निवृत्ति करने योग्य हैं; सूक्ष्माः = क्रिया-योगसे सूक्ष्म और प्रसंख्यान (विवेकख्यातिरूप) अग्निसे दग्ध-बीज हुए।

अन्वयार्थ—वे पूर्वोक्त पाँच क्लेश, जो क्रिया-योगसे सूक्ष्म और प्रसंख्यान अग्निसे दग्धबीजरूप हो गये हैं, असम्प्रज्ञात-समाधिद्वारा चित्तके अपने कारणमें लीन होनेसे निवृत्त करने योग्य हैं।

व्याख्या—ते पञ्चक्लेशा दग्धबीजकल्पा योगिनश्चरिताधिकारे चेतसि प्रलीने सह तेनैवास्तं गच्छन्ति। (व्यासभाष्य)

वे पाँच क्लेश, जो दग्धबीजके सदृश हैं, योगीके चरिताधिकार चित्तके अपने कारणमें लीन होते समय उसी चित्तके साथ लीन हो जाते हैं।

क्रिया-योग (अथवा सम्प्रज्ञात-समाधि) से सूक्ष्म किये हुए क्लेश जब प्रसंख्यान (विवेक-ख्याति) रूप अग्निसे दग्ध-बीजके समान हो जाते हैं, तब असम्प्रज्ञात-समाधिद्वारा समाप्त अधिकार-

वाले चित्तके अपनी प्रकृतिमें लीन होनेसे वे क्लेश भी उसके साथ लीन होकर निवृत्त हो जाते हैं। प्रतिप्रसवके अतिरिक्त उन क्लेशोंके निरोधके लिये अन्य किसी यत्नकी आवश्यकता नहीं है।

अर्थात् पुरुषके प्रयत्नका जो विषय होता है, वही उपदेश करनेमें आता है। जो सूक्ष्म क्लेश प्रसंख्यान-रूप अग्निमें दग्ध बीज-भावको प्राप्त हो गये हैं, उन पाँचवीं अवस्थावाले क्लेशोंकी निवृत्ति प्रयत्न-का विषय नहीं है। जबतक चित्त विद्यमान रहता है, तबतक इन दग्ध-बीज-रूप क्लेशोंकी निवृत्ति किसी भी प्रयत्नसे नहीं हो सकती, किंतु जब पर-वैराग्यकी दृढ़तासे असम्प्रज्ञात-समाधिमें निरधिकार प्राप्त हुए चित्तका प्रलय होता है, तब चित्तके साथ-साथ ही वे दग्ध-बीज-भावको प्राप्त हुए क्लेश भी प्रलीन हो जाते हैं और कैवल्य अवस्थामें चित्तके अपने स्वरूपसे नाश हो जानेके साथ इनका भी नाश हो जाता है, क्योंकि धर्मीके नाश बिना संस्कार-रूप सूक्ष्म धर्मोंका नाश नहीं होता। धर्मीके नाशमें ही संस्काररूप सूक्ष्म धर्मोंका नाश होता है। इसलिये वे दग्ध-बीज-रूप पाँचवीं अवस्थावाले क्लेश प्रतिप्रसव-हेय अर्थात् चित्तके प्रलय होनेसे (अपने कारणमें लीन होनेसे) त्यागने योग्य हैं।

चित्तके प्रलय अर्थात् अपने कारणमें लीन होनेका नाम 'प्रतिप्रसव' और त्यागने योग्यका नाम 'हेय' है। ('प्रसव'का अर्थ उत्पत्ति है, उससे विरुद्ध 'प्रतिप्रसव'के अर्थ प्रलय अर्थात् अपने कारणमें लीन होनेके हैं)

शङ्का—तनूकरण, दग्धबीज-भाव और प्रतिप्रसव अर्थात् प्रलय यह क्रम है। अतः दग्ध-बीज-भावके प्रतिपादक 'ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥' इस सूत्रको पहिले रखना उचित था।

समाधान—नहीं, मुख्य फल होनेसे प्रतिप्रसव अर्थात् प्रलयका ही पहिले उसमें निर्वचन किया है, उसमें द्वारकी साकाङ्क्षा होनेपर दग्ध-बीजभावको पीछे कहना उचित है।

सङ्गति—क्रिया-योग (अथवा सम्प्रज्ञात-समाधि) से तनु किये हुए अङ्कुर उत्पन्न करनेकी शक्तिरूप बीजभावके सहित जो तनु क्लेश हैं, वे तनुरूप क्लेश किस विषयक प्रयत्नसे दूर होते हैं? इसको अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—ध्यानहेयाः = (प्रसंख्यान-संज्ञक) ध्यानसे त्यागने योग्य हैं; तद्वृत्तयः = (क्लेशोंकी स्थूल वृत्तियाँ) जो क्रिया-योगद्वारा तनु कर दी गयी हैं।

अन्वयार्थ—क्लेशोंकी स्थूल वृत्तियाँ, जो क्रिया-योगसे तनु कर दी गयी हैं, प्रसंख्यान) विवेक-ख्याति) संज्ञक ध्यानसे त्यागने योग्य हैं। (जबतक कि वे सूक्ष्म होकर दग्ध-बीजके सदृश न हो जायँ।)

व्याख्या—अङ्कुर उत्पन्न करनेकी शक्तिरूप बीजभावके सहित जो चित्तमें क्लेश स्थित हैं, वे क्रिया-योग (अथवा सम्प्रज्ञात-समाधि) से तनु करते हुए प्रसंख्यान (विवेक-ख्याति) रूप ध्यानसे त्यागने योग्य हैं, जबतक कि वे सूक्ष्म होते-होते दग्धबीजके सदृश न हो जायँ।

भाव यह है कि प्रसंख्यानविषयक प्रयत्नसे उदय हुई जो प्रसंख्यान (विवेक-ख्याति) रूप अग्नि है, उस अग्निमें क्रिया-योगद्वारा तनु किये हुए क्लेश-रूप बीज दग्ध होते हैं। इसलिये जबतक क्रिया-योगसे तनु किये हुए क्लेश दग्ध-बीजके सदृश न हो जायँ, तबतक प्रसंख्यानविषयक प्रयत्न करते रहना चाहिये।

जैसे वस्त्रका स्थूल मल प्रक्षालन आदिसे सुगमतासे दूर किया जा सकता है, परंतु सूक्ष्म-मल विशेष

यत्नसे दूर करना होता है, ऐसे ही क्लेशोंकी स्थूल वृत्तियाँ कम दुःख देनेवाली हैं (छोटे शत्रु हैं); किंतु क्लेशोंकी सूक्ष्म वृत्तियाँ अधिक दुःखदायी हैं (महान् शत्रु हैं ।) अर्थात् उदार क्लेशोंकी वृत्तियाँ स्थूल-रूपसे ही वर्तमान रहती हैं, उनको क्रिया-योग (अथवा सम्प्रज्ञात समाधि) द्वारा तनु करना चाहिये (२ । २)। ये तनु किये हुए क्लेशोंकी सूक्ष्म-वृत्तियाँ स्थूल-वृत्तियोंसे अधिक दुःख देनेवाली और महान् शत्रु हैं । इसलिये इनकी निवृत्ति करनेके लिये विशेष प्रयत्नकी आवश्यकता है । इन तनु किये हुए क्लेशोंकी सूक्ष्म-वृत्तियोंको प्रसंख्यानध्यानकी अग्निसे दग्धबीजके सदृश कर देना चाहिये; फिर ये दग्धबीज होकर असम्प्रज्ञात-समाधिमें चित्तके प्रलय होनेपर उसके साथ स्वयं ही प्रलीन हो जाती हैं, जैसा कि पूर्व सूत्रमें बतलाया गया है ।

सङ्गति—क्लेश ही सकाम कर्मोंके कारण हैं, जिनकी वासनाएँ मनुष्यको संसारचक्रमें डालती हैं—

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—क्लेशमूलः = क्लेश जिसकी जड़ है ऐसी; कर्माशयः = कर्मकी वासना; दृष्टादृष्टजन्म-वेदनीयः = वर्तमान और आनेवाले जन्मोंमें भोगने योग्य है !

अन्वयार्थ—क्लेश जिसकी जड़ है ऐसी कर्मोंकी वासना वर्त्तमान और अगले जन्मोंमें भोगने योग्य है।

व्याख्या—सूत्रमें 'कर्माशयः' शब्दसे कर्माशयका स्वरूप, 'क्लेशमूलः' से उसका कारण और 'दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः'से उसका फल बतलाया गया है। जिन महान् योगियोंने क्लेशोंको निर्बीज समाधिद्वारा उखाड़ दिया है, उनके कर्म निष्काम अर्थात् वासनारहित केवल कर्तव्य-मात्र रहते हैं, इसलिये उनको इनका फल भोग्य नहीं है । जब चित्तमें क्लेशोंके संस्कार जमे होते हैं, तब उनसे सकाम कर्म उत्पन्न होते हैं । बिना रजोगुणके कोई क्रिया नहीं हो सकती । इस रजोगुणका जब सत्त्वगुणके साथ मेल होता है, तब ज्ञान, धर्म, वैराग्य और ऐश्वर्यके कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है और जब तमोगुणके साथ मेल होता है, तब उसके उल्टे—अज्ञान, अधर्म, अवैराग्य और अनैश्वर्यके कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है । यही दोनों प्रकारके कर्म शुभ-अशुभ, शुक्ल-कृष्ण और पाप-पुण्य कहलाते हैं । जब तम तथा सत्त्व दोनों रजोगुणसे मिले हुए होते हैं, तब दोनों प्रकारके कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है और ये कर्म पुण्य-पापसे मिश्रित कहलाते हैं । इन कर्मोंसे इन्हींके अनुकूल फल भोगनेके बीज-रूप जो संस्कार चित्तमें पड़ते हैं, उन्हींको वासना कहते हैं । यही मीमांसकोंका अपूर्व और नैयायिकोंका अदृष्ट है, इसीको सूत्रमें कर्माशयके नामसे बतलाया गया है ।

पुण्य कर्माशय मनुष्योंसे ऊँचे देवताओं आदिके सदृश भोग देनेवाले होते हैं । पाप कर्माशय मनुष्यसे नीचे पशु-पक्षी आदिके तुल्य भोग देनेवाले होते हैं । पाप और पुण्यमिश्रित कर्माशय मनुष्योंके समान भोग-फल देनेवाले होते हैं । ऊपर तीन श्रेणियोंमें बतलाये हुए कर्मोंमें केवल शरीर अथवा इन्द्रियाँ कारण नहीं होतीं, वास्तविक कारण उनमें मनोवृत्ति होती है । इस हेतु वह मनोवृत्ति ही वास्तविक कर्म है, जिसकी प्रेरणासे शरीर तथा इन्द्रियोंमें क्रिया होती है । उसीसे वासनाओंके संस्कार पड़ते हैं । ये मनोवृत्तियाँ अनन्त हैं और इनसे उत्पन्न हुए कर्माशय अथवा फल-भोगके संस्कार भी अनन्त हैं । इस प्रकार मनोवृत्तिरूप कर्मोंसे वासनाएँ और वासनाओंसे कर्म उत्पन्न होते रहते हैं । यह क्रम बराबर चलता रहता है जबतक कि उनके प्रतिपक्षी या उनसे बलवान् कर्म उनको दबा न दें । कुछ कर्माशय वर्तमान जन्ममें, कुछ अगले जन्ममें और कुछ दोनों जन्मोंमें फल देते हैं । इसको विस्तारपूर्वक अगले सूत्रमें बतलाया जायगा।

सङ्गति—इन कर्माशयोंके अनुसार ही इनका फल, जाति, आयु और भोग होता है; यह बतलाते हैं—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ— सति मूले=अविद्या आदि क्लेशोंकी जड़के होते हुए; तद्विपाकः=उसका (कर्माशय-का) फल; जाति-आयुः-भोगाः = जाति, आयु और भोग होते हैं।

अन्वयार्थ—अविद्या आदि क्लेशोंकी जड़के होते हुए उस (कर्माशय) का फल जाति, आयु और भोग होता है।

व्याख्या—मनुष्य, पशु, देव आदि 'जाति' कहलाती हैं। बहुत कालतक जीवात्माका एक शरीरके साथ सम्बन्ध रहना 'आयु' पदका अर्थ है। इन्द्रियोंके विषय रूप-रसादि 'भोग' शब्दार्थ हैं। यहाँ सूत्र बारह एवं तेरहमें क्लेशों, कर्माशयों, जाति, आयु और भोगको अलंकार-रूपसे वर्णन किया है। क्लेश जड़ है, उन जड़ोंसे कर्माशयका वृक्ष बढ़ता है। उस वृक्षमें जाति, आयु, और भोग तीन प्रकारके फल लगते हैं। कर्माशयका वृक्ष उसी समयतक फलता है जबतक अविद्या आदि क्लेश-रूपी उसकी जड़ विद्यमान रहती है। प्रसंख्यान (विवेकख्याति) द्वारा इस जड़के कट जानेपर कर्माशय-रूपी वृक्ष, जाति, आयु और भोगरूपी उसके फल तथा सुख-दुःख-रूपी उन फलोंके स्वादकी निवृत्ति स्वयं ही हो जाती है। कर्माशयकी उत्पत्ति तथा फलमें भी अविद्या आदि क्लेश ही मूल हैं। पिछले सूत्रमें बतला आये हैं कि मनकी वृत्ति-रूपी कर्म अनन्त हैं, जो समस्त जीवनमें होते रहते हैं। इनसे उत्पन्न हुए संस्कार भी अनन्त हैं; जिनसे चित्त चित्रित रहता है। ये संस्कार चित्तमें जन्म-जन्मान्तरोंसे संचित चले आ रहे हैं। जब जिन कर्माशयोंके संस्कार चित्तमें प्रबलरूपसे उत्पन्न होते हैं, तब उन्हें प्रधान कहते हैं। जो शिथिलरूपसे रहते हैं, उन्हें उपसर्जन कहते हैं। मृत्युके समय प्रधान कर्माशय पूरे वेगसे जाग उठते हैं और अपने-जैसे पूर्व सब जन्मोंके कर्माशयके संचित संस्कारोंके अभि-व्यञ्जक होकर उनको जगा देते हैं (४। ९)। इन सब प्रधान संस्कारोंके अनुसार ही अगला जन्म, ऐसी जाति, देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी आदिमें होता है, जिनमें उन कर्माशयोंका फल भोगा जा सके; और उतनी आयु देनेवाले होते हैं, जिसमें निश्चित भोग समाप्त हो सकें। उन्हीं कर्माशयोंके अनुकूल उनका भोग नियत होता है। इस प्रधान कर्माशयसे जो अगला जन्म, आयु तथा भोग नियत हो गया है, उसको 'नियत-विपाक' कहते हैं, जो सूत्र बारहमें 'दृष्टजन्मवेदनीय' से बतलाया गया है।

उपसर्जन कर्माशय जो अगले जन्मोंमें भोग्य है, पर अभी उनका फल नियत नहीं हुआ है, उन्हें 'अनियत-विपाक' कहते हैं। इन्हींको सूत्र बारहमें 'अदृष्टजन्मवेदनीय' कहा है। इन उपसर्जन कर्माशयोंकी, जो दबे पड़े हुए हैं, जिनका फल अभी निश्चित नहीं हुआ है अर्थात् जो अनियत-विपाकवाले हैं, तीन प्रकारकी गति होती है—

(१) या तो वे बिना पके ही नियत-विपाकको किञ्चित् न्यून (दुर्बल) करके स्वयं नष्ट हो जाते हैं। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वे बिना फल दिये ही नष्ट हो गये; किंतु नियत-विपाकको कम (दुर्बल) करनेमें अपना फल दे चुके और नियतविपाक उनके नष्ट करनेमें उस अंशतक अपना फल दे चुका।

(२) या वे नियत-विपाकके साथ हो जाते हैं और समय-समयपर अवसर पाकर अपना फल देते रहते हैं।

(३) या वे चित्तभूमिमें वैसे ही दबे पड़े रहते हैं जबतक कि किसी जन्ममें उनके फल देनेका अवसर नहीं मिल जाता। जब कभी उनके जगानेवाले कर्माशय प्रधान होते हैं तो वे उस अभिव्यञ्जकको पाकर अपना फल देनेके लिये जाग उठते हैं।

विशेष वक्तव्य—सूत्र १३—यहाँ यह भी बतला देना आवश्यक है कि अवस्था भेदसे कर्मोंको तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण।

जो कर्म अनन्त जन्मोंमें किये गये हैं और अभीतक उनके भोग भोगनेकी बारी नहीं आयी है, किंतु केवल संस्काररूपेण कर्माशयमें हैं, उन्हें संचित कर्म कहते हैं।

कर्माशयमें भरे हुए अनन्त कर्मोंमेंसे जिन थोड़ेसे कर्मोंने शरीररूपी फलकी उत्पत्ति कर दी है अर्थात् जिनका फल इस जन्ममें हो रहा है, उनको प्रारब्ध कर्म कहते हैं।

जिन नवीन कर्मोंको संग्रह किया जाता है अर्थात् नवीन इच्छासे जो नवीन कर्म नवीन संस्कार उत्पन्न करते जाते हैं, वे क्रियमाण कहलाते हैं।

सूत्रकी व्याख्यामें संचितकर्मोंके संस्कारोंको उपसर्जन कर्माशय अनियत-विपाक अदृष्टजन्मवेदनीय कहा गया है और प्रारब्धकर्मोंके संस्कारोंको प्रधान कर्माशय नियतविपाक दृष्टजन्मवेदनीय बतलाया गया है। क्रियमाण कर्मोंके संस्कारोंका वर्णन इसलिये नहीं किया गया कि कुछ तो इनमेंसे प्रारब्ध कर्मोंके प्रधान कर्माशयके साथ मिलकर अपना फल देना आरम्भ कर देते हैं और कुछ संचितकर्मोंके उपसर्जन कर्माशयके साथ मिल जाते हैं।

शङ्का—संसारकी उत्पत्ति पुरुषको आत्मस्थिति करानेके लिये होती है, पशुओं आदि नीच योनियों-से मनुष्ययोनिमें आना और मनुष्यसे मनुष्य अथवा देवयोनियोंमें जाना तो सम्भव है, परंतु मनुष्यसे नीच पशु आदि योनियोंमें जाना विकासवाद (Evolution theory) के विरुद्ध है और इसके माननेमें ईश्वरके सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता, दया, न्याय और कल्याणकारिता आदि गुणोंमें भी दोष आता है।

समाधान—सामान्यतः तो मनुष्योंका जन्म मनुष्योंमें ही अथवा उससे ऊँची योनियोंमें ही होता है, पशु-पक्षी आदि नीच योनियोंमें विशेष अवस्थामें उनको अपने कल्याणार्थ ही जाना होता है।

ऊपर व्याख्यामें बतलाया गया है कि मनोवृत्तियाँ अनन्त हैं। ये मनोवृत्तियाँ जब हिंसा, विषय-भोग, मक्कारी, झूठ, अपवित्रता, देश तथा धर्मद्रोह आदि दोषोंसे मिलकर होती हैं, तब वे मनुष्यत्वसे नीची हैं। ये वृत्तियाँ नाना प्रकारके दोषों—काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदिके न्यूनाधिक्य और तीनों गुणोंके परिणामके भेदसे इतने प्रकारकी हैं, जितने प्रकारके पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, जलचर आदि। पशु आदिकोंकी स्वाभाविक वृत्तियों और मनुष्यकी इस प्रकारकी मनोवृत्तियोंमें कुछ अन्तर नहीं रहता। जिस अवस्थामें मनुष्यमें इस प्रकारकी मनोवृत्तियाँ उदय होती हैं तो (मानो) वह सूक्ष्म-शरीरसे उन्हीं योनियोंमें होता है, यद्यपि स्थूल-शरीर मनुष्य-जैसा रहता है। उदाहरणार्थ हिंसक-योनिमें जाना बतलाते हैं, उसीसे अन्य प्रकारकी योनिमें जाना समझ लेना चाहिये।

हिंसा और मांस-भक्षण आदि क्रूरताका स्वभाव मनुष्यत्वके विपरीत धर्म है। हिंसकोंके संसर्गसे जब किसीमें यह दोष उत्पन्न हो जाय और किसी कारणसे दूर या कम न हो, बल्कि इसमें प्रवृत्ति बराबर बढ़ती जाय तो उसका स्वभाव क्रूर और हिंसक हो जायगा; क्योंकि कर्मोंसे संस्कार और संस्कारोंसे कर्म

बनते रहते हैं। यदि यह क्रम बिना किसी रुकावटके चलता रहे तो एक सीमापर पहुँचकर उसका सूक्ष्म-शरीर उसकी अन्य मनोवृत्तियोंकी विशेषताओंको सम्मिलित करके उस हिंसक पशुविशेष-जैसा हो जाता है, जिसमें इस प्रकारकी हिंसाके अन्तर्गत सर्वगुण होते हैं। ऐसे क्रूर और हिंसक मनुष्यके मुखपर क्रूरता और खूँखारी टपकने लगती है। इससे यह प्रतीत होने लगता है कि उसका स्थूल-शरीर सूक्ष्म-शरीरके आकारमें परिणत होना आरम्भ हो गया है। स्वभावतः जहाँ कहीं भी वह मनुष्य जायगा शिकार हिंसा, मांस-भक्षण आदिके साधन और सामग्रीको चाहेगा। जब शरीरको छोड़नेका समय आयगा तो यही हिंसासे सम्बन्ध रखनेवाले कर्माशय प्रधान रूपसे जागेंगे और उसकी सारी मनोवृत्तियोंके अनुसार वैसी ही किसी हिंसक योनिमें उसका अगला जन्म होगा और वैसी ही आयु तथा भोग होगा। जैसी कि कहावत है 'अन्त समय जो मति सो गति' तथा गीता और उपनिषद्में भी ऐसा ही बतलाया गया है। यथा—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८।६)

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागता है उस-उस भावको ही प्राप्त होता है, सदा उस ही भावको चिन्तन करता हुआ।

कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः॥

(मुण्डक० ३।२।२)

जो इच्छाओंको मनमें रखता हुआ उनकी पूर्ति चाहता है, वह मनुष्य उन वासनाओंके अनुसार उत्पन्न होता है; परंतु जिसने आत्माका साक्षात् कर लिया है उस पूर्ण हुई इच्छावाले मनुष्यकी समस्त कामनाएँ इस शरीरमें ही विलीन हो जाती हैं। जहाँ किसी हिंसक-योनिमें ऐसा गर्भ तैयार, होगा जिसमें इसकी सारी वासनाओंकी पूर्तिके सब साधन हों, वहीं यह अपना स्थान बना लेगा; क्योंकि प्राकृतिक नियम यही है कि स्वभाव अपने-जैसे स्वभावकी ओर खिंचता है। चुम्बक-पत्थर जिस प्रकार लोहेको अपनी ओर आकर्षित करता है, उसी प्रकार ऐसे गर्भ अपने स्वभाववाले सूक्ष्म-शरीरोंको अपनी ओर खींचते हैं। यह ईश्वरके पूर्ण ज्ञान, नियम और व्यवस्थामें प्रमाण है कि हरेक प्राणीके लिये शरीर छोड़नेसे पूर्व उसके अनुसार गर्भ तैयार रहता है। अब इसमें ईश्वरकी दया, सर्वशक्तिमत्ता तथा कल्याणकारी स्वभाव और विकासवादको देखिये।

(१) ईश्वरीय नियमोंसे तो सदैव ऐसे बुरे कर्मोंसे बचनेकी प्रेरणा होती रहती है, मांस, रुधिर आदिको देखकर मनुष्यको स्वाभाविक ग्लानि होती है, दूसरोंकी पीड़ा देखकर दिल काँपता तथा पीड़ित होता है, किन्तु हिंसारूपी मलका आवरण हृदयपर आ जानेसे ईश्वरकी यह आवाज सुनायी नहीं देती।

(२) मनुष्य कर्म तथा भोग दोनों प्रकारकी योनि है, इसमें संस्कार बनते भी हैं और धुलते भी हैं। दूसरी जो भोग-योनियाँ हैं, उनमें संस्कार बनते नहीं बल्कि उनकी निवृत्ति होती है। यदि वह हिंसक फिर मनुष्य-योनिमें ही आये तो पिछले कर्माशयसे दबा हुआ हिंसाके कार्य करता रहेगा और उनसे उसी प्रकारके संस्कार बनते रहेंगे। यह क्रम सदाके लिये जारी रहेगा और वह अपने वास्तविक कल्याणसे वञ्चित रहेगा।। यदि किसीको अपनी रक्षाके लिये कोई शस्त्र दिया जाय और वह नशेकी अवस्थामें उससे अपने ही शरीरको घायल करने लगे तो उसका हित इसीमें होगा कि नशा रहनेतक

उससे वह शस्त्र छीन लिया जाय। ईश्वरीय नियमसे मनुष्य-शरीर इसलिये दिया गया है कि आत्मोन्नति करे और परमात्मातक पहुँचे। यथा—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

(कठ० उप० १। ३। ३-४)

आत्माको रथका स्वामी जानो, शरीरको रथ तथा बुद्धिको सारथि और मनको लगाम समझो। इन्द्रियोंको घोड़े कहते हैं और उनके चलनेके मार्ग विषय हैं। इन्द्रिय-मनसे युक्त आत्माको बुद्धिमान् भोक्ता कहते हैं। इस कारण ईश्वरकी दयासे इन नशेके दूर होनेतक अथवा इस मलको दूर करनेके लिये नीची योनियोंमें जाना होता है, इस योनिमें आगेके लिये संस्कार नहीं बनते बल्कि पिछले हिंसा आदिके संस्कार धुल जाते हैं और वह फिर मनुष्य-योनिमें पवित्र होकर आत्मोन्नतिके लिये आता है। ये योनियाँ तो अन्तःकरणके मल धोनेके स्थान हैं।

जिस प्रकार अनजान बालक अपने शरीरको विष्ठामें सान लेता है तो माता नालीके पास ले जाकर पानीसे धोती है, इसी प्रकार कल्याणकारिणी प्रकृति माता अपने पुत्रोंके इन मलोंको इन योनियोंमें अपने हितकारी नियमोंके जलोंसे धोती है।

(३) इसमें ईश्वरकी दया है न कि क्रूरता; क्योंकि प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छाकी पूर्तिमें ही सुख समझता है; और इस प्रकार ईश्वरके पूर्ण ज्ञानवाले नियम उनकी इच्छाओंके अनुसार योनियोंमें भेजकर उनकी इच्छा-पूर्ति करते हैं।

(४) इसी तरह ईश्वरकी कल्याणकारिता यह है कि इस प्रकार मनुष्यके सब मल धुल जाते हैं और उसे फिर उन्नति करनेका अवसर मिल जाता है।

(५) इसमें ईश्वरका न्यायकारी नियम भी आ जाता है, जिससे हर प्राणीको उसके कर्मोंके अनुकूल फल मिल जाता है और इसमें उसकी सर्वज्ञता भी पायी जाती है कि जिससे समस्त संसारका कार्य व्यवस्थापूर्वक चल रहा है; क्योंकि जिस प्रकार घड़ीके चलानेमें सब यन्त्र काम करते हैं, इसी प्रकार संसाररूपी घड़ीके चलानेमें सब शरीरधारी अपने-अपने स्थानपर कुछ-न-कुछ काम कर रहे हैं।

सङ्गति—जाति, आयु और भोगमें पाप और पुण्यके अनुसार सुख-दुःख मिलता है, यह अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्॥ १४॥

शब्दार्थ—ते = वे (जाति, आयु, भोग); ह्लाद-परिताप-फलाः = सुख-दुःख फलके देनेवाले होते हैं; पुण्य-अपुण्य-हेतुत्वात् = पुण्य तथा पाप कारण होनेसे।

अन्वयार्थ—वे (जाति, आयु और भोग) सुख-दुःखरूपी फलके देनेवाले होते हैं, क्योंकि उनके कारण पुण्य और पाप हैं।

व्याख्या—पिछले सूत्रमें बतलाये हुए कर्माशयोंके फल जाति, आयु और भोग भी दो प्रकारके (स्वादवाले) होते हैं। एक सुखके देनेवाले (मीठे स्वादवाले), दूसरे दुःखके देनेवाले (कड़वे स्वादवाले)।

पुण्य अर्थात् अहिंसात्मक—दूसरोंको सुख पहुँचानेवाले कर्मोंसे जाति, आयु और भोगमें सुख

मिलता है। पाप अर्थात हिंसात्मक— दूसरोंको दुःख पहुँचानेवाले कर्मोंसे दुःख मिलता है। पिछले सूत्रमें बतलाये हुए कर्मोंको जब स्वार्थ छोड़कर दूसरे प्राणियोंके कल्याणार्थ उनकी यथार्थ भलाई और सुख पहुँचानेकी मनोवृत्तिसे किया जाता है, तब वे कर्त्ताको सुख पहुँचानेका कारण होते हैं; और जब वे स्वार्थ-वश दूसरे प्राणियोंको काम, क्रोध, लोभ, मोहादिसे दुःख देनेकी मनोवृत्तिसे किये जाते हैं, तब वे करने-वालेको दुःखका कारण होते हैं। यही कारण है कि सर्वयोनियोंमें सुख-दुःख दोनों देखे जाते हैं। जिस प्रकार भौंरेको फूलकी सुगन्धमें आनन्द प्रतीत होता है, इसी प्रकार विष्ठाके कीड़ेको विष्ठामें सुख प्रतीत होता है। जिस प्रकार इसको सुगन्धित फूलके न मिलनेमें दुःख होता है, इसी प्रकार उसको विष्ठाके न मिलनेमें दुःख होता है। कुछ मनुष्योंको ऐश्वर्य, सुख, राज, धन-सम्पत्ति, सब प्रकारके साधन प्राप्त हैं और कुछ लूले, लँगड़े, अन्धे, कोढ़ी रोटीसे तङ्ग, सर्दीमें ठिठुरते हैं। इससे नीची योनियोंमें पशु-पक्षी भी इनसे अधिक सुख पाते हैं। कुछ कुत्ते गलियोंमें मारे-मारे फिरते हैं, कुछ मोटरोंमें बैठते हैं, नाना प्रकारके स्वादिष्ट पदार्थ खाते और तीन-तीन नौकर उनकी सेवामें रहते हैं। जो सुख अथवा दुःख दूसरोंको दिये हैं, उनका फल सुख-दुःख अवश्य मिलता है, चाहे इस योनिमें अथवा दूसरी योनियों (जन्मों) में। सुख-दुःख पहुँचानेवाले कर्मोंमें भी मनोवृत्तियाँ ही कारण होती हैं। डाक्टर एक पके फोड़ेको नश्तरद्वारा चीरकर उसके मवादको निकालता है, इससे डाक्टरके चित्तमें सुख पानेके कर्माशय बनते हैं, यदि कोई मनुष्य द्वेषसे उसी फोड़ेमें चाकू मारता है तो उसके चित्तमें दुःख पानेके कर्माशय बनते हैं। अकर्ममें भी कर्म होता है और कर्ममें भी अकर्म होता है। जैसा कि भगवान् श्रीकृष्णने गीता, अध्याय चारमें बतलाया है—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः। अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

कर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये और अकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये तथा निषिद्ध कर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये; क्योंकि कर्मकी गति गहन है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः। स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥
(४। १८)

जो पुरुष कर्ममें अर्थात् अहंकाररहित अनासक्त भावसे की हुई सम्पूर्ण चेष्टाओंमें अकर्म अर्थात् वास्तवमें उनका न होनापना देखे और जो पुरुष अकर्ममें भी कर्मके अर्थात् अज्ञानी पुरुषद्वारा किये हुए सम्पूर्ण क्रियाओंके त्यागमें भी त्यागरूप क्रियाको देखे, वह पुरुष मनुष्योंमें बुद्धिमान् है और वह योगी सम्पूर्ण कर्मोंका करनेवाला है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः। ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥
(४। १९)

जिसके सम्पूर्ण कार्य कामना और संकल्पसे रहित हैं, ऐसे उस ज्ञानरूप अग्निद्वारा भस्म हुए कर्मोंवाले पुरुषको ज्ञानी जन पण्डित कहते हैं।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः। कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥
(४। २०)

जो पुरुष सांसारिक आश्रयसे रहित सदा परमानन्द परमात्मामें तृप्त है, वह कर्मोंके फल और सङ्ग अर्थात् कर्तृत्व-अभिमानको त्यागकर कर्ममें अच्छी प्रकार बर्तता हुआ भी कुछ भी नहीं करता है।

यदि किसीके समक्ष कोई हिंसक जन्तु किसी सोते हुए मनुष्यको काटनेके लिये जाय और वह मनुष्य उसको दुःख देनेके विचारसे न बचावे अथवा कोई अपने किसी नियत कर्तव्य कर्मको न करे तो वह अकर्ममें कर्म होगा । इससे भी दुःख पानेके कर्माशय बनेंगे ।

कर्म-सिद्धान्त बहुत गहन है, स्थूल बुद्धिसे समझमें नहीं आ सकता, एकाग्रबुद्धिसे ही समझा जा सकता है । इस कर्म-सिद्धान्तका सार यही है कि कोई कर्म भी किसीको दुःख देनेकी नीयतसे न किया जाय—"मा हिंस्यात्सर्वभूतानि" । वास्तवमें न कोई किसीको सुख दे सकता है न दुःख । जो मिलना है वह उसे अवश्य मिलेगा । मनुष्य दूसरोंको सुख-दुःखको पहुँचानेकी नीयतसे कर्म करके अपने अंदर सुख-दुःख पानेके कर्माशय एकत्र कर लेता है ।

सङ्गति— योगीके लिये सुख-दुःख दोनों दुःखरूप ही हैं, अब यह बतलाते हैं—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥१५॥

शब्दार्थ—परिणाम-ताप-संस्कारदुःखैः = परिणाम, ताप, संस्कारके दुःखोंसे; गुण-वृत्ति-विरोधात् च = और गुणोंकी वृत्तियोंके विरोधसे; दुःखमेव सर्वं विवेकिनः = दुःख ही है सब कुछ अर्थात् सुख भी दुःख ही है विवेकीको ।

अन्वयार्थ—क्योंकि (विषय-सुखके भोगकालमें भी) परिणाम-दुःख, ताप-दुःख और संस्कार-दुःख बना रहता है और गुणोंके स्वभावमें भी विरोध है, इसलिये विवेकी पुरुषके लिये सब कुछ (सुख भी जो विषय-जन्य है) दुःख ही है ।

व्याख्या—जिस प्रकार विष मिला हुआ स्वादिष्ट पदार्थ भी बुद्धिमान्‌के लिये त्याज्य है, इसी प्रकार जिन योगी-जनोंको सम्पूर्ण क्लेश तथा उनके विभाग आदिका विवेकपूर्ण ज्ञान हो गया है, उनको संसारके सब विषय-सुखोंमें दुःख-ही-दुःख प्रतीत होता है; क्योंकि इन सुखोंमें भी चार प्रकारका दुःख सम्मिलित है, जो नीचे व्याख्यासहित वर्णन किया जाता है—

परिणाम-दुःख—विषय-सुखके भोगसे इन्द्रियोंकी तृप्ति नहीं होती है, बल्कि राग क्लेश (२ । ७) उत्पन्न होता है । ज्यों-ज्यों भोगका अभ्यास बढ़ता है, त्यों-त्यों तृष्णा बलवती होती है । यथा—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥
(मनु० २ । ९४)

विषय-कामना विषयोंके उपभोगसे कभी शान्त नहीं होती, किंतु हवन-सामग्रीके डालनेसे अग्निके सदृश और अधिक भड़कती है। अर्थात् हविः (सामग्री) डालनेसे अग्नि बुझती नहीं, किंतु और बढ़ती है, इसी प्रकार विषय-सुखके भोगसे विषय-सुखकी कामना शान्त नहीं होती, किंतु और बढ़ती है ।

विषयोंके भोगसे इन्द्रियाँ दुर्बल हो जाती हैं, अन्तमें इन्द्रियोंमें विषय-भोगकी शक्ति बिल्कुल नहीं रहती और तृष्णा सताती है । यह सुख परिणाममें दुःख ही है ।

ताप-दुःख—विषय-सुखकी प्राप्तिमें और उसके साधनमें राग-क्लेश (२ । ७) उत्पन्न होता है और उनमें जो रुकावटें होती हैं, उनसे द्वेष-क्लेश (२ । ८) उत्पन्न होता है । यह सुखके नाश होनेका दुःख सुखके भोग-कालमें भी सताता रहता है । इसी कारण यह सुख परिणाममें ताप-दुःख है ।

संस्कार-दुःख—सुखके भोगके जो संस्कार चित्तपर पड़ते हैं, उनसे राग (२ । ७) उत्पन्न होता

है, मनुष्य उनके प्राप्त करनेमें यत्न करता है। उनमें रुकावटोंसे द्वेष (२ । ८) होता है। इस प्रकार राग-द्वेषके भी संस्कार पड़ते रहते हैं और उनके वशीभूत होकर जो शुभाशुभ कर्म करता है, उनके भी संस्कार पड़ते हैं। ये संस्कार आवागमनके चक्रमें डालनेवाले होते हैं, इसलिये यह सुख परिणाममें संस्कार-दुःख है।

गुण-वृत्ति-विरोध-दुःख— सत्त्व, रजस्, तमस्— ये क्रमसे प्रकाश, प्रवृत्ति और स्थिति स्वभाववाले हैं। इनकी क्रमसे सुख, दुःख और मोहरूपी वृत्तियाँ हैं। ये तीनों गुण परिणामी हैं। कभी एक गुण दूसरेको दबाकर प्रधान हो जाता है, कभी दूसरा उसको। जब सत्त्व रजस् तथा तमस्‌को दबा लेता है, तब सुख वृत्तिका उदय होता है। जब रजस् सत्त्व और तमस्‌को दबा लेता है, तब दुःख और जब तमस् सत्त्व तथा रजस्‌को दबा लेता है, तब मोह पैदा हो जाता है। इन तीनों गुणोंमें परिणाम रहता है। इस कारण इनकी वृत्तियोंमें भी परिणामका होना आवश्यक है और सुखके पश्चात् दुःख और मोहका होना स्वाभाविक है। यह गुण-वृत्तियोंके विरोधसे सुखमें दुःखकी प्रतीति है। जिस प्रकार मकड़ीका जाला भी आँखमें पड़कर अत्यन्त दुःखदायी होता है, इसी प्रकार विवेकी योगियोंका चित्त अत्यन्त शुद्ध होता है, उनको लेशमात्र भी दुःख और क्लेश खटकता है। इस कारण वे संसारके सुखोंको भी सदैव त्याज्य और दुःख-रूप समझते हैं। इसी प्रकार सांख्य-दर्शन अध्याय ६ में बतलाया गया है—

कुत्रापि कोऽपि सुखीति ॥ ७ ॥

तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ते विवेचकाः ॥ ८ ॥

क्या कहीं कोई सुखी है, अर्थात् कहीं कोई भी सुखी नहीं है। (जिसको सुख समझा जाता है) वह सुख भी दुःखसे मिला हुआ है, इसलिये उस सुखको भी दुःखके पक्षमें विवेकी पुरुष संयुक्त करते हैं।

नानक दुखिया सब संसार। सुखी वे ही जिन्ह नाम अधार ॥

सङ्गति—जिस प्रकार चिकित्सा-शास्त्रमें रोग, रोगका कारण, आरोग्य, आरोग्यका साधन (ओषधि) चार विषय होते हैं, इसी प्रकार यहाँ इस शास्त्रमें (१) दुःख जो "हेय" त्याज्य है सूत्र १६ में, (२) दुःखका कारण द्रष्टृ-दृश्यका संयोग जो "हेय-हेतु" है सूत्र १७ में, (३) दुःखका नाश, इस संयोगका अभाव जो "हान" अर्थात् कैवल्य है सूत्र २५ में, और (४) विवेकख्याति कैवल्यका साधन जो "हानोपाय" है सूत्र २६ में वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह शास्त्र चतुर्व्यूह कहलाता है। "हेय" अर्थात् त्याज्य क्या है, यह अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ— हेयम् = त्याज्य; दुःखम् = दुःख; अनागतम् = आनेवाला है।

अन्वयार्थ— आनेवाले दुःख हेय (त्यागने योग्य) हैं।

व्याख्या— भूतकालका दुःख भोग देकर व्यतीत हो गया, इसलिये त्यागनेयोग्य नहीं। वर्तमान दुःख इस क्षणमें भोगा जा रहा है, दूसरे क्षणमें स्वयं समाप्त हो जायगा, इस कारण त्याज्य नहीं। इसलिये आनेवाला दुःख ही त्यागनेयोग्य है। विवेकीजन उसीको हटानेका यत्न करते हैं।

टिप्पणी सूत्र १६— बौद्धदर्शन — वैदिक दर्शनोंके चार प्रतिपाद्य विषयोंको बौद्धधर्ममें 'चार आर्य-सत्य' के नामसे वर्णन किया गया है—

पहिला आर्य-सत्य—दुःखम्—इस संसारका जीवन दुःखसे परिपूर्ण है। दूसरा आर्य-सत्य-दुःख-

समुदयः—इस दुःखका कारण विद्यमान है। तीसरा आर्य-सत्य—दुःख-निरोधः—इस दुःखसे वास्तविक मुक्ति मिल सकती है। चौथा आर्य-सत्य–निरोधगामिनी प्रतिपद्—दुःखोंके नाशके लिये वास्तविक मार्ग है।

(१) दुःखकी व्याख्या करते समय तथागतने बतलाया है—'हे भिक्षुगण! दुःख प्रथम आर्य-सत्य है। जन्म दुःख है। वृद्धावस्था भी दुःख है। मरण भी दुःख है। शोक, परिदेवना, दौर्मनस्य, उपायास सब दुःख हैं। अप्रिय वस्तुके साथ समागम दुःख है। प्रियके साथ वियोग भी दुःख है। ईप्सित वस्तुका न मिलना भी दुःख है। संक्षेपसे कह सकते हैं कि रागके द्वारा उत्पन्न पाँचों स्कन्ध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान) भी दुःख हैं।' धम्मपद गाथा १४६ में बतलाया है—

को नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति।

(को नु हासः क आनन्दो नित्यं प्रज्वलिते सति)

जब यह संसार नित्य जलते हुए घरके समान है, तब यहाँ हँसी क्या हो सकती है और आनन्द क्या मनाया जा सकता है।

(२) दुःख-समुदय— योगदर्शनके हेय हेतुके स्थानमें यह दूसरा आर्य-सत्य है। समुदयका अर्थ हेतु है। यहाँ दुःखका हेतु तृष्णा बतलायी गयी है। मज्झिम निकायमें भगवान् बुद्धके शब्दोंमें बतलाया गया है—

हे भिक्षुगण! दुःख-समुदय दूसरा आर्य-सत्य है। दुःखका वास्तविक हेतु तृष्णा है, जो बारंबार प्राणियोंको उत्पन्न करती है, विषयोंके रागसे युक्त है तथा उन विषयोंका अभिनन्दन करनेवाली है। यहाँ और वहाँ सर्वत्र अपनी तृप्ति खोजती रहती है। यह तृष्णा तीन प्रकारकी है—(१) कामतृष्णा, जो नाना प्रकारके विषयोंकी कामना करती है। (२) भवतृष्णा, जो संसारकी सत्ताको बनाये रखती है। (३) विभवतृष्णा, जो संसारके वैभवकी इच्छा करती है। संक्षेपमें दुःख-समुदयका यही स्वरूप है।

सरितः स्निग्धाश्च सौमनस्या भवन्ति जन्तोः।
ते स्रोतः सृताः सुखैषिणस्ते वै जातिजरोपगा नराः॥

(धम्मपद गाथा ३४१)

तृष्णाकी धाराएँ प्राणियोंको बड़ी प्रिय और मनोहर लगती हैं। सुखके फेरमें पड़े उसकी धारामें पड़ते हैं और बार-बार जन्म-जराके चक्रमें जाते हैं।

न तद् दृढं बन्धनमाहुर्धीरा यद् आयसं दारुजं बर्वजं च।
संरक्तरक्ता मणिकुण्डलेषु पुत्रेषु दारेषु च याऽपेक्षा॥

(धम्मपद गाथा ३४५)

धीर विद्वान् पुरुष लोहे, लकड़ी तथा रस्सीके बन्धनको दृढ़ नहीं मानते। वस्तुतः दृढ़ बन्धन है—सारवान् पदार्थोंमें रक्त होना या मणि, कुण्डल, पुत्र तथा स्त्रीमें इच्छाका होना।

ये रागरक्ता अनुपतन्ति स्रोतः स्वयं कृतं मर्कटक इव जालम्।

(धम्मपद गाथा ३४७)

जो रागमें रक्त हैं, वे जैसे मकड़ी अपने बनाये जालमें पड़ती है, वैसे ही अपने बनाये स्रोतमें पड़ते हैं। मज्झिम निकायमें बतलाया गया है—"यही तृष्णा जगत्के समस्त विद्रोह तथा विरोधकी जननी है।

उसीके कारण राजा राजासे लड़ता है, क्षत्रिय क्षत्रियसे लड़ता है, ब्राह्मण ब्राह्मणसे लड़ता है, माता पुत्रसे लड़ती है और लड़का मातासे लड़ता है। समस्त पापकर्मोंका निदान यही तृष्णा है। चोर उसीके लिये चोरी करता है, कामुक इसीके लिये परस्त्रीगमन करता है। धनी इसीके लिये गरीबोंको चूसता है। तृष्णामूलक यह संसार है। तृष्णा ही दुःखका कारण है, इसीका समुच्छेद प्रत्येक प्राणीका कर्त्तव्य है"।

सङ्गति—इस हेय दुःखका कारण "हेयहेतु" क्या है, यह अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—द्रष्टृदृश्ययोः संयोगः = द्रष्टा और दृश्यका संयोग; हेयहेतुः = हेय (त्याज्य दुःख) का कारण है।

अन्वयार्थ—द्रष्टा और दृश्यका संयोग "हेयहेतु" (दुःखका कारण) है।

व्याख्या—द्रष्टा चेतन पुरुष है, जो चित्तका स्वामी होकर उसको देखनेवाला है। दृश्य चित्त है जो स्व (मिलकियत) बनकर पुरुषको गुणोंके परिणाम-स्वरूप संसारको दिखाता है। चित्तद्वारा देखे जानेके कारण यह सारा गुणोंका परिणाम विषय, शरीर और इन्द्रिय आदि भी सब दृश्य ही हैं।

संयोग—इस पुरुष और चित्तका जो आसक्तिसहित अविवेकपूर्ण भोग्य-भोक्ताभावका सम्बन्ध है, उसके लिये यहाँ संयोग शब्द आया है। यही इस दुःखका (जो पिछले सूत्रमें हेय अर्थात् त्याज्य बतलाया था) "हेतु" अर्थात् कारण है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्। कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

(गीता १३। २१)

प्रकृतिमें स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक सब पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका संग ही इस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेमें कारण है (सत्त्वगुणके संगसे देवयोनियोंमें, रजोगुणके संगसे मनुष्ययोनिमें और तमोगुणके संगसे पशु-पक्षी आदि नीच योनियोंमें जन्म होता है।)

टिप्पणी—इस सूत्रकी व्याख्या शीघ्रता तथा सरलताके कारण हमने प्रथम संस्करणमें भोजवृत्ति-अनुसार कर दी थी। इसके व्यासभाष्यके समझनेमें कई एकोंको कुछ शङ्काएँ उत्पन्न हुई हैं, इसलिये उनके स्पष्टीकरणके साथ व्यासभाष्यके भाषार्थको लिखा जाता है।

व्या० भा० भाषार्थ (सूत्र १७)—द्रष्टा नाम बुद्धि-प्रतिसंवेदी पुरुषका है अर्थात् बुद्धिमें प्रतिबिम्बित होकर तदाकारताको धारण करनेवाले अथवा अपने प्रतिबिम्बद्वारा बुद्धिको चेतन तुल्य करनेवाले पुरुषके लिये द्रष्टा शब्दका प्रयोग हुआ है।

दृश्य नाम बुद्धि सत्त्वोपारूढ सब धर्मों (सत्त्वमें स्थिर हुई सब धर्मोंवाली) का है। अर्थात् बुद्धि तथा इन्द्रियोंद्वारा जिन पदार्थोंको बुद्धिसे ग्रहण किया जाता है अथवा अहंकार आदिद्वारा जितने तत्त्व बुद्धिसे उत्पन्न होते हैं, उन सब प्रकृतिके कार्योंको दृश्य पदसे ग्रहण करना चाहिये। यह बुद्धि आदि दृश्य ही अयस्कान्तमणिके तुल्य संनिधिमात्रसे द्रष्टृरूप स्वामीका उपकार करता हुआ दृश्यरूपसे स्व हो जाता है (और भोक्ता भूत पुरुषका भोग्य)। यद्यपि यह दृश्य अपने जडरूपसे लब्धसत्तावाला होनेसे स्वतन्त्र है, तथापि पुरुषके अर्थ होनेसे इसको परतन्त्र ही जानना चाहिये।

यह पुरुषार्थप्रयुक्त जो स्व-स्वामिभाव या दृग्दृश्यभाव वा भोक्तृ-भोग्यभावरूप अनादि प्रकृतिपुरुषका संयोग है, वह दुःखका कारण है। पञ्चशिखाचार्यने भी ऐसा ही कहा है—

"तत्संयोगहेतुविवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः"

अर्थात् दुःखके कारण बुद्धि-संयोगके विवर्जनसे (हट जानेसे) दुःखका अत्यन्त प्रतीकार (नाश) हो जाता है।

(यहाँ यह भी जान लेना चाहिये कि यह संयोग ही अस्मिता-क्लेश है, जिसका कारण अविद्या है और अविद्या सत्त्वचित्तमें जो लेशमात्र तम है, उसमें वर्तमान है।)

जिस प्रकार लोकमें परिहार करनेयोग्य दुःखहेतु पदार्थ-प्रतीकार (निवृत्तिका उपाय) है। इसी प्रकार यहाँ भी दुःख-हेतु संयोगका प्रतीकार जान लेना चाहिये। अर्थात् जिस प्रकार लोकमें पादतल (पैरका तलवा) भेद्य (दुःख पानेवाला) है और कण्टक (काँटा) भेदक (दुःख देनेवाला) है तथा कण्टकपर पैर न रखना या जूते पहिनकर पैर रखना, यह इस पैरके तलवेमें काँटे लगनेके दुःखका प्रतीकार (उपाय) है, इसी प्रकार यहाँ कोमल पादतलके तुल्य मृदुल सत्त्वगुण (सत्त्वप्रधान बुद्धि अथवा सत्त्वचित्त) तप्य (दुःख पानेवाला) और रजोगुण उसका तापक (दुःख देनेवाला) है तथा प्रकृति-पुरुषके संयोगकी हानि या विवेकख्याति इस तापका प्रतीकार है। जैसे लोकमें भेद्य, भेदक और परिहार—इन तीनोंको जाननेवाला भेदक— कण्टकादिकी निवृत्तिके उपायरूप अनुष्ठान करके भेद-जन्य दुःखको प्राप्त नहीं होता, वैसे यहाँ भी जो तप्य, तापक और परिहार— इन तीनों पदार्थोंको जानता है, वह भी विवेकख्यातिरूप अनुष्ठान करके संयोगजन्य दुःखको प्राप्त नहीं होता।

यद्यपि तापरूप जो क्रिया है, वह कर्मभूत सत्त्व (चित्त) में ही है न कि पुरुषमें अर्थात् बुद्धि (चित्त) ताप्य है न कि पुरुष, क्योंकि पुरुष अपरिणामी तथा निष्क्रिय है, तथापि दर्शित विषयत्वरूप उपाधिसे या अविवेकसे बुद्धिके तदाकार होनेसे पुरुष भी तदाकारधारी अनुतापको प्राप्त हो जाता है। इसलिये पुरुषमें औपाधिक तापका संयोग है अर्थात् बुद्धि उपाधिके सम्बन्धसे पुरुष ताप्य है। प्रकृति-पुरुषका सम्बन्ध तापक है और विवेकख्याति इसका परिहार है ॥ १७ ॥

विशेष जानकारीके लिये—विज्ञानभिक्षुके योगवार्तिकका भाषानुवाद ॥ सूत्र १७ ॥

हेयके सूत्रकी व्याख्या करके क्रमसे प्राप्त हेयके हेतुके प्रतिपादक सूत्रका अवतरण करते हैं— तस्मात्— जो हेय कहा जाता है, उसके ही कारणका निर्देश किया जाता है—द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः—द्रष्टृ शब्दके पदार्थको कहते हैं—

द्रष्टा बुद्धि-प्रतिसंवेदी पुरुष है।

प्रतिसंवेदन— संवेदन बुद्धिकी वृत्तिके प्रतिबिम्बका नाम है। प्रतिध्वनिके समान इस (प्रति-संवेदन) शब्दका प्रयोग किया गया है। वह प्रतिसंवेदन जिसको हो, वह बुद्धिको वृत्तिका प्रतिसंवेदी—बुद्धिका साक्षी पुरुष है—यह फलितार्थ है।

दृश्य शब्दके पदार्थको कहते हैं—दृश्यबुद्धि-सत्त्वमें उपारूढ़ सब धर्म हैं। बुद्धि-सत्त्वको भी दृश्य होनेसे यहाँ विशेषण विवक्षित है, धर्म उसको भी बुद्ध्यारूढ होनेसे बुद्धिधर्मत्व विवक्षित है, इस अभिप्रायसे दृश्य-बुद्ध्यारूढ सब धर्म हैं, यह कहा गया है—ये धर्म बुद्धिके कार्य हैं, इस अभिप्रायसे

नहीं कहा है; क्योंकि प्रधान आदिका भी दृश्य होनेसे त्याग उचित नहीं है। उत्तर सूत्रमें मुख्यतया प्रधानको ही दृश्य कहा है। यद्यपि बुद्ध्यारूढ (बुद्धिमें प्रतिबिम्बित) पुरुष भी दृश्य है, तो भी वह दुःखसे रहित है, अतः उसका दर्शन हेय दुःखका हेतु नहीं है, इस आशयसे यहाँ दृश्यके अंदर पुरुषकी गिनती नहीं करेंगे। तथा सुख-दुःख-मोहात्मक दृश्यवाली बुद्धिके साथ द्रष्टा-साक्षी पुरुषका जो काष्ठमें अग्निके समान सम्बन्ध है— जिसको बन्ध भी कहते हैं, वह दुःखका हेतु है, यह सूत्रका अर्थ है। बुद्ध्यारूढ दृश्योंके साथ द्रष्टाका ज्ञानरूप संयोग हेयका हेतु यहाँ विवक्षित नहीं है।

'स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः'

इस आगामी सूत्रसे इस ज्ञानरूप संयोगको ज्ञानका हेतु ही कहा है, ज्ञानरूप नहीं कहा है। इस सूत्रसे बुद्धि और आत्माके संयोगकी भाँति घटादि वस्तुओंके साथ आत्माका संयोग भी भोगका हेतु है, यह जानना चाहिये; क्योंकि लाघवसे भोक्ता और भोग्य वस्तुका संयोग ही सामान्य भोगका हेतु कहना उचित है। विषयके भोगमें बुद्धिके अवच्छेदसे विषयका संयोग हेतु है, अतः अतिव्याप्ति नहीं है। यह संयोग पुरुषार्थका हेतु है और इस संयोगका हेतु पुरुषार्थ है, इस बातको कहनेके लिये—सकल पुरुषार्थस्वरूप जो पुरुषका स्वत्व है— सम्पत्ति है — उसका बुद्धिमें प्रतिपादन करते हैं—

तदेतदिति— वह यह दृश्य— अयस्कान्त मणिके सदृश संनिधिमात्रसे उपकारी दृश्यत्वसे स्वामी पुरुषका स्व-सम्पत्ति होता है

शङ्का—'तस्य हेतुरविद्या' इस आगामी सूत्रसे ही संयोगका कारण कहेंगे, यहाँ संयोगके कारणकी अपेक्षा नहीं है ?

समाधान—यह नहीं कहना चाहिये, क्योंकि अविद्याको भी पुरुषार्थकी असमाप्तिके द्वारा बन्धकी हेतुता आगे कहेंगे। तदेतद् इत्यादिका अर्थ यह है कि तद् बुद्धि सत्त्व है। यह दृश्यजगत् जिसमें रहता है, वह दृश्य है; अतः अयस्कान्तमणिके समान संनिधिमात्रसे उपकारी होनेसे और स्वयं दृश्य होनेसे ज्ञानमात्र स्वरूप— स्वामी पुरुषका वह स्व-(आत्मीय) सम्पत्ति होता है।

शङ्का—बुद्धिका अन्य स्वामी क्यों मानते हो ? वह बुद्धि ही अपरतन्त्रा, स्वयं ही द्रष्ट्री स्वार्थ ही हो सकती है।

समाधान—तत्राह-अनुभवकर्मेति— क्योंकि कर्म-कर्तृ-विरोध होनेसे आप अपना दृश्य तो हो नहीं सकता, (अतः) अनुभव नामक जो पुरुषका कर्म है, उस कर्मका विषय होता हुआ ही अन्यरूपसे पुरुष चैतन्यसे प्रतिलब्धात्मक-सिद्ध सत्तावाला अथवा अन्यरूपसे अन्यके प्रयोजनके कारण प्राप्त स्थिति, (अतः) स्वतन्त्र होनेपर भी पुरुषके अनाश्रित भी परार्थ होनेसे परतन्त्र हैं, परपुरुषका स्व-सम्पत्ति है। इस प्रकार दृश्य नामक भोग्यात्मक अखिल पुरुषार्थके बुद्धिनिष्ठ सिद्ध हो जानेपर वही पुरुषार्थ अनागत अवस्थामें स्थित-बुद्धि और पुरुषके संयोगमें कारण है—यह कहते हुए सूत्रके वाक्यार्थको कहते हैं-तयोरिति— उन स्व और स्वामीका—*दृश्यतेऽनयेति दर्शनं बुद्धिः*—देखा जाय जिससे वह दर्शन नाम बुद्धिका है— पुरुषार्थकृतत्व वचन कथनके कारण यहाँ अनादिका अर्थ प्रवाहसे अनादि है।

शङ्का—पुरुषार्थका पुरुषसे संयोग माननेमें पुरुषकी अपरिणामिताका भंग हो जायगा (कोई भी संयुक्त पदार्थ अपरिणामी नहीं होता) ?

समाधान—सामान्य गुणोंके अतिरिक्त धर्मोंकी उत्पत्तिको ही व्यवहारके अनुसार परिणाम निश्चय किया है। घट आदिके संयोग आदिसे आकाश परिणामी नहीं होता और द्वित्व आदि संख्याके संयोगसे पुरुष परिणामी नहीं कहा जाता, पद्म-पत्रपर रक्खी जलकी बूँदसे पद्म-पत्रकी अपरिणामिता और असंयोग भी सुना जाता है। संयोग, विभाग, संख्या आदि द्रव्योंके सामान्य गुण हैं (अतः सामान्यगुण संयोगसे अपरिणामिताका भंग नहीं होता है)। श्रुति और स्मृतियोंमें सुखादिरूप परिणाम ही पुरुषमें नहीं माने हैं, मनके साथ सुखादिका अन्वय और व्यतिरेक है, अतः मनमें ही लाघवसे सुखादि माने हैं, सुखादिको मनका अवच्छेदक मानकर अन्यत्र—पुरुषमें उसको (सुखादिको) माननेमें गौरव है। संयोगादिके प्रति तो द्रव्यत्वरूपसे ही हेतुता होनेसे वह पुरुषकी भी हो सकती है और पुरुषका द्रव्यत्व तो अनाश्रित होनेसे तथा परिमाणसे सिद्ध है (अर्थात् जो अनाश्रित और परिमाणवाला होता है, वह द्रव्य हुआ करता है। पुरुष किसीके आश्रय नहीं और महत् परिमाणवाला है, अतः द्रव्य है।)

यद्यपि कारणावस्थामें बुद्धि और पुरुष दोनों विभु हैं, तथापि उनका संयोग परिच्छिन्न गुणान्तरके अवच्छेदसे सम्भव है ही; क्योंकि महदादि अखिल परिणाम त्रिगुणके संयोगके बिना उत्पन्न नहीं होते और वह संयोगज संयोग है, कमजन्य संयोग नहीं है। जैसे अवयवके संयोगसे अवयवीका संयोग होता है, वैसे अवच्छेदकीभूत गुणके संयोगसे ही दो विभुओंका (बुद्धि और पुरुषका) संयोग है। साक्षात् संयोगका पुरुषमें निषेध है, संयोगज संयोगका निषेध नहीं है। यदि आत्माका संयोग ही नहीं है, यह माना जाय तो प्रकृति-पुरुषके संयोगसे सृष्टि और उनके वियोगसे प्रलय यह जो श्रुति, स्मृति और सूत्रोंने माना है, वह न बन सकेगा।

भोक्तृ-भोग्य योग्यता ही यहाँ औपचारिक संयोग वक्तव्य है, यह नहीं कहना चाहिये; क्योंकि वह स्व-स्वामी-भाव होनेसे अनादि है, अनादि होनेसे कार्य हो नहीं सकता और उसके अविनाशी होनेपर ज्ञानसे नाशकताका विरोध होगा, नाशवान् माननेमें पुरुषको परिणामता होगी (जो कि अनिष्ट है।)

शङ्का—पुरुषका संयोग माननेमें पुरुषकी असङ्गताकी क्षति होगी?

समाधान—नहीं, कमलपत्रमें जो कि पुरुषका दृष्टान्त है—संयोग होनेपर भी असङ्गता मानी जाती है। स्व-आश्रय-विकारका हेतु जो संयोग है, उस संयोगको ही सङ्गता है। पुरुषमें ऐसा संयोग नहीं है, जो पुरुषके अंदर विकारका हेतु हो; अतः पुरुषार्थका कारण बुद्धि और पुरुषका संयोग है, वही जन्मरूपसे दुःखका हेतु है—यह बात सिद्ध होती है। वह संयोग विशेष परमेश्वरकी योगमाया—योगीन्द्रोंसे भी अचिन्त्य—श्रुति और स्मृतियोंसे गम्य है—विशेष तर्कका विषय नहीं है, जिस मायाके द्वारा ईश्वर, नित्य-मुक्त-असङ्ग, अविद्या आदिसे रहित विभु और चेतनमात्र आत्मा जीव-समूहको बन्धनमें डालता है (जिसके कारण जीवसमूह बन्धनमें फँसे हुए हैं) ऐसा ही कहा है—

'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।'

निश्चय ही जो भाव अचिन्त्य हैं, उनको तर्कसे युक्त न करे—उनके विषयमें तर्कना न करे।

सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते। ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम्॥

वह ही यह भगवान्की माया है जो कि नीतिका भी विरोध करती है। इसी मायाके कारण विमुक्त ईश्वरको भी दीनता और बन्धन होता है।*

* टिप्पणी—यह सिद्धान्त नवीन वेदान्तका समझना चाहिये। (प्रकाशक)

संयोगको दुःखकी हेतुता दिखलानेके लिये पञ्चशिखाचार्यके संवादको कहते हैं—तथा चोक्तं—यहाँसे—प्रतीकार—यहाँतक । बुद्धि और पुरुषका संयोग हेय दुःखका हेतु है, उसके परिवर्जनसे—उच्छेदसे दुःखका आत्यन्तिक प्रतीकार होता है उच्छेद होता है ।

शङ्का—अनादि कालसे प्रवृत्त जो दुःखका हेतु संयोग, उसका उच्छेद नहीं हो सकता, इस आशयसे पूछते हैं प्रसङ्गसे उसकी शक्यताका निश्चय करनेके लिये—कस्मादिति ।

समाधान—दुःखके हेतुके परिहारसे दुःखका प्रतीकार देखा जाता है । परिहार्य इस कथनसे प्रकृति आदि नित्य पदार्थोंकी व्यावृत्ति सिद्ध है । दुःखहेतुत्व नित्यत्वरूप लिङ्गसे दुःख-हेतुके अनित्यत्व-दर्शनमें संयोगरूप दुःखके हेतुका अनित्य होना सिद्ध है । प्रकृति आदिकी नित्य व्यावृत्ति तथा च दुःखके हेतुत्व नित्यत्व लिङ्गसे संयोगका उच्छेद हो सकता है। इसका अनुमान होता है। दुःखके हेतुका प्रतीकार हो सकता है; इसमें लौकिक उदाहरण कहते हैं—तद्यथेति ।

भेद्यत्व—भेदज दुःख—भागित्व हैं, और भेतृत्व—भेदके द्वारा दुःखका हेतु है, पादानधिष्ठान—पैरसे अनारोहण—न चढ़ना है । पादत्राण जूतेको कहते हैं अथवा जूता पहने पैरोंसे काँटोंपर चढ़ना।

ये तीन दुःखका आश्रय, दुःखका हेतु और दुःखके परिहारके उपाय हैं, जो इनको जानता है—इस वचनसे भाष्यकारने इन तीनोंके ज्ञानको दुःखके प्रतीकारकी हेतुता कहते हुए—यह तीनों मुमुक्षुको जानना चाहिये यह भी सूचित किया है ।

शङ्का—ताप और दुःख पर्यायवाची शब्द हैं तब दृष्टान्तमें यथा भेद्य भेतृ-प्रतीकाररूप त्रिक है, ऐसा दार्ष्टान्तिकमें नहीं है; क्योंकि उसमें एक बुद्धिको ही तप्य (तपनेवाली) और तापक (तपानेवाली) उभयरूप माना है और पुरुषको निर्दुःख माना है । अतः आक्षेप करते हैं--कस्मादिति—

समाधान—सिद्धान्त कहते हैं--त्रित्वोपलब्धेरिति । बाह्य दुःखके स्थलमें उक्त तीनोंकी उपलब्धिके बलसे आन्तर दुःखके स्थानमें भी तीनोंकी सिद्धि होती है, यह भाव है; उसका प्रकार कहते हैं--अत्रापीति--यहाँ दार्ष्टान्तिकमें भी, भाव यह है कि बुद्धिके एक होनेपर भी त्रिगुणात्मक होनेसे तीन अंश होते हैं, उनमेंसे रज अंश तापक है, सत्त्व-अंश तप्य—तपनेवाला है, बुद्धि और पुरुषका वियोग, दुःखका प्रतीकार है, इस भाँति तीन बन सकते हैं। पुरुष ही तप्य--तपनेवाला क्यों नहीं है ? इस आशयसे पूछते हैं—कस्मादिति—सिद्धान्त कहते हैं--अत्रापि इत्यादिना- इससे क्षेत्रज्ञ—इस तर्कसे कर्मस्थत्वका अर्थ है कर्मतया अर्थात् सकर्मक होनेसे । कर्मत्वका अर्थ क्रिया व्यापक है; क्योंकि दुःखव्याप्तत्व अपरिणामीमें सम्भव नहीं । वृत्तिव्याप्यत्व तो विषयतारूप अपरिणामीमें भी सम्भव है । अतः ज्ञानक्रियाकी कर्मता पुरुषमें बन सकती है, यह वाक्यशेष है और जो पुरुषको स्वज्ञेयता है, वह भी स्वप्रतिबिम्बित बुद्धिकी वृत्तिसे व्याप्यत्व ही है, उसमें परिणामकी अपेक्षा नहीं है ।

शङ्का--दुःखनिवृत्ति पुरुषार्थ कैसे हो सकती है ? क्योंकि दुःख तो पुरुषमें होता नहीं, यह भी नहीं कह सकते कि पुरुषनिष्ठ दुःखका भ्रम है, इससे दुःख हेय है; क्योंकि विद्वानोंको भी दुःख हानके लिये असम्प्रज्ञात समाधिकी अर्थिता स्वीकार है ?

समाधान--दर्शितविषयत्वादित्यादि—पुरुष क्योंकि दर्शित विषय है, बुद्धि सत्त्वसे निवेदित विषय है; अतः सत्त्वके तप्यमान होनेपर प्रतिविम्बरूपसे पुरुष बुद्धि सत्त्वके समान आकारवाला होता है, तपता नहीं,

मूढ बुद्धियोंको अनुतप्त-जैसा दिखलायी देता है, स्व-आकारके प्रतिबिम्बनके सिवा विषयका निवेदन अपरिणामी पुरुषमें सम्भव नहीं है, इस बातका प्रतिपादन 'वृत्तिसारूप्य' इस सूत्रमें कर दिया है। तथा च— प्रतिबिम्बरूपसे भोग नामक सम्बन्धके द्वारा विद्वानोंको भी दुःखकी हेयता है, पुरुषार्थके असम्भवका दोष नहीं है, यह भाव है—जो पुरुषमें भोक्तृत्व नहीं मानते, उन नवीन वेदान्तियोंको ही यह दोष है ॥ १७ ॥

सङ्गति—अब दृश्यका स्वरूप, उसका कार्य तथा प्रयोजन बतलाते हैं—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—प्रकाश-क्रिया-स्थिति-शीलम् = प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है; भूतेन्द्रिय-आत्मकम् = भूत-इन्द्रिय जिसका स्वरूप है; भोग-अपवर्ग-अर्थम् = और भोग-अपवर्ग जिसका प्रयोजन है; दृश्यम् = वह दृश्य है।

अन्वयार्थ—प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है, भूत और इन्द्रिय जिसका स्वरूप है, भोग और अपवर्ग जिसका प्रयोजन है, वह दृश्य है।

व्याख्या—सत्त्व, रजस् और तमस्—ये तीनों गुण और जो कुछ इनसे बना है वह दृश्य है।

गुणोंका धर्म—प्रकाश सत्त्व-गुणका; प्रवृत्ति (क्रिया = चलना) रजोगुणका और स्थिति = रोकना तमोगुणका स्वभाव है। ये तीनों प्रकाश, क्रिया, स्थितिशील-गुण-परिणामी और परस्पर संयोग-विभागवाले हैं, तथा विवेक-ख्यातिरहित पुरुषके संग संयुक्त रहते हैं अर्थात् स्व-स्वामी-भाव (भोग्य-भोक्तृ भाव) सम्बन्ध रखते हैं और विवेकख्यातिवाले पुरुषसे विभक्त हो जाते हैं।

ये तीनों गुण साम्यावस्थाको प्राप्त हुए प्रधान (प्रकृति = अव्यक्त = कारण) रूपसे रहते हैं और विषमावस्थामें परस्पर अङ्ग-अङ्गीभावसे मिले हुए व्यक्त कार्योंको उत्पन्न करते हैं, अर्थात् जब सात्त्विक प्रकाशरूप कार्य उत्पन्न होता है, तब सत्त्वगुण अङ्गी (मुख्य) होता है, अन्य दोनों रजोगुण और तमोगुण अङ्ग (गौण) होते हैं। इसी प्रकार जब राजस तथा तामस कार्य उत्पन्न होते हैं, तब रजोगुण तथा तमोगुण अङ्गी और अन्य दोनों गुण अङ्ग होते हैं। अङ्ग-अङ्गीभावसे मिले हुए रहनेपर भी इनकी शक्तियाँ भिन्न-भिन्न ही रहती हैं, अतः सब कार्य विलक्षण होते हैं।

मिलकर कार्य करनेसे ही ये तीनों गुण तुल्यजातीय अतुल्यजातीय कार्यको आरम्भ करते हैं। अर्थात् प्रकाशरूप सात्त्विक कार्यके आरम्भकालमें सत्त्वगुण तुल्यजातीय और अन्य दोनों रजोगुण और तमोगुण अतुल्यजातीय होते हैं। इसी प्रकार सत्त्वगुणकी अपेक्षासे प्रकाश तुल्यजातीय और अन्य दोनों गुणोंकी अपेक्षासे अतुल्यजातीय है। इसीसे रजोगुण और तमोगुणके सम्बन्धमें जान लेना चाहिये। जहाँ जो तुल्य-जातीय है, वह उपादान कारण है और जो अतुल्यजातीय है, वह सहकारी कारण है।

दिव्य शरीर उत्पन्न करनेके समय सत्त्वगुण प्रधान (मुख्य) होता है और रजोगुण-तमोगुण गौण (सहकारी) होते हैं; मनुष्य-शरीर उत्पन्न करनेके समय रजोगुण प्रधान होता है और अन्य दोनों गुण गौण होते हैं; और तिर्यक्-कीट-पशु आदिक शरीर उत्पन्न करते समय तमोगुण प्रधान होता है और अन्य दोनों गुण गौण होते हैं। इस प्रकार जिस गुणका कार्य उत्पन्न होता है, वह गुण प्रधान हुआ उदार होता है और अन्य दो गुण सहकारी कारण होनेसे प्रधान गुणके अन्तर्गत सूक्ष्म रूपसे रहते हैं और व्यापारमात्रमें अनुमानसे जाने जाते हैं। इस प्रकार ये तीनों गुण गौण-प्रधान (अङ्गाङ्गी) भावसे मिले हुए केवल पुरुषार्थ अर्थात् पुरुषके भोग-अपवर्गके प्रयोजन साधनेके लिये अयस्कान्तमणिके तुल्य पुरुषकी

संनिधिमात्रसे कार्योंका उत्पादन करते हैं। ऐसे धर्मशील गुणोंकी साम्यावस्था ही प्रधान है और यही दृश्य कहा जाता है।

गुणोंका कार्य—यह दृश्य भूतेन्द्रियात्मक है, अर्थात् दस भूत, पाँच स्थूलभूत, पृथ्वी-जल आदि और पाँच सूक्ष्मभूत गन्ध, रस, तन्मात्रा आदि; और तेरह इन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, तीन सूक्ष्म इन्द्रियाँ मन, अहङ्कार, बुद्धि + चित्त, (महत्तत्त्व) आदि सब ग्राह्य-ग्रहण रूपसे इन्हीं तीनों गुणोंके कार्य हैं अर्थात् इन्हींके विभिन्न रूप हैं।

गुणोंका प्रयोजन—यह त्रिगुणात्मक दृश्य अर्थात् भूतेन्द्रिय आदि रूपसे प्रकृतिका परिणाम निष्प्रयोजन नहीं है; किंतु पुरुषके भोग-अपवर्ग रूप प्रयोजनवाला है।

भोग—उसमें द्रष्टा-दृश्यके स्वरूप-विभागसे रहित इष्ट-अनिष्ट, गुण-स्वरूपका अवधारण (अनुभव) भोग कहलाता है।

अपवर्ग—द्रष्टा और दृश्यके स्वरूपसे विभक्त भोक्ताके स्वरूपका अवधारण (साक्षात्कार) अपवर्ग है। उपर्युक्त दोनों प्रकारके भोग भी पुरुषके कल्याणार्थ हैं, अर्थात् अपवर्ग दिलानेमें सहायक हैं; इसको स्पष्ट किये देते हैं।

१ (क) भोग—अनिष्ट गुण स्वरूपका अनुभव—कर्माशयका आवरण, क्लेशों और संस्कारोंका मल जो अविद्या, अविवेक, आसक्ति और सकाम कर्मोंके परिणाम रूप चित्तपर चढ़ा लिया गया है, इसके निवारणार्थ मन, इन्द्रियों और शरीर आदिका भोग है, जो साधारणरूपसे सब प्राणी भोग रहे हैं। भाव यह है कि गुणोंके विषम परिणामका प्रयोजन तो पुरुषको उनका (गुणोंका) यथार्थ ज्ञान कराकर स्वरूपमें अवस्थित करानेका है। पर पुरुष अविद्या, अविवेक, आसक्ति और सकाम कर्मोंसे चित्तपर कर्माशय आदिका मल चढ़ा लेता है। इस मलके निवारणार्थ जो पुरुषका भोग है यद्यपि वह अनिष्ट है तथापि वह भी पुरुषके कल्याणार्थ है; क्योंकि गुणोंका यथार्थ ज्ञान दिलाकर स्वरूपमें अवस्थित करानेके लिये चित्तसे उन मलोंका धोना आवश्यक है, जो अनिष्ट-भोगोंद्वारा होता है।

(ख) भोग—इष्ट गुण स्वरूपका अनुभव—इस सम्पूर्ण दृश्यका गुणोंके परिणामका सम्प्रज्ञात-समाधिद्वारा विवेक-पूर्ण तत्त्वज्ञान जो इस दृश्यके भोगका वास्तविक प्रयोजन है, जिसको विवेकीजन भोगते हैं, जिसके पश्चात् स्वरूपावस्थिति प्राप्त होती है।

अपवर्ग—भोक्ताके स्वरूपका अवधारण स्वरूपावस्थिति है, जो विवेकख्यातिके पश्चात् प्राप्त होती है, जो पुरुषका परम प्रयोजन है।

इन दोनों दर्शनों अर्थात् पुरुषको गुणोंका यथार्थ ज्ञान कराने (गुणोंके परिणामका दर्शन) और स्वरूप-अवस्थित कराने (पुरुष-दर्शन कराने) के अतिरिक्त प्रधान प्रवृत्तिका अन्य कोई तीसरा प्रयोजन नहीं है, जैसा कि श्रीव्यासजी महाराजने पञ्चशिखाचार्यके सूत्रसे अपने भाष्यमें दर्शाया है—

अयं तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्तृष्वकर्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे तत्क्रियासाक्षिण्युपनीयमानान् सर्वभावानुपपन्नाननुपश्यन्नदर्शनमन्यच्छङ्कत इति।

निश्चय इन तीनों गुणोंके कर्ता होते हुए चौथे उनकी क्रियाओंके साक्षी तुल्य-अतुल्य स्वभाववाले अकर्त्ता पुरुषमें (बुद्धिसे) प्राप्त कराये सारे भावोंको स्वाभाविक देखता हुआ अन्य दर्शनकी सम्भावना नहीं करता।

यद्यपि यह भोग-अपवर्गरूप दोनों पुरुषार्थ बुद्धिकृत होने और बुद्धिमें ही वर्तनेसे बुद्धिके ही धर्म हैं तथापि जैसे जय और पराजय योद्धाकृत और योद्धामें वर्तमान होनेपर भी उनके स्वामी राजामें कही जाती है; क्योंकि वह उसका स्वामी और उसके फलका भोक्ता है, इसी प्रकार बन्ध या मोक्ष चित्तमें वर्तमान होते हुए भी पुरुषमें व्यवहारसे कहे जाते हैं; क्योंकि वह बुद्धिका स्वामी और उसके फलका भोक्ता है।

वास्तवमें पुरुषके भोग-अपवर्गरूप प्रयोजनकी समाप्ति न होनेतक चित्तमें ही बन्धन है और विवेकख्यातिको उत्पत्तिसे पुरुषके उस प्रयोजनकी समाप्तिमें चित्तका ही मोक्ष है।

जिस प्रकार बन्ध-मोक्ष-रूप चित्तके धर्मोंका पुरुषमें आरोप किया जाता है; इसी प्रकार ग्रहण (स्वरूप-मात्रसे पदार्थका ज्ञान), धारण (ज्ञात हुए पदार्थकी स्मृति), ऊह (पदार्थके विशेष धर्मोंका युक्तिसे निर्णय करना), अपोह (युक्तिसे आरोपित धर्मोंको दूर करना), तत्त्वज्ञान (ऊहापोहसे पदार्थका ज्ञान प्राप्त करना), अभिनिवेश (तत्त्वज्ञानपूर्वक त्याग और ग्रहणका निश्चय) आदि धर्म भी चित्तमें वर्तमान रहते हुए पुरुषमें अविवेकसे आरोप किये जाते हैं, क्योंकि वही उसका स्वामी और उसके फलका भोक्ता है।

टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद ॥ सूत्र १८ ॥

दृश्यका स्वरूप कहते हैं—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

प्रकाशशील सत्त्व है, क्रियाशील रज है और स्थितिशील तम है, ये गुण परस्पर उपरक्त-प्रविभाग हैं, संयोग-विभाग धर्मवाले हैं, एकने दूसरेके सहारेपर अपना मूर्त्तरूप भूतादि और इन्द्रियादि उपार्जित किया है, परस्पर अङ्ग और अङ्गी होनेपर भी असम्भिन्न शक्ति प्रविभाग हैं, तुल्यजातीय और अतुल्य-जातीय शक्तिके भेदसे अनुपाती हैं, प्रधान अवस्थाके समयमें उपदर्शित संनिधान हैं, गुण होनेपर भी व्यापारमात्रसे प्रधानान्तर्णीत इनकी सत्ता अनुमित है, पुरुषार्थ कर्तव्य होनेसे अपने सामर्थ्यका प्रयोग करते हैं, संनिधिमात्रसे उपकारी हैं, अयस्कान्त मणिके समान प्रत्ययके बिना एक ही वृत्तिके अनुकूल बर्तते हुए प्रधान शब्दके वाच्य होते हैं (प्रधान शब्दसे उनको बोला जाता है), यह दृश्य कहलाता है। यह दृश्य भूतेन्द्रियात्मक है—भूतभावसे—पृथ्वी आदि सूक्ष्म और स्थूलरूपसे परिणत होता है तथा इन्द्रिय-भावसे--श्रोत्रादि सूक्ष्म और स्थूल भावसे परिणत होता है; और वह निष्प्रयोजन नहीं; किंतु प्रयोजनको लेकर प्रवृत्त होता है, अतः वह दृश्यपुरुषके भोगार्थ ही है, उनमेंसे इष्ट और अनिष्ट गुणके अविभागापन्न स्वरूप-अवधारण भोग है और भोक्ता पुरुषके स्वरूपका अवधारण अपवर्ग है, मुक्ति है; इन दोके अतिरिक्त दर्शन नहीं है।

तथा चोक्तम्—**"अयं तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्तृषु अकर्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे तत्क्रियासाक्षिणि उपनीयमानान् सर्वभावान् उपपन्नान् अनुपश्यन् न दर्शनमन्यच्छङ्कते इति"**

श्रीपञ्चशिखाचार्य कहते हैं—लोकमें तीनों गुणोंके कर्ता होनेपर भी अकर्ता चतुर्थ पुरुषमें, जो कि गुणोंकी क्रियाओंका साक्षी है, बुद्धिसे लाये गये सब भावोंको मूढ युक्ति सिद्धवत् देखता हुआ अन्य दर्शनको शंका भी नहीं करता है—सम्भावना भी नहीं समझता।

शंका—ये बुद्धिकृत भोग और अपवर्ग, जो कि बुद्धिमें ही वर्तमान हैं, पुरुषमें किस प्रकार कहे जाते हैं ?

समाधान—जैसे कि विजय और पराजय योद्धाओंमें होती है और स्वामी राजामें व्यपदेशसे कही जाती है, क्योंकि राजा ही जय-पराजयके फलका भोक्ता होता है, ऐसे ही बन्ध और मोक्ष भी बुद्धिमें ही होते हैं और स्वामी-पुरुषमें व्यपदेशसे कहे जाते हैं; क्योंकि वह पुरुष ही उन बन्ध और मोक्षरूप फलोंका भोक्ता है, बुद्धिको ही पुरुषार्थकी समाप्तितक बन्ध है और उस पुरुषार्थकी समाप्ति अपवर्ग है, इससे ग्रहण, धारण, ऊहापोह, तत्त्वज्ञान और अभिनिवेश बुद्धिमें होते हुए पुरुषमें अध्यारोपित सद्भाववाले हैं; क्योंकि वह पुरुष ही उनके फलका भोक्ता है ॥ १८ ॥

विज्ञानभिक्षुके योगवार्त्तिकका भाषानुवाद ॥ सूत्र १८ ॥

अब द्रष्टा, दृश्य और संयोग—इन तीनोंके ही स्वरूपको सूत्रकार कहेंगे। उनमेंसे दृश्यके रूपके प्रतिपादक सूत्रका अवतरण करते हैं—'दृश्यस्वरूपमुच्यत' इति दृश्यके स्वरूपको कहते हैं—यहाँ पाठक्रमके विपरीत आदिमें दृश्यके कथनका कारण यह है कि दृशिमात्र इस आगामी सूत्रमें जो मात्र शब्द आया है, उससे अखिल दृश्यके भेदसे द्रष्टाका प्रतिपादन करना है, उसके लिये प्रतियोगी दृश्योंका ज्ञान अपेक्षित होगा, इसी कारण पूर्व सूत्रमें प्रथम प्रधानतया द्रष्टाका उपन्यास है यह जानना चाहिये।

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्। प्रलयकालमें प्रकाश आदि कार्यका अभाव होता है अतः यहाँ शीलपद दिया है। प्रकाश--बुद्धि आदिकी वृत्तिरूप आलोक और भौतिक आलोक है। क्रिया--प्रयत्न या चलनको कहते हैं। स्थिति--प्रकाश और क्रियासे शून्य या प्रकाश-क्रियाके प्रतिबन्धका नाम है। तत् शील गुणत्रय यह विशेष्यपद यहाँ उत्तर सूत्रमें गुणपर्वाणि इस विभाग-वचनसे उपलब्ध होता है। अतएव भाष्यकार 'एते गुणाः' ऐसी व्याख्या करेंगे। इस प्रकार गुणोंके होनेमें प्रमाण कहते हैं, भूतेति—भूतेन्द्रियात्मक--स्थूल और सूक्ष्मरूप भूतों और स्थूल तथा सूक्ष्मरूप इन्द्रियोंका कारण है, इससे महदादि अखिल कार्योंका कारणत्व ही लब्ध होता है और वह कारणत्व गुणोंमें है (अर्थात् महदादि अखिल प्रपञ्चके कारण गुण हैं) और उनके प्रकाशादि रूपतामें प्रमाण है (अनुमान प्रमाण है); क्योंकि त्रिगुणात्मक जड कार्योंकी सिद्धि त्रिगुणात्मक जड कारणके बिना नहीं होती। गुणोंके कार्यको कहकर उनके स्वरूपकी सत्ताके प्रयोजक प्रयोजनको कहते हैं। भोगापवर्गार्थं—भोग और अपवर्ग प्रयोजनवाला है, यह सूत्रार्थ है।

शङ्का—तब तो तीन गुण ही दृश्य हैं, उनके विकार दृश्य नहीं हैं?

समाधान—यह नहीं, क्योंकि गुणके पर्वरूपसे उत्तरसूत्रसे उनके विकारोंका भी संग्रह होता है, अतः वे भी दृश्य हैं। इस सूत्रकी व्याख्या करते हैं प्रकाशशीलमिति—वह दृश्य प्रकाश-क्रियास्थितिशील है।

शङ्का—सत्त्व आदि गुण ही यदि प्रकाशादिशील दृश्यरूपसे यहाँ कहे हैं और प्रकृतिको कहा नहीं, तो सूत्रकारकी न्यूनता है और सत्त्व आदि गुणोंको ही भूतेन्द्रियात्मक माननेसे प्रकृति माननेके सिद्धान्तकी क्षति होगी, क्योंकि प्रकृति व्यर्थ होगी।

समाधान—गुण ही प्रकृति शब्दके वाच्य हैं, उनसे अतिरिक्त प्रकृति नहीं है—यह निश्चय करते हैं—एते गुणाः—सत्त्व आदि ये गुण प्रकृतिशब्दके वाच्य होते हैं। प्रधीयतेऽस्मिन्कार्यजातमित्यादि व्युत्पत्त्या प्रधानप्रकृत्यादिशब्दैरुच्यन्त इत्यन्वयः। जिसमें कार्यसमूह रहता है, इस व्युत्पत्तिसे प्रधान और प्रकृति आदि शब्दोंसे गुण ही कहे जाते हैं। तथा च सांख्यसूत्रम्—

सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात् ।

पुरुषके उपकरण होने और बन्धनके कारणसे सत्त्व आदि गुण कहलाते हैं, प्रकाश और क्रिया आदि-की भाँति द्रव्यमें समवेत होनेसे सत्त्व आदि गुण नहीं कहलाते, यह भाव है । सत्त्व आदि ही प्रधान शब्दके वाच्य हैं । इसको सिद्ध करनेके लिये गुणोंके ही जगत्कारणत्व-अनित्यत्व आदिक जो हेतु-गर्भ विशेषण हैं, उनका उपपादन करते हैं । परस्परेति-सत्त्वका प्रविभाग—अधिक भाग रज और तमके स्वल्प भागोंसे उप-रक्त-संसृष्ट होता है, ऐसे ही रजस् और तमस्का भी जानना चाहिये । इस भाँति परस्परोपरक्तविभाग तथा संयोग विभाग धर्मवाले हैं, परस्पर संयोगविभाग स्वभाववाले हैं । इससे यह भी सिद्ध हो गया कि सत्त्व आदि गुण द्रव्य हैं (द्रव्याश्रित गुण नहीं हैं) तथा एक दूसरेकी सहायतासे अवयवीको उत्पन्न करते हैं, क्योंकि कार्य कारणके अभेदसे ही आरम्भ होता है ।

शङ्का—यदि इतरेतर सहायतासे सब गुण सब कार्योंके कारण हों तो सत्त्व आदिको भी क्रिया आदिके होनेसे सक्रियत्व आदिकी आपत्तिसे प्रकाश आदि शक्तिका सांकर्य होगा ?

समाधान— तत्राह— परस्पर अङ्गाङ्गित्व होनेपर भी एक दूसरेके अङ्गाङ्गिभावसे उत्पन्न किये द्रव्यमें प्रकाश सत्त्वका ही गुण है, क्रिया रजस्का ही गुण है और स्थिति तमस्का ही गुण है, अतः प्रकाशादिको शक्ति विभागका सम्भेद सम्मिश्रण नहीं है । तथा तुल्यजातीय और अतुल्यजातीय शक्तिभेदके गुण अनुपाती हैं । सत्त्व आदि जातिसे सजातीय हैं और जो सहकारी शक्तिविशेष हैं, वे विजातीय हैं, तदनुपाती हैं, उनके अविशेषसे उपष्टम्भक स्वभाववाले हैं । इससे (यह भी सिद्ध है कि) सत्त्व आदि गुण व्यक्तिस्वरूपसे अनन्त हैं (व्यापक हैं) । और त्रिगुणत्व आदि व्यवहार तो सत्त्व आदि जातिमात्रसे होता है—जैसे कि वैशेषिक मतमें नौ द्रव्योंमें द्रव्यत्व जाति मानकर द्रव्य व्यवहार होता है, यह सिद्ध हो गया । अतएव लघुत्व आदि धर्मोंसे एक दूसरेके साथ साधर्म्य और वैधर्म्य भी है, इस बातको सांख्यसूत्रने सत्त्व आदिके लघुत्व आदिरूप साधर्म्य और वैधर्म्य दर्शाकर स्पष्ट किया है । तथा प्रधान वेलामें (प्रधानावस्थामें) स्व-स्व प्रधानकालमें विकारोंमें (कार्योंमें) अपने सांनिध्यको प्रकट करनेवाले होते हैं । तथा गुण होनेपर भी इतरके उपसर्जन होनेकी दशामें भी व्यापारमात्रसे (अपने सान्निध्यको प्रकट करनेवाले होते हैं) तथा विषय-विधिसे अयस्कान्तमणिके समान चित्तके आकर्षक होते हैं । वक्ष्यति हि—अयस्कान्तमणिके सदृश विषय हैं और अयस्-धर्मक चित्त है तथा प्रत्ययके बिना—अभिव्यक्तिके बिना अपने अनभिव्यक्ति कालमें—उस समय एकतम जिस किसी गुणान्तरकी वृत्तिसे पीछे सूक्ष्म वृत्तिवाले होते हैं, क्योंकि वृत्ति-अतिशयोंका ही विरोध कहा है—यह विशेषण समूहका अर्थ है । यह दृश्य कहलाता है । यह गुणत्रय ही कार्यकारण-भावयुक्त दृश्य कहे जाते हैं—इनके सिवा अन्य दृश्य नहीं है, यह अर्थ है । ये ही गुण न्याय और वैशे-षिकके द्वारा द्रव्याष्टक नामसे विभाग किये गये हैं और वेदान्तियोंने इनको माया कहा है । 'मायां तु प्रकृतिं विद्यादिति श्रुतेः' मायाको तो प्रकृति जान, यह श्रुति कहती है । यह बात बृहद्वासिष्ठमें भी कही है—

नामरूपविनिर्मुक्तं यस्मिन्संतिष्ठते जगत् ।
तमाहुः प्रकृतिं केचिन्मायामन्ये परे त्वणून् ॥

नाम और रूपसे विनिर्मुक्त यह जगत् जिसमें ठहरता है—लीन हो जाता है, उसको कोई प्रकृति कहते हैं, दूसरे माया बोलते हैं और कुछ लोग अणु नाम लेते हैं ।

शङ्का— यदि त्रिगुणसे पृथक् प्रकृति नहीं है तो 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' इत्यादि श्रुतिके कहे प्रकृतिके एकत्व आदिसे विरोध होगा, तथा—

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥

यह व्यक्त हेतुवाला, अनित्य, अव्यापी, सक्रिय, अनेक, आश्रितलिङ्ग, सावयव और परतन्त्र है। इसके विपरीत अव्यक्त अहेतु, नित्य, व्यापी, अक्रिय, एक, अनाश्रित, अलिङ्ग, निरवयव और स्वतन्त्र है। इत्यादिसे कहा हुआ व्यापकत्व अक्रियत्व निरवयवत्व आदिरूप जो सांख्यका सिद्धान्त है, उसका विरोध होगा।

एते प्रधानस्य गुणाः स्युरनपायिनः—

ये तीन प्रधानके अनपायी गुण हैं, इत्यादि स्मृतिपरम्परामें प्रधानके गुणोंका आधाराधेय भाव सम्बन्ध और हेतुहेतुमद्भाव सम्बन्धको कहनेवाले वचन भी उत्पन्न न होंगे। तथा

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः—

सत्त्व, रजस् और तमस्—ये प्रकृतिसे उत्पन्न गुण हैं, यह गीतादि वाक्योंमें सत्त्व आदिको जो प्रकृतिका कार्य कहा है, वह न बनेगा तथा २८ तत्त्वका पक्ष भी न बनेगा।

समाधान—पुरुषभेद और सर्गभेदसे भेदका अभाव ही प्रकृतिका एकत्व अजादिवाक्योंसे कहा है और अजादिवाक्यमूलक ही सांख्यादिने भी प्रतिपादन किया है। अजावाक्यसे ऐसे ही तात्पर्यका निश्चय किया गया है। भोग्य और भोक्तृके मध्यमें भोग्य गुण हैं, वे भोग्यत्व और अभोग्यत्वके द्वारा सर्गभेदसे भिन्न-भिन्न (भेदवाले) होते हैं। ये भोग्यके योग्य हैं, और यह भोग्यके योग्य नहीं है, यह बात मुक्त पुरुषके उपकरणोंमें भी हो सकती है; क्योंकि वे भी अन्य पुरुषके भोग्य होते हैं। भोक्ता पुरुष भी भोक्तृत्व और अभोक्तृत्वके भेदसे, सर्गके भेदसे भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। पूर्व सर्गमें जो मुक्त हो चुके हैं, उत्तर सर्गमें भोक्ता नहीं हैं; किंतु दूसरे भोक्ता हैं। अतः प्रकृति एक है और पुरुष अनेक हैं, यह कहा जाता है। तथा वे ही गुण सब सर्गोंमें स्रष्टा होते हैं, और महत् आदि विकारोंका तो सर्गभेदसे भिन्न होना स्पष्ट ही है, क्योंकि अतीत व्यक्तिका पुनः उदय न होना आगे कहेंगे। यदि प्रकृति एक ही व्यक्ति हो तो 'निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनाम्' इसमें प्रकृतिके लिये जो बहुवचन दिया है, इससे विरोध होगा और (इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते)—इत्यादि श्रुतिगत बहुवचनसे भी विरोध होगा। प्रकृतिका व्यापकत्व तो कारणत्व सामान्यसे ही जानना चाहिये (अर्थात् सब कार्योंमें अनुस्यूत है, अतः व्यापक है) कारणशून्य प्रदेशका अभाव होनेसे, जैसे कि गन्धादि पृथिवी आदिमें व्यापक होते हैं। महद् आदि तो सामान्यसे भी व्यापक नहीं है। अतएव अंशभेदसे प्रकृतिकी व्यापकता और परिच्छिन्नता मानी है, अतः "जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्" यह आगामी सूत्रोक्त प्रकृत्यापूर भी घट जाता है।

प्रकृतिका जो अक्रियत्व माना है, वह अध्यवसायाभिमान आदिरूप प्रतिनियत कार्यसे शून्य है—चलनादि क्रियाशून्य नहीं है।

प्रधानात् क्षोभ्यमाणाच्च तथा पुंसः पुरातनात् ।
प्रादुरासीन्महद् बीजं प्रधानपुरुषात्मकम् ॥

क्षोभ्यमाण प्रधानसे (गुणोंकी विषमावस्थासे) तथा पुरातन पुरुषसे प्रधान-पुरुषात्मक महद्बीजका प्रादुर्भाव हुआ। इत्यादि स्मृतियोंमें प्रकृतिको भी क्षोभ नामक चलन माना है।

प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि।
चेष्टा यतः स भगवान् काल इत्यभिधीयते॥

हे मानवि! निर्विशेष-गुणसाम्य प्रकृतिकी जिससे चेष्टा होती है, वह भगवान् काल कहलाते हैं।

यहाँ स्पष्ट ही प्रकृतिकी क्रिया कही गयी है और जहाँ कहीं पुरुषका भी क्षोभ श्रुतिमें आया है, वह संयोगके उन्मुख होनारूप गौण क्षोभ है, क्योंकि संयोगकी उत्पत्ति तो प्रकृतिके कर्मसे ही होती है। प्रकृतिके लिये जो निरवयव कथनवाले वाक्य हैं, वे आरम्भ अवयवका निषेध करते हैं, वनांश वृक्षके तुल्य अंशोंका निषेध नहीं करते, इससे 'एते प्रधानस्य गुणाः' ये प्रधानके गुण हैं इत्यादि वाक्य भी उपपादित हो गये, वनके सदृश प्रधान अंशीके पनस, आम, अनार आदिके तुल्य गुण द्रव्यको अंश माना है। जो सत्त्व आदि गुणोंको प्रकृतिका कार्य कथन करनेवाला वचन है, वह वचन व्यवहारके अभिप्रायसे कहा गया है, क्योंकि प्रकाशादि-रूप फलसे उपहितमें सत्त्वादि शब्दका प्रयोग होता है। फलानुपधान दशामें वे प्रकृतिरूप ही होते हैं। फलोपहिततया ही सत्त्व आदिका व्यवहार दिखलायी देता है। यदि गुणोंको प्रकृति-का कार्य मानें तो गुणोंकी नित्यताके सिद्धान्तका विरोध होगा, अखण्ड प्रकृतिका विचित्र परिणाम असम्भव है, कदाचित् सम्भव मान भी ले तो महत् आदि दूसरे कार्य भी केवल प्रकृतिसे ही उत्पन्न हो जायँगे; गुणोंकी कल्पना व्यर्थ होगी।

शङ्का—गुणरूप अवच्छेदके भेदसे ही महत् आदि कार्योंकी उत्पत्ति होती है, यदि यह कहें?

समाधान—यह नहीं कह सकते--ऐसा माननेमें गुणोंसे ही सब कार्योंकी सिद्धि हो जायगी, उनसे भिन्न प्रकृतिकी कल्पना व्यर्थ होगी। यदि गुणत्रयसे अतिरिक्त प्रकृति हो—तब

गुणसाम्यमनुद्रिक्तमन्यूनं च महामते।
उच्यते प्रकृतिर्हेतुः प्रधानं कारणं परम्॥

हे महामते! गुणोंकी साम्यावस्था, जो कि गुणोंसे न्यून या अधिक नहीं है, पर-कारण-प्रधान-हेतु या प्रकृति कहलाती है। इत्यादि स्मृतियोंमें और 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः'—सत्त्व, रजस् और तमस्की साम्यावस्था प्रकृति है, इस सांख्यसूत्रमें जो साम्यावस्थावाले गुणोंको प्रकृति कहा है, वह आसानीसे संगत न होगा। 'विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि, ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः, परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणा-नाम्' इत्यादि सूत्रोंमें और भाष्यमें गुणोंको ही मूल कारण कहनेवाले वचन भी उपपन्न न होंगे, इत्यादि दूषण होंगे और साम्यावस्था प्रकृतिके लक्षणमें विशेषण नहीं है; किंतु यदा कदाचित् सम्बन्धसे प्रकृतिका उपलक्षण है, जैसे कि कागवाले देवदत्तके घर हैं (यहाँ काकवत्त्व घरका विशेषण नहीं उपलक्षण है) और वह न्यूनाधिक भावसे असंहनन अवस्था—अकार्य अवस्था—है, उस अवस्थासे उपलक्षित गुणत्व प्रकृतिका लक्षण है--महदादिसे व्यावृत्त है—(महदादिमें अव्याप्त है) उससे सर्गकालमें भी गुणोंको प्रकृतित्वकी सिद्धि होनेसे प्रकृतिकी नित्यताको हानि नहीं होती। ईश्वर सदा एकरूप है, साम्यावस्थाशून्य है, उसमें भी प्रकृतिका लक्षण अतिव्याप्त नहीं है। गुणोंके सम्बन्धमें प्रमाणके उपदर्शक भूतेन्द्रियात्मक विशेषणकी व्याख्या करते हैं—तदेतद्भूतेति—वह दृश्य भूत और इन्द्रियात्मक है--'भूतभावेन'का विवरण है—पृथिव्यादिना

--उनमें भी अवान्तर विशेषको कहते हैं--सूक्ष्मस्थूलेन-तन्मात्रा सूक्ष्म हैं और पृथिवी आदि महाभूत स्थूल हैं। इन्द्रियभावेन, इसका विवरण है श्रोत्रादिना, श्रोत्रादिमें भी अवान्तर विशेषोंको कहते हैं--सूक्ष्मस्थूलेन। महद् और अहंकार सूक्ष्म इन्द्रियाँ हैं। एकादश इन्द्रियाँ स्थूल हैं। इन्द्रियोंके संघातमें ईश्वर कारण है।

भोगापवर्गार्थमिति—यह गुणका ही दूसरा विशेषण है। मोक्षके उपपादककी व्याख्या करते हैं—"तत्तु नाप्रयोजनमिति" वह गुणत्रय प्रयोजनशून्य भूत और इन्द्रियरूपसे प्रवृत्त नहीं होता—किंतु प्रयोजनको लेकर ही प्रवृत्त होता है। अतः इस प्रकारका गुणत्रय पुरुषके भोग और अपवर्गके लिये ही प्रवृत्त होता है। भोग और अपवर्गकी व्याख्या करते हैं—तत्रेष्टानिष्टेति—इष्ट और अनिष्ट गुण सुखदुःखात्मक शब्द आदि विषय हैं। उनके स्वरूपका अवधारण तदाकार बुद्धिकी वृत्ति है—पुरुषनिष्ठ साक्षात्कार नहीं; क्योंकि बुद्धिनिष्ठता आगे कहेंगे। "स हि तत्फलस्य भोक्ता"- इससे पुरुषनिष्ठ भोगान्तरको भी आगे कहेंगे, पुरुषनिष्ठ भोगके चित् स्वरूप होनेसे तथा नित्य होनेसे वह पुरुषनिष्ठ भोग सुतरां फल नहीं है—यह भाव है। शब्द आदिकी वृत्तिके कालमें, विवेकख्याति होनेपर आगे कहा अपवर्ग ही है, अतः इस प्रकारके शब्द आदिकी व्यावृत्तिके लिये 'अविभागापन्नं' यह विशेषण पुरुषके साथ अविविक्त है (अमिश्रित है) अर्थात् अहंकारसे मम (मेरा) यह आत्मनिष्ठतया अभिमान होना (भोग है), जीवन्मुक्तको भोग नहीं भोगाभास ही होता है; क्योंकि मैं सुनता हूँ इत्यादि अभिमान है अंदर जिनके उन शब्द आदि वृत्तिके गुणोंमें ही भोग व्यवहार होता है। भोक्तुरिति—भोक्ता पुरुषका जो स्वरूप-उपाधिरहित चैतन्य है तदाकार बुद्धि अपवर्ग है।

आदौ तु मोक्षो ज्ञानेन द्वितीयो रागसंक्षयात्।
कृच्छ्रत्रयात् तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षलक्षणम्॥

प्रथम मोक्ष ज्ञानसे होता है, दूसरा मोक्ष रागके क्षयसे होता है और तीसरा मोक्ष दुःखत्रयके छूट जानेसे होता है—यह मोक्षलक्षणकी व्याख्या हो गयी। इसमें यह पञ्चशिखाचार्यका वाक्य प्रमाण है। अथवा अपवृज्यतेऽनेनेति--हट जाता है--छूट जाता है--जिसके द्वारा दुःखसे वह अपवर्ग है। इस व्युत्पत्तिसे भी दुःखत्रयसे छूटना ही अपवर्ग है।

शङ्का — क्यों जी? भोग और अपवर्गके सिवाय अन्य प्रयोजनार्थ दृश्य क्यों नहीं होता?

समाधान — द्वयोरिति--इन दो भोग और अपवर्गके अतिरिक्त दर्शन नहीं हैं, बुद्धिकी वृत्ति नहीं है। अविभागापन्नतामें पञ्चशिखाचार्यके संवादको प्रमाण देते हैं--तथा चोक्तमिति--लोकमें सबके कर्ता गुणोंके विद्यमान होनेपर भी तीन गुणोंकी अपेक्षासे जो चौथा पुरुष है, जो कि गुणोंके व्यापारका साक्षीमात्र है, उसीमें कर्ता बुद्धिसे समर्प्यमाण गुणोंके परिणामोंको युक्तिसिद्धके समान देखता हुआ मूढ़ गुणोंसे अन्य चैतन्य दर्शनकी सम्भावनातक नहीं करता है। इस विवेकके अग्रहणमें भिन्नत्वमें हेतु है, तुल्यातुल्यजातीय यह पुरुषका विशेषण। बुद्धि और पुरुष दोनों ही स्वच्छ हैं और सूक्ष्म हैं, इस समानतासे गुण और पुरुष दोनों तुल्य जातीय हैं। पुरुष चेतन अपरिणामी है और गुण जड़ हैं, परिणामी हैं—इस भिन्नतासे गुण और पुरुष विजातीय हैं, यह आशय है।

यहाँ भाष्यमें तीन गुणोंकी अपेक्षासे पुरुषको चतुर्थ कहा है--इस वचनसे अन्य भी जो तुरीय वाक्य हैं, वे जाग्रत् आदि अवस्थामें जो तीन गुण हैं, उनकी अपेक्षासे जो पुरुषका साक्षित्व है, उसको ही पुरुषकी तुरीया (चतुर्थ) अवस्था कहा है, यह बात सिद्ध है, ऐसा ही स्मृति भी कहती है—

सत्त्वाज्जागरणं विद्याद् रजसा स्वप्नमादिशेत् ।
प्रस्वापनं तु तमसा तुरीयं त्रिषु संततम् ॥

सत्त्वगुणसे जागरण जानो और रजोगुणसे स्वप्न तथा तमोगुणसे सुषुप्ति समझो और तुरीय (साक्षी) इन तीनों जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिमें सतत ओतप्रोत है, ऐसा समझना चाहिये ।

शङ्का—क्योंकि भोग और अपवर्ग गुणोंका कार्य होनेसे गुणनिष्ठ हैं, फिर पुरुषके भोग और अपवर्गके लिये दृश्य है यह कैसे कहते हैं ?

समाधान—तावेताविति—यद्यपि भोग और अपवर्ग बुद्धिकृत हैं, यह अन्वय और व्यतिरेकसे सिद्ध है कि ये बुद्धिके कार्य हैं, अतः उनको बुद्धिमें माननेमें ही लाघव है, पुरुषनिष्ठ माननेमें लाघव नहीं है । दृष्टान्त दिखलाकर परिहार करते हैं— यथेत्यादिना—पुरुषमें स्वामी होनेसे जयकी भाँति भोग और अपवर्ग व्यपदेशसे (अमुख्यमें मुख्य व्यवहारसे) कहे जाते हैं, यह वाक्यार्थ है । बन्ध और मोक्ष यथोक्त भोग और अपवर्ग हैं । वह पुरुष ही उनके फलका भोक्ता है । बुद्धिगत विषयावधारण और पुरुषावधारणके फल सुख-दुःख आदिरूप फलका भोक्ता है, अपनेमें प्रतिबिम्बित सुख-दुःखका साक्षी है । अतः उन सुख-दुःखका स्वामी है । यहाँ पुरुषका भी स्वतन्त्र भोग कहा है और "स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्ति" शास्त्रके इस अन्तिम सूत्रमें पुरुषका स्वतः ही मोक्ष भी कहेंगे, अतः पुरुषके भोग और अपवर्गका निषेध नहीं है, क्योंकि बुद्धिगत भोग और अपवर्गको स्वतः पुरुषार्थता नहीं है और करणके व्यापारकी पुरुषार्थता सिद्ध है । अपितु—परिणामरूप भोग और अपवर्गका ही पुरुषमें निषेध किया गया है । इसीलिये तौ-एतौ इस विशेषणसे भाष्यकारने भोग और अपवर्गको विशेपित किया है अर्थात् (तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ) ऐसा विशेषण दिया है ।

संसारी पुरुषोंको ही मुख्य भोग-बुद्धिकी वृत्तिसे अभिन्न सुखादिका साक्षात्कार होता है और जीवन्मुक्त तथा ईश्वरको तो गौण भोग होता है, जो सुखादिके साक्षात्कार मात्र रूप होता है । यह बात ईश्वरके लक्षणवाले सूत्रमें हमने प्रतिपादन की है । यदि पुरुषमें पृथक् भोग और मोक्ष न मानें तब—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥
"मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः"

कार्य, करणके कर्तृत्वमें प्रकृति हेतु कहलाती है और सुख-दुःखके भोगमें पुरुषको हेतु कहते हैं । अन्यथा रूपको त्यागकर स्वरूपसे व्यवस्थिति मुक्ति है । इत्यादि वाक्य उत्पन्न न हो सकेंगे । बुद्धिके ही परमबन्ध और मोक्ष भी दर्शाते हैं "बुद्धेरेवेति" बुद्धिरूपसे परिणत गुणोंको ही पुरुषार्थकी असमाप्ति बन्धन है और विवेकख्यातिद्वारा तदर्थावसाय—पुरुषार्थकी समाप्ति अपवर्ग है तथा च यथोक्त भोग और अपवर्गरूप पुरुषार्थोंके साथ सम्बन्ध बुद्धिका बन्ध है और पुरुषार्थोंसे बुद्धिका वियोग मुक्ति है, यह भाव है— ये दोनों बुद्धिके परम बन्ध और परम मुक्ति हैं । और पूर्वोक्त भोग और अपवर्ग अपर बन्धन और जीवन्मुक्ति हैं, इसलिये कोई विरोध नहीं ।

एतेनेति—इससे शब्द आदि विषय-भोग और विवेकख्याति पुरुषमें औपचारिक होनेसे ग्रहण-धारणादि भी पुरुषमें औपचारिक सत्तावाले हैं, वह जानना चाहिये । स्वरूपमात्रसे अर्थोंका ज्ञान-ग्रहण है । चिन्तनको धारणा कहा है, अर्थगत विशेषकी तर्कणाको ऊहा कहते हैं, वितर्कके अंदरसे विचारद्वारा कितनोंहीके निराकरणको अपोह माना है, वितर्कके-मध्यमेंसे विचारद्वारा कुछका अवधारण तत्त्वज्ञान है ।

तदाकारतापत्ति अभिनिवेश है। प्रकृतयोगकी भूमिका मात्रसे ही यहाँ चित्तके परिणामोंको गिना है। इनसे दूसरे भी इच्छा, कृति आदि उपलक्षित जानने चाहिये ॥ १८ ॥

सङ्गति— दृश्यका स्वभाव, स्वरूप और प्रयोजन कहकर अगले सूत्रमें उनकी अवस्थाओंका वर्णन करते हैं—

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

शब्दार्थ— विशेष-अविशेष-लिङ्गमात्र-अलिङ्गानि = विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग; गुण-पर्वाणि = गुणोंकी अवस्थाएँ (परिणाम) हैं।

अन्वयार्थ— गुणोंकी चार अवस्थाएँ (परिणाम) हैं। विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग।

व्याख्या— सत्त्व, रजस् और तमस्— इन तीनों गुणोंकी चार अवस्थाएँ हैं। विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग।

(१) विशेष सोलह हैं। पाँच महाभूत — आकाश, वायु, अग्नि, जल और भूमि जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध-तन्मात्राओंके क्रमसे कार्य हैं; पाँच ज्ञानेन्द्रिय — श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और नासिका; पाँच कर्मेन्द्रिय — वाणी, हस्त, पाद, पायु, और उपस्थ, ग्यारहवाँ मन जो अहंकारके कार्य हैं (१, ४५)। ये सोलह, तीनों गुणोंके विशेष परिणाम हैं। इनको विशेष इस कारणसे कहते हैं कि तीनों गुणोंके सुख, दुःख, मोहादि जो विशेष धर्म हैं, वे सब शान्त, घोर, मूढ़-रूपसे इनमें रहते हैं।

(२) अविशेष छः हैं। पाँच तन्मात्राएँ — शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध जो पाँचों महाभूतोंके क्रमसे कारण हैं; और एक अहंकार जो एकादश इन्द्रियोंका कारण है (१ । ४५)। ये छः क्रमसे अहंकार और महत्तत्त्वके कार्य गुणोंके अविशेष परिणाम हैं। इनमें शान्त, घोर, मूढ़रूप विशेष धर्म नहीं रहते, इसलिये अविशेष कहलाते हैं।

तन्मात्राण्यविशेषाणि अविशेषास्ततो हि ते। न शान्ता नापि घोरास्ते न मूढाश्चाविशेषिणः ॥

तन्मात्राएँ अविशेष हैं। वे इसलिये अविशेष हैं क्योंकि वे शान्त, घोर और मूढ़ नहीं होते।

(३) लिङ्गमात्र— सत्तामात्र महत्तत्त्व (समष्टि तथा व्यष्टि चित्त) यह विशेष-अविशेषसे रहित केवल चिह्नमात्र तीनों गुणोंका प्रथम परिणाम है। लिङ्ग इसलिये कहलाता है, क्योंकि चिह्नमात्र व्यक्त है।

(४) अलिङ्ग— अव्यक्त— मूल प्रकृति अर्थात् गुणोंकी साम्यावस्था। यह अलिङ्ग-अवस्था पुरुषके निष्प्रयोजन है। अलिङ्ग-अवस्थाके आदिमें पुरुषार्थता कारण नहीं है और उस अवस्थाको भी पुरुषार्थता कारण नहीं होती। यह पुरुषार्थकृत भी नहीं है, इस कारण नित्य कही जाती है। अलिङ्ग इसलिये कहलाती है कि इसका कोई चिह्न नहीं अर्थात् व्यक्त नहीं है, अव्यक्त है। ये चारों, तीनों गुणोंके परिणामकी अवस्था विशेष हैं। इनमेंसे पहिली तीन अवस्थाएँ गुणोंके विषम परिणामसे होती हैं, यही पुरुषके प्रयोजनको साधती हैं। चौथी अलिङ्ग-अवस्थामें गुणोंमें साम्य परिणाम होता है, इसकी पुरुषके भोग तथा अपवर्ग किसी प्रयोजनमें प्रवृत्ति नहीं होती, परंतु इसी अवस्थाकी ओर गुणोंके जाननेकी प्रवृत्ति होती है, क्योंकि यह मूल अवस्था है; इसीको प्रकृति, प्रधान, अव्यक्त तथा माया भी कहते हैं। स्थूलसे सूक्ष्म और सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम ज्ञान दिलानेके लिये यह क्रम दिखलाया है। उत्पत्तिका क्रम इससे उल्टा होगा। अर्थात् अलिङ्गसे लिङ्ग, लिङ्गसे छः अविशेष और अविशेषसे सोलह विशेष उत्पन्न होते हैं (१ । ४५)।

इन विशेषोंका कोई तत्त्वान्तर परिणाम नहीं होता, उनके केवल धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम होते रहते हैं, जो तीसरे पादमें बतलाये जायँगे।

शङ्का—गीतामें तीनों गुणोंको प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ बतलाया गया है। यथा—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।

सत्त्व, रजस् और तमस्—ये प्रकृतिसे उत्पन्न गुण हैं।

और यहाँ इस सूत्रमें गुणोंकी साम्य अवस्थाको प्रकृति बतलाया है।

समाधान—वास्तवमें गुणोंकी साम्यावस्था ही अव्यक्त मूल प्रकृति है। गुणोंकी अव्यक्त साम्य अवस्थासे व्यक्त विषम अवस्थामें आनेको ही गीतामें प्रकृतिसे गुणोंका उत्पन्न होना बतलाया गया है। जैसा कि वार्षगण्याचार्यने कहा है—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायैव सुतुच्छकम्॥

गुणोंका असली रूप अर्थात् साम्य परिणाम मूल प्रकृति (अव्यक्त होनेके कारण) दृष्टिगोचर नहीं होता, जो विषम परिणाम दृष्टिगोचर होता है वह माया जैसा है और विनाशी है।

अन्य स्मृतियाँ भी ऐसा ही बतलाती हैं। यथा—

प्रकृतिर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि।
चेष्टायतः स भगवान् काल इत्यभिधीयते॥

हे मानवि! निर्विशेष गुण साम्य प्रकृतिकी जिससे चेष्टा होती है वह भगवान् काल कहलाते हैं।

गुणसाम्यमनुद्रिक्तमन्यूनं च महामते।
उच्यते प्रकृतिर्हेतुः प्रधानं कारणं परम्॥

हे महामते! गुणोंकी साम्यावस्था जो कि गुणोंसे न्यून या अधिक नहीं है, प्रकृति हेतु, प्रधान, कारण और पर कहलाती है।

सांख्यसूत्रमें भी ऐसा बतलाया गया है। यथा—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।

अर्थात् सत्त्व, रजस् और तमस्की साम्य अवस्था प्रकृति है।

विशेष वक्तव्य—गुणपर्वाणि—जैसे बाँसके दण्डमें पोरी होती हैं, सबसे ऊपरकी पतली—सूक्ष्म होती है और क्रमसे नीचेकी मोटी—स्थूल होती जाती हैं, ऐसे ही प्रकृति अलिङ्ग सूक्ष्म है, लिङ्गमात्र (महत्तत्त्व) उससे स्थूल है; और लिङ्गमात्रकी अपेक्षा अविशेष (अहंकार-तन्मात्रा) स्थूल हैं; और अविशेषकी अपेक्षा विशेष स्थूल हैं। इसलिये गुणपर्वाणिका अर्थ यह हुआ कि इन चारों विभागोंमें गुण विभक्त हैं। अर्थात् ये चार गुणोंकी अवस्थाएँ हैं।

सांख्य तथा योगमें जड तत्त्वको तीन विभागोंमें विभक्त किया है—प्रकृति-अविकृति, प्रकृति-विकृति और विकृति-अप्रकृति।

(१) प्रकृति नाम तत्त्वके कारणका और विकृति नाम कार्यका है। तीनों गुणोंकी साम्यावस्थारूप जो अव्यक्त प्रधान है वह केवल प्रकृति है, विकृति नहीं। इसीकी इस सूत्रमें अलिङ्ग संज्ञा दी है, क्योंकि इसका कोई व्यक्त चिह्न नहीं है।

(२) महत्, अहंकार, पञ्चतन्मात्राएँ—ये सात प्रकृति-विकृति हैं, क्योंकि ये सातों कार्य-कारण-स्वरूप हैं। अर्थात् महत्तत्त्व प्रकृतिका कार्य और अहंकारका कारण है। अहंकार महत्तत्त्वका कार्य और पाँचों तन्मात्राओंका कारण है और पाँचों तन्मात्राएँ अहङ्कारका कार्य और पाँचों स्थूलभूतोंके कारण हैं। इनमेंसे महत्तत्त्वकी संज्ञा लिङ्ग है; क्योंकि वह गुणोंका प्रथम कार्य = परिणाम, चिह्नमात्र = सत्तामात्र, व्यक्त है। और अहङ्कार तथा पाँच तन्मात्राएँ, इन छःकी संज्ञा अविशेष है; क्योंकि इनमें शान्त, घोर और मूढ़रूप विशेष धर्म नहीं रहते हैं।

(३) पाँच स्थूलभूत पाँच तन्मात्राओंके कार्य और ग्यारह इन्द्रियाँ अहंकारके कार्य—ये सोलह विकृति-अप्रकृति हैं, क्योंकि ये स्वयंकार्य हैं और किसीका कारण नहीं हैं। इन सोलहकी विशेष संज्ञा है; क्योंकि इनमें शान्त, घोर और मूढ़ विशेष धर्म रहते हैं। चेतन पुरुष अप्रकृति-अविकृति है अर्थात् वह न किसीका कार्य है, न कारण है। अपरिणामी, कूटस्थ नित्य है (विशेष व्याख्या १ । १ में देखो)।

(यहाँ यह भी बतला देना आवश्यक है कि तीनों गुण सब धर्मोंमें परिणामको प्राप्त होनेवाले न नष्ट होते हैं, न उत्पन्न होते हैं, किंतु अतीत, अनागत, वर्तमानरूपसे विषम अवस्थामें उत्पत्ति-विनाशशील प्रतीत होते हैं। जैसे कि लोकमें देवदत्त दरिद्र हो गया; क्योंकि उसका धन हरण हो गया और गाय आदि पशु मर गये। यहाँ दरिद्रताका व्यवहार गाय आदिके मरनेसे उसमें आरोप किया जाता है, न कि उसके स्वरूपसे हानि होनेसे। इसी प्रकार गुणोंका समाधान है अर्थात् कार्यके उत्पत्ति-विनाशरूप परिणामसे गुणोंके स्वरूपमें परिणाम नहीं होता। गुणत्व धर्म सर्वदा एक-सा बना रहता है।

यहाँपर सत्कार्यवादका सिद्धान्त समझ लेना चाहिये अर्थात् प्रथम कार्य जो लिङ्गमात्र महत्तत्त्व है, वह उत्पत्तिसे पूर्व प्रधानमें सूक्ष्मरूपसे स्थित हुआ ही प्रधानसे विभक्त हुआ है। पहिले असत् नहीं था, इसी प्रकार छः अविशेष लिङ्गमात्र महत्तत्त्वमें पहिले सूक्ष्मरूपसे स्थित ही अभिव्यक्त हुए हैं। इसी प्रकार सोलह विशेष भी अविशेषोंमें स्थित हुए ही विभक्त होते हैं। सोलह विशेषोंसे आगे कोई नया तत्त्व नहीं बनता है। अर्थात इनका कोई नया तत्त्वरूप कार्य नहीं, इसलिये न उनमें कोई सूक्ष्मरूपसे स्थित है, न कोई तत्त्वान्तर उत्पन्न होकर विभक्त होता है, अतः उनका नाम विकृति है।

टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद सूत्र ॥ १९ ॥ दृश्य गुणोंके भेदोंका निश्चय करानेके लिये यह सूत्र आरम्भ होता है—विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग—ये गुणोंके पर्व हैं।

उनमें आकाश, वायु, अग्नि, उदक और भूमि—ये पाँच भूत हैं और ये पाँच भूत शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तन्मात्राओं अविशेषोंके विशेष हैं। तथा श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण-ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं। वाक्, हाथ, पैर, पायु (गुदा) और उपस्थ (जननेन्द्रिय) ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं। मन सर्वार्थ ग्यारहवाँ इन्द्रिय है। ये सब अहंकाररूप अविशेषके विशेष हैं, गुणोंके ये सोलह विशेष परिणाम हैं। छः अविशेष हैं—शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा—ये एक, दो, तीन, चार और पाँच लक्षणवाले शब्दादि पाँच अविशेष हैं और छठा अहंकारमात्र अविशेष है। ये सत्तामात्रस्वरूप महत्तत्त्वके छः अविशेष परिणाम हैं और जो कि अविशेषोंसे पर है—लिङ्गमात्र है, वह महत्तत्त्व है। ये (छः अविशेष) उस सत्तामात्र महत्तत्त्वमें अवस्थित रहकर विवृद्धिकी पराकाष्ठाका अनुभव करते हैं और प्रतिसंसृज्यमान

(प्रलयको प्राप्त होते हुए) उसी सत्तामात्र महत्-आत्मामें अवस्थित होकर निःसत्तासत्त-निःसदसद्-निरसद् अव्यक्त अलिङ्ग; प्रधानमें लीन होते हैं यह उनका लिङ्गमात्र परिणाम है, निःसत्तासत्त-अलिङ्ग परिणाम है; अतः अलिङ्गावस्थामें पुरुषार्थ हेतु नहीं है । आदिमें—अलिङ्गावस्थामें पुरुषार्थकता कारण नहीं होती है। यतः उसका पुरुषार्थकता कारण नहीं होती; अतः वह पुरुषार्थकृत न होनेसे नित्य कहलाता है ।

तीन—विशेष, अविशेष और लिङ्गमात्र —जो अवस्थाविशेष हैं, इनके आदिमें पुरुषार्थता कारण होती है । वह अर्थ हेतु, निमित्त कारण होता है, अतः अनित्य कहा जाता है । गुण तो सर्वधर्मानुपाती हैं—न लीन होते हैं, न उत्पन्न होते हैं । गुणान्वयिनी, अतीत, अनागत व्यय आगमवाली व्यक्तियोंसे ही उपजन, अपाय धर्मवाले जैसे भासते हैं । जैसे कहते हैं कि देवदत्त कंगाल हो गया; क्योंकि इसकी गौ मर गयी है । गौके मौतसे उसकी कंगाली है, उसके स्वरूपकी हानिसे उसकी कंगाली नहीं है, इसके समान ही यह समाधान हैं, लिङ्गमात्र अलिङ्गके प्रत्यासन्न है, क्रमका उल्लङ्घन न करके उस प्रधानसे संसृष्ट विभक्त होता है । तथा छः अविशेष परिणामके क्रमसे लिङ्गमात्रमें संसृष्ट विभक्त होते हैं, तथा उन अविशेषोंमें भूत और इन्द्रियाँ संसृष्ट विभक्त होते हैं, तथा च यह पूर्व कहा है कि विशेषोंसे परे तत्त्वान्तर नहीं होता, अतः विशेषोंका तत्त्वान्तर परिणाम नहीं होता है । उन विशेषोंके धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम कहलाते हैं, व्याख्या किये जाते हैं ।। १९ ।।

विज्ञानभिक्षुके योगवार्तिकका भाषानुवाद ।। १९ ।। इस सूत्रने गुणोंको ही दृश्य कहा है, गुणोंके विकारोंको दृश्य नहीं कहा है, अतः इस न्यूनताके निरासार्थ अगले सूत्रका अवतरण करते हैं—दृश्यानां तु —दृश्योंके स्वरूप-भेदके निश्चयार्थ—अवान्तर भेदोंके प्रतिपादनार्थ इस सूत्रका आरम्भ होता है—

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ।

गुणरूप बाँस है, उस गुणरूप बाँसके अलिङ्ग आदि चार पर्व हैं—चार पोरी हैं । बीज और अङ्कुरकी भाँति अवस्थाभेद हैं, अत्यन्त भिन्न नहीं हैं—अतः गुणोंमें ही सब दृश्योंका अन्तर्भाव है, यह सूत्रकारका आशय है ।

कार्योंसे कारणोंका अनुमान हुआ करता है, इस आशयसे विशेषादिके क्रमसे पर्वोंकी गिनती है । उनमेंसे जिस-जिस अविशेषका जो-जो विशेष है, उसको कहते हैं—तत्राकाशेति—आकाश आदि भूत शब्द आदि तन्मात्राओंके जो कि शान्त आदि धर्मोंसे शून्य शब्द आदि द्रव्यवाले सूक्ष्म द्रव्य हैं, इसीलिये जिनका नाम अविशेष है, उनके विशेष हैं । अभिव्यक्त शान्त आदि विशेषवाले यथाक्रम परिणाम हैं ।

तथा इति विशेषा—इसके साथ अन्वय है । अर्थात् श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण ये ज्ञानेन्द्रिय और वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ—ये कर्मेन्द्रिय और सर्वार्थ मन—ये सब एकादश अस्मितारूप अविशेषके विशेष हैं । मनको इन्द्रियोंमें प्रवेशके लिये हेतुगर्भ विशेषण दिया है, सर्वार्थ-सर्वेषां दशेन्द्रियाणां अर्था एवार्था यस्य इति मध्यमपदलोपी समासः । सब दस इन्द्रियोंके अर्थ (विषय) ही हैं विषय जिसके वह मन सर्वार्थ है । यह मध्यमपदलोपी समास है, क्योंकि मनकी सहायतासे ही श्रोत्रादि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयको ग्रहण करती हैं, अतः मन सर्वार्थ है। अहंकारके अविशेषत्वमें हेतुगर्भ विशेषण है। अस्मितालक्षणस्येति—अस्मितारूप—अभिमानमात्र धर्मवाले श्रवण, स्पर्शन, दर्शन आदि विशेषरहित अहंकारके ये श्रोत्रादि विशेष हैं । इकट्ठा करके विशेष पर्वका उपसंहार करते हैं । गुणानामिति—गुणोंके

ये सोलह विशेष परिणाम हैं। इस भाँति पाँच भूत, एकादश इन्द्रियगण यह षोडश संख्यावाला गुणोंका विशेष नामवाला परिणाम है।

शङ्का—इन्द्रियोंके समान तन्मात्राओंको अहंकारका विशेष क्यों नहीं कहा? क्योंकि तन्मात्रा भी शब्द, स्पर्श आदि विशेषवाले हैं?

समाधान—यह नहीं कह सकते; क्योंकि विशेषमात्रको ही यहाँ विशेष कहा है, तन्मात्रा विशेषमात्र नहीं है, क्योंकि वे भूतोंकी अविशेष भी हैं। अविशेष पर्वकी व्याख्या करते हैं। षड् अविशेषा इति-छःको गिनते हैं—शब्दतन्मात्रमित्यादिसे अस्मितामात्र इसतक, एक द्वि त्रीति। लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम्—जिससे लखाया जाय उसको लक्षण कहते हैं, वह धर्म होता है,—यहाँ तन्मात्राओंको द्रव्यत्व प्रतिपादन करनेके लिये लक्षण पद दिया है। तथा उत्तरोत्तर तन्मात्राओंमें पूर्व-पूर्व तन्मात्राओंके हेतु होनेसे शब्द तन्मात्र शब्द धर्मवाली हैं, तत्कार्यतयास्पर्शतन्मात्र शब्द-स्पर्श उभय धर्मवाली है, इस प्रकार क्रमसे एक-एक लक्षण धर्मकी वृद्धि होती है, इनमें मात्र शब्दके साथ शान्त आदि विशेषकी ही व्यावृत्ति है, गुणान्तरके सम्पर्ककी व्यावृत्ति नहीं है; क्योंकि एकद्वित्र्यादि लक्षणत्वको कहा गया है।

तन्मात्राण्यविशेषाणि अविशेषास्ततो हि ते। न शान्ता नापि घोरास्ते न मूढाश्चाविशेषिणः॥

इतिविष्णुपुराणाच्च—तन्मात्रा अविशेष हैं इसलिये वे अविशेष हैं; क्योंकि वे शान्त, घोर और मूढ नहीं होते, अतः अविशेष हैं, यह बात इस विष्णुपुराणसे प्रमाणित होती है।

शङ्का—तन्मात्राओंमें परस्पर कार्यकारणभाव सिद्ध हो जानेपर ही कारण गुणके क्रमसे उत्तरोत्तर गुण-वृद्धि हो जायगी, उसीमें क्या प्रमाण है? क्योंकि श्रुति और स्मृतियोंको तो स्थूल भूतोंके विषयमें ही आकाशादिके क्रमसे कारणता है?

समाधान—आकाशादि स्थूल भूतोंसे वायु आदिकी उत्पत्ति दिखलानेसे सूक्ष्मभूतोंमें भी उसी प्रकारके कार्य-कारणभावकी कल्पना उचित है, ये तन्मात्रा तामस अहंकारसे शब्द आदिके क्रमसे उत्पन्न होते हैं, यह जानना चाहिये। अस्मिता मात्रा-अभिमान वृत्तिवाला है, उससे इन्द्रियभावापन्न अहंकारकी व्यावृत्ति होती है। "एते सत्तामात्रस्येति" ये सत्तामात्र महत्तत्त्वके षड् अविशेष परिणाम हैं। सत्ता—विद्यमानता वा व्यक्तताका नाम है। आदि कार्य होनेसे महत्तत्त्व व्यक्ततामात्र है। प्रलयमें तो सब विकार (कार्य) द्रव्य अतीत और अनागतरूपसे रहते हैं—विद्यमानरूपसे नहीं रहते, अतः आदि विकार अङ्कुरवत् जो महान् है, वह सर्गके आदिमें सत्ताको लाभ करता (विद्यमान अवस्थामें आता) है, वह सत्तामात्र कहलाता है और वह सत्सामान्यसे सत्तामात्र कहा जाता है; क्योंकि सद् विशेष अहंकार आदि उस समय अविद्यमान होते हैं। इसीलिये यास्क मुनिने षड्भावविकारोंमेंसे जन्मके उत्तर अस्तिता (सत्ता) ही विकार कहा है। इस प्रकार संसाररूपी वृक्षका अस्तितामात्र परिणाम महत्तत्त्व है और वही अहंकारसे वृद्धि परिणाम है। इस प्रकार सब विकारोंके आत्मारूप बुद्धि नामक महत्तत्त्वके छः परिणाम अविशेष-संज्ञक हैं। सामान्यत्वको अविशेषत्व कहा है। यद्यपि षोडशविशेषोंका सामान्यत्व महत्तत्त्व और प्रकृति इन दोनोंमें है, तो भी विशेष शब्द पङ्कज आदि शब्दोंकी भाँति षड् (छः) में ही योगरूढ है।

यहाँ छः के मध्यमेंसे तन्मात्राओंको बुद्धिकी परिणामता अहंकारके द्वारा ही माननी चाहिये (अर्थात् प्रकृतिसे महत्तत्त्व और महत्तत्त्वसे अहंकार और उससे तन्मात्रा उत्पन्न होते हैं); क्योंकि "सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्" इस सूत्रपर भाष्यने ऐसी ही व्याख्या की है।

लिङ्गमात्र पर्वकी व्याख्या करते हैं—यत्तत्परं —अविशेषोंसे जो पर है—पूर्व उत्पन्न है, बाँसके प्रथम पर्वकी भाँति जगत्का अङ्कुर महत्तत्त्व है उसीको लिङ्गमात्र कहते हैं। लिङ्ग अखिल वस्तुओंका व्यञ्जक है और वह महत्तत्त्व है। महत्तत्त्व ही स्वयम्भू—आदि पुरुष—कार्य ब्रह्मका उपाधिरूप है, जो सर्गके आदिमें सब जगत्को प्रकट करता हुआ उदय होता है जैसा कि सोकर चित्त उठता है। ज्ञानके अतिरिक्त तो व्यापार पीछे अहंकारसे उत्पन्न होता है, अतः महत्तत्त्व लिङ्गमात्र कहलाता है, ऐसा स्मृति भी कहती है—

ततोऽभवन्महत्तत्त्वमव्यक्तात् कालचोदितात् । विज्ञानात्मात्मदेहस्थं विश्वं व्यञ्जंस्तमोनुदः ॥

कालसे प्रेरित उस अव्यक्त प्रकृतिसे आत्मदेहस्थ इस विश्वको व्यक्त करता हुआ तमका नाशक विज्ञानात्मा उत्पन्न हुआ। कोई सज्जन "लयं गच्छतीति लिङ्गम्" जो लयको प्राप्त होता है, वह लिङ्ग है—ऐसा लिङ्गपदका अर्थ करते हैं। वह प्रमाणके प्रभावसे उपेक्षित (त्याज्य) है, क्योंकि अहंकार आदि भी लयको प्राप्त होनेसे लिङ्गमात्र कहे जा सकते हैं, जो उचित नहीं है। तथा लिङ्गमात्रमें जो मात्रशब्दका प्रयोग है, वह उपपन्न न होगा। उस सूक्ष्मरूपमें वे पूर्वोक्त अविशेष विशेष पदार्थ अतीतावस्थासे अनागत अवस्थासे स्थित होकर उत्तरोत्तर बाँसकी पोरीकी भाँति स्थावर और जगमोंकी विवृद्धिकी पराकाष्ठाको प्राप्त होते हैं। 'महान् प्रादुर्भूतब्रह्मा कूटस्थो जगदङ्कुरः' कूटस्थ जगत्का अङ्कुर महान् ब्रह्मा प्रादुर्भूत हुआ—इसमें यह स्मृति प्रमाण है।

तथा प्रतिसंसृज्यमान प्रलीयमान वे उसमें ही अतीत अवस्थासे अनुगत होकर उसके साथ जो प्रसिद्ध तीन गुणोंकी साम्यावस्थारूप अलिङ्ग है—प्रधान नामका मूलकारण है उस प्रकृतिमें लीन होते हैं। इससे यह भी व्याख्या हो गयी कि जगत्की सृष्टि, स्थिति और लयका हेतु महत्तत्त्व उपाधियुक्त कार्य ब्रह्म भी है। प्रधानके अलिङ्गत्वको उपपादन करनेके लिये अव्यक्त यह विशेषण दिया है। स्वयं अव्यक्त होनेसे परस्पर व्यञ्जक नहीं है, अतः अलिङ्ग है—यह आशय है। पुरुषसे पर अभिमत शशशृङ्गादिसे व्यावर्त्तनके लिये "निःसत्तासत्त" विशेषण दिया है। निर्गते पारमार्थिके सत्तासत्ते यस्मात् = निर्गत हैं पारमार्थिक सत् और असत् जिससे—यह विग्रह है। कूटस्थ और नित्यत्व आदि पारमार्थिक सत् है।

सतोऽस्तित्वे च नासत्ता नास्तित्वे सत्यता कुतः ।

सत्के अस्तित्वमें असत्ता नहीं होती, नास्तित्वमें सत्यता कहाँ (अर्थात् नास्तित्वमें सत्यता रह ही नहीं सकती)।

तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किंचित् क्वचित्कदाचिद् द्विज वस्तुजातम् ।
यच्चान्यथात्वं द्विज याति भूयो न तत्तथा तत्र कुतो हि सत्त्वम् ॥

हे द्विजसत्तम ! इस हेतुसे विज्ञानके सिवा कुछ भी, कहीं भी और कभी भी वस्तुसमूह नहीं है। हे द्विज ! जो वस्तु फिर अन्यथा हो जाती है वह वैसी नहीं होती, उसमें सत्ता कहाँ ! (अर्थात् उसमें सत्ता भी नहीं होती) इन गरुडपुराण और विष्णुपुराणके वचनोंसे असत्ता सामान्यके अभावकी ही पारमार्थिक असत्ता सिद्ध है और वह प्रधानमें नहीं है; क्योंकि महद् आदि अखिल विकाररूपोंके साथ प्रलयकालमें नहीं होते हैं। सूक्ष्म दृष्टिसे तो परिणामी होनेसे प्रतिक्षण तत् धर्मरूपसे अपाय होता ही रहता है। यथा श्रुति और स्मृति भी चैतन्य-चिन्मात्रको सत् होते हुए यह जीव लोकक्षय और उदयसे परिवर्तन होता हुआ एक क्षण भी नहीं ठहरता इत्यादि कहती हैं। जैसे यह प्रधान सत्तासे वर्जित है

वैसे पारमार्थिकी असत्तासे भी वर्जित है; क्योंकि सत्ता सामान्यका अभाव ही पारमार्थिक असत्त्व है और वह प्रधानमें नहीं है, क्योंकि वह नित्य है, अर्थ क्रियाकारी है और श्रुति, स्मृति तथा अनुमानसे सिद्ध है। इसी भाँति सत् और असत्से अनिर्वचनीय—त्रिगुणात्मक—माया नामक प्रधान है, यह वेदान्त-सिद्धान्त भी अवधारणीय है।

नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका। सदसद्भ्यामनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी ॥

माया न असद्रूपा है, न सद्रूपा है, न उभयरूपा ही है—वह सत् या असत्से अनिर्वाच्या है, मिथ्यारूपा और सनातनी है (नित्या है)। इन आदित्यपुराणादिमें माया नामक प्रकृतिको पारमार्थिक सत्त्व आदिरूपसे अनिरूप्या कहा है।

प्रपञ्चकी अत्यन्त तुच्छता या अत्यन्त विनाशिता वेदान्तका सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि "नाभाव उपलब्धेः" २।२।२८; "भावे चोपलब्धेः" २।१।१५ इन वेदान्तके सूत्रोंने अत्यन्त तुच्छताका निराकरण किया है। "सत्त्वाच्चावरस्य"२।१।१६, "असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्" २।१।१७; "वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्" इत्यादि यथाश्रुत वेदान्तसूत्रोंसे प्रपञ्चकी सत्-असत् रूपताकी ही सिद्धि होती है। "धर्मान्तरेण" का अर्थ है अतीत और अनागत धर्मसे और शास्त्रोंमें स्वप्न आदि दृष्टान्त क्षणभङ्गुरत्व और पारमार्थिक असत्त्व अंशसे ही जानने चाहिये। स्वप्न और गन्धर्वनगर आदि भी अत्यन्त असत् नहीं हैं;क्योंकि स्वप्न आदिमें भी साक्षि-भास्य मानस पदार्थ माने हैं। यदि ऐसा न मानें तो "सन्ध्ये सृष्टिराह हि" वेदान्तसूत्रसे ही स्वप्नमें जो सृष्टिका अवधारण किया उससे विरोध होगा! 'न स्वप्नादिवत्' इस वेदान्तसूत्रमें जाग्रत्-प्रपञ्चका केवल मानसत्व होना ही निषेध किया है। इससे जो स्वप्नादिके दृष्टान्तोंके द्वारा प्रपञ्चको मनोमात्र माना है, वह नवीन वेदान्तियोंका अपसिद्धान्त ही है; क्योंकि वेदान्तसूत्रने भी स्वप्न-तुल्यत्वके अभावका निर्णय किया है, इसलिये यथोक्त ही प्रपञ्चका "असत्त्व" ब्रह्ममीमांसाका भी सिद्धान्त समान तन्त्र सिद्ध है। कोई यहाँ उत्तर विशेषणमें अर्थ क्रियाकारित्व ही सत्त्व विवक्षित है और वह प्रलयकालमें प्रकृति और प्रकृतिके कार्यमें होता नहीं, अतः प्रकृति सत् नहीं—ऐसी शङ्का करते हैं ! वह ठीक नहीं है; क्योंकि इस युक्तिसे ईश्वरसे अन्य पुरुष भी प्रलयकालमें अर्थ क्रियाकारी न होनेसे असत् हो जायेंगे। जीवोंमें भी विषयके प्रकाशनरूप व्यापारका उपरम ही असत्ता-लय-स्वाप-प्रलयमें है, यह ईश्वर प्रकरणमें श्रुति और स्मृतियोंमें प्रसिद्ध है। अतः प्रधानके पारमार्थिक सत्-असत्के अभावकी सिद्धिके लिये उसके विकारोंके भी पारमार्थिक सत्-असत् नहीं है—यह प्रतिपादन करनेके लिये प्रधानका विशेषणान्तर है 'निःसदसद् इति'—निर्गत हैं सत्-असत् जिससे—ऐसा विग्रह है। 'निःसन्निरसद्' ऐसा पाठ होनेपर भी अर्थ वह ही है। प्रधान वृत्ति जितना विकार-समूह है। वह पारमार्थिक सत् नहीं है; क्योंकि परिणामी होनेसे अपने धर्मोंद्वारा प्रतिक्षण उसका विनाश होता रहता है। आदि अन्तकी व्यक्ति अवस्थासे भी असत् ही है। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिका इत्येव सत्यम्।' विकार नामधेय (घट,शराव आदि) वाचारम्भण है (वाणीका विलास है)। मृत्तिका है, इतना ही सत्य है।

'अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥' हे भारत! ये भूत आदिमें अव्यक्त थे, अब मध्य (वर्तमान) में व्यक्त हैं, मृत्यु होनेपर फिर अव्यक्त हो जायँगे। इनके विषयमें परिदेवना क्या ? (दुःख नहीं मानना चाहिये, चिन्ता नहीं करनी चाहिये)। इत्यादि श्रुति और

स्मृति विकारोंके नित्यतारूप सत्त्वका निराकरण करती हैं। यहाँ श्रुतिमें विकारोंके आदि और अन्तमें नाममात्र अवशेष होनेसे स्थिर न होनेके कारण अस्थिरकी अपेक्षासे कारणकी स्थिरस्वरूप सत्यता विवक्षित है; क्योंकि 'नित्यो नित्यानां सत्यस्य सत्यम्' वह नित्योंका नित्य है, सत्यका भी सत्य है। इन दूसरी श्रुतियोंमें भी इसी प्रकारका अर्थ सिद्ध है। विकार अत्यन्त तुच्छ हैं—इस कारणसे उनके नित्यतारूप सत्त्वका निराकरण नहीं है। यदि तुच्छतया निराकरण मानें तो मृद्विकार जो ब्रह्मविकारमें दृष्टान्त दिया है वह उपपन्न न होगा; क्योंकि लोकमें मृद्विकारकी अत्यन्त तुच्छता सिद्ध नहीं है, जिससे कि ब्रह्मके कार्य प्रपञ्चके तुच्छ होनेपर उसकी दृष्टान्तता बन सके? जिस प्रकार प्रधान वृत्ति कार्यसमूह अत्यन्त सत् नहीं है, उसी प्रकार अत्यन्त असत् भी नहीं है; क्योंकि अतीत और अनागतरूपोंसे सदा ही सत् है। 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' वह ही तो यह अव्याकृत था।

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥

यह दृश्य जगत् प्रलयावस्थामें तमोभूत, अप्रज्ञात, अलक्षण, अप्रतर्क्य, अविज्ञेय, सर्वतः प्रसुप्तवत् था—इत्यादि श्रुति और स्मृतियोंसे कार्य-जगत्‌की कारणरूप सत्ता सिद्ध है।

शङ्का—इस प्रकार विकारसहित प्रधानके सत् और असत्‌का प्रतिषेध हो जानेपर, प्रकृतिकी सत् और असत् आत्मताका प्रतिपादन करनेवाली सकड़ों श्रुति और स्मृतियोंका विरोध होगा? और 'सद-सद् बाधाबाधाभ्याम्' इस सांख्यसूत्रसे भी विरोध होगा।

समाधान—ऐसा नहीं है; क्योंकि इस प्रकारके जितने वाक्य हैं, वे सब व्यक्त और अव्यक्तरूप व्यावहारिक सत् और असत्‌परक हैं। सांख्यसूत्रमें बाध और अबाधरूप भेदसे सार्वकालिक हैं। कहा है—

जगन्मयी भ्रान्तिरियं कदापि न विद्यते। विद्यते न कदाचिच्च जलबुद्‌बुदवत् स्थितम्॥

यह जगत्‌मयी भ्रान्ति कभी भी नहीं है, यह बात नहीं है, कभी-कभी नहीं होती। इसकी स्थिति जलके बुद्‌बुदके समान है।

भ्रान्ति—यह पारमार्थिक भ्रमको लेकर ज्ञान और ज्ञेयके अभेदरूपकी विवक्षासे कही गयी है। अतएव गौतम सूत्र है—

'तत्त्वप्रधानभेदाच्च मिथ्याबुद्धेर्द्वैविध्योपपत्तिरिति' तात्त्विक मिथ्याबुद्धि—अनित्य पदार्थका ज्ञान है, वह प्रधान मिथ्याज्ञान है, प्रसिद्ध मिथ्याज्ञान है; जैसे शुक्तिमें रजत-ज्ञान। पारमार्थिक भ्रमका लक्षण है—तद्भाववति तत्प्रकारक अथवा असद्‌विषयकता, यह दोनों ही परिणामी नित्य पदार्थ बुद्धियोंमें हैं। व्यावहारिक और पारमार्थिक भेदसे सत्ता आदिकी द्विप्रकारता विष्णुपुराण आदिमें प्रसिद्ध है।

सद्‌भाव एषो भवते मयोक्तो ज्ञानं तथा सत्यमसत्यमन्यत्।
एतच्च यत्संव्यवहारभूतं तथापि चोक्तं भुवनाश्रितं तत्॥

जैसे यह ज्ञान सत्य है और अन्य सब असत्य है, यह सद्‌भाव मैंने आपके लिये कह दिया है! और यह जो संव्यवहाररूप है, जो लोकके आश्रित है वह भी कह दिया है। तीसरी लोकसिद्ध परमात्म-चैतन्य सत्ता भी है, जो मनोमात्र परिणाम, शुक्तिमें रजत और स्वप्नके पदार्थोंकी सत्ता है। जो परमात्म-चैतन्य सत्य है, जीव-चैतन्य सत्य नहीं है, यह वेदान्तरहस्य है—

नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा इत्यादि श्रुतिसिद्ध है। वह तो लय शून्यत्वरूपा अति पारमार्थिक सत्ताके अभिप्रायसे समझनी चाहिये। प्रलयकालमें ही परमात्मामें प्रकृति और पुरुषोंके व्यापारके उपरमरूप लय होता है। 'प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ लीयेते परमात्मनि' प्रकृति और पुरुष—ये दोनों परमात्मामें लीन होते हैं। इत्यादि वाक्योंसे यह सिद्ध है। परमात्मा सदा जाग्रत्‌रूपसे लयशून्य है। वही परमार्थ सत है। प्रकृति और पुरुष परमार्थ सत् नहीं है—यह नवीन वेदान्त वाक्योंकी मर्यादा है। इससे सत् और असतके विरोधसे एकत्र असम्भवका भी वारण हो गया; क्योंकि व्यवहार और परमार्थके भेदसे, कालके भेदसे, अवच्छेदके भेदसे, स्वरूपके भेदसे और प्रकारके भेदसे इनका अविरोध है। इस प्रकार श्रुति और न्यायसे सिद्ध सत्यत्व और मिथ्यात्वके विभागको न जानते हुए आधुनिक वेदान्तियोंके प्रपञ्चका अत्यन्त असत्यत्व आदिरूप नास्तिकोंके सिद्धान्तके अनुसार अप-सिद्धान्त हैं—अतः मुमुक्षुओंको दूरसे ही त्यागने चाहिये; क्योंकि सामान्यन्यायसे अन्यत्र सिद्धान्तोंको ही ब्रह्ममीमांसाके सिद्धान्त कहा गया है। इस प्रकार सब ठीक है।

लिङ्गमात्र परिणामका उपसंहार करते हैं—एष तेषाम्—यह गुणोंका लिङ्गमात्र परिणाम है। अलिङ्ग पर्वकी व्याख्या करते हैं—निःसत्तासत्तं चेति—निःसत्तासत्त अलिङ्ग परिणाम है, निःसत्तासत्त इस कथनमें जो पदार्थ है वह अलिङ्ग नामक गुणोंका परिणाम है और वह साम्यावस्थात्मक गुणोंसे अतिरिक्त है, इससे उस प्रधानकी गुणात्मता सिद्ध होती है। उसी साम्यावस्थाके लिये प्रधानवाची शब्द, धर्म-धर्मीके अभेदसे महदादिकी व्यावृत्तिके लिये ही यहाँ श्रुति-स्मृतियोंमें प्रयोग किया है। परमार्थसे तो गुण ही तद्रूप लक्षित प्रधान हैं, भाष्यमें गुणोंको ही प्रधान शब्दसे कहा है। अब पर्व और गुणोंके परस्पर वैधर्म्यसे भेद प्रतिपादन करते हैं—उनमेंसे पहिले अलिङ्ग अवस्थारूप पर्वका तीनों पर्वसे और गुणोंसे वैधर्म्यका प्रतिपादन करते हैं—अलिङ्गावस्थायामिति–पुरुषार्थ विषयभोग और विवेकख्याति तथा उनके कार्य-सुख और दुःखाभाव लिङ्ग अवस्थाके प्रति हेतु नहीं है; क्योंकि अलिङ्ग-अवस्थामें आदिमें सृष्टिके पहिले पुरुषार्थता—पुरुषार्थसमूह कारणरूपसे अभिमत नहीं हो सकते। दुःख-निवृत्तिकी व्यावृत्तिके लिये कारण यह शब्द कहा है। प्रलयकालमें दुःखनिवृत्तिकी कर्मके क्षयसे ही उपपत्ति होनेसे प्रलयमें प्रयोजन न रहनेसे दुःखकी निवृत्ति प्रलयका कारण नहीं होती—यह आशय है। उपसंहार करते हैं—न तस्या इति–यों कहा जा सकता है—व्यक्त अवस्थामें गुणोंसे शब्द आदिके उपभोग आदिरूप पुरुषार्थ होता है अतः वह उसमें अनागतावस्था कारण हो, साम्यावस्थामें तो तज्जन्य कोई भी पुरुषार्थ नहीं होता अतः इस अव्यक्त अवस्थामें पुरुषार्थ कारण नहीं है। इससे क्या प्रयोजन है। यह कहते हैं—वह साम्यावस्था पुरुषार्थकृत नहीं है, अतः शास्त्रोंमें नित्य कहलाती है। नित्यास्वाभाविकी है अनैमित्तिकत्वसे तीनों पर्वोंकी अपेक्षासे स्थित स्वाभाविकत्व होनेपर भी धर्मादिकोंसे प्रतिबन्ध यहाँ गुणोंका साम्यरूप परिणाम है यह भाव है। अव्यक्त अवस्थाकी स्वाभाविकता व्यक्त अवस्थाकी अपेक्षासे नहीं होती, बहुत कालतक अवस्थायित्व ही नित्यत्व-सत्यत्व आदि दूसरे नामोंके व्यवहारसे सिद्ध है। धर्म नित्य है, सुख-दुःख अनित्य है इत्यादि—महाभारत आदिमें व्यवहार होता है, इस प्रकारका नित्यत्व गीतादिमें कहा है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

हे भारत ! ये भूत आदिमें अव्यक्त थे और मध्य (वर्तमान) में व्यक्त हैं, निधन—मृत्यु (अन्त) में फिर अव्यक्त हो जाते हैं; इसमें परिदेवन क्या ? इत्यादिसे यही बात कही है ।

अथवा सर्वदा सत्त्वरूप ही नित्यत्व यहाँके लिये भी सही, सृष्टिकालमें भी गुणोंके साम्यका अत्यन्त उच्छेद नहीं होता है, अंशसे ही वैषम्य है । आवरणरूप गुण-साम्य सदा ही रहता है । अन्यथा साम्यावस्थाका अत्यन्त उच्छेद होनेपर पर्वता ही न बन सकेगी । इस सूत्रने 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखमित्यादि' गीताके अव्यक्त, मूल, प्रभव इत्यादि मोक्ष धर्मादिकका अनुसरण करके संसाररूप गुणवृक्षका ही चतुष्पर्वतया निरूपण किया है । उस वंश (बाँस) तुल्य गुणवृक्षके पूर्व-पूर्व तत्त्व आवरणोंके अंशसे ही उत्तर तत्त्वरूपसे परिणत होते हैं, जैसे कि समुद्रके अंशसे फेन आदिरूप परिणाम हुआ करता है । जैसे दूध सर्वांशसे दही बन जाता है । पूर्व-पूर्व तत्त्वका सर्वांशसे परिणाम होता है वैसा नहीं है । उत्पन्न कार्यके कारणसे पुनः पूर्णार्थ तो कारणोंको स्वकार्यके आवरक होनेसे अवस्थान सिद्ध हैं । इसलिये सर्गकालमें भी बहिरलिङ्गावस्थाके अवस्थानसे उसकी नित्यता है ।

शङ्का-प्रकृतिको लेकर आठ आवरण ब्रह्माण्डके सुने जाते हैं, तन्मात्रा नहीं सुनी जाती है ।

समाधान—यह बात नहीं है, सूक्ष्म और स्थूलके एकत्वकी विवक्षासे (एक मानकर) आठ प्रकारका आवरण कहा है, अतएव भागवतके द्वितीय स्कन्धमें परब्रह्मकी गतिमें पाँच भूतोंकी बहिःतन्मात्रा आवरणमें गति कही है, इन्द्रियाँ कारण न होनेसे आवरण नहीं कहीं, उनकी उत्पत्ति तो तन्मात्राओंके समान देशमें होती है, जैसे कि तिलोंके समान देशमें सूक्ष्म तेलकी उत्पत्ति होती है । इधर तीन-तीन अवस्थाओंमें अनित्यत्वरूप वैधर्म्यको कहते हैं—त्रयाणामिति—तीन अवस्था विशेषोंकी आदि उत्पत्तिमें पुरुषार्थता कारण होती है । आदि उत्पत्तिमें उपादान कारणके व्यवच्छेदके लिये कहते हैं—सर्वार्थ इति । और वह अर्थ-हेतु-निमित्त कारण होता है, अतः तीनों अवस्थाएँ अनित्य कही जाती हैं । शेष सुगम है ।

पर्वोंमें नित्य और अनित्यत्व वैधर्म्यको कहकर पर्वी गुणोंका पर्वोंसे वैधर्म्य कहते हैं—गुणास्त्विति —सत्त्व आदि गुण तो सर्वविकारोंमें अनुगत हैं, अतः उत्पत्ति और विनाशसे शून्य हैं —अनुपचरित नित्य हैं यह अभिप्राय है । अलिङ्ग अवस्था भी गुणोंके सदृश नित्य नहीं है ।

शङ्का—त्रिगुणात्मक प्रकृतिके नित्य होनेपर—

प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्यात्मेच्छया हरिः ।
क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ ॥
तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम ।

हे द्विज ! सर्गकाल प्राप्त होनेपर हरिने आत्मेच्छासे व्यय और अव्यय प्रकृति और पुरुषमें प्रविष्ट होकर इनमें क्षोभ उत्पन्न किया, उससे त्रिगुणात्मक अव्यक्त उत्पन्न हुआ । इत्यादि स्मृतियोंमें प्रकृतिके लिये व्यय और उत्पत्ति वचन आये हैं, वे सङ्गत कैसे होंगे ?

समाधान—व्यक्तिभिरेवेति—गुणान्वयिनीभिः—गुण-धर्म कार्य व्यक्ति अतीतसे उपचर्यान्त परिणाम-बालियोंसे गुण-जन्म और विनाशवाले जैसे प्रतीत होते हैं कार्य-कारणका विभाग होनेसे, उन सत्त्वादि गुणोंमें स्वतः जन्म और विनाश नहीं है । इसी कारणसे स्वानुगत व्यय आदिसे ही गुणात्मक प्रकृतिके व्यय आदिका व्यवहार होता है, यह आशय है । परिणाम तो प्रकृतिका पारमार्थिक होनेपर व्याप्योंके

उत्पत्ति और विनाशका व्यापकोंमें व्यवहार होता है; उसमें दृष्टान्त कहते हैं—यथा देवदत्तो दरिद्राति, दरिद्रातिका अर्थ है क्षीण होता है। समः समाधिः—यह समाधान दार्ष्टान्तिकमें भी समान है।

शङ्का—तो भी प्रकृतिकी नित्यता नहीं बनती। "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" फिर अन्तमें विश्वमाया निवृत्त होती है।

प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ लीयेते परमात्मनि।

प्रकृति और पुरुष—दोनों परमात्मामें लीन हो जाते हैं, इत्यादि वाक्योंसे प्रकृतिकी नित्यता नहीं बनती।

समाधान—इसका उत्तर दे दिया है कि कार्यके विनाशसे कारणमें विनाश-व्यवहार उपचारसे होता है। व्यापारके उपरमरूप लयको ही पुरुषके साहचर्यसे प्रकृतिमें व्यय विनाश निश्चय किया है।

वियोजयत्यथान्योन्यं प्रधानपुरुषावुभौ। प्रधानपुंसोरनयोरेष संहार ईरितः॥

प्रधान और पुरुष—दोनों एक दूसरेको अपनेसे वियुक्त करते हैं, यही प्रधान और पुरुषका संहार कहलाता है, इत्यादि कूर्मपुराणके वचनोंसे भी यही सिद्ध होता है, प्रकृति और पुरुषका कार्य उपरम ही उपचारसे विनाश कहलाता है, यदि ऐसा न मानें, तो न्यायके अनुग्रहसे बलवती श्रुतियोंका विरोध होगा। ऐसे ही प्रकृति और पुरुषका पुराणोंमें श्रूयमाण उत्पत्ति भी अन्योन्यके संयोगसे अभिव्यक्ति ही जाननी चाहिये।

संयोगलक्षणोत्पत्तिः कथ्यते कर्मजातयोरिति स्मृतेः।

स्मृतिका भी यही तात्पर्य है प्रकृति और पुरुषकी संयोगरूप कर्मज उत्पत्ति कही जाती है। तथा चोक्तम्—

न घटत उद्भवः प्रकृतिपुरुषयोरजयोरुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत्॥
त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषाः॥

अज प्रकृति और पुरुषका उद्भव—उत्पत्ति नहीं बनती, प्राणधारी जलमें बुद्बुदके समान दोनोंसे संयुक्त होते हैं। आपके परमरूपके अंदर ही ये सब नाम और गुणोंके सहित लीन होते हैं जैसे कि समुद्रमें नदियाँ लीन होती हैं और मधुर रसमें सब रस लीन हो जाते हैं।

अब प्रकृति आदिका उन-उनके कार्योंसे अनुमान करानेके लिये पर्व शब्दसे सूचित अलिङ्गादिके अविरल क्रमको दर्शाते हैं—लिङ्गमात्रमिति—लिङ्गमात्रके अलिङ्ग प्रत्यासन्न है—अव्यवहित कार्य है। वही लिङ्गमात्र उस अलिङ्गमें—अलिङ्गावस्था प्रधानमें अव्यक्तरूपसे अविभक्त है अतः उससे विभक्त होता है। उसमें हेतु है—क्रमेति—क्रमका—पौर्वापर्यका कभी भी अतिक्रम नहीं करता, यदि कारणमें अनागत अवस्थासे असत्की भी उत्पत्ति मानें तो अविशेषतया सबकी सर्वत्र उत्पत्ति होनी चाहिये, और अतीतकी भी उत्पत्ति होनी चाहिये जो कि असम्भव है। और प्रागभाव कारण है नहीं; क्योंकि अभाव असिद्ध है। यदि अभावको निमित्तकारण मानें तो उसको ही उपादान कारण भी मान लें, तब तो शून्यवादियोंकी विजय हो गयी। अभावको उपादान देखा भी नहीं है। यदि यह कहा जाय तो निमित्तमें भी यह बात तुल्य ही है अतः—जैसे अभाव उपादान नहीं हो सकता वैसे निमित्त भी नहीं हो सकता। इसलिये कार्यजनन-शक्ति ही अनागत अवस्थारूपिणी कार्यरूपसे परिणत होती है, वह सत्कार्यवाद इस भाष्यने सिद्ध किया है। तथा इत्यादिकी भी यों ही व्याख्या करनी चाहिये। महद् आदिसे प्रकृति आदिके अनुमानका प्रकार

सांख्यसूत्रोंने कहा है, हमने भी उनके भाष्यमें उसको प्रपञ्चित किया है, (विस्ताररूपसे लिखा है) विस्तारभयसे यहाँ प्रस्तुत नहीं करते । यह बात पहिले कह दी है । जैसे विशेषोंसे अवान्तरभेद भिन्न विशेष उत्पन्न होते हैं वैसे पहले इसी सूत्रके आदिमें कह दिया है ।

शङ्का—सूत्रकारने गुणपर्वोंका चतुर्धा (चार प्रकारका) विभाग कैसे किया है ? ब्रह्माण्ड, स्थावर, जंगमरूपसे पर्व अनन्त हो सकते हैं ?

समाधान—ब्रह्माण्ड आदि सब विशेष कार्योंका विशेषोंमें ही अन्तर्भाव है, यह कहते हैं—न विशेषेभ्य इति—विशेषोंसे पर-उत्तर भावि, तत्त्वान्तर-तत्त्वभेद नहीं है, अतः विशेषोंका तत्त्वान्तर परिणाम नहीं है । अतः ब्रह्माण्ड आदिक सब विशेष पर्वसे ही गृहीत हैं यह भाव है । तत्त्वत्व—द्रव्यत्व है, तत्त्वान्तरत्व-स्वावृत्तिद्रव्यत्व उससे साक्षात् व्याप्य जातीयत्व है—पचीस तत्त्वोंमें पचीस जातिके अङ्गीकार न करनेमें तत्त्वान्तरत्व—स्वावृत्तिद्रव्य विभाजक उपाधिमत्त्व—तत्त्वान्तरत्व है ।

शङ्का—यों तो तत्त्वका भेद होनेसे अन्तःकरणका जो कहीं-कहीं एकत्व कहा है, वह कैसे हो सकेगा ?

समाधान—जैसे विशेष नामक पञ्च तत्त्वात्मिका एक ही पृथिवी प्रथम उत्पन्न होती है, उसके पीछे उस पृथिवीके खोदने और मथन करनेसे पार्थिव जल और पार्थिव तेज अभिव्यक्त मात्र होते हैं, इसी प्रकार तत्त्व-त्रयात्मक ही आदिमें महान् उत्पन्न होता है, पीछे उस महत्तत्त्वमें स्थित अहंकार आदि वृत्तिभेदसे प्रकट होते हैं ।

प्रश्न—तो क्या विशेषोंके परिणाम ही नहीं होते ?

उत्तर—नहीं, विशेषोंके परिणाम नहीं होते । उनके तो धर्म-परिणाम, लक्षण परिणाम और अवस्था-परिणाम—सूत्रकार उत्तरपादमें व्याख्या करेंगे, वे होते हैं ।

शङ्का—ऐसा ही सही, महत् आदिके क्रमसे कहा सृष्टिका प्रकार आकाश आदि क्रम-बोधक श्रुतिके विरुद्ध होनेसे हेय है । श्रुतिमें तन्मात्रकी चर्चा न होनेसे ये पदार्थ कल्पित हैं । मनु आदि स्मृतियाँ सांख्यकी इस कल्पनाका अनुवाद करनेसे धर्मविषयक ही हैं, प्रकृति आदिपरक नहीं हैं; अतः स्मृतियों-से भी प्रकृतिकी सिद्धि नहीं होती ?

समाधान—गुणत्रयात्मिका प्रकृति मूलकारणरूपसे मैत्रेयोपनिषद्में सुनी गयी है । यथा—

'तमो वा इदमेकमास तत्परं स्यात् तत्परेणेरितं विषमत्वं प्रयाति एतद्वै रजसो रूपं तद्रजः खल्वीरितं विषमत्वं प्रयाति एतद्वै सत्त्वस्य रूप तत्सत्त्वमेवेरितं तमसः सम्प्रास्रवत् तस्यांशोऽयं यश्चेतिमात्रः प्रतिपुरुषं क्षेत्रज्ञः संकल्पाध्यवसायलिङ्गः प्रजापतिस्तस्य प्रोक्ता अस्यास्तनवो ब्रह्मा रुद्रो विष्णुरित्यादि ।'

यह प्रपञ्च एक तम ही था, वह पर था, वह परसे प्रेरित विषम बन गया, यह ही रजका रूप है वह रज परसे प्रेरित होकर विषम हो गया, यह ही सत्त्वका रूप है, वह सत्त्व प्रेरित हुआ तमसे बहा—जुदा हुआ—वह सांश यह है—जो कि पुरुषका चेतितामात्र है—क्षेत्रज्ञ है । सत्त्व प्रेरित हुआ तम संकल्प और अध्यवसाय लिङ्ग है—प्रजापति है, उसका प्रोक्ता ब्रह्मा, रुद्र, विष्णु इत्यादि उसके तनु शरीर कहे गये हैं । तथा गर्भोपनिषद्में चौबीस तत्त्व इसी क्रमसे कहे हैं, यथा—

"अष्टौ प्रकृतयः, षोडश विकाराः शरीरम्" इति ।

आठ प्रकृति हैं (मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार और पाँच तन्मात्रा) षोडश विकार हैं और शरीर । तथा प्रश्नोपनिषद्में—

'एवं ह वै तत्सर्वं परे आत्मनि सम्प्रतिष्ठते पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च इत्यादि ।'

इस भाँति वह सब पर आत्मामें सम्प्रतिष्ठित है—पृथिवी, पृथिवीमात्रा, जल व जलमात्रा, तेज, तेजोमात्रा, वायु वायुमात्रा, आकाश और आकाशमात्रा इत्यादिसे परमात्मामें तेईस तत्त्व प्रतिष्ठित हैं; समुद्रमें नदी नदकी भाँति यह कहा है । अतः चौबीस तत्त्व प्रत्यक्ष श्रुतिसे और स्मृतिसे अनुमेय श्रुतिसे सिद्ध हैं। व्यवहार और परमार्थ विषयका भेद होनेसे अद्वैत-श्रुति इन श्रुतियोंकी बाधक नहीं है । व्यावहारिक अद्वैतश्रुतियाँ अविभाग लक्षणके अभेद-परक ही हैं—यह बात नदी-समुद्र-दृष्टान्तसे सिद्ध है । उन महदादिकी सृष्टिका क्रम भी श्रुतिमें पाठ-क्रमसे निश्चय होता है ।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥

इससे प्राण उत्पन्न होता है, मन और इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, आकाश, वायु, ज्योति, जल और सबको धारण करनेवाली पृथिवी उत्पन्न होती है ।

और जो तैत्तिरीय उपनिषद्में वियदादिकी सृष्टि कही है वहाँ वियत् (आकाश) से पहिले स्मृतिसे उन्नेय श्रुतिके साथ एकवाक्यताद्वारा बुद्धि आदिकी सृष्टि पूरण कर लेनी चाहिये । छान्दोग्यमें जैसे वियद्वायु-की पूर्ति की है । किंच सांख्योक्त सृष्टिके क्रममें स्पष्ट ही श्रुति प्रमाण है; जैसा कि गोपालतापनीयमें—

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मासीत् तस्मादव्यक्तमेवाक्षरं तस्मादक्षरान्महत् महतो वै अहङ्कारस्त-स्मादेवाहङ्कारात् पञ्च तन्मात्राणि तेभ्यो भूतादीनीति ।'

एक अद्वितीय ब्रह्म ही था, उससे अव्यक्त अक्षर उत्पन्न हुआ, उस अक्षरसे महत्तत्त्व और महत्तत्त्वसे अहंकार और अहंकारसे पञ्चतन्मात्रा तथा तन्मात्राओंसे पाँच महाभूत आदि उत्पन्न हुए हैं । वेदान्तसूत्रोंने भी बुद्धि आदिके क्रमसे ही सृष्टि कही है, उनपर नवीनोंकी व्याख्याका हमने अपने भाष्यमें खण्डन किया है। इस प्रकार सांख्यशास्त्रमें प्रपञ्चित (विस्तारसे वर्णित) चौबीस तत्त्व ही यहाँ योगदर्शनके दो सूत्रोंने संक्षेपसे कहे हैं । इनके स्वरूप आदि भी वहीं दर्शाये हैं । संक्षेपसे यहाँ भी कहते हैं—

पाँच भूत और ग्यारह इन्द्रियाँ तो प्रसिद्ध ही हैं, तन्मात्रा इन पाँच भूतोंके साक्षात् कारण हैं, ये तन्मात्रा शब्द आदिवाले सूक्ष्म द्रव्य हैं, अतः इनको सूक्ष्म भूत भी कहीं कहते हैं । महत् और अहंकारका लक्षण मोक्षधर्ममें कहा है—

हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्मृतः । महानिति च योगेषु विरञ्चिरिति चाप्युत ॥
धृतं चैकात्मकं येन कृत्स्नं त्रैलोक्यमात्मना । तथैव विश्वरूपत्वाद्विश्वरूप इति श्रुतः ॥
एष वै विक्रियापन्नः सृजत्यात्मानमात्मना । अहंकारं महातेजाः प्रजापतिमहंकृतम् ॥

यह भगवान् हिरण्यगर्भ हैं जिनको बुद्धि कहा है । योगमें इनको महान् और विरञ्चि कहा है, जिनने अपने आत्मरूपसे एकात्मक समस्त त्रैलोक्यको धारण किया है । इसी कारण विश्वरूप होनेसे उनको विश्वरूप कहा है । ये ही विक्रियापन्न अपने आत्मासे आत्माको उत्पन्न करते हैं । ये महातेजा प्रजापति अहंकृतरूप अहंकारको उत्पन्न करते हैं। यहाँ उपासनाके लिये शक्ति और शक्तिमान्के अभेदसे उपाधियोंके

नाम और रूपादि उपाधिमानरूप कहे हैं। जैसे कि मनुष्य, पशु आदि शरीरोंके नामसे उन शरीरके अभिमानी आत्माओंको भी मनुष्य और पशु आदि नामसे बोलते हैं। दूसरी स्मृतियोंमें सांख्य और योगके अविवेकसे जड वस्तुरूपसे ही उनका व्यवहार है, ज्ञान और ऐश्वर्यादिरूप महत्तत्त्व और अभिमानरूप अहङ्कारका अन्तःकरणधर्मत्व होनेसे। प्रकृतिके तो तेईस तत्त्वोंके कारण सत्त्व आदि नामवाले सूक्ष्म द्रव्य असंख्य हैं, उनको गुण इसलिये कहा है कि वे पुरुषके उपकरण हैं और पुरुषको बाँधनेवाले हैं। वे तीन गुण सुख-दुःख-मोहवाले होनेसे सुख-दुःख-मोहात्मक कहलाते हैं। पुरुषोंके सब अर्थोंके साधक होनेसे राजा और मन्त्रीके समान प्रधान कहे जाते हैं। जगत्‌का उपादान होनेसे प्रकृति और जगत्‌का मोहक होनेसे माया कहलाते हैं। वैशेषिक आदिने अपनी-अपनी परिभाषासे परमाणु और अज्ञान आदि शब्दोंसे कहा है। तदुक्तं वासिष्ठे—

नामरूपविनिर्मुक्तं यस्मिन् संतिष्ठते जगत्। तमाहुः प्रकृतिं केचिन्मायामेके परे त्वणून्॥

नाम और रूपसे रहित यह जगत् जिसमें ठहरा हुआ है, उसको कोई माया कहते हैं, कोई प्रकृति और कुछ लोग अणु कहते हैं। इनमें तेईस तत्त्व सर्गके आदिमें स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीर-दो रूपसे परिणत होते हैं। उनमेंसे स्थूल तो पाँच भूतोंसे बनता है और सूक्ष्म शेष १७ तत्त्वोंसे बनता है। उन दोनों शरीरोंमेंसे सूक्ष्मशरीर काष्ठवत् चैतन्यका अभिव्यञ्जक होनेसे पुरुषका लिङ्ग शरीर कहलाता है। और वह अहंकारके बुद्धिमें प्रवेशसे सत्रह तत्त्ववाला (अवयववाला) सांख्यशास्त्रमें कहा गया है—'सप्तदशैकं लिङ्गमिति', इस सूत्रमें एकत्व समष्टिके अभिप्रायसे कहा है। "व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात्" इस अगले सूत्रसे व्यक्तिरूपसे एक ही लिङ्ग-शरीरको अनेक कहा है। यह व्यष्टि और समष्टिभाव वन-वृक्षवत् नहीं है, किंतु पिता-पुत्रवत् ही है।

"तच्छरीरसमुत्पन्नैः कार्यैस्तैः करणैः सह। क्षेत्रज्ञाः समजायन्त गात्रेभ्यस्तस्य धीमतः॥

उस धीमान् हिरण्यगर्भके स्थूल और सूक्ष्म—दोनों शरीरोंसे समुत्पन्न कार्यों और करणोंके सहित क्षेत्रज्ञ उत्पन्न होते हैं। इन मनु आदिके वाक्योंसे हिरण्यगर्भके दो शरीरोंके अंशसे ही अखिल पुरुषोंके दोनों शरीरोंकी उत्पत्ति सिद्ध होती है। वन और वृक्षोंमें इस प्रकारका कार्य-करण-भाव नहीं होता है॥१९॥

सङ्गति—द्रष्टाका स्वरूप दिखाते हैं—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः॥ २०॥

शब्दार्थ—द्रष्टा = द्रष्टा; दृशिमात्रः = देखनेकी शक्तिमात्र है; शुद्धः-अपि = निर्मल अर्थात् निर्विकार होनेपर भी; प्रत्यय-अनुपश्यः = चित्तकी वृत्तियोंके अनुसार देखनेवाला है।

अन्वयार्थ—द्रष्टा जो देखनेकी शक्तिमात्र है, निर्विकार होता हुआ भी चित्तकी वृत्तियोंके अनुसार देखनेवाला है।

व्याख्या—दृशिमात्र, इस शब्दसे यह अभिप्राय है कि देखनेवाली शक्ति विशेषणरहित केवल ज्ञानमात्र है अर्थात् यह देखना या वह देखना उसका धर्म नहीं है, बल्कि यह देखनेकी शक्तिमात्र धर्मी है, उसमें कोई परिणाम नहीं होता। यथा—

यथा दीपः प्रकाशात्मा ह्रस्वो वा यदि वा महान्। ज्ञानात्मानं तथा विद्यादात्मानं सर्वजन्तुषु॥

अर्थ—जैसे दीपक चाहे छोटा हो चाहे बड़ा, प्रकाशरूप ही होता है, वैसे ही सब प्राणियोंके अंदर आत्माको भी ज्ञानरूप जानो।

ज्ञानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथंचन । ज्ञानस्वरूप एवात्मा नित्यः सर्वगतः शिवः ।।

अर्थ—ज्ञान न तो आत्माका धर्म है और न किसी भाँति गुण ही है । आत्मा तो नित्य, विभु और शिव (कल्याणकारी) ज्ञानस्वरूप ही है ।

प्रत्ययानुपश्य = चित्तकी वृत्तियोंके अनुसार देखनेवाला । चित्तवृत्ति गुणमयी होनेसे परिणामिनी है । विषयमें उपराग होनेसे वह विषय उसको ज्ञात होता है, पर पुरुष तो चित्तका सदैव साक्षी बना रहता है, वह चित्त पुरुषके ज्ञानरूपी प्रकाशसे (प्रतिबिम्बित होकर) चेतन-जैसा भासता है । इस कारण वह (चित्त) जिन जिन वृत्तियोंके तदाकार होता है वह पुरुषसे छिपी नहीं रहती । पुरुषमें चित्त-जैसा कोई परिणाम नहीं होता ।

द्रष्टा स्वरूपसे शुद्ध परिणाम आदिसे रहित सर्वदा एकरस रहता हुआ भी चित्तकी वृत्तियोंका ज्ञान रखनेवाला है; क्योंकि चित्तमें उसके ही ज्ञानका प्रकाश है अर्थात् वह उसीके ज्ञानसे प्रतिबिम्बित है। चित्त सुख, मोहादि वृत्तियोंके रूपमें परिणत होता रहता है । यह परिणाम आत्मामें नहीं होता है; क्योंकि वह अपरिणामी ज्ञानस्वरूप है । चित्तका साक्षी होनेके कारण उसमें ये वृत्तियाँ अज्ञानसे अपनी प्रतीत होती हैं ।

नोट—यह बात अच्छी प्रकार जान लेनी चाहिये कि आत्माका वास्तविक दर्शन विवेकख्यातिद्वारा चित्तको अपनेसे भिन्न देखना और असम्प्रज्ञात-समाधिद्वारा स्वरूपस्थिति प्राप्त करना है । इसके अतिरिक्त चित्तकी अन्य वृत्तियोंको आसक्तिके साथ देखना अदर्शन है; क्योंकि यह अविद्यासे होता है और इससे यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं होता । आगे सूत्र तेईसकी व्याख्यामें इसका विशेष ध्यान रखना चाहिये ।

टिप्पणी—इस सूत्रकी व्याख्या खोलकर स्पष्ट शब्दोंमें कर दी गयी है, फिर भी पाठकोंकी अधिक जानकारी तथा अपनी व्याख्याकी पुष्टिके निमित्त व्यासभाष्य तथा भोजवृत्तिका भावार्थ भी नीचे दिया जाता है—

भावार्थ व्यासभाष्यः—सूत्र २० ।। (दृशिमात्रः) सब धर्मोंसे रहित जो केवल चेतनमात्र अर्थात् ज्ञानस्वरूप पुरुष है, वह द्रष्टा कहा जाता है । यदि ज्ञानस्वरूप है तो ज्ञानका आश्रय कैसे हो सकता है अर्थात् ज्ञानस्वरूप धर्मका आधार होनेसे दृशिमात्र कैसे हो सकता है ! इस शङ्काका उत्तर देते हैं "शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः" यद्यपि वह स्वभावसे ज्ञानका आधार न होनेसे शुद्ध ही है तथापि प्रत्ययसंज्ञक बुद्धि-धर्म ज्ञानको अनुसरण करनेसे ज्ञानका आधार कहा जाता है ।

अर्थात् यद्यपि पुरुष ज्ञानस्वरूप ही है तथापि बुद्धिरूपी दर्पणमें प्रतिबिम्बित होनेसे उस बुद्धिके धर्मभूत ज्ञानका आधार प्रतीत होता है । इसलिये बुद्धिवृत्तिका अनुकारी अर्थात् तदाकारधारी होनेसे पुरुष 'प्रत्ययानुपश्य' कहा गया है ।

सो यह दृशिमात्र चेतनभूत पुरुष न तो बुद्धिके समान रूपवाला है और न अत्यन्त विरुद्धरूपवाला है । अर्थात् यह पुरुष बुद्धिसे विलक्षण है; क्योंकि ज्ञात-अज्ञात विषय होनेसे बुद्धि परिणामिनी है और सदा ज्ञातविषय होनेसे पुरुष अपरिणामी है । अर्थात् बुद्धिका विषयभूत जो गवादि, घटादि पदार्थ हैं वे कभी ज्ञात होते हैं और कभी अज्ञात, किंतु पुरुषका विषयभूत जो बुद्धितत्त्व है वह सदा पुरुषको ज्ञात ही रहता है । इसलिये बुद्धि सदा एक रस न होनेसे अर्थात् विषयसंनिधिसे विषयाकार होकर ज्ञात-विषय होनेसे और अन्य समयमें अज्ञात-विषय होनेसे परिणामिनी है और पुरुष सदा एक रस होनेसे अपरिणामी

है; क्योंकि पुरुषका विषयभूत बुद्धितत्त्व सदा ज्ञात ही रहता है । अतः यह दोनों परस्पर विलक्षण हैं । एवं संहत्यकारी होनेसे अर्थात् तीन गुणोंसे मिलकर पुरुषके भोग-अपवर्गरूप अर्थका सम्पादन करनेसे बुद्धि परार्थ है और पुरुष असंहत अर्थात् केवल होनेसे अन्य किसीका अर्थ न होनेके कारण स्वार्थ है । इस कारणसे भी दोनों परस्पर विलक्षण हैं । तथा शान्त, घोर, मूढाकारसे परिणत हुई बुद्धि शान्त,घोर, मूढ़ पदार्थविषयक अध्यवसायशील होनेसे त्रिगुण तथा अचेतन है और पुरुष गुणोंका उपद्रष्टामात्र होनेसे अर्थात् बुद्धिमें केवल प्रतिबिम्बितमात्र प्रकाश डालनेसे न कि तदाकार परिणत होनेसे गुणातीत और चेतन है, इस कारण बुद्धिके समान रूप नहीं है ।

तो फिर क्या अत्यन्त विरुद्धरूप है ? इसका उत्तर देते हैं कि अत्यन्त विरुद्धरूप भी नहीं है । क्योंकि (शुद्धोऽपि) यह पुरुष शुद्धरूप अर्थात् सब विकारों और परिणामोंसे रहित होनेपर भी (प्रत्ययानुपश्यः) बुद्धि-वृत्तिरूप ज्ञानको प्रकाशता हुआ बुद्धि-वृत्तिस्वरूप न होनेपर भी बुद्धिवृत्ति स्वरूपसे भान होता है । ऐसा ही पञ्चशिखाचार्यने भी कहा है—

'अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा
च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति,
तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धि-
वृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि
ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते ।''

अर्थात् अपरिणामी जो भोक्तृ-शक्तिसंज्ञक पुरुष है वह यद्यपि अप्रतिसंक्रम है अर्थात् किसी विषयसे सम्बन्ध न होनेसे निर्लेप है तथापि परिणामिनी बुद्धिमें प्रतिबिम्बित हुआ तदाकार होनेसे उस बुद्धिकी वृत्तिका अनुपाती (अनुसारी) हो जाता है और उस चैतन्य प्रतिबिम्ब-ग्राहिणी बुद्धि वृत्तिके अनुकारमात्र होनेसे बुद्धिवृत्तिसे अभिन्न हुआ वह चेतन ही ज्ञानवृत्ति कहा जाता है ।

भोजवृत्तिभाषार्थ—सूत्र २० । पूर्वोक्त प्रकारसे दृश्यके स्वरूपको जो हेय अर्थात् त्यागने योग्य होनेके कारण प्रथम जाननेके योग्य है, अवस्थासहित वर्णन करके अब उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य द्रष्टा पुरुषके स्वरूपको बतलाते हैं । द्रष्टा पुरुष ज्ञानस्वरूप है । पुरुषका ज्ञान धर्म नहीं है, इसलिये सूत्रमें 'मात्र' शब्द है । कोई एक मानते हैं कि चेतना (ज्ञान) आत्माका धर्म है । वह स्वरूपसे शुद्ध होता हुआ परिणाम आदिसे रहित होनेपर भी, (सुप्रतिष्ठोऽपि) अपने स्वरूपसे प्रतिष्ठित रहता हुआ भी (प्रत्ययानुपश्यः) चित्तकी वृत्तियोंके अनुसार देखनेवाला है । बुद्धिकी समीपता अर्थात् उसमें प्रतिबिम्बित होनेके कारण उसकी विषयोंसे उपरक्त हुई वृत्ति ज्ञानके अनुसार (प्रतिसंक्रमाद्यभावेन) प्रतिसंक्रमके बिना भी अर्थात् बिना किसी विषयसे सम्बन्ध रखते हुए निर्लेप होनेपर भी देखता है । सारांश यह है कि बुद्धिमें विषयोंके उपरागकी उत्पत्ति होनेपर संनिधिमात्रसे पुरुषमें द्रष्टापन है ।

विज्ञानभिक्षुके वार्त्तिकका भाषानुवाद सूत्र ॥ २० ॥

सूत्रका अवतरण करते हैं—व्याख्यातमिति-द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः—दृशि यहाँ गुण नहीं है, किंतु प्रकाशस्वरूप द्रव्य है ।

ज्ञानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथंचन । ज्ञानस्वरूप एवात्मा नित्यः सर्वगतः शिवः ॥

ज्ञान आत्माका धर्म नहीं है और न किसी भाँति गुण ही है। आत्मा तो ज्ञानस्वरूप ही है, नित्य है, सर्वगत है और शिव (कल्याणकारी) है ॥ इत्यादि स्मृतिसे भी आत्मा ज्ञानस्वरूप द्रव्य ही सिद्ध होता है। अग्नि और उष्णता आदिमें भेद और अभेद होता है; क्योंकि उष्णताके ग्रहण न होनेपर भी चक्षुसे अग्निका ग्रहण होता है, परंतु पुरुषका ग्रहण ज्ञानके ग्रहणके बिना नहीं होता। अतः ज्ञान पुरुषका धर्म या गुण नहीं—पुरुषका स्वरूप ही है। मात्रशब्दसे पूर्व सूत्रमें कहे इन प्रकाश, क्रिया आदि गुणोंकी व्यावृत्ति हो गयी। इन प्रकाश, क्रिया आदिमें सब शेष गुणोंका अन्तर्भाव है अर्थात् कोई भी गुण पुरुषमें नहीं है। शुद्ध शब्दसे भूत और इन्द्रियात्मकत्वकी व्यावृत्ति होती है (अर्थात् आत्मा पञ्चभूतात्मक और एकादश-इन्द्रियात्मक भी नहीं है)। शुद्धोऽपि—बुद्धिसे अभेदनके उपपादनार्थ शेष विशेषण हैं (शुद्ध और प्रत्ययानुपश्य विशेषण हैं)। यहाँ परिणामित्व, पारार्थ्य, अचेतनत्व आदि बुद्धिकी अशुद्धि हैं, वे अशुद्धि पुरुषमें नहीं हैं। यही पुरुषकी शुद्धि भाष्यमें व्यक्त होगी। प्रत्ययानुपश्य—प्रत्ययके समान 'आकारतापन्न इव' होता हुआ बुद्धिको वृत्तिका साक्षी है, यह अर्थ है। इस विशेषणसे द्रष्टामें प्रमाण कहा है। 'शुद्धोऽपीत्यादि' भाष्यके फलान्तरकी (दूसरे फलकी) भाष्यकार व्याख्या करेंगे। दृशिमात्रके शब्दार्थको कहते हैं—दृक्-शक्ति ही है। प्रलय और मोक्ष आदिमें जीवोंके दर्शन नामक चैतन्य फलका उपधान नहीं है (प्रतीति या व्यवहार नहीं है), इस प्रयोजनसे भाष्यकारने शक्ति-शब्दका प्रयोग किया है। एव शब्दका अर्थ कहते हैं—विशेषणोंसे अपरामृष्ट है (अछूता है), इन विशेषणोंसे विशेषितका अर्थ है, व्यावर्तन, द्रव्यान्तरसे भिन्न है यह तात्पर्य है। विशेषण वे विशेष गुण हैं जो वैशेषिक शास्त्रमें कहे हैं। उनसे दृक् शक्ति तीनों कालोंमें असम्बद्ध है, यह अर्थ है। इससे (सामान्य-गुण) सयोग, संख्या, परिमाण आदि होनेपर भी क्षति नहीं है। द्रष्टा यह लक्ष्य (वाचक) पद है। बुद्धिसे व्यावृत्त-भिन्न रूपसे इसकी व्याख्या करते हैं—स पुरुष इति। संवेदिनी बुद्धिका प्रतिसंवेदी पुरुष है, संवेदन अर्थाकार वृत्तिका नाम है—उस वृत्तिका संवेदन प्रतिध्वनिवत् प्रतिबिम्ब है जिसमें वह पुरुष है, यह अर्थ है। बुद्धिका साक्षी है, यह तात्पर्यार्थ है। इससे प्रतिबिम्बरूप आरोपित क्रियासे कल्पित दर्शन-कर्तृत्व द्रष्टृत्व है, यह बात भी सूचित कर दी है। आत्माकी ज्ञानस्वरूपता तो—

यथा दीपः प्रकाशात्मा स्वल्पो वा यदि वा महान्।
ज्ञानात्मानं तथा विद्यादात्मानं सर्वजन्तुषु॥

जैसे दीपक छोटा है या बड़ा, वह प्रकाशरूप ही होता है, वैसे सब प्राणियोंके अंदर आत्माको भी ज्ञानरूप जानें। इत्यादि सैकड़ों वाक्योंके अनुग्रहसे और लाघव तर्ककी सहायतासे आत्मत्वादिरूप व्यतिरेकी आदि लिङ्गोंसे अनुमेय ज्ञानके आश्रयत्वकी कल्पनामें धर्मधर्मिभावापन्न दो वस्तुकी कल्पनाका गौरव होनेसे (आत्माकी) ज्ञानरूपता सिद्ध है। मैं जानता हूँ इत्यादि प्रत्यय तो, मैं गोरा हूँ ऐसे सकड़ों भ्रमोके अन्तःपाती होनेसे (जैसा यह भ्रम है ऐसा ही भ्रम होनेसे), अप्रमाणताकी शङ्कासे युक्त होनेके कारण यथोक्त-अनुमानकी अपेक्षासे दुर्लभ है। बुद्धि और पुरुषके विवेकका प्रतिपादन करनेके लिये और उनके अभेद भ्रमका उपपादन करनेके लिये, उनके वैरूप्य और सारूप्यके प्रतिपादकतया—क्रमसे दो विशेषणोंकी व्याख्या करते हैं—वह आत्मा न बुद्धिके सरूप है और न अत्यन्त विरूप है—पारमार्थिक सारूप्यका अभाव है—यह 'शुद्धोऽपि' इत्यादि अंशका अर्थ है। प्रतिबिम्बरूप अपारमार्थिक सारूप्य है, यह शेष अंशका अर्थ है। तथा परिणामित्वादिरूप बुद्धिके सारूप्यका अभाव ही शुद्धि है और बुद्धिकी वृत्तिके सारूप्य ही प्रत्ययानुपश्यत्व है, यह बात आ जाती है। सारूप्यके अभाव और सारूप्यका क्रमसे प्रतिपादन

करते हैं—'न तावत्' इत्यादिसे—प्रथम तो वह आत्मा बुद्धिके सरूप—समान नहीं है। क्यों नहीं है। इसका उत्तर है—बुद्धि परिणामिनी है,बुद्धिके परिणामिनी होनेमें हेतु है कि वह बुद्धि ज्ञात और अज्ञात विषयवाली है। 'ज्ञातेति' इस वाक्यका विवरण करते हैं—तस्याश्चेति—उस बुद्धिके विषय गवादि और घटादि ज्ञात और अज्ञात होते हैं, अतः वे बुद्धिकी परिणामताको दर्शाते हैं—(व्याख्या) गवादिरिति—गोशब्द शब्दवाची है, अतः गवादि व घटादिपदोंसे धर्मीके सामान्य रूपसे—धर्म-धर्मीरूप सब ही बुद्धि-विशेषोंका ग्रहण है। वृत्तिसे व्याप्यको ज्ञात कहते हैं और वृत्तिसे अव्याप्यको अज्ञात कहते हैं। "दर्शयति" का अर्थ है अनुमान कराता है। भाव यह है—बुद्धि परिणामिनी हो तब भी कभी शब्द आदिके आकारवाली होती है, कभी नहीं होती—यह हो सकता है। क्यों जी! पुरुषके समान बुद्धिमें अपरिणामी होनेपर भी विषयका प्रतिबिम्बन ही विषयाकार हो सकता है। उस प्रतिबिम्बके कदाचित्—कभी-कभी होनेसे बुद्धिकी ज्ञाताज्ञातविषयता बन सकती है? यह नहीं कह सकते; क्योंकि स्वप्नावस्थामें और ध्यानावस्थामें विषयके समीप न होनेसे प्रतिबिम्बका पड़ना असम्भव है। शास्त्रोंमें बुद्धिमें विषयके प्रतिबिम्बको कहनेवाले वचन तो उस विषयके समान आकार जो परिणाम होता है उस परिणाम-मात्रके कारण कहे गये हैं। अतः बुद्धिके अर्थ-ग्रहणकी अनित्यतासे बुद्धिके अर्थाकार परिणामका अनुमान होता है। बुद्धिके परिणामित्व-को दिखलाकर उस परिणामित्वके अभावको पुरुषमें दिखलाते हैं—सदा ज्ञातेति—सदा ज्ञात है—बुद्धिको वृत्तिरूप जिससे उसका भाव सदा ज्ञातविषयत्व है, वह सदा-ज्ञातविषयत्व पुरुषके अपरिणामित्वको अनुमान कराती है। यदि पुरुष परिणामी ही हो तो जडतारूप परिणामसे कभी उस पुरुषका विषय-बुद्धिकी वृत्ति अज्ञात भी रहनी चाहिये, ऐसा माननेमें वर्तमान भी घटादिकी वृत्तिका अज्ञान सम्भव हो जायगा। मैं घटादिको निश्चय जानता हूँ या नहीं इत्यादि (प्रत्यक्ष घटादि-विषयमें) संशय भी हो सकता है। ऐसे ही योग्यकी अनुपलब्धिसे घटादिके ज्ञानका अभाव नियम न हो सकेगा; क्योंकि अज्ञात वृत्तिकी सत्ताका सम्भव है, यह भाव है

शङ्का—इतनेसे भोक्ताका ज्ञान-परिणाम न सही, परंतु सुखादि-परिणामोंका भोक्तामें अभाव इसमें कैसे अनुमान हो सकेगा?

समाधान—शब्द आदि निश्चयरूप परिणामके बुद्धिमें सिद्ध हो जानेसे ही—उन शब्दादिके परिणामके कार्य इच्छा, कृति, सुख, दुःख, अदृष्ट, संस्कार आदि भी बुद्धिके धर्म हैं—यह बात सिद्ध हो जाती है; क्योंकि कारण अपने कार्यको समान अधिकरणमें ही उत्पन्न किया करता है (अतः बुद्धिरूप अधिकरणमें जिन शब्दादि विषयोंका निश्चय हुआ है, वह निश्चयात्मक ज्ञान अपने कार्य, इच्छा, कृति, सुखादिको भी उसी अधिकरण-बुद्धिमें उत्पन्न करेगा; अतः वे भी बुद्धिके ही धर्म या परिणाम हैं पुरुषके नहीं) इसीमें लाघव है।

शङ्का—पुरुष भी सदा ज्ञातविषय नहीं है; क्योंकि प्रलय आदिमें अपने विषय बुद्धिकी वृत्तिको नहीं जानता है? यह आक्षेप करते हैं—कस्मादिति—

समाधान—नहीति—पुरुषविषयक बुद्धिकी वृत्ति भी शब्द आदिके समान नहीं है, अथवा वह वृत्ति अगृहीत और गृहीत कालभेदसे होती है। ऐसा स्मृति भी कहती है—

"न चिदप्रतिबिम्बाऽस्ति दृश्याभावादृते किल। कश्चिन्नाप्रतिबिम्बेन किलादर्शोऽवतिष्ठते।"

चितिशक्ति—दृश्यके अभावके सिवा कहीं भी अप्रतिबिम्बा नहीं होती है, जैसे कि दर्पण दृश्यके अभावके सिवा कभी भी प्रतिबिम्बरहित नहीं होता है। तथा च—प्रलय आदिमें वृत्ति नामक दृश्यके अभावसे ही, उस बुद्धिवृत्तिको नहीं देखता, यह भाव है। उपसंहार करते हैं—सिद्धमिति—परिणामित्वकी भाँति ही बुद्धि और पुरुषके परार्थत्व और अपरार्थत्वको दिखलाते हैं—किं चेति—बुद्धि संहत्यकारी होनेसे परार्थ है, अपनेसे भिन्नके भोगादिके साधनार्थ है, संहत्यकारीकी अपेक्षासे व्यापारवाले शय्या-आसन और शरीर आदिकी भाँति। पुरुष स्वार्थ है—अपने भोग आदिका साधन है, उसमें उक्त हेतुओं-संहत्यकारी आदिका अभाव है। जो सहकारी-सापेक्ष व्यापारवाला नहीं होता, वह परार्थ नहीं हुआ करता-जैसे पुरुष। बुद्धिका ही व्यापारविषय ग्रहणादि इन्द्रियादि-सापेक्ष है, शय्या आदि भी जो शयन आदिके लिये हैं, भूमि आदिकी अपेक्षा रखते हैं। पुरुषका सुखादिके प्रकाशनका व्यापार ही नहीं होता, क्योंकि वह उसका स्वरूपसे नित्य है, सुखादिकी सत्तामें सुखादिके प्रकाशनार्थ पुरुष सहकारी कारणकी अपेक्षा नहीं रखता—यह भाव है। बुद्धिके परार्थ होनेमें श्रुति प्रमाण है—"न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवतीत्यादि"—सबकी कामनाके लिये सब प्यारे नहीं होते, अपनी कामनाके लिये सब प्यारे होते हैं। यहाँ कोई स्वार्थ इसका यह अर्थ करते हैं कि साध्य परार्थ नहीं होता है। यह नहीं हो सकता; क्योंकि भृत्य चेतनको भी स्वामी चेतनके अर्थ देखा जाता है। परार्थत्व परमात्रार्थ है, यदि यह कहो तो नहीं कह सकते। अचेतनत्वरूप अन्य वैधर्म्यको कहते हैं—तथा सर्वार्थेति—सुख-दुःख-मोहात्मक सर्वार्थ तीन गुणोंको ग्रहण करती हुई बुद्धि भी तदाकारतया त्रिगुणा-सत्त्व आदि गुणत्रयमयी अनुमानसे ज्ञात होती है—त्रिगुण होनेसे पृथिवी आदिकी भाँति अचेतन है—यह सिद्ध है। गुणोंका उपद्रष्टा पुरुष तो दृश्या बुद्धिके सांनिध्यसे बुद्धिकी वृत्तिके प्रतिबिम्बमात्रसे गुणद्रष्टा होता है—गुणाकार परिणामसे गुणोंका उपद्रष्टा नहीं होता, जैसे कि बुद्धि; अतः पुरुष त्रिगुण नहीं है, इसीसे चेतन है—यह शेष है। उपसंहार करते हैं—अत इति—अतः वैधर्म्यत्रयसे पुरुष बुद्धि-सरूप नहीं है। इतनेसे ही शुद्ध है, इसकी व्याख्या हो गयी।

शङ्का—सर्व अभिमानकी निवृत्तिके लिये सामान्यसे ही दृक् और दृश्यके विवेकका प्रतिपादन करना चाहिये, तो वह क्या बुद्धि और पुरुषके वैराग्यका प्रतिपादन किया जाता है?

समाधान—नहीं, बुद्धि ही पुरुषकी साक्षात् दृश्या है; क्योंकि अन्योंको बुद्ध्यारूढ होनेसे ही दृश्यता है। उसीमें (बुद्धिहीमें) साक्षात् अभिमान होता है और उस बुद्धिके सम्बन्धसे दूसरे विषयोंमें अभिमान होता है। मृत शरीरमें—सुषुप्त्यवस्थ-प्राणमें चैतन्यका अभाव स्पष्ट देखनेमें आता है। एक इन्द्रियका व्याघात हो जानेपर भी, चेतनताकी उपलब्धि होती है, अतः इन्द्रिय भी चेतन नहीं है—यह बात स्पष्ट ही है। अतः बुद्धिके विवेकसे ही सब अभिमानकी निवृत्ति होती है—इस अभिप्रायसे पुरुषमें बुद्धिका वैधर्म्य ही प्रायः प्रतिपादन करते हैं। एक बात यह भी है कि बुद्धिसे व्यतिरिक्तोंसे तो पुरुषका विवेक (पृथक्त्व) न्याय और वैशेषिकने सिद्ध कर ही दिया है, बुद्धिसे विवेक ही सांख्य और योगका असाधारण कृत्य है। अत्यन्त वैरूप्यका निराकरण करनेके लिये संदेह उठाते हैं—अस्तु तर्हि—अच्छा तो विरूप ही सही। समाधान—ना अत्यन्त विरूप—क्योंकि पुरुष प्रत्ययानुपश्य है। इसीकी व्याख्या करते हैं—क्योंकि वह बौद्ध प्रत्ययों (बुद्धिमें उत्पन्न हुए ज्ञानों) को बुद्धिके पीछेसे देखता है (बुद्धिकी वृत्तिको देखता है, यह अर्थ है)।

शङ्का—बुद्धिका द्रष्टा होनेपर भी अत्यन्त वैरूप्य क्यों नहीं है ?

समाधान—तमनुपश्यतीति—क्योंकि उस बुद्धिके वृत्ति-प्रत्ययको देखता हुआ पुरुष बुद्ध्यात्मक न होता हुआ भी—परमार्थसे बुद्धिके असमानरूप भी बुद्धि-सरूप-जैसा प्रतीत होता है, जैसे जपापुष्पसे स्फटिक जपापुष्प-जैसा प्रतीत होता है, वैसे ही पुरुष बुद्धिका अनुकारी हो जाता है। अर्थ—ग्रहण रूपसे बुद्धिस्थलमें पुरुषकी अर्थाकारता ही सिद्ध होती है। प्रतिबिम्बरूपसे और मिथ्या सारूप्यसे पारमार्थिक असारूप्यका विरोध नहीं है। यथोक्त सारूप्य और वैरूप्यके विषयमें पञ्चशिखाचार्यके वाक्यको प्रमाणमें उपस्थित करते हैं—तथा चोक्तमिति—

भोक्तृशक्ति बुद्धिके समान परिणामिनी नहीं है, तथा बुद्धिवत स्वविषयमें संक्रान्त उपरक्त भी नहीं होती है; क्योंकि विकारके हेतुके साथ संयोग ही उपराग है। अतः बुद्धिके विकार प्रतिबिम्बसे ही इसकी सिद्धि हो जाती है--पुरुषके विकारकी कल्पना करना व्यर्थ है। इन दो विशेषणों (शुद्ध वा प्रत्ययानुपश्य) से पुरुषका बुद्धिसे वैरूप्य दर्शाया है। अब बुद्धिसे पुरुषका सारूप्य दिखलानेके लिये पहले बुद्धिकी चिद्रूपताका उपपादन करते हैं--

परिणामीत्यर्थ इति—परिणामी अपना स्वार्थ विषय जो बुद्धि है उसमें प्रतिबिम्बरूपसे संक्रान्तकी भाँति उपरक्त-जैसी होती हुई चिति-शक्ति—तद्वृत्तिबुद्धिकी विषयाकार वृत्तिकी अनुयायी है—बुद्धिको चेतन-जैसी बना देती है—जैसे कि सूर्य जलमें पड़कर जलको सूर्यवत् कर देता है। इससे बुद्धिके रूपको दिखलाकर पुरुषके बुद्धि-सारूप्यको दर्शाते हैं—

तस्याश्चेति—हि शब्द अवधारण वाचक है—उस भोक्तृशक्तिकी भी ज्ञानवृत्ति—ज्ञानरूपा वृत्ति बुद्धि-वृत्तिसे अविशिष्ट ही—अभिन्न ही कही जाती है, इसमें हेतु है—प्राप्तेति—उपग्रह-उपराग है। उक्त रीतिसे प्राप्त चैतन्य उपरागके सदृश बुद्धिको वृत्तिके अनुकरण करनेवाली—प्रतिबिम्बोद्ग्राहिणी-तन्मात्रतया यह ज्ञान वृत्तिका विशेषण है तथा च परस्परके प्रतिबिम्बसे दोनोंका ही चेतनत्व सुखादिपरिणामकत्व रूप सारूप्य कहा जाता है।

इस सूत्रने जीव और ईश्वरको साधारणतासे ही चिन्मात्र कहा है। तथा च श्रुति और स्मृति हैं—

"चेतामात्रः प्रतिपुरुषं क्षेत्रज्ञः"

ज्ञानमेव परं ब्रह्म ज्ञानं बन्धाय चेष्यते। ज्ञानात्मकमिदं विश्व न ज्ञानाद् विद्यते परम् ॥

चेतामात्र--प्रतिपुरुष-क्षेत्रज्ञ।

ज्ञान ही परं ब्रह्म है, ज्ञान ही बन्धके लिये है, यह सब ज्ञानात्मक है, ज्ञानसे परे कुछ नहीं है। जो वैशेषिक आदि आत्माको ज्ञानका आश्रय मानते हैं, वे श्रुति और स्मृतिका विरोध होनेसे उपेक्षणीय हैं (मानने योग्य नहीं हैं) किं च लाघवसे प्रत्येक पुरुष एक-एक व्यक्ति ज्ञानमात्र नित्य है, यह सिद्ध हो जानेपर उस ज्ञानका आश्रय माननारूप गौरवकी कल्पना नहीं करनी चाहिये। "जानामि" इस प्रतीतिकी संयोग सम्बन्धसे ही उपपत्ति हो जाती है। जैसे कि इन्धन तेजस्वी है—यह प्रत्यय संयोग सम्बन्धसे प्रमा ज्ञान है, ऐसे ही बुद्धिमें ज्ञान नामक द्रव्यके संयोग सम्बन्धसे ज्ञानवत्त्व प्रत्यय प्रमा ही है। लोगोंके अहं (मैं) प्रत्ययमें बुद्धि भी भासती है। अनादि मिथ्या ज्ञानकी वासनानामक दोषके प्रतिबन्धकतामें कोई प्रमाण नहीं है, अतः 'अहं जानामि' यह अविद्वानोंका प्रत्यय अहं अंशमें भ्रम है और

ज्ञानवत्त्व अंशमें प्रमा है—यह बात हम दोनोंको समान ही हैं। विद्वानोंको तो 'जानामि' यह प्रत्यय प्रसिद्ध ही है। परमेश्वरकी सर्वज्ञताका व्यवहार लोकव्यवहारकी दृष्टिसे होता है, अधिक तो सांख्यके भाष्य आदिमें कहा है—इति दिक् ॥ २० ॥

सङ्गति—इस दृश्यका प्रयोजन पुरुषके लिये है, यह अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—तद्-अर्थ एव = उस = (द्रष्टा पुरुष) के लिये ही; दृश्यस्य-आत्मा = दृश्यका स्वरूप है।

अन्वयार्थ—उस पुरुषके लिये ही (यह सारा) दृश्यका स्वरूप है।

व्याख्या—ऊपर कहे हुए लक्षणानुसार दृश्यका जो स्वरूप है वह पुरुषके प्रयोजनके हेतु है; क्योंकि प्रकृति अपने किसी भी प्रयोजनकी अपेक्षा न करके केवल पुरुषके भोग और अपवर्गके लिये प्रवृत्त होती है। इसीको निम्न कारिका स्पष्ट करती है—

इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः॥

इस प्रकार प्रकृतिसे किया हुआ महत्से लेकर विशेषभूतोंतकका आरम्भ प्रत्येक पुरुषके मोक्षके लिये स्वार्थकी नाईं परार्थ है।

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥ ५७॥

बछड़ेकी वृद्धिके निमित्त जिस प्रकार अचेतन दूधकी प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार पुरुषके मोक्षके लिये प्रधानकी प्रवृत्ति होती है।

नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति॥ ६०॥

नाना प्रकारके उपायोंसे यह उपकारिणी गुणवती (सत्त्व, रजस्, तमस् गुणवाली) प्रकृति उन अनुपकारी गुणरहित (गुणातीत) पुरुषके अर्थ निःस्वार्थ काम करती है (जिस प्रकार परोपकारी सज्जन सबका भला करता है और अपना कोई प्रत्युपकार नहीं चाहता)।

टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद ॥ सूत्र २१ ॥ दृशिरूप पुरुषके कर्म और फलके भोगार्थ दृश्य है। उसकी प्रयोजन-सिद्धिके लिये ही दृश्यका आत्मा होता है अर्थात् स्वरूप होता है, यह अर्थ है। जड होनेके कारण दृश्यका स्वरूप (पर) चेतनरूपसे ही लब्ध होता है। इसलिये जिन पुरुषोंका भोग और अपवर्ग प्रयोजन सिद्ध हो गया है उनसे नहीं देखी जाती। अब प्रश्न होता है क्या स्वरूपके हानसे इस दृश्यका नाश हो जाता है?

उत्तर—नाश नहीं होता ॥ २१ ॥

भोजवृत्तिभाषार्थ ॥ सूत्र २१ ॥

पूर्वोक्त लक्षणानुसार जो दृश्यका स्वरूप है वह उस पुरुषके भोक्तृत्व-प्रयोजन—सम्पादनार्थ है; क्योंकि प्रकृति अपने किसी भी प्रयोजनकी अपेक्षासे प्रवृत्त नहीं होती, किंतु पुरुषके भोक्तृत्व-सम्पादनके लिये प्रवृत्त होती है ॥ २१ ॥

विज्ञानभिक्षुके वार्तिकका भाषानुवाद ॥ सूत्र २१ ॥

बुद्धिसे अतिरिक्त द्रष्टाके विषयमें सूत्रकार प्रमाण कहते हैं—

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥

उस पुरुषके अर्थ हैं, प्रयोजन हैं भोग और अपवर्ग। भोग और अपवर्ग ही हैं प्रयोजन जिसके वह पुरुष है। यह मध्यमपदलोपी समास है—भोग और अपवर्ग-प्रयोजनवाला ही दृश्यका स्वरूप है—कार्य और कारणरूप तीनों गुण स्वार्थ नहीं हैं। इसमें अनुमानका यह प्रयोग है—

गुण परार्थ हैं—संहत्यकारी होनेसे, शय्यादिकी भाँति। इस अनुमानसे—बुद्धिसे अतिरिक्त पुरुष-नामक परकी सिद्धि होती है। इस अनुमानकी व्याख्या पूर्व सूत्रमें कर चुके हैं। तदर्थ ही दृश्य है इतना कहनेसे ही निर्वाह हो जाता। धातुका अर्थ जो दर्शन है उसमें अन्वयका भ्रम न हो इसके लिये आत्म-पदका प्रयोग किया है। तदर्थत्वमें युक्ति कहते हुए सूत्रकी व्याख्या करते हैं—

दृशिरूपस्येति—क्योंकि दृशिरूप पुरुषका जो कर्मके सदृश कर्म-दर्शन, उस दर्शनकी विषयताको प्राप्त हुई वस्तु दृश्य होती है और दर्शन सब वस्तुओंका प्रयोजन है यह बात सर्वसम्मत है, उसीके लिये गुणोंका स्वरूप है। जो वस्तु पर-प्रयोजनके लिये हुआ करती है, वह पर-प्रयोजनके बिना एक क्षण भी नहीं ठहर सकती, नित्य या अनित्य प्रयोजनके बिना किसी भी परार्थ वस्तुकी स्थिति न दीखनेसे वह पुरुषार्थकी सिद्धिका कारण है, यह बात सिद्ध होती है। इस सूत्रसे यह सिद्ध है कि दृश्यकी सत्ता पर-चैतन्यके आधीन है ॥ २१ ॥

सङ्गति—क्या एक पुरुषके प्रयोजनको साधकर यह दृश्य नष्ट हो जाता है? नहीं; क्योंकि—

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—कृतार्थं-प्रति-नष्टम्-अपि = जिसका प्रयोजन सिद्ध हो गया है उसके लिये नष्ट हुआ भी; अनष्टम् = (वह दृश्य) नष्ट नहीं होता; तद्-अन्य-साधारणत्वात् = क्योंकि वह (दृश्य) दूसरोंकी साझे-की वस्तु है।

अन्वयार्थ—जिसका प्रयोजन सिद्ध हो गया है उसके लिये यह दृश्य नष्ट हुआ भी नष्ट नहीं होता है; क्योंकि वह दूसरे पुरुषोंके साथ साझेकी वस्तु है।

व्याख्या—इस सारे दृश्यकी रचना समस्त पुरुषोंके भोग-अपवर्गके लिये है, न कि किसी विशेषके लिये। इसीलिये जिसका यह प्रयोजन सिद्ध हो गया है उसके लिये यद्यपि इस दृश्यका कार्य समाप्त और नाशके तुल्य हो जाता है, तथापि इसका सर्वथा नाश नहीं हो जाता; क्योंकि एक पुरुषके मुक्त हो जानेसे सब मुक्त नहीं हो जाते। यह दूसरोंके इसी प्रयोजनको साधनेमें लगा रहता है।

पुरुष शब्दके अर्थ यहाँ चित्त-प्रतिबिम्बित चिति-शक्ति (चेतन तत्त्व) अर्थात् जीवात्माके हैं। चित्तको बनानेवाले गुणोंका जीवात्माके प्रयोजन भोग और अपवर्गको सम्पादन करनेके पश्चात् अपने कारणमें लीन हो जाना ही जीवात्माकी मुक्ति (कैवल्य) कही जाती है। चित्त, पुरुषका दृश्यरूप है। वही वृत्ति रूपसे अन्य सब दृश्योंको पुरुषको बोध करानेका साधन है। एक चित्तके नष्ट होनेसे उससे दृश्यमान सारा जगत् भी उसके प्रति नष्ट होनेके तुल्य है, किंतु अनन्त जीवोंके चित्त जिन्होंने (जीवोंके) उनके प्रति भोग और अपवर्गका प्रयोजन सिद्ध नहीं किया है अपने विषय सारे दृश्यमान जगत्‌सहित वर्तमान रहते हैं।

जिस प्रकार आज दृश्य अनष्ट है उसी प्रकार सदा ही अनष्ट था और अनष्ट रहेगा। सांख्य सूत्र १। १५९ में भी ऐसा ही बतलाया गया है—'इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः।'

शङ्का—सब चित्तोंके बनानेवाले गुणोंके पुरुषके प्रति भोग और अपवर्गका प्रयोजन सिद्ध करनेके पश्चात् अपने कारणमें लीन हो जानेपर तो यह दृश्य सर्वथा विनष्ट हो जावेगा।

समाधान—ऐसी सम्भावना न करनी चाहिये; क्योंकि पुरुष (जीवात्मा) संख्या अनन्त है। असंख्यका कभी शेष नहीं होता।

असंख्य–असंख्य = असंख्य। श्रुति भी ऐसा बतलाती है। यथा "पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" अर्थात् "पूर्ण-पूर्ण = पूर्ण"। इसलिये यह दृश्य अपने स्वरूपसे सदासे था और सदा रहेगा। केवल कृतार्थ पुरुषके प्रति नष्ट होता है।

असंख्य पदार्थोंका गणित तत्त्व यह है—असंख्य + असंख्य = असंख्य, असंख्य–असंख्य = असंख्य, असंख्य × असंख्य = असंख्य, असंख्य ÷ असंख्य = असंख्य; क्योंकि असंख्यका अधिक या कम नहीं है।

टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद ॥ सूत्र २२ ॥ कृतार्थ हुए एक पुरुषके प्रति यह दृश्य नष्ट अर्थात् नाशको प्राप्त हुआ भी अन्य पुरुषोंके साझेकी वस्तु होनेसे नाशको प्राप्त नहीं होता। कुशल पुरुषके प्रति नाशको प्राप्त हुआ भी यह दृश्य अन्य अकुशल पुरुषोंके प्रति कृतप्रयोजन नहीं हुआ है। इसलिये उन पुरुषोंकी कर्म विषयताको प्राप्त हुआ यह दृश्य चेतनरूप आत्माके द्वारा निजरूपसे लब्ध सत्तावाला ही होता है। अभावको प्राप्त नहीं होता है। इस कारण (द्रष्टा) पुरुष और (दर्शनशक्ति) प्रकृतिके नित्य विद्यमान होनेसे इन दोनोंका संयोग अनादि कहा गया है। ऐसा ही पञ्चशिखाचार्यने कहा है।

धर्मिणामनादिसंयोगाद्धर्ममात्राणामप्यनादिसंयोगः।

अर्थात् (धर्मी) गुणोंके संयोगके अनादि होनेसे धर्मभूत महत्तत्त्वादिका संयोग भी अनादि है।

भोजवृत्ति भाषार्थ सूत्र २२—यद्यपि विवेकख्यातिपर्यन्त भोग सम्पादन करना धर्म होनेसे भी यह दृश्य कृतार्थ पुरुषके प्रति नष्ट हो जाता है अर्थात् व्यापार त्याग देता है। तथापि सब पुरुषोंके साधारण अर्थात् साझेकी वस्तु होनेसे अन्यके प्रति अनष्ट व्यापाररूपसे रहता है अतः सम्पूर्ण भोक्ताओंके साधारण होनेसे प्रकृतिकी कृतप्रयोजनता नहीं होती, न कभी उसका नाश होता है। एकके मुक्त होनेसे सब मुक्त नहीं हो जाते, ऐसा शास्त्रका भी सिद्धान्त है।

संगति—दृश्यका रूप दिखलाकर अब हेयका हेतु जो दृश्य और द्रष्टाका संयोग है, उसका वर्णन करते हैं।

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—स्वस्वामिशक्त्योः = स्व-शक्ति और स्वामी-शक्तिसंज्ञक (बुद्धि पुरुषके); स्वरूप-उपलब्धि हेतुः = स्वरूपकी उपलब्धिका जो कारण है; संयोगः = वह (दृश्य-द्रष्टृका स्व-स्वामिभाव) संयोग है अर्थात् स्व-शक्ति और स्वामिशक्तिके स्वरूपकी उपलब्धि (दृश्य-द्रष्टृके स्व-स्वामिभाव) संयोगके वियोगका कारण है।

अन्वयार्थ—स्व-शक्ति और स्वामी-शक्तिसंज्ञक स्वरूपकी उपलब्धिका जो कारण है वह (दृश्य-द्रष्टृका स्वस्वामिभाव) संयोग है। अर्थात् स्व-शक्ति और स्वामी-शक्तिके स्वरूपकी उपलब्धि

(दृश्य-द्रष्टाके स्व-स्वामिभाव) संयोगके वियोगका कारण है ।

व्याख्या—चित्त और यह सारा जड दृश्य स्व (मिल्कियत) है । चेतन पुरुष इसका स्वामी है । शक्ति शब्दका अर्थ स्वभाव या स्वरूप है, दृश्य ज्ञेय है और द्रष्टा ज्ञाता है । दृश्य और द्रष्टा दोनों नित्य और व्यापक हैं, उनका स्वरूपसे भिन्न कोई संयोग नहीं हो सकता । जो दृश्यमें भोग्यत्व और द्रष्टामें भोक्तृत्व है वह अनादि कालसे है । इस दृश्यके भोग्यत्व और द्रष्टाके भोक्तृत्व-भावको ही संयोग नाम दिया गया है । यह संयोग अनादि कालसे चला आ रहा है । इसीके हटानेके हेतु स्वशक्ति और स्वामिशक्तिके स्वरूपकी उपलब्धि की जाती है । अर्थात् स्वशक्ति और स्वामिशक्तिके स्वरूपकी उपलब्धि दृश्यद्रष्टाके स्व-स्वामिभाव संयोगके वियोगका कारण है । यह दृश्यके स्वरूपकी उपलब्धि अर्थात् दृश्य स्वरूपका विवेकपूर्ण साक्षात् करना भोग है और द्रष्टाके स्वरूपकी उपलब्धि अर्थात् पुरुष-दर्शन या स्वरूप-स्थिति अपवर्ग है ।

गीतामें द्रष्टाको क्षेत्रज्ञ और दृश्यको क्षेत्र तथा सांख्यकारिकामें दृश्यरूप जड प्रकृतिको अन्धे और द्रष्टारूप निष्क्रिय पुरुषको लँगड़ेकी उपमा देकर इनके परस्परके संयोगको दिखलाया है ।

यथा—

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ (गीता १३ । २६)

हे अर्जुन ! यावन्मात्र जो कुछ भी स्थावर-जङ्गम वस्तु उत्पन्न होती है उस सम्पूर्णको तू क्षेत्र (प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ (पुरुष) के संयोगसे ही उत्पन्न हुई जान अर्थात् प्रकृति और पुरुषके परस्परके सम्बन्धसे ही सम्पूर्ण जगत्‌की स्थिति है ।

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ २१ ॥ (सांख्यकारिका)

पुरुषका दर्शनके लिये और प्रधानका मोक्षके लिये दोनोंका ही लँगड़े और अन्धेकी तरह संयोग है । उससे की हुई (बनी हुई) सृष्टि है ।

यह द्रष्टा-दृश्यका संयोग जैसे अनादि है वैसे अनन्त नहीं है । पुरुष दर्शनपर्यन्त रहता है । पुरुष-दर्शनसे इसका अभाव हो जाता है । इसलिये पुरुष-दर्शन संयोगके वियोगका कारण है । दर्शन, अदर्शन (स्वरूप स्थितिका प्राप्त न होना अर्थात् अविवेक और आसक्तिके साथ चित्तवृत्तियोंका देखना) का विरोधी है । अतः जैसे दर्शन वियोगका निमित्तकारण है वैसे ही अदर्शन संयोगका निमित्तकारण है । अदर्शनका अभाव ही संयोगरूपी बन्धनका अभाव है, वही अपवर्ग अर्थात् मोक्ष है । दर्शनके होनेपर बन्धनके कारण अदर्शनका नाश हो जाता है ।

संक्षेपमें स्पष्ट शब्दोंमें सूत्रका अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये ।

स्वशक्ति और स्वामिशक्तिके स्वरूपकी उपलब्धिका कारण संयोग है अर्थात् संयोग हटानेके लिये स्वशक्ति और स्वामिशक्तिके स्वरूपकी उपलब्धि की जाती है । स्वशक्ति अर्थात् दृश्यके स्वरूपकी उपलब्धि जो भोगरूप है सम्प्रज्ञात समाधिद्वारा और स्वामिशक्ति अर्थात् पुरुषके स्वरूपकी उपलब्धि जो अपवर्गरूप है, असम्प्रज्ञात समाधिद्वारा की जाती है । दृश्य और द्रष्टा अर्थात् चित्त और पुरुषका जो आसक्तिपूर्वक

स्वस्वामि अर्थात् भोग्यत्व और भोक्तृत्व-भाव सम्बन्ध है वह संयोग है। सूत्र १७ में संयोगको हेय-हेतु बतलाया है। यह संयोग ही वास्तवमें अस्मिता क्लेश २—६ है। जिसने चित्तरूप-स्व और पुरुषरूप स्वामीको जड-चेतनके संमिश्रणसे एक नये जीव भावको उत्पन्न किया है। इस संयोगके रहते हुए ही इसी संयोगको हटानेके लिये स्व और स्वामीके स्वरूपकी उपलब्धि की जाती है।

टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद सूत्र २३। संयोगके स्वरूपको प्रकाशित करनेकी इच्छासे इस सूत्रकी प्रवृत्ति होती है। पुरुष जो स्वामी है वह अपने दृश्यके साथ दर्शनार्थ संयुक्त है। इस संयोगद्वारा दृश्यके स्वरूपकी जो उपलब्धि है वह भोग और जो द्रष्टाके स्वरूपकी उपलब्धि है वह अपवर्ग है। दर्शन कार्य (विवेकख्याति) पर्यन्त संयोग है। इसलिये दर्शनको वियोगका निमित्तकारण कहा है। दर्शन अदर्शनका विरोधी है। इसलिये अदर्शन संयोगका निमित्तकारण कहा गया है। अर्थात् जैसे दर्शन (विवेकख्याति) वियोगका कारण है वैसे ही अदर्शन (अविवेक) संयोगका कारण है। यहाँ दर्शन मोक्षका कारण नहीं है, (किंतु) अदर्शनके अभावसे ही जो बन्धका अभाव होता है वह मोक्ष है। दर्शनके होनेपर बन्धके कारण अदर्शनका नाश हो जाता है। इसलिये दर्शन अर्थात् (विवेकख्याति) ज्ञानको कैवल्यका कारण कहा गया है।

(उपर्युक्त कथनका अभिप्राय यह है कि दर्शन अर्थात् ज्ञान = विवेकख्याति अदर्शन अर्थात् अज्ञान = अविवेकका विरोधी होनेसे दर्शन अदर्शनका ही नाश करता है बन्धका नहीं, इसलिये दर्शन साक्षात् मोक्षका कारण नहीं है, किंतु अदर्शननिवृत्ति पूर्वक बन्धनिवृत्तिद्वारा परम्परासे मोक्षका कारण है अर्थात् अदर्शनके अभावसे बन्धका अभाव होता है यहाँ उसीको मोक्ष कहा है और दर्शनके होनेसे ही बन्धके कारण अदर्शनका अभाव होता है, इसलिये इस अभिप्रायसे ही दर्शन कैवल्यका कारण कहा जाता है। कैवल्य साक्षात् ज्ञानजन्य नहीं है।)

अब यहाँपर प्रसङ्गसे यह विचार किया जाता है कि जिस अदर्शन अविद्या, अज्ञानका दर्शन विवेकख्याति = ज्ञानसे अभाव होता है, वह अदर्शन किस स्वरूपवाला है अर्थात् अदर्शन किसका नाम है?

१—क्या गुणोंमें जो कार्योंके आरम्भका सामर्थ्य है उसका नाम अदर्शन है?

२—वा दृशिरूप स्वामीके भोग-अपवर्गरूप अर्थ जिस चित्तने सम्पादन कर दिया है ऐसे चित्तका अनुत्पाद (फिर उदय न होना) अर्थात् आत्मदर्शनका अभाव अदर्शन है?

३—वा गुणोंकी अर्थवत्ता (चित्तमें भोग-अपवर्गरूप अर्थकी सूक्ष्म अवस्थासे विद्यमानता) अदर्शन है?

४—अथवा चित्तकी उत्पत्तिका बीजभूत और प्रलयकालमें चित्तके सहित ही प्रकृतिमें लीन जो विपर्यय ज्ञान वासना है वह अदर्शन है? (यही पक्ष सिद्धान्त होगा)

५—अथवा प्रधानसम्बन्धी स्थिति–संस्कारके क्षय होनेपर गति-संस्कारकी अभिव्यक्ति अदर्शन है? अर्थात् प्रधानमें दो प्रकारका संस्कार रहता है। एक स्थिति-संस्कार जो प्रलयकालीन साम्य अवस्थाका कारण है और एक गति-संस्कार जो महत्तत्त्वादि विकारोंका आरम्भ है। ऐसा ही पञ्चशिखाचार्यने कहा है—

प्रधानं स्थित्यैव वर्तमानं विकाराकरणादप्रधानं स्यात्।
तथा गत्यैव वर्तमानं विकारानित्यत्वादप्रधानं स्यात्।
उभयथा चास्य प्रवृत्तिः प्रधानव्यवहारं लभते।
नान्यथा कारणान्तरेष्वपि कल्पितेष्वेष समानश्चर्चः॥

अर्थात् "प्रधान यदि स्थिति (गुणोंकी साम्य अवस्था = कारण अव्यक्तरूप) से वर्ते तो विकारके न करनेसे अप्रधान है और यदि गति (गुणोंकी विषम अवस्था = कार्य = व्यक्तरूप) से ही वर्ते तो विकारके नित्य होनेसे अप्रधान है। दोनों तरह इसकी प्रवृत्ति प्रधान नाम पाती है, अन्यथा नहीं, जो और (आदि) कारण (माया, अविद्या, परमाणु) कल्पना किये गये हैं उनके विषयमें भी यही समान विचार है" एवं गति संस्कारके होनेसे जो महदादिकार्यका आरम्भ है क्या उसका नाम अदर्शन है ?

६—और कोई यह कहते हैं कि "प्रधानस्यात्मख्यापनार्था प्रवृत्तिः" अर्थात् प्रधानकी प्रवृत्ति अपने स्वरूप ख्यापन (बोधन) के अर्थ हैं ! इस श्रुतिसे दर्शनशक्ति ही अदर्शन पदका वाच्य है। अर्थात् यद्यपि पुरुष सारे पदार्थोंके ज्ञानमें समर्थ है। तथापि प्रधानकी प्रवृत्तिसे पूर्व पुरुष उनको देख नहीं सकता, सारे कार्य करनेमें समर्थ दृश्य भी उस समय उसे दिखलायी नहीं देता अर्थात् अनुभवका विषय नहीं होता है। अतः प्रधानकी प्रवृत्तिसे जो पुरुषका दर्शन-सामर्थ्य है अर्थात् प्रधानमें जो अनुभव करानेकी शक्ति है क्या उसका नाम अदर्शन है ?

७—कोई यह कहते हैं कि प्रकृति तथा पुरुष—इन दोनोंमें जो परस्पर दर्शन-शक्ति है, वह अदर्शन है। यद्यपि दृश्य जड है और पुरुष असङ्ग निर्धर्मक है, इसलिये दोनोंका ही धर्म दर्शन नहीं हो सकता तथापि चेतनके प्रतिबिम्बसे दृश्यको चेतन-तुल्य होनेसे उस चेतनके प्रतिबिम्बकी अपेक्षासे दृश्यका धर्म दर्शन और बुद्धिरूप दृश्यकी अपेक्षासे पुरुषका धर्म दर्शन जानना। अर्थात् बुद्धि और चेतनका परस्पर अविवेक होनेसे दोनोंका ही जो दर्शन धर्म है वह अदर्शन है।

८—और कोई यह कहते हैं कि शब्दादि विषयोंका जो ज्ञान है वही अदर्शन है।

इस प्रकार अदर्शन (अविद्या) के स्वरूप-निरूपणमें आठ प्रकारके सांख्यशास्त्रने विकल्प किये हैं; परंतु यह सब विकल्प सब पुरुषोंके सङ्ग प्रकृति संयोग कारण होनेसे साधारण हैं। अर्थात् यह सब पूर्वोक्त अदर्शन (अविद्या) का लक्षण उसीमें रह सकता है जो कि प्रकृति-पुरुषके संयोगद्वारा सारे प्रपञ्चका हेतु है। और जो अविद्या प्रत्येक पुरुषके सङ्गबुद्धि संयोगद्वारा सुख-दुःख-भोगके वैचित्र्य (विचित्रता) में हेतु है (संख्या ४) इसका यह लक्षण नहीं अतः यह लक्षण असाधारण है। अर्थात् संयोग दो प्रकारका है, एक सारे संसारका कारण और एक प्रत्येक पुरुषके सुख-दुःख, बन्ध-मोक्षका कारण। यहाँ प्रथम साधारण संयोगका हेतु जो अदर्शन है उसीके यह सब पूर्वोक्त लक्षण हैं। द्वितीय असाधारण संयोग (संख्या ४) के (हेतुभूत अदर्शनके) नहीं। प्रत्येक पुरुषके सङ्ग असाधारण बुद्धिसंयोगका कारण जो अविद्या है उसको अगले सूत्रमें बतलाते हैं।

भोजवृत्ति भाषार्थ सूत्र २३—कार्य (स्वरूपज्ञान) के द्वारा इस संयोगका लक्षण करते हैं। स्वशक्ति दृश्यका स्वरूप (स्वभाव) है, स्वामिशक्ति द्रष्टाका स्वभाव (स्वरूप) है। इन दोनों (ज्ञेय ज्ञातृरूप जानने योग्य और जाननेवालारूप) से वर्तमानकी जो स्वरूप-उपलब्धि है उसका जो कारण है वह संयोग कहलाता है। वह भोग्य-भोक्तृभाव-स्वरूपसे भिन्न और कुछ नहीं है। इन दोनों नित्य व्यापकों-के स्वरूपसे भिन्न संयोग और कोई वस्तु नहीं है। जो कि भोग्य (दृश्य) में भोग्यत्व और भोक्तृ-(द्रष्टा) में भोक्तृत्व है वह अनादि कालसे है और वही संयोग है।

इस संयोगका कारण बतलाते हैं—

व्यासभाष्यपर विज्ञानभिक्षुके वार्तिकका भाषानुवाद सूत्र २३

द्रष्टा और दृश्यका स्वरूप कह दिया अब उनके संयोगके स्वरूपप्रदर्शक सूत्रको उठाते हैं—संयोगस्वरूपेति—द्रष्टा और दृश्यका सामान्य संयोग हेय (संसार) का हेतु नहीं है; क्योंकि सामान्य संयोग तो प्रलय और मोक्ष दोनों दशामें समान ही हैं, अतः संयोगगत विशेषका अवधारण करनेके लिये यह सूत्र प्रवृत्त होता है—

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः—भोग्यताके योग्य होनेसे स्वशक्ति दृश्य है और भोक्तृ-योग्य होनेसे स्वामिशक्ति द्रष्टा है; इन दोनोंके स्वरूपकी उपलब्धिका हेतु जो संयोगविशेष है वह ही द्रष्टा-दृश्यका संयोग, यहाँ हेयका हेतु कहा है। विभुके साथ द्रष्टा और दृश्यका सामान्य संयोग सदा ही रहता है, अतः वह हेयका हेतु नहीं है, यह भाव है। वह संयोगविशेष—बुद्धिद्वारक-दृश्य बुद्धि-सत्त्व उपाधिरूप है, जिसको कि सर्वधर्मा इस भाष्यने कहा है, अतः दृश्यवाली बुद्धिके साथ संयोग ही यहाँ संयोग-विशेष है। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः। इन्द्रियों और मनसे युक्त आत्माको विचारशील भोक्ता कहते हैं। इस प्रकारकी श्रुति आदिसे लिङ्ग देह और आत्माके संयोगसे ही विषयका दर्शन जान पड़ता है, इससे भोक्ता और भोग्यकी योग्यता ही द्रष्टा और दृश्यका अनादिसम्बन्ध संयोग है। ऐसा माननेपर पुरुषमें परिणामिता आ जायगी। ऐसा जो किसीका कथन है, वह (कथन) सूत्रके स्वरस (अभिप्राय) से ही त्याज्य है। क्योंकि ऐसा होनेपर "स्वस्वामिभावः संयोगः" इस प्रकारका सूत्र होना ही उचित है। सामान्य संयोग एक व्यक्ति अनादि होनेपर तो आगामी दो सूत्रोंसे उत्पत्ति और विनाशवचन संगत न हो सकेंगे ? चेतन और अचेतनके अतिरिक्त, प्रतिनियत योग्य-ज्ञानके अवच्छेदकका निरूपण नहीं किया है। वे दोनों (चेतन-अचेतन) मोक्षकालमें सामान्य होनेसे हेयके हेतु नहीं हैं। यदि स्वभुक्त वृत्तियोंकी वासनावाली प्रवाहरूपसे वासनाओंकी जो अनादिता है, वही संयोग है—ऐसा कहें; तो भी इस प्रकारके संयोगको जो वक्ष्यमाण भाष्यमें अविद्याकी वासनासे जन्य कहा है, वह न घट सकेगा ? ऐसे संयोगके त्यागका अनौचित्य भी न बनेगा और जो यह कहा है कि संयोगसे पुरुष परिणामी हो जायगा, वह कथन परिणाम लक्षणके अज्ञानसे किया गया है; क्योंकि संयोग और विभागमात्रसे आकाश आदिमें परिणामका व्यवहार नहीं होता, अतः सामान्य गुणके अतिरिक्त धर्मकी उत्पत्ति ही परिणाम है—यह बात कही है। अन्यथा प्रतिसर्गमें प्रकृति और पुरुषका संयोग और विभाग जो श्रुति और स्मृतियोंमें कहे हैं उनसे विरोध होगा, प्रतिसर्गमें योग्यताके उत्पादन और विनाश भी न घटेंगे; क्योंकि इससे पुरुषमें परिणामित्व दोष होगा, श्रुतिप्रतिपादित संयोग और विभागका ही उत्पादनादि क्रम उचित है। सूत्रार्थका विवरण करते हैं—पुरुष इत्यादिसे लेकर सोऽपवर्ग इसतक (पुरुष स्वामी अपने दृश्यके साथ दर्शनके लिये संयुक्त होता है, उस संयुक्त दृश्यकी उपलब्धि भोग है और द्रष्टाके स्वरूपकी उपलब्धि अपवर्ग है,) सूत्रमें स्वरूप पदका प्रयोग, विवेकख्यातिपर्यन्त दर्शन सामान्यकी संयोगजन्यताके प्रतिपादनके लिये है, अब "विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः" 'तस्य हेतुरविद्या', इन आगामी दोनों सूत्रोंका अर्थ इसी सूत्रने उपपादित कर दिया है, अतः इस क्रमसे प्रतिपादन करते हैं—दर्शनाकार्येत्यादिसे कृतकृत्यका प्रयोजन नहीं रहता, अतः उसकी अवस्थिति असम्भव है—अतः दर्शन कार्यका अवसान—अन्त होनेतक ही संयोग है। अतः दर्शन-द्रष्टाके स्वरूपकी उपलब्धि वियोगका कारण अर्थात् इस सूत्रसे कहनेके लिये

उपपादित है। तथा दर्शन अदर्शनका प्रतिद्वन्द्वी है—विरोधी है अतः अदर्शन संयोगका हेतु है, यह भी कह दिया अर्थात् सिद्ध कर दिया। दर्शन और अदर्शनके विरोधसे विरुद्ध ही वियोग और संयोगके दोनों कार्य भोग और अपवर्ग उचित ही हैं।

शङ्का—अदर्शन संयोगका कारण है, तो अदर्शनके अभावसे ही संयोगकी निवृत्तिरूप मोक्ष हो जायगा, तब दर्शनको मोक्षका हेतु किस प्रकार कहा है?

समाधान—यहाँ दर्शन मोक्षका कारण है—हमारे शास्त्रमें दर्शन-तत्त्वज्ञान मोक्षका कारण नहीं है; क्योंकि इसमें गौरव है, निरोध आदिका व्यवधान होनेसे मोक्षके अव्यवहित पूर्व कालमें नियमसे ज्ञानकी विद्यमानता असम्भव है, किंतु वक्ष्यमाणरूप अदर्शनके अभावसे ही द्रष्टा और दृश्यके संयोगका अभाव होता है और वही मोक्ष है। इससे अनिमित्ततया मोक्ष स्वाभाविकरूपसे नित्य है। यह बात सिद्ध हो जाती है।

शङ्का—'विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः'—इस अग्रिम सूत्रसे विरोध है—दर्शन वियोगका कारण है, इस अपने कथनसे भी विरोध है?

समाधान—दर्शनस्य भाव इति (दर्शनके होनेपर बन्धके कारण अदर्शनका नाश होता है, अतः दर्शन-ज्ञान कैवल्यका कारण कहा है), तथा च तत्त्वज्ञान मोक्षमें प्रयोजनमात्र है, उत्तर सूत्रसे असाधारण संयोगके हेतु अदर्शनका निश्चय करनेके लिये उक्त अदर्शनमें विकल्प करके पूछते हैं—किं चेदमिति—संयोगका कारण जो अदर्शन कहा है वह क्या है? नाम पद वाक्यकी शोभार्थक है, यद्यपि संयोग दर्शनका कारण है, ऐसा सूत्र होनेसे—दर्शनका अनुत्पाद ही संयोगका हेतु है? यह बात उपस्थित होती है, अन्य संयोगका हेतु नहीं है? तो भी उस दर्शनके अनुत्पादके साथ समनियत होनेसे अन्योंको भी संशयकोटिमें समझना चाहिये।

१. उनमेंसे प्रथम विकल्प है—क्या सत्त्वादि गुणोंका अधिकार कार्य आरम्भका सामर्थ्य—अदर्शन है? ज्ञानरूप अग्निसे अदग्ध कार्यविशेषकी जननशक्ति जिसका कि अर्थ उससे भी संसारका हेतु संयोगविशेष उत्पन्न होता है। द्वितीय विकल्पको छोड़कर सब विकल्पोंमें बन्धके कारण सत्त्वादि गुणोंका योग होनेसे अदर्शन शब्द गौण है।

२. द्वितीय विकल्पको कहते हैं—आहोस्विदिति—(दृशिरूप स्वामीके दर्शित विषयप्रधान चित्तका अनुत्पाद अदर्शन है) अदर्शन—इसमें दर्शन शब्दका कारण साधनत्व (दृश्यते अनेन) प्रतिपादन करनेके लिये "दृशिरूपस्य स्वामिनः दर्शितविषयस्य" यह चित्तका विशेषण है, दृशिरूपाय—स्वामिने दर्शितो विषयो येन तस्य-चित्तस्य—दृशिरूपस्वामिके लिये दर्शित विषय चित्तका (अनुत्पाद) (तात्पर्य) दृशिरूप स्वामीके लिये दर्शित है विषय जिस चित्तसे उस चित्तका अनुत्पादन अदर्शन है! इस कहे हुएका (भाष्यकार) विवरण करते हैं—स्वस्मिन्निति—अपने चित्तमें पुरुषार्थरूपसे जो दृश्य है, शब्दादि वृत्तिरूप है। उसमें सत्त्व पुरुषकी अन्यता-वृत्तिके हो जानेपर—जो दर्शनका अभाव चित्तवृत्तिका अभाव है (क्या वह अदर्शन है) मोक्षकालीन दर्शनके अभावकी व्यावृत्तिके लिये—सतितकके शब्दोंका प्रयोग है। संयोगका अहेतु होनेसे इस प्रकारका अदर्शन तो विचारणीय नहीं है, चित्तमें पुरुषार्थकी सत्ता होनेपर ही अदर्शन संयोगका हेतु होता है। यह भाव है।

३. व्यर्थ होनेसे द्वितीय विकल्पके विशेष्य भागके परित्यागमात्रसे तृतीय विकल्पको कहते हैं—

किमर्थवत्तेति-सत्कार्यकी सिद्धिसे भावि भोग और अपवर्ग नामक जो अव्यपदेश्य हैं उनका अपने कारण गुणोंमें अवस्थान अदर्शन है।

४. चतुर्थ विकल्पको कहते हैं—अत्राविद्येति-पाँच पर्ववाली अविद्या प्रलयकालमें अपने चित्तके साथ गुणोंमें लीन हुई वासनारूपसे (रहती है) उनके आश्रय चित्तकी उत्पत्तिका बीज (अदर्शन है) तथा च—अविद्याकी वासना ही अदर्शन है। यह ही पक्ष सिद्धान्त होगा।

५. पञ्चम विकल्पको कहते हैं—किं स्थिति इति—प्रधाननिष्ठ असाम्य परिणामके हेतु स्थितिसंस्कार-के क्षय हो जानेपर, गतिसंस्कार जो कि महदादिरूप विसदृश परिणामका हेतु है उसकी अभिव्यक्ति अदर्शन है। उस गतिसंस्कारकी अभिव्यक्तिसे ही प्रकृतिमें क्षोभके द्वारा पुरुष और प्रकृति संयोग उत्पन्न होता है। उन दोनों संस्कारोंके सद्भावमें मतान्तरका प्रमाण देते हैं—यत्रेदमुक्तम् स्थित्यै और गत्यै--यह तादर्थ्यमें चतुर्थी विभक्ति है एवंकारका दोनोंके पीछे अध्याहार करना चाहिये। स्थित्यैव—ऐसा पाठ हो तो विशेषणमें तृतीया विभक्ति समझनी चाहिये। तथा च प्रधान यदि स्थितिमात्रसे ही वर्ते तो विकारका जनक न होनेसे प्रधान ही न रहेगा; क्योंकि मूलकारणत्व ही प्रधानत्व है, और यदि गतिमात्रसे ही वर्ते तब महद् आदि भी प्रकृतिके समान नित्य हो जायँगे, तब कौन किसका मूल है—यह व्यवहार ही असम्भव हो जायगा, अतः दोनों प्रकारसे ही स्थिति और गति दोनों रूपसे ही प्रधानका अवस्थान प्रधान व्यवहारके योग्य है। कार्य होनेसे महदादिमें प्रधान व्यवहार नहीं होता। केवल मूल कारणमें ही स्थिति और गतिका कालभेदसे निर्णायक विचार नहीं है, किंतु कल्पित विकाररूप कारणके भेदोंमें भी महदादिमें चर्चा—विचार समान हैं—इस बातको प्रसङ्गसे भी निर्धारण करते हैं—नास्तिकोंके अकुर्वद्रूपतावादका निराकरण करनेके लिये—कारणा-न्तरेष्वपीति—वह चर्चा—यथा मृत्तिका आदि यदि स्थितिसे ही या निवृत्तिसे ही वर्ते तो—कभी भी घटके उत्पन्न न करनेसे उसके कारणत्वकी हानि होगी यदि गतिसे ही (प्रवृत्तिसे ही) वर्ते तब भी मिट्टी और घट एक कालमें होनेसे कार्यकारणकी व्यवस्था न हो सकेगी। अतः विकाररूप कारण भी स्थिति और गति दोनोंवाला—कारण नहीं होता।

६. षष्ठ विकल्पको कहते हैं—दर्शनशक्तिरेवेति—पुरुषके लिये अपनेको दिखलानेकी जो क्षमता है, वह दर्शनशक्ति है, वही अदर्शन है और यह शक्ति विवेकख्यातिके अनुत्पादरूपी संयोगका हेतु है-तथा सांख्यकारिकामें कहा है—दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या इति पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः—मैं देखी गयी हूँ इस कारण प्रकृति उपरत हो जाती है पुरुषके दर्शनार्थ और प्रधानके कैवल्यार्थ—लँगड़े और अन्धेके समान दोनोंका हो संयोग होता है, और उस संयोगसे किया हुआ—बनाया हुआ यह सर्ग-सृष्टि है। तृतीय विकल्पमें स्थित शब्द आदि वृत्तिके अनुत्पाद-के त्यागसे इस छठे विकल्पका भेद है। प्रधानकी दर्शन शक्ति होनेमें श्रुतिको प्रमाण देते हैं—प्रधानस्येति—कालगतिसे लुप्त शाखाकी यह श्रुति है।

७. सप्तम विकल्पको कहते हैं—सर्वबोध्य इससे लेकर अवभाससे इसतकसे, सर्वबोध समर्थ भी पुरुष प्रधानकी प्रवृत्तिसे पहले नहीं देखता, इससे एक अदर्शन पुरुषनिष्ठ है—और दूसरा सब कार्योंके उत्पादनमें समर्थ स्वरूप योग्य भी दृश्य—प्रधानत्व प्रधानकी प्रवृत्तिसे पूर्व पुरुषको दिखलायी नहीं देता, वह दृश्यनिष्ठ अदर्शन है—इस प्रकार दोनों प्रकृति और पुरुषका अदर्शन धर्म है। यह कोई कहते हैं—यह भी 'अदर्शन है' यह वाक्य-शेष है।

शङ्का—जड अदर्शनात्मक है उसका धर्म अदर्शन कैसे हो सकता है; क्योंकि अभाव अधिकरण-रूप होता है—अव्यभिचार होनेसे लाघवतया एकत्व सिद्ध है—और दृशिरूप पुरुषका भी अदर्शनरूप कैसे घटता है; क्योंकि प्रकाशरूपका अप्रकाशरूप होना असम्भव है।

समाधान—उन दोनों अदर्शनोंमेंसे यह एक अदर्शन दृश्य स्वरूपभूत भी दृश्यधर्मत्वसे विशिष्ट होता है, इसमें हेतु है पुरुषप्रत्ययापेक्ष, दृश्य प्रत्ययकी अपेक्षा करके—दृश्यगोचर प्रत्ययके अभावसे—यह अर्थ है।

८. अष्टम विकल्पको कहते हैं—दर्शनज्ञानमिति—ज्ञान—वासनारूप है वह भी दृश्यके संयोगका हेतु है—भोगापवर्गरूप—अनागतावस्था दर्शन यहाँ नहीं कहा है; क्योंकि अर्थवशासे पुनरुक्ति दोष हो जाता।

उपसंहार करते हैं—इयत: इति—शास्त्रोंमें ये अज्ञानके भेद तान्त्रिकों—दर्शनकारोंने कहे हैं। संयोगके भेदसे सब ही अदर्शनोंकी हेतुताको सिद्धान्त बनाते हुए ही संयोगविशेषके हेतु अदर्शन विषय-परक उत्तर सूत्रको उतारते हैं। तत्र विकल्पेति—उस अदर्शनमें विकल्प बहुत हैं—भेद बहुत हैं, ये पुरुष सामान्य और गुण सामान्यके पुरुषार्थके हेतुके संयोग सामान्यके प्रति कारणतामें हैं, यह जानना चाहिये। जो प्रत्येक चेतनका तत्-तत् चेतनका अपनी बुद्धिके साथ संयोग है वह हेयका हेतु है—यह बात स्वस्वामि इत्यादि प्रकृत सूत्रने कही है। तस्य हेतुरविद्या—चतुर्थ विकल्परूप अदर्शन ही—इस सूत्रके साथ अन्वय (मेल खाता) है। प्रत्यक् चेतनस्य—इस पाठमें स्व-स्व बुद्धिके अनुगमशील चेतनका—यह अर्थ है। भाव यह है—अविद्याक्षयके बाद भी जीवन्मुक्तके भोगार्थ विषयरूपसे परिणत गुणोंके साथ संयोग उत्पन्न होता है—अत: अविद्या गुण और पुरुषके सामान्य संयोगका हेतु नहीं किंतु यथोक्त गुणोंका अधिकार ही संयोगका हेतु है। स्वबुद्धिके साथ संयोग तो जन्म जिसका दूसरा नाम है उस अविद्याके बिना नहीं होता है, अत: बुद्धि और गुणोंके संयोगका असाधारण कारण अविद्या ही है—वही बुद्धि (अविद्या) संयोगके द्वारा द्रष्टा और दृश्यके संयोगकी हेतु विद्यासे उच्छेद्य—काटने योग्य है, इस आशयसे वह ही उत्तर सूत्रने सूचित किया है—गुणोंके अधिकार आदि नहीं कहे; क्योंकि उनका ज्ञानसे उच्छेद नहीं होता। एक पुरुषके मुक्त हो जानेपर भी दूसरे पुरुषोंके लिये गुणोंका अधिकार ज्यूँ का-त्यूँ बना रहता है, जो पुरुषसे काटा जा सकता है वही हेयका निदान—हेतु इस शास्त्रका प्रतिपादनीय विषय है, अन्यथा—काल, कर्म, ईश्वर आदि (जो कि सब कार्योंके प्रति सामान्य कारण हैं) वे भी यहाँ प्रतिपादनका विषय बन जायेंगे ॥ २३ ॥

सङ्गति—अगले सूत्रमें अदर्शनरूपी संयोगका कारण बताते हैं—

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—तस्य हेतु: = इस अदर्शनरूपी संयोगका कारण; अविद्या = अविद्या है।

अन्वयार्थ—इस अदर्शनरूपी संयोगका कारण अविद्या है।

व्याख्या—अदर्शनरूपी संयोगका कारण अविद्या अर्थात् मिथ्या-ज्ञान है; जिससे आत्मा और चित्तमें विवेक न होनेसे अभिन्नता प्रतीत होती है; और चित्तकी सुख, दु:ख, मोहरूपी वृत्तियोंका पुरुषमें अध्यारोप होता है।

तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीन: ॥ २० ॥ (सांख्यकारिका)

इस कारण उनके संयोगसे (पुरुष और बुद्धिके अविद्याके कारण आसक्ति वा अविवेकपूर्ण संयोगसे)

अचेतन बुद्धि चेतन-सी और वैसे ही गुणोंके कर्ता न होनेपर भी उदासीन (पुरुष) कर्ता-जैसा प्रतीत होता है।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥ (गीता अ० ३)

वास्तवमें सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये हुए हैं तो भी अहंकारसे मोहित हुए अन्तःकरण-वाला पुरुष 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मान लेता है अर्थात् अहंभाव पैदा कर लेता है।

सूत्र २३ में बतला आये हैं कि संयोग ही अस्मिता क्लेश २–६ है। इस संयोगका कारण अथवा अस्मिता क्लेशका क्षेत्र अविद्या है। वह सत्त्व चित्तमें जो लेशमात्र तम है उसमें वर्तमान है। विवेक-ख्यातिकी अवस्थामें सत्त्वकी विशुद्धताके कारण यह अविद्यारूप तम दग्ध बीजमात्रको प्राप्त होकर इस अत्यन्त सात्त्विक अक्लिष्ट वृत्तिको केवल रोकनेमात्र कार्य करता है।

टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद सूत्र २४। जो प्रत्यक् चेतन (अन्तरात्मा) का स्वबुद्धिके साथ संयोग है उस असाधारण संयोगका हेतु अविद्या अर्थात् विपर्यय ज्ञान वासना है। अविद्याका अर्थ है अनादिविपर्ययज्ञानजन्य वासना (वही असाधारण संयोगका हेतु है)।

विपर्ययज्ञानकी वासनासे वासित जो बुद्धि है वह न तो कार्यमें निष्ठाको प्राप्त होती है (अधिकार-को समाप्त करती है) और न पुरुषख्यातिको प्राप्त होती है। साधिकार होनेसे पुनरावृत्तिशील हो जाती है। किंतु पुरुषख्याति पर्यवसान हुई बुद्धि अपने अन्तिम कार्यनिष्ठाको प्राप्त हो जाती है। वह समाप्त अधिकार हुई अज्ञानसे रहित होकर बन्धके कारणके अभाव हो जानेसे पुनरावृत्तिरहित हो जाती है। यहाँ-पर किसी नास्तिकने एक नपुंसकके दृष्टान्तसे उपर्युक्त कथनका खण्डन उपहासके साथ किया है। एक अबोध स्त्री अपने नपुंसक पतिसे कहती है "आर्यपुत्र मेरी बहिन तो पुत्रवती है मैं क्यों नहीं हूँ" ? वह उसको उत्तर देता है "मैं मरकर तेरे लिये पुत्र उत्पन्न कर दूँगा" इसी प्रकार यह विद्यमान ज्ञान चित्तनिवृत्ति नहीं करता है तो फिर नष्ट होकर करेगा—इसकी क्या आशा करनी चाहिये (अर्थात् जब विद्यमान विवेकख्याति चित्तनिवृत्तिरूप मोक्ष नहीं उत्पन्न कर सकती तो परवैराग्यद्वारा विनष्ट होकर मोक्ष उत्पन्न करेगी इसकी कम आशा हो सकती है) इसका उत्तर एक आचार्यदेशीय अर्थात् एक साधारण बुद्धिवाले आचार्यने इस प्रकार दिया है कि चित्तके भोग-अपवर्गरूप परिणामोंकी निवृत्तिका नाम मोक्ष है। और चित्तके भोग-अपवर्गरूप परिणाम निवृत्ति अदर्शनके अभावसे होती है। वह अदर्शन बन्धका कारण है। उसकी निवृत्ति विवेक-दर्शनसे होती है। विवेक-दर्शनकी निवृत्ति परवैराग्यसे होती है। चित्तके ऐसे स्वरूप होते ही मोक्ष होता है। फिर उस नास्तिकका उपहास व्यर्थ ही है।

नोट—यहाँ व्यासजीने यह दिखलाया है कि एकदेशीय अर्थात् साधारण बुद्धिवाला आचार्य भी नास्तिकको इस आशङ्काका परिहार कर सकता है तो इसके उत्तर देनेसे कोई प्रयोजन नहीं है। सांख्य-योगके विद्वान् आचार्यका तो यह मत है कि चित्तकी निवृत्ति ही मोक्ष है। चित्तकी निवृत्तिका साक्षात् कारण विवेकदर्शन नहीं है; किंतु स्थिर विवेकख्यातिमें परवैराग्य उदय होता है। परवैराग्यसे असम्प्रज्ञात समाधि। असम्प्रज्ञात समाधिके अधिकत्वके क्रमसे निरधिकार चित्तकी निरिन्धन अग्निके सदृश अपने कारणमें लयरूप निवृत्ति होती है। इसलिये परवैराग्यद्वारा चित्तनिवृत्तिका कारण विवेकदर्शन है। इसलिये नास्तिकका उपहास निरर्थक है।

भोजवृत्ति-भाषार्थ सूत्र २४। पूर्व जो विपर्यय मोहरूप अविद्या कहा है वह अविवेकख्यातिरूप संयोगका कारण है।

व्यासभाष्यपर विज्ञानभिक्षुके वार्तिकका भाषानुवाद सूत्र २४

तस्य हेतुरविद्या—उस द्रष्टा और दृश्यके संयोगका बुद्धि और पुरुषके संयोगद्वारा अविद्या हेतु है। भाष्यकारने सूत्रकारके तात्पर्यके अभिप्रायसे ही 'तस्य' इस पदका अर्थ 'बुद्धि-संयोगस्य' किया है, साक्षात् ही नहीं; क्योंकि द्रष्टाका दृश्यके साथ सामान्य संयोग ही पूर्वसूत्रमें प्रकृत है। (प्रकरणमें आया हुआ है)। बुद्धिसंयोगस्येति; अविद्या यहाँ अनात्ममें आत्मबुद्धिमात्र है; क्योंकि वह ही यहाँ बुद्धिके साथ संयोगका कारण है और अनित्यादिमें नित्यादि बुद्धिरूप अविद्या जो आगे कहेंगे उसकी विवेक-ख्यातिसे निवृत्ति भी नहीं होती है। और वह अविद्या बुद्धिके संयोगसे जन्य है, अतः बुद्धिसंयोगके अव्यवहितपूर्व कालमें होनी चाहिये। (अनात्ममें आत्मबुद्धि तो सम्भव है, अनित्यादिमें नित्य बुद्धि-रूप सम्भव नहीं है) अतः भाष्यकार कहते हैं—'विपर्ययेति'—सर्गान्तरीय अविद्या स्वचित्तके साथ निरुद्ध हो जाती है—उसका वासना प्रधानमें स्थित रहती है। उससे वासित प्रधान उसी पुरुषकी संयोगिनी उस प्रकारकी बुद्धिको उत्पन्न करता है, अतः अनादि होनेसे दोष नहीं है। अविद्याकी वासनामें बुद्धि और पुरुषका संयोग हेतु है—इसमें युक्ति कहते हैं—विपर्ययेति-विपर्यय ज्ञानकी वासनाओंके बलसे पुरुषख्यातिरूप-कार्यनिष्ठारूप स्वकर्तव्यकी अन्तिम अवधिको बुद्धि प्राप्त नहीं होती अतः साधिकार होनेसे पुनः लौट आती है—पुरुषके साथ संयुक्त हो जाती है। वही बुद्धि पुरुषान्यताख्यातिपर्यन्त हुई परवैराग्यके उत्पन्न कर देनेसे समाप्तिको प्राप्त होती है। ततः—चरिताधिकारा (जिसका अधिकार समाप्त हो चुका है) निष्पादितकार्या (जिसने अपना कार्य भोग और विवेकख्याति सम्पन्न कर दिया है) निवृत्ताविद्या (जिसने अविद्याको निवृत्त कर दिया है) हुई बुद्धि संयोग नामक बन्धके कारणके अभाव होनेसे फिर पुरुषसे संयुक्त नहीं होती। तथा च अन्वय और व्यतिरेकसे विपर्यय वासनाबुद्धि पुरुषके संयोगका हेतु है, यह भाव है। पुरुषख्यातिसे चित्तकी निवृत्ति होती है, जो यह कहा है इस विषयमें नास्तिकके आक्षेपके निराकरण करनेका इच्छुक—उसको दिखलाते हैं। 'अत्र कश्चित् षण्डक'के उपाख्यान—दृष्टान्तसे उद्घाटन करते हैं—आक्षेप करते हैं—नपुंसकके आख्यानको ही कहते हैं—'मुग्धया' इत्यादिसे लेकर 'उत्पादयिष्यति'—इस तकसे। वह षण्डक उस अपनी भार्याको विनष्टमिति—विनष्टं-परवैराग्यसे निरुद्ध—ज्ञान—जो कि चित्तकी निवृत्तिरूप है—मोक्षको करेगा—मुक्ति देगा, यह नास्तिककी प्रत्याशा है—यह अर्थ है। उपेक्षाको सूचित करनेके लिये—पूर्वाचार्यके वचनोंसे इस विषयमें सिद्धान्तको कहते हैं—ईषद् असमाप्त आचार्य आचार्यदेशीय होता है (अर्थात् जो आचार्य तो नहीं है परंतु लगभग आचार्य-जैसा है)। जिस बातके उत्तरकी आचार्यलोग उपेक्षा कर देते हैं, उसका भी उन्होंने उत्तर दिया है; वही उनकी आचार्यदेशीयता है। आचार्य वह है जिसका स्वरूप वायुपुराणमें कहा है—

आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि। स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते ॥ इति।

शास्त्रके अर्थोंका (उद्देशों—प्रयोजनोंका) जो संचय करता है, जनताको सदाचारमें नियुक्त करता है और स्वयं भी सदाचारी है, वह आचार्य कहा जाता है। ननु-शब्द यहाँ सम्बोधनवाचक है, यों कह सकते हैं—ज्ञान साक्षात् मोक्षका हेतु नहीं है, किंतु अविद्या नामक अदर्शनकी निवृत्ति तत्कार्य निरोध-

योगद्वारा मोक्षका हेतु है। तथा च विनष्ट भी ज्ञानयुद्धि पुरुष वियोगरूप मोक्षका व्यापारद्वारा कारण सम्भव है।

शङ्का—यदि यह आचार्यदेशीय ही है तो क्या बुद्धि-चित्त आदि नामक अन्तःकरणकी निवृत्ति ही मोक्ष नहीं है ?

समाधान—तत्र चित्तेति—चित्तनिवृत्ति मोक्ष होता ही है; किंतु उस विषयमें वेमोंके ही इस नास्तिकको बुद्धिका मोह व्यर्थ है, इसलिये यहाँ उपेक्षणीय विषयमें समाधान करनेवालेकी आचार्यदेशीयता है, यह बात कही है ॥ २४ ॥

सङ्गति—सूत्र १६ में हेय जो दुःख है, १७ में हेय-हेतु द्रष्टा और दृश्यका संयोग जो दुःखका कारण है, २३ में स्वशक्ति और स्वामिशक्तिके स्वरूपकी उपलब्धि जो संयोगके वियोगका कारण है और २४ में संयोगका कारण अविद्या बतलाकर अब अगले सूत्रमें हान अर्थात् अविद्याके कारण संयोगके नाशको जो कैवल्य है उसको बतलाते हैं—

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—तदभावात् = उसके (अविद्याके) अभावसे; संयोगाभावः = संयोगका अभाव; हानम्····हान है; तत्-दृशेः = वह चिति शक्ति (द्रष्टा) का; कैवल्यम् = कैवल्य है।

अन्वयार्थ—उसके (अविद्याके) अभावसे (अदर्शनरूपी) संयोगका अभाव 'हान' है। वह चिति-शक्तिका कैवल्य है।

व्याख्या—अविद्याके विरोधी यथार्थ ज्ञानसे अविद्याका विच्छेद हो जाता है। अविद्याके अभाव होनेपर अविद्याके कार्य 'संयोग' के अभावको 'हान' कहते हैं। निराकार वस्तु 'संयोग' का मूर्त-द्रव्यके तुल्य छोड़ना नहीं होता है; किंतु अज्ञानसे जन्य संयोग अपने-आप ही निवृत्त हो जाता है। अर्थात् पुरुषका अपने स्वरूपको भूला-जैसा होकर चित्तको अपने-से भिन्न न समझते हुए केवल उसकी बाह्य वृत्तियोंको ही देखते रहना जो संयोग है उसका कारण अदर्शन सूत्र तेईसमें बतलाया था, और इसका कारण पिछले सूत्रमें अविद्या बतला दी गयी है। इस अविद्याके नाशसे अदर्शनका और अदर्शनके नाशसे संयोगका स्वयं नाश हो जाता है। इस संयोगका नाश होना ही 'हान' है, अर्थात् दुःखका अपने कारणसहित नाश हो जाना। यह हान ही चिति-शक्ति (पुरुष) का कैवल्य अर्थात् केवल हो जाना, निखर जाना, स्वरूप-स्थिति, मोक्ष अर्थात् शुद्ध परमात्म-स्वरूपमें अवस्थिति है।

टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद सूत्र २५। इस अदर्शनके अभावसे बुद्धि और पुरुषके सङ्गका अभाव ही अत्यन्त दुःखकी निवृत्ति है, यह अर्थ है; यही "हान" कहलाता है। यह द्रष्टाका कैवल्य है। यह पुरुषका अमिश्रीभाव है अर्थात् इसके पश्चात् फिर कदापि गुणोंसे संयोग नहीं होता। दुःखके कारणकी निवृत्ति होनेपर दुःखकी निवृत्ति ही परम हान है। तब पुरुष स्वरूप-प्रतिष्ठित हो जाता है अर्थात् शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थित हो जाता है।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद सू० २५। अविद्याके विरोधी यथार्थ ज्ञानसे अविद्याका उच्छेद हो जाता है। अविद्याके अभाव होनेपर उसके कार्य संयोगका भी जो अभाव होता है वही 'हान' कहलाता है। मूर्त द्रव्यके समान इसका परित्याग नहीं होता है, किंतु विवेकख्यातिके उदय होनेपर अविवेक निमित्त संयोग स्वयं ही निवृत्त हो जाता है। यही इस संयोगका 'हान' है। यह जो संयोगका नाश है वही स्वरूपसे

नित्य केवली (शुद्ध-स्वरूप) पुरुषका कैवल्य कहलाता है ।

सङ्गति—इस 'हान' की प्राप्तिका उपाय बतलाते हैं—

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—विवेक-ख्याति = विवेकज्ञान; अविप्लवा = शुद्ध, निर्मल, अडोल अर्थात् संशय विपर्यय-रहित; हानोपायः = हानका उपाय है ।

अन्वयार्थ—शुद्ध विवेकख्याति हानका उपाय है ।

व्याख्या—विवेक दृश्य द्रष्टाके भेद; और ख्याति नाम ज्ञानका है । इसलिये चित्त और पुरुष इन दोनोंकी भिन्नताका ज्ञान; अथवा यह ज्ञान कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और चित्त मुझसे भिन्न हैं, विवेकख्याति है । यह विवेकज्ञान आगम अर्थात् आचार्यके उपदेश और शास्त्रोंके पढ़ने तथा अनुमानसे भी उदय होता है, पर यह परोक्ष ज्ञान है; और अनादि अविद्याके निवृत्त करनेमें असमर्थ होता है । मिथ्याज्ञानजन्य व्युत्थानके संस्कार चित्तमें बने रहते हैं और तामस राजस वृत्तियाँ उदय होती रहती हैं । यह विवेकख्याति विप्लवसहित है । विप्लवके अर्थ विच्छेद हैं अर्थात् जिसमें बीच बीचमें राजसी-तामसी वृत्तियोंका उदय होना बना रहे । इसलिये ऐसा विवेक-ज्ञान हानका उपाय नहीं है । यह ज्ञान जब दीर्घ-काल निरन्तर सत्कारपूर्वक प्रतिपक्षभावनाके बलसे अर्थात् क्लेशके विरोधी क्रिया-योगके अनुष्ठान बलसे अविद्याके विरोधी तत्त्वज्ञान, अस्मिताके विरोधी भेदज्ञान, राग-द्वेषके विरोधी मध्यस्थता, अभिनिवेशके विरोधी सम्बन्ध ज्ञान निवृत्तिके अनुष्ठानसे जब परिपक्व हो जानेपर समाधिद्वारा साक्षात् कर लिया जाता है तो वह अपरोक्ष ज्ञान होता है । इससे अविद्याके नाश हो जानेपर कर्तृत्व-भोक्तृत्व अभिमानसे रहित और राजस तामस मलोंसे शून्य चित्त हो जाता है । तब सत्त्वगुणके प्रकाशमें चित्तमें चेतनका जो प्रतिबिम्ब अर्थात् प्रकाश पड़ रहा है और जिसके कारण चित्तमें चेतनता प्रतीत हो रही है, चित्तसे भिन्न उसका साक्षात्कार होता है । यद्यपि यह साक्षात्कार भी चित्तके द्वारा होता है इसलिये चित्तहीकी एक सात्त्विक वृत्ति है तथापि इसके निरन्तर अभ्याससे विवेक-ज्ञानका प्रवाह निर्मल और शुद्ध हो जाता है, क्लेशोंका सर्वथा नाश होता है और मिथ्या-ज्ञान दग्धबीजके तुल्य बन्धनकी उत्पत्ति करनेमें असमर्थ हो जाता है। यही अविप्लव अर्थात् अडोल, अविच्छेद निर्मल हानका उपाय है ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ (गीता १३ । ३४)

इस प्रकार क्षेत्र (प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ (पुरुष) के भेदको तथा विकारसहित प्रकृतिसे छूटनेके उपायको जो पुरुष ज्ञाननेत्रोंद्वारा (विवेकख्यातिद्वारा) तत्त्वसे जान लेते हैं, वे महात्माजन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं ।

विवेकख्यातिकी स्थितिको अर्थात् जब विवेक ख्याति निरन्तर बनी रहे तब उसको अविप्लव विवेक ख्याति कहेंगे । इसीका नाम धर्ममेघ समाधि है । यही जीवन्मुक्तिकी अवस्था है। हानका उपाय अविप्लव विवेकख्याति बतलाया है । विवेकख्यातिमें जो आत्मसाक्षात्कार होता है उससे चित्त इतना विशुद्ध हो जाता है कि यह विवेकख्याति भी चित्तकी ही एक वृत्ति प्रतीत होने लगती है । इस प्रकार इस विवेकख्यातिसे भी जो आसक्तिका हट जाना है उसीका नाम पर वैराग्य है ।

"तत्परं पुरुष ख्यातिर्गुणवैतृष्ण्यम्"

विवेकख्यातिमें जो आत्मसाक्षात्कार होता है उस आत्मसाक्षात्कारसे जो इस विवेकख्यातिकी वृत्तिसे भी आसक्तिका हट जाना है वह पर वैराग्य है।

इससे विवेकख्यातिमें इस वृत्तिको चलानेवाला रज और इस वृत्तिको स्थिर करनेवाला तमको सर्वथा दबाकर सत्त्व भी रज और तमके बिना इस वृत्तिको चलानेमें असमर्थ हो जाता है। तब चित्तमें किसी भी वृत्तिके न रहनेपर केवल आत्मप्रकाश रह जाता है और आत्मा शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थित हो जाता है। इसीको असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। विवेकख्यातितक आत्मा चित्ताकार प्रतीत होता है और असम्प्रज्ञात समाधिमें चित्त आत्माकार होता है। अविप्लव विवेकख्यातिमें किस प्रकारकी प्रज्ञा होती है यह अगले सूत्रमें बतलायेंगे।

टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषार्थ ॥ सूत्र २६ ॥

अब हानका उपाय क्या है? यह बतलाते हैं।

बुद्धि और पुरुषकी भिन्नताका ज्ञान विवेकख्याति है और वह मिथ्याज्ञान जिससे निवृत्त हो गया है, ऐसी विवेकख्याति अविप्लव अर्थात् शुद्ध और निर्मल कहलाती है। जब मिथ्याज्ञान दग्धबीजके समान बन्धनकी अनुत्पत्तिके योग्य होता है तब रजोगुणनिमित्तक क्लेशके दूर हो जानेपर सत्त्वके परम प्रकाशमें परमवशीकारसंज्ञक वैराग्यमें वर्तमान हुए योगीके विवेकज्ञानका प्रवाह शुद्ध होता है। वह निर्मल विवेकख्याति हानका उपाय है। उससे मिथ्याज्ञान दग्धबीज-भावको प्राप्त हो जाता है। पुनः उत्पत्तिके योग्य नहीं होता। यह मोक्षका मार्ग है। यही हानका उपाय है।

व्यासभाष्यपर विज्ञानभिक्षुके वार्तिकका भाषानुवाद सूत्र २६

इससे परे हानोपाय व्यूहके चतुर्थ पादका भी वाच्य कहाँतक है—इस विषयमें चतुर्थ व्यूहके प्रतिपादक सूत्रको उतारते हैं—अथेति—बुद्धिके संयोगकी निवृत्ति ही साक्षात् दुःखके हानमें कारण है। विवेकख्याति तो बुद्धिके संयोगके हेतु अविद्याकी निवर्तक होनेसे परम्परा सम्बन्धसे दुःखके हानका हेतु है। इस बातको भाष्यकारने प्राप्ति-शब्दसे सूचित किया है।

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः—

विवेकख्यातिकी साक्षात्काररूप निष्ठाको सूचित करनेके लिये—उसका 'अविप्लवा' विशेषण दिया है (आरम्भमें अभ्यासीको क्षणिक विवेकख्याति होती है। उसीको पर्याप्त समझकर योगी प्रयत्नको ढीला न कर दे, इसलिये अविप्लवा—कभी भी न हटनेवाली विवेकख्याति मोक्षका उपाय है, यह सूचित किया है) उसमें अविप्लव शब्दसे यह अर्थ कैसे निकलता है, इस आकांक्षाके लिये कहते हैं—मिथ्याज्ञानके संस्कारोंके कारणसे विवेकख्याति प्लवित हो जाती—मिथ्याज्ञानके संस्कारोंसे बीचमें वह अविभूत हो जाती है। यदेति—जब साक्षात्कारकी दशामें सूक्ष्म मिथ्या ज्ञान—अनागत-अवस्थामें हो, दग्ध-बीजके समान हो, उसका विवरण है—बन्ध्य प्रसव, यह मिथ्या ज्ञानका प्रसव-सामर्थ्य बन्ध्या हो जाता है (उत्पादनकार्यके योग्य नहीं रहता), तब जिसकी क्लेशधूलि धुल गयी है, उस बुद्धि-सत्त्वके परवैशारद्य—वैलक्षण्य होनेपर—इसीका विवरण है—परस्यां वशीकारसंज्ञायाम्—परवशीकारसंज्ञक वैराग्यमें वर्तनेवाले बुद्धि-सत्त्वके—परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः—इस सूत्रोक्त जो

इच्छाका अप्रतिघातरूप है, उसमें वर्तमान बुद्धि सत्त्वका विवेकख्याति प्रवाह निर्मल—मिथ्या ज्ञानसे अकलुषित होता है, अतः वह विवेकख्याति अविप्लवा कहलाती है। वह साक्षात्कार रूपिणी विवेकख्याति हानका उपाय है। किसके द्वारा हानका उपाय है, इस आकाङ्क्षाके विषयमें कहते हैं—उस विवेकख्यातिसे सूक्ष्मरूप मिथ्याज्ञान दग्धबीज हो जाता है। फिर वह नहीं जमता, इस प्रकारसे यह विवेकख्यातिरूप-चित्तकी निवृत्ति आदिरूप--मोक्षका मार्ग है—इसीका विवरण है हानोपाय—

शङ्का—इस प्रकार ज्ञानसे ही दुःखहान नामक मोक्षकी प्राप्तिके वचनसे असम्प्रज्ञात योगका प्रयोजन क्या रहा ?

समाधान—परवैराग्यजन्य असम्प्रज्ञात योगको भी यहाँ ज्ञानके द्वारा ही मोक्षकी हेतुता है—यह आशय है॥ २६॥

टिप्पणी—सूत्र २६। बौद्ध दर्शन--बौद्धधर्ममें 'हान' के स्थानमें 'तृतीय आर्य सत्य' 'दुःखनिरोध' (निर्वाण) बतलाया गया है।

दुःखनिरोध (निर्वाण)—तीसरे आर्य सत्यका नाम 'दुःखनिरोध' है। निरोध शब्दका अर्थ नाश या त्याग है। यह सत्य बतलाता है कि दुःखका नाश होता है। बुद्धने भिक्षुओंके सामने इस सत्यकी इस प्रकार व्याख्या की है—

"इदं खोपन भिक्खवे दुक्खनिरोधं अरियसच्चं। सो तस्सायेव तण्हाय असेस विराग निरोधो चागो पटिनिस्सागो मुत्ति अनालयो।"

अर्थात् दुःखनिरोध आर्यसत्य उस तृष्णासे अशेष—सम्पूर्ण वैराग्यका नाम है; इस तृष्णाका त्याग, प्रतिसर्ग, मुक्ति तथा अनालय (स्थान न देना) यही है।

दुःखके कारणका दूसरे आर्यसत्यमें विवरण दिया गया है। उस कारणको यदि नष्ट कर दिया जाय, तो कार्य आप-से-आप स्वतः नष्ट हो जायगा। अतः कार्य-कारणका सम्बन्ध ही इस सत्यकी सत्ताका पर्याप्त प्रमाण है।

दुःखनिरोधकी ही लोकप्रिय संज्ञा 'निर्वाण' है। तृष्णाके नाश कर देनेसे इसी जीवनमें पुरुष उस अवस्थापर पहुँच जाता है—जिसे निर्वाणके नामसे पुकारते हैं। 'अंगुत्तर निकाय' में निर्वाणप्राप्त पुरुषकी उपमा शैलसे दी गयी है—

सेलो यथा एकघनो वातेन न समीरति। एवं रूपा, रसा, सद्दा, गन्धा, फस्सा च केवला॥
इट्ठा धम्मा अनिट्ठा च, न पवेधन्ति तादिनो। ठितं चित्तं विप्पमुत्तं वसं यस्सानु पस्सति॥

(अंगुत्तर निकाय ३। ५२)

अर्थात् प्रचण्ड झंझावात पर्वतको स्थानसे च्युत नहीं कर सकता, भयंकर आँधीके चलनेपर भी पर्वत एक रस, अडिग, अच्युत बना रहता है। ठीक यही दशा निर्वाण-प्राप्त व्यक्तिकी है। रूप, रस, गन्धादि विषयोंके थपेड़े उसके ऊपर लगातार पड़ते रहते हैं, परंतु उसके शान्त चित्तको किसी प्रकार भी क्षुब्ध नहीं करते। आश्रयोंसे विरहित होकर वह पुरुष अखण्ड शान्तिका अनुभव करता है।

नागार्जुनने माध्यमिक कारिकाके २५ वें परिच्छेदमें निर्वाणकी व्याख्या इस प्रकार की है।

अप्रहीणमसम्प्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतम्। अनिरुद्धमनुत्पन्नमेतन्निर्वाणमुच्यते॥

निर्वाण न छोड़ा जा सकता है, न प्राप्त किया जा सकता है। यह न तो उच्छिन्न होनेवाला पदार्थ है और न शाश्वत पदार्थ है। यह न निरुद्ध है और न उत्पन्न।

हीनयान तथा महायान दोनोंके ग्रन्थोंमें निर्वाणका सामान्य स्वरूप इस प्रकार है—

(१) यह शब्दोंके द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता। निष्प्रपञ्च यह असंस्कृत धर्म है। अतः न तो इसकी उत्पत्ति है, न विनाश है और न परिवर्तन।

(२) इसकी अनुभूति अपने ही अंदर स्वतः की जा सकती है। इसीको योगाचारी लोग 'प्रत्यात्मवेद्य' कहते हैं और हीनयानी लोग 'पच्चतं वेदित्तब्बं' शब्दके द्वारा कहते हैं।

(३) यह भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालोंके बौद्धोंके लिये एक है और सम है।

(४) मार्गके द्वारा निर्वाणकी प्राप्ति होती है।

(५) निर्वाणमें व्यक्तित्वका सर्वथा निरोध हो जाता है।

योगदर्शनमें चौथा प्रतिपाद्य विषय 'हानोपाय' को 'विवेक ख्याति' बतलाया गया है और विवेकख्यातिकी प्राप्ति अष्टाङ्गयोगद्वारा सूत्र २८ में बतलायी गयी है; किंतु बौद्धदर्शनमें हानोपायके स्थानमें चतुर्थ आर्यसत्य 'दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपत्' को सीधा अष्टाङ्गयोग बतलाया है। अष्टाङ्गयोगका नाम बौद्धदर्शनमें अष्टाङ्गिक मार्ग दिया गया है। इसका वर्णन २९ वें सूत्रकी टिप्पणीमें किया जायगा।

सङ्गति—निर्मल विवेकख्यातिमें योगीकी जैसी प्रज्ञा उत्पन्न होती है उसका स्वरूप बतलाते हैं-

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—*तस्य* = उसकी (निर्मल विवेकख्यातिवाले योगीकी); सप्तधा = सात प्रकारकी; प्रान्तभूमिः = सबसे ऊँची अवस्थावाली; प्रज्ञा = बुद्धि होती है।

अन्वयार्थ—उस निर्मल विवेकख्यातिवाले योगीकी सात प्रकारकी सबसे ऊँची अवस्थावाली प्रज्ञा होती है।

व्याख्या—निर्मल विवेकख्यातिद्वारा योगीके चित्तके अशुद्धि रूप आवरण-मल नष्ट हो जानेसे दूसरे सांसारिक ज्ञानोंके उत्पन्न न होनेपर सात प्रकारकी उत्कर्ष अवस्थावाली प्रज्ञा उत्पन्न होती है। उनमेंसे प्रथम चार प्रकारकी प्रज्ञा कार्यसे विमुक्त करनेवाली है। विमुक्ति चित्तके अधिकारकी समाप्तिको कहते हैं। यह चार प्रकारकी प्रज्ञासम्बन्धी विमुक्ति कार्य अर्थात् प्रयत्नसाध्य है, इस कारण वह कार्य-विमुक्ति प्रज्ञा कहलाती है और अन्तकी तीन चित्तसे विमुक्त करनेवाली हैं, इस कारण वे चित्त-विमुक्त प्रज्ञा कहलाती हैं। उपर्युक्त चारों प्रज्ञाओंके लाभसे ये तीन प्रज्ञा स्वतः ही लब्ध हो जाती हैं।

कार्य-विमुक्ति प्रज्ञा—

१—हेयशून्य अवस्था—"परिज्ञातं हेयं नास्य पुनः परिज्ञेयमस्ति।" जो कुछ हेय था जान लिया, अब कुछ जानना शेष नहीं रहा अर्थात् जितना गुणमय दृश्य है वह सब परिणाम, ताप और संस्कार-दुःखों तथा गुणवृत्ति विरोधसे दुःखरूप ही है इसलिये 'हेय' है—यह मैंने जान लिया। (२।१५, १८, १९)।

२—*हेयहेतु क्षीण अवस्था—"क्षीणा हेयहेतवो न पुनरेतेषां हातव्यमस्ति।"* जो दूर करना था अर्थात् द्रष्टा और दृश्यका संयोग जो 'हेय-हेतु' है वह दूर कर दिया, अब कुछ दूर करने योग्य शेष नहीं रहा (२।१६, १७)।

३—प्राप्यप्राप्त अवस्था—"साक्षात्कृतं निरोधसमाधिना हानम्।" जो साक्षात् करना था वह साक्षात् कर लिया है, (अर्थात् निरोध-समाधिद्वारा हानको साक्षात् कर लिया) अब कुछ साक्षात् करनेयोग्य शेष नहीं रहा (२ । २५)।

४—चिकीर्षाशून्य अवस्था—"भावितो विवेकख्यातिरूपो हानोपायः।" जो सम्पादन करना था वह कर लिया है अर्थात् हानका उपाय निर्मल विवेकख्याति सम्पादन कर लिया. अब कुछ सम्पादन करने-योग्य शेष नहीं रहा (२।२६)। यह प्रज्ञा पर-वैराग्यकी पराकाष्ठा है अर्थात् बुद्धि व्यापारकी प्रान्त रेखा है।

चित्तविमुक्तिप्रज्ञा—

५—चित्तसत्त्व-कृतार्थता—"चरिताधिकारा बुद्धिः।" चित्तने अपना अधिकार भोग-अपवर्ग देनेका पूरा कर दिया है, अब उसका कोई अधिकार शेष नहीं रहा है।

६—गुणलीनता—"गुणा गिरिशिखरकूटच्युता इव ग्रावाणो निरवस्थानाः स्वकारणे प्रलयाभिमुखाः सह तेनास्तं गच्छन्ति। न चैषां प्रविलीनानां पुनरस्त्युत्पादः प्रयोजनाभावादिति।" जिस प्रकार पर्वतकी चोटीके किनारेसे गिरे हुए पत्थर विना रुके हुए पृथिवीपर आकर चूर-चूर हो जाते हैं इसी प्रकार चित्तके बनानेवाले गुण अपने कारणमें लय होनेके अभिमुख जा रहे हैं; क्योंकि अब इनका कोई प्रयोजन शेष नहीं रहा।

७—आत्मस्थिति—"एतस्यामवस्थायां गुणसम्बन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली पुरुषः इति" गुणोंके सम्बन्धसे परे होकर पुरुषकी परमात्मस्वरूपमें स्थिति हो रही है। अब कुछ शेष नहीं रहा।

इस सात प्रकारकी प्रान्तभूमि प्रज्ञाको अनुभव करता हुआ योगी कुशल (जीवन्मुक्त) कहा जाता है; और चित्तके अपने कारणमें लीन होनेपर भी कुशल (विदेहमुक्त) कहलाता है। ये दोनों ही गुणातीत अर्थात् गुणोंके सम्बन्धसे रहित केवल शुद्ध आत्मस्वरूपसे स्थित होते हैं। इसलिये यह योगी विदेहमुक्त अवस्थाको जीवन्मुक्त दशामें ही प्रत्यक्ष कर लेता है।

सङ्गति—हानका उपाय निर्मल विवेकख्यातिकी प्रज्ञाओंका स्वरूप दिखाकर अब उसकी प्राप्तिके साधन योग-अङ्गोंको बतलाते हैं—

योगाङ्गाऽनुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—योग-अङ्ग-अनुष्ठानात् = योगके अङ्गोंके अनुष्ठानसे; अशुद्धिक्षये = अशुद्धिके नाश होने-पर; ज्ञानदीप्तिः = ज्ञानका प्रकाश; आविवेक-ख्यातेः = विवेकख्याति-पर्यन्त हो जाता है।

अन्वयार्थ—योगके अङ्गोंके अनुष्ठानसे अशुद्धिके नाश होनेपर ज्ञानका प्रकाश विवेकख्याति-पर्यन्त हो जाता है।

व्याख्या—योगके आठ अङ्गोंके अनुष्ठानसे क्लेश (२ । ३) रूपी अशुद्धि दूर होती है और सम्यक् ज्ञानका प्रकाश बढ़ता है। इन अङ्गोंका अनुष्ठान जितना-जितना बढ़ता जाता है उतनी ही क्लेशकी निवृत्ति और ज्ञानके प्रकाशकी अधिकता होती जाती है। यहाँतक कि यह ज्ञानके प्रकाशकी वृद्धि विवेक-ख्यातिपर्यन्त पहुँच जाती है, जिसका सूत्र सत्ताईसमें वर्णन किया है। योगके अङ्गोंका अनुष्ठान अशुद्धिके वियोगका कारण है और विवेकख्यातिकी प्राप्तिका कारण है।

टिप्पणी—(सूत्र २८) कारण नौ प्रकारके हैं—

उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः। वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम्॥

कारण नौ प्रकारका माना गया है। उत्पत्ति-कारण, स्थिति-कारण, अभिव्यक्ति-कारण, विकार-कारण,

प्रत्यय-कारण, प्राप्ति-कारण, वियोग-कारण, अन्यत्व-कारण, धृति-कारण।

(१) उत्पत्ति-कारण—जैसे बीज वृक्षका या मन विज्ञानका या अविद्या संयोगकी उत्पत्तिका कारण है। (सूत्र २।२४)

(२) स्थिति कारण—जैसे आहार शरीरकी स्थितिका या पुरुषार्थ मनकी स्थितिका; क्योंकि मन तबतक बना रहता है जबतक भोग और अपवर्गको सिद्ध नहीं कर देता।

(३) अभिव्यक्ति-कारण-जैसे प्रकाश रूपकी अभिव्यक्ति (प्रकटता) का कारण है या रूप-ज्ञान पौरुषेय बोधकी अभिव्यक्तिका कारण है।

(४) विकार-कारण—जैसे अग्निसे पककर चावल बदल (गल) जाते हैं, सो अग्नि उनका विकार-कारण है, या मनका दूसरे विषयमें लग जाना मनके विकारका कारण है।

(५) प्रत्यय-कारण—जैसे धुएँका देखना अग्निके ज्ञानका कारण है।

(६) प्राप्ति-कारण—जैसे धर्म सुखकी प्राप्तिका कारण है, या योगके अङ्गोंका अनुष्ठान विवेक-ख्यातिकी प्राप्तिका कारण है।

(७) वियोग-कारण—जैसे कुल्हाड़ा लकड़ीके टुकड़ोंके वियोगका कारण है या स्वशक्ति और स्वामिशक्तिके स्वरूपकी उपलब्धि संयोगके वियोगका कारण है। (सूत्र २।२३) या योगके अङ्गोंका अनुष्ठान अशुद्धिके वियोगका कारण है। (सूत्र २।२८)

(८) अन्यत्व-कारण—जैसे सुनार सोनेके कुण्डलको दूसरी वस्तु अर्थात् कड़ा बना देनेका कारण है या जैसे रूपवती स्त्रीका देखना एक ही है, पर वह देखना पतिके सुख, सपत्नियोंके दुःख, बेगाने पुरुषोंके मोह और तत्त्वज्ञानीकी उदासीनताका कारण होता है।

(९) धृति-कारण—जैसे शरीर इन्द्रियों (प्राणों) के धारनेका कारण है; और इन्द्रिय (प्राण) शरीरके धारनेके कारण हैं या मनुष्य, पशु, पक्षी, ओषधि, वनस्पति एक-दूसरेके धारनेके कारण हैं।—(व्यासभाष्य)

सङ्गति—वे योगके अङ्ग ये हैं—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९॥

शब्दार्थ—यमनियमा........समाधयः = यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—(ये); अष्टौ अङ्गानि = आठ योगके अङ्ग हैं।

अन्वयार्थ—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—(ये) आठ योगके अङ्ग हैं।

व्याख्या—ये आठ योगके अङ्ग विवेकख्यातिके साधन हैं। उनमेंसे धारणा, ध्यान, समाधि—साक्षात् सहायक होनेसे योगके अन्तरङ्ग साधन कहलाते हैं। यम-नियम योगके रुकावट हिंसादि वितर्कोंको निर्मूल करके समाधिको सिद्ध करते हैं। अन्य तीन अगले-अगले अङ्गमें उपकारक हैं अर्थात् आसनके जीतनेपर प्राणायामकी स्थिरता होती है और प्राणायामकी स्थिरतासे प्रत्याहार सिद्ध होता है।

समाधिपादमें बतलाये हुए अभ्यास, वैराग्य, श्रद्धा, वीर्य आदि और इस पादमें बतलाया हुआ क्रियायोग इन्हीं आठों अङ्गोंके अन्तर्गत हो जाते हैं। अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि, बिना अभ्यास-वैराग्यके नहीं हो सकते; क्योंकि अभ्यास तो इन आठों अङ्गोंका पुनः-पुनः अनुष्ठानरूप ही है और

बिना वैराग्यके समाधि सिद्ध हो ही नहीं सकती; क्योंकि सम्प्रज्ञात-समाधिमें एकाग्रता अर्थात् एकवृत्ति रहती है, जिसमें राग बना रहता है, पर उस वृत्तिमें राग स्थिर नहीं रह सकता। जबतक उससे इतर अन्य सब प्रकारकी वृत्तियोंमें वैराग्य न हो। सम्प्रज्ञात-समाधिकी पराकाष्ठा विवेकख्याति है। उसमें भी जो वैराग्य है वह पर-वैराग्य कहलाता है; और निर्बीज-समाधिका साक्षात् सहायक होनेसे उसका अन्तरङ्ग साधन है। श्रद्धा, वीर्यके बिना किसी साधनका अनुष्ठान हो ही नहीं सकता। क्रियायोगके तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान नियममें आ जाते हैं। महाभारतमें भी योगके आठ अङ्ग बतलाये हैं—"वेदेषु च ष्टगुणिनं योगमाहुर्मनीषिणः।" मनीषिगण वेदोंमें योगको अष्टाङ्ग कहते हैं।

विशेष वक्तव्य—(सूत्र २९) इस पादमें सूत्र ३ से १३ तक बतला आये हैं कि पुरुष क्रमशः क्लेशों और सकाम कर्मोंद्वारा (अविद्यासे अस्मिता, अस्मितासे राग, रागसे द्वेष, इन दोनोंसे अभिनिवेश क्लेश उससे सकाम कर्म, सकाम कर्मोंकी वासनाओंसे जन्म, आयु, भोग और उनमें सकाम कर्मोंके पाप-पुण्यके अनुसार दुःख-सुख) बहिर्मुख होकर नाना प्रकारके दुःखोंको प्राप्त होता है। इन दुःखोंकी निवृत्तिके लिये इसी क्रमानुसार अन्तर्मुख होनेका सरल उपाय अष्टाङ्गयोग है।

१. *यम*—बहिर्मुखताकी सबसे अन्तिम अवस्था मनुष्यका अन्य सब प्राणियोंके साथ व्यवहार है। इसलिये सबसे प्रथम इस व्यावहारिक जीवनको यमोंद्वारा सात्त्विक और दिव्य बनाना होता है। सकाम कर्म, जो जन्म, आयु और भोगके कारण हैं, निवृत्त हो जाते हैं। बाह्य व्यवहारसे सम्बन्ध रखनेवाले राग-द्वेष और अभिनिवेश क्लेश तनु हो जाते हैं।

२. *नियम*—नियमोंका सम्बन्ध केवल अपने व्यक्तिगत शरीर, इन्द्रियों तथा अन्तःकरणके साथ होता है, इसलिये इनके यथार्थ पालनसे अपनी व्यक्तिसे सम्बन्ध रखनेवाला सारा बाह्य व्यावहारिक जीवन राजसी, तामसी, विक्षेप और आवरणरूप मलोंसे धुलकर सात्त्विक, पवित्र और दिव्य बन जाता है।

३. *आसन*—आसनका सम्बन्ध शारीरिक क्रियासे है। इसके द्वारा शरीरकी रजरूप चञ्चलता और अस्थिरता और तमरूप आलस्य और प्रमाद हटकर शरीरमें सात्त्विक प्रकाश और दिव्यता उत्पन्न होती है।

४. *प्राणायाम*—प्राणायामद्वारा प्राणकी गतिको रोककर अथवा धीमा करके शरीरकी आन्तरिक गति (प्राण) को सात्त्विक (दिव्य) बनाया जाता है।

५. *प्रत्याहार*—प्रत्याहारद्वारा इन्द्रियोंको आलस्य और प्रमादरूप तमस् और बहिर्मुखतारूप रजस्से शून्य करके इनको सात्त्विकरूपमें चित्तके साथ अन्तर्मुख करके दिव्य बनाना होता है।

६. *धारणा*—धारणाद्वारा चित्तके मूढ़ और क्षिप्तरूप तमस् और रजस्को हटाकर उसको सात्त्विक-रूपमें वृत्तिमात्रसे किसी एक विषयमें ठहराकर दिव्य बनाना होता है।

७. *ध्यान*—जिस विषयमें चित्तको वृत्तिमात्रसे ठहराया है, उस वृत्तिको अस्थिर करनेवाले रजस् और प्रमाद उत्पन्न करनेवाले तमस्को हटाकर चित्तको उस सात्त्विक (दिव्य) रूपसे लगातार उस एक वृत्तिमें ही ठहराना होता है।

८. *समाधि*—जिस विषयमें चित्तको वृत्तिमात्रसे ध्यानमें अविच्छिन्नताके साथ लगाया है, उस ध्येयाकार वृत्तिको जो रजस् ध्यान और ध्यातृरूप आकारतामें ले जा रहा है और तमस् जो उस ध्यान और ध्यातृरूप आकारताको रोके हुए है, उस लेशमात्र रजस् और तमस्को भी हटाकर समाधिमें चित्तका उस

सात्त्विक (दिव्य) रूपमें ध्यातृ और ध्यानसे शून्य जैसा होकर केवल ध्येयाकाररूपसे भासना होता है।

इन आठों अङ्गोंमेंसे पहले पाँच योगके बहिरङ्ग साधन कहलाते हैं। उसमें उनका सीधा सम्बन्ध नहीं होता और अन्तिम तीन इसलिये अन्तरङ्ग साधन कहलाते हैं; क्योंकि जिस विषयमें समाधि लगायी जाती है, वे उसीको लेकर चलते हैं; किंतु ये तीनों भी असम्प्रज्ञात समाधिके बहिरङ्ग साधन हैं। उसका अन्तरङ्ग साधन परवैराग्य है, जिसके द्वारा आत्माको चित्तसे भिन्न साक्षात् करानेवाली विवेकख्यातिरूप सात्त्विक वृत्ति जो अष्टाङ्गयोगकी सीमा है उसका भी निरोध होकर शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति होती है।

अविद्या और अस्मितादि क्लेश, धारणा, ध्यान और समाधिमें तनु होकर विवेकख्यातिरूप अग्निमें दग्धबीजतुल्य हो जाते हैं और असम्प्रज्ञात समाधिद्वारा धर्मी चित्तके अपने कारणमें लीन होनेसे उनका भी लय हो जाता है।

अष्टाङ्गयोगमें निचली भूमियोंको सात्त्विक बनाते हुए ऊँची भूमियोंमें आरोह (Ascent) होता है। उन ऊँची भूमियोंकी सात्त्विकताकी अधिकताके अनुसार ही दिव्यताकी वृद्धि होती है। उन ऊँची भूमियोंकी सात्त्विकता और दिव्यताको लेकर अवरोह (Descent) में नीची भूमियोंको सात्त्विक और दिव्य बनाया जाता है और फिर उन नीची भूमियोंकी उस सात्त्विकता और दिव्यताको लेकर ऊँची भूमियों-को आरोहद्वारा सात्त्विक और दिव्य बनाया जाता है। इस प्रकार नीची और ऊँची सारी ही भूमियाँ, सारे अङ्ग और उनकी क्रियाएँ अर्थात् बाह्य-आभ्यन्तर सारा ही जीवन सात्त्विक और दिव्य बन जाता है।

इन अङ्गोंका पृथक्-पृथक् साधनेका विधान न समझना चाहिये वरं आरम्भसे ही एक साथ सब अङ्गोंको साधना चाहिये; क्योंकि जिस प्रकार निचले अङ्ग ऊपरवाले अङ्गोंकी सहायता करते हैं, इसी प्रकार ऊपरवाले अङ्ग निचले अङ्गोंकी दृढ़ भूमि करनेमें सहायक होते हैं। ध्यान और समाधि-धारणाकी ही ऊँची अवस्थाएँ हैं। अतः आरम्भमें केवल धारणाका ही यत्न हो सकता है।

टिप्पणी—(सूत्र २९) बौद्धदर्शन—बौद्धधर्ममें 'हानोपाय' के स्थानमें चतुर्थ आर्यसत्य 'दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद्',-'अष्टाङ्गयोग' के स्थानमें 'अष्टाङ्गिक मार्ग' और 'पाँच यमों' के स्थानमें 'पञ्चशील' बतलाये गये हैं। यमोंमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तो समान हैं, केवल योगदर्शनके अपरिग्रह यमके स्थानमें बौद्धधर्ममें मद्यका निषेध बतलाया गया है। पाठकोंकी अधिक जानकारीके लिये बौद्ध-धर्मके उन सिद्धान्तोंको कुछ विस्तारके साथ बतला देना उचित प्रतीत होता है।

दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद्—'प्रतिपद्' का अर्थ मार्ग है। यह चतुर्थ आर्य सत्य दुःख-निरोधतक पहुँचानेवाला मार्ग है। निर्वाण प्रत्येक प्राणीका गन्तव्य स्थान है। उसतक पहुँचानेवाले मार्गका नाम 'अष्टाङ्गिक मार्ग' है। आठ अङ्ग ये हैं—

(१) सम्यक् दृष्टि (२) सम्यक् संकल्प	प्रज्ञा
(३) सम्यक् वाचन (४) सम्यक् कर्मान्त (५) सम्यक आजीविका	शील

(६) सम्यक् व्यायाम
(७) सम्यक् स्मृति } समाधि
(८) सम्यक् समाधि

अष्टाङ्गिक मार्ग—यह मार्ग बौद्धधर्मकी आचार-मीमांसाका चरम साधन है। इस मार्गपर चलनेसे प्रत्येक व्यक्ति अपने दुःखोंका हठात् नाश कर देता है तथा निर्वाण प्राप्त कर लेता है। इसलिये (अष्टाङ्ग-योगके सदृश) यह समस्त मार्गोंमें श्रेष्ठ माना गया है। जेतवनके पाँच सहस्र भिक्षुओंको उपदेश देते समय भगवान् बुद्धने अपने श्रीमुखसे इसी मार्गको ज्ञानकी विशुद्धिके लिये तथा मारको मूर्छित करनेके लिये आश्रयणीय बतलाया है—

मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठो सच्चानं चतुरो पदा। विरागो सेट्ठो धम्मानं द्विपदानाञ्च चक्खुमा॥
एसो व मग्गो नत्थञ्ञोदस्सनस्स विसुद्धिया। एतंहि तुम्हे पटिपज्जथ मारस्सेतं पमोहनं॥

(मार्गाणामष्टाङ्गिकः श्रेष्ठः सत्यानां चत्वारि पदानि।
विरागः श्रेष्ठो धर्माणां द्विपदानां च चक्षुष्मान्॥
एष एव मार्गो नास्त्यन्यो दर्शनस्य विशुद्धये।
एतं हि यूयं प्रतिपद्यध्वं मारस्यैष प्रमोहनः॥)

(धम्मपद २०। १-२)

अर्थात् निर्वाणगामी मार्गोंमें अष्टाङ्गिक मार्ग श्रेष्ठ है। लोकमें जितने सत्य हैं, उनमें आर्यसत्य श्रेष्ठ है। सब धर्मोंमें वैराग्य श्रेष्ठ है और मनुष्योंमें चक्षुष्मान् ज्ञानी बुद्ध श्रेष्ठ है। ज्ञानकी विशुद्धिके लिये तथा मारको मूर्छित करनेके लिये यही मार्ग (अष्टाङ्गिक मार्ग) आश्रयणीय है।

अष्टाङ्गिक मार्गका विशिष्ट रूप

(१) सम्यक् दृष्टि—'दृष्टि' का अर्थ ज्ञान है। सत्कार्यके लिये ज्ञानकी भित्ति आवश्यक होती है। आचार और विचारका परस्पर सम्बन्ध नितान्त घनिष्ठ होता है। विचारकी भित्तिपर आचार खड़ा होता है। इसलिये इस आचार-मार्गमें सम्यक् दृष्टि पहला अङ्ग मानी गयी है। जो व्यक्ति अकुशलको तथा अकुशलमूलको जानता है, कुशलको और कुशलमूलको जानता है, वही सम्यक् दृष्टिसे सम्पन्न माना जाता है। कायिक, वाचिक तथा मानसिक कर्म दो प्रकारके होते हैं—कुशल (भले) और अकुशल (बुरे)—इन दोनोंको भली प्रकार जानना 'सम्यक् दृष्टि' कहलाती है। 'मज्झिमनिकाय' में इन दोनोंका वर्णन निम्न प्रकार है—

	अकुशल	कुशल
काय कर्म	(१) प्राणातिपात (हिंसा)	(१) अ-हिंसा
	(२) अदत्तादान (चोरी)	(२) अ-चौर्य
	(३) मिथ्याचार (व्यभिचार)	(३) अ-व्यभिचार
वाचिक कर्म	(४) मृषा वचन (झूठ)	(४) अ-मृषा वचन
	(५) पिशुन वचन (चुगली)	(५) अपिशुन वचन
	(६) परुष वचन (कटुवचन)	(६) अ-कटुवचन
	(७) सम्प्रलाप (बकवाद)	(७) अ-सम्प्रलाप

मानस कर्म (८) अभिध्या (लोभ) (८) अ-लोभ
(९) व्यापाद (प्रतिहिंसा) (९) अ-प्रतिहिंसा
(१०) मिथ्या दृष्टि (झूठी धारणा) (१०) अ-मिथ्या दृष्टि

अकुशलका मूल है लोभ, दोष तथा मोह। इनसे विपरीत कुशलका मूल है अलोभ, अदोष तथा अमोह। इन कर्मोंका सम्यक् ज्ञान रखना आवश्यक है। साथ-ही-साथ आर्यसत्यों—दुःख, दुःखसमुदाय, दुःखनिरोध तथा दुःखनिरोधमार्गका भलीभाँति जानना भी सम्यक् दृष्टि है।

(२) *सम्यक् संकल्प*—सम्यक् निश्चय। सम्यक् ज्ञान होनेपर ही सम्यक् निश्चय होता है। निश्चय निष्कामताका, अद्रोहका तथा अहिंसाका होना चाहिये। कामना ही समग्र दुःखोंकी उत्पादिका है। अतः प्रत्येक पुरुषको इन बातोंका दृढ़ संकल्प करना चाहिये कि वह विषयकी कामना न करेगा, प्राणियोंसे द्रोह न करेगा और किसी भी जीवकी हिंसा न करेगा।

(३) *सम्यक् वचन*— ठीक भाषण। असत्य, पिशुनवचन, कटुवचन तथा बकवाद इन सबको छोड़ देना नितान्त आवश्यक है। सत्यसे बढ़कर अन्य कोई धर्म नहीं है। जिन वचनोंसे दूसरेके हृदयको चोट पहुँचे, जो वचन कटु हो, दूसरेकी निन्दा हो, व्यर्थका बकवाद हो, उन्हें कभी नहीं कहना चाहिये। वैरकी शान्ति कटुवचनोंसे नहीं होती, प्रत्युत 'अवैर' से ही होती है—

नहि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं। अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो॥
(न हि वैरेण वैराणि शाम्यन्तीह कदाचन। अवैरेण च शाम्यन्ति एष धर्मः सनातनः॥)

(धम्मपद १।५)

व्यर्थके पदोंसे युक्त सहस्रों काम भी निष्फल होते हैं। एक सार्थक पद ही श्रेष्ठ होता है, जिसे सुनकर शान्ति उत्पन्न होती है। शान्तिका उत्पन्न करना ही वाक्यप्रयोगका प्रधान लक्ष्य है। जिस पदसे इस उद्देश्यकी सिद्धि नहीं होती, उसका प्रयोग नितान्त अयुक्त है—

सहस्समपि चे वाचा अनत्थपदसंहिता। एकं अत्थपदं सेय्यो यं सुत्वा उपसम्मति॥
(सहस्रमपि चेद् वाचो अनर्थपदसंहिताः। एकमर्थपदं श्रेयो यच्छ्रुत्वोपशाम्यति॥)

(धम्मपद ८।१)

(४) *सम्यक् कर्मान्त*—मनुष्यकी सद्गति या दुर्गतिका कारण उसका कर्म ही होता है। कर्मके ही कारण जीव इस लोकमें सुख या दुःख भोगता है तथा परलोकमें भी स्वर्ग या नरकका गामी बनता है। हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि निन्दनीय कर्मोंका सर्वदा तथा सर्वथा परित्याग अपेक्षित है। इन्हींको संज्ञा पञ्चशील है। पञ्चशील ये हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सुरा-मैरेय आदिक मादक पदार्थोंका असेवन। इन कर्मोंका अनुष्ठान सबके लिये विहित है। इनका सम्पादन तो करना चाहिये, परंतु इनका परित्याग करनेवाला व्यक्ति धम्मपदके शब्दोंमें 'मूलं खनति अत्तनो' अपनी ही जड़ खोदता है—

यो पाणमतिपातेति मुसावादंच भासति। लोके अदिन्नं आदियति परदारञ्च गच्छति॥
सुरामेरयपानं च यो नरो अनुयुञ्जति। इधेवमेसो लोकस्मि मूलं खनति अत्तनो॥
सुरामैरेयपानं च यो नरो अनुयुञ्जति। इधेवमेसो लोकस्मि मूलं खनति अत्तनो॥
(यः प्राणमतिपातयति मृषावादं च भाषते। लोकेऽदत्तमादत्ते परदारांश्च गच्छति॥

सुरामैरेयपानं च यो नरोऽनुयुनक्ति । इहैवमेष लोके मूलं खनत्यात्मनः ॥)

(धम्मपद १८ । १२-१३)

आत्मविजय—अपने ऊपर विजय पाना ही मानवकी अनन्तशान्तिका चरम साधन है । आत्मदमन इन कर्मोंका विधान चाहता है । 'आत्मा ही अपना नाथ—स्वामी है । अपनेको छोड़कर अपना स्वामी दूसरा नहीं । अपनेको दमन कर लेनेपर ही दुर्लभ नाथ—(निर्वाण) को जीव पाता है'—

'अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया । अत्तनो व सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं ॥'*

आत्मा हि आत्मनो नाथः को हि नाथः परः स्यात् ।
आत्मनैव सुदान्तेन नाथं लभते दुर्लभम् ॥

(धम्मपद १२ । ४)

भिक्षुओंके लिये तो आत्मदमनके नियमोंमें बहुत कड़ाई है । इन सार्वजनीन कर्मोंके अतिरिक्त उन्हें पाँच कर्म—अपराह्न-भोजन, माला-धारण, संगीत, सुवर्ण तथा अमूल्य शय्याका त्याग और भी कर्तव्य है । इन्हें ही 'दशशील' कहते हैं । भिक्षुओंके निवृत्तिप्रधान जीवनको आदर्श बनानेके लिये भगवान् बुद्धने अन्य कर्मोंको भी आवश्यक बतलाया है, जिनका उल्लेख 'विनयपिटक' में किया गया है ।

(५) *सम्यक् आजीव (जीविका)*—झूठी जीविकाको छोड़कर सच्ची जीविकाके द्वारा शरीरका पोषण करना । विना जीविकाके जीवन धारण करना असम्भव है । मानवमात्रको शरीर-रक्षणके लिये कोई-न-कोई जीविका ग्रहण करनी ही पड़ती है, परंतु यह जीविका सच्ची होनी चाहिये जिससे दूसरे प्राणियोंको न तो किसी प्रकारका क्लेश पहुँचे और न उनकी हिंसाका अवसर आये । समाज व्यक्तियोंके समुदायसे बना है । यदि व्यक्ति पारस्परिक कल्याणकी भावनासे प्रेरित होकर अपनी जीविका अर्जन करनेमें लगे तो समाजका वास्तविक मङ्गल होता है । उस समयके व्यापारोंमें बुद्धने निम्न पाँच जीविकाओंको हिंसाप्रवण होनेके कारणसे अयोग्य ठहराया है-(१) सत्थवणिज्जा (शस्त्र-हथियारका व्यापार), (२) सत्तवणिज्जा (प्राणीका व्यापार), (३) मंसवणिज्जा (मांसका व्यापार), (४) मज्जवणिज्जा (मद्य = शराबका व्यापार), (५) विसवणिज्जा (विषका व्यापार) । 'लक्खण सुत्त' ३ में बुद्धने निम्न जीविकाओंको गर्हणीय बतलाया है—तराजूकी ठगी, कंस (बटखरे) की ठगी, मानकी (नापकी) ठगी, रिश्वत, वञ्चना, कृतघ्नता, साचियोग (कुटिलता), छेदना, वध, बन्धन, डाका—लूट-पाटकी जीविका ।

(६) *सम्यक् व्यायाम*—ठीक प्रयत्न, शोभन उद्योग, सत्कर्मोंके करनेकी भावना करनेके लिये प्रयत्न करते रहना चाहिये । इन्द्रियोंपर संयम, बुरी भावनाओंको रोकने और अच्छी भावनाओंके उत्पादन करनेका प्रयत्न, उत्पन्न हुई अच्छी भावनाओंको कायम रखनेका प्रयत्न—ये सम्यक् व्यायाम हैं । बिना प्रयत्न किये, चञ्चल चित्तसे शोभन भावनाएँ दूर भागती हैं और बुरी भावनाएँ घर जमाया करती हैं । अतः यह उद्योग आवश्यक है ।

(७) *सम्यक् स्मृति*—इस अङ्गका विस्तृत वर्णन 'दीर्घ निकाय' के 'महासति पट्ठान' सुत्त (२ । ९) में किया गया है । स्मृतिप्रस्थान चार हैं—(१) कायानुपश्यना, (२) वेदनानुपश्यना,

* यह आत्मविजयका सिद्धान्त वैदिक धर्मका मूलमन्त्र है—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् । आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः । अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ (गीता)

(३) चित्तानुपश्यना तथा (४) धर्मानुपश्यना । काय, वेदना, चित्त तथा धर्मके वास्तविक स्वरूपको जानना तथा उसकी स्मृति सदा बनाये रखना नितान्त आवश्यक होता है । काय मलमूत्र, केश तथा नख आदि पदार्थोंका समुच्चयमात्र है । शरीरको इन रूपोंमें देखनेवाला पुरुष 'काये कायानुपश्यी' कहलाता है। वेदना तीन प्रकारकी होती है—सुख, दुःख, न सुख न दुःख । वेदनाके इस स्वरूपको जाननेवाला व्यक्ति 'वेदनामें वेदनानुपश्यी' कहलाता है । चित्तकी नाना अवस्थाएँ होती हैं—कभी वह सराग होता है, कभी विराग; कभी सद्वेष और कभी वीतद्वेष; कभी समोह तथा कभी वीतमोह । चित्तकी इन विभिन्न अवस्थाओंमें उसकी जैसी गति होती है, उसे जाननेवाला पुरुष 'चित्तमें चित्तानुपश्यी' होता है । धर्म भी नाना प्रकारके हैं—(१) नीवरण—कामच्छन्द (कामुकता), व्यापाद (द्रोह), स्त्यानमृद्ध (शरीर-मनकी आलसता), औद्धत्य-कौकृत्य (उद्वेग-खेद) तथा चिकित्सा (संशय), (२) स्कन्ध, (३) आयतन, (४) बोध्यग, (५) आर्य चतुःसत्य । इनके स्वरूपको ठीक-ठीक जानकर उनको उसी रूपमें जानने-वाला पुरुष 'धर्ममें धर्मानुपश्यी' कहलाता है । सम्यक् समाधिके निमित्त इस सम्यक् स्मृतिकी विशेष आवश्यकता है । काय तथा वेदनाका जैसा स्वरूप है, उसका स्मरण सदा बनाये रखनेसे आसक्ति नहीं उत्पन्न होती । चित्त अनासक्त होकर वैराग्यकी ओर बढ़ता है तथा एकाग्रताकी योग्यता सम्पादन करता है । (विशेष विवरणके लिये देखो 'दीर्घनिकाय' हिंदी अनुवाद पृष्ठ १९०—१९८)

(८) *सम्यक् समाधि*—योगदर्शन 'विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः' तथा उपनिषद् 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' (ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं मिलती) के सदृश बौद्धधर्ममें ज्ञानको निर्वाण—कैवल्य-मुक्तिका मुख्य साधन माना है । ज्ञानकी उत्पत्ति तबतक नहीं हो सकती, जबतक उसे धारण करनेकी योग्यता शरीरमें पैदा नहीं होती । ज्ञानके उदयके लिये शरीरकी शुद्धि नितान्त आवश्यक है । इसलिये अष्टाङ्गयोगके अनुसार ही बुद्ध भगवान्‌ने शील और समाधिके द्वारा क्रमशः कायशुद्धि और चित्तशुद्धिपर विशेष जोर दिया है ।

बुद्ध-धर्मके तीन महनीय तत्त्व हैं—शील, समाधि और प्रज्ञा । अष्टाङ्गिक मार्गके प्रतीक ये तीनों ही हैं । शीलसे तात्पर्य सात्त्विक कार्योंसे है । बुद्धके दोनों प्रकारके शिष्य थे—गृहत्यागी प्रव्रजित भिक्षु तथा गृहसेवी गृहस्थ । कतिपय कर्म इन दोनों प्रकारके बुद्धानुयायियोंके लिये समभावेन मान्य हैं । जैसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा मद्यका निषेध—ये 'पञ्चशील' कहलाते हैं और इनका अनुष्ठान प्रत्येक बौद्धके लिये विहित है । भिक्षुओंके लिये अन्य पाँच शीलकी भी व्यवस्था है—जैसे अपराह्न-भोजन, मालाधारण, संगीत, सुवर्ण-रजत तथा महार्घ शय्या—इन पाँचों वस्तुओंका परित्याग । पूर्व शीलोंसे मिलाकर इन्हें 'दशशील' (दश सत्कर्म) कहते हैं । गृहस्थके लिये अपने पिता-माता, आचार्य, पत्नी, मित्र, सेवक तथा श्रमण-ब्राह्मणोंका सत्कार प्रतिदिन करना चाहिये ।

बुरे कर्मोंके अनुष्ठानसे सम्पत्तिका नाश अवश्यम्भावी है । नशाका सेवन, चौरस्तेकी सैर, समाज (नाच-गान) का सेवन, जूआ खेलना, दुष्ट मित्रोंकी संगति तथा आलस्यमें फँसना—ये छहों सम्पत्तिके नाशके कारण हैं । (दीर्घनिकाय, सिगालोवाद सुत्त ३१ पृष्ठ २७१-२७६)

शील तथा समाधिका फल है प्रज्ञाका उदय । भवचक्रके मूलमें 'अविद्या' विद्यमान है । जबतक

प्रज्ञाका उदय नहीं होता, तबतक अविद्याका नाश नहीं हो सकता। साधकका प्रधान लक्ष्य इसी प्रज्ञाकी उपलब्धिमें होता है। प्रज्ञा तीन प्रकारकी होती है—(१) श्रुतमयी – आप्त प्रमाणोंसे उत्पन्न निश्चय, (२) चिन्तामयी— युक्तिसे उत्पन्न निश्चय तथा (३) भावनामयी– समाधिजन्य निश्चय। श्रुत–चिन्ता–प्रज्ञासे सम्पन्न शीलवान् पुरुष भावना (ध्यान) का अधिकारी होता है। प्रज्ञावान् व्यक्ति नाना प्रकारकी ऋद्धियाँ ही नहीं पाता, प्रत्युत प्राणियोंके पूर्वजन्मका ज्ञान, परचित्त-ज्ञान, दिव्यश्रोत्र, दिव्यचक्षु तथा दुःखक्षय ज्ञानसे सम्पन्न हो जाता है। उसका चित्त कामास्रव (भोगकी इच्छा), भवास्रव (जन्मनेकी इच्छा) तथा अविद्यास्रव (अज्ञानमल) से सदाके लिये विमुक्त हो जाता है। साधक निर्वाण प्राप्तकर अर्हत्की महनीय उच्च पदवीको पा लेता है। धम्मपदने बुद्धशासनके रहस्यको तीन शब्दोंमें समझाया है—

(१) सब पापोंका न करना, (२) पुण्यका संचय तथा (३) अपने चित्तकी परिशुद्धि—

सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
स-चित्त परियोदपनं एतं बुद्धान सासनं॥

(धम्मपद १४। ५)

सर्वपापस्याकरणं कुशलस्योपसम्पदा।
स्वचित्तपर्यवदापनं एतद् बुद्धानां शासनम्॥

जैन धर्म— जैन धर्ममें पाँचों यमोंको पाँच महाव्रतका नाम दिया गया है और उनको उस धर्मका आधारशिला माना गया है। उनकी जानकारी पाठकोंके लिये विशेष लाभदायक होगी। अतः उनको उनकी प्राकृत भाषामें अर्थसहित नीचे लिखा जाता है।

१ — अहिंसा—

अहिंसा सुत्तं

तत्थिमं पढमं ठाणं महावीरेण देसियं। अहिंसा निउणा दिट्ठा सव्व भू सु संजमा॥ १॥
जावन्ति लोए पाणा, तसा अदुवा थावरा। ते जाणमजाणं वा न हणे नो वि घायए॥ २॥

(दश० अ० ६ गा० ९-१०)

सयं तिवायए पाणे, अदुवऽन्नेहिं घायए। हणन्तं वाऽणु जाणाइ, वेरं वड्ढइ अप्पणो॥ ३॥

(सूत्र० श्रु० १ अ० १ उ० १ गा० ३)

जगनिस्सि एहिं भूएहिं, तसनामेहिं थावरेहिं च। नो तेसिमारभे दंड, मणसा वयसा कायसा चेव॥

(उत्तरा० अ० ८ गा० १०)

सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउं न मरिज्जिउं। तम्हा पाणि वहं घोर निग्गंथा वज्जयंतिणं॥५॥

(दश० अ० ६ गा० ११)

अज्झत्थं सव्वओ सव्वं दिस्स, पाणे पियायए। न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए॥६॥

(उत्तरा० अ० ६ गा० ७)

सव्वाहिं अणु जुत्तीहिं, मईमं पडिलेहिया। सव्वे अकन्त दुक्खाय, अओ सव्वे न हिंसया। ७॥

(सूत्र० श्रु० १ अ० ११ गा० ९)

एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसई किंचण। अहिंसा समयं चेव एयावन्तं वियाणिया॥८॥

(सूत्र० श्रु० १ अ० ११ गा० १०)

संबुज्झमाणे उ नरे मईमं, पावाउ अप्पाणं निवट्टएज्जा ।
हिंसप्पसूयाइं दुहाइं मत्ता, वेराणुबन्धीणि महब्भयाणि ॥ ९ ॥

(सूत्र० श्रु० अ० १० गा० २१)

समया सव्व भूएसु, सत्तु-मित्तेसु वा जगे, पाणा इवाय विरई, जावज्जीवाए दुक्करं ॥ १० ॥

(उत्तरा० अ० १९ गा० २५)

अर्थ- भगवान् महावीरने अठारह धर्म-स्थानोंमें सबसे पहला स्थान अहिंसाका बतलाया है । सब जीवोंके साथ संयमसे व्यवहार रखना अहिंसा है, वह सब सुखोंकी देनेवाली मानी गयी है ॥ १ ॥ संसारमें जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं उन सबको जान और अनजानमें न स्वयं मारना चाहिये और न दूसरोंसे मरवाना चाहिये ॥ २ ॥ जो मनुष्य प्राणियोंकी स्वयं हिंसा करता है, दूसरोंसे हिंसा करवाता है और हिंसा करनेवालोंका अनुमोदन करता है, वह संसारमें अपने लिये वैरको बढ़ाता है ॥ ३ ॥ संसारमें रहनेवाले त्रस और स्थावर जीवोंपर मनसे वचनसे, और शरीरसे-किसी भी तरह दण्डका प्रयोग नहीं करना चाहिये ॥ ४ ॥ सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। इसीलिये निर्ग्रन्थ (जैन मुनि) घोर प्राणि-वधका सर्वथा परित्याग करते हैं ॥ ५ ॥ भय और वैरनिवृत्त साधकको, जीवनके प्रति मोह-ममता रखनेवाले सब प्राणियोंको सर्वत्र अपनी ही आत्माके समान जानकर उनकी कभी भी हिंसा न करनी चाहिये ॥ ६ ॥ बुद्धिमान् मनुष्य छहों जीव-निकायोंका सब प्रकारकी युक्तियोंसे सम्यक् ज्ञान प्राप्त करे और 'सभी जीव दुःख-से घबराते हैं'— ऐसा जानकर उन्हें दुःख न पहुँचावे ॥ ७ ॥ ज्ञानी होनेका सार ही यह है कि वह किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे। इतना ही अहिंसाके सिद्धान्तका ज्ञान यथेष्ट है । यही अहिंसाका विज्ञान है ॥ ८ ॥ सम्यक् बोधको जिसने प्राप्त कर लिया वह बुद्धिमान् मनुष्य हिंसासे उत्पन्न होनेवाले वैर-वर्द्धक एवं महाभयंकर दुःखोंको जानकर अपनेको पाप कर्मोंसे बचाये ॥ ९ ॥ संसारमें प्रत्येक प्राणीके प्रति—फिर वह शत्रु हो या मित्र—समभाव रखना तथा जीवनपर्यन्त छोटी-मोटी सभी प्रकारकी हिंसाका त्याग करना—वास्तवमें बहुत दुष्कर है ॥ १० ॥

२—सत्य -

सच्च सुत्तं

निच्च कालऽप्पमत्तेणं, मुसावाय विवज्जणं । भासियव्वं हियं सच्चं निच्चाऽऽउत्तेण दुक्करं ॥ १ ॥

(उत्तरा० अ० १९ गा० २६)

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया । हिंसगं न मुसं बूया, नो वि अन्नं वयावए ॥२॥
मुसावाओ या लोगम्मि, सव्व साहूहिं गरहिओ । अविस्सासो य भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए ॥

(दश० अ० ६ गा० १२-१३)

नलवेज्ज पुट्ठो सावज्जं, न निरट्ठं न मम्मयं । अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्संतरेण वा ॥४॥

(उत्तरा० अ० १ गा० २५)

तहेव सावज्जऽणुमोयणी गिरा, ओहारिणी जाय परोवघायणी ।
से कोह लोह भय हास माणवो, न हासमाणो वि गिरं वएज्जा ॥

(दश० अ० ७ गा० ५४)

दिट्ठं, मियं असंदिद्धं, पडिपुण्णं वियं जियं । अयंपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं ॥६॥

(दश० अ० ८ गा० ४९)

भासाए दो से य गुणे य जाणिया, तीसे य दुट्ठे परिवज्जये सया ।
छसु संजए सामणिए सया जए, वएज्ज बुद्धे हियमाणु लोमियं ॥ ७ ॥

(दश० अ० ७ गा० ५६)

सयं समेच्च अदुवा वि सोच्चा, भासेज्ज धम्मं हिययं पयाणं ।
जे गरहिया सणियाणप्पओगा, न ताणि सेवन्ति सुधीर धम्मा ॥ ८ ॥

(सूत्र श्रु० १ अ० १३ गा० १९)

सवक्क सुद्धिं समुपेहिया मुणी, गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया ।
मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए, सयाण मज्झे लहई पसं सणं । ९ ॥

(दश० अ० ७ गा० ५५)

तहेव काणं काणेत्ति, पंडगंपंडगेत्ति वा । वाहियं वा वि रोगित्ति तेणं चोरेत्ति नो वए ॥१०॥

(दश० अ० ७ गा० १२)

वितहं वितहामुत्तिं, जं गिरं भासए नरो । तम्हा सो पुट्ठो पावेणं किं पुण जो मुसं वए ॥११॥

(दश० अ० ७ गा० ५)

तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी । सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥१२॥

(दश० अ० ७ गा० ११)

अर्थ—सदा अप्रमादी और सावधान रहकर, असत्यको त्यागकर, हितकारी सत्य वचन ही बोलना चाहिये । इस तरह सत्य बोलना बड़ा कठिन होता है ॥ १ ॥ अपने स्वार्थके लिये अथवा दूसरोंके लिये क्रोधसे अथवा भयसे—किसी भी प्रसङ्गपर दूसरोंको पीड़ा पहुँचानेवाला असत्य वचन न तो स्वयं बोलना, न दूसरोंसे बुलवाना चाहिये ॥ २ ॥ मृषावाद (असत्य) संसारमें सभी सत्पुरुषों द्वारा निन्दित ठहराया गया है और सभी प्राणियोंको अविश्वसनीय है । इसलिये मृषावाद सर्वथा छोड़ देना चाहिये ॥ ३ ॥ अपने स्वार्थके लिये, अथवा दूसरोंके लिये, दोनोंमेंसे किसीके भी लिये, पूछनेपर पाप-युक्त, निरर्थक एवं मर्म-भेदक वचन नहीं बोलना चाहिये ॥ ४ ॥ श्रेष्ठ साधु पापकारी, निश्चयकारी और दूसरोंको दुःख पहुँचानेवाली वाणी न बोले । श्रेष्ठ मानव इसी तरह क्रोध, लोभ, भय और हास्यसे भी पापकारी वाणी न बोले । हँसते हुए भी पाप वचन नहीं बोलना चाहिये ॥ ५ ॥ आत्मार्थी साधकको दृष्ट (सत्य) परिमित, असंदिग्ध, परिपूर्ण, स्पष्ट अनुभूत, वाचालतारहित और किसीको भी उद्विग्न न करनेवाली वाणी बोलना चाहिये ॥ ६ ॥ भाषाके गुण तथा दोषोंको भलीभाँति जानकर दूषित भाषाको सदाके लिये छोड़ देनेवाला, षट्काय जीवोंपर संयत रहनेवाला तथा साधुत्व-पालनमें सदा तत्पर बुद्धिमान् साधक केवल हितकारी मधुर-भाषा बोले ॥ ७ ॥ श्रेष्ठ धीर पुरुष स्वयं जानकर अथवा गुरुजनोंसे सुनकर प्रजाका हित करनेवाले धर्मका उपदेश करे । जो आचरण निन्द्य हों, निदानवाले हों उनका कभी सेवन न करे ॥ ८ ॥ विचारवान् मुनिको वचन-शुद्धिका भलीभाँति ज्ञान प्राप्त करके दूषित वाणी सदाके लिये छोड़ देनी चाहिये और खूब सोच-विचारकर बहुत परिमित और निर्दोष वचन बोलना चाहिये । इस तरह बोलनेसे सत्पुरुषोंमें महान् प्रशंसा प्राप्त होती है ॥ ९ ॥ कानेको काना, नपुंसकको नपुंसक, रोगीको रोगी और चोरको चोर कहना यद्यपि सत्य है तथापि ऐसा नहीं

कहना चाहिये (क्योंकि इससे उन व्यक्तियोंको दुःख पहुँचता है) ॥ १० ॥ जो मनुष्य भूलसे मूलतः असत्य, किन्तु ऊपरसे सत्य मालूम होनेवाली भाषा बोल उठता है वह भी पापसे अछूता नहीं रहता, तब भला जो जान-बूझकर असत्य बोलता है उसके पापका तो कहना ही क्या! ॥ ११ ॥ जो भाषा कठोर हो, दूसरोंको भारी दुःख पहुँचानेवाली हो— वह सत्य ही क्यों न हो— नहीं बोलनी चाहिये । क्योंकि उससे पापका आस्रव होता है ॥ १२ ॥

३—अस्तेय—

अतेणग सुत्तं

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं । दंतसोहणमित्तंपि, उग्गहं से अजाइया ॥ १ ॥
तं अप्पणा न गिण्हन्ति, नो वि गिण्हावए परं । अन्नं वा गिण्हमाणंपि नाणुजाणन्ति संजया । २॥

(दश० अ० ६ गा० १४-१५)

उड्ढं अहेय तिरियं दिसासु, तसाय जे थावर जे य पाणा ।
हत्थेहिं पाएहिं य संजमित्ता, अदिन्नमन्नेसु य नो गहेज्जा ॥ ३ ॥

(सूत्र० श्रु० १ अ० १० गा० २)

तिव्वं तसे पाणिणो थावरे य, जे हिंसति आयसुहं पडुच्च ।
जेलूसए होइ अदत्तहारीं, ण सिक्खई सेय वियस्स किंचि ॥ ४ ॥

(सूत्र० श्र० अ० ५ उ० १ गा० ४)

दन्त सोहणमाइस्स, अदत्तस्स विवज्जणं । अणवज्जेसणिज्जस्स गिण्हणा अविदुक्करं ॥ ५ ॥

(उत्तरा० अ० १९ गा० २७)

अर्थ— पदार्थ सचेतन हो या अचेतन, अल्प हो या बहुत, दाँत कुरेदनेकी सींक भी जिस गृहस्थके अधिकारमें हो उसकी आज्ञा लिये बिना पूर्ण संयमी साधक न तो स्वयं ग्रहण करते हैं, न दूसरोंको ग्रहण करनेके लिये प्रेरित करते हैं और न ग्रहण करनेवालोंका अनुमोदन करते हैं ॥१-२॥ ऊँची-नीची और तिरछी दिशामें जहाँ कहीं भी जो त्रस और स्थावर प्राणी हों उन्हें संयमसे रहकर अपने हाथोंसे, पैरोंसे किसी भी अंगसे पीड़ा नहीं पहुँचानी चाहिये । दूसरोंकी बिना दी हुई वस्तु भी चोरीसे ग्रहण नहीं करनी चाहिये ॥ ३ ॥ जो मनुष्य अपने सुखके लिये त्रस तथा स्थावर प्राणियोंकी क्रूरतापूर्वक हिंसा करता है— उन्हें अनेक तरहसे कष्ट पहुँचाता है, जो दूसरोंकी चोरी करता है, जो आदरणीय व्रतोंका कुछ भी पालन नहीं करता, (वह भयङ्कर क्लेश उठाता है) ॥ ४ ॥ दाँत कुरेदनेकी सींक आदि तुच्छ वस्तुएँ भी बिना दिये चोरीसे न लेना, निर्दोष एवं एषणीय भोजन-पान भी दाताके यहाँसे दिया हुआ लेना, यह बड़ी दुष्कर बात है ॥ ५ ॥

४-ब्रह्मचर्य—

बंभचरिय-सुत्तं

विरई अबंभचेरस्स, कामभोगरसन्नुणा । उग्गं महव्वयं बंभं, धारेयव्वं सुदुक्करं ॥ १ ॥

(उत्तरा० अ० १९ गा० २८)

अबंभचरियं घोरं, पमायं दुरहिट्ठियं । नाऽऽयरन्ति मुणी लोए, भेयाययणवज्जिणो ॥ २ ॥

(दश० अ० ६ गा० १६)

मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं । तम्हा मेहुण संसग्गं, निग्गंथा वज्जयन्ति णं ॥ ३ ॥
(दश० अ० ६ गा० ११)

विभूसा इत्थिसंसग्गो, पणीयं रसभोयणं । नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥ ४ ॥
(दश० अ० ८ गा० ५७)

न रूव लावण्ण विलास हासं, नजंपियं इंगिय पेहियं वा ।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता, दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ॥ ५ ॥
(उत्तरा० अ० ३२ गा० १४)

अदंसणं चेव अपत्थणं च, अचिंतणं चेव अकित्तणं च ।
इत्थीजणस्साऽऽरियज्झाण जुग्गं, हियं सया बंभवए रयाणं ॥ ६ ॥
(उत्तरा० अ० ३२ गा० १५)

मण पल्हायजणणी काम राग विवड्ढणी । बंभचेररओ भिक्खू, थीकहं तु विवज्जए ॥ ७ ॥
समं च संथवं थीहिं, संकहं च अभिक्खणं । बंभचेररओ भिक्खू निच्चसो परिवज्जए ॥ ८ ॥
अंग पच्चंग संठाणं, चारुल्लविय-पेहियम् । बंभचेररओ थीणं, चक्खुगिज्झं विवज्जए ॥ ९ ॥
कूइयं रुइयं गीयं, हसियं थणिय-कन्दियं । बंभचेररओ थीणं, सोयगिज्झं विवज्जए ॥१०॥
हासं किड्डं रइं दप्पं, सहस्साऽवत्तासियाणिय । बंभचेररओ थीणं, नाणुचिन्ते कयाइवि ॥११॥
पणीयं भत्तपाणं तु खिप्पं मयविवड्ढणं । बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥१२॥
धम्मलद्धं मियं काले, जत्तत्थं पाणिहावणं । नाइमत्तं तु भुंजेज्जा, बंभचेररओ सया ॥१३॥
(उत्तरा० अ० १६ गा० २—८)

जहा दवग्गी पउरिन्धणे वणे, समारुओ नोवसमं उवेइ ।
एविन्दियग्गी वि पगाम भोइणो, न बंभयारिस्स हियाय कस्सई ॥१४॥
(उत्तरा० अ० ३२ गा० ११)

विभूसं परिवज्जेज्जा, सरीर परिमंडणं । बंभचेररओ भिक्खू, सिंगारत्थं न धारए ॥१५॥
सद्दे रुवे य गन्धेय, रसे फासे तहेव य । पंचविहे काम गुणे निच्चसो परिवज्जए ॥१६॥
(उत्तरा० अ० १६ गा० ९-१०)

दुज्जये काम भोगे य, निच्चसो परिवज्जए । संकट्ठाणाणि सव्वाणि वज्जेज्जा पाणिहाणवं ॥१७॥
(उत्तरा० अ० १६ गा० १४)

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं, सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।
जं काइयं माणसियं च किंचि, तस्सऽन्तगं गच्छई वीयरागो ॥१८॥
(उत्तरा० अ० ३२ गा० १९)

देव दाणव गन्धव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा । बंभयारिं नमं सन्ति दुक्करं जे करेन्तितं ॥१९॥
एस धम्मे धुवे निच्चे, सासये जिण देसिए । सिद्धा सिज्झन्ति चाणेणं सिज्झिस्सन्ति तहा परे । २०॥
(उत्तरा० अ० १६ गा० १६-१७)

अर्थ—काम-भोगोंका रस जान लेनेवालेके लिये अब्रह्मचर्यसे विरक्त होना और उग्र ब्रह्मचर्य महाव्रतका धारण करना बड़ा कठिन कार्य है ॥ १ ॥ जो मुनि संयम-घातक दोषोंसे दूर रहते हैं, वे लोकमें रहते हुए भी दुःसेव्य, प्रमादस्वरूप और भयंकर अब्रह्मचर्यका कभी सेवन नहीं करते ॥ २ ॥

यह अब्रह्मचर्य अधर्मका मूल है, महा दोषोंका स्थान है इसलिये निर्ग्रन्थ मुनि मैथुन-संसर्गका सर्वथा परित्याग करते हैं ॥ ३ ॥ आत्मशोधक मनुष्यके लिये शरीरका शृङ्गार, स्त्रियोंका संसर्ग और पौष्टिक स्वादिष्ट भोजन- सब तालपुट विषके समान महान् भयंकर हैं ॥ ४ ॥ श्रमण तपस्वी स्त्रियोंके रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मधुर वचन, संकेत-चेष्टा, हाव-भाव और कटाक्ष आदि मनमें तनिक भी विचार न लाये और न इन्हें देखनेका कभी प्रयत्न करे ॥ ५ ॥ स्त्रियोंको रागपूर्वक देखना, उनकी अभिलाषा करना, उनका चिन्तन करना, उनका कीर्तन करना आदि कार्य ब्रह्मचारी पुरुषको कदापि नहीं करने चाहिये। ब्रह्मचर्य-व्रतमें सदा रत रहनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंके लिये यह नियम अत्यन्त हितकर है और उत्तम ध्यान प्राप्त करनेमें सहायक है ॥ ६ ॥ ब्रह्मचर्यमें अनुरक्त भिक्षुको मनमें वैषयिक आनन्द पैदा करनेवाली तथा काम-भोगकी आसक्ति बढ़ानेवाली स्त्री-कथाको छोड़ देना चाहिये ॥ ७ ॥ ब्रह्मचर्यरत भिक्षुको स्त्रियोंके साथ बातचीत करना और उनसे बार-बार परिचय प्राप्त करना सदाके लिये छोड़ देना चाहिये ॥ ८ ॥ ब्रह्मचर्य-रत भिक्षुको न तो स्त्रियोंके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी सुन्दर आकृतिकी ओर देखना चाहिये और न आँखोंमें विकार पैदा करनेवाले हाव-भावों और स्नेहभरे मीठे वचनोंकी ही ओर ॥ ९ ॥ ब्रह्मचर्यरत भिक्षुको स्त्रियोंका कूजन, रोदन, गीत, हास्य, सीत्कार और करुण-क्रन्दन— जिनके सुननेपर विकार पैदा होते हैं-सुनना छोड़ देना चाहिये ॥१०॥ ब्रह्मचर्यरत भिक्षु स्त्रियोंके पूर्वानुभूत हास्य, क्रीड़ा, रति, दर्प, सहसा—वित्रासन आदि कार्योंको कभी भी स्मरण न करे ॥ ११ ॥ ब्रह्मचर्यरत भिक्षुको शीघ्र ही वासनावर्धक पुष्टिकारक भोजन-पानका सदाके लिये परित्याग कर देना चाहिये ॥१२॥ ब्रह्मचर्यरत स्थिरचित्त भिक्षुको संयमयात्राके निर्वाहके लिये हमेशा धर्मानुकूल विधिसे प्राप्त परिमित भोजन ही करना चाहिये। कैसी ही भूख क्यों न लगी हो, लालचवश अधिक मात्रामें कभी भोजन नहीं करना चाहिये ॥१३॥ जैसे बहुत अधिक ईंधनवाले जंगलमें पवनसे उत्तेजित दावाग्नि शान्त नहीं होती उसी तरह मर्यादासे अधिक भोजन करनेवाले ब्रह्मचारीकी इन्द्रियाग्नि भी शान्त नहीं होती। अधिक भोजन किसीको भी हितकर नहीं होता ॥१४॥ ब्रह्मचर्यरत भिक्षुको शृंगारके लिये शरीरकी शोभा और सजावटका कोई भी शृंगारी काम नहीं करना चाहिये ॥ १५ ॥ ब्रह्मचारी भिक्षुको शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श— इन पाँच प्रकारके काम-गुणोंको सदाके लिये छोड़ देना चाहिये ॥ १६ ॥ स्थिरचित्त भिक्षु, दुर्जय काम-भोगोंको हमेशाके लिये छोड़ दे। इतना ही नहीं जिनसे ब्रह्मचर्यमें तनिक भी क्षति पहुँचनेकी सम्भावना हो, उन सब शंका-स्थानोंका भी उसे परित्याग कर देना चाहिये ॥ १७ ॥ देवलोकसहित समस्त संसारके शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकारके दुःखका मूल एकमात्र कामभोगोंकी वासना ही है। जो साधक इस सम्बन्धमें वीतराग हो जाता है, वह शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकारके दुःखोंसे छूट जाता है ॥ १८ ॥ जो मनुष्य इस प्रकार दुष्कर ब्रह्मचर्यका पालन करता है उसे देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि सभी नमस्कार करते हैं ॥१९॥ यह ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और जिनोपदिष्ट है। इसके द्वारा पूर्वकालमें कितने ही जीव सिद्ध हो गये हैं, वर्तमानमें हो रहे हैं और भविष्यमें होंगे ॥ २० ॥

५—अपरिग्रह,

अपरिग्गहसुत्तं

न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा। मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इइ वुत्तं महेसिणा ॥ १ ॥

(दश० अ० ६ गा० २१)

धण-धन्न-पेसवग्गेसु, परिग्गह विवज्जणं । सव्वारंभ परिच्चाओ निम्ममत्तं सुदक्करं ॥ २ ॥
(उत्तर० अ० १९ गा० २९)

विड्मुब्भेइमं लोणं, तेल्लं, सप्पिं च फाणियं । न ते सन्निहिमिच्छन्ति नायपुत्त-वओरया ॥ ३ ॥
(दश० अ० ६ गा० १८)

जं पि वत्थं च पायं वा कंबलं पायपुंछणं । तंपि संजमलज्जट्ठा धारेन्ति परिहरन्ति य ॥ ४ ॥
(दश० अ० ६-२०)

सव्वथुवहिणा बुद्धा, संरक्खण परिग्गहे । अवि अप्पणो विदेहम्मि, नाऽऽयरन्ति ममाइयं ॥ ५ ॥
(दश० अ० ६ गा० २२)

लोहस्सेस अणुप्फासो, मन्ने अन्नयरा मवि । जे सिया सन्निहीकामे गिही, पव्वइए न से ॥ ६ ॥
(दश० अ० ६-गा० १९)

अर्थ—प्राणिमात्रके संरक्षक ज्ञातपुत्र (भगवान् महावीर) ने कुछ वस्त्र आदि स्थूल पदार्थोंको परिग्रह नहीं बतलाया है । वास्तविक परिग्रह तो उन्होंने किसी भी पदार्थपर मूर्च्छाका—आसक्तिका रखना बतलाया है ॥ १ ॥ पूर्ण संयमीको धन-धान्य और नौकर-चाकर आदि सभी प्रकारके परिग्रहोंका त्याग करना होता है । समस्त पापकर्मोंका परित्याग करके सर्वथा निर्ममत्व होना तो और भी कठिन बात है ॥ २ ॥ जो संयमी ज्ञातपुत्र (भगवान् महावीर) के प्रवचनोंमें रत हैं वे बिड़ और उद्भेद्य आदि नमक तथा तेल, घी, गुड़ आदि किसी वस्तुके संग्रह करनेका मनमें संकल्पतक नहीं करते ॥ ३ ॥ परिग्रह-विरक्त मुनि जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण आदि वस्तुएँ रखते हैं वे सब एकमात्र संयमकी रक्षाके लिये ही रखते हैं—काममें लाते हैं (इनके रखनेमें किसी प्रकारकी आसक्तिका भाव नहीं है)॥ ४ ॥ ज्ञानी पुरुष, संयम-साधक उपकरणोंके लेने और रखनेमें कहीं भी किसी भी प्रकारका ममत्व नहीं करते और तो क्या, अपने शरीरतकपर भी ममता नहीं रखते ॥ ५ ॥ संग्रह करना, यह अंदर रहनेवाले लोभकी झलक है । अतएव मैं मानता हूँ कि जो साधु मर्यादाविरुद्ध कुछ भी संग्रह करना चाहता है, वह गृहस्थ है—साधु नहीं है ॥ ६ ॥

सङ्गति—यम-नियमके बिना कोई अभ्यासी योगका अधिकारी नहीं हो सकता । यह न केवल अभ्यासियोंके लिये ही वरं सब आश्रमवालोंके लिये अत्यावश्यक है । इनमें यमोंका सारे समाजसे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, इस कारण इनके पालनमें सब मनुष्य परतन्त्र हैं अर्थात् यह सब मनुष्योंका परम कर्त्तव्य है, जैसा कि मनु महाराज लिखते हैं—

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥—(मनु०)

बुद्धिमान्को चाहिये कि यमोंका लगातार सेवन करे, केवल नियमोंका ही नहीं; क्योंकि केवल नियमोंका सेवन करनेवाला यमोंका पालन न करता हुआ गिर जाता है ।

यहाँ इस सूत्रमें व्याख्या केवल उतनी ही की जायगी, जो योगियों तथा योगके जिज्ञासुओंके अभिमत है । सूत्र ३१ के वि० वि० में उनका सामान्य और व्यापक रूप दिखलाया जायगा—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहाः=अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह; यमाः=यम हैं ।

अन्वयार्थ—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह यम हैं ।

व्याख्या—अहिंसा=शरीर, वाणी अथवा मनसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदिकी मनोवृत्तियोंके साथ किसी प्राणीको शारीरिक, मानसिक पीड़ा अथवा हानि पहुँचाना या पहुँचवाना या उसकी अनुमति देना या स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूपसे उसका कारण बनना हिंसा है, इससे बचना अहिंसा है। गौ, अश्व आदि पशुओंका उचित रीतिसे पालन-पोषण करके प्राण-हरण न करते हुए उनसे नियमित रूपसे दूध आदि सामग्री प्राप्त करना तथा सेवा लेना हिंसा नहीं है, पर यही जब उनकी रक्षाका ध्यान न रखते हुए सेवा आदि क्रूरताके साथ ली जाय तो हिंसा हो जाती है ।

शिक्षार्थ ताड़ना देना, रोग-निवारणार्थ ओषधि देना अथवा ऑपरेशन करना, सुधारार्थ या प्रायश्चित्तके लिये दण्ड देना हिंसा नहीं है, यदि ये बिना द्वेष आदिके केवल प्रेमसे उनके कल्याणार्थ किये जायँ। पर यही जब द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह और भय आदिकी मनोवृत्तियोंसे मिश्रित हों तो हिंसा हो जाते हैं । प्राणोंका शरीरसे वियोग करना सबसे बड़ी हिंसा है । श्रीव्यासजी महाराजने अहिंसाकी व्याख्या इस प्रकार की है कि सर्वकालमें सर्वप्रकारसे सब प्राणियोंका चित्तमें भी द्रोह न करना अहिंसा है। अहिंसा ही सब यम-नियमोंका मूल है, उसीके साधन तथा सिद्धिके लिये अन्य यम और नियम हैं और उसी अहिंसाको निर्मल रूप बनानेके लिये ग्रहण किये जाते हैं ।

पञ्चशिखाचार्यजी कहते हैं—

स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति ।

निश्चय यह ब्राह्मण (वेदवेत्ता योगी) ज्यों-ज्यों बहुत-से व्रतों— यम-नियमोंको धारण करनेकी इच्छा करता है अर्थात् अनुष्ठान करता है त्यों-त्यों प्रमादसे किये हुए हिंसा आदिके कारणरूप पापोंसे निवृत्त हुआ उसी अहिंसाको निर्मल करता है ।

अहिंसा तथा अन्य सब यमोंके विपरीत आचरण करनेमें मुख्य कारण अपनेको छोटेसे भौतिक शरीरमें संकुचित रूपमें देखना है, इसलिये योगियोंके लिये तो अहिंसाका उच्चतम स्वरूप प्राणिमात्रमें अपनी आत्माको व्यापकरूपमें देखना है । यथा—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।। (ईश० ६)

जो (साधक) सम्पूर्ण भूतोंको (अपनी) आत्मामें ही देखता है और समस्त भूतोंमें भी अपनी आत्माको ही देखता है, वह इस (सर्वात्मदर्शन) के कारण ही किसीसे घृणा नहीं करता ।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।।

जिस समय ज्ञानी पुरुषके लिये सब भूत (अपनी) आत्मा ही हो गये, उस समय एकत्व देखनेवाले उस विद्वान्‌को क्या शोक और क्या मोह हो सकता है ।

इस विशाल व्यापक दृष्टिके सम्बन्धमें यह शङ्का न करनी चाहिये कि इस समत्वबुद्धिसे तामसी-

राजसी प्रकृतिवाले प्राणियोंके प्रति व्यवहारमें कठिनाई आयेगी, क्योंकि प्रत्येक मनुष्यके स्वयं अपने अन्तःकरणमें तामसी, राजसी और सात्त्विक तीनों प्रकारकी वृत्तियोंका उदय और क्षय होता रहता है। जिस महान् योगीने इन संकीर्ण भावोंको हटा दिया है, वह सारे अन्तःकरणों तथा उनकी वृत्तियोंको अपने ही अन्तःकरण और वृत्ति-जैसे रूपमें देखता है। जिस प्रकार अपनी तामसी, राजसी वृत्तियोंके निरोधपूर्वक सात्त्विक वृत्तियोंके उदय करनेका यत्न करता है, इसी प्रकार सारे अन्तःकरणोंकी तामसी, राजसी वृत्तियोंके हटाने (क्षय करने) और सात्त्विक वृत्तियोंके उठाने (उदय करने) की चेष्टा करता है।

अहिंसाका सामान्य रूप सूत्र ३१ के विशेष विचारमें देखें।

२. *सत्य*—वस्तुका यथार्थ ज्ञान ही सत्य है। उसको शरीरसे काममें लाना शरीरका सत्य है, वाणीसे कहना वाणीका सत्य है और विचारमें लाना मनका सत्य है। जो जिस समय जिसके लिये जैसा यथार्थरूपसे करना चाहिये वही सत्य है अर्थात् कर्तव्य ही सत्य है। अहिंसा तीनों कालमें सत्य है। इस कारण यथार्थरूपसे यथार्थज्ञानसे अहिंसाके लिये जो कुछ किया जाय, वह सत्य है। यदि कोई पुरुष द्वेषसे दिल दुखानेके लिये अन्धेको तिरस्कारके साथ अन्धा कहता है तो यह असत्य है, क्योंकि यह हिंसा है और हिंसा सदा असत्य है। श्रीव्यासजी महाराज सत्यकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

अर्थानुकूल वाणी और मनका व्यवहार होना अर्थात् जैसा देखा हो, जैसा अनुमान किया हो और जैसा सुना हो वैसा ही वाणीसे कथन करना और मनमें धारण करना। दूसरे पुरुषमें अपने बोधके अनुसार ज्ञान करानेमें कही हुई वाणी यदि धोखा देनेवाली, भ्रान्ति करानेवाली अथवा ज्ञान करानेमें असमर्थ न हो और सब प्राणियोंके उपकारके लिये प्रवृत्त हुई हो; और जिससे किसी प्राणीका नाश, पीड़ा अथवा हानि न हो, वह सत्य है। यदि इस प्रकार भी कही हुई वाणी प्राणियोंका नाश करनेवाली हो तो वह सत्य नहीं है बल्कि इस पुण्याभास पुण्यके प्रतिरूप पापसे महान् दुःखको प्राप्त होगा। इसलिये अच्छी प्रकार परीक्षा करके सब प्राणियोंके हितार्थ सत्य बोले। मनु भगवान्‌ने भी ऐसा ही कहा है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।

सत्य बोले, प्रिय बोले, वह सत्य न बोले जो अप्रिय हो अर्थात् सत्यको मीठा करके बोले, कटु करके न बोले।

योगियोंके लिये तो उच्चतम सत्यका स्वरूप आत्म-अनात्म, चेतन-जड़, पवित्र-अपवित्र, नित्य-अनित्यमें विवेकज्ञान अर्थात आत्माको त्रिगुणात्मक अन्तःकरण, इन्द्रियों, शरीर, विषयों तथा भौतिक जगत्‌से सर्वथा भिन्न, निर्विकार, निर्लेप, निष्क्रिय, असङ्ग, अपरिणामी, कूटस्थ, नित्य, ज्ञानस्वरूप विवेकपूर्वक देखना है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति। (गीता १३। २९)

जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंको सब प्रकारसे प्रकृतिसे ही किये हुए देखता है तथा आत्माको अकर्ता देखता है, वही देखता है अर्थात् तत्त्वज्ञानी है।

सत्यका सामान्यरूप सूत्र ३१ के विशेष विचारमें देखें।

३. *अस्तेय*—अन्यायपूर्वक किसीके धन, द्रव्य अथवा अधिकार आदिका हरण करना स्तेय है। राजाका प्रजाके नागरिक अधिकार दबाना, ऊँचे वर्णवालों या धनपतियोंका नीचे वर्णवालों और निर्धनोंके

सामाजिक तथा धार्मिक अधिकारोंका छीनना स्तेय है। अधिकारिगणोंका रिश्वत लेना, दूकानदारोंका निश्चित या उचित मूल्यसे ज्यादा दाम लेना अथवा तौलमें कम देना तथा चीजोंमें मिलावट करना इत्यादि स्तेय है। पर इस प्रकार किसी वस्तुको प्राप्त करनेका मूल कारण लोभ और राग है। इस हेतु योगीका किसी वस्तुमें राग होना ही स्तेय समझना चाहिये। इसका त्यागना अस्तेय है।

अस्तेयकी अधिक व्याख्याके लिये सूत्र ३१ का विशेष विचार देखें।

४. ब्रह्मचर्य—मैथुन तथा अन्य किसी प्रकारसे भी वीर्यका नाश न करते हुए जितेन्द्रिय रहना अर्थात् अन्य सब इन्द्रियोंके निरोधपूर्वक 'उपस्थेन्द्रिय' के संयमका नाम ब्रह्मचर्य है। पूर्णतया ब्रह्मचर्यका पालन वही कर सकता है जो ब्रह्मचर्यके नाश करनेवाले पदार्थोंके भक्षण तथा कामोद्दीपक दृश्योंके देखने और इस प्रकारकी वार्ताओंके सुनने तथा ऐसे विचारोंको मनमें लानेसे भी बचता रहे।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत॥

(अथर्ववेद अध्याय ३ सू० ५ मं० १९)

अर्थात् ब्रह्मचर्यरूप तपसे देवताओंने कालको भी जीत लिया है। इन्द्र निश्चयसे ब्रह्मचर्यद्वारा देवताओंमें श्रेष्ठ बना है।

न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम्।
ऊर्ध्वरेता भवेद् यस्तु स देवो न तु मानुषः॥

अर्थात् ब्रह्मचर्य ही उत्कृष्ट तप है। इससे बढ़कर तपश्चर्या दूसरी नहीं हो सकती ऊर्ध्वरेता पुरुष इस लोकमें मनुष्यरूपमें प्रत्यक्ष देवता ही है।

ब्रह्मचर्यकी महिमा महान् है। सम्पूर्ण विश्वके प्राणियोंमें जो जीवनकला दिखलायी देती है वह सब ब्रह्मचर्यका ही प्रताप है। जीवन-कलामें सौंदर्य, तेज, आनन्द, उत्साह, सामर्थ्य, आकर्षकत्व और सजीवत्व आदि अनेकानेक उत्तम गुणोंका समावेश ब्रह्मचर्यसे ही होता है। ब्रह्मचारी पुरुषके लिये संसारमें कोई बात असम्भव और अप्राप्त नहीं है।

सिद्धे विन्दौ महायत्ने किं न सिध्यति भूतले।
यस्य प्रसादान्महिमा ममाप्येतादृशो भवेत्॥

अर्थात् परिश्रमपूर्वक विन्दु (वीर्य) को साधनेवाले अखण्ड ब्रह्मचारीके लिये इस लोकमें कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो असम्भव और असाध्य हो। इस ब्रह्मचर्यके प्रतापसे ही मेरी (भगवान् शंकरकी) ऐसी महान् महिमा हुई।

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्जायाः शुक्रसम्भवः॥ (सुश्रुत)

अर्थात् मनुष्य जो कुछ भोजन करता है वह पहिले पेटमें जाकर पचने लगता है फिर उसका रस बनता है, उस रसका पाँच दिनतक पाचन होकर उससे रक्त पैदा होता है। रक्तका भी पाँच दिन पाचन होकर उससे मांस बनता है। इस प्रकार पाँच-पाँच दिनके पश्चात् मांससे मेद, मेदसे हड्डी, हड्डीसे मज्जा और अन्तमें मज्जासे सप्तम सार पदार्थ वीर्य बनता है। यही वीर्य फिर 'ओजस्' रूपमें सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त

होकर चमकता रहता है। स्त्रीके इस सप्तम शुद्ध अति शुद्ध सार पदार्थको रज कहते हैं। वीर्य काँचकी तरह चिकना और सफेद होता है और रज लाखकी तरह लाल होता है। इस प्रकार रससे लेकर वीर्य और रजतक छः धातुओंके पाचन करनेमें पाँच दिनके हिसाबसे पूरे तीस दिन लगभग चार घंटे लगते हैं।

वैज्ञानिकोंने ऐसा निश्चय किया है कि चालीस सेर भोजनसे एक सेर रक्त बनता है और एक सेर रक्तसे दो तोला वीर्य बनता है। इस प्रकार एक तोला वीर्यके बराबर चालीस तोला अर्थात् आधा सेर रक्त होता है।

यदि नीरोग मनुष्य सेरभर भोजन करे तो चालीस सेर भोजन चालीस दिनमें होगा। अर्थात् चालीस दिनकी कमाई दो तोला वीर्य हुई। इस हिसाबसे तीस दिन अर्थात् एक महीनेकी कमाई डेढ़ तोला हुई। एक बारमें मनुष्यका वीर्य कम-से-कम डेढ़ तोला तो निकलता ही होगा। इतने कठोर परिश्रमसे तीस दिनमें प्राप्त होनेवाली डेढ़ तोला अमूल्य अतुल दौलत एक समयमें ही फूँक डालना कितनी बड़ी मूर्खता है।

'मरणं बिन्दुपातेन। जीवनं बिन्दुधारणम्॥ अर्थात् वीर्यका नाश ही मृत्यु है और ब्रह्मचर्य अर्थात् वीर्यकी रक्षा ही जीवन है।

योगियोंके लिये ब्रह्मचर्यका वास्तविक स्वरूप—रयि अर्थात् अन्नके खींचनेके लिये जो प्राणोंकी आभ्यन्तर क्रिया होती है उसीका नाम भूख है, वह वृक्षों, पशु, पक्षी आदि और मनुष्योंमें समान है। वृक्ष प्राणोंके अनुकूल ही अन्नको खींचते हैं। यही कारण है कि विशेष-विशेष वृक्ष उन विशेष स्थानोंमें जहाँ उनके अनुकूल पृथ्वी-जलादिमें परमाणु नहीं होते हैं नहीं उगते हैं। पशु आदि भी प्राणोंके अनुकूल ही अन्नको खींचते हैं, यदि मनुष्यके कुसङ्गसे इस स्वाभाविक बुद्धिको न खो बैठे हों किंतु मनुष्य नाना प्रकारकी वासनाओंसे भ्रमित होकर इस विवेक बुद्धिको खो देता है कि किस समय प्राणोंको किस-किस विशेष रयि अर्थात् अन्नकी आवश्यकता है। कभी-कभी प्राणोंमें भी कई विशेष कारणोंके अधीन होकर बाहर रयि अर्थात् अन्नकी ओर आकर्षित होनेकी आभ्यन्तर क्रिया होती है। यही काम-विषयवासनाके पीछे जाना है। इसके वशीभूत हो जानेसे ब्रह्मचर्यका खण्डन होता है। इसलिये योगीके लिये ब्रह्मचर्यका वास्तविक स्वरूप प्राणोंपर पूरा अधिकार प्राप्त कर लेना है और प्राण आदि पञ्च वायु अन्तःकरणका सम्मिलित कार्य है। अतः अन्तःकरणपर पूरा अधिकार कर लेना आवश्यक है। यह अधिकार ब्रह्मनिष्ठासे प्राप्त होता है अर्थात् उस क्रमसे ब्रह्मनिष्ठ होना ही पूर्ण ब्रह्मचर्यका वास्तविक स्वरूप है।

अधिक जानकारीके लिये सूत्र ३१ का विशेष विचार देखें।

५. *अपरिग्रह*—धन, सम्पत्ति, भोग-सामग्री अथवा अन्य वस्तुओंको अपनी (शरीर-रक्षा आदि) आवश्यकताओंसे अधिक केवल अपने ही भोगके लिये स्वार्थ-दृष्टिसे संचय या इकट्ठा करना परिग्रह है। (आवश्यक वह वस्तु है जिसके बिना अभ्यास अथवा धार्मिक कार्य निर्विघ्नतापूर्वक न चल सकें अर्थात् जो अध्यात्मोन्नति अथवा धार्मिक कार्योंमें साधनरूपसे आवश्यक हो; किन्तु ऐसी वस्तुओंका संग्रह भी बिना किसी प्रकारकी आसक्ति या लगावके होना चाहिये अन्यथा वह भी परिग्रह ही समझा जावेगा।) इससे बचना अपरिग्रह है। पर योगीके लिये तो सबसे बड़ा परिग्रह अविद्या आदि क्लेश, शरीर और चित्त आदिमें ममत्व और अहङ्कार हैं, जो सब परिग्रहके मूल कारण हैं। इसके लिये इन सब क्लेशों आदिका न रखना ही अपरिग्रहका लक्षण अभिमत है।

शेष सूत्र ३१ के विशेष विचारमें देखें।

सङ्गति—इस प्रकार सामान्यरूपसे यमोंका निरूपण करके अगले सूत्रमें उनकी सबसे ऊँची अवस्था बतलाते हैं—

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ— जाति-देश-काल-समय-अनवच्छिन्नाः = जाति, देश, काल और समय (संकेत 'नियम-विशेष') की सीमासे रहित; सार्वभौमाः=सब अवस्थाओंमें पालन करने योग्य; महाव्रतम्=महाव्रत हैं।

अन्वयार्थ— जाति, देश, काल और समयकी हदसे रहित सर्वभूमियोंमें पालन करने योग्य यम महाव्रत कहलाते हैं।

व्याख्या— जाति, देश, काल और समय (संकेत, नियमविशेष) की हदसे रहित होनेका यह अभिप्राय है कि इनके द्वारा हिंसा आदि यम संकुचित न किये जायँ।

जातिद्वारा संकुचित–गौ आदि पशु अथवा ब्राह्मणकी हिंसा न करूँगा।

देशद्वारा संकुचित–हरिद्वार, मथुरा आदि तीर्थोंमें हिंसा नहीं करूँगा।

कालसे संकुचित–चतुर्दशी, एकादशी आदि तिथियोंमें हिंसा नहीं करूँगा।

समयद्वारा संकुचित–समयका अर्थ यहाँ काल नहीं है बल्कि विशेष नियम या विशेष संकेत है। जैसे देव अथवा ब्राह्मणकी प्रयोजन-सिद्धिके लिये हिंसा करूँगा अन्य प्रयोजनसे नहीं। इसी प्रकार अन्य यमोंको समझ लेना चाहिये। अर्थात् समयावच्छिन्न सत्य—प्राणहरण आदिके संकटसे अतिरिक्त मिथ्याभाषण न करूँगा। समयावच्छिन्न अस्तेय—दुर्भिक्षके अतिरिक्त चोरी न करूँगा। समयावच्छिन्न ब्रह्मचर्य - ऋतुकालसे अन्य समयमें स्त्रीगमन न करूँगा। समयावच्छिन्न अपरिग्रह- परिवारके परिपालनके लिये ही परिग्रह ग्रहण करूँगा।

जब ये यम इस प्रकारकी संकीर्णतासे रहित सब जातियोंके लिये सर्वत्र सर्वदा सर्वथा पालन किये जाते हैं, तब महाव्रत कहलाते हैं।

विशेष विचार—(सूत्र ३१) इस सूत्रका यह भी भाव है कि यमोंका पालन किसी जाति-विशेष, देश-विशेष, काल-विशेष या अवस्था-विशेषके मनुष्योंके लिये नहीं है; किंतु यह भूमण्डलपर रहनेवाली सभी जाति, देश, काल और अवस्थावालोंके लिये पालने योग्य है; इसीलिये ये सार्वभौम महाव्रत कहलाते हैं। इससे पूर्वके सूत्रमें हमने यमोंका वह लक्षण किया है, जो योगियोंको अभिमत है। अब इस सूत्रके वि० वि० में हम उनका वह विशाल व्यापक और सामान्य स्वरूप दिखलानेका यत्न करेंगे, जिसका सम्बन्ध सम्पूर्ण मनुष्य-समाज और सारे राष्ट्रोंसे है।

तीसवें सूत्रकी सङ्गतिमें बतला आये हैं कि यमोंका सम्बन्ध केवल व्यक्तियोंसे नहीं है परंतु सारे मनुष्य-समाजसे है, इसलिये सारे मनुष्य इनके पालन करनेमें समष्टिरूपसे परतन्त्र हैं। कोई मनुष्य चाहे वह किसी जाति, देश, काल, अवस्था, वर्णाश्रम, मत-मतान्तरका क्यों न हो, यदि उसे मनुष्य-समाजमें रहना है तो उसके लिये ये यम सर्वदा माननीय और पालनीय हैं।

संसारमें फैली हुई भयंकर अशान्तिके नाशका केवलमात्र उपाय यमोंका यथार्थरूपसे पालन करना है। यमके अर्थ ही शासन और व्यवस्था रखनेवालेके हैं। इनके पालनसे संसारकी अवस्था ठीक रह सकती है। यह शङ्का कि क्षत्रिय शासकादि अहिंसा और गृहस्थी ब्रह्मचर्यका पालन नहीं कर सकते, यमोंको

यथार्थरूपसे न समझनेके कारण उत्पन्न होती है। उसके निवारणार्थ यमोंके स्वरूपको और स्पष्टरूपसे दिखलानेका यत्न करते हैं—

अहिंसा—जिस प्रकार सारे क्लेशोंका मूल अविद्या है, उसी प्रकार सारे यमोंका मूल अहिंसा है। हिंसा तीन प्रकारकी है (१) शारीरिक—किसी प्राणीका प्राण-हरण करना अथवा अन्य प्रकारसे शारीरिक पीड़ा पहुँचाना; (२) मानसिक—मनको क्लेश देना; (३) आध्यात्मिक—अन्तःकरणको मलिन करना। यह राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भयादि तमोगुण वृत्तिसे मिश्रित होती है, जैसा कि सूत्र तीसकी व्याख्यामें बतला आये हैं। किसी प्राणीकी किसी प्रकारकी हिंसा करनेके साथ-साथ हिंसक अपनी आत्मिक हिंसा करता है, अर्थात् अपने अन्तःकरणको हिंसाके क्लिष्ट संस्कारोंके मलसे दूषित करता है। इन तीनों प्रकारकी हिंसाओंमें सबसे बड़ी हिंसा आध्यात्मिक हिंसा है, जैसा कि ईशोपनिषद्में बतलाया है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

(ईश उ० मं० ३)

जो कोई आत्मघाती लोग हैं (अर्थात् अन्तःकरणको मलिन करनेवाले हैं); वे मरकर उन लोकोंमें (योनियोंमें) जाते हैं जो असुरोंके लोक कहलाते हैं और घने अँधेरेसे ढके हुए हैं अर्थात् ज्ञानरहित मूढ़ नीच योनियोंमें जाते हैं।

शरीर तथा मनकी अपेक्षा आत्मा श्रेष्ठतम है, क्योंकि शरीर और मन तो आत्माके करण (साधन) हैं, जो मनुष्यको उसके कल्याणार्थ दिये गये हैं। इसलिये हिंसक अधिक दयाका पात्र है, उसके प्रति भी द्वेष अथवा बदला लेनेकी भावना रखना हिंसा है। इसलिये जिसपर हिंसा की जाती है उसके तथा हिंसक दोनोंके कल्याणार्थ हिंसा-पापको हटाना चाहिये। योगीमें अहिंसाव्रतकी सिद्धिसे आत्मिक तेज इतना बढ़ जाता है कि उसकी संनिधिसे ही हिंसक हिंसाकी भावनाको त्याग देता है। मानसिक शक्तिवाले मानसिक बलसे हिंसाको हटा दें, वाचिक तथा शारीरिक शक्तिवाले जहाँतक उनका अधिकार है उस सीमातक इन शक्तियोंको हिंसाके रोकनेमें प्रयोग करें। शासकों तथा न्यायाधीशोंका परम कर्तव्य संसारमें अहिंसाव्रतको स्थापन करना है। जिस प्रकार कोई मनुष्य मदोन्मत्त अथवा पागल होकर किसी घातक शस्त्रसे जो उसके पास शरीर-रक्षाके लिये है, अपने ही शरीरपर आघात पहुँचाने लगे तो उसके शुभचिन्तकोंका यह कर्तव्य होता है कि उसके हितार्थ उसके हाथोंसे वह शस्त्र हरण कर ले। इसी प्रकार यदि कोई हिंसक शरीररूपी शस्त्रसे जो उसको उसकी आत्माके कल्याणार्थ दिया गया है, दूसरोंको तथा अपनी ही आत्माको हिंसारूपी आघात पहुँचा रहा है और अन्य किसी प्रकारसे उसका सुधार असम्भव हो गया है तो अहिंसा तथा उसके सहायक अन्य सब यमोंकी सुव्यवस्था रखनेवाले शासकोंका परम कर्तव्य होता है कि उसके शरीरका उससे वियोग कर दें। यह कार्य अहिंसाव्रतमें बाधक नहीं है वरं अहिंसाव्रतका रक्षक और पोषक है।

पर यदि यह कार्य द्वेषादि तमोगुणी वृत्तियां अथवा बदला लेनेकी भावनासे मिश्रित है तो हिंसाकी सीमामें आ जाता है। अहिंसाके स्वरूपको इस प्रकार विवेकपूर्वक समझना चाहिये कि सत्त्वरूपी धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य (श्रेष्ठ भावनाओं) के प्रकाशमें अहिंसा तथा उसके अन्य सब सहायक यमोंमें; और तमरूपी अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य (नीच भावनाओं) के अन्धकारमें हिंसा तथा उसके

सहायक अन्य चारों वितर्कोंमें प्रवृत्ति होती है। धर्म-स्थापनके लिये युद्ध करना क्षत्रियोंका कर्तव्य है, उससे बचना हिंसारूपी अधर्ममें सहायक होना है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥ (गीता २। ३१)

स्वधर्मको समझकर भी तुझे हिचकिचाना उचित नहीं है; क्योंकि धर्मयुद्धकी अपेक्षा क्षत्रियके लिये और कुछ अधिक श्रेयस्कर नहीं हो सकता।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ (गीता २। ३२)

हे पार्थ! यों अपने-आप प्राप्त हुआ और मानो स्वर्गका द्वार ही खुल गया हो, ऐसा युद्ध तो भाग्यशाली क्षत्रियोंको ही मिलता है। वेदमें भी ऐसा बतलाया गया है। यथाः—

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात्॥
(अथर्व० १८। २। १७, ऋग्वेद १। १५४। ३)

जो संग्रामोंमें लड़नेवाले हैं, जो शूरवीरतासे शरीरको त्यागनेवाले हैं और वे जिन्होंने सहस्र दक्षिणाएँ दी हैं तू उनको (अर्थात् उनकी गतिको) भी प्राप्त हो।

अपनी दुर्बलताके कारण भयभीत होकर अत्याचारियोंके अत्याचार सहन करना, अपनी धनसम्पत्तिको चोर-डाकुओंसे हरण करवाना, अपने समक्ष अपने परिवार, देश, समाज अथवा धर्मको दुर्जनोंद्वारा अपमानित देखना अहिंसा नहीं है, बल्कि हिंसाका पोषक कायरतारूपी महापाप है। इतना बतला देना और आवश्यक है कि क्षात्रधर्मानुसार तेजस्वी वीर ही अहिंसा-व्रतका यथार्थरूपसे पालन कर सकता है। दुर्बल, डरपोक, कायर, नपुंसक हिंसकोंकी हिंसा बढ़ानेमें भागी होता है।

उदाहरणार्थ डाकू संगठन और मृत्युसे निर्भयता—इन दो शक्तियोंको लेकर निकलते हैं। जो पुरुष मृत्युके भयसे अपना धन और सम्पत्ति बिना मुकाबिला किये हुए आसानीसे दे देते हैं, वे उनके दूसरे स्थानोंमें डाका डालने और लूटनेके उत्साह और हिम्मतको बढ़ाकर उनके इस प्रकारकी हिंसामें पापके भागी बनते हैं। जो वीर पुरुष उनसे अधिक मृत्युसे अभयरूप आत्मबल और संगठनरूप दिव्य शक्ति रखते हैं और संगठित होकर निर्भयताके साथ उन डाकुओंका मुकाबिला करते हैं, वे अपने प्राणोंको खोकर भी उन अत्याचारियोंके दूसरे स्थानोंमें डाका डालनेके उत्साह और हिम्मतको कम करते हैं, वे उनकी हिंसाको घटाकर अहिंसारूपी पुण्यके भागी बनते हैं। यदि वे इस संग्राममें सफल होते हैं तो अपने धन और सम्पत्तिके ऐश्वर्यको भोगते हैं और यदि बलिदान होते हैं तो स्वर्गको प्राप्त होते हैं। भारतवर्षके क्षत्रियोंमें यह प्रथा थी कि जब वे अत्याचारी विधर्मी यवनोंके मुकाबिलेमें अपने धर्म और देशको बचानेकी कोई आशा न देखते थे तो उनके छोटे बच्चे और स्त्रियाँ आगकी चितामें भस्म हो जाती थीं और वे वीर क्षत्रिय हाथोंमें तलवारें लेकर एक-एक सैकड़ों अत्याचारियोंको तलवारके घाट उतारकर बलि हो जाते थे। इस प्रकार धर्म और देशरक्षाके परम कर्तव्यको अपने अन्त समयतक पूरा कर जाते थे। पर इस वीरताके साथ-साथ उनमें एक संकीर्णता और स्वार्थका दुर्गुण भी था, जो उन्होंने असंख्य गरीब और नीची

जाति कहलानेवाले अपने भाइयोंको उनके धार्मिक, सामाजिक, नागरिक, राष्ट्रिय और आर्थिक अधिकारोंसे वञ्चित करके उनके अंदरसे मनुष्यत्वके अभिमानके संस्कारतकको निकाल दिया था। यह स्तेयरूप पाप ही उनकी असफलताका कारण हुआ। यदि वे इस स्वार्थमय संकीर्ण दृष्टिका परित्याग करके इन सब असंख्य भाइयोंमें अपनी-जैसी शूरवीरता तथा धर्मप्रेम और देशभक्ति उत्पन्न करनेका यत्न करते तो बहुत सम्भव है कि भारतवर्षका इतिहास आजके इतिहाससे कुछ और ही विचित्र रूपमें लिखने योग्य होता। संसारमें सारे राष्ट्रोंकी स्वतन्त्रताका भी मूल उपाय यही हो सकता है कि पराधीन राष्ट्रके सारे व्यक्ति संगठितरूपमें निर्भय होकर यह दृढ़ संकल्प कर लें कि यदि जीना है तो स्वतन्त्र राष्ट्रके वायुमण्डलमें ही श्वास लेंगे अन्यथा स्वतन्त्रताकी वेदीपर बलि हो जायँगे।

अहिंसा और सत्यके अवतार महात्मा गांधीजीने जब एक गायके बछड़ेकी अत्यन्त रुग्णावस्थामें सारे शरीरमें कीड़े पड़ जाने और उसका कष्ट असहनीय हो जानेपर उसके बचनेकी कोई सम्भावना न देखी, तब उनकी सत्त्वप्रधान बुद्धिने इसीको विवेकपूर्ण अहिंसा निश्चय किया कि उसको उस असहनीय कष्टसे बचानेके लिये किसी ओषधिद्वारा शीघ्र उसके रुग्ण शरीरको पृथक् करानेमें सहायता की जाय। पर यही कार्य यदि कोई चिकित्सक रोगीके चिकित्सासे तंग आकर अथवा उसका कोई सम्बन्धी उसकी सेवा-शुश्रूषासे बचनेके लिये तमरूपी प्रमादसे करे तो वह घोर हिंसामें प्रवृत्त हो जायगा। एक राष्ट्रद्वारा अहिंसा महाव्रतके पालनका सबसे बड़ा उदाहरण सम्राट् अशोकके समयमें मिलता है।

सर्वसाधारणके लिये अहिंसारूप व्रतके पालन करनेमें सबसे सरल कसौटी यह है "Do to others as you want others do to you" अर्थात् दूसरोंके साथ व्यवहार करनेमें पहले यह भली प्रकार जाँच लो कि यदि तुम इनके स्थानपर होते और वे तुम्हारे स्थानपर तो तुम उनसे किस प्रकारका व्यवहार कराना चाहते। बस, वैसा ही तुम उनके साथ व्यवहार करो। यही सिद्धान्त सत्य और अस्तेय आदि यमोंमें भी घट सकता है।

हर समय इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि हमारा जीवन प्राणिमात्रके लिये सुखदायी और कल्याणकारी हो। कोई कार्य ऐसा न होने पाये, जिससे किसीको किसी प्रकारका दुःख पहुँचे।

हिंसाके सम्बन्धमें इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि किसका जीवन कितना मनुष्य-समाजके लिये उपयोगी अथवा हानिकारक है; क्योंकि मनुष्य-जीवनमें ही आत्मोन्नति की जा सकती है। अर्थात् खटमल, जूँ, मच्छर, पिस्सू आदि हिंसक जन्तुओंकी अपेक्षा साधारण कीट, पतंग आदिकी हिंसा अधिक बड़ी है। उनकी अपेक्षा साधारण जानवरोंकी। साधारण जानवरोंकी अपेक्षा उपयोगी पशुओंकी। उपयोगी पशुओंकी अपेक्षा मनुष्योंकी। साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा उन उच्च कोटिके मनुष्योंकी जिनका जीवन पवित्र और उत्कृष्ट है, जिनसे देश, समाज और प्राणिमात्रको अत्यन्त लाभ पहुँच रहा हो।

सत्य—यह अहिंसाका ही रूपान्तर है। सत्यका व्यवहार केवल वाणीसे ही नहीं होता है जैसा कि साधारण मनुष्य समझते हैं। सूत्र २०वें की व्याख्यामें सत्यका वास्तविक स्वरूप दिखलाते हुए हमने बतलाया है कि कर्तव्य ही सत्य है। इसलिये जो मनुष्य प्रत्येक प्राणीके प्रति जिस अवस्था और जिस कालमें वह हो उसके प्रति अपना कर्त्तव्य यथार्थरूपसे समझता है और उसका यथार्थरूपसे पालन करता है, वही सत्यव्रती है। राजा हरिश्चन्द्रने अपने पुत्र रोहिताश्वकी मृत्युका शोक और अपनी स्त्रीको घोर

विपदामें अपने समक्ष खड़ी हुई देखकर उसका मोह छोड़कर अपने स्वामी चाण्डालके प्रति कर्तव्यको समझा और उसका पालन किया। यह उनके सत्यकी अन्तिम परीक्षा थी, जिसने उनका नाम सदाके लिये अमर कर दिया। यह प्रत्येक मनुष्य अपने कर्तव्यरूपी सत्य-व्रतको पालन करने लगे तो संसारकी अशान्ति स्वतः ही दूर हो सकती है।

कई अविवेकी पुरुष दूसरोंके हृदयको पीड़ा पहुँचानेवाले वचन कहनेमें अपने सत्यवादी होनेका घमण्ड करते हैं। इस सम्बन्धमें हम केवल एक ऐतिहासिक घटनाका वर्णन कर देना पर्याप्त समझते हैं।

युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञ-समाप्तिपर मयदानव चित्रकारद्वारा स्फटिककी बनायी हुई युधिष्ठिरकी आश्चर्यजनक सभामें जलको थल, थलको जल, दीवारको दरवाजा, दरवाजेको दीवार इत्यादि समझते हुए दुर्योधनको स्थान-स्थानपर ठोकर खाते हुए देखकर पाण्डवों और द्रौपदीका उसका उपहास करना तथा परिहाससे यह शब्द कहना कि 'हे महाराज धृतराष्ट्र (अन्धे) के पुत्र ! देखो द्वार इधर है।' जिनमें इन छिपे हुए अर्थोंसे उसके दिलको चोट पहुँचानेकी भावना थी कि 'अन्धोंके अन्धे ही पुत्र होते हैं' (महाभारत, सभापर्व अ० ३० श्लोक ३४) हिंसारूपी असत्य था, जिसका फल महाभारतका युद्ध और उससे भारतका सर्वथा पतन हुआ।

इसी प्रकार महाभारतमें कर्णपर्वकी एक घटना है। एक समय कर्णसे परास्त होनेके पश्चात् युधिष्ठिरने अर्जुनको कर्ण-वधके निमित्त उसके गाण्डीव धनुषको धिक्कारकर उत्तेजित किया कि 'हे अर्जुन ! तेरे गाण्डीव धनुष, बाहु-वीर्य, केसरी-सुत हनुमान्से अङ्कित ध्वजा और अग्निदत्त रथको बार-बार धिक्कार है। तुम अपने गाण्डीव धनुषको जो तुमसे बलवान् होनेका दावा करे, उस मित्र राजाको सौंप दो।' अर्जुनने यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि जो उसको धिक्कारकर यह कहेगा कि तुम अपने गाण्डीव धनुषको किसी दूसरेको दे दो, क्योंकि वह तुमसे बलवान् है, उसको वह मार डालेगा। इसलिये उसने अपनी प्रतिज्ञाका पालन करते हुए युधिष्ठिरका वध करनेके लिये अपनी तलवार खींच ली। उस समय श्रीकृष्णने अर्जुनको सत्यका स्वरूप इस प्रकार बतलाया कि 'हे अर्जुन ! अज्ञानी केवल शब्दके स्थूलरूपको देखते हैं पर ज्ञानी उसके सूक्ष्म स्वरूप अर्थको देखते हैं और उसके ही अनुसार व्यवहार करते हैं। तेरी प्रतिज्ञा केवल गाण्डीव धनुषको धिक्कारनेवालेका वध करनेकी थी और धिक्कारना अपमानके लिये द्वेषभावसे होता है। पर युधिष्ठिरने गाण्डीव धनुषकी प्रशंसा और मान बढ़ानेके लिये प्रेमभावसे तुझे उत्तेजित करके कर्णका वध करनेके लिये ये शब्द कहे हैं। इसलिये युधिष्ठिरके शब्दोंके यह अर्थ नहीं लिये जा सकते; और उसका मारना असत्य है। फिर भी यदि तू अज्ञानियोंके सदृश रूढ़िवादमें ही पड़ना चाहता है तो मारना केवल शस्त्रसे और स्थूल शरीरका ही नहीं होता। युधिष्ठिर ज्ञानी है, शरीर उसके लिये कपड़ेके तुल्य है, उसके शरीरका पृथक् होना उसके लिये मृत्यु नहीं है। वाणीकी चोट शस्त्रसे अधिक तीक्ष्ण होती है, वही उसके लिये मृत्युके सदृश है, उसीसे उसको मार।'

राष्ट्रकी सब परिस्थितियोंको ध्यानमें रखते हुए योगीश्वर कृष्ण भगवान् सत्यभाषणकी व्यवस्थाका उपदेश अर्जुनको महाभारत, कर्णपर्व अध्याय ६९ में इस प्रकार करते हैं—

नहि धर्मविभागज्ञः कुर्यादेवं धनंजय। यथा त्वं पाण्डवाद्येह धर्मभीरुरपण्डितः ॥१७॥

हे पाण्डुपुत्र धनंजय ! धर्मके विभागको जाननेवाला ऐसा नहीं किया करता जैसा कि तुम

आज यहाँ धर्मभीरु और अज्ञानी हो रहे हो ।

अकार्याणां क्रियाणां च संयोगं यः करोति वै। कार्याणामक्रियाणां च स पार्थ पुरुषाधमः ॥१८॥

जो अकार्यों (न करने योग्य कामों) का क्रियाके साथ संयोग करता है (अमलमें लाता है) और कार्यों (करने योग्य कामों) का अक्रियासे संयोग करता है (अनुष्ठान नहीं करता), हे पार्थ ! वह अधम पुरुष है ।

अनुसृत्य तु ये धर्मं कथयेयुरुपस्थिताः । समासविस्तरविदां न तेषां वेत्सि निश्चयम् ॥१९॥

जो धर्मानुष्ठान करनेवाले (आमिल लोग) दृढ़तासे (निश्चयपूर्वक) धर्मका निरूपण करते हैं, उन संक्षेप और विस्तारसे जाननेवालोंके निश्चयको तुम नहीं जानते ।

अनिश्चयज्ञो हि नरः कार्याकार्यविनिश्चये । अवशो मुह्यते पार्थ यथा त्वं मूढ एव तु । २०॥

कर्तव्याकर्तव्यके निश्चयसे हीन मूढ़ मनुष्य, हे पार्थ ! तुम्हारी तरह अवश्य ही भूल करता है ।

न हि कार्यमकार्यं वा सुखं ज्ञातुं कथंचन । श्रुतेन ज्ञायते सर्वं तच्च त्वं नावबुध्यसे ॥२१॥

कर्तव्य और अकर्तव्य किसी प्रकार भी सुखपूर्वक (आसानीसे) नहीं जाना जाता, यह सब कुछ तो वेद और शास्त्रोंके श्रवणसे जाना जाता है, तुम इस बातको नहीं जानते ।

अविज्ञानाद् भवान्यच्च धर्मं रक्षति धर्मवित्। प्राणिनां त्वं वधं पार्थ! धार्मिको नावबुध्यसे ॥२२॥

हे धर्मवित् कौन्तेय ! तुम धर्मके तत्त्वको बिना जाने धर्मकी रक्षा करना चाहते हो । धार्मिक वृत्ति-वाले भी तुम, प्राणियोंका वध कब करना चाहिये, यह नहीं जानते ।

प्राणिनामवधस्तात सर्वज्यायान् मतो मम । अनृतां वा वदेद्वाचं न तु हिंस्यात् कथंचन ॥२३॥

हे तात ! प्राणियोंका न मारना ही सबसे श्रेष्ठ है, मेरा यह मत है (निश्चय है) । चाहे झूठ बोल दे परंतु हिंसा कभी न करे ।

स कथं भ्रातरं ज्येष्ठं राजानं धर्मकोविदम् । हन्याद् भवान्नरश्रेष्ठ प्राकृतोऽन्यः पुमानिव ॥२४॥

नरश्रेष्ठ ! सो तुम दूसरे अज्ञानी मनुष्यकी तरह, धर्म तत्त्वके ज्ञाता राजा और बड़े भाईको किस प्रकार मारते हो ।

अयुध्यमानस्य वधस्तथाऽशत्रोश्च मानद । पराङ्मुखस्य द्रवतः शरणं चापि गच्छतः ॥२५॥
कृताञ्जलेः प्रपन्नस्य प्रमत्तस्य तथैव च । न वधः पूज्यते सद्भिस्तच्च सर्वं गुरौ तव ॥२६।

जो युद्ध नहीं कर रहा है, जो शत्रु नहीं है, हे मानद ! जो पीठ दे चुका है—जो युद्धसे भाग रहा है, जो शरणमें आ रहा है, जो हाथ जोड़े सामने आया है (आपद्ग्रस्त है) और जिसकी बुद्धि ठिकाने नहीं है, भले आदमी इनके वधको अच्छा नहीं कहते; और यह सब कुछ तुम्हारे पूज्य (युधिष्ठिर) में विद्यमान है।

त्वया चैवं व्रतं पार्थ बालेनेव कृतं पुरा । तस्मादधर्मसंयुक्तं मौर्ख्यात्कर्म व्यवस्यसि ॥२७॥

हे पार्थ ! तुमने पहले जो यह प्रतिज्ञा की है, वह तो बच्चोंकी-सी है । उसीसे अपनी मूर्खताके कारण अधर्मयुक्त कार्य करनेका निश्चय कर रहे हो ।

स गुरुं पार्थ कस्मात्त्वं हन्तुकामोऽभिधावसि। असम्प्रधार्य धर्माणां गतिं सूक्ष्मां दुरत्ययाम् ॥२८॥

धर्मोंकी सूक्ष्म और दुरत्यय गतिका निर्णय न करके, हे पार्थ ! तुम अपने बड़े भाईको क्यों मारने दौड़ते हो ?

सत्यस्य वदिता साधुर्न सत्याद्विद्यते परम् । तत्त्वेनैव सुदुर्ज्ञेयं पश्य सत्यमनुष्ठितम् ।।३१।।
भवेत्सत्यमवक्तव्यं वक्तव्यमनृतं भवेत् । यत्रानृतं भवेत् सत्यं सत्यं चाप्यनृतं भवेत् ।।३२।।

सत्यका वक्ता साधु है, सत्यसे उत्तम कुछ नहीं है। (तुम) देखो, व्यावहारिक सत्य तत्त्वसे ही दुर्विज्ञेय है। जहाँ झूठ सत्य हो जाय और सत्य झूठ हो जाय, वहाँ सत्य बोलना अकर्तव्य हो जाता है और अनृत कर्तव्य हो जाता है।

सर्वस्वस्यापहारे तु वक्तव्यमनृतं भवेत् । तत्रानृतं भवेत्सत्यं सत्यं चाप्यनृतं भवेत् ।।
तादृशं पश्यते बालो यस्य सत्यमनुष्ठितम् ।।३४।।
भवेत्सत्यमवक्तव्यं न वक्तव्यमनुष्ठितम् । सत्यानृते विनिश्चित्य ततो भवति धर्मवित् ।।३५।।

(दुराचारी हिंसकद्वारा) सर्वस्व-हरण उपस्थित होनेपर झूठ ही बोलना योग्य होता है (झूठ बोलना कर्तव्य बन जाता है)। वहाँपर झूठ सत्य और सत्य झूठ हो जाता है। जो सत्यका अनुष्ठान करना चाहता है, ऐसे बालकको सत्यका यही तत्त्व समझना चाहिये। यदि कहींपर सत्य बातका न कहना ही ठीक हो तो वहाँपर किये हुए सत्यको नहीं ही कहना चाहिये। इस प्रकार झूठ और सत्यके तत्त्वको निश्चय करके मनुष्य धर्मवित् होता है। यथा चाल्पश्रुतो मूढो धर्माणामविभागवित् ।

वृद्धानपृष्ट्वा संदेहं महच्छ्वभ्रमिवार्हति ।
तत्र ते लक्षणोद्देशः कश्चिदेवं भविष्यति ।।५४।।
दुष्करं परमं ज्ञानं तर्केणानुव्यवस्यति ।

जो मनुष्य ज्ञानवृद्ध पुरुषोंसे पूछकर संदेहका निराकरण नहीं कर लेता है, वह अज्ञानके बड़े भारी गड्ढेमें ही पड़ा रहता है। इसलिये यहाँ कुछ धर्मके लक्षण और उद्देश्यको मैं तुझे कहता हूँ। धर्मका ज्ञान बड़ा दुष्कर है, तर्कसे ही उसका निश्चय हो सकता है।

श्रुतेर्धर्म इति ह्येके वदन्ति बहवो जनाः । तत्ते न प्रत्यसूयामि न च सर्वं विधीयते ।।५५।।

बहुत-से लोग ऐसा कहते हैं कि श्रुतिसे धर्मका ज्ञान होता है। तेरे सामने मैं इसका खण्डन नहीं करता। किंतु श्रुतिसे सभी कुछ नहीं निश्चय हो सकता। (देश, काल और परिस्थितिके अनुसार कहीं तर्कका भी आश्रय लेना पड़ता है।)

प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यत्स्यादहिंसासंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ।।
अहिंसार्थाय हिंस्राणां धर्मप्रवचनं कृतम् ।।५७।।

प्राणियोंकी रक्षाके लिये धर्मका प्रवचन किया गया है। जो अहिंसासे युक्त है वही धर्म है, यह तू निश्चय समझ। धर्मका प्रवचन तो हिंसकोंकी भी अहिंसाके लिये किया गया है।

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः । यत्स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ।।५८।।

धर्म प्रजाको धारण करता है (व्यवस्थामें रखता है), धारण करनेसे ही उसे धर्म कहते हैं। जो धारण (कर्म) संयुक्त है (प्रजाको व्यवस्थित रखता है), वह धर्म है, यह (शास्त्रोंका) निश्चय है।

ये न्यायेन जिहीर्षन्तो धर्ममिच्छन्ति कर्हिचित्। अकूजनेन मोक्षं वा नानुकूजेत् कथंचन ॥५९॥
अवश्यं कूजितव्ये वा शङ्केरन्नप्यकूजितः। श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं तत्सत्यमविचारितम्॥६०॥

जो न्यायानुकूल आचरणको ही धर्मका लक्षण मानते हैं, उनका मत है कि यदि कहीं न बोलनेसे (चुप रहनेसे) ही छुटकारा होता हो तो वहाँ कभी न बोले (चुप रहे)। यदि बोलना आवश्यक ही हो जाय या न बोलनेसे शक पैदा होता हो तो वहाँ झूठ बोलनेमें ही श्रेय है; वह बिना विचारे (निःसंदेह) सत्य ही कहलाता है।

यः कार्येभ्यो व्रतं कृत्वा तस्य नानुपपादयेत्। न तत्फलमवाप्नोति एवमाहुर्मनीषिणः ॥६१॥

जो किसी कामकी प्रतिज्ञा करके उसको अनेक प्रकारसे (विधिमें हेर-फेर करके) करता है, मननशील कहते हैं कि वह उसके फलको नहीं पाता।

प्राणात्यये विवाहे वा सर्वज्ञातिवधात्यये। नर्मण्यभिप्रवृत्ते वा न च प्रोक्तं मृषा भवेत् ॥६२॥

प्राणोंपर संकट आनेपर, विवाह-कालमें, सर्वज्ञातिका अत्यन्त वध उपस्थित होनेपर या हँसी-मजाकके समय कहा हुआ झूठ झूठ नहीं माना जाता।

अधर्मं नात्र पश्यन्ति धर्मतत्त्वार्थदर्शिनः। यस्स्तेनैः सह सम्बधान्मुच्यते शपथैरपि ॥६३॥

यदि चोरोंके साथ पाला पड़नेपर (झूठ) शपथें ले-लेकर भी अपनेको उनके हाथसे छुड़ा ले तो धर्मके तत्त्वको जाननेवाले इसको अधर्म नहीं कहते।

श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं तत्सत्यमविचारितम्। न च तेभ्यो धनं देयं शक्ये सति कथंचन ॥६४॥

चोर आदिसे सम्बन्ध पड़नेपर झूठ बोलना अच्छा है, वह बिना विचारे सत्य ही है। सामर्थ्य होते उनको किसी प्रकार भी धन नहीं देना चाहिये।

पापेभ्यो हि धनं दत्तं दातारमपि पीडयेत्। तस्माद् धर्मार्थमनृतमुक्त्वा नानृतभाग् भवेत् ॥६५॥

पापियोंको दिया हुआ धन दाताको भी दुःख देता है। इस कारण धर्मके लिये झूठ बोलकर भी मनुष्य झूठा नहीं होता।

एष ते लक्षणोद्देशो मयोद्दिष्टो यथाविधि।
यथाधर्मं यथाबुद्धिर्मयाद्य वै हितार्थिना ॥ ६६ ॥
एतच्छ्रुत्वा ब्रूहि पार्थ यदि वध्यो युधिष्ठिरः ॥

पार्थ! मैं तुम्हारा हितैषी हूँ, आज मैंने यह धर्मका लक्षण और उद्देश्य बुद्धिपूर्वक विधिसहित धर्मानुसार कह दिया। इसको सुनकर यदि युधिष्ठिर वधके योग्य है तो तुम ही कह दो (अर्थात् वधके योग्य नहीं है)।

राजा श्रान्तो विक्षतो दुःखितश्च कर्णेन संख्ये निशितैर्बाणसंघैः।
यश्चानिशं सूतपुत्रेण वीर शरैर्भृशं ताडितो युध्यमानः ॥ ७६ ॥
अतस्त्वमेतेन सरोषमुक्तो दुःखान्वितेनेदमयुक्तरूपम्।
अकोपितो ह्येष यदि स्म संख्ये कर्णं न हन्यादिति चाब्रवीत् सः ॥ ७७ ॥

राजा युधिष्ठिर युद्धमें कर्णके तेज बाणसमूहसे घायल हुआ, दुखी और थक गया था; और हे वीर! युद्ध करते हुए उसपर सूतपुत्र निरन्तर खूब बाण चला रहा था, अतः दुःखसे युक्त उस युधिष्ठिरने

रोषमें आकर यह अयुक्तरूप वचन तुमको कहा है। उसने इसलिये ऐसा कहा है कि यदि अर्जुन कुपित न होगा तो युद्धमें कर्णको नहीं मार सकेगा। (युधिष्ठिरके कथनका अभिप्राय तुम्हारा या गाण्डीवका अपमान करना नहीं है, अपितु तुमको जोश दिलाकर कर्णका वध कराना है।)

जानाति तं पाण्डव एष चापि पापं लोके कर्णमसह्यमन्यैः।
ततस्त्वमुक्तो भृशरोषितेन राज्ञा समक्षं परुषाणि पार्थ ॥ ७८ ॥

हे पाण्डव! राजा युधिष्ठिर यह भी समझते हैं कि यह पापी कर्ण लोकमें अन्य वीरोंसे असह्य है। हे पार्थ! इसीलिये क्रोधातुर धर्मराजने तुम्हारे सम्मुख ही तुमको यह कठोर वचन कहे हैं।

नित्योद्युक्ते सततं चाप्रसह्य कर्णे द्यूतं ह्यद्य रणे निबद्धम्।
तस्मिन् हते कुरवो निर्जिताः स्युरेवं बुद्धिः पार्थिवे धर्मपुत्रे ॥ ७९ ॥

नित्य उद्यत और अत्यन्त असह्य कर्णके भरोसेपर ही आज युद्धमें बाजी लगी है। इसके मरनेपर कौरव हार जायँगे; महाराज धर्मपुत्रका यह अभिप्राय है।

ततो वधं नार्हति धर्मपुत्रस्त्वया प्रतिज्ञार्जुन पालनीया।
जीवन्नयं येन मृतो भवेद्धि तन्मे निबोधेह तवानुरूपम् ॥ ८० ॥

अतः धर्मपुत्र वधके योग्य नहीं है। हे अर्जुन! तुमको प्रतिज्ञा पालन करनी चाहिये। जिस बातसे यह जीते ही मृतवत् हो जाय, वह (उपाय) तुम्हारे अनुरूप है, यहाँ मुझसे समझ लो।

यदा मानं लभते माननार्हस्तदा स वै जीवति जीवलोके।
यदावमानं लभते महान्तं तदा जीवन्मृत इत्युच्यते सः ॥ ८१ ॥

जबतक माननीय पुरुष मान पाता रहता है, तबतक ही वह संसारमें जीता है और जब वह महान् अपमानको प्राप्त होता है, तब वह जीते-जी मरा कहा जाता है।

सम्मानितः पार्थिवोऽयं सदैव त्वया च भीमेन तथा यमाभ्याम्।
वृद्धैश्च लोके पुरुषैश्च शूरैस्तस्यापमानं कलया प्रयुङ्क्ष्व ॥ ८२ ॥

यह राजा युधिष्ठिर सदा ही तुमसे, भीम, सहदेव और नकुलसे तथा अन्य वृद्ध और शूरवीर पुरुषोंसे लोकमें सम्मानित रहा है। तुम इसका कुछ थोड़ा-सा अपमान कर दो।

त्वमित्यत्र भवन्तं हि ब्रूहि पार्थ युधिष्ठिरम्। त्वमित्युक्तो हि निहतो गुरुर्भवति भारत ॥ ८३ ॥

हे पार्थ! तुम युधिष्ठिरको 'आप'के स्थानमें 'तू' कहकर बुला लो। जो पूज्य होता है वह 'तू' कहकर बुलानेसे ही मृतके तुल्य हो जाता है।

एवमाचर कौन्तेय धर्मराजे युधिष्ठिरे। अधर्मयुक्तं संयोगं कुरुष्वैनं कुरूद्वह ॥ ८४ ॥

हे कौन्तेय! तुम यही व्यवहार धर्मराज युधिष्ठिरके साथ करो। हे कुरूद्वह! इनके साथ यह अधर्मसंयुक्त व्यवहार ही करो (इनके अपमानके लिये तुम्हारा इतना व्यवहार ही पर्याप्त है)।

अथर्वाङ्गिरसी ह्येषा श्रुतीनामुत्तमा श्रुतिः। अविचार्यैव कार्यैषा श्रेयस्कामैर्नरैः सदा ॥ ८५ ॥

यह अथर्वाङ्गिरसी श्रुति सारी श्रुतियोंमें उत्तम है। आत्म-कल्याणके इच्छुक मनुष्योंको यह बिना विचारे ही करनी चाहिये।

अवधेन वधः प्रोक्तो यद् गुरुं त्वमिति प्रभुः। तद् ब्रूहि त्वं यन्मयोक्तं धर्मराजस्य धर्मवित् ॥ ८६ ॥

प्रभुको जो कि 'तू' कहना है, यह उसका बिना वधके ही वध है। हे धर्मज्ञ! जो मैंने कहा है, वही तू धर्मराजको कह दे।

वधं ह्येयं पाण्डव धर्मराजस्त्वत्तोऽयुक्तं वेत्स्यते नैवमेव।
ततोऽस्य पादावभिवाद्य पश्चात् समं ब्रूयाः सान्त्वयित्वा च पार्थम्॥ ८७॥

हे पाण्डव! यह धर्मराज इस प्रकार 'तू' कहे हुएको अनुचित समझ ले तब तुम सब इनके चरणोंमें अभिवादन करके पृथापुत्र युधिष्ठिरको सान्त्वनाके वचन कहना (सान्त्वना देना)।

भ्राता प्राज्ञस्तव कोपं न जातु कुर्याद् राजा धर्ममवेक्ष्य चापि।
मुक्तोऽनृताद् भ्रातृवधाच्च पार्थ हृष्टः कर्णं त्वं जहि सूतपुत्रम्॥ ८८॥

बुद्धिमान् भाई धर्मको देखते हुए तुम्हारे ऊपर कोप कभी नहीं करेंगे। हे पार्थ! तुम झूठ और भ्रातृवधसे रहित होकर प्रसन्नतापूर्वक सूतपुत्र कर्णको मार लेना।

शास्त्रके अनुसार निरपराधी जीवोंकी हिंसाको रोकना सबसे बड़ा सत्य है। कल्पना करो कि कुछ लोग डाकुओंसे पीछा किये जानेपर तुम्हारे समक्ष किसी गुप्त स्थानमें छिप जायँ और उनके पश्चात् डाकू आकर तुमसे पूछें कि वे आदमी कहाँ गये हैं? इस अवसरपर तुम्हारा क्या कर्तव्य होगा। ऐसी अवस्थामें प्रत्येक मनुष्यका अपने-अपने सामर्थ्यानुसार हिंसकोंकी हिंसा हटाना और निरपराधीकी सहायता करना परम कर्तव्य होगा अर्थात् अहिंसाप्रतिष्ठित योगी अपने आत्मबलसे हिंसकोंकी हिंसावृत्तिका दमन करें। यथा 'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।'

सम्मोहन और संकल्पशक्तिसे युक्त मनोविज्ञानी मानसिक प्रेरणासे हिंसकोंकी हिंसा-वृत्तिको हटायें। वाक्-शक्तिमें निपुण वक्तागण हिंसकोंको इस पापसे बचनेका उपदेश दें। शस्त्रविद्यामें कुशल योद्धागण अपने शारीरिक बलसे हिंसकोंकी हिंसा हटानेका यत्न करें।

यदि तुममें उपर्युक्त कोई भी सामर्थ्य नहीं है और अपनी मृत्युसे भी डरते हो तो ऐसी परिस्थितिमें मनु महाराज, योगीश्वर भगवान् कृष्ण और नीतिशास्त्र इस प्रकार व्यवस्था देते हैं:—

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्॥ (मनु० २। १२०)

जबतक (हिंसक) कोई प्रश्न न करे, तबतक कुछ नहीं बोलना चाहिये और यदि हिंसक अन्यायसे पूछे तो भी उत्तर नहीं देना चाहिये या जानते हुए भी पागलके समान कुछ हाँ, हूँ कर देना चाहिये।

अवश्यं कूजितव्ये वा शङ्केरन्वाप्यकूजितः।
श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं तत्सत्यमविचारितम्॥ (महाभारत, कर्णपर्व)

और यदि बोलना आवश्यक ही हो जाय या न बोलनेसे शङ्का उत्पन्न हो तो वहाँ झूठ बोलनेमें ही श्रेय है। वह बिना विचारे (निःसंदेह) सत्य ही है। तथा—

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद्भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यं मतं मम॥ (महाभारत, शान्तिपर्व)

सत्य बोलना अच्छा है, परंतु सत्यमें भी ऐसा बोलना अच्छा है, जिससे सब प्राणियोंका (वास्तविक) हित हो; क्योंकि जिससे सब प्राणियोंका अत्यन्त (वास्तविक) हित होता है; वह हमारे मतमें सत्य है।

यहाँ इस बातको भली प्रकार समझना चाहिये कि अहिंसा (अपने वास्तविक स्वरूपमें) तीनों कालमें सत्य है। अतः अहिंसाके लिये नियमित सीमातक जो कुछ भी किया जाय और कहा जाय वह करना और कहना सत्यरूप ही है; क्योंकि जिस समय जिसके लिये जैसा करना चाहिये या कहना चाहिये वही—कर्तव्य ही सत्य है। इसी बातको यहाँ शास्त्रकारोंने दर्शाया है, किंतु इसको सांसारिक लाभ तथा संकट और आपत्तिके अवसरपर असत्यभाषणमें समर्थक समझनेकी भूल कदापि न होनी चाहिये, क्योंकि ऐसे ही अवसरोंपर सत्यकी परीक्षा होती है। सत्यकी महिमा इस प्रकार बतलायी गयी है:—

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥

हजार अश्वमेध और सत्यकी तुलना की जाय तो सत्य ही अधिक रहेगा। तथा च—

आत्महेतोः परार्थे वा नर्महास्याश्रयात्तथा।
ये मृषा न वदन्तीह ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो लोग इस जगत्में स्वार्थके लिये, परार्थके लिये या हँसीमें भी कभी झूठ नहीं बोलते, उन्हींको स्वर्गकी प्राप्ति होती है। इसीके स्पष्टीकरणके लिये महाभारतमें बतलाया गया है कि धर्मावतार युधिष्ठिर महाराजने संकटके समयमें एक ही बार 'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा' 'अश्वत्थामा मारा गया मनुष्य अथवा हाथी' कहा था, जिसके फलस्वरूप उनका पृथ्वीसे चार अंगुल ऊपर चलनेवाला रथ साधारण रथोंके समान भूमिपर चलने लगा। और अन्तमें उनको कुछ समयके लिये नरकमें भी रहना पड़ा। अर्जुनको शिखण्डीको सामने खड़ा करके भीष्मपितामहका तीरोंद्वारा वध करनेके फलस्वरूप अपने पुत्र बभ्रुवाहनसे पराजित होना पड़ा।

सत्यके सम्बन्धमें हर समय इन बातोंका ध्यान रखना चाहिये—आवश्यकतानुसार बोले, अनावश्यक बातें न करे। असत्य, कटु अथवा दूसरेको जिससे दुःख पहुँचे ऐसे शब्द न बोले। परस्पर द्वेष बढ़े ऐसी बातें न करे। चुगली न करे। किसीको ऐसा वचन न दे जिसको पूरा न कर सकता हो। जिसको जो वचन दिया हो उसको पूरा करना चाहिये। समयका पूरा ध्यान रखना चाहिये। दूसरोंसे सम्बन्धित सारे कार्य ठीक समयपर हों।

अस्तेय—अस्तेय सत्यका ही रूपान्तर है। केवल छिपकर किसीकी वस्तु अथवा धनका हरण करना ही स्तेय नहीं है जैसा कि साधारण मनुष्य समझते हैं। भूखसे तंग आकर उदर-पूर्तिके लिये चोरी करनेवाला निर्धन स्तेय पापका इतना अधिक अपराधी नहीं है जितने कि निम्नश्रेणीवाले सम्पत्तिशील।

(१) संकीर्ण हृदय, सवर्ण, ऊँची जाति कहलानेवाले, समृद्धिशाली, अपनेको धर्मका ठेकेदार समझनेवाले, जो नीची जाति कहलानेवाले निर्धनोंके धार्मिक, सामाजिक, नागरिक अधिकारोंका हरण करते हैं (धार्मिक अधिकारोंका हरण करना सबसे बड़ा स्तेय और महापाप है; क्योंकि ईश्वरीय ज्ञानकी प्राप्ति और आत्मोन्नति करना मनुष्यमात्रका न केवल जन्मसिद्ध अधिकार ही है, प्रत्युत मनुष्य-देहका यही एक मुख्य उद्देश्य भी है।)

(२) अत्याचारी राजा, जो प्रजाके राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा नागरिक अधिकार हरण करता है।

(३) लोभी जमींदार, जो गरीब किसानोंसे अत्याचारद्वारा धन प्राप्त करते हैं।

(४) फैक्ट्रियोंके लोभी मालिक, जो मजदूरोंको पेटभर अन्न न देकर सब नफा अपने पास रखते हैं ।

(५) लोभी साहूकार, जो दूना सूद लेते हैं और गरीबोंकी जायदादको अपने अधिकारमें लानेकी चिन्तामें रहते हैं ।

(६) धोखेबाज व्यापारी, जो वस्तुओंमें मिलावट करके धोखा देकर अधिक लाभ कमाना चाहते हैं ।

(७) रिश्वतखोर न्यायाधीश तथा अन्य अधिकारीगण, जो वेतन पाते हुए भी कर्तव्यपालनमें प्रमाद करते और रिश्वत लेते हैं ।

(८) लोभी वकील, जो केवल फीसके लोभसे झूठे मुकद्दमे लड़वाते हैं ।

(९) लोभी वैद्य, जो रोगीका ध्यान न रखकर केवल फीसका लोभ रखते हैं ।

(१०) वे सारे मनुष्य, जो अन्यायपूर्वक किसी भी अनुचित रीतिसे धन, वस्तु अथवा किसी भी अन्य लाभको प्राप्त करना चाहते हैं ।

इस समय सारे राष्ट्रोंमें जो बड़े आन्दोलन चल रहे हैं, वे अस्तेय-व्रतके यथार्थरूपसे पालन करनेसे शान्त हो सकते हैं ।

ब्रह्मचर्य—शारीरिक, मानसिक, सामाजिक आदि सारी शक्तियाँ ब्रह्मचर्यपर निर्भर हैं । एक स्वस्थ शरीरके सदृश ब्रह्मचर्यका पालन करता हुआ सारा मनुष्यसमाज सुख और शान्तिको प्राप्त होता है । २५ वर्षतक अखण्ड ब्रह्मचारी रहनेके पश्चात् गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके शास्त्रानुसार केवल संतानोत्पत्तिके लिये ऋतुसमयपर स्त्रीसंयोग करनेसे ब्रह्मचर्यव्रत नहीं टूटता है, अर्थात् गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी ब्रह्मचर्यव्रतका पालन हो सकता है ।

ऋतुकाले स्वदारेषु संगतिर्या विधानतः ।
ब्रह्मचर्यं तदेवोक्तं गृहस्थाश्रमवासिनाम् ॥ (श्रीयाज्ञवल्क्य)

अर्थात् ऋतुकालमें अपनी धर्मपत्नीसे विधियुक्त अर्थात् शास्त्रानुसार केवल सन्तान-उत्पत्तिके लिये समागम करनेवाला पुरुष गृहस्थ-आश्रममें रहते हुए भी ब्रह्मचारी ही है ।

प्राचीन पाश्चात्त्य देशोंमें ब्रह्मचर्यव्रतका पूर्ण राष्ट्रद्वारा पालन किये जानेका उदाहरण यूनानके स्पार्टा देशमें मिलता है, जिसके फलस्वरूप थर्मापलिके युद्धमें ईरानी आक्रमणकारी सम्राट् ज़ैरक्सीज़ Xerxes (ईरानी नाम कैखुसरो) के तीन लाख सैनिकोंको केवल तीन सौ स्पार्टाके वीर ब्रह्मचारियोंने अपना बलिदान देकर आगे बढ़नेसे रोककर सारे यूनानकी स्वतन्त्रताको स्थिर रखा था ।

अपरिग्रह—इस व्रतका यथार्थरूपसे पालन न होनेके कारण ही धन-सम्पत्ति आदिका ठीक-ठीक विभाग नहीं है । किसीके पास सैकड़ों मकान खाली पड़े हुए हैं, किसीके पास रातमें सोनेके लिये एक छोटी-सी झोंपड़ी भी नहीं है । किसीके पास खत्तियों अनाज भरा हुआ है, कोई भूखा मर रहा है । इत्यादि-इत्यादि ।

थोड़े-से व्यक्तियोंका अपनी आवश्यकताओंसे अधिक सम्पत्ति तथा सामग्री रखकर उसको अपने तथा दूसरोंके निमित्त यमोंका पूरा ध्यान रखते हुए अनावश्यक रूपसे व्यय करनेमें भी समाजकी इतनी हानि नहीं है जितनी कि hoarding and locking up कंजूसीसे संग्रह करने और उसको बिना काममें लाये बंद रखनेसे होती है, क्योंकि धन-सम्पत्ति आदि सामग्री जब व्यय अर्थात् काममें लायी जाती है, तब उसका अंश किसी-न-किसी रूपसे सारे समाजमें बँट जाता है ।

यदि हर एक मनुष्यके पास केवल उसीकी आवश्यकताओंके अनुसार ही सारी वस्तुएँ रहें तो कोई मनुष्य निर्धन, भूखा और बेघर न रहेगा। इस समय अपरिग्रहव्रतके कुछ अंशमें पालन करनेवाले रूस देश U. S. S. R. का उदाहरण हमारे समक्ष है। यद्यपि वह भी अपरिग्रहका यथार्थ स्वरूप नहीं है और अनेक दोषों, त्रुटियों तथा नास्तिकतासे युक्त है।

सङ्गति—सर्वसमाजसे सम्बन्ध रखनेवाले धर्मरूप यमोंका वर्णन करके अब वैयक्तिक धर्मरूपी नियमोंको बतलाते हैं—

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय (और) ईश्वरप्रणिधान नियम हैं।

व्याख्या—शौच दो प्रकारका है—बाह्य और आभ्यन्तर।

बाह्य—मृत्तिका, जल आदिसे पात्र, वस्त्र, स्थान आदिको पवित्र रखना तथा मृत्तिका, जल आदिसे शरीरके अङ्गोंको शुद्ध रखना, शुद्ध सात्त्विक नियमित आहारसे शरीरको सात्त्विक, नीरोग और स्वस्थ रखना। वस्ती, धौती, नेती आदि तथा ओषधिसे शरीरशोधन करना—ये बाह्य शौच हैं।

आभ्यन्तर—ईर्ष्या, अभिमान, घृणा, असूया आदि मलोंको मैत्री (१। ३१) आदिसे दूर करना, बुरे विचारोंको शुद्ध विचारोंसे हटाना, दुर्व्यवहारको शुद्ध व्यवहारसे हटाना मानसिक शौच है। अविद्या आदि क्लेशोंके मलोंको विवेक-ज्ञानद्वारा दूर करना चित्तका शौच है।

संतोष—सामर्थ्यानुसार उचित प्रयत्नके पश्चात् जो फल मिले अथवा जिस अवस्थामें रहना हो, उसमें प्रसन्नचित्त बने रहना और सब प्रकारकी तृष्णाका छोड़ देना संतोष है।

संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्। संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥
(मनु० ४। १२)

सुखका अर्थी परम संतोषका सहारा लेकर अपने-आपको संयममें रक्खे, क्योंकि संतोष सुखकी जड़ है और इसका उल्टा (असंतोष) दुःखकी जड़ है।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि सत्त्वके प्रकाशमें चित्तकी प्रसन्नताका नाम संतोष है न कि तमके अन्धकारमें चित्तका आलस्य तथा प्रमादरूपी आवरण, जिसको सांख्यमें तुष्टि कहा है।

आध्यात्मिकाश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः।
बाह्या विषयोपरमात् पञ्च नव तुष्टयो अभिमताः ॥ (सांख्यकारिका ५०)

तुष्टियाँ (मोक्षप्राप्तिसे पहिले ही संतुष्ट हो जाना) नौ मानी गयी हैं, चार आध्यात्मिक हैं जिनके नाम प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य हैं; और पाँच बाह्य हैं, जो विषयोंमें उपरामतासे होती हैं।

चार आध्यात्मिक तुष्टियाँ—१. इस भरोसेपर कि प्रकृति स्वयं पुरुषके भोग-अपवर्गके लिये काम कर रही है। आत्मसाक्षात्के लिये धारणा, ध्यान और समाधिका अभ्यास न करना प्रकृति-तुष्टि है।

२. इस भरोसेपर कि संन्यासके ग्रहणसे स्वयं अपवर्ग प्राप्त हो जायगा, यत्न करनेकी आवश्यकता नहीं, उपादान-तुष्टि है।

३. इस विचारसे कि सब काम काल-अधीन हैं, समय आनेपर अपवर्ग स्वयं प्राप्त हो जायगा, यत्न न करना काल-तुष्टि है।

४. जब भाग्यमें होगा स्वयं मुक्ति प्राप्त हो जायगी, इस भरोसेपर यत्न न करना भाग्य-तुष्टि है।

बाह्य तुष्टि—मोक्षके बाह्य साधनोंमें इस भयसे प्रमाद और आलस्य करना कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन पाँचों विषयोंमें पाँच प्रकारके दुःख होते हैं अर्थात् इनके प्राप्त करनेमें दुःख, रक्षामें दुःख, भोगमें दुःख और दूसरेकी हिंसाका दुःख। यहाँ तुष्टियोंका वर्णन इस उद्देश्यसे दिया है कि कोई अभ्यासी-जन अविवेकके कारण कहीं तुष्टिहीको संतोष न समझ बैठें।

तप—जिस प्रकार अश्वविद्याका कुशल सारथि चञ्चल घोड़ोंको साधता है, इसी प्रकार शरीर, प्राण, इन्द्रियों और मनको उचित रीति और अभ्याससे वशीकार करनेको तप कहते हैं, जिससे सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, सुख-दुःख, हर्ष-शोक, मान-अपमान आदि सर्व द्वन्द्व-अवस्थामें बिना विक्षेपके योगमार्गमें प्रवृत्त रहे। शरीरमें व्याधि तथा पीड़ा, इन्द्रियोंमें विकार और चित्तमें अप्रसन्नता उत्पन्न करनेवाला तामसी तप योग-मार्गमें निन्दित तथा वर्जित है। तपकी विशेष व्याख्या इस पादके सूत्र एकके वि० व० में देखें।

स्वाध्याय—वेद, उपनिषद् आदि और अध्यात्मसम्बन्धी विवेक-ज्ञान उत्पन्न करनेवाले योग और सांख्यके सत्-शास्त्रोंका नियमपूर्वक अध्ययन और ओंकारसहित गायत्री आदि मन्त्रोंका जप स्वाध्याय है। इसकी विशेष व्याख्या इस पादके सूत्र एकके वि० व० में देखें।

ईश्वरप्रणिधान—ईश्वरकी भक्ति-विशेष अर्थात फलसहित सर्व कर्मोंको उसके समर्पण करना ईश्वरप्रणिधान है।

ईश्वरप्रणिधानका फल श्रीवेदव्यासजीने अपने भाष्यमें इस प्रकार बतलाया है—

शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः।
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभागी॥

जो योगी शय्या तथा आसनपर बैठा हुआ या मार्गमें चलता हुआ या एकान्तमें स्थित हुआ हिंसादि वितर्क-रूप जालको नष्ट किये हुए ईश्वरप्रणिधान करता है, वह संसारके बीज अविद्या आदि क्लेशोंके क्षयका अनुभव करता हुआ नित्य परमात्मामें युक्त हुआ अमृतके भोगका भागी होता है अर्थात् जीवन्मुक्तके सुखको प्राप्त होता है। सब नियमोंमें ईश्वरप्रणिधान मुख्य है तथा सब नियमोंको ईश्वर-समर्पणरूपसे करना श्रेयस्कर है।

यथा—

ब्रह्मचर्यमहिंसा च सत्यास्तेयापरिग्रहान्।
सेवेत योगी निष्कामो योग्यतां मनसो नयन्॥
स्वाध्यायशौचसंतोषतपांसि नियतात्मवान्।
कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन् प्रवणं मनः॥

ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रहका सेवन करे। जितेन्द्रिय शुद्धमन योगी स्वाध्याय, शौच, संतोष, तप इनका परब्रह्ममें अर्पण करे।

विशेष व्याख्या इस पादके सूत्र एकके विशेष वक्तव्यमें देखें।

विशेष वक्तव्य सूत्र ३२—

शुद्ध, निर्विकार, नीरोग और स्वस्थ शरीरके बिना योग साधना कठिन है। इसलिये शरीरशोधन तथा शरीरके विकार और रोग-निवृत्तिके चार साधन बतला देना उचित प्रतीत होता है। इन चार साधनोंमेंसे (१) हठयोगकी छः क्रियाएँ, (२) प्राकृतिक चिकित्सा, (३) सम्मोहन और संकल्पशक्तिको इस

विशेष वक्तव्यमें और (४) ओषधियोंको साधनपादके अन्तमें परिशिष्टरूपमें दिखलाया जायगा ।

हठयोगकी छः क्रियाओंद्वारा शरीर-शोधन—हठयोगमें शरीर-शोधनके छः साधन बतलाये हैं—

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिर्नौलिकिस्त्राटकस्तथा ।
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि समाचरेत् ॥ (गौरक्षसंहिता)

धौति, वस्ति, नेति, नौली, त्राटक और कपालभाति - इन छः कर्मोंको (शरीर-शोधनके निमित्त) करे ।

इन कर्मोंको विशेषरूपसे किसी जाननेवालेसे ही सीखना चाहिये । यहाँ पाठकोंकी जानकारीके लिये उनका साधारणरूपसे वर्णन किया जाता है—

१ धौति—धौति तीन प्रकारकी होती है-वारिधौति, ब्रह्मदातौन और वासधौति ।

वारि-धौति अर्थात् कुञ्जर-कर्म—खाली पेट लवण-मिश्रित गुनगुना पानी पीकर छाती हिलाकर वमनकी तरह निकाल दिया जाता है । इसको गजकरणी भी कहते हैं; क्योंकि जैसे हाथी सूँड़से जल खींचकर फेंकता है उसी प्रकार इसमें जलको पीकर निकाला जाता है । आरम्भमें पानीका निकालना कठिन होता है । तालुसे ऊपर छोटी जिह्वाको सीधे हाथकी दो अंगुलियोंसे दबानेसे पानी निकलने लगता है ।

ब्रह्मदातौन—सूतकी बनी हुई बारीक रस्सीके टुकड़ेको अथवा रबड़की ट्यूबको लवणमिश्रित गुनगुने पानीको खाली पेट पीनेके पश्चात् विना दाँत लगाये गलेसे दूधके घूँटके सदृश निगला जाता है, फिर छाती हिलाकर उसको निकाल सारे पानीको वमनके सदृश निकाल दिया जाता है ।

वास-धौति (वस्त्र-धौति)--धौति लगभग चार अंगुल चौड़ी, लगभग पंद्रह हाथ लंबी, बारीक मलमल-जैसे कपड़ेकी होती है । खाली पेट पानी अथवा आरम्भमें दूधमें भीगी हुई धौतिके एक सिरेको अंगुलीसे हलकमें ले जाकर विना दाँत लगाये शनैः-शनैः दूधके घूँटके सदृश निगला जाता है । आरम्भमें निगलना कठिन होता है और उल्टी आती है; इसलिये एक घूँट गुनगुने पानीके साथ निगली जाती है । प्रथम दिन एक साथ ही नहीं निगली जा सकती है । शनैः-शनैः अभ्यास बढ़ाया जाता है । सब धौति निगलनेके पश्चात् कुछ अंश मुँहके बाहर रखना पड़ता है । इसके बाद नौलीको चालन करके धौति तथा सब पिये हुए पानीको वमनके सदृश निकाल दिया जाता है । इन क्रियाओंसे कफ और पित्त रोग दूर होकर शरीर शुद्ध और हल्का हो जाता है; और मन सुगमतासे एकाग्र होने लगता है ।

इस क्रियाको अत्यन्त सावधानीके साथ करना चाहिये । धोतीको तह करके पानीमें भिगोना चाहिये । जितना भाग अंदर ले जाना हो, उसकी चार तह करते जायँ । इस बातका ध्यान रहे कि अंदर जाकर धौती उलझने न पावे; क्योंकि उसके निकालनेमें दिक्कत होगी । यदि असावधानीसे कभी ऐसी स्थिति हो जाय तो तुरंत धौतीको वापस खाना शुरू कर दें । दो-तीन इंच खाकर पुनः निकालना प्रारम्भ करें, इससे अंदर उलझी हुई धौती सुलझ जायगी । यदि इस प्रकार भी न निकले तो कोई वमन करनेवाली ओषधि मानफलचूर्ण आदिको पानीमें डालकर पी लें । धौति सीखना आरम्भ करते समय पूरी धौति न लें, केवल चार-पाँच हाथका टुकड़ा लें । पानी पीकर न करें । तह की हुई और भीगी हुई धौतिके किनारेपर कुछ चीनी लगाकर सीधे हाथवाले अँगूठेके पासकी दो अंगुलियोंसे उसको हलकके अंदर ले जायँ । फिर शनैः-शनैः दूधके घूँटके सदृश निगलनेका यत्न करें । मुँह कुछ नीचेकी ओर रखें, जिससे

उल्टी न आवे। जब अंदर ले जानेमें रुकावट मालूम हो, तब एक-दो घूँट गुनगुना पानी पीते जायँ। अन्तमें एक ग्लास अथवा न्यूनाधिक लवण-मिश्रित गुनगुना पानी पीकर धौतिको निकालें।

घेरण्ड-संहितामें धौतिकर्मके चार निम्न भेद बतलाये हैं—

(१) अन्तर्धौति, (२) दन्त-धौति, (३) हृद्धौति और (४) मूलशोधन।

(१) अन्तर्धौति—इसके भी चार भेद बतलाये हैं—(क) वातसार, (ख) वारिसार, (ग) वह्निसार और (घ) बहिष्कृत।

(क) वातसार अन्तर्धौति—मुखको कौएकी चोंचके सदृश करके अर्थात् दोनों होठोंको सिकोड़कर धीरे-धीरे वायुका पान करे। यहाँतक कि पेटमें वायु पूर्णतया भर जाय फिर वायुको पेटके अंदर चारों ओर संचालित करके धीरे-धीरे नासिकापुटद्वारा निकाल दे। इसे काकी-मुद्रा और काकी-प्राणायाम भी कहते हैं।

फल—हृदय, कण्ठ और पेटकी व्याधियोंका दूर होना, शरीरका शुद्ध तथा निर्मल होना, क्षुधाकी वृद्धि, मन्दाग्निका नाश, फेफड़ोंका विकास, कण्ठमें सुरीलापन होना। वीर्यके लिये भी लाभदायक बतलाया गया है।

(ख) वारिसार अन्तर्धौति—इसमें मुखद्वारा धीरे-धीरे जल पीकर कण्ठतक भर लिया जाता है। फिर उदरमें चारों ओर संचालित करके गुदामार्गद्वारा बाहर निकाल दिया जाता है।

फल—देहका निर्मल होना, कोष्ठबद्धता तथा पेटके आमादि सब रोगोंका दूर होना, शरीरका शुद्ध होकर कान्तिमान् होना बतलाया गया है।

इस क्रियाको शंख-प्रक्षालन भी कहते हैं। क्योंकि शंखके चक्राकार मार्गमें पानी डालनेसे घूमता हुआ जल जिस प्रकार बाहर आ जाता है उसी प्रकार मुखसे जल पीनेपर कुछ समय पश्चात् मलको साथ लेकर अँतड़ियोंको शुद्ध करता हुआ गुदाद्वारसे बाहर आ जाता है।

यह क्रिया चूँकि बहुतसे रोगोंके हटाने और स्वास्थ्यके लिये बहुत लाभदायक है और अनुभूत है इसलिये इसकी विधि नीचे लिखी जाती है।

एक बाल्टीमें नमक मिला हुआ गर्म जल रखना चाहिये। काग आसनमें बैठकर अर्थात् दोनों पाँवोंके बीचमें एक बालिश्तका अन्तर रखकर दोनों हाथोंको घुटनेपर रखकर दो गिलास जल पी लेवे। पानी पीनेके पश्चात् तुरन्त ही क्रमशः दायें बायेंसे चार बार सर्पासन करें अर्थात् दोनों पंजोंको आपसमें मिलाकर दोनों हथेलियोंके बल कमरसे ऊपरी विभागको दायें-बायें बारी-बारीसे मोड़ते हुए सर्पासन करें। इसके पश्चात् शीघ्र ही ऊर्ध्व हस्तोत्तानासन लगभग चार बार दायेंसे और चार बार बायेंसे करें। अर्थात् कमरसे ऊपरी विभागको उत्तान देते हुए दोनों हाथोंको सीधा ऊपर किये हुए ऊपरसे दोनों हाथोंकी अँगुलियोंको साँटे हुए क्रमशः दायें-बायें मोड़ें। इसके बाद शीघ्र कटिचक्रासन करें अर्थात् सीधे खड़े होकर दोनों हाथोंको सीधा फैलाकर कमरसे ऊपरी भागको क्रमशः दायें-बायें मोड़ें। इसके बाद शीघ्र ही उदराकर्षासन क्रमशः चार बार दायें व बायेंसे करें। अर्थात् कागासनमें बैठकर बायें पैरके घुटनेको मोड़कर दायें पाँवकी पिंडलीके पास लाते हुए पृथ्वीसे कुछ ऊपर ही रक्खे। साथ ही कमरसे ऊपरी भागको क्रमशः दायें-बायेंकी ओर मोड़ें। फिर एक गिलास पानी पीयें और पहिलेकी भाँति क्रमशः चारों आसन करें। चारसे आठ ग्लास पानी पीनेके पश्चात् शौचकी हाजत मालूम होने लगेगी। शौचके लिये शीघ्र

चले जावे। और शौचपर बैठनेके समय भी उदराकर्षासन करें। इस प्रकार करनेसे पहिले मल निकलेगा फिर पतला मल निकलेगा और उसके पश्चात् पीला पानी निकलेगा। शौचसे आकर फिर उसी प्रकार जल पीवें और चारों आसन बारी-बारीसे करें। फिर शौचकी हाजत होगी यहाँतक कि केवल पानी ही निकलने लगेगा। फिर पहिलेकी भाँति पानी पीकर आसन करनेके पश्चात् सफेद पानी निकलेगा। अर्थात् जैसा पानी मुखसे पी चुके हैं वैसा ही गुदाद्वारसे निकलेगा। जबतक सफेद पानी न आने लगे तबतक बार बार पानी पीकर बारी-बारीसे चारों आसन करते रहें।

सफेद पानी निकलनेके पश्चात् बिना नमकका सादा गरम पानी दो-तीन गिलास पीकर गजकरणी क्रियाद्वारा निकाल दें। इस क्रियाको करनेके बाद ठंडे पानीसे स्नान नहीं करें। गरम पानीसे बंद कमरेमें हवासे बचाव रखकर स्नान करें और स्नानके पश्चात् कपड़े पहनकर स्नान-घरसे बाहर निकले। अथवा स्नान न करें।

शंख-प्रक्षालनके पश्चात् एक घंटेके भीतर ही भोजन कर लेना चाहिये। बिना लाल मिर्च और खटाईकी चावल तथा मूँगकी खिचड़ी अथवा गेहूँका दलिया खावें। खाते समय अधिक-से-अधिक एक छटाँक और कम-से-कम आध छटाँक शुद्ध गायका घी डालें। खिचड़ी अथवा दलिया बनाते समय अधिक घी न डालें। भोजन करते समय पानी न पीवें। एक घंटेके बाद पी सकते हैं। खिचड़ी खानेके चार घंटे बाद मुलायम मीठे फल आदि खा सकते हैं।

शंख-प्रक्षालनके बाद अधिक देरतक भूखा नहीं रहना चाहिये। जिस दिन शंख-प्रक्षालन करें उसके बाद २४ घंटेतक दही-दूध न खायें। इस क्रियाके करनेके एक दिन पूर्व कोई रेचक ओषधिद्वारा पेटकी सफाई कर लेवे और उस दिन हल्का भोजन लेवे अर्थात् खिचड़ी या दलिया लेवे तो अच्छा हो। इस क्रियाको रोज न करें आवश्यकता पड़नेपर ही करें।

(ग) बहिसार अन्तर्धौति—नाभिकी गाँठको मेरुपृष्ठमें सौ बार लगाये, अर्थात् उदरको इस प्रकार बार-बार फुलावे-सिकोड़े कि नाभि ग्रन्थि पीठमें लग जाया करे। इससे उदरके समस्त रोग नष्ट होते हैं और जठराग्नि प्रदीप्त होती है। (अनुभूत)

(घ) बहिष्कृत अन्तर्धौति—कौएकी चोंचके सदृश मुख बनाकर इतनी मात्रामें वायुको पान करे कि पेट भर जाय; फिर उस वायुको डेढ़ घंटेतक (अथवा यथाशक्ति) पेटमें धारण किये रहे। तत्पश्चात् गुदामार्गद्वारा बाहर निकाल देना बतलाया गया है। जबतक आधे पहरतक वायुको रोकनेका अभ्यास न हो जाय, तबतक इस क्रियाको करनेका यत्न न करे, अन्यथा वायुके कुपित होनेका भय है।

फल—इससे सब नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं। जैसी यह क्रिया कठिन है वैसे ही इसका लाभ अकथ्य तथा अगम्य बतलाया गया है।

(२) दन्त-धौति—यह भी चार प्रकारकी होती है—(क) दन्तमूल, (ख) जिह्वामूल, (ग) कर्णरन्ध्र और (घ) कपालरन्ध्र।

(क) दंतमूल धौति—खैरका रस, सूखी मिट्टी अथवा अन्य किसी ओषधि-विशेषसे दाँतोंकी जड़को अच्छी प्रकार साफ करे।

(ख) जिह्वामूल-धौति—तर्जनी, मध्यमा और अनामिका अंगुलियोंको गलेके भीतर डालकर जीभकी जड़तक बार-बार घिसे। इस प्रकार धीरे-धीरे कफके दोषको बाहर निकाल दे।

(ग) कर्णरन्ध्र-धौति—तर्जनी और अनामिका अँगुलियोंके योगसे दोनों कानोंके छिद्रोंको साफ करे, इससे एक प्रकारका नाद प्रकट होना बतलाया गया है।

(घ) कपालरन्ध्र-धौति—निद्रासे उठनेपर, भोजनके अन्तमें और सूर्यके अस्त होनेपर सिरके गढ़ेको दाहिने हाथके अँगूठेद्वारा प्रतिदिन जलसे साफ करे। इससे नाड़ियाँ स्वच्छ हो जाती हैं और दृष्टि दिव्य होती है।

(३) हृद्धौति—इसके तीन भेद हैं—(क) दण्ड-धौति, (ख) वमन-धौति और (ग) वास-धौति।

(क) दण्ड-धौति—केलेके दण्ड, हल्दीके दण्ड, चिकने बेंतके दण्ड अथवा वटवृक्षकी जटा-डाढ़ीको धीरे-धीरे हृदयस्थलमें प्रविष्ट कर दे; फिर हृदयके चारों ओर घुमाकर युक्तिपूर्वक बाहर निकाल दे। इससे पित्त, कफ, अकुलाहट आदि विकारी मल बाहर निकल जाते हैं और हृदयके सारे रोग नष्ट हो जाते हैं। इसको भोजनके पूर्व करना चाहिये।

नोट—इसको उपर्युक्त ब्रह्मदातौन समझना चाहिये और उसी विधिके अनुसार करना चाहिये।

(ख) वमन-धौति—भोजन करनेके पश्चात् कण्ठतक पानी पीकर भर ले और थोड़ी देरतक ऊपरकी ओर लेकर उस पानीको मुखद्वारा बाहर निकाल दे। पानी कण्ठके अंदर न जाने पावे। इससे कफ-दोष और पित्त-दोष दूर होते हैं।

(ग) वास-धौति (वस्त्र-धौति)—लगभग छः अंगुल चौड़ा और लगभग अठारह हाथका बारीक वस्त्र किंचित् उष्ण (गर्म) जलसे भिगोकर गुरुके बताये हुए क्रमसे अर्थात् पहिले दिन एक हाथ, दूसरे दिन दो हाथ, तीसरे दिन तीन हाथ अथवा इससे न्यूनाधिक युक्तिपूर्वक अंदर ले जाय, फिर धीरे-धीरे ही बाहर निकाल दे। इसको भोजनके पहिले करना चाहिये। इससे गुल्म, ज्वर, प्लीहा, कुष्ठ एवं कफ-पित्त आदि अन्य विकार नष्ट होते हैं। इसका वर्णन ऊपर आ चुका है। (ज्वरकी अवस्थामें न करे)

(४) मूलशोधन (गणेश-क्रिया)—कच्ची मूलीकी जड़से अथवा तर्जनी अँगुलीसे यत्नपूर्वक सावधानीसे बार-बार जलद्वारा गुदामार्गको साफ करे। इसके पश्चात् घृत या मक्खन उस स्थानपर लगाना अधिक लाभदायक है। इससे उदररोगका काठिन्य दूर होता है। आमजनित एवं अजीर्णजनित रोग उत्पन्न नहीं होते और शरीरकी पुष्टि और कान्तिकी वृद्धि होती है। यह जठराग्निको प्रदीप्त करती है। इससे सब प्रकारके अर्श-रोग तथा वीर्यदोष भी दूर होते हैं।

अँगुलीको गुदाके अंदर बराबर कुछ देरतक घुमाते रहनेसे अंदरका मल बाहर आता रहता है और आँतें साफ होती रहती हैं। इसका अभ्यास हो जानेपर वस्ति लेनेकी आवश्यकता कम हो जाती है। अभ्यासीगण इस क्रियासे अवश्य लाभ उठावें।

२ *वस्ति*—वस्ति मूलाधारके समीप है। इसके साफ करनेके कर्मको वस्तिकर्म कहते हैं। एक चिकनी नलीको गुदामें ले जाकर नौलि-कर्मकी सहायतासे गुदामार्गद्वारा वस्तिमें जल चढ़ाया और निकाला जाता है। साधारणतया इस क्रियाका करना कठिन है। इसके स्थानपर एनिमासे काम लिया जा सकता है। इससे आँतोंका मल जलके साथ मिलकर पतला हो जाता है और शीघ्रतापूर्वक बाहर निकल जाता है।

जल चढ़ानेके पूर्व सिरिञ्ज (एक शीशेकी पिचकारी जो अंग्रेजी दवाकी दूकानोंपर मिल सकती है) द्वारा गुदामें तेल चढ़ाना प्रशस्त है। एनिमाके अभावमें सिरिञ्जद्वारा ग्लिसरीन चढ़ानेसे भी मल तथा आँवके निकालनेमें वही लाभ हो सकता है। वस्तिमें रोगानुसार भिन्न-भिन्न क्वाथादि चढ़ाये जाते हैं,

पर साधारण रीति गुनगुने जलमें साबुन और लवण अथवा पोटैशियम परमैंगनेट (कुँएमें डालनेकी दवा) मिलानेकी है ।

घेरण्डसंहितामें वस्तिका निरूपण इस प्रकार है—

वस्तिके दो भेद हैं—एक जल-वस्ति और दूसरी पवन-वस्ति (स्थल-वस्ति अथवा शुष्क-वस्ति)।

जल-वस्ति (क्षालन-कर्म)—किसी बड़े पात्रमें नाभिपर्यन्त जल भरवाकर, अथवा नदी, तालाब आदिमें, जिनका जल शुद्ध हो, उत्कुटासन लगाकर बैठ जाय, गुदामार्गका आकुञ्चन और प्रसारण करे अर्थात् उसी जलके अंदर उत्कुटासनसे बैठा हुआ गुदाको इस प्रकार सिकोड़े और फैलावे जैसे अश्वादि मल-त्यागके पश्चात् किया करते हैं । इससे प्रमेह, कोष्ठकी क्रूरता आदि रोग दूर होते हैं ।

पवन-वस्ति (स्थल-वस्ति, शुष्क-वस्ति)— भूमिपर पश्चिमोत्तान होकर लेट जाय; फिर अश्विनिमुद्रा-द्वारा धीरे-धीरे वस्तिका चालन करे अथवा गुदामार्गका आकुञ्चन और प्रसारण करे । इसके अभ्याससे जठराग्नि प्रदीप्त होकर उदरगत आमवात आदि रोगोंको नष्ट कर देती है ।

३ नेति—(क) नेति-कर्मके लिये महीन सूतके दस-पंद्रह तारसे बटी हुई एक डोरीकी आवश्यकता होती है, जिसका एक किनारा नोकदार होता है । नेतिको पानीमें भिगोकर उसके नोकदार सिरेको एक हाथसे नासिकाद्वारा गलेमें ले जाकर दूसरे हाथसे पकड़ा जाता है । तत्पश्चात् एक-दो बार अंदर-बाहर चलाकर मुखसे निकाल दिया जाता है । इसी प्रकार दूसरे नासिका-छिद्रसे । इस क्रियासे मस्तिष्क तथा गलेकी सफाई, नाक, कान, आँख, दाँतके दर्द दूर होते हैं और नेत्रकी ज्योति बढ़ती है। बारीक मलमलके कपड़ेकी भी नेती बनायी जा सकती है ।

(ख) जलनेति—क्रमसे दोनों नासिका-छिद्रोंसे जलको पीते हुए मुँहसे अथवा दूसरे नासिकापुटसे निकालनेसे होती है ।

(ग) कपालनेति—मुँहमें पानी भरकर नासिका-छिद्रोंसे निकालनेसे होती है ।

नोट—नासिका-छिद्रोंद्वारा पानी पीनेसे भी यही लाभ होता है ।

४ नौली—आरम्भमें इस क्रियाको एक साथ करना कठिन है । इसलिये तीन भागोंमें विभक्त करके इसका प्रयास करनेमें सुगमता होती है ।

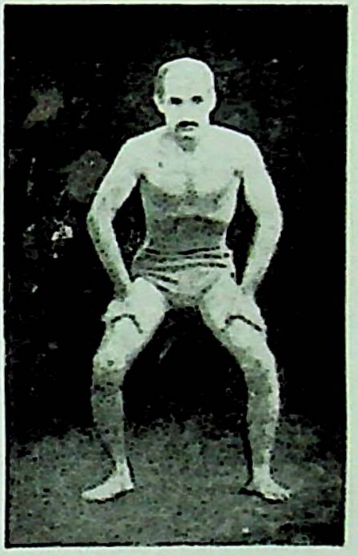
पहिला भाग— सीधा खड़ा होकर उदरका वायु बाहर निकालना । दोनों हाथोंसे दोनों घुटनोंको दबाकर पूरा उड्डीयान करके अर्थात् पेटको बिल्कुल पीठसे मिलाकर दोनों नलोंको उभारा जाता है। प्रथम पूरे उड्डीयानका अभ्यास पक्का करना होता है । उसके पश्चात् नल स्वयं बाहर उठने लगते हैं।

दूसरा भाग—एक-एक नलको बारी-बारीसे निकाला और घुमाया जाता है । पहिले नल निकालनेका अभ्यास किया जाता है, उसके पश्चात् घुमानेका। घुटनोंको दबानेसे इस ओरका नल निकलने लगता है।

तीसरा भाग— दोनों नलोंको बाहर निकालकर पहिले एक ओरसे, फिर दूसरी ओरसे घुमाया जाता है । इस क्रियाको शौचसे निवृत्त होकर खाली-पेट करना चाहिये ।

फल— यह क्रिया हठयोगकी छः क्रियाओंमें सबसे उत्तम मानी गयी है । इससे गोला, तिल्ली, मन्दाग्नि, आम, वात, पेटका कड़ापन, पेचिश, संग्रहणी आदि पेटके सब रोग दूर होते हैं तथा वात, पित्त, कफ—त्रिदोष एक साथ दूर होते हैं ।

उड्डियान



विधि—दोनों हाथोंको घुटनोंपर रखकर तथा कुछ झुककर खड़े हो जाओ। श्वासको नासिकाद्वारा जोरसे बाहर निकालकर पेटको अंदर ले जाओ। यहाँतक कि अभ्यास करते-करते पेट बिल्कुल पीठके साथ जाकर लग जाय।

नौली क्रिया



विधि—उड्डियानके ठीक हो जानेपर उसी अवस्थामें ही पेटके मध्यके दोनों नलोंको बाहर निकालनेका प्रयत्न करो। जब दोनों नल निकालते-निकालते बारीक हो जायँ तो एकको अंदर दबाकर बारी-बारीसे एक-एक निकालनेका प्रयत्न करो। जब एक-एक अच्छी तरह निकलने लगे तो फिर घुमानेका प्रयत्न करो। यह क्रिया पेटके लिये जितनी लाभप्रद है, उतनी ही कठिन भी है। अतः इसे किसी अनुभवी गुरुसे ही सीखना चाहिये।

५ त्राटक—किसी सुखासनसे बैठकर धातु या पत्थरकी बनी हुई किसी छोटी चीज अथवा कागजपर काला बिन्दु बनाकर अथवा अगरबत्ती जलाकर बिना पलक झपकाये देखते रहना त्राटक है। स्फटिक (बिल्लौर) के यन्त्रपर त्राटक करनेसे किसी प्रकारकी हानि नहीं हो सकती। नेत्रकी ज्योति बढ़ती है, स्वास्थ्य सुधरता है, मन स्थिर होता है, चित्त शान्त और प्रसन्न होता है। यदि किसी इष्टमन्त्रके साथ किया जाय तो उसमें शीघ्र सफलता होती है। रात्रिके समय मोमबत्ती अथवा तिलके तेलकी बत्तीका प्रकाश स्फटिकपर डालते हुए त्राटक करना अधिक लाभदायक है। यन्त्रपर श्वास-प्रश्वासकी गतिकी भावना करते रहनेसे पहिले बहिःकल्पिता, तत्पश्चात् निरन्तर अभ्याससे बहिःअकल्पिता वृत्तिकी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। (३-४३) त्राटकके अभ्याससे नेत्र और मस्तिष्कमें उष्णता बढ़ जाती है, इसलिये इस क्रियाके करनेवालेको नेति, जलनेति तथा नेत्रोंको त्रिफला, हड़ अथवा गुलाबके पानीसे धोना चाहिये; और नेत्रका व्यायाम अर्थात् शान्तिपूर्वक दृष्टिको दाँये-बाँये, ऊपर-नीचे शनैः-शनैः चलानेकी क्रिया करनी चाहिये।

कई आचार्योंने त्राटकके तीन भेद बतलाये हैं—

(क) आन्तरत्राटक—नेत्र बंद करके भ्रूमध्य, हृदय, नाभि आदि आन्तरिक स्थानोंमें चक्षुवृत्तिकी भावना करके देखते रहना आन्तरत्राटक है।

(ख) मध्य-त्राटक—किसी धातु अथवा पत्थरकी बनी हुई वस्तुपर अथवा काली स्याहीसे कागजपर लिखे हुए ओ३म् अथवा बिन्दुपर अथवा नासिकाग्र-भाग अथवा भ्रूमध्य अथवा अन्य किसी समीपवर्ती लक्ष्यपर खुले नेत्रोंसे टकटकी लगाकर देखते रहना मध्य-त्राटक है।

(ग) बाह्यत्राटक—चन्द्र, प्रकाशित नक्षत्र, प्रातःकाल उदय होते हुए सूर्य अथवा अन्य किसी दूरवर्ती लक्ष्यपर दृष्टि स्थिर करनेकी क्रियाको बाह्य त्राटक कहते हैं।

कपालभाति—घेरण्डसंहितामें कपालभातिके तीन भेद दिखलाये हैं—

(क) वातकर्म कपालभाति, (ख) व्युत्कर्म कपालभाति, (ग) शीतकर्म कपालभाति।

(क) वातकर्म कपालभाति—सुखासनसे बैठकर दाहिने हाथके अँगूठेसे दाहिने नथुनेको किञ्चित् दबाकर बायें नथुनेसे बलपूर्वक वायुको अंदर खींचे और बिना रोके हुए तुरंत ही अनामिका और कनिष्ठिका अँगुलियोंसे बायें नथुनेको बंद करके दाहिने नथुनेसे पूरी वायुको निकाल दे; इसी प्रकार दाहिने नथुनेसे वायु खींचकर बायेंसे निकाले। इस प्रकार अत्यन्त शीघ्रतासे क्रमशः रेचक, पूरक प्राणायामको कपालभाति कहते हैं। आरम्भमें दस बार करे, फिर शनैः-शनैः बढ़ाता जाय। इससे नाड़ीशोधन सिद्ध होता है। मस्तिष्क और आमाशयकी शुद्धि होकर पाचनशक्ति प्रदीप्त होती है तथा कफजनित रोग दूर होते हैं। इससे नाक, श्वास, नाड़ी तथा फेफड़े शुद्ध होते हैं। श्वासरोग तथा क्षयरोगके लिये लाभदायक है। कुण्डलिनी जाग्रत् और मनके स्थिर करनेके निमित्त अभ्यास आरम्भ करते समय इस क्रियाका करना प्रशस्त है। कपालभातिको निम्न दो विधियोंसे भी किया जाता है—

दूसरी विधि—दोनों नासिकापुटोंसे एक साथ उपर्युक्त रीतिसे वायुको अंदर खींचना और बाहर निकालना।

तीसरी विधि—दक्षिण नासिकापुट बंद करके वाम नासिकापुटसे उपर्युक्त रीतिसे पूरक-रेचक करना; इसी प्रकार वाम नासिकापुट बंद करके दक्षिण नासिकापुटसे उसी संख्यामें पूरक-रेचक करना।

समाधिपाद सूत्र ३४ में बतलायी हुई कपालभातिसे इस प्रक्रियामें भेद है। इसका नाम हमने नाड़ीशोधन रक्खा है। ध्यानसे पूर्व इस क्रियाको कर लेना चाहिये जिससे मस्तिष्क साफ हो जावे। नाक पोंछनेके

लिये एक रुमाल पास रखना चाहिये ।

(ख) व्युत्क्रम कपालभाति—नासारन्ध्रोंसे जल पीकर मुखसे निकाल दे । इसे भी अनुलोम और विलोम रीतिसे किया जाता है ।

(ग) शीतकर्म कपालभाति – मुँहमें पानी भरकर नासिकाछिद्रोंसे निकालना ।

नोट—इन तीनोंको हम नेतिकर्ममें जलनेति और कपालनेति नामसे बतला आये हैं ।

(२) प्राकृतिक नियमोंद्वारा शरीर-शोधन अर्थात् बिना औषध रोग दूर करनेके उपाय –

(१) प्राकृतिक जीवन, सादा प्राकृतिक खान-पान, शरीरकी सफाई, ठंडे पानीसे प्रातःकाल स्नान, सर्दी-गर्मी सहन करनेका अभ्यास । सब कार्योंके लिये निश्चित समय-विभाग, प्रातः और सायंकाल दो-तीन मील खुली हवामें भ्रमण, भूखसे कम और चबा-चबाकर खाना, सप्ताहमें एक बार उपवास आदि साधारण स्वास्थ्यके नियमोंका पालन करना ।

(२) प्रातः और सायंकाल निश्चित समयपर सन्ध्या, व्यायाम -- शीर्षासन, ऊर्ध्व-सर्वाङ्गासन, मयूरासन, सर्पासन आदि (साधनपाद सूत्र ४६ वि० व०) और प्राणायाम, भस्त्रिका आदि (साधनपाद सूत्र ५० वि० व०) ।

स्वास्थ्य सुधारने, फेफड़े, पसली, छाती आदिके रोगोंको हटानेके लिये –

पेटका फुलाना – गर्दन, कमर, सिरको एक लाइनमें रखकर सीधे खड़े हों, दोनों नथुनोंसे पूरे श्वासको बाहर निकालकर पेटको दोनों हाथोंसे दबायें। इस प्रकार दोनों हाथोंसे पेटको दबाते हुए धीमे-धीमे श्वासको दोनों नथुनोंसे भरते हुए पेटको फुलावें । इस बातका ध्यान रक्खें कि इस प्रकार श्वास भरनेसे केवल पेट ही फूले, पसलियाँ और छाती बिल्कुल न फूलने पायें । भरसक श्वास भरनेके पश्चात् थोड़ी देर उसे वहीं रोके रहें, तत्पश्चात् धीमे-धीमे श्वासको दोनों नथुनोंसे बाहर निकालें और पेटको भरसक दोनों हाथोंसे दबाकर अंदरकी ओर सिकोड़ें । इस क्रियाको पाँच-छः बार करें ।

पसलियोंका फुलाना – इसके बाद इसी प्रकार दोनों हाथोंकी हथेलियोंसे दोनों ओरकी पसलियोंको दबायें, दोनों नथुनोंसे श्वासको धीमे-धीमे खींचते हुए भरसक पसलियोंको फुलायें, पेट और छाती बिल्कुल न फूलने पायें । कुछ देर श्वासको पसलियोंमें रोककर धीमे-धीमे दोनों नथुनोंसे निकालें, पसलियोंको हाथोंसे दबाते हुए यथाशक्ति सिकोड़ें । इस क्रियाको भी पाँच-छः बार करें ।

छातीका फुलाना – इसके बाद दोनों हाथोंकी हथेलियोंसे छातीको हँसलीकी हड्डीके नीचे दबाकर धीमे-धीमे श्वासको खींचते हुए भरसक छातीको फुलायें । इस बातका ध्यान रखें कि पसलियाँ और पेट बिल्कुल न फूलने पायें । कुछ देर श्वासको रोकनेके पश्चात् धीमे-धीमे श्वासको बाहर निकालें, छातीको खूब सिकोड़ें । इस क्रियाको भी पाँच-छः बार करें ।

पूरी गहरी श्वास -- उपर्युक्त तीनों क्रियाओंके अभ्यासके पश्चात् इस प्रकार दोनों नथुनोंसे पूरा गहरा श्वास लें कि पहिले पेट, फिर पसलियाँ और अन्तमें छाती फूले । कुछ देर रोकनेके पश्चात् इस प्रकार धीमे-धीमे दोनों नथुनोंसे श्वास निकालें कि पहले छाती सिकुड़े, फिर पसलियाँ और अन्तमें पेट सिकुड़कर पीठसे लग जाय । इस क्रियाको भी पाँच-छः बार करें। इन क्रियाओंके करनेसे सब प्रकारके रोग और निर्बलता दूर होकर शरीर स्वस्थ और नीरोग हो जायगा ।

(३) जल-चिकित्सा—

हिप बाथ (Hip bath)— शौचसे निवृत्त होकर खाली पेट छाती और पैरोंको बचाकर केवल नाभिके पासके पेटको ठंडे पानीमें रखकर नाभिके नीचेके भागको चारों ओर कपड़ा फिराकर ठंड पहुँचायें। इस क्रियाको टीनके बने हुए टबमें किया जाता है। इसके पश्चात् व्यायाम करना अथवा घूमना चाहिये।

सन बाथ (Sun bath)— सुबहको कुछ हलका कपड़ा ओढ़कर धूपमें कुछ समय बैठना।

स्टीम बाथ (Steam bath)—कभी-कभी अथवा ज्वर आदि रोगसे ग्रसित होनेपर कुर्सी या चारपाईके चारों ओर कम्बल या कपड़ा डालकर एक चादर ओढ़कर बंद कमरेमें बैठें। एक अंगीठीपर एक डेगचीमें पानी भरकर उसके मुँहको बर्तनसे ढककर चारपाई या कुर्सीके नीचे रख दें। जब खूब भाप आने लगे, तब बर्तन हटाकर भाप लें। पसीना बिलकुल सूख जानेपर और शरीर ठंडा होनेपर बाहर निकलें अथवा वहीं उसी समय हिप बाथ लें।

सिट्ज़ बाथ (इन्द्रिय-स्नान)--एक तसले अथवा मिट्टीके बड़े कुंडेमें ठंडा पानी भरकर, इन्द्रियके मुँहके ऊपरवाली खालको ऊपर करे। फिर इन्द्रियको पानीमें रखकर नीचेसे उस खालको बायें हाथके अंगूठे और उसके पासवाली अँगुलीसे इस प्रकार पकड़े कि जिस प्रकार पकड़ी हुई झिल्लीका कुछ भाग इन दोनों अँगुलियोंसे बाहर रहे। इस झिल्लीको कपड़ेसे छुआ-छुआकर ठंड पहुँचानी चाहिये। यदि खाल इन्द्रियके ऊपर चढ़ी हो और दोनों अँगुलियोंसे न पकड़ी जा सके तो उस स्थानको जहाँपर यह खाल ऊपरसे जुड़ी हुई है, उसको कपड़ेसे छुआ-छुआकर ठंड पहुँचायें। पानी जितना ठंडा होगा उतना ही लाभदायक होगा। प्रातःकाल शौचके पश्चात् अथवा भोजनके पूर्व या सायंकाल सोने या ध्यानसे पहिले पाँच मिनटसे आध घंटेतक इस क्रियाको करें। यह क्रिया चित्तको शान्त एवं प्रसन्न, वीर्य-वाहिनी नाड़ियों, मस्तिष्क तथा सब मर्म-स्थानोंको शक्ति पहुँचाने, ब्रह्मचर्यकी रक्षा और प्रमेह आदि सब प्रकारके वीर्यरोगोंको दूर करनेके लिये उत्तम है। इस क्रियाको करके अभ्यासपर बैठनेसे मन शीघ्र शान्त हो जाता है। पेशाब और शौचके पश्चात् इन्द्रियके मुखपर ठंडा पानी धारके साथ डालनेसे भी लाभ प्राप्त होता है।

शौच साफ लाने और आँवके निकालनेके लिये

एक रूमालको लपेटकर पानीमें भिगोकर अथवा गीली मिट्टीको एक कपड़ेमें रखकर नाभिके नीचे रात्रिको सोते समय बाँधें, जब कपड़ा या मिट्टी सूख जाय तो उसे गीला कर दें। घाव, फोड़े-फुन्सीमें गीली चिकनी मिट्टी लगायें। छजना आदिमें गोबर दहीके पानीमें घोलकर लेप करें।

सूर्यविज्ञान

स्वर्गीय श्रीपरमहंस विशुद्धानन्दजी महाराज (प्रसिद्ध गन्धबाबा) सूर्य-रश्मियोंको स्फटिक यन्त्रों-द्वारा आकर्षित करके उनके संयोग वियोग-विशेषसे अद्भुत चमत्कार दिखलाकर पाश्चात्त्य देशोंके बड़े-बड़े वैज्ञानिकोंको विस्मित कर देते थे। उन्होंने सूर्यविज्ञानद्वारा असाध्य रोगोंके चिकित्सार्थ बनारसमें एक सूर्यविज्ञान-मन्दिरकी भी स्थापना की थी। देशके दुर्भाग्यसे इस कार्यके पूर्व ही उनका देहान्त हो गया।

सूर्यचिकित्सा

सूर्यकी किरणोंको विशेष-विशेष रंगके शीशेद्वारा मनुष्यके पीड़ित अङ्गपर डालना तथा उनको जल आदि पदार्थोंपर आकर्षण करके उनका स्वास्थ्य-सुधार और रोगनिवारणमें प्रयोग करना बड़ा प्रभाव-

शाली सिद्ध हुआ है। उसको सामान्य रूपसे यहाँ उल्लेख किया जाता है।

तत्त्वसम्बन्धी तालिका समाधिपाद सूत्र ३४ के विशेष वक्तव्यमें पाँचों तत्त्वोंका रङ्ग, चिह्न, स्वाद, गति, परिमाण आदि बतला आये हैं। इन्हीं तत्त्वोंसे शरीर बना हुआ है, इसलिये इन तत्त्वोंकी स्वाभाविक परिमाणसे न्यूनता या अधिकता ही रुग्ण अथवा अस्वस्थ होनेका कारण है। कौन-सा तत्त्व बढ़ा हुआ है और कौन-से तत्त्वकी कमी है, इसकी जाँच नाखून, पेशाब, पाखाने आदिके रङ्गसे की जाती है। जैसे लाल रङ्गकी कमीमें आँखें और नाखून नीले रङ्गके, पाखाना और पेशाब सफेद अथवा कुछ-कुछ नीले रङ्गका होता है। नीले रङ्गकी कमीमें आँख गुलाबी, नाखून लाल, पाखाना और पेशाब कुछ लाल या पीला होता है। इसी प्रकार मनुष्यके स्वाद, स्वभाव, श्वासकी गति और नाड़ियोंकी चालसे भी तत्त्वोंकी जाँच की जाती है। यदि किसी तत्त्वकी उसके स्वाभाविक अवस्थामें कमीको, उसके रङ्गको सूर्यकी किरणोंद्वारा रुग्ण शरीरमें प्रवेश करके पूरा कर दिया जाय तो रोग-निवृत्ति हो सकती है। विशेष-विशेष रङ्गोंको सूर्यकी किरणोंद्वारा रुग्ण शरीरमें पहुँचानेके बहुत उपाय ढूँढ़े गये हैं। उनमेंसे सबसे सरल चार हैं—

(१) विशेष रङ्गके शीशेद्वारा सूर्यकी किरणोंक रुग्ण शरीरमें पहुँचाना अथवा उस रङ्गकी शीशेकी लालटेनद्वारा उस रङ्गका प्रकाश डालना।

(२) विशेष रङ्गकी साफ बोतलोंमें ताजा या वर्षाका जल अथवा गङ्गाजल भरकर काग लगाकर कम-से-कम चार घंटे और अधिक-से-अधिक तीन दिन धूपमें रखकर पानीको औषधरूपमें पिलाना तथा रुग्ण-स्थानमें लगाना।

(३) विशेष रङ्गकी बोतलोंमें मिश्री आदि पदार्थ अथवा औषध रखकर, काग लगाकर पंद्रह दिनसे एक माहतक धूपमें रखकर ओषधिरूपमें प्रयोग करना।

(४) विशेष रङ्गकी बोतलोंमें सरसों, तिल, अलसी आदिका तेल रखकर, काग लगाकर कम-से-कम ४० दिनतक धूपमें रखकर पीड़ित स्थानमें मलना।

रङ्गोंका प्रयोग

(१) आसमान-जैसा हलका नीला रङ्ग जिसमें लाली बिल्कुल न हो—यह रङ्ग ठंडा और कब्ज करनेवाला होता है; और लाल रंगका, जो गर्म और कब्ज दूर करनेवाला है, विरोधी है। इसलिये गर्मीसे आये हुए बुखार, पेचिश, आँव, दस्तोंमें, फोड़े फुन्सी और जहरीले जानवरोंकी काटनेकी पीड़ा आदि जो लाल रङ्गकी अधिकतासे होती है, वह इस हलके नीले रङ्गके पहुँचनेसे शान्त हो जाती है।

(२) लाल रङ्ग—यह रङ्ग गरम और कब्ज दूर करनेवाला तथा माद्देको निकालनेवाला होता है। इसलिये ठंडकी अधिकतासे जो रोग होते हैं, जैसे फालिज, लकवा, गठिया, सर्दीसे सूजन आदि, इस रङ्गको तीनों तरहसे पहुँचानेसे दूर होते हैं।

(३) गहरा नीला रङ्ग अर्थात् वह नीला रङ्ग जो लाली लिये हुए हो, जैसे वे लम्बी बोतलें जिनमें विलायतसे अरंडीका तेल आता है। जहाँ नीले रङ्गके साथ किञ्चित् गर्मी पहुँचाकर गंदे माद्देको निकालनेकी आवश्यकता होती है वहाँ इस रङ्गको काममें लाया जाता है, जैसे काली खाँसी इत्यादि।

(४) पीला अथवा हलका नारङ्गी रङ्ग—यह रङ्ग गहरे नीले रङ्गकी अपेक्षा अधिक कब्ज खोलनेवाला और गंदे माद्देको निकालनेवाला है। इसलिये खुजली, कोढ़, रक्तविकार, बलगमी बुखार आदिमें

काममें लाया जाता है।

लगभग सब प्रकारके बुखार और सिरके दर्द जो गर्मीसे उत्पन्न हों, उनमें हल्की नीले रंगवाली बोतलोंका पानी पिलावें, बुखारकी तेजीमें हल्के नीले शीशेका प्रकाश डालें और हल्की नीले रंगकी शीशीका तेल मलें।

बलगमी बुखारमें नारंगी रंगकी बोतलका पानी पिलावें।

दिलकी धड़कन, दिमागकी गर्मी, विषैले जानवरोंके काटनेमें, पेचिश एवं आँवके दस्तोंमें हल्के नीले रंगकी बोतलका पानी पिलावें और हल्के नीले रंगकी बोतलोंका सरसोंका तेल दिमाग, दिल एवं पीड़ित स्थानोंमें मलें, इसी रंगका प्रकाश डालें।

निमोनियाँमें गहरे नीले रंगकी बोतलका पानी पियें तथा लाल बोतलवाले अलसीके तेलकी छाती एवं पसलियोंपर मालिश करें।

तिल्लीके रोगके लिये नीले रंगकी बोतलका पानी पिलाना और तेलकी मालिश करना लाभदायक है।

मृगीमें गहरे नीले या हल्के नीले रंगकी बोतलका पानी पिलायें, इसी रंगके तेलकी मालिश करें, इसी रंगके शीशेका प्रकाश डालें।

नजला या जुकामके लिये हल्के नीले रंगकी बोतलका पानी अथवा नारंगी या हल्के नीले रंगकी बोतलका मिश्रित पानी पिलाना। गहरे नीले रंगवाली बोतलका तेल सिर और कनपटियोंमें मलना, हल्के नीले शीशेका प्रकाश डालना।

सूखी खाँसीके लिये गहरे नीले रंगकी बोतलका पानी पिलाना और लाल रंगकी बोतलका तेल छातीपर मलना।

तर खाँसीमें नारंगी रंगकी बोतलका अथवा नारंगी बोतल एवं गहरी नीली बोतल—दोनों रंगोंका मिश्रित पानी पिलाना, लाल बोतलका तेल छातीपर मलना।

दमामें नारंगी बोतलका पानी पिलाना और लाल बोतलके तेलको छातीपर मलना।

जिन रंगों (तत्त्वों) की कमीसे जो रोग पैदा हुआ है, उस रंग (तत्त्व) का ध्यान करनेसे भी रोगकी निवृत्ति होती है।

८. अन्य प्राकृतिक चिकित्साएँ:—

(१) ज्वर, आधे सिरका दर्द अथवा इसी प्रकारका और कोई विकार उत्पन्न होनेसे पूर्व अथवा उसी समय, जिस नथुनेसे श्वास चलता हो उसे बंद रखें।

(२) सिरके चक्कर होनेपर दोनों हाथोंकी कुहनीपर जोरसे कपड़ेकी पट्टी बाँधें, आधे सिरके दर्दमें जिस ओर दर्द हो उस ओर कपड़ेकी पट्टी बाँधें।

(३) नाकसे पानी पीनेसे सिरदर्द दूर होता है। (शीतकालमें अथवा जब शरीर कुछ ठंडसे सताया हुआ हो, तब ठंडा पानी नाकसे न पीयें गुनगुना पीयें)।

(४) बारीका बुखार आनेवाले दिन प्रातःकाल ही सफेद अपामार्ग या मौलसिरीके पत्ते हाथोंसे रगड़कर हल्के कपड़ेमें बाँधकर सूँघते रहना चाहिये, कागजी नीबूके पत्ते मलकर सूँघनेसे भी बुखारको आराम होता है।

(५) दाहिने स्वरमें भोजन आदि करनेसे और खानेके पश्चात् कुछ समयतक बायें करवट

लेटनेसे भी अजीर्ण रोग दूर होता है । प्रथम दाहिने करवटसे लेटकर १६ गहरी साँसें ले और छोड़े, फिर चित्त लेटकर ३२ । इसके बाद बायें करवट लेटकर ६४ साँसें ले और छोड़े । प्रतिदिन प्रातःकाल भोजनसे आध घंटे पूर्व जल पीये । नाभिके दायें ओरसे बायें ओर बड़ी अँतड़ियोंकी मालिश करने और उठनेसे पूर्व आध घंटे पेटके बल लेटनेसे भी अजीर्ण रोग दूर होता है ।

(६) कोष्ठबद्ध दूर करना—सौ बार पेटको खूब सिकोड़े और फैलावे । पहले एक-एक पैरको घुटनेके ऊपरके हिस्सेसे मिलाकर पूरा उड्डीयान कर पेटको ओर खूब दबाये, फिर इसी प्रकार दोनों पैरोंको दोनों हाथोंसे दबाये । प्रातःकाल बिस्तरसे उठते समय सीधे तथा दोनों करवटसे घूमकर हाथ-पैरोंको सिकोड़े और फैलावे ।

शौचसे पहले नासिका अथवा मुँहसे ताजा पानी पीयें ।

खानेके पश्चात् शुद्ध किया हुआ रेत एक फंकी बिना दाँतोंसे लगाये हुए फाँककर ऊपरसे पानी पीना ।

रेतको मिट्टी आदि निकालकर और बड़ी कंकड़ियोंको छानकर-धोकर साफ किया जाता है ।

(७) दन्तरोग—पाखाना जाते या पेशाब करते समय नीचे-ऊपर दोनों दाँत मिलाकर जोरसे दबाये रखें ।

(८) चक्षुरोग—प्रातःकाल बिस्तरसे उठते ही मुँहमें पानी भरकर आँखोंमें २०, ३० छींटे पानीके डालकर धो डाले, स्नानके समय दोनों पैरोंके अँगूठेमें तेल लगाये । नेती क्रिया करे ।

(९) रक्तविकार—शीतली प्राणायाम (साधनपाद सूत्र ५० वि० व०) से रक्त-विकार दूर होता है और रक्त शुद्ध होता है ।

(१०) लूमें चलते समय कानोंको कपड़ेसे बंद रखनेसे शरीरको लू नहीं सताती तथा सरपर प्याज रखनेसे लू नहीं लगती ।

(११) दिमागी काममें थकावट होनेपर कुर्सी आदिका सहारा लेकर आँखें बंद करके शरीरको बिल्कुल ढीला छोड़ देना चाहिये, थकावट दूर होनेपर स्मरण-शक्ति ठीक काम करने लगेगी । शिथिलीकरण अर्थात् शरीरके सारे अङ्गोंको ढीला करके चित शवासनसे लेटनेमें थकावट दूर होती है ।

(१२) हाथी-दाँतके कंघेको सरमें रगड़के साथ फेरनेसे सरदर्द दूर और मस्तिष्क बलवान् होता है।

(१३) नींद न आनेपर पैरके नाखूनोंमें तेल लगावे । नाभिसे नीचे भागमें गीला कपड़ा या मिट्टी बाँधे या भंग पीसकर पैरोंके तलवे तथा नाभिके नीचे भागमें लेप करे ।

(१४) मनुष्य अपने ही विचारोंका बना हुआ है । यथा-'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः,' मनुष्य विचारविशेषका ही पुद्गल है, जिसके जैसे विचार हैं वह वैसा ही है । इसलिये आरोग्यताकी भावना करने और 'ओ३म् आनन्दम् ओ३म् आरोग्यम्'के जपसे सब रोग दूर होते हैं ।

(३) सम्मोहन-शक्ति और संकल्प-शक्तिद्वारा शरीर-शोधन (आरोग्यता)—सम्मोहन-शक्ति

सम्मोहन—इस शक्तिको Personal अथवा Animal Magnetism (—प्राणीकी विद्युत्) और फारसीमें शख्सी मिकनातीस या कशिशरूहानी कहते हैं । यह शक्ति मनुष्यमें जितनी अधिक मात्रामें होती है उतना ही वह प्रभावशाली, तेजस्वी, उत्साही, आत्मविश्वासी, आशावादी और कार्यकुशल होता है । इसकी न्यूनता ही मनुष्यको निराशावादी, निरुत्साही, उसके जीवनको अशान्तिमय और उसके कार्योंको असफल बनाती है ।

सम्मोहन-शक्तिका मुख्य स्थान—इस शक्तिका केन्द्र मनुष्यका सिर है, जो मस्तिष्क और ज्ञाने-

इन्द्रियोंका स्थान है, इसलिये इसकी किरणें मनुष्यके चेहरे, आँख, मुँह, नाक और मस्तिष्कद्वारा निकलती रहती हैं। चेहरेके अतिरिक्त हाथों और अँगुलियोंसे भी इसकी किरणें निकलती रहती हैं, इसलिये हमारे जीवनका बहुत-सा कार्य हाथोंद्वारा किया जाता है। यह शक्ति जो किरणोंकी शक्लमें हाथोंकी अँगुलियों और मुखड़े आदिसे निकलती है, उसकी संज्ञा हिंदीमें ओजस्, तेजस्, अंग्रेजीमें Aurora फारसीमें जलाल और नूर है। इसको प्राणतत्त्व और विद्युत्-प्रवाह भी कहते हैं।

सम्मोहनशक्तिका प्रयोग—इस शक्तिको बढ़ाकर आँखोंसे त्राटकद्वारा (निगाह जमाकर), नाकसे श्वासद्वारा, मुँहसे फूँकद्वारा और हाथोंसे मार्जन (Passes) द्वारा और मस्तिष्कसे शुभ भावनाओं और दृढ़तापूर्वक आदेश अर्थात् (Suggestions) सूचनाओंद्वारा शारीरिक तथा मानसिक रोगोंकी निवृत्ति की जाती है। भारतवर्षमें यह विद्या प्राचीन कालसे चली आ रही है। पाश्चात्त्य देशोंमें इसका आधुनिक आविष्कार मैस्मेरिज्म (Mesmerism) और हिपनोटिज्म (Hypnotism) के नामसे प्रसिद्ध है।

योरपमें सबसे प्रथम आस्ट्रियाके वीयना (Vienna) नगरके एक व्यक्ति मैस्मरने लगभग १७७० में यह सिद्धान्त ढूँढ़ा था कि मनुष्यके हाथकी अंगुलियोंके अग्रभागसे विद्युत्-प्रवाह अर्थात् अदृश्य शक्ति निकलती है जो रोगीके शरीरमें प्रविष्ट होकर रोग निवारण करती है। इसका नाम उसने Animal अथवा Personal Magnetism (प्राणीका विद्युत्-प्रवाह) रखा। उसी मैस्मरके नामपर इस विद्याका नाम मैस्मेरिज्म (Mesmerism) और इसके प्रयोगकर्ताका नाम मैस्मेराइज़र (Mesmeriser) प्रचलित हुआ। मैनचेस्टरके एक डाक्टर ब्रेडने सन् १८४१ में यह अनुभव किया कि कृत्रिम निद्राको उत्पन्न करके रोगीके रोगकी सूचना, आदेश (Suggestions) द्वारा निवृत्ति की जा सकती है। कृत्रिम निद्राको Hypnosis कहते हैं, इसलिये इसी नामके आधारपर इस विद्याका नाम हिपनोटिज्म (Hypnotism) और इस विद्याके प्रयोगकर्ताका नाम हिपनोटिस्ट (Hypnotist) प्रचलित हुआ।

सम्मोहन-शक्तिके विकास करनेके नियम—स्वस्थ और नीरोग रहना, ब्रह्मचर्यके नियमोंका आचरण करना, शारीरिक, मानसिक आदि किसी प्रकारकी शक्तिको बिना आवश्यकता व्यय न करना, कर्तव्यपर दृढ़ रहना, दृढ़ आत्मविश्वास और संकल्पबल, श्रद्धा और उत्साह, सदाचार, जीवनकी प्रत्येक अङ्गमें पवित्रता, निर्भयता, वीरता, धैर्य, शुभविचार, सर्वदा चित्तकी प्रसन्नता, परमार्थ-बुद्धि, प्राणिमात्रके लिये शुभकामना, शुद्ध चिन्तन, यम-नियमका पालन, आसन और प्राणायाम आदिका अभ्यास, मनकी एकाग्रता और ईश्वर-भक्ति—ये सब इस शक्तिके विकासके नियम हैं।

सम्मोहन-शक्तिके ह्रासके कारण—शरीर तथा मनका अस्वस्थ और रोगी होना, ब्रह्मचर्यके नियमोंका उल्लङ्घन, शारीरिक और मानसिक शक्तियोंका बिना आवश्यकता व्यर्थ व्यय करना, संशयात्मकता (ढिलमिल यक़ीनी), कायरता, निरुत्साह, दुराचार, भय, काम, क्रोध, मोह, लोभ, राग-द्वेष, ईर्ष्या, घमण्ड, घृणा, निर्दयता, दूसरोंका अहित-चिन्तन, चित्तकी चञ्चलता, अशान्ति, यम-नियमोंका उल्लङ्घन और नास्तिकता—ये सब इस शक्तिके ह्रासके कारण हैं।

आकर्षण-शक्तिको बढ़ानेके साधन—

१. मनको एकाग्र करनेका अभ्यास—समाधिपाद ३४ से ३९ वें तकके सूत्रोंमें बतलाये हुए किसी साधनद्वारा मनको एकाग्र करना।

२. *शरीरकी आन्तरिक क्रियाओंका तथा रक्तप्रवाहिनी नाडियोंके वशीकार करनेका अभ्यास*—

(क) एकान्त स्थानमें सुखासनसे बैठकर मनको एकाग्र करके एक हाथको बिल्कुल खोलकर सीधा रखें। एकसे दसतक गिनते हुए एक अंगुलीको बंद कर अन्य चारोंको खुली रखें। फिर एकसे दसतक गिनती करते हुए दूसरी अंगुलीको भी बंद करें, अन्य तीनों बिल्कुल खुली रहें। इस प्रकार पाँचों अंगुलियोंको बंद कर लें। इसी प्रकार दूसरे हाथको अंगुलियोंको भी बंद करें। फिर एकसे दसतक गिनती गिनकर पहले हाथकी पहली अंगुली खोलें, अन्य सब बंद रहें। इस प्रकार उस हाथकी सब अंगुलियों और दूसरे हाथकी सब अंगुलियोंको बंद करने और खोलनेकी क्रियाका अभ्यास करें।

(ख) किसी चौकी आदिपर दाहिना हाथ कलाईसहित रखकर हाथको बिल्कुल ढीला छोड़ दो, मनको सब ओरसे एकाग्र करके दृढ़ संकल्पसे ऐसी भावना करो कि रक्तका प्रवाह बड़ी तेजीसे हाथकी ओर आ रहा है, जिससे हाथ और अंगुलियोंकी रगें फूल रही हैं और लाल हो रही हैं। जब यह होने लगे, तब इसी प्रकार यह भावना करो कि हाथ और अंगुलियोंसे खून अपने अपने स्थानपर आ रहा है। हाथ तथा अंगुलियाँ अपनी साधारण अवस्थापर आ रही हैं। जब हाथोंमें इच्छानुसार खूनका प्रवाह लाने और उतारनेमें अभ्यास हो जाय, तब मार्जन (पासों) से इस विद्युत्को हाथोंकी अंगुलियोंद्वारा रोगीके रुग्ण स्थानमें भरकर उसकी रोग-निवृत्ति कर सकते हैं। 'पासों' का अभ्यास इस प्रकार है- हाथोंकी दोनों हथेलियोंको जोरसे रगड़ें, जबतक कि गर्म न हो जायँ। फिर हाथोंको आगे-पीछे खूब हिलायें और हाथोंकी अंगुलियोंको खूब जोरसे खोलें और बंद करें। फिर एक कपड़े अथवा रूईके तकियेपर मनुष्यकी कल्पना करके उसके सिरसे पैरतक धीरे-धीरे अपने हाथोंको ले जायें, अन्तमें झटकायें। कुछ समयके पश्चात् इस अभ्याससे अंगुलियोंमें सनसनाहट होने लगेगी और ऐसा प्रतीत होने लगेगा कि अंगुलियोंसे विद्युत्का सूक्ष्म प्रवाह बह रहा है।

(३) त्राटकका अभ्यास— हठयोगके षट्कर्मोंमें बतलाये हुए स्फटिक अथवा काले विन्दुपर इस भावनासे त्राटक करें कि नेत्रोंके ज्ञानतन्तु बलवान् हो रहे हैं, नेत्र प्रभावशाली और आकर्षक हो रहे हैं।

(४) प्राणायामका अभ्यास— दीर्घ श्वास-प्रश्वास (Deep Breathing) का अभ्यास 'प्राकृतिक नियमोंद्वारा शरीर-शोधन' में बतलायी हुई चारों क्रियाओंके अनुसार। ताल्युक्त या भस्त्रिका आदि प्राणायाम सूत्र ५० के वि० व० में बतलायी हुई रीत्यनुसार। प्राणायाम ऐसी भावनासे करे कि 'मैं प्राणशक्तिको शरीरमें खींच रहा हूँ, प्राणशक्ति रोम-रोममें प्रविष्ट होकर मुझे उत्साह, जीवन-शक्ति और आरोग्यता प्रदान कर रही है, मैं सूर्यके सदृश तेजस्वी बन रहा हूँ।'

(५) आरोग्यता और स्वास्थ्यकी दृढ़ भावना—'प्राकृतिक नियमोंद्वारा आरोग्यता' में बतलाये हुए 'ओ३म् आरोग्यम्', 'ओ३म् आनन्दम्' के जापके साथ यह विचार किया करें कि 'मैं स्वस्थ हूँ', 'मुझमें आलस्य और प्रमाद नहीं है', 'मैं बुढ़ापेके पाशसे मुक्त हूँ', 'मैं पूर्णतया नीरोग और बलिष्ठ हूँ', 'मुझमें अपने कर्तव्य कार्योंके करनेकी पूरी शक्ति है', 'मैं उनको दत्तचित्त होकर करूँगा', 'अपने कर्तव्यमें कदाचित् प्रमाद न करूँगा,' जैसे—

एतद्धस्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः स किं एतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामीति स ह षोडशं वर्षशतमजीवत्स ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद। (छा० उप०)

इतराका पुत्र महिदास जो इस रहस्यका जाननेवाला था, उसने रोगको लक्ष्य करके कहा कि 'तू मुझे यह क्या तपाता है, मैं इससे न मरूँगा', वह ११६ वर्ष जीवित रहा तथा जो कोई भी ऐसा जानता है, वह भी ११६ वर्षपर्यन्त जीवित रहता है।

(६) *इष्ट (अच्छी) प्रकृतियोंका ग्रहण और अनिष्ट (बुरी) प्रकृतियोंका परित्याग*—इस शक्तिके प्रयोगकर्त्ताको सबसे प्रथम अपने आपको नियन्त्रण (Self-Control) में रखना अति आवश्यक है, क्योंकि जो स्वयं अपनेको अपने वशमें नहीं रख सकता है, वह दूसरोंपर किञ्चित् भी प्रभाव नहीं डाल सकता है। इसलिये जो दुष्ट प्रकृतियाँ अपनेमें हों, उनका परित्याग और अच्छी प्रकृतियोंका ग्रहण निश्चयात्मक रूपसे पूरे आत्मविश्वास (Self-confidence) और दृढ संकल्प (Firm determination) के साथ करना चाहिये।

अच्छे अथवा बुरे विचार मनुष्यके मनमें जिस प्रगतिसे बराबर उठते रहते हैं, उसके अनुसार उनका बल बढ़ता है। अन्तमें एक समय वे इतने प्रबल हो जाते हैं कि मनुष्य उनके अनुसार कार्य करनेपर बाध्य हो जाता है। जैसे कार्य मनुष्य करता रहता है वैसी ही उसकी प्रकृति बनती जाती है। इससे सिद्ध होता है कि विचार ही मनुष्यकी प्रकृतिके कारण हैं। इसलिये जिस अनिष्ट प्रकृतिको त्यागना है उसको बिना टालमटोलके (जैसे १, २ सप्ताहमें छोड़ दूँगा, अथवा २, ४ बार करनेके पश्चात् छोड़ दूँगा इत्यादिके) तुरंत उसके परित्यागका पूरे आत्मविश्वाससे दृढ़ संकल्प करके उसके विचारोंको पूर्णतया मनसे हटा दें। अथवा जिस समय अंदरसे अनिष्ट कर्मोंके करनेका विचार उत्पन्न हो उसी समय उसको हटा दें। इस प्रकार बराबर हटाये जानेसे वे विचार दुर्बल होते-होते नष्ट हो जायँगे। विचारोंके न रहनेपर उस प्रकारके कर्म होने स्वयं बंद हो जायँगे, बुरे कर्मोंके छूटनेसे वह अनिष्ट प्रकृति भी छूट जायगी।

इसी प्रकार जिस प्रकृतिको ग्रहण करना हो उसके विचारोंको मनमें प्रबल करते-करते दृढ़ प्रकृतिके रूपमें लाया जा सकता है।

अनिष्ट प्रकृतियोंके परित्याग और इष्ट प्रकृतियोंके ग्रहणकी प्रक्रिया—आपने अनुभव किया होगा कि जितने बजे उठनेका संकल्प करते हुए आप सोते हैं, आपकी आँख अवश्य उस समय खुल जाती है। इससे सिद्ध होता है कि जो बात मन अथवा सूक्ष्म शरीरको भलीभाँति सुझा दी जाय, उसके अनुसार कार्य करनेके लिये स्थूल शरीर बाध्य हो जाता है। विशेषतः उस समय जब निद्रा छा रही हो और समस्त अङ्ग ढीले हों, तब मनके अंदर विशेष प्रभाव शरीरपर प्रकट होता है। इसलिये आरामकुर्सी या चारपाई-पर लेटकर अङ्गोंको ढीलाकर चित्तवृत्तियोंको एकाग्र करे। एकाग्रताके साथ-साथ हलकी नींदकी कल्पना करे। जब नेत्र भारी होने लगें और हलकी-सी निद्रा आने लगे, तब जिस अनिष्ट प्रकृतिको छोड़ना हो उसके सम्बन्धमें प्रभावशाली शब्दोंमें इस प्रकार आदेश (Auto-suggestions) दें 'हे मन! तू इस दुष्ट प्रकृति-का परित्याग कर दे, तुझमें यह दुष्ट प्रकृति नहीं रहनी चाहिये, कदाचित् नहीं रहनी चाहिये, मैं इसको निकालकर बाहर फेंक रहा हूँ। मैंने इसको बाहर फेंक दिया है। अब तुझमें इस प्रकारकी कोई प्रकृति नहीं रही है।' यह आवश्यक नहीं है कि इन्हीं शब्दोंको दुहराया जाय, इस आशयको लेते हुए आप अपने ही प्रभावशाली शब्दोंमें इस प्रकारका आदेश (Auto-suggestions) दे सकते हैं। इसी प्रकार जब कोई इष्ट प्रकृति ग्रहण करनी हो तो यह प्रबल विचार उत्पन्न करना चाहिये 'हे मन! मैं इस शुभ

प्रकृतिको तुम्हारे अंदर स्थापित करता हूँ । तुम अब इसी प्रकृतिके अनुसार काम करोगे, तुममें यह प्रकृति दृढ़ हो गयी है, मैंने इसको पूर्णतया दृढ़ कर लिया है ।' इसी रीतिसे किसी बच्चे, श्रद्धालु शिष्य, भक्त अथवा मित्रकी दुष्ट प्रकृतिको छुड़ाया जा सकता है । अर्थात् उसको आरामसे लिटाकर सम्मोहन निद्रा (कृत्रिमनिद्रामें जिसका आगे वर्णन होगा) लाओ । जब कृत्रिम निद्रा आ जाय, तब उसका नाम लेकर उपर्युक्त प्रकारकी आज्ञाओं (Suggestions) द्वारा अर्थात् 'हे अमुक! मैं तुम्हारी इस अनिष्ट प्रकृतिको तुम्हारे अंदरसे बाहर निकालता हूँ, इस अनिष्ट प्रकृतिको छोड़ दो, सर्वदा त्याग दो, मैंने इसे तुम्हारे अंदरसे बिल्कुल निकाल दिया है ।' ऐसा ही इष्ट प्रकृतिके स्थापनमें 'हे अमुक ! मैं तुम्हारे अंदर इस इष्ट प्रकृतिको स्थापित करता हूँ । इस प्रकृतिको मैंने तुम्हारे अंदर दृढ़ कर दिया है, अब तुम इसके अनुसार ही सारे कार्य करोगे, इत्यादि ।' इस प्रकारके वाक्योंको दस-पंद्रह मिनटतक निरन्तर दुहराते रहना चाहिये । यदि सरमें भारीपन अनुभव करे तो उसके सरपर दाहिना हाथ रखकर, उसके नेत्रोंमें कुछ अन्तरसे फूँक मारकर यह सूचना देनी चाहिये कि 'मैंने तुमको नीरोग कर दिया है, तुम अब अच्छे हो, अब तुममें भारीपन नहीं है ।' इस प्रकारका आदेश प्रातःसायंकाल दो बार अथवा रात्रिमें एकान्तमें दें । रात्रिमें स्वाभाविक निद्रामें सोते हुए भी इस प्रकारके आदेश दे सकते हैं ।

आकर्षणशक्तिका प्रयोग— जिस प्रकार प्रयोगकर्त्ता (Hypnotist) के लिये दृढ़ संकल्प, आत्मविश्वास और पात्रके प्रति शुभ भावनाओंकी आवश्यकता है, इसी प्रकार पात्रकी प्रयोगकर्त्ताके प्रति पूरी श्रद्धा, विश्वास और उसके आदेशोंको ग्रहण करनेकी इच्छाकी भी अति आवश्यकता है । पात्रकी इच्छा अथवा उसकी उसके प्रति पूरी श्रद्धा न होनेपर प्रयोगका पूरा प्रभाव न पड़ेगा ।

सूचनाएँ अर्थात् आदेश— (Suggestions)— इस शक्तिके प्रयोगमें मुख्य चीज सूचनाएँ हैं । सूचनाएँ चाहे त्राटक, मार्जन, फूँक आदिके साथ हों, चाहे इनके बिना हों, दृढ़-संकल्प, पूरे आत्मविश्वास और प्रभावशाली शब्दोंमें अवश्य होनी चाहिये । प्रयोगकर्त्ताको यह अवश्य देखना चाहिये कि जिसके ऊपर वह प्रयोग कर रहा है, उसका उसके साथ क्या सम्बन्ध है । यदि किसी अपने बड़े पूज्य, जैसे पिता, गुरु आदिपर प्रयोग किया जाय तो उसके प्रति ये सूचनाएँ प्रार्थनारूपमें होनी चाहिये । जैसे 'आप महान् आत्माके शरीरमें कोई विकार नहीं होना चाहिये, आप अपने शरीरसे इन सब विकारोंको निकाल दीजिये, आप यह प्रार्थना अवश्य स्वीकार कर लीजिये, आपने यह प्रार्थना स्वीकार कर ली, अपने शरीरसे सब विकारोंको निकाल दिया, आप बिल्कुल स्वस्थ हैं, आपका शरीर बिल्कुल नीरोग हो गया है' इत्यादि ।

इस प्रकारकी मानसिक प्रार्थना केवल त्राटकके साथ बिना मार्जन अथवा फूँकके भी प्रभावशाली होती है । गायत्री आदि वैदिक मन्त्र अथवा ॐके जापके साथ सूचनाएँ अधिक प्रभावशाली हो जाती हैं ।

मार्जनक्रियाके प्रयोग करनेकी विधि— (Passes)— मनुष्यके शरीरपर हाथ फेरकर अपनी शक्तिको हाथ और अँगुलियोंद्वारा प्रवेश करनेकी क्रियाको मार्जन-क्रिया अथवा 'पास' करना कहते हैं । मार्जन दो प्रकारके होते हैं, लंबे और छोटे ।

लंबे मार्जन— सिरसे पैरकी अंगुलियोंतक सारे शरीरमें जो मार्जन किये जाते हैं, उनको लंबे अथवा पूरे मार्जन कहते हैं ।

छोटे मार्जन— जो गर्दन, कमर, जंघा आदिसे पैरोंकी अंगुलियोंतक अथवा किसी बाजू, दण्ड,

कलाई आदिसे उस हाथकी अंगुलियोंतक किये जाते हैं, उनको छोटे मार्जन कहते हैं।

मार्जन करनेकी विधि—मार्जन स्त्रीके बायीं ओर पुरुषके दाहिनी ओर देना चाहिये। मार्जन करते समय पात्रके शरीरसे हाथ चार इञ्च दूर रहना चाहिये, दोनों हाथोंकी हथेलियों और अंगुलियोंको मिलाकर तथा अंगूठेको दूर रखकर पीड़ित स्थानपर अंगुलियोंको कुछ देर रखकर धीरे-धीरे पैरों अथवा हाथकी अङ्गुलियोंतक ले जाकर हाथकी अंगुलियोंको झटक देना चाहिये। चित्त एकाग्र, हृदय शुद्ध और पूरे दृढ़-संकल्पके साथ ऐसी भावना करनी चाहिये कि अंगुलियोंद्वारा आपका तेज (विद्युत्-प्रवाह) रोगीके पीड़ित स्थानमें प्रवाहित होकर पीड़ाको हटाता हुआ स्वस्थ जीवन प्रदान कर रहा है। रोगीके पैरों अथवा हाथोंकी अंगुलियोंतक ले जाकर अपने हाथकी अंगुलियोंको इस प्रकार झटक दे जैसे कि रोगीकी पीड़ा और रोगको निकालकर बाहर फेंक दिया है। इसी प्रकार कई बार करें। 'कोई-कोई प्रयोगकर्त्ता हाथमें छुरी अथवा लोहेकी छोटी छड़ी (Iron rod) लेकर मार्जन करते हैं और पीड़ित स्थानपर उसको छुआकर रोगको खींच लेते हैं। यदि आवश्यकता समझें तो रोगीके संतोषार्थ और विश्वासार्थ ऐसे शब्दों- (Suggestions) का भी कभी-कभी उच्चारण होता रहे जैसे, 'तुम्हारी पीड़ा दूर हो रही है, तुम स्वस्थ हो रहे हो, अब देखो तुम्हारी पीड़ा कम हो गयी, अब तुम बिल्कुल नीरोग और स्वस्थ हो गये' इत्यादि। किसी वैदिक मन्त्र अथवा ॐके मानसिक जापसे संकल्पशक्ति अधिक प्रभावशाली हो जाती है। रोगीको कुर्सी, चारपाई अथवा किसी वस्त्रपर आरामसे बैठा अथवा लिटा देना चाहिये। फिर यदि उसके सिर अथवा सारे शरीरमें दर्द हो जैसे ज्वर आदि, तो लंबे 'पास' सिरके पास कुछ देर हाथोंको रोककर पैरकी अंगुलियोंतक पास करें। यदि एक पाँव, जंघा, पिंडली अथवा पंजेमें पीड़ा हो तो उसी स्थान-विशेषसे लेकर पाँवकी अंगुलियोंके सिरेतक पास करे। यदि एक हाथमें बाजूसे पहुँचेतक कष्ट हो तो उसी हाथकी अंगुलियोंके सिरतक पास करे। यदि पीठकी ओर पीड़ा हो तो इसी प्रकार पीछेकी ओर पास करके पीड़ाको निकालना चाहिये।

त्राटक और फूँक—उपर्युक्त भावना, आत्मविश्वास और दृढ़ संकल्पके सहित नीरोगताकी सूचनाएँ और वैदिक-मन्त्र अथवा ॐके मानसिक जापके साथ त्राटकद्वारा रोगीके रुग्ण अथवा पीड़ित स्थानपर टकटकी बाँधकर लगातार देखने तथा पीड़ित स्थानपर मुँहसे फूँक मारनेसे भी रोग-निवृत्ति की जाती है। इनका स्वतन्त्ररूपसे तथा 'पासों' के साथ, दोनों प्रकारसे प्रयोग हो सकता है।

जल, दुग्ध, घृत, तेल आदि पदार्थों अथवा किसी ओषधिपर उपर्युक्त सारी भावनाओंके साथ 'पास', त्राटक और फूँकद्वारा इस शक्तिका संचार किया जाता है और उनके यथायोग्य प्रयोगसे रोग-निवृत्ति की जाती है। 'सूर्यचिकित्सा' में बतलाये हुए जल, तेल, मिश्री आदिपर प्रयोग इस कार्यके लिये विशेष हितकर होगा। इसी प्रकार कपड़ोंको तह करके उनमें इन सब प्रक्रियाओंसे इस शक्तिको पहुँचाया जाता है। इसे रोगीके पीड़ित स्थानोंमें बाँधने अथवा ओढ़नेसे रोग-निवृत्ति हो जाती है।

केवल त्राटकका प्रयोग—संकल्पशक्तिके प्रबल हो जानेपर बिना 'पास' या फूँकके दृढ़-संकल्पद्वारा स्वास्थ्यकी शुभ भावनाओंके साथ ॐका मानसिक जाप करते हुए केवल दूरसे त्राटक करनेसे भी सारे रोग दूर किये जा सकते हैं; परंतु यह फल पात्रकी श्रद्धा और पूरे सहयोगसे ही प्राप्त हो सकता है।

दूर बैठे रोगीका इलाज— Post Hypnotism—

ध्यानकी अवस्था परिपक्क हो जानेपर ही इसका प्रयोग हो सकता है। इसलिये प्रथम अपने अभ्यासके कमरेमें विधिपूर्वक नियत आसनसे बैठकर किसी ऐसे पवित्रात्मा महान् पुरुषके चित्रको जिसपर आपकी पूरी श्रद्धा हो, ध्यानमें लानेका प्रयत्न करें। प्रथम वह चित्र बड़ी कठिनाईसे एक क्षणके लिये सामने आयेगा। निरन्तर अभ्याससे जब वह चित्र बीस अथवा तीस मिनटके लिये ध्यानके आगे बना रहे, तब दूर स्थानपर बैठे हुए रोगीके चित्रको ध्यानमें लाकर उपर्युक्त प्रयोगोंसे उसके रोगोंकी निवृत्ति की जा सकती है; किंतु यह प्रयोग एक निश्चित समयपर होना चाहिये और उस समय रोगी अपने कमरेमें एकान्त शान्तिपूर्वक आरामसे सहारा लगाकर बैठ जाय या लेट जाय और इस प्रयोगको ग्रहण करनेकी भावना करे।

अपने रोगका स्वयं इलाज करना—

अपनी दृढ़ संकल्पशक्ति और आरोग्यताकी दृढ़ भावनाके साथ उपर्युक्त विधियोंसे अपना रोग भी निवारण किया जा सकता है अथवा एक बड़े दर्पण (आइने) में अपने प्रतिबिम्बपर उपर्युक्त विधि-अनुसार त्राटक, पास आदि द्वारा आरोग्यताकी सूचनाएँ (Auto-suggestions) देकर रोग-निवृत्ति की जाती है, परन्तु जब पीड़ाके कारण अपनी इस शक्तिका स्वयं प्रयोग करनेमें असमर्थता हो, तब किसी दूसरे अपने शिष्य अथवा अन्य किसी अनुभवी प्रयोगकर्तासे इस शक्तिका प्रयोग करावे और उसमें अपनी शक्ति लगा दे।

दूसरेकी पीड़ाओंको वस्त्रमें खींचना—कोई-कोई प्रयोगकर्त्ता एक चादर ओढ़कर बैठते हैं और रोगीको अपने सामने बैठाकर उसकी आँखोंसे आँखें मिलाकर पूरे संकल्पके साथ उसके रोगको चादरमें खींच लेते हैं। तत्पश्चात् उस चादरको जला देते हैं।

पूज्यपाद स्वर्गीय परमहंस स्वामी विशुद्धानन्दजी महाराज (प्रसिद्ध गंधबाबा) के सम्बन्धमें यह प्रसिद्ध है कि वे अपने श्रद्धालु शिष्योंके रोग और पीड़ाको अपने शरीरमें खींच लेते थे, परन्तु यह कार्य अधिकतर शिष्योंकी गहरी श्रद्धा और विश्वासपर निर्भर था।

कृत्रिम-निद्रा (Hypnosis)—त्राटक, मार्जन आदि क्रियाओं तथा सूचना (Suggestions) शक्तिसे अथवा किसी चमकीली वस्तुपर नजर जमाकर नेत्रोंके मज्जातन्तुओंको थकाकर जो स्वाभाविक निद्राके समान तन्द्रा उत्पन्न की जाती है, उसको कृत्रिम निद्रा Hypnosis अथवा Hypnotic Sleep अथवा Mesmeric Sleep कहते हैं।

कृत्रिम निद्रा उत्पन्न करानेकी कई सरल विधियाँ—

(१) प्रयोगकर्त्ता पात्रको अपने सम्मुख आरामसे बैठाकर उसकी आँखोंपर त्राटक करे और उससे कहे कि वह भी बिना पलक झपकाये टकटकी बाँधकर उसकी ओर देखे। कुछ देर ऐसा करनेके पश्चात् पात्रसे कहे कि अब तुम इतने समयतक अथवा जबतक मैं तुमको आज्ञा न दूँ, आँख नहीं खोल सकते, तुम कृत्रिम निद्रामें आ गये हो। जो तुमको आज्ञा दूँगा वैसा ही करोगे।

(२) एक कागजपर सौ बार कृत्रिम निद्रा (Hypnosis) लिखो और पात्रसे यह कहकर पढ़वाओ कि जब तुम अन्तिम शब्द पढ़ोगे, तब गहरी कृत्रिम निद्राको प्राप्त हो जाओगे, उस समय सारे कार्य मेरी आज्ञाके अनुसार करोगे, मेरी आज्ञासे बाहर किसी भी प्रकार न जा सकोगे।

(३) रुईके फोयेको बर्फ या बर्फ–जैसे ठंडे पानीमें भिगोकर पात्रके मत्थेसे नीचेकी ओर रखे, फिर उसको यह कहकर सूचना दे कि उसको उठाते ही वह गहरी कृत्रिम निद्राको प्राप्त होगा।

(४) पात्रके सम्मुख किसी धातुके कटोरेको रखकर लोहेकी छुरीसे धीमे-धीमे कई बार पात्रको यह सूचना देकर बजावे कि ज्यों ही वह बजाना बंद करेगा त्यों ही वह (पात्र) गहरी कृत्रिम निद्राको प्राप्त हो जायगा।

(५) पात्रके सामने एक प्याला दूधका अथवा मिश्री आदिके टुकड़े खानेके लिये रखकर यह सूचना दे कि इसके समाप्त करनेके कुछ देर बाद वह गहरी कृत्रिम निद्राको प्राप्त होगा। तत्पश्चात् कई विधान मार्जन दे।

(६) भ्रुकुटिपर त्राटक करते हुए कृत्रिम निद्राकी सूचना दे।

(७) पात्रको प्रभावशाली शब्दोंमें यह सूचना देकर कि पंद्रह मिनट अथवा आध घंटेमें तुम कृत्रिम निद्राको प्राप्त हो जाओगे उसको घड़ीमें समय देखते रहनेको कहो।

(८) चुंबक छड़ी (Mesmeric wand) हाथमें लेकर प्रभावशाली शब्दोंमें यह सूचना दो कि इस छड़ीमें ऐसी शक्ति है कि जिसके सामने फिरायी जाय वही कृत्रिम निद्राको प्राप्त होगा, फिर जिस जिसके सामने घुमाते जाओ वही सोता जायगा।

इस प्रकार कृत्रिम निद्रामें लानेके कई उपाय हैं। 'प्रयोगकर्त्ताको समय और आवश्यकतानुसार अपनी प्रयोग-बुद्धिसे काम लेना होता है। ऊँची अवस्थावाले तो केवल मानसिक शक्तिसे ही सारे कार्य कर सकते हैं। आरम्भमें प्रयोगकर्त्ताको किसी बारह वर्षसे सोलह वर्षतककी आयुवाले लड़केपर अभ्यास करनेसे सुगमता होती है। अपनी शक्तिकी जाँच इस प्रकार कर सकते हो कि यदि किसी जाते हुए पुरुषके प्रति त्राटकद्वारा ऐसा संकल्प करो कि वह तुम्हारी ओर देखे। जब ऐसा होने लगे तो समझो कि तुम्हारी शक्ति प्रयोग करनेके योग्य हो गयी है।

कृत्रिम निद्राद्वारा रोग-निवारण—

कोई-कोई प्रयोगकर्त्ता रोगीको कृत्रिम निद्रामें लाकर पूर्वोक्त रीतिसे स्वास्थ्य और नीरोगताकी सूचनाएँ देकर रोग और पीड़ाको निकालते हैं। इसमें दो प्रकारके मार्जन 'पास' दिये जाते हैं—विधान मार्जन (Downward Passes) और विसर्जन मार्जन (Upward Passes)। विधान मार्जन ऊपरसे नीचेकी ओर अर्थात् सिरसे छाती अथवा पैरतक, कृत्रिम निद्रा लानेके लिये; और विसर्जन मार्जन नीचेसे ऊपरकी ओर अर्थात् छाती अथवा पैरसे सिरतक, कृत्रिम निद्रा उतारनेके लिये दिये जाते हैं।

कृत्रिम निद्रा लानेकी साधारण रीति यह है कि पात्रको पहले यह समझा दिया जाय कि एक निश्चित समयतक कृत्रिम निद्रामें लाकर तुम्हारे रोग निकाल दिये जायँगे। फिर उसको कह दे कि शरीर-को शिथिल करके लेट जाय और अङ्ग-प्रत्यङ्गको ढीला छोड़कर नाकसे गहरे श्वास-प्रश्वास करे। भ्रुकुटिपर त्राटक करते हुए दृढ़ संकल्पके साथ कृत्रिम निद्रामें लानेकी सूचनाओंके साथ विधान मार्जन दे। दस-बारह विधान मार्जन देनेसे जब कृत्रिम निद्रा आ जाय तब पूर्वोक्त विधिसे स्वास्थ्यकी सूचना (Sugges-tions) के साथ लंबे अथवा छोटे मार्जन यथावश्यकता दे। यह सूचना प्रभावशाली शब्दोंमें होनी चाहिये कि तुम्हारा अमुक रोग निकल रहा है, अब तुम बिल्कुल नीरोग हो रहे हो। जाग्रत् होनेपर

रोग अथवा पीड़ा सब जाती रहेगी इत्यादि ।

दूसरी विधि यह है कि प्रयोगकर्त्ता पात्रको अपने सम्मुख एक फुट दूर कुर्सीपर बैठाकर उसके दाहिने हाथकी अंगुलियोंको अपने बाँयें हाथसे पकड़कर निगाहसे निगाह मिलाकर ऐसा दृढ़ संकल्प करे कि पात्रको निद्रा आ रही है और पात्रको बिना पलक झपकाये अपनी आँखोंकी ओर टकटकी बाँधकर देखनेके लिये कहे। जब आँखें भारी होकर बंद होने लगें, तब उनको बंद करनेकी आज्ञा दे। कृत्रिम निद्रा आ जानेपर उपर्युक्त विधिसे स्वास्थ्यदायक सूचनाएँ दे।

बालकों अथवा शिष्योंको इसी प्रकार कृत्रिम निद्रामें लाकर सूचनाओंद्वारा उनके दुर्गुणोंको निकालकर सदाचारी बनाया जा सकता है।

ध्यानकी परिपक्व अवस्थामें दूर स्थानमें रहनेवाले शिष्य अथवा किसी प्रेमीके चित्रको ध्यानमें लाकर इस प्रकारके Suggestions देनेसे वे दुर्गुण दूर हो सकते हैं और उसका जीवन पवित्र बनाया जा सकता है। यदि कोई अपनेसे द्वेष रखे या अपकार करे तो उसको ऐसे आदेश (Suggestions) देनेसे कि तुम मेरे प्रति द्वेष नहीं रखते हो; जैसा मेरा हृदय तुम्हारे प्रति पवित्र है, वैसे ही तुम भी मेरे प्रति शुद्धहृदय हो इत्यादिसे उसका हृदय पवित्र और दोषरहित हो जाता है।

कृत्रिम निद्राकी अवस्थाएँ—

कृत्रिम निद्रा अथवा सम्मोहन निद्राको छः अवस्थाओंमें विभक्त किया जा सकता है। तन्द्रा, निद्रा, प्रगाढ़ सुषुप्ति, अनुवृत्ति, दिव्य-दृष्टि और प्रत्यग्-दृष्टि।

साधारण पात्र प्रथम तीन अवस्थाओंमें ही रहते हैं उत्तम अधिकारी ही चौथी और पाँचवीं अवस्थामें पहुँच पाते हैं। छठी अवस्था किसी विरलेहीको प्राप्त होती है।

इस सम्मोहन-शक्ति और संकल्प-शक्तिके ही अन्तर्गत पाश्चात्य देशोंको Clairvoyance दिव्य-दृष्टि Spiritualism और Telepathy हैं। जब इस शक्तिको रोगनिवारणार्थ प्रयोग किया जाता है, तब उसको क्यूरेटिव मैस्मेरिज्म (Curative Mesmerism) कहते हैं। जब दिव्य-दृष्टि आदिके लिये प्रयोग किया जाता है, तब फिनामिनल मैस्मेरिज्म (Phenominal Mesmerism) कहते हैं।

Clairvoyance—उपर्युक्त विधिसे पात्रको सम्मोहन-निद्रामें लाकर ऐसे आदेश दिये जाते हैं कि तुम दिव्य-दृष्टिको प्राप्त हो गये हो, तुम प्रत्येक वस्तुको देख सकते हो, तुम सब छिपी बातोंको बता सकते हो इत्यादि। फिर जो छिपी हुई बात पूछी जाती है तो वह उसका उत्तर देता है। आरम्भमें दिव्य-दृष्टिको क्रमानुसार बढ़ाया जाता है। अर्थात् पहले उस कमरेकी चीजोंके बारेमें पूछा जाता है फिर अन्य स्थानोंमें भेजकर वहाँके समाचारोंको और फिर दूर देशों और गुप्त बातोंको मालूम किया जाता है। आरम्भमें इसका प्रयोग छोटे बालकपर किया जाता है, तत्पश्चात् प्रत्येक बड़े मनुष्यपर भी कर सकते हैं।

Spiritualism—एक प्लानचेट (एक पानके आकारका लकड़ीका पतला तख्ता जिसके दो ओर धातुके दो पहिये और किनारेपर पेन्सिल लगी होती है) पर अंगुली रखनेसे उनकी मैगनेट पावरसे वह घूमने लगती है। मनकी एकाग्रता और हृदयकी शुद्धताकी अपेक्षासे उसमें पुरुष-प्रश्नके उत्तर ठीक-ठीक निकल आते हैं। इसी प्रकार पेन्सिलको हाथकी अंगुलियोंसे पकड़कर कागजपर रखकर अंगुलियोंके

मैगनेट पावरसे चलनेपर प्रश्नोंका उत्तर दिया जाता है। इसी प्रकार एक छोटी टेविल (Table) पर कई प्रयोगकर्ता एकाग्रतापूर्वक विशेष भावनाओंके साथ अपने हाथकी अंगुलियोंको रखते हैं। अंगुलियोंकी विद्युत्-शक्ति (Personal magnetism) से उस टेविलका एक-एक पाँव उठता है और प्रयोगकर्ताओंकी एकाग्रता और हृदयकी शुद्धताके कारण बहुधा उत्तर ठीक-ठीक ही मिलते हैं।

यहाँ इस बातको स्मरण रखना चाहिये कि जो इस प्रकार Planchet द्वारा अथवा किसी Medium द्वारा आत्माओं (Spirits) को बुलाकर उनकी मृत्युके पश्चात्के जो समाचार मालूम किये जाते हैं, उनमेंसे अधिक प्रयोगकर्ताके अपने ही विचार होते हैं। Planchet विद्युत् (Magnet) शक्तिसे उन्हींके विचारोंकी धारामें घूमती है तथा Medium (पात्र) अपने ही विचारोंको प्रकट करता है।

कभी-कभी Medium (पात्र) प्रयोगकर्ताके विचारोंसे प्रभावित होकर उसीके विचारोंको प्रकट करने लगता है। यदि Medium (पात्र) ऊँची दिव्य-दृष्टिवाला हो तो वह उस पुरुषके विचारोंको ही ग्रहण करने लगता है जिसकी आत्मा (Spirit) को उस पात्र द्वारा बुलानेका यत्न किया जाता है; क्योंकि आकाशमें सारे ही विचार विद्यमान हैं। कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि कोई पुरुष अपनी मृत्युके समय अपनी विशेष बातोंको किसी अपने दूर स्थानमें रहनेवाले किसी कुटुम्बी या मित्रसे कहनेकी तीव्र इच्छा रखता है तो वे विचार अपनी प्रबल शक्तिके कारण स्वयं उसतक किसी-न-किसी रूपमें पहुँच जाते हैं।

Telepathy—इसी प्रकार दो प्रयोगकर्ता अलग-अलग बैठकर एक निश्चित समयपर तालयुक्त प्राणायाम इत्यादि करके एक खबर (Message) भेजता है और दूसरा इसको ग्रहण करता है। (उपर्युक्त बातें केवल जानकारीके लिये लिखी गयी हैं। आत्मोन्नति चाहनेवाले अभ्यासियोंको इनमें अधिक प्रवृत्त न होना चाहिये।)

संकल्प-शक्ति (Will-power)

उपर्युक्त जितने प्रयोगोंका सम्मोहन-शक्तिद्वारा होना बतलाया गया है, उन सबमें मुख्य भाग संकल्पशक्तिका ही है। बिना संकल्पशक्तिके उनमेंसे किसीमें भी सफलताका होना असम्भव है; किंतु केवल दृढ़ संकल्पशक्ति मात्रसे वे सब तथा उनसे कहीं अधिक बढ़कर चमत्कार दिखलाये जाते हैं। संकल्पशक्ति ही मनुष्यके जीवनमें उन्नति और अवनतिका कारण होती है। उपनिषदोंमें बतलाया गया है 'संकल्पमयोऽयं पुरुषः' अर्थात् मनुष्य संकल्पका ही बना हुआ है। मनु महाराजका कथन है—

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञः संकल्पसम्भवः। व्रतनियमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः॥

सब प्रकारकी कामनाओंका मूल यह संकल्प है। यज्ञ संकल्पसे उत्पन्न होता है। व्रत (प्रतिज्ञा), नियम, धर्म—सब इसी संकल्पसे उत्पन्न होनेवाले माने गये हैं।

आज हमें जितने महापुरुष दीख पड़ते हैं, जिनके नामपर संसार फूल चढ़ाता है और जिन्हें अत्यन्त आदरसे स्मरण करता है, उनके जीवनको पवित्र और उच्च बनानेका कारण संकल्पशक्ति ही है।

आर्योंकी ईश्वरीय और जगत्की प्राचीनतम पुस्तक 'वेद' में अनेकों सूक्त इसी विषयके आते हैं, जिनमें बारंबार यही प्रार्थना की गयी है—'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' अर्थात् मेरा यह मन पवित्र संकल्पवाला हो। यथा—

ॐ यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ॥

जो दिव्य मन जाग्रत् अवस्थामें दूर निकल जाता है और इसी प्रकार सोनेकी दशामें भी बहुत दूर चला जाता है; वह दूर जानेवाला ज्योतियोंका ज्योति अर्थात् इन्द्रियोंका प्रकाशक मेरा मन शुभ संकल्पोंवाला हो ।

ॐ येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

कर्मशील, मनीषी, धीर पुरुष जिसके द्वारा परोपकार क्षेत्रमें तथा जीवन-संघर्षमें बड़े-बड़े कार्य कर दिखाते हैं, जो समस्त प्रजाओं (इन्द्रियों) के अंदर एक अपूर्व पूज्य सत्ता है, वह मेरा मन शुभ संकल्पोंवाला हो ।

ॐ यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

जो नये-नये अनुभव कराता है, पिछले जाने हुएका अनुभव कराता है, संकटमें धैर्य धारण कराता है, जो समस्त प्रजाओं (इन्द्रियों) के अंदर एक अमरज्योति है, जिसके बिना कोई कर्म नहीं किया जाता, वह मेरा मन शुभ संकल्पवाला हो ।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

जिस अमृत मनके द्वारा यह भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान जाना जाता है, जिससे सात होताओं-वाला यज्ञ फैलाया जाता है, वह मेरा मन शुभ संकल्पोंवाला हो ।

ॐ यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

जिसमें ऋचाएँ, साम, यजु इस प्रकार टिके हुए हैं जैसे रथकी नाभिमें अरे, जिसमें इन्द्रियोंकी सारी प्रवृत्ति पिरोयी रहती है, वह मेरा मन शुभ संकल्पोंवाला हो ।

ॐ सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान् नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

अच्छा सारथी जिस प्रकार वेगवान् घोड़ोंको बागोंसे पकड़कर चलाये जाता है, उसी प्रकार जो मनुष्योंको लगातार चलाता रहता है, जो हृदयमें रहनेवाला है, वह मेरा मन शुभ संकल्पोंवाला हो ।

क्योंकि प्रारब्धकर्म संकल्पद्वारा ही क्रियमाण होते हैं, जैसा कि कहा है—'विनाशकाले विपरीत-बुद्धिः' इसलिये मनुष्य यदि अपने संकल्पको विशुद्ध रखे और जब वह मलिन और अपवित्र होने लगे तो यह जानकर कि मुझपर कोई भारी विपत्ति आनेवाली है, शीघ्र ही अपने संकल्प और विचारोंको शुद्ध और पवित्र बना ले तो कभी भी दुर्भाग्य उसको भयभीत नहीं कर सकता । शुद्ध विचारवाले मनुष्यपर यदि अकस्मात् कोई विपत्ति आ भी जाय तो उसका बोझ तुरंत ही दूसरे लोग बाँट लेते हैं । अर्थात् अपनी सहायता और सहानुभूतिसे उसकी विपत्तिको तत्काल ही दूर कर देनेका यत्न करते हैं; परंतु

इसके विरुद्ध दुर्जनको तत्काल दुःखमें डालनेके लिये सब-के-सब तैयार हो जाते हैं। सुतरां जो मनुष्य दुःखोंको अपने जीवनमें कम करनेकी इच्छा करता है, उसको चाहिये कि वह संकल्प-विद्या-प्रवीण बने और उसका सुप्रयोग करना सीखे।

जैसे उगते हुए पौधेको उखाड़कर फेंकना अति सुगम है, परंतु जब वह वृक्ष बन जाय, तब फिर उसको जड़से उखाड़ना मनुष्यकी शक्तिके बाहर हो जाता है। ठीक ऐसे ही उत्पन्न होते दुष्ट संकल्पोंका उच्छेदन और उनके स्थानमें पवित्र तथा शुद्ध संकल्पोंका संयोजन करना अतीव सुगम होता है, परंतु वही जब एक वृद्धाकार धारण कर लेता है, तब फिर उसका नष्ट करना कठिन हो जाता है। सुतरां जो उठते हुए दुष्ट संकल्पको उसी समय मिटा देते हैं, वे उसके परिणामस्वरूप कर्म और कर्मके फल दुःखसे भी बचे रहते हैं। इसी कारण 'वेदमें' बारंबार यह प्रार्थना आयी है—'यह मेरा मन पवित्र संकल्पोंका स्रोत बने।' 'संकल्पविद्याकी' शक्तिका पूरा-पूरा अनुभव करना अत्यन्त कठिन है; क्योंकि संसारके प्रत्येक पदार्थमें यह विद्या विराजमान है। आजतक जितनी मानसिक शक्ति (Mental Senses) जैसे मैस्मेरिज्म, हिप्नोटिज्म, टेलीपैथी, स्प्रिचुआलिज्म आदि मनुष्यको विदित हुई हैं, उन सबमें यही अलौकिक शक्ति काम करती है।

मार्कोनीके विना तारके तारवाले यन्त्र (Wireless Telegraph) ने संकल्पशक्तिको अत्युत्तमतासे सिद्ध किया है। उससे इसके प्रबल अस्तित्वका प्रत्येक बुद्धिमान्‌को निश्चय हो जाता है। मार्कोनी महाशय कहते हैं—

"एक शब्द अथवा वैसा ही कोई स्वर—वायुमण्डलमें उसी प्रकारकी गति उत्पन्न करता है जिस प्रकार झीलमें एक कंकरीके डाल देनेसे तरंगें उठने लगती हैं। शब्दकी ये तरंगें दूर-दूरतक पहुँचती हैं, चाहे कितनी दूरका अन्तर क्यों न हो, वे टेलीग्राफके प्रत्येक यन्त्रको अपना अस्तित्व अनुभव कराती हैं। आकाशके सूक्ष्म मण्डलों (ईथर) पर संकल्पकी तरंगें दौड़ती, काम करती और दूर-दूरतक पहुँचती रहती हैं।" यदि मार्कोनी साहब अपने इस अलौकिक यन्त्रका आविष्कार न करते तो युक्ति तथा तर्कपर ही भरोसा रखनेवाले बहुत-से मनुष्योंको विश्वास ही न होता।

ईथरकी शक्ति जो आकाशमें विद्यमान है, जिसपर संकल्पकी तरंगें दूरतक दौड़ती हैं, हमारे मस्तिष्कमें भी विद्यमान है। निरन्तर विचारसे उसके अंदरकी गति उत्पन्न होती है और मस्तिष्कसे उसी प्रकार निकलती है, जिस प्रकार विद्युत्‌की धाराएँ निकला करती हैं। विचारकी वे धाराएँ, जो अनिच्छित और संकल्पशक्तिको संरक्षाके विना बाहरको निकलती हैं, शीघ्र ही नष्ट हो जाती हैं। परंतु विचारशक्तिकी वे तरंगें जिनके साथ संकल्पशक्तिका प्रबल बल विद्यमान होता है, मनुष्यके मस्तिष्कसे निकलकर रुकावट और विरोधके होते हुए भी उस समयतक निरन्तर दौड़ती रहती हैं, जबतक उनको ऐसा कोई मन न मिल जाय जो उस विचारके साथ सहानुभूति और अनुकूलता रखता हो।

यदि आप घृणा, धिक्कार, फटकार या शत्रुताके विचार इसी संकल्पशक्तिको सहायतासे किसीके लिये भेजेंगे तो वे विचार जीवित शक्ति बन जायँगे और वे तबतक निरन्तर दौड़ते रहेंगे जबतक कि उसके मनतक न पहुँच जायँ जिसके लिये वे भेजे गये थे। वे इसके अतिरिक्त और बहुतसे मनोंके अंदर भी अपना प्रतिबिम्ब छोड़ जाते हैं। प्रेमका जो प्रत्येक विचार बाहर जाता है, अपने परिणाममें प्रेमकी पूरी शक्ति लेकर उसीके पास वापस आ जाता है, इसीलिये यह कहावत प्रसिद्ध है कि—'मनका मन साक्षी है' और फारसीमें कहा है कि 'दिल रा बदिल रहे मस्त'।

क्योंकि आसमानमें अनेक भाँतिके विचार चक्कर लगाते रहते हैं, इसलिये जिस प्रकारके विचारोंकी मनुष्यमें ग्रहण करनेकी प्रकृति होती है, उसी प्रकारके विचारोंको आकाशसे वह अपनी ओर खींच लेता है। यही कारण है, यदि कोई बुरा विचार मनमें उत्पन्न हो जाय तो फिर उसी प्रकारके विचारोंकी लड़ी मनमें बन जाती है और वह तबतक बंद नहीं होती जबतक कि मनुष्य स्वयं अपनी प्रबल संकल्पशक्तिसे अपने मनको उस ओरसे नहीं रोक देता।

आकाशमें उत्तम-से-उत्तम और निकृष्ट-से-निकृष्ट विचार विद्यमान हैं, इसलिये केवल उन विचारोंको ग्रहण करनेके लिये मनुष्यको एकाग्रचित्तसे उद्यत होना और उस ओर चित्तवृत्तिका लगाना ही पर्याप्त है। जब तत्त्वदर्शी किसी पदार्थपर विचार करता है, तब उसी सम्बन्धमें नवीन बातें उसके मनमें उठने लग जाती हैं और यह ऐसी बातें होती हैं जो स्वयं सोचनेवालोंके लिये भी सर्वथा नयी और विस्मित कर देनेवाली होती हैं। इसी प्रकार आविष्कार करनेवाला जब अपने आविष्कारके सम्बन्धमें विचार करनेके लिये अपने चित्तको एकाग्र करके एकान्तमें बैठ जाता है, तब वह आकाशमेंसे अपने उपर्युक्त विचारोंको उसी प्रकार संग्रह कर लेता है जिस प्रकार एक ताड़का वृक्ष भूमिसे मधुर रसको अपने अंदर खींच लेता है। ठीक इसी प्रकारसे एक आविष्कार करनेवाला अपने मनको अन्य विचारोंसे शून्य और एकाग्र करके अपने उपयोगी विचारोंको अपने अंदर आनेका अवसर देता है; एवं निरन्तर अभ्यासके अन्तमें एक विख्यात आविष्कारक बन जाता है।

अध्यात्म-विद्याके गुरु जब अपने किसी शिष्यसे कोई काम करवाना चाहते हैं, तब उसको पत्र आदि नहीं लिखा करते प्रत्युत अपने विचारोंको ही उसके मनमें रख देते हैं। ये विचार उसके अंदर पहुँचकर उसको वही काम करनेके लिये प्रेरणा करते हैं जिसका कराना उसके गुरुको अभिप्रेत होता है। यही मानसिक प्रेरणा है, यही गुप्त आध्यात्मिक सम्बन्ध और आत्मिक सहायता है, जो पिछले महात्मा अपने शिष्योंके साथ रखते थे। यदि तुम किसीके प्रति बुरे विचारोंकी भावना करोगे तो वे वहाँ दुःख और व्याकुलता देनेके पश्चात् अपने सजातीय अन्य विचारोंको तुम्हारे लिये उत्पन्न करेंगे अर्थात् जितने घृणाके विचार तुम दूसरोंके निमित्त उत्पन्न करोगे उससे कहीं अधिक मात्रामें लौटकर तुमको मिलेंगे और यदि प्रेमके विचार भेजोगे तो वे भी प्रभावरहित न रहेंगे, बल्कि वे उस मनतक अवश्य पहुँचेंगे और अपने परिणाममें अधिक प्रेमको तुम्हारे निमित्त उत्पन्न करेंगे। यही कारण है कि जिससे तुम्हारा मन घृणा करता है, वह भी उसी प्रकार तुमसे घृणा करता है। हाँ, यदि तुम उसकी घृणाको दूर करना चाहते हो तो उसके लिये अपनेसे प्रेमभरे विचारोंको भेजो। ये विचार उसके मनका सुधार करेंगे और फिर अपने परिणाममें तुम्हारे लिये प्रेमको उत्पन्न करेंगे। इसी कारण हमारे प्राचीन शास्त्रोंने उपदेश किया है कि प्रत्येक मनुष्यको जीवमात्रकी भलाईके लिये प्रबल शक्तिके साथ यह प्रार्थना करनी चाहिये —

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ॥

सम्पूर्ण जीवोंको सुख प्राप्त हो, सब प्राणी नीरोग हों, सबका कल्याण हो, किसीको भी दुःख न हो।

जब एक मनुष्य अपने अंदरसे समस्त शत्रुताके विचार निकालकर सारे संसारके लिये भलाई और सुखकी प्रार्थना करता है, तब उसको उसके बदलेमें (Universal Love) विश्वमात्रका प्रेम प्राप्त होता और तब संसारका कोई पदार्थ उसके लिये त्रासोत्पादक नहीं रहता।

ॐ अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नोऽस्तु ॥

अन्तरिक्षमें हमारे लिये अभय हो, इन दोनों द्यौ और पृथिवीमें अभय हो, अभय पीछेसे हो, आगेसे हो, ऊपर-नीचेसे हमारे लिये अभय हो।

ॐ अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥

हम मित्रोंसे अभय हों, शत्रुओंसे अभय हों, जाने हुए परिचितोंसे अभय हों और जो आगे आनेवाले हैं, अपरिचित हैं उनसे भी अभय हों। रात्रि और दिनमें हम निर्भय रहें, समस्त दिशाएँ हमारे मित्ररूपमें हों। (अथर्व० १९-१५-५-६)

वह वनोंमें भी उसी आनन्द और सुखसे रहता है जैसे कि अपने घरमें। स्वामी विवेकानन्दजी महाराज इसी शक्तिका वर्णन करते हुए अपने राजयोगमें इस प्रकार लिखते हैं—

योगीको चाहिये कि वह रात्रिको सोते समय और प्रातःकाल जागनेपर चारों दिशाओंमें मुँह करके प्रबल संकल्पशक्तिसे सारे संसारकी भलाई और शान्तिके अर्थ अपने विचारोंको छोड़े। यथा—

ॐ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवा शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

द्युलोक शान्ति दे, अन्तरिक्ष शान्ति दे, पृथ्वीलोक शान्ति दे, जल प्राण-शान्ति दें, रोगनाशक ओषधियाँ शान्ति दें, भोज्य वनस्पतियाँ शान्ति दें। सब-के-सब देव शान्तिदायक हों, ज्ञान शान्ति दे, सब कुछ शान्ति ही दे, शान्ति भी सचमुच शान्ति ही हो, वह ऐसी शान्ति मुझे प्राप्त हो।

क्योंकि Every bit of hatred that goes out of the heart of man comes back to him in full force, nothing can stop it and every impulse of life comes back to him. अर्थात् घृणाका प्रत्येक विचार जो मनुष्यके अन्दरसे बाहर आता है, वह वापस अपने पूरे बलके साथ उसीके पास आ जाता है; और ऐसा करनेमें उसको कोई वस्तु रोक नहीं सकती। इसी प्रकार कोई मनुष्य अनुमान नहीं कर सकता कि अज्ञानतासे विचारे हुए घृणा, प्रतीकार और कामी तथा अन्य घातक विचारोंके भेजनेसे कितने जीवन नष्ट होंगे और कितनोंकी हानि होगी। इसलिये विचारशक्तिके महत्त्वको समझो और उसको सर्वदा पवित्र तथा निर्मल रखनेका प्रयत्न करो और प्रतिदिन समस्त जीवमात्रके कल्याणके लिये प्रार्थना किया करो, इससे तुम्हारा और सबका भला होगा।

विचारोंद्वारा मनुष्यके शरीरमें 'स्वास्थ्य' और 'रोग' दोनोंहीका संचार किया जा सकता है। 'विचार' भूखको उत्पन्न और नाश कर सकता है। वह मुखमण्डलको सहसा पीला कर देता है, मुँह और होठोंको सुखा देता है; और यही विचार मुख-मण्डलको प्रफुल्लित, रक्तकी गतिको तीव्र और शरीरपर कान्ति प्रदान करता है। यही देहको कँपाते हुए, नेत्रोंसे आँसुओंका प्रवाह जारी कर देता है, मनकी गति इसीके द्वारा शिथिल और तीक्ष्ण हो जाती है। यही मनुष्यको आनन्दमय बना देता है और यही मनुष्यको निराशाकी चिरकाल खोहमें ढकेल देता है, इसीके अकस्मात् प्राप्त आनन्दको न पचाकर मनुष्य फूलकर मर जाता है; और कभी भयके कारण लहू सूख जाने अथवा मनकी गति रुक जाने तथा भय, शोक और असह्य दुःखके कारण तुरंत और अकस्मात् मृत्यु

हो जाती है, अर्थात् जहाँ यह मनुष्यको मृत्युके मुखमें तुरंत ढकेल सकता है वहाँ वही उसे स्वास्थ्य, आनन्द और सुख प्रदान कर सकता है।

वस्तुतः हमारी दुनिया वह नहीं है जिसको हम मानते हैं, प्रत्युत वह है जिसका हम विचार करते हैं। मनुष्य विचारोंका एक पुतला है। जैसे इसके विचार होते हैं वैसा ही यह बन जाता है। इसलिये यदि हम रोगके विचारको एक समयतक निरन्तर बनाये रखेंगे तो निराश होना पड़ेगा, रोग अपना स्वरूप अवश्य दिखलायेगा, अर्थात् जैसा विचार करेंगे वैसा ही हो जायगा।

अतः प्रतिदिन प्रतिक्षण मनुष्यको चाहिये कि वह निराश न हो, वरं सदैव आशाजनक प्रसन्नता, स्वास्थ्य और सफलताके विचारोंको मनमें धारण करे। सुख और आशाकी तरंगें रक्तकी गतिपर ही उत्तम प्रभाव डालेंगी और उसको शुद्ध तथा लाल करके स्वास्थ्यके सुप्रभावको सम्पूर्ण देहमें बाँट देंगी, जिससे तुम अपने स्वास्थ्यको अच्छा और शरीरको व्याधियोंसे सुरक्षित रख सकोगे।

प्रत्येक मनुष्य सुन्दरता, स्वास्थ्य और सुखमय जीवनकी इच्छा करता है। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि वह सौ वर्षतक जीवित रहे। वह सौ वर्षतक उस प्रकारका जीवन नहीं चाहता जो रोते, झींकते हुए और खाटपर पड़े हुए ओषधियोंका सेवन करते हुए कटे। वह ऐसा जीवन चाहता है जो काम करते हँसते-खेलते हुए बीते। वह उसीके लिये ईश्वरके सम्मुख सिर झुकाकर प्रार्थना करता है—

पश्येम शरदश्शतं जीवेम शरदश्शतं शृणुयाम शरदश्शतम्।
प्रब्रवाम शरदश्शतमदीनाः स्याम शरदश्शतम्॥ (यजु० ३६।२४)

मैं सौ वर्षतक देखूँ, सौ वर्ष जीवित रहूँ, सौ वर्षतक सुनूँ, सौ वर्षपर्यन्त बोलूँ, सौ वर्षतक सुखी और स्वतन्त्र जीवन भोगूँ।

धार्मिक और लौकिक दोनों विषयोंमें मनुष्य उतना ही सफल होता है जितना उसका संकल्प दृढ़ होता है। यदि कोई किसी कार्यमें असफल है, इसका कारण उसका दुर्भाग्य नहीं बल्कि उसके संकल्पकी निर्बलता है। मनुष्यके अंदर यह बहुमूल्य शक्ति ऐसी गुप्त है कि जो कोई इससे काम लेना शुरू कर देता है उसको ही यह महान् और उच्च बना देती है। अटल संकल्पमें एक बलवान् शक्ति होती है, जो अपनी अनुकूल अवस्थाको स्वयमेव अपनी ओर खींच लेती है। इस कारण यदि आप जीवन-यात्रामें सफल होना चाहते हैं तो इस शक्तिको अपने अन्दर उत्पन्न करें; क्योंकि जीवनकी कठिनाइयोंको दूर करनेवाली यही एक शक्ति है। जिनमें यह शक्ति है, वे अपने विचारोंको बलवान् बनाकर दूरतक भेज सकते हैं। परंतु जिनमें यह नहीं है, वे ऐसा नहीं कर सकते; और यही कारण है कि कुछ मनुष्य निर्बल विचारवाले मनुष्योंकी अपेक्षा अधिक सफल, यशस्वी और ऐश्वर्यवान् हो जाते हैं। संकल्पशक्ति ही मनको एकाग्र करके मस्तिष्ककी ओर विचारोंके आकर्षणमें सहायक होती है। आकर्षणका यह नियम है कि उसका झुकाव अपने सहधर्मी पदार्थकी ओर अधिकतर होता है, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ अपने सहधर्मी पदार्थको अपनी ओर खींचता है। इसलिये जो मनुष्य जैसा बनना चाहता है, उसको दृढ़ संकल्पके साथ अपने अन्दर वैसे ही विचार उत्पन्न करने चाहिये और ये विचार अपने सहधर्मीको अवश्य अपनी ओर खींच लायेंगे, जिसका परिणाम यह होगा कि वह अपने उद्देश्यमें अवश्य सफल होगा। इसलिये यदि

तुम कोई काम करना चाहते हो तो तुम कामकी छोटाई-बड़ाईकी ओर न देखा करो, प्रत्युत अपने विचारोंके न्यूनाधिक्यपर ध्यान रखा करो; क्योंकि काममें उसकी छोटाई या सुगमताके कारण सफलता नहीं होती, प्रत्युत उस कामके करनेमें तुम्हारी संकल्पशक्तिकी न्यूनाधिकताके अनुसार सफलता होगी। जो बात तुम्हें करनी हो, उसके लिये यों ही विचार न किया करो और जब किसी कामको करनेका विचार करो तो फिर उसको दूसरे निर्बल विचारोंकी तरंगोंके नीचे दबने न दो और किसी ऐसे मनुष्यकी सम्मतिकी परवा न करो जो तुमको अपने विचारकी कठिनाइयोंके कारण छोड़ देनेका उपदेश कर रहा हो। ऐसे मनुष्य स्वयं निर्बल-हृदय और निर्बल विचारोंके होते हैं, इसलिये वे साधारण-बातोंको असम्भव बातोंमें गिन लेते हैं। और सच तो यह है कि ऐसे मनुष्योंने विचारोंकी शक्तिको कभी अनुभव नहीं किया; यदि किया होता तो वे कभी भी किसीके साहस और विचारको (यदि वह विचार किसी बुराईके करने अथवा ऐसे कर्म करनेका न हो जिसके करनेसे उसकी जान जोखिममें हो और मनुष्य-समाजमें अशान्ति उत्पन्न होनेका भय हो) न गिराते वरन् उसका साहस तोड़नेके स्थानमें अपने प्रबल विचारोंको साथ मिलाकर और भी अधिक पुष्ट करते और सफलताके आदर्शतक पहुँचानेमें सहायता देते। जब मनुष्य एक बार दृढ़ विचार करके खड़ा हो जाता है, तब चाहे उसके मार्गमें कितनी ही कठिनाइयाँ क्यों न हों, वह सबको पार कर जाता है। कोई वस्तु उसको अपने उद्देश्यसे नहीं रोक सकती, वरन् ऐसे पुरुषार्थी मनुष्यकी सहायताके लिये प्रकृति आप काम करती है। कोई पुरुष पहलेसे ही महान् नहीं होता, प्रत्युत जो अपनी आभ्यन्तरिक शक्तियोंसे काम लेने लग जाता है, वही महान् पुरुष बन जाता है; और जो इनकी ओर ध्यान नहीं देते, वही अपनी जीवनयात्रामें पीछे रह जाते हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वतीको साधारण साधुसे वर्तमान कालका ऋषि बनानेवाली यदि कोई वस्तु थी, तो वह केवल उनकी संकल्पशक्ति थी। समस्त भारतवर्ष उनके विचारोंसे विरोध रखता था, परंतु जब वह मनस्वी एक बार अपने क्षेत्रपर आरूढ़ हो गया तो कोई भी मनुष्य उनके सम्मुख खड़ा न हो सका। इसका कारण उनकी अगाध विद्या ही न थी, प्रत्युत दृढ़ संकल्पशक्ति और उस शक्तिमें पूर्ण विश्वासका होना था। इसी शक्तिके भरोसे पंजाबकेसरी महाराजा रणजीत सिंहने अटक नदीकी छातीको घोड़ोंके खुरपुटोंसे यह कहकर रौंद डाला और अपनी सेनाको पार कर दिया कि "जाके मनमें अटक है, सोई अटक रहा। जाके मनमें अटक नहिं, उसको अटक कहाँ॥" सचमुच यदि मनके अंदर रुकावट नहीं तो फिर कोई ऐसी शक्ति नहीं जो हमको अपने उद्देश्यकी पूर्तिसे तथा अपने जीवनको सुखी और सार्थक बनानेसे रोक सके।

अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि। द्रविणꣳ सवर्चसम्। सुमेधा अमृतोक्षितः। इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्॥ (तै० उप० १।१०)

मैं (संसाररूप) वृक्षको हिलानेवाला हूँ। मेरी कीर्ति पर्वतके सदृश है। मैं वह हूँ जिसके ज्ञानका पवित्र (प्रकाश) ऊँचा उदय हुआ है, मानो सूर्यमें है। मैं वह हूँ जो असली अमृत है। मैं चमकता हुआ धन (खजाना) हूँ। मैं सुमेधा हूँ, अमृत हूँ क्षीण न होनेवाला। यह वेदकी शिक्षा त्रिशंकुसे दी गयी है।

दृढ़ और बलवान् संकल्पशक्तिके कारण मनुष्यमें ऐसी योग्यता आ जाती है कि वह अपने विचारको बहुत बड़ी शक्ति दे सकता है। अपने लक्ष्यपर फिर वह अपने विचारको उस समयतक स्थिर रखता

है, जबतक उसका अभीष्ट प्राप्त नहीं होता । यदि किसी मनुष्यमें आनाकानीकी प्रकृति है तो यह समझ लेना चाहिये कि उसकी संकल्पशक्ति निर्बल है और उससे कोई काम न हो सकेगा । जो अपना दृढ़ विचार बनाकर फिर दूसरोंकी दृढ़ सम्मतिके कारण उसको बदल देता है तो उससे भी उसकी संकल्प-शक्तिका पता मिलता है और वह दूसरोंकी सम्मतिका दास है, क्योंकि उसने अपनी विवेचना-शक्तिको खो दिया है । वह अपने नहीं, प्रत्युत दूसरोंके विचारोंके अनुसार कार्य कर रहा है । ऐसा करता हुआ वह दिन-पर-दिन अपनी विचारशक्तिको क्षीण कर रहा है, जिसके कारण प्रायः उसे अपने कामोंमें कठिनाई और असफलताका मुँह देखना पड़ेगा । इस कारण इस शक्तिके महत्त्वको समझो; किंतु हठ, दुराग्रह और उच्छृङ्खलताको ही विचारशक्ति न समझ लेना । विचारशक्ति और हठ आदिमें महान् अन्तर है । पहिली आचारकी दृढ़ता और श्रेष्ठताका परिणाम है तथा दूसरी उसकी निर्बलताका फल है ।

संकल्पशक्तिको पूरा विकास देनेके लिये दृढ़ आत्मविश्वासकी आवश्यकता है और आत्मविश्वासकी दृढ़ता आस्तिकता अर्थात् ईश्वरभक्तिसे होती है । जब मनुष्य सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ ईश्वरका सहारा लेकर सारे कार्योंको उसके समर्पण करके अनासक्ति और निष्कामभावसे उसके लिये ही और अपने-को केवल उसका एक करण (साधन) समझकर कर्तव्यरूपसे करता है तो उसकी स्वयं अपनी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियाँ भी अगाध और असीम हो जाती हैं । यही कारण है कि ईश्वरभक्तोंद्वारा जो महान् कार्य और अद्भुत चमत्कार अनायास साधारणतया प्रकट हो जाते हैं, उनके अनुकरण करनेमें संसारकी सारी भौतिक शक्तियाँ अपना पूरा बल लगानेपर भी असमर्थ रहती हैं ।

उसके सारे संकल्प ईश्वरके समर्पण और उसीकी प्रेरणासे होते हैं; इसलिये वह जो संकल्प करता है, वही होता है ।

उसकी कोई इच्छा अनुचित अथवा स्वार्थमय नहीं होती; किंतु सारे प्राणियोंके कल्याणार्थ ईश्वरार्पण होती है, इसलिये वह जो इच्छा करता है वही होता है ।

वह कोई शब्द अनुचित, अनावश्यक और असत्य नहीं बोलता, उसकी वाणी ईश्वर-समर्पण होती है, इसलिये उसकी वाणीसे जो शब्द निकलते हैं वैसा ही होता है ।

उसके कार्य अनावश्यक और स्वार्थसिद्धिके लिये नहीं होते; किंतु सब प्राणियोंके हितार्थ निष्कामभावसे ईश्वरके आज्ञानुसार कर्त्तव्यरूपसे होते हैं, इसलिये वह उनको पूरी लगन और दृढ़तासे करता है । संसारकी कोई शक्ति उसको अपने कर्त्तव्यसे नहीं हटा सकती ।

सङ्गति—जब यम तथा नियमोंके पालनमें विघ्न उपस्थित हों तो उनको निम्न प्रकारसे दूर करना चाहिये—

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—वितर्कबाधने = वितर्कोंद्वारा (यम और नियमोंका) बाध होनेपर; प्रतिपक्षभावनम् = प्रतिपक्षका चिन्तन करना चाहिये ।

अन्वयार्थ—वितर्कोंद्वारा यम और नियमोंका बाध होनेपर प्रतिपक्षका चिन्तन करना चाहिये ।

व्याख्या—वितर्क-विरोधी तर्क अर्थात् यम, नियम आदिके विरोधी अधर्म—१ हिंसा, २ असत्य, ३ स्तेय, ४ ब्रह्मचर्यका पालन न करना, ५ परिग्रह, ६ अशौच, ७ असंतोष, ८ तपका अभाव, ९ स्वाध्याय-का त्याग और १० ईश्वरसे विमुखता। जब किसी दुर्घटनावश ये वितर्क उत्पन्न हों और मनमें इन योगके विधर्मी अधर्मोंके करनेका विचार आये, तब उनके प्रतिपक्षी अर्थात् उन वितर्कोंके विरोधी विचारोंका चिन्तन करके उन वितर्करूप अधर्मोंको मनसे हटाना चाहिये। प्रतिपक्ष विचारोंके चिन्तनसे यह अभिप्राय है कि जैसे क्रोध आनेपर शान्तिका चिन्तन करना, हिंसाका विचार उत्पन्न होनेपर दयाके भावका चिन्तन करना इत्यादि।

व्यासभाष्य-अनुसार प्रतिपक्षभावना—

जब इस ब्रह्मज्ञानेच्छुक योगीके चित्तमें अहिंसा आदिके विरोधी हिंसादि वितर्क उत्पन्न हों कि मैं इस वैरीका हनन करूँगा, इसको दुःख पहुँचानेके लिये असत्य भी बोलूँगा, इसका धन भी हरण करूँगा इत्यादि; इस प्रकार दुर्मार्गवाली अतिबाधक वितर्क-ज्वरसे जलती हुई अग्निके समान यम-नियमोंका बाध होने लगे, तब इनमें प्रवृत्त न होवे। किंतु इन वितर्कोंके विरोधी पक्षोंका इस प्रकार बार-बार चिन्तन करे कि संसारकी घोर अग्निमें संतप्त होकर उससे बचनेके लिये सब भूतोंको अभयदान देकर मैंने योगमार्गकी शरण ली है। अब उन छोड़े हुए हिंसा आदि अधर्मोंका पुनः ग्रहण करना कुत्तेके सदृश अपनी ही त्यागी हुई वमनका चाटना है। धिक्कार है मुझे, यदि मैं योगमार्ग छोड़कर अज्ञानरूपी गढ़ेमें गिरूँ। इस प्रकार प्रथम सूत्र यमादि और द्वितीय नियमादि दोनोंमें वितर्कोंकी प्रतिपक्षभावना जान लेनी चाहिये।

सङ्गति—वितर्कोंके स्वरूप, उनके भेद और उनके फलसहित प्रतिपक्षभावनाको बतलाते हैं—

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधि-मात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—वितर्काः-हिंसा-आदयः = (यम-नियमोंके विरोधी) हिंसा आदि वितर्क हैं; कृत-कारित-अनुमोदिताः = वे स्वयं किये हुए, दूसरोंसे कराये हुए और समर्थन किये हुए होते हैं❀; लोभ-क्रोध-मोह-पूर्वकाः = उनका कारण लोभ, क्रोध और मोह होता है†; मृदु-मध्य-अधिमात्राः = वे मृदु, मध्य और तीव्र भेदवाले होते हैं; दुःख-अज्ञान-अनन्तफलाः = उनका फल दुःख ‡ और अज्ञानका() अनन्त (अपरिमित) होना है; इति प्रतिपक्षभावनम् = यह प्रतिपक्षकी भावना करना है।

❀ ये तीन प्रकार इसलिये बतलाये गये हैं कि इन तीनोंमेंसे किसी एकको यह भ्रम न रह जाय कि 'मैंने हिंसा नहीं की' किंतु इस प्रकारके तीनों ही हिंसक हैं। छोटी बुद्धिके मनुष्य ऐसा समझते हैं कि यह हिंसा मैंने स्वयं तो नहीं की। इसलिये मुझे दोष नहीं।—'भोजवृत्ति'

† यद्यपि सूत्रमें पहले लोभका ग्रहण किया है तथापि आत्मभिन्न (शरीरादि) में आत्माभिमानरूपी मोह सब अस्मितादि क्लेशोंका कारण है। उसीके होनेपर मनुष्यको अपना दूसरा सूझता है। इसलिये लोभ, क्रोध, हिंसा, असत्यभाषणादिका वही मूल जानना चाहिये; तात्पर्य यह है कि दोषसमुदाय मोहसे होते हैं। तृष्णाका नाम लोभ है। कर्तव्याकर्तव्य-विचारका नाशक अग्निरूप चित्तकी एक अवस्थाका नाम क्रोध है।—

‡ दुःख—विरुद्ध प्रतीत होनेवाली रजोगुणसे उत्पन्न हुई चित्तकी एक वृत्तिका नाम दुःख है।

() अज्ञान—मिथ्याज्ञान अर्थात् संशयात्मक और विपरीत ज्ञानको कहते हैं।—'भोजवृत्ति'

अन्वयार्थ—यम-नियमोंके विरोधी हिंसा आदि वितर्क कहलाते हैं। (वे तीन प्रकारके होते हैं) स्वयं किये हुए, दूसरोंसे कराये हुए और अनुमोदन किये हुए। उनके कारण लोभ, मोह और क्रोध होते हैं। वे मृदु, मध्य और अधिमात्रावाले होते हैं। ये सब दुःख और अज्ञानरूपी अपरिमित फलोंको देनेवाले हैं। इस प्रकार प्रतिपक्षकी भावना करे।

व्याख्या—यहाँ हिंसा वितर्कको उदाहरण देकर बतलाते हैं, इसी प्रकार अन्य सब वितर्कोंको समझ लेना चाहिये।

हिंसा तीन प्रकारकी है—स्वयं की हुई, दूसरोंसे करायी हुई और दूसरोंके किये जानेपर अनुमोदन या समर्थन की हुई। कारणोंके अनुसार इसके तीन भेद हैं। लोभसे की हुई, जैसे मांस, चमड़े आदिके लिये। क्रोधसे की हुई अर्थात् किसी प्रकारकी हानि पहुँचनेपर द्वेषवश की हुई। मोहवश की हुई, जैसे स्वर्ग आदिकी प्राप्तिके लिये पशुओंकी बलि करना। इस प्रकार ३×३ = ९ प्रकारकी हिंसा हुई। यह नौ प्रकारकी हिंसा मृदु, मध्य, और अधिमात्राके भेदसे ९×३ = २७ प्रकारकी हुई। इसी प्रकार मृदु, मध्य और अधिमात्राके प्रत्येकका मृदु, मध्य, अधिमात्राका भेद होनेसे तीन-तीन भेदवाली २७×३ = ८१ प्रकारकी हुई। इसी प्रकार असत्य, स्तेय आदि वितर्कोंके बहुत भेद होकर अनन्त, अपरिमित अज्ञान और दुःख इनका फल होता है।

जब इस प्रकार वितर्क उपस्थित हों तब उनको इनके प्रतिपक्षी अर्थात् विरोधी विचारोंसे हटाना चाहिये कि ये हिंसा आदि वितर्क महापाप हैं, रजोगुण और तमोगुणको उत्पन्न करके मोह तथा दुःखमें डालनेवाले हैं। यदि इनमें फँसा तो दुःख और अज्ञानका अन्त न होगा अर्थात् ये सब अपरिमित दुःख और अज्ञानरूपी फलोंको देनेवाले हैं। इस कारण इनसे सर्वदा बचना चाहिये। यह प्रतिपक्ष-भावना है। इस प्रकार यम-नियमोंके विघ्नोंको हटाता हुआ योगमार्गपर चल सकता है।

श्रीव्यासजी महाराज हिंसा-वितर्कके प्रतिपक्षकी भावना इस प्रकार बतलाते हैं—

हिंसक पहिले वध्य पशुके वीर्य अर्थात् बलका नाश करता है, फिर शस्त्रादिसे मारकर दुःख देता है, फिर उसे जीवनसे भी छुड़ा देता है। वध्य पशुके बलको नष्ट करनेके कारण हत्यारेके स्वयं शरीर, इन्द्रिय आदिका बल तथा पुत्र, पौत्र, धनादिक उपकरण नष्ट हो जाते हैं। शस्त्रद्वारा पशुको दुःख देनेके बदले नरक, तिर्यक्, पशु आदि योनियोंमें वैसा ही दुःख भोगता है। वध्य पशुके जीवत्वका नाश करनेके फलस्वरूप दुःसाध्य रोगसे पीड़ित होकर प्राणान्त-संनिहित-अवस्थाको प्राप्त होकर मरनेकी इच्छा करता हुआ भी दुःख-फल अवश्य भोग्य होनेसे बड़े कष्टसे ऊँचे-ऊँचे साँस लेकर जीता है। यदि किसी कारणसे पुण्य मिली हुई हिंसा हो तो भी उस जन्ममें उस पुण्यका फल सुख-प्राप्ति अल्पायु ही होगी। इसी प्रकार यथासम्भव असत्यादि अन्य यमों तथा नियमोंमें भी जान लेना चाहिये। इस प्रकार वितर्कोंमें अनिष्ट-फलका चिन्तन करता हुआ उनसे मनको हटावे।

सङ्गति—इन वितर्कोंके प्रतिपक्षोंसे निर्मल हो जानेके पश्चात् योगीको यम तथा नियमोंमें जो सिद्धि प्राप्त होती है, उसका वर्णन करते हैं:—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ—अहिंसा-प्रतिष्ठायाम् = अहिंसाकी दृढ़ स्थिति हो जानेपर; तत्-संनिधौ = उस (अहिंसक योगी) के निकट; वैर-त्यागः (सर्वप्राणिनाम् भवति)—सब प्राणियोंका वैर छूट जाता है।

अन्वयार्थ— अहिंसाकी दृढ़ स्थिति हो जानेपर उस (अहिंसक योगी) के निकट सब प्राणियोंका वैर छूट जाता है।

व्याख्या—'सर्वप्राणिनां भवति' सूत्रके अन्तमें यह वाक्यशेष है। जब योगीकी अहिंसा-पालनमें दृढ़ स्थिति हो जाती है, तब उसके अहिंसक-प्रभावसे उसके निकटवर्ती सब हिंसक प्राणियोंकी भी अहिंसक वृत्ति हो जाती है।

अहिंसानिष्ठ योगीके निरन्तर ऐसी भावना और यत्न करनेसे कि उसके निकट किसी प्रकारकी हिंसा न होने पावे, उसके अन्तःकरणसे अहिंसाकी सात्त्विक धारा इतने तीव्र और प्रबल वेगसे बहने लगती है कि उसके निकटवर्ती तामसी हिंसक अन्तःकरण भी उससे प्रभावित होकर तामसी हिंसक-वृत्तिको त्याग देते हैं।

किसी-किसी हिंसकमें भी हिंसाकी भावना इतनी उग्र हो जाती है कि अपने निकटवर्ती अहिंसक-में भी हिंसा-वृत्ति उत्पन्न कर देती है। जब कभी दो ऐसे मनुष्योंका सम्पर्क हो जाता है जिनमें परस्पर दो विरोधी भाव, अहिंसा अर्थात् अच्छाई और हिंसा अर्थात् बुराई, अपनी पराकाष्ठाको पहुँचे हुए होते हैं तब उन दोनोंमें बड़ा भारी संघर्ष चलता है। अन्तमें जो अधिक शक्तिशाली होता है वह दूसरेको परास्त कर देता है अर्थात् उसपर अपना प्रभाव डाल देता है।

उदाहरणार्थ अहिंसा और हिंसाके स्वभाववाले दो ऐसे व्यक्तियोंका जो अपने गुण व अवगुणमें परिपक्वता प्राप्त किये हुए हैं, दैवयोगसे सम्पर्क हो जावे तो एक लम्बे समयतक उन दोनोंमें संघर्ष चलेगा। अहिंसक हिंसकके प्रति भलाई करता रहेगा और हिंसक अहिंसकके प्रति बुराई। यदि हिंसक अपने इस बुरे स्वभावमें अधिक प्रबल है तो अहिंसकको भी हिंसक बना देगा। अर्थात् हिंसकको बराबर बुराई करते हुए देखकर उसमें भी द्वेषके भाव उत्पन्न हो जायँगे। वह विचारेगा कि इस दुष्टके साथ हम बराबर भलाई करते चले आये हैं किंतु यह बुराई करता ही रहता है। इसको इसकी बुराईको सजा देनी चाहिये। उसके प्रति द्वेषकी भावना उत्पन्न हो जाती है और वह उसके साथ बुराई करने लगता है। यह अहिंसककी हार और हिंसककी जीत समझनी चाहिये। और यदि अहिंसकका भलाईका स्वभाव अधिक बलवान् है तो वह अपना प्रभाव हिंसकपर डाल सकेगा अर्थात् हिंसक विचार करेगा कि मैं इस मनुष्यके साथ बुराई ही करता रहा हूँ और यह उसका उत्तर भलाईसे ही देता रहा है। द्वेषभाव दूर होकर उसके मनमें सद्भावना उत्पन्न हो जायगी और वह अहिंसकके प्रति भलाई करने लगेगा। इस प्रकार अहिंसाकी हिंसापर विजय प्राप्त हो जाती है।

देशके विभाजनके पश्चात् पाकिस्तान और भारतवर्ष दोनों स्थानोंमें साम्प्रदायिक हिंसाकी भावना इतने उग्ररूपसे फैल रही थी कि सत्य और अहिंसानिष्ठ महात्मा-गांधीका सारा प्रयत्न उसके रोकनेमें विफल हो रहा था। अन्तमें अपने प्राणोंकी बलि देकर दोनों स्थानोंमें इतने व्यापक रूपसे फैली हुई हिंसाको पूर्णतया रोकनेमें सफल हुए।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ— सत्य-प्रतिष्ठायाम् = सत्यमें दृढ़ स्थिति हो जानेपर; क्रियाफल-आश्रयत्वम्=क्रिया फलका आश्रय बनती है।

अन्वयार्थ—सत्यमें दृढ़ स्थिति हो जानेपर क्रिया फलका आश्रय बनती है।

व्याख्या—जिस योगीकी सत्यमें दृढ़ स्थिति हो गयी है, उसकी वाणीसे कभी असत्य नहीं निकलेगा; क्योंकि वह यथार्थ ज्ञानका रखनेवाला हो जाता है। उसकी वाणी अमोघ हो जाती है। उसकी वाणीद्वारा जो क्रिया होती है, उसमें फलका आश्रय होता है अर्थात् जैसे किसीको यज्ञादिक क्रियाके करनेमें उसका फल होता है, इसी प्रकार योगीके केवल वचनसे ही वह फल मिल जाता है। यदि वह किसीसे कहे कि तू धर्मात्मा अथवा सुखी हो जा तो वह ऐसा ही हो जाता है।

सत्यनिष्ठ योगीके निरन्तर ऐसी भावना और धारणा रखनेसे कि उसके मुखसे न केवल भूत और वर्तमानके सम्बन्धमें किंतु भविष्यमें होनेवाली घटनाओंके सम्बन्धमें भी कोई असत्य वचन न निकलने पावे, सत्यकी प्रबलतासे उसका अन्तःकरण इतना स्वच्छ और निर्मल हो जाता है कि उसकी वाणीसे वही बात निकलती है जो क्रियारूपमें होनेवाली होती है।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ—अस्तेय-प्रतिष्ठायाम् = अस्तेयकी दृढ़ स्थिति होनेपर; सर्व-रत्न-उप-स्थानम् = सब रत्नोंकी प्राप्ति होती है।

अन्वयार्थ—अस्तेयकी दृढ़ स्थिति होनेपर सब रत्नोंकी प्राप्ति होती है।

व्याख्या—जिसने रागको पूर्णतया त्याग दिया है, वह सब प्रकारकी सम्पत्तिका स्वामी है। उसको किसी चीजकी कमी नहीं रहती। इसमें एक आख्यायिका है—

किसी निर्धन पुरुषने बड़ी आराधनाके पश्चात् धन-सम्पत्तिकी देवीके दर्शन किये। उसके पैरोंकी एड़ी और मस्तिष्क घिसा हुआ देखकर उसको आश्चर्य हुआ। अपने भक्तकी आग्रहपूर्वक विनयपर उसको बतलाना पड़ा कि जो मुझसे राग रखते हैं और धर्म-अधर्मका विवेक त्यागकर मेरे पीछे मारे-मारे फिरते हैं, उनको ठुकराते हुए पैरकी एड़ी घिस गयी है और जिन्होंने ईश्वर-प्रणिधानका आसरा लेकर मुझमें राग छोड़ दिया है तथा मुझसे दूर भागते हैं, उनको रिझाने और अपनी ओर प्रवृत्त करनेके लिये उनकी चौखटपर रगड़ते-रगड़ते मस्तिष्क घिस गया है।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ—ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठायाम् = ब्रह्मचर्यकी दृढ़ स्थिति होनेपर; वीर्यलाभः = वीर्यका लाभ होता है।

अन्वयार्थ—ब्रह्मचर्यकी दृढ़ स्थिति होनेपर वीर्यका लाभ होता है।

व्याख्या—वीर्य ही सब शक्तियोंका मूल कारण है। उसके पूर्णतया रोकनेसे शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियाँ बढ़ जाती हैं। तथा योगमार्गमें बिना रुकावट पूरी उन्नति हो सकती है। वह विनय करनेवाले जिज्ञासुओंको ज्ञान प्रदान करनेमें समर्थ हो जाता है।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ—अपरिग्रह-स्थैर्ये-जन्मकथन्ता-सम्बोधः = अपरिग्रहकी स्थिरतामें जन्मके कैसेपनका साक्षात् होता है।

अन्वयार्थ—अपरिग्रहकी स्थिरतामें जन्मके कैसेपनका साक्षात् होता है।

व्याख्या—सूत्रके अन्तमें 'अस्य भवति' शेष है। अपरिग्रहकी व्याख्यामें बतला आये हैं कि योगीके लिये

सबसे बड़ा परिग्रह अविद्या, रागादि क्लेश और शरीरमें अहंत्व और ममत्व है। इनके त्यागनेसे उसका चित्त शुद्ध, निर्मल होकर यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है। इससे उसको भूत और भविष्य जन्मका ज्ञान हो जाता है कि इससे पूर्व जन्म क्या था, कैसा था, कहाँ था? यह जन्म किस प्रकार हुआ, आगे कैसा होगा। इस प्रकार इसकी तीनों कालमें आत्मस्वरूपकी जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है।

सङ्गति—अब नियमोंकी सिद्धियाँ कहते हैं—

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ—शौचात् = शौचसे; स्वाङ्ग-जुगुप्सा = अपने अङ्गोंसे घृणा होती है; परैः-असंसर्गः = दूसरोंसे संसर्गका अभाव होता है।

अन्वयार्थ—शौचसे अपने अङ्गोंसे घृणा और दूसरोंसे संसर्गका अभाव होता है।

व्याख्या—शौचके निरन्तर अभ्याससे योगीका हृदय शुद्ध हो जाता है, उसको मल-मूत्रादि अपवित्र वस्तुओंके भण्डार इस शरीरकी अशुद्धियाँ दीखने लगती हैं। इसमें राग और ममत्व छूट जाता है। इसी हेतुसे उसका संसर्ग दूसरोंसे भी नहीं रहता। वह इस शरीरसे परे सबसे अलग रहते हुए केवली होनेका यत्न करता है। यह शरीरशुद्धिका फल है।

सङ्गति—अब आभ्यन्तर शौचका फल कहते हैं—

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ—सत्त्वशुद्धि = चित्तकी शुद्धि; सौमनस्य = मनकी स्वच्छता; ऐकाग्र्य = एकाग्रता; इन्द्रियजय = इन्द्रियोंका जीतना; आत्मदर्शन-योग्यत्वानि च = और आत्मदर्शनकी योग्यता।

अन्वयार्थ—चित्तकी शुद्धि, मनकी स्वच्छता, एकाग्रता, इन्द्रियोंका जीतना और आत्मदर्शनकी योग्यता आभ्यन्तर शौचकी सिद्धिसे प्राप्त होती है।

व्याख्या—सूत्रके अन्तमें 'भवन्ति' यह वाक्यशेष है। आभ्यन्तर शौचकी दृढ़ स्थिति होनेपर तमस् तथा रजस्के आवरण धुल जानेसे चित्त निर्मल हो जाता है। मनके स्वच्छ होनेसे उसकी एकाग्रता बढ़ती है। मनकी एकाग्रतासे इन्द्रियोंका वशीकार होता है। अर्थात् बहिर्मुखसे अन्तर्मुख हो जाती हैं।

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

(कठोपनिषद्, वल्ली ४, मन्त्र १)

स्वयम्भूने (इन्द्रियोंके) छेदोंको बाहरकी ओर छेदा है—बहिर्मुख किया है। इस कारण मनुष्य बाहर देखता है अपने अंदर नहीं देखता। कोई ही धीर पुरुष अमृतको चाहता हुआ अपनी आँखों (इन्द्रियों) को बंद करके अन्तर्मुख होकर उस आत्माको जो अंदर है देखता है। इस प्रकार इन्द्रियोंके वशीभूत हो जानेसे चित्तमें विवेकख्यातिरूपी आत्मदर्शनकी योग्यता प्राप्त हो जाती है।

संतोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ—संतोषात् = संतोषसे; अनुत्तम-सुख-लाभः = अनुत्तम सुख प्राप्त होता है।

अन्वयार्थ—संतोषसे अनुत्तम सुख प्राप्त होता है।

व्याख्या—अनुत्तम सुख—उत्तम-से-उत्तम सुख अर्थात् जिससे बढ़कर कोई और सुख न हो। संतोषमें जब पूरी स्थिरता हो जाती है, तब तृष्णाका नितान्त नाश हो जाता है। तृष्णारहित होनेपर जो प्रसन्नता तथा सुख प्राप्त होता है, उसके एक अंशके समान भी बाह्य सुख नहीं हो सकता। व्यासजीका कथन है—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

संसारमें जो कामसुख है और जो महान् दिव्य सुख है, वह तृष्णाके क्षयके सुखके सोलहवें अंशके समान भी नहीं है।

बिन संतोष नहीं कोई राजे। सकल मनोरथ वृथे सब काजे॥ (गुरुनानक)

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः॥ ४३॥

शब्दार्थ—काय-इन्द्रिय-सिद्धिः = शरीर और इन्द्रियोंकी सिद्धि; अशुद्धि-क्षयात् = अशुद्धिके दूर होनेसे; तपसः = तपसे होती है।

अन्वयार्थ—तपसे अशुद्धिके क्षयके होनेसे शरीर और इन्द्रियोंकी शुद्धि होती है।

व्याख्या—जिस प्रकार लोहेको बार-बार आगपर तपाने और अहिरनपर कूटनेसे उसके मल दूर हो जाते हैं और उसको इच्छानुसार काममें ला सकते हैं, इसी प्रकार तपके निरन्तर अनुष्ठानसे अशुद्धियोंके मलोंके दूर होनेपर शरीर स्वस्थ, स्वच्छ और लघु हो जाता है, उसमें अणिमा आदि सिद्धियाँ (३। ४४, ४५) आ जाती हैं और इन्द्रियाँ दिव्य-दर्शन, दिव्य-श्रवण, दूर-श्रवण (३।४८) आदि सिद्धियोंको प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाती हैं।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः॥ ४४॥

शब्दार्थ—स्वाध्यायात् = स्वाध्यायसे; इष्ट-देवता-सम्प्रयोगः = इष्ट-देवताका साक्षात् होता है।

अन्वयार्थ—स्वाध्यायसे इष्टदेवताका साक्षात् होता है।

व्याख्या—स्वाध्यायशीलको देवता, ऋषियों और सिद्धोंके दर्शन होते हैं और वे इसके योग-कार्योंमें सहायक होते हैं। (व्यासभाष्य)

इष्ट मन्त्रके जपरूप स्वाध्यायके सिद्ध होनेपर योगीको इष्टदेवताका योग होता है अर्थात् वह देवता प्रत्यक्ष होता है। (भोजवृत्ति)

उपासनामें उपास्यके गुणोंको धारण करना, उसमें अवस्थित होना अर्थात् उसके तदाकार होना होता है। उपास्यके जिन इष्ट गुणों अथवा आकारविशेषकी भावनाके साथ किसी विशेष मन्त्र अथवा बिना मन्त्रके धारणा की जाती है तब ध्यानकी परिपक्व-अवस्थामें रजस् और तमस्से शून्य हुआ चित्त सात्त्विक प्रकाशमें उस विशेष इष्ट आकारमें परिणत हो जाता है। जैसा कि समाधिपाद सूत्र १८ के विशेष वक्तव्यमें साकार-उपासक भक्तोंके सम्बन्धमें बतलाया गया है।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्॥ ४५॥

शब्दार्थ—समाधि-सिद्धिः = समाधिकी सिद्धि; ईश्वरप्रणिधानात् = ईश्वरप्रणिधानसे होती है।

अन्वयार्थ—समाधिकी सिद्धि ईश्वर-प्रणिधानसे होती है ।

व्याख्या—ईश्वरकी भक्तिविशेष और सम्पूर्ण कर्मों तथा उनके फलोंको उसके समर्पण कर देनेसे विघ्न दूर हो जाते हैं और समाधि शीघ्र सिद्ध हो जाती है । इस समाधिप्रज्ञासे योगी देशान्तर, देहान्तर और कालान्तरमें होनेवाले अभिमत पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकता है ।

यहाँ यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि "जब ईश्वर-प्रणिधानसे ही समाधिका लाभ हो जाता है, तब योगके अन्य सात अङ्गोंके अनुष्ठानसे क्या प्रयोजन है" क्योंकि इन सातों योगाङ्गोंके बिना ईश्वर-प्रणिधानका लाभ कठिन है । इसलिये यह ईश्वर-प्रणिधानके भी उपयोगी साधन हैं । ईश्वर-प्रणिधानरहित सातों अङ्गोंके अनुष्ठानसे नाना प्रकारके विघ्न उपस्थित होनेसे दीर्घकालमें समाधिका लाभ प्राप्त होता है । ईश्वर-प्रणिधानसहित योगाङ्गोंके अनुष्ठानसे निर्विघ्नताके साथ शीघ्र ही समाधिसिद्धि प्राप्त हो जाती है । इसलिये योगाभिलाषीजनोंको ईश्वर-प्रणिधानसहित योगके अङ्गोंका अनुष्ठान करना चाहिये ।

सङ्गति—यम-नियमको सिद्धियोंसहित बतलाकर अब क्रमशः आसनका लक्षण कहते हैं—

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ—स्थिरसुखम् = जो स्थिर और सुखदायी हो; आसनम् = वह आसन है ।

अन्वयार्थ—जो स्थिर और सुखदायी हो, वह आसन है ।

व्याख्या—जिस रीतिसे स्थिरतापूर्वक बिना हिले-डुले और सुखके साथ बिना किसी प्रकारके कष्टके दीर्घकालतक बैठ सकें, वह आसन है । हठयोगमें नाना प्रकारके आसन हैं । जो शरीरके स्वस्थ, हल्का और योग-साधनके योग्य बनानेमें सहायक होते हैं; पर यहाँ उन आसनोंसे अभिप्राय है, जिनमें सुखपूर्वक निश्चलताके साथ अधिक-से-अधिक समयतक ध्यान लगाकर बैठा जा सके । उनमेंसे ज्यादा उपयोगी निम्न हैं । जो अभ्यासी जिसमें सुगमतया अधिक देरतक बैठ सके, वह उसको ग्रहण करे ।

स्वस्तिकासन, सिद्धासन, समासन, पद्मासन, बद्धपद्मासन, वीरासन, गोमुखासन, वज्रासन, सरल आसन

१ स्वस्तिकासनकी विधि—दायें पाँवके अँगूठे और अन्य चार अङ्गुलियोंको कैंचीके सदृश फैलाकर उसके अंदर बायें पाँव और जङ्घाके जोड़नेवाले नीचे भागको दबायें और दायें पाँवकी तली बायीं जङ्घाके साथ लगायें । इसी प्रकार बायें पैरको दायें पैरके नीचे ले जाकर अँगूठे और अङ्गुलियोंकी कैंचीमें दायाँ पाँव और जङ्घाके जोड़वाले नीचे भागको दबायें और बायें पाँवकी तली दायीं जाँघके साथ लगायें । दायें पाँवके स्थानपर बायें पाँवका तथा बायेंके स्थानपर दायें पाँवका भी उपयोग किया जा सकता है ।

२ सिद्धासन—बायें पैरकी एड़ीको सीवनी अर्थात् गुदा और उपस्थेन्द्रियके बीचमें इस प्रकार दृढ़तासे लगावे कि उसका तला दायें पैरकी जङ्घाको स्पर्श करे । इसी प्रकार दाहिने पैरकी एड़ीको उपस्थेन्द्रियकी जड़के ऊपर भागमें इस प्रकार दृढ़ लगावे कि उसका तला बायें पैरकी जङ्घाको स्पर्श करे । इसके पश्चात् बायें पैरके अंगूठे और तर्जनीको दायीं जाँघ और पिण्डलीके बीचमें ले लें । इसी प्रकार दायें पैरके अंगूठे और तर्जनीको बायीं जङ्घा और पिण्डलीके बीचमें ले लें । सारे शरीरका भार एड़ी और सीवनीके बीचकी ही नसपर तुला रहना चाहिये ।

इससे नाड़ीसमूहमें आग-सी जलन होने लगती है । इसलिये नितम्बोंके नीचे आठ इञ्च मोटी गद्दी अथवा कपड़ा लगा देना चाहिये । यह आसन वीर्य-रक्षाके लिये अति उपयोगी है । इस आसनके सम्बन्धमें कुछ लोगोंका ऐसा कहना है कि इससे गृहस्थियोंको हानि पहुँचती है । यह भ्रममूलक है ।

३ समासन—सिद्धासनसे इसमें केवल इतना भेद है कि इसमें पहले उपस्थेन्द्रियकी जड़के ऊपरके भागमें बायें पैरकी एड़ीको फिर उसके ऊपर दायें पैरकी एड़ीको सिद्धासनकी विधिसे रखते हैं। इससे कमर सीधी तनी रहती है।

४ पद्मासन—चौकड़ी लगानेमें दाहिने पैरको बायें रानकी मूलमें और बायें पैरको दाहिने रानकी मूलमें जमाकर रखनेसे पद्मासन बनता है, इस आसनसे शरीर नीरोग रहता है और प्राणायामकी क्रियाओंमें सहायता मिलती है।

५ बद्ध पद्मासन—यह पद्मासन सिद्ध होनेके पश्चात् किया जा सकता है। इसमें दोनों जङ्घाओं-को दोनों पैरोंसे दबाकर रखना होता है और पैरोंके अंगूठे भूमितलसे लगे रहते हैं।

६ वीरासन—दाहिना पैर बायीं जङ्घापर और बायें पैरको दाहिनी जङ्घापर रखकर दोनों हाथों-को घुटनेपर रखें।

७ गोमुखासन—दाहिने पृष्ठपार्श्व (चूतड़) के नीचे बायें पैरके गुल्फ (गाँठ) को और बायें पृष्ठपार्श्वके नीचे दाहिने पैरके गुल्फको रखकर दाहिने हाथको सिरकी ओरसे और बायें हाथको नीचेकी ओरसे पीठपर ले जाकर दाहिनी तर्जनी (अंगूठेके बगलवाली अँगुली) से बायीं तर्जनीको दृढ़तापूर्वक पकड़ लें।

८ वज्रासन—दोनों जङ्घाओंको वज्रके समान करके दोनों पाँवोंके तलवोंको गुदाके दोनों ओर पार्श्वभागमें लगाकर घुटनेके बल बैठ जाय। जिससे कि घुटनेसे निचले भागसे पाँवकी अङ्गुलियोंका भाग भूमिको स्पर्श करे।

सरल आसन—मूलबन्ध लगाकर बायें पैरको इस प्रकार भूमिपर फैलाकर रखें कि एड़ी इन्द्रियसे मिली रहें। और दाहिने पैरको बायें पैरसे मिला हुआ इस प्रकार फैलावें कि बायें पैरकी अंगुलियाँ दाहिने पैरकी पिण्डलीसे मिली रहें। इससे सुगमतासे लम्बे समयतक बैठा जा सकता है और पैरोंमें किसी प्रकारका दर्द नहीं होता है।

आसनके समय गर्दन, सिर और कमरको सीधे एक रेखामें रखना चाहिये और मूलबन्धके साथ अर्थात् गुदा और उपस्थको अंदरकी ओर खींचकर बैठना चाहिये।

खेचरी मुद्राके साथ अर्थात् जिह्वाको ऊपरकी ओर ले जाकर—तालुसे लगाकर बैठनेसे ध्यान अच्छा लगता है और आसनमें दृढ़ता आती है। एक ही आसनसे शनैः-शनैः अधिक समय बैठनेका अभ्यास बढ़ाते रहना चाहिये। पैर आदि किसी अङ्गमें एक आसनसे बैठे रहनेमें यदि दर्द मालूम हो तो उस अङ्गपर नरम कपड़ा रखकर बैठना चाहिये। यदि अधिक पीड़ा हो तो रतन-जोतके तेलकी मालिश कर सकते हैं। एक आसनसे जब ३ घंटे ३६ मिनटतक बिना हिले-डुले सुखपूर्वक बैठा जा सके, तब उस आसनकी सिद्धि समझनी चाहिये। आरम्भमें बीचमें दो-एक बार आसनको बदल सकते हैं। आसनको दृढ़ करनेका सरल उपाय यह है कि जब बैठनेका अवसर मिले उसी एक आसनसे बैठनेका यत्न करे। जो अभ्यासी स्थूल अथवा विकारी शरीर होनेके कारण उपर्युक्त आसनोंसे न बैठ सकें, वे अर्द्धपद्म, अर्द्धसिद्ध अथवा किसी सुखासनसे तथा दीवारका सहारा लेकर बैठ सकते हैं, पर मेरुदण्डको सीधा तथा कमर, गर्दन और सिरको समरेखामें रखना अति आवश्यक है। प्रथम तीन—अर्थात् स्वस्तिक, सिद्ध और सम आसनोंमें हाथोंको उल्टा करके घुटनोंपर रखना अथवा ज्ञानमुद्रासे बैठना लाभदायक है। दोनों

हाथोंकी-कलाईको घुटनोंपर रखकर तर्जनी अर्थात् अँगूठेके पासकी अँगुली तथा अँगूठेको एक दूसरेकी ओर फेरकर दोनोंके सिरे आपसमें मिलाने और शेष अङ्गुलियोंको सीधा फैलाकर रखनेको ज्ञानमुद्रा कहते हैं। अन्य तीन अर्थात् पद्म, बद्धपद्म तथा वीरासनमें दोनों हाथोंको उठाकर सीनेसे लगाये रखना हितकर है। सब आसनोंमें बायाँ हाथ एड़ियोंके ऊपर सीधा रखकर उसी प्रकार दायाँ हाथ उसके ऊपर रखकर अथवा जिसमें सुगमता प्रतीत हो उस विधिसे हाथोंको रखकर बैठ सकते हैं। मुखको पूर्व अथवा उत्तर दिशाकी ओर करके बैठना चाहिये।

अभ्यासपर बैठनेसे तीन घंटे पूर्व कुछ न खाय। बैठनेके लिये एक चौकी होनी चाहिये, जो न अधिक ऊँची हो और न अधिक नीची हो। चौकीके ऊपर कुशासन, उसके ऊपर ऊनका आसन, उसके ऊपर रेशम या (उसके अभावमें) सूतका वस्त्र होना चाहिये। अहिंसामें निष्ठा रखनेवाले अभ्यासियोंको किसी प्रकारके चर्मको आसनके रूपमें प्रयोग न करना चाहिये। देश-काल और परिस्थितिको दृष्टिमें रखते हुए किसी-किसी स्मृतिमें मृगचर्मकी व्यवस्था दी गयी है; किंतु वर्तमान समयमें उत्तम-से-उत्तम ऊनी आसन सुगमतासे प्राप्त हो सकते हैं और निरपराधी पशुओंकी हिंसा अधिकतर चर्मप्राप्तिके उद्देश्यसे ही की जाती है।

विशेष वक्तव्य—॥ सूत्र ४६ ॥ अभ्यास ऐसी कोठरी या कमरेमें करना चाहिये, जो शुद्ध, शान्त, एकान्त और निर्विघ्न हो। हर प्रकारके शोरगुल, मच्छर, पिस्सू और सील आदिसे रहित हो। अभ्याससे पहले अथवा पीछे हवन अथवा घृतके साथ धूप-दीप आदि सुगन्धित वस्तुओंके जलानेसे उसको सुगन्धित रखना चाहिये। नदीतट अथवा पाँच हजार फीटसे अधिक ऊँचाईवाले पहाड़ी स्थानोंका वायु-मण्डल शुद्ध और भजनके लिये अधिक उपयोगी होता है। गरम मैदानवाले स्थानोंमें शरद् और वसन्त ऋतुमें भजन अच्छा हो सकता है। पहाड़ोंमें अथवा जमीनमें खुदी हुई गुफा समाधि लगानेके लिये अति उत्तम है; किंतु उसमें सील किंचिन्मात्र भी न होने पावे और शुद्ध हो। योगाभ्यासमें खान-पानमें संयम रखना अति आवश्यक है और शरीर तथा नाड़ीशोधनसे शीघ्र सफलता प्राप्त होती है, जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन इस पादके प्रथम तथा ३२ वें सूत्रके विशेष विचारमें कर दिया गया है। यहाँ शरीरके सूक्ष्म, सात्त्विक, शुद्ध, स्वस्थ, नीरोग, आसनको दृढ़ और ध्यानको स्थिर करने तथा कुण्डलिनीको जाग्रत् करनेवाले कुछ उपयोगी बन्ध-मुद्राएँ और आसन बतलाये देते हैं—

१ मूल-बन्ध—मूल गुदा एवं लिङ्ग-स्थानके रन्ध्रको बंद करनेका नाम मूल-बन्ध है। वाम पादकी एड़ीको गुदा और लिङ्गके मध्यभागमें दृढ़ लगाकर गुदाको सिकोड़कर योनिस्थान अर्थात् गुदा और लिङ्ग एवं कन्दके बीचके भागको दृढ़तापूर्वक संकोचनद्वारा अधोगत अपानवायुको बलके साथ धीरे-धीरे ऊपरकी ओर खींचनेको मूल-बन्ध कहते हैं। सिद्धासनके साथ यह बन्ध अच्छा लगता है। अन्य आसनोंके साथ एड़ीको सीविनीपर बिना लगाये हुए भी मूल-बन्ध लगाया जा सकता है।

फल-इससे अपानवायुका ऊर्ध्व-गमन होकर प्राणके साथ एकता होती है। कुण्डलिनी शक्ति सीधी होकर ऊपरकी ओर चढ़ती है। कोष्ठबद्ध दूर करने, जठराग्निको प्रदीप्त करने और वीर्यको ऊर्ध्व-रेतस् बनानेमें यह बन्ध अति उत्तम है। साधकोंको न केवल भजनके अवसरपर किंतु हर समय मूल-बन्धको लगाये रखनेका अभ्यास करना चाहिये।

२ *उड्डीयान-बन्ध*—दोनों जानुओंको मोड़कर पैरोंके तलुओंको परस्पर भिड़ाकर पेटके नाभिसे नीचे और ऊपरके आठ अंगुल हिस्सेको बलपूर्वक खींचकर मेरुदण्ड (रीढ़की हड्डीसे) ऐसा लगा दे जिससे कि पेटके स्थानपर गड्ढा-सा दीखने लगे । जितना पेटको अंदरकी ओर अधिक खींचा जायगा उतना ही अच्छा होगा । इसमें प्राण पक्षीके सदृश सुषुम्णाकी ओर उड़ने लगता है, इसलिये इस बन्धका नाम उड्डीयान रक्खा गया है । यह बन्ध पैरोंके तलुओंको बिना भिड़ाये हुए भी किया जा सकता है ।

फल—प्राण और वीर्यका ऊपरकी ओर दौड़ना, मन्दाग्निका नाश, क्षुधाकी वृद्धि, जठराग्निका प्रदीप्त और फेफड़ेका शक्तिशाली होना ।

३ *जालन्धर-बन्ध*—कण्ठको सिकोड़कर ठोडीको दृढ़तापूर्वक कण्ठकूपमें इस प्रकार स्थापित करे कि हृदयसे ठोडीका अन्तर केवल चार अंगुलका रहे, सीना आगेकी ओर तना रहे । यह बन्ध कण्ठस्थानके नाड़ी-जालके समूहको बाँधे रखता है, इसलिये इसका नाम जालन्धर-बन्ध रक्खा गया है ।

फल—कण्ठका सुरीला, मधुर और आकर्षक होना, कण्ठके सङ्कोचद्वारा इड़ा, पिङ्गला नाड़ियोंके बंद होनेपर प्राणका सुषुम्णामें प्रवेश करना ।

लगभग सभी आसन, मुद्राएँ और प्राणायाम मूलबन्ध और उड्डीयान-बन्धके साथ किये जाते हैं । राजयोगमें ध्यानावस्थामें जालन्धर-बन्ध लगानेकी बहुत कम आवश्यकता होती है ।

४ *महाबन्ध*—पहली विधि—बायें पैरकी एड़ीको गुदा और लिङ्गके मध्यभागमें जमाकर बायीं जङ्घाके ऊपर दाहिने पैरको रख, समसूत्रमें हो, वाम अथवा जिस नासारन्ध्रसे वायु चल रहा हो उससे ही पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगावे । फिर मूलद्वारसे वायुका ऊपरकी ओर आकर्षण करके मूलबन्ध लगावे । मनको मध्य नाड़ीमें लगाये हुए यथाशक्ति कुम्भक करे । तत्पश्चात् पूरकके विपरीतवाली नासिकासे धीरे-धीरे रेचन करे । इस प्रकार दोनों नासिकासे अनुलोम-विलोम-रीतिसे समान प्राणायाम करे ।

दूसरी विधि-पद्म अथवा सिद्धासनसे बैठ, योनि और गुह्यप्रदेश सिकोड़, अपानवायुको ऊर्ध्वगामी कर, नाभिस्थ समान-वायुके साथ मिलाकर और हृदयस्थ प्राणवायुको अधोमुख करके प्राण और अपान-वायुओंके साथ नाभिस्थलपर दृढ़रूपसे कुम्भक करे ।

फल—प्राणका ऊर्ध्वगामी होना, वीर्यकी शुद्धि, इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्णाका सङ्गम प्राप्त होना, बलकी वृद्धि इत्यादि ।

५ *महावेध*—पहली विधि—महाबन्धकी प्रथम विधिके अनुसार मूलबन्धपूर्वक कुम्भक करके, दोनों हाथोंकी हथेली भूमिमें दृढ़ स्थिर करके, हाथोंके बल ऊपर उठकर दोनों नितम्बों (चूतड़) को शनैः-शनैः ताड़ना देवे और ऐसा ध्यान करे कि प्राण इड़ा, पिङ्गलाको छोड़कर कुण्डलिनी शक्तिको जगाता हुआ सुषुम्णामें प्रवेश कर रहा है । तत्पश्चात् वायुको शनैः-शनैः महाबन्धकी विधिके अनुसार रेचन करे ।

दूसरी विधि—मूलबन्धके साथ पद्मासनसे बैठे, अपान और प्राणवायुको नाभिस्थानपर एक करके (मिलाकर) दोनों हाथोंको तानकर नितम्बों (चूतड़ों) से मिलते हुए भूमिपर जमाकर नितम्ब (चूतड़) को आसनसहित उठा-उठाकर भूमिपर ताड़ित करते रहें ।

फल—कुण्डलिनी शक्तिका जाग्रत् होना, प्राणका सुषुम्णामें प्रवेश करना । महाबन्ध, महावेध और महामुद्रा—तीनोंको मिलाकर करना अधिक फलदायक है ।

मुद्रा

१ खेचरी मुद्रा—जीभको ऊपरकी ओर उल्टी ले जाकर तालु-कुहर (जीभके ऊपर तालुके बीचका गढ़ा) में लगाये रखनेका नाम खेचरी मुद्रा है। इसके निमित्त जिह्वाको बढ़ानेके तीन साधन किये जाते हैं–छेदन, चालन और दोहन।

पहिला साधन—छेदन–जीभके नीचेके भागमें सूताकारवाली एक नाड़ी नीचेवाले दाँतोंकी जड़के साथ जीभको खींचे रखती है। इसलिये जीभको ऊपर चढ़ाना कठिन होता है। प्रथम इस नाड़ीके दाँतोंके निकटवाले एक ही स्थानपर स्फटिक (बिल्लौर) का धारवाला टुकड़ा प्रतिदिन प्रातःकाल चार-पाँच बार फेरते रहें। कुछ दिनोंतक ऐसा करनेके पश्चात् वह नाड़ी उस स्थानमें पूर्ण कट जायगी। इसी प्रकार क्रमशः उससे ऊपर-ऊपर एक-एक स्थानको जिह्वामूलतक काटते चले जायँ। स्फटिक फेरनेके पश्चात् माजूफलका कपड़छान चूर्ण (Tarinacid टेरिन ऐसिड) जीभके ऊपर-नीचे तथा दाँतोंपर मलें और उन सब स्थानोंसे दूषित पानी निकलने दें। माजूफल-चूर्णके अभावमें अकरकरा, नून, हरीतकी और कत्थेका चूर्ण छेदन किये हुए स्थानपर लगावे। यह छेदन-विधि सबसे सुगम है और इससे किसी प्रकारकी हानि पहुँचनेकी सम्भावना नहीं है, यद्यपि इसमें समय अधिक लगेगा। साधारणतया छेदनका कार्य किसी धातुके तीक्ष्ण यन्त्रसे प्रति आठवें दिन उस शिराको बालके बराबर छेदकर घावपर कत्था और हरड़का चूर्ण लगाकर करते हैं। इसके छेदनके लिये नाखून काटनेवाला-जैसा एक तीक्ष्ण यन्त्र और खाल छीलनेके लिये एक दूसरे यन्त्रकी आवश्यकता होती है, जिससे कटा हुआ भाग फिर न जुड़ने पावे। इसमें नाड़ीके सम्पूर्ण अंशके एक साथ कट जानेसे वाक् तथा आस्वादन-शक्तिके नष्ट हो जानेका भय रहता है। इसलिये इसे किसी अभिज्ञ पुरुषकी सहायतासे करना चाहिये। छेदनकी आवश्यकता केवल उनको होती है, जिनकी जीभ और यह नाड़ी मोटी होती है। जिनकी जीभ लंबी और यह नाड़ी पतली होती है, उन्हें छेदनकी अधिक आवश्यकता नहीं है।

दूसरा एवं तीसरा साधन—चालन व दोहन–अँगूठे और तर्जनी अँगुलीसे अथवा बारीक वस्त्रसे जीभको पकड़कर चारों तरफ उलट-फेरकर हिलाने और खींचनेको चालन कहते हैं। मक्खन अथवा घी लगाकर दोनों हाथोंकी अँगुलियोंसे जीभका गायके स्तनदोहन-जैसे पुनः-पुनः धीरे-धीरे आकर्षण करनेकी क्रियाका नाम दोहन है।

निरन्तर अभ्यास करते रहनेसे अन्तिम अवस्थामें जीभ इतनी लंबी हो सकती है कि नासिकाके ऊपर भ्रूमध्यतक पहुँच जाय। इस मुद्राका बड़ा महत्त्व बतलाया गया है, इससे ध्यानकी अवस्था परिपक्व करनेमें बड़ी सहायता मिलती है। जिह्वाओंके भी नाना प्रकारके भेद देखनेमें आये हैं। किसी जिह्वामें सूताकार नाड़ीके स्थानमें मोटा मांस होता है, जिसके काटनेमें अधिक कठिनाई होती है। किसी-किसी जिह्वामें न यह नाड़ी होती है, न मांस। उसमें छेदनकी आवश्यकता नहीं है। केवल चालन एवं दोहन होना चाहिये।

२ महामुद्रा—मूलबन्ध लगाकर बायें पैरकी एड़ीसे सीवन (गुदा और अण्डकोषके मध्यका चार अंगुल स्थान) दबाये और दाहिने पैरको फैलाकर उसकी अँगुलियोंको दोनों हाथोंसे पकड़े। पाँच घर्षण करके बायीं नासिकासे पूरक करे और जालन्धर बन्ध लगाये। फिर जालन्धर बन्ध खोलकर दाहिनी

नासिकासे रेचक करे। यह वामाङ्गकी मुद्रा समाप्त हुई। इसी प्रकार दक्षिणाङ्गमें इस मुद्राको करना चाहिये।

दूसरी विधि-बायें पैरकी एड़ीको सीवन (गुदा और उपस्थके मध्यके चार अंगुल भाग) में बलपूर्वक जमाकर दायें पैरको लंबा फैलावे। फिर शनैः-शनैः पूरकके साथ मूल तथा जालन्धर-बन्ध लगाते हुए दायें पैरका अँगूठा पकड़कर मस्तकको दायें पैरके घुटनेपर जमाकर यथाशक्ति कुम्भक करे। कुम्भकके समय पूरक की हुई वायुको कोष्ठमें शनैः-शनैः फुलावे और ऐसी भावना करे कि प्राण कुण्डलिनीको जाग्रत् करके सुषुम्णामें प्रवेश कर रहा है, तत्पश्चात् मस्तकको घुटनेसे शनैः-शनैः रेचक करते हुए उठाकर यथास्थितिमें बैठ जाय। इसी प्रकार दूसरे अङ्गसे करना चाहिये। प्राणायामकी संख्या एवं समय बढ़ाता रहे।

फल मन्दाग्नि, अजीर्ण आदि उदरके रोगों तथा प्रमेहका नाश, क्षुधाकी वृद्धि और कुण्डलिनीका जाग्रत् होना।

३ अश्विनी मुद्रा--सिद्ध अथवा पद्मासनसे बैठकर योनिमण्डलको अश्वके सदृश पुनः-पुनः सिकोड़ना अश्विनी मुद्रा कहलाती है।

फल—यह मुद्रा प्राणके उत्थान और कुण्डलिनी शक्तिके जाग्रत् करनेमें सहायक होती है। अपानवायुको शुद्ध और वीर्यवाही स्नायुओंको मजबूत करती है।

४ शक्तिचालिनी मुद्रा – सिद्ध अथवा पद्मासनसे बैठकर हाथोंकी हथेलियाँ पृथ्वीपर जमा दे। बीस पचीस बार शनैः-शनैः दोनों नितम्बोंको पृथ्वीसे उठा-उठाकर ताड़न करे। तत्पश्चात् मूलबन्ध लगाकर दोनों नासिकाओंसे अथवा वामसे अथवा जो स्वर चल रहा उस नासिकासे पूरक करके प्राणवायुको अपानवायुसे संयुक्त करके जालन्धर-बन्ध लगाकर यथाशक्ति कुम्भक करे। कुम्भकके समय अश्विनीमुद्रा करे अर्थात् गुह्यप्रदेशका आकर्षण-विकर्षण करता रहे। तत्पश्चात् जालन्धर-बन्ध खोलकर यदि दोनों नासिकापुटसे पूरक किया हो तो दोनोंसे अथवा पूरकसे विपरीत नासिकापुटसे रेचक करे और निर्विकार होकर एकाग्रतापूर्वक बैठ जाय।

घेरण्डसंहितामें इस मुद्राको करते समय बालिश्त-भर चौड़ा, चार अंगुल लंबा, कोमल, श्वेत और सूक्ष्म वस्त्र नाभिपर कटिसूत्रसे बाँधकर सारे शरीरपर भस्म मलकर करना बतलाया है।

फल—सर्वरोग-नाशक और स्वास्थ्यवर्द्धक होनेके अतिरिक्त कुण्डलिनी-शक्तिको जाग्रत् करनेमें अत्यन्त सहायक है। इससे साधक अवश्य लाभ प्राप्त करें।

५ योनिमुद्रा— सिद्धासनसे बैठ सम-सूत्र हो षण्मुखी मुद्रा लगाकर अर्थात् दोनों अँगूठोंसे दोनों कानोंको, दोनों तर्जनियोंसे दोनों नेत्रोंको, दोनों मध्यमाओंसे नाकके छिद्रोंको बंद करके और दोनों अनामिका एवं कनिष्ठिकाओंको दोनों ओठोंके पास रखकर काकीमुद्राद्वारा अर्थात् जिह्वाको कौएकी चोंचके सदृश बनाकर उसके द्वारा प्राणवायुको खींचकर अधोगत अपानवायुके साथ मिलावे। तत्पश्चात् ओ३म्‌का जाप करता हुआ ऐसी भावना करे कि उसकी ध्वनिके साथ परस्पर मिली हुई वायु कुण्डलिनीको जाग्रत् करके षट्चक्रोंका भेदन करते हुए सहस्रदल-कमलमें जा रही है। इससे अन्तर्ज्योतिका साक्षात्कार होता है।

६ *योगमुद्रा*—मूलबन्धके साथ पद्मासनसे बैठकर प्रथम दोनों नासिकापुटोंसे पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगावे, तत्पश्चात् दोनों हाथोंको पीठके पीछे ले जाकर बायें हाथसे दायें हाथकी और दायें हाथसे बायें हाथकी कलाईको पकड़, शरीरको आगे झुकाकर पेटके अंदर एड़ियोंको दबाते हुए सिरको जमीनपर लगा दे। इस प्रकार यथाशक्ति कुम्भक करनेके पश्चात् सिरको जमीनसे उठाकर जालन्धर-बन्ध खोलकर दोनों नासिकाओंसे रेचन करे।

फल—पेटके रोगोंको दूर करने और कुण्डलिनी-शक्तिको जाग्रत करनेमें सहायक होती है।

७ *शाम्भवी मुद्रा*—मूल और उड्डीयान बन्धके साथ सिद्ध अथवा पद्मासनसे बैठकर नासिकाके अग्रभाग अथवा भ्रूमध्यमें दृष्टिको स्थिर करके ध्यान जमाना शाम्भवी मुद्रा कहलाती है।

८ *तड़ागी मुद्रा*—तड़ाग (तालाब) के सदृश कोष्ठको वायुसे भरनेको तड़ागी मुद्रा कहते हैं। शवासनसे चित्त लेटकर जिस नासिकाका स्वर चल रहा हो उससे पूरक करके तालाबके समान पेटको फैलाकर वायुसे भर ले। तत्पश्चात् कुम्भक करते हुए वायुको पेटमें इस प्रकार हिलावे जिस प्रकार तालाबका जल हिलता है। कुम्भकके पश्चात् सावधानीसे वायुको शनैः-शनैः रेचन कर दे, इससे पेटके सर्वरोग समूल नाश होते हैं।

९ *विपरीतकरणी मुद्रा*—शीर्षासन = कपालासन—पहिले जमीनपर मुलायम गोल लपेटा हुआ वस्त्र रखकर उसपर अपने मस्तकको रक्खे। फिर दोनों हाथोंके तलोंको मस्तकके पीछे लगाकर शरीरको उल्टा ऊपर उठाकर सीधा खड़ा कर दे। थोड़े ही प्रयत्नसे मूल और उड्डीयान स्वयं लग जाता है। यह मुद्रा पद्मासनके साथ भी की जा सकती है। इसको ऊर्ध्व-पद्मासन कहते हैं। आरम्भमें इसको दीवारके सहारे करनेमें आसानी होगी।

फल—वीर्यरक्षा, मस्तिष्क, नेत्र, हृदय तथा जठराग्निका बलवान् होना, प्राणकी गति स्थिर और शान्त होना, कब्ज, जुकाम, सिरदर्द आदिका दूर होना, रक्तका शुद्ध होना और कफके विकारका दूर होना।

१० *वज्रोली मुद्रा*—मूत्रत्यागके समय कई बार मूत्रको बलपूर्वक ऊपरकी ओर आकर्षित करे। ऐसा करते समय इस बातको ध्यानसे देखे कि मूत्रधारा कितने नीचेसे आकर्षित होकर लौटती है और पुनः उतरते समय कितना समय लगता है। निरन्तर अभ्याससे जब मूत्रधार दस-बारह अंगुल नीचेसे आकर्षित होकर खींची जा सके और उतारनेमें कुछ शक्ति लगाना पड़े तो समझना चाहिये कि वज्रोली क्रिया सिद्ध हो गयी है। तत्पश्चात् क्रमशः जल, दूध, तेल अथवा घी, शहद और अन्तमें पारा खींचनेका अभ्यास करे।

दूसरी विधि—एक चौदह अंगुल रबरका कैथीटर (जो कि अंग्रेजी दवाखानोंमें मिल सकता है) पानीमें उबालकर लिङ्ग-छिद्रमें प्रवेश करनेका अभ्यास करे। यह अभ्यास एक अंगुलसे प्रारम्भ करके क्रमशः एक-एक अंगुल बढ़ाता जाय। जब बारह अंगुल प्रविष्ट होने लगे तो चौदह अंगुल लंबी और लिङ्गके छिद्र अनुसार चौड़ी जस्तकी सलाई जो दो अंगुल मुड़ी हुई ऊपरको मुँहवाली हो जिससे कि लिङ्गेन्द्रियमें प्रविष्ट कर सके उपर्युक्त रबरके कैथीटरकी रीतिसे लिङ्ग-छिद्रमें प्रवेश करनेका अभ्यास करे। जब बारह अंगुलतक प्रविष्ट होने लगे, तब चौदह अंगुल लंबी लिङ्गके छिद्र-अनुसार चौड़ी अंदरसे

पोली एक चाँदीकी सलाई बनवावे, जो दो अंगुल टेढ़ी और ऊर्ध्वमुखी हो। इस टेढ़े भागको लिङ्ग-छिद्रमें प्रविष्ट करके दो अंगुल बाहर रहने दे, फिर सुनारकी धमनीके सदृश धमनीसे उस सलाईमें लगातार फूत्कार करे। इस प्रकार लिङ्गमार्गकी अच्छी प्रकार शुद्धि हो जानेपर वायुको खींचने और छोड़नेका अभ्यास करे, इस अभ्यासके सिद्ध हो जानेपर लिङ्ग-छिद्रसे उपर्युक्त रीतिसे जल, तेल, दूध, शहद और पारेके खींचनेका क्रमशः अभ्यास करे। कैथीटर और यन्त्र इन्द्रीके छिद्र और उसके आकारके अनुसार होने चाहिये।

फल—लिङ्गेन्द्रियके छिद्रकी शुद्धि और अपानवायुपर पूर्णतया अधिकार प्राप्त हो जाता है, पथरीको तोड़कर निकालनेमें सहायता मिलती है।

इस मुद्राका फल हठयोगके शास्त्रमें अलौकिक सिद्धियाँ बतलायी गयी हैं; परंतु जरा-सी असावधानी होनेपर इन्द्रिय-छिद्रमें विकार होनेसे भयङ्कर शारीरिक रोग उत्पन्न होने तथा स्त्रीके रज खींचनेकी चेष्टामें ऊँचे-से-ऊँचे अभ्यासीके लिये भी आध्यात्मिक पतन होनेकी अधिक सम्भावना है। इस प्रकारके बहुत-से उदाहरण दृष्टिगोचर हुए हैं। इन मुद्राओं आदिको किसी अनुभवीकी सहायतासे करना चाहिये अन्यथा लाभके स्थानमें हानि पहुँचनेकी अधिक सम्भावना है।

११ उन्मुनि मुद्रा—किसी सुख आसनसे बैठकर आधी खुली हुई और आधी बंद आँखोंसे नासिकाके अग्रभागपर टिकटिकी लगाकर देखते रहना यह उन्मुनि मुद्रा कहलाती है। इससे मन एकाग्र होता है।

काकी और भुजङ्गी मुद्राका वर्णन पचासवें सूत्रके विशेष वक्तव्यमें किया जायगा।

चित लेटकर करनेके आसन

१ पादाङ्गुष्ठ-नासाग्र-स्पर्शासन—पृथिवीपर समसूत्रमें पीठके बल सीधा लेट जाय। दृष्टिको नासाग्रमें जमाकर दायें पैरके अंगूठेको पकड़कर नासिकाके अग्रभागको स्पर्श करे, इसी प्रकार पुनः-पुनः करे, मस्तक, बायाँ पैर और नितम्ब पृथिवीपर जमे रहें। इसी प्रकार दायें पैरको फैलाकर बायें पैरके अँगूठेको नासिका-के अग्रभागसे स्पर्श करे। फिर दोनों पैरोंके अंगूठोंको दोनों हाथोंसे पकड़कर नासिकाके अग्रभागको स्पर्श करे। कई दिनके अभ्यासके पश्चात् अँगूठा नासिकाके अग्रभागको स्पर्श करने लगेगा।

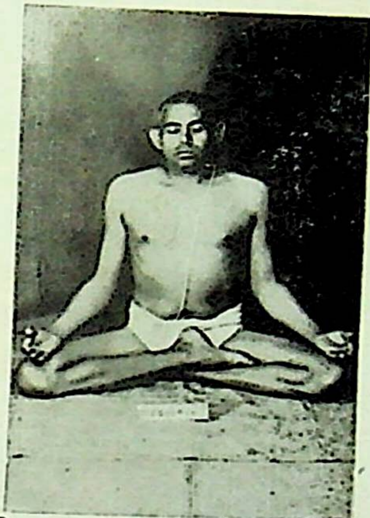
फल—कमरका दर्द, घुटनेकी पीड़ा, कंद-स्थानकी शुद्धि एवं उदर-सम्बन्धी सर्वरोगोंका नाश करता है। यह आसन स्त्रियोंके लिये भी लाभदायक है।

२ पश्चिमोत्तानासन—दोनों पाँवोंको उड्डीयान और मूलबन्धके साथ लंबा सीधा फैलावे। दोनों हाथोंकी अँगुलियोंसे दोनों पैरोंको अँगुलियोंको खींचकर, शरीरको झुकाकर, माथेको घुटनेपर टिका दे, यथाशक्ति वहींपर टिकाये रहे। प्रारम्भमें दस-बीस बार शनैः-शनैः रेचक करते हुए मस्तकको घुटनेपर ले जाय और इसी प्रकार पूरक करते हुए ऊपर उठाता चला जाय।

फल—पाचनशक्तिका बढ़ाना, कोष्ठबद्धता दूर करना, सब स्नायु और कमर तथा पेटकी नस-नाड़ियोंको शुद्ध एवं निर्मल करना, बढ़ते हुए पेटको पतला करना इत्यादि।

इस आसनको कम-से-कम दस मिनटतक करते रहनेके पश्चात् उचित लाभ प्रतीत होगा।

३ सम्प्रसारण भू-नमनासन—(विस्तृत पाद भू-नमनासन) पैरोंको लंबा करके यथाशक्ति चौड़ा फैलावे। तत्पश्चात् दोनों पैरोंके अँगूठोंको पकड़कर सिरको भूमिमें टिका दे।



२. सिद्धासन (ध्यानपर बैठनेका आसन)



७. गोमुखासन (ध्यानपर बैठनेका आसन)



१. पादाङ्गुष्ठ-नासाग्रस्पर्शासन, प्रथम प्रकार



१. पादाङ्गुष्ठ-नासाग्र-स्पर्शासन २रा प्रकार



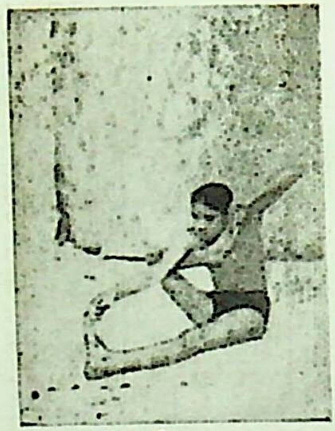
२. पश्चिमोत्तानासन



३. सम्प्रसारण भू नमनासन



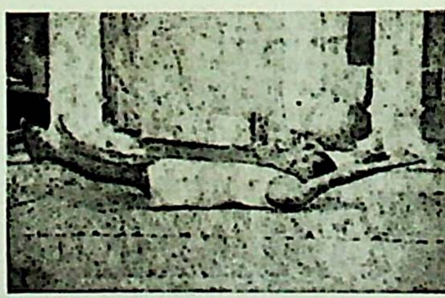
४. जानुशिरासन



५. आकर्ण-धनुरासन



६. शीर्षपादासन



७. हृदयस्तम्भासन



८. (क) द्विपाद-चक्रासन



८. (ख) उत्थित-द्विपादासन

फल—इससे ऊरु और जङ्घाप्रदेश तन जाते हैं। टाँग, कमर, पीठ और पेट निर्दोष होकर वीर्य स्थिर होता है।

४ जानुशिरासन—एक पाँवको सीधा फैलाकर दूसरे पाँवकी एड़ी गुदा और अण्डकोषके बीचमें लगाकर उसके पाद-तलसे फैले हुए पाँवकी रानको दबावे। मूल और उड्डीयान बन्धके साथ फैले हुए पैरकी अँगुलियोंको दोनों हाथोंसे खींचकर धीरे-धीरे आगेको झुकाकर माथेको पसारे हुए घुटनेपर लगा दे, इसी प्रकार दूसरे पाँवको फैलाकर माथेको घुटनेपर लगावे।

फल—इस आसनके सब लाभ पश्चिमोत्तान आसनके समान हैं। वीर्य-रक्षा तथा कुण्डलिनी जाग्रत् करनेमें सहायक होना, यह इसमें विशेषता है। इसको भी वास्तविक लाभ-प्राप्तिके लिये कम-से-कम दस मिनट करना चाहिये।

५ आकर्ण धनुपासन—दोनों पाँव एक-दूसरेके साथ जमीनपर फैलाकर दोनों हाथोंकी अँगुलियोंसे दोनों पाँवके अँगूठे पकड़ ले। एक पाँव सीधा रखकर दूसरे पाँवको उठाकर उसी ओरके कानको लगावे, हाथों और पैरोंके हेर-फेरसे यह आसन चार प्रकारसे किया जा सकता है—

(क) दाहिने हाथसे दाहिने पाँवका अँगूठा पकड़कर बायें पाँवका अँगूठा बायें हाथसे खींचकर बायें कानको लगावे।

(ख) बायें हाथसे बायें पाँवका अँगूठा पकड़कर दाहिने पाँवका अँगूठा दाहिने हाथसे खींचकर दाहिने कानको लगावे।

(ग) दाहिने हाथसे बायें पाँवका अँगूठा पकड़कर उसके नीचे दाहिने पाँवका अँगूठा बायें हाथसे खींचकर बायें कानको लगावे।

(घ) बायें हाथसे दाहिने पाँवका अँगूठा पकड़कर उसके नीचे बायें पाँवका अँगूठा दाहिने हाथसे खींचकर दाहिने कानको लगावे।

फल—बाहु, घुटने, जङ्घा आदि अवयवोंको लाभ पहुँचता है।

६ शीर्ष-पादासन—चित लेटकर सिरके पृष्ठ-भाग और पैरोंकी दोनों एड़ियोंपर शरीरको कमानके सदृश कर दे। इस आसनको पूरक करके करे और ठहरे हुए समयमें कुम्भक बना रहे, तत्पश्चात् धीरेसे रेचक करना चाहिये।

फल—मेरुदण्डका सीधा और मृदु होना, सम्पूर्ण शरीरकी नाड़ियों, गर्दन और पैरोंका मजबूत होना।

७ हृदयस्तम्भासन—चित लेटकर दोनों हाथोंको सिरकी ओर और दोनों पैरोंको आगेकी ओर फैलावे, फिर पूरक करके जालन्धर बन्धके साथ दोनों हाथों और दोनों पैरोंको छः-सात इंचकी ऊँचाईतक धीरे-धीरे उठावे और वहींपर यथाशक्ति ठहरावे, जब श्वास निकालना चाहे तब पैरों और हाथोंको जमीनपर रखकर धीरे-धीरे रेचक करे।

फल—छाती, हृदय, फेफड़ेका मजबूत और शक्तिशाली होना और पेटके सब प्रकारके रोगोंका दूर होना।

८ उत्तानपादासन—चित लेटकर शरीरके सम्पूर्ण स्नायु ढीले कर दे, पूरक करके धीरे-धीरे दोनों परोंको (अँगुलियोंको ऊपरकी ओर खूब ताने हुए) ऊपर उठावे, जितनी देर आरामसे रख सके

रखकर पुनः धीरे-धीरे भूमिपर ले जाय और श्वासको धीरे-धीरे रेचक कर दे । प्रथम बार तीस डिग्रीतक, दूसरी बार पैंतालीस डिग्रीतक, तीसरी बार साठ डिग्रीतक पैरोंको उठावे । इस आसनके आधुनिक अनुभवियोंने नौ भेद किये हैं—

(क) द्विपाद-चक्रासन—हाथोंके पंजे नितम्बके नीचे रख, चित लेट, एक पैर घुटनेमें मोड़कर घुटनेको पेटके पास लाकर तथा दूसरा पैर किंचित् ऊपर उठाकर बिल्कुल सीधा रखे; और इस प्रकार पैर चलावे जैसे साइकिलपर बैठकर चलाते हैं ।

फल—इससे नितम्ब, कमर, पेट और टाँगें निर्दोष होकर वीर्य शुद्ध, पुष्ट और स्थिर रहता है ।

(ख) उत्थित द्विपादासन—चित लेटकर दोनों पैर पैंतालीस डिग्रीतक ऊपर उठाकर जमीनसे बिना लगाये धीरे-धीरे ऊपर-नीचे करे ।

इससे पेटके स्नायु मजबूत होते हैं और मलत्याग-क्रिया ठीक होती है ।

(ग) उत्थित एकैक-पादासन—चित लेटकर, दोनों पैर (एक पैर बीस डिग्रीमें और दूसरा पैर ४५ डिग्रीमें) अधरमें रखकर जमीनसे बिना लगाये हुए ऊपर-नीचे करे ।

इससे कमरके स्नायु मजबूत होते हैं, मलोत्सर्ग-क्रिया ठीक होती है, वीर्य शुद्ध और स्थिर होता है ।

(घ) उत्थितहस्त-मेरुदण्डासन—हाथ-पैर एक रेखामें सीधे फैलाकर चित लेटे । दोनों हाथ उठाकर पैरोंकी ओर ले जाय, इस प्रकार पुनः-पुनः पीठके बल लेटकर पुनः-पुनः उठे ।

इससे कमर, छाती, रीढ़ और पेट निर्दोष होते हैं ।

(ङ) शीर्षबद्धहस्त-मेरुदण्डासन—पूर्ववत् पीठके बल लेटकर, सिरके पीछे हाथ बाँधे, बिना पैर उठाये कमरसे शरीर ऊपर उठावे ।

इससे पेट, छाती, गर्दन, पीठ और रीढ़के दोष दूर होते हैं ।

(च) जानुस्पृष्टभाल-मेरुदण्डासन—उपर्युक्त आसन करके घुटना मोड़कर बारी-बारी धीरे-धीरे माथेमें लगावे, नीचेका पैर भूमिपर टिका हुआ सीधा रहे ।

इससे यकृत् (जिगर), प्लीहा (तिल्ली), फेफड़े आदि नीरोग होकर पेट, गर्दन, कमर, रीढ़, ऊरु बलवान् और निर्विकार होते हैं ।

(छ) उत्थित हस्तपाद मेरुदण्डासन—पूर्ववत् पीठके बल लेटकर हाथ-पैर दोनों एक साथ ऊपर उठावे और पुनः पूर्ववत् एक रेखामें ले जाय चार-पाँच बार ऐसा करे ।

इससे पेट, छाती, कमर और ऊरु निर्दोष होते हैं ।

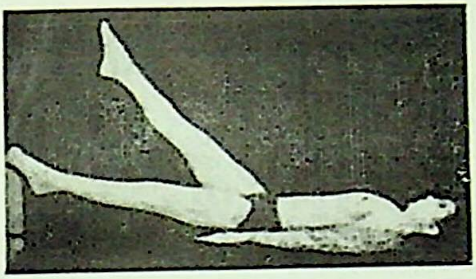
(ज) उत्थितपाद-मेरुदण्डासन—पैर सामनेको फैलाकर हाथोंकी कोहनियोंके बल धड़को उठावे, अनन्तर पैर पैंतालीस डिग्रीतक ऊपर ऊठाकर ऊपर-नीचे करे ।

इससे कमर, रीढ़ और पेट निर्दोष होते हैं ।

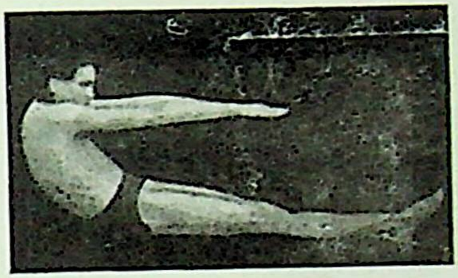
(झ) भालस्पृष्ट द्विजानु-मेरुदण्डासन—ऊपर कहे अनुसार ही करे, किंतु इसके अतिरिक्त सिर दोनों घुटनोंमें लगा दे ।

इससे पीठ, छाती, रीढ़, गर्दन और कमरके सब विकार दूर होते हैं ।

९ *हस्त-पादाङ्गुष्ठासन*— चित लेटकर दोनों नासिकासे पूरक करके बायें हाथको कमरके निकट



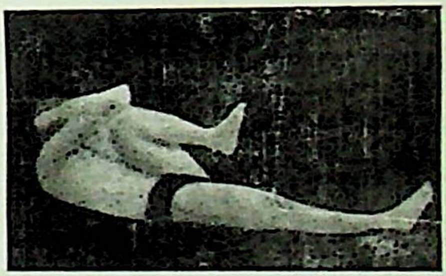
८. (ग) उत्थित-एकैक-पादासन



८. (घ) उत्थित-हस्त मेरुदण्डासन



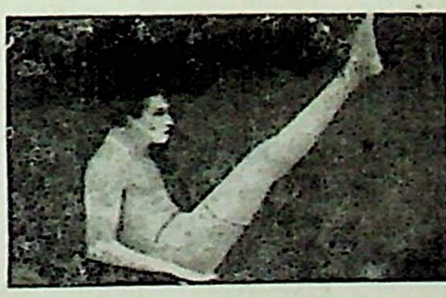
८. (ङ) शीर्षबद्ध-हस्त मेरुदण्डासन



८. (च) जानु-स्पृष्ट-भाल मेरुदण्डासन



८. (छ) उत्थित-हस्तपाद मेरुदण्डासन

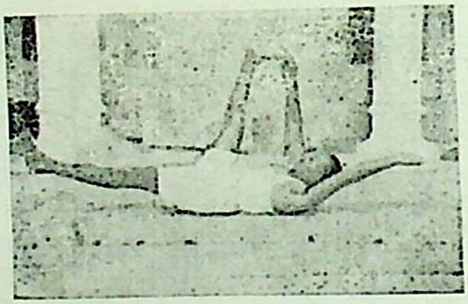


८. (ज) उत्थितपाद मेरुदण्डासन



८. (झ) भालस्पृष्ट-द्विजानु मेरुदण्डासन

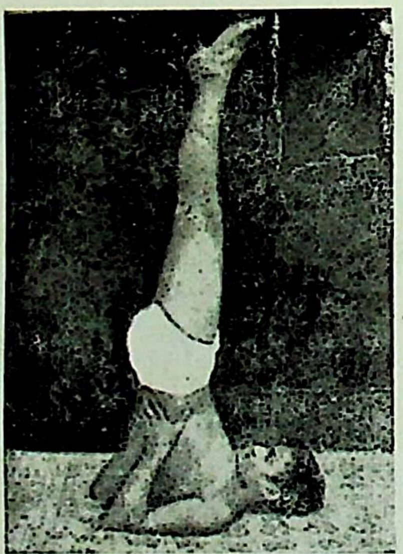
[पृष्ठ ४२४



९. हस्तपादाङ्गुष्ठासन (पहिला प्रकार)



११. पवनमुक्तासन



१२. ऊर्ध्व-सर्वाङ्गासन



१२. ऊर्ध्व-सर्वाङ्गासन



९. हस्तपादाङ्गुष्ठासन
(दूसरा प्रकार)



१३. सर्वाङ्गासन (हलासन)

लगाये रक्खे, दूसरे दाहिने हाथसे दाहिने पैरके अँगूठेको पकड़े और समूचे शरीरको जमीनपर सटाये रक्खे, दाहिना हाथ और पैर ऊपरकी ओर उठाकर तना हुआ रक्खे। इसी प्रकार दाहिने हाथको दाहिनी ओर कमरसे लगाकर बायें हाथसे बायें पैरके अँगूठेको पकड़कर पूर्ववत् करना चाहिये। फिर दोनों हाथों-से दोनों पैरोंके अँगूठे पकड़कर उपर्युक्त विधिसे करना चाहिये।

फल—सब प्रकारके पेटके रोगोंका दूर होना, हाथ-पैरोंका रक्तसंचार और बलवृद्धि।

१० स्नायु-संचालनासन—चित लेटकर दोनों पैरोंको पृथिवीसे एक इंच उठाकर पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगा ले और हाथोंको सिरकी ओर ले जाकर एक इंच ऊपर उठावे, बायें पैर तथा बायें हाथको मोड़े और फैलावे, फिर दाहिने हाथ तथा दाहिने पैरको मोड़े और फैलावे, जबतक कुम्भक रह सके इसी प्रकार उलट-फेरसे हाथों और पैरोंको मोड़ता और फैलाता रहे, तत्पश्चात् जालन्धर-बन्ध खोलकर हाथ और पैरोंको जमीनपर रखकर धीरे-धीरे रेचक करे।

फल—शरीरके सब स्नायुओंमें प्रगति उत्पन्न होना, पेटकी शिराएँ, घुटने एवं मेरुदण्डका पुष्ट होना।

११ पवन मुक्तासन—चित लेटकर पहले एक पाँवको सीधा फैलाकर दूसरे पाँवको घुटनेसे मोड़कर पेटपर लगाकर दोनों हाथोंसे अच्छी प्रकार दबाये, फिर इस पाँवको सीधा करके दूसरे पाँवसे भी पेटको खूब इसी प्रकार दबावे। तत्पश्चात् दोनों पाँवोंको इसी प्रकार दोनों हाथोंसे पेटपर दबावे। पूरक करके कुम्भकके साथ करनेमें अधिक लाभ होता है।

फल—उत्तानपाद आसनके समान इसके सब लाभ हैं। वायुको बाहर निकालनेमें तथा शौचशुद्धिमें विशेषरूपसे सहायक होता है, बिस्तरपर लेटकर भी किया जा सकता है, देरतक कई मिनटतक करते रहनेसे वास्तविक लाभकी प्रतीति होगी।

१२ ऊर्ध्व-सर्वाङ्गासन—भूमिपर चित लेटकर दोनों पैरोंको तानकर धीरे-धीरे कंधों और सिरके सहारेसे पूर्ण शरीरको ऊपर खड़ा कर दे। आरम्भमें हाथोंके सहारेसे उठावे, कमर और पैर सीधे रहें, दोनों पैरोंके अँगूठे दोनों आँखोंके सामने रहें। मस्तक कमजोर होनेके कारण जो शीर्षासन नहीं कर सकते हैं, उनको इस आसनसे लगभग वही लाभ प्राप्त हो सकते हैं। एक पाँवको आगे और दूसरेको पीछे इत्यादि करनेसे इसके कई प्रकार हो जाते हैं। इसमें ऊर्ध्व-पद्मासन भी लगा सकते हैं।

फल—रक्तशुद्धि, भूखकी वृद्धि और पेटके सब विकार दूर होते हैं। सब लाभ शीर्षासन-समान जानना चाहिये।

१३ सर्वाङ्गासन—(हलासन)—चित लेटकर दोनों पाँवोंको उठाकर सिरके पीछे जमीनपर इस प्रकार लगावे कि पाँवके अँगूठे और अंगुलियाँ ही जमीनको स्पर्श करें, घुटनोंसहित पाँव सीधे समसूत्रमें रहें, हाथ पीछे भूमिपर रहें।

दूसरा प्रकार—दोनों हाथोंको सिरकी ओर ले जाकर पैरके अँगूठोंको पकड़कर ताने।

फल—कोष्ठबद्धका दूर होना, जठराग्निका बढ़ना, आँतोंका बलवान् होना, अजीर्ण, प्लीहा, यकृत् तथा अन्य सब प्रकारके रोगोंकी निवृत्ति और क्षुधाकी वृद्धि।

१४ कर्णपीडासन—हलासन करके घुटने कानोंपर लगानेसे कर्णपीडासन बनता है, इसमें दोनों हाथोंको पीठकी ओर जमीनमें लगाना चाहिये।

फल—सर्वाङ्गासनके समान, पेटके रोगोंके लिये इसमें कुछ अधिक विशेषता है। नादानुसंधानमें भी सहायक है। देरतक करनेसे वास्तविक लाभकी प्रतीति होगी।

१५ चक्रासन—चित लेटकर हाथों और पैरोंके पंजे भूमिपर लगाकर कमरका भाग ऊपर उठावे। हाथ पैरोंके पंजे जितने पास-पास आ सकें उतने लानेका यत्न करे। यह आसन खड़ा होकर पीछेसे हाथोंको जमीनपर रखनेसे भी होता है।

फल—कमर और पेटके स्थानको इससे अधिक लाभ पहुँचता है, पृष्ठवंश सदा आगेकी ओर झुकता है, उसका दोष इस आसनद्वारा विशुद्ध झुकाव होनेसे दूर हो जाता है।

१६ गर्भासन—चित लेटकर दोनों पैरोंको ऊपर उठाकर सिरकी ओर जमीनमें लगावे, फिर दोनों पैरोंको गर्दनमें एकपर दूसरे पैरको देकर फँसावे, तत्पश्चात् दोनों हाथोंको पैरोंके अंदरकी ओरसे ले जाकर कमरको एक-दूसरे हाथसे पकड़कर बाँधे। इससे पेटके सब प्रकारके रोग, कोष्ठबद्ध, यकृत्, प्लीहा (तिल्ली) आदि दूर होते हैं।

१७ शवासन (विश्रामासन)—शरीरके सब अङ्गोंको ढीला करके मुर्देके समान लेट जाय। सब आसनोंके पश्चात् थकान दूर करने और चित्तको विश्राम देनेके लिये इस आसनको करे।

पेटके बल लेटकर करनेके आसन

१८ मस्तक-पादांगुष्ठासन—पेटके बल लेटकर सारे शरीरको मस्तक और पैरोंके अँगूठेके बलपर उठाकर कमानके सदृश शरीरको बना दे। शरीरको उठाते हुए पूरक, ठहराते हुए कुम्भक और उतारते हुए रेचक करे।

फल—मस्तक, छाती, पैर, पेटकी आँतें तथा सम्पूर्ण शरीरकी नाड़ियाँ शुद्ध और बलवान् होती हैं। पृष्ठवंश एवं मेरुदण्डके लिये विशेष लाभ पहुँचता है।

१९ नाभ्यासन—पेटके बल समसूत्रमें लेटकर दोनों हाथोंको सिरकी ओर आगे दो हाथकी दूरीपर एक-दूसरे हाथसे अच्छी तरह फैलावे, दोनों पैरोंको भी दो हाथकी दूरीपर ले जाकर फैलावे। फिर पूरक करके केवल नाभिपर समूचे शरीरको उठावे, पैरों और हाथोंको एक या डेढ़ हाथकी ऊँचाईपर ले जाय, सिर और छातीको आगेकी ओर उठाये रहे, जब श्वास बाहर निकलना चाहे तब हाथों और पैरोंको जमीनपर रखकर रेचक करे।

फल—नाभिकी शक्तिका विकास होना, मन्दाग्नि, अजीर्णता, वायु-गोला तथा अन्य पेटके रोगोंका तथा वीर्यदोषका दूर होना।

२० मयूरासन—दोनों हाथोंको मेज अथवा भूमिपर जमाकर दोनों हाथोंकी कोहनियाँ नाभिस्थानके दोनों पार्श्वसे लगाकर मूल तथा उड्डीयान बन्धके साथ सारे शरीरको उठाये रहे। पाँव जमीनपर लगे रहनेसे हंसासन बनता है।

फल—जठराग्निका प्रदीप्त होना, भूख लगना, वात-पित्तादि दोषोंको तथा पेटके रोगों गुल्म-कब्जादिका दूर करना और शरीरको नीरोग रखना। बस्ती तथा एनिमाके पश्चात् इसके करनेसे पानी तथा आँव जो पेटमें रह जाती है, वह निकल जाती है, मेरुदण्ड सीधा होता है।

२१ भुजंगासन (सर्पासन)—आधुनिक आसन-व्यायामके अनुभवियोंने भुजङ्गासनके निम्न तीन भेद किये हैं।



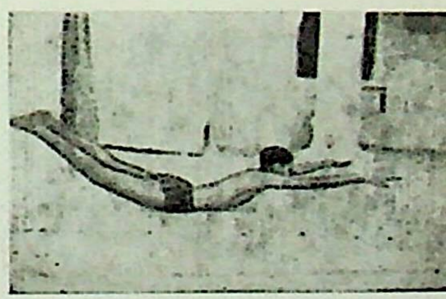
१३. दूसरा प्रकार सर्वाङ्गासन (हलासन)



१५. चक्रासन



१८. मस्तक-पादाङ्गुष्ठासन

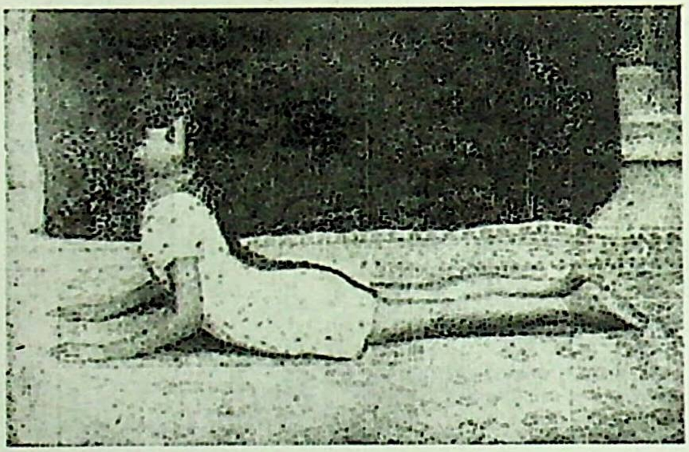


१९. नाभ्यासन



२०. मयूरासन

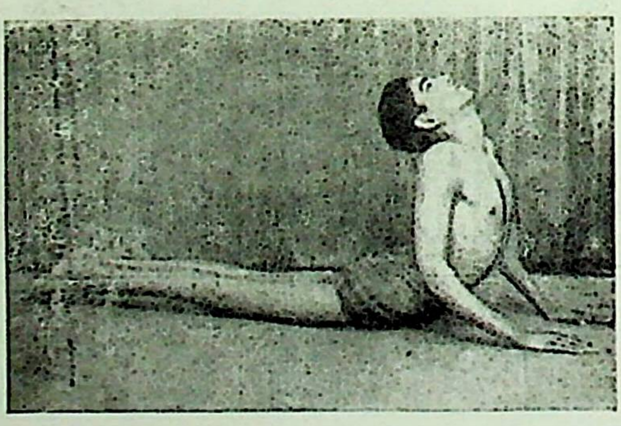
[पृष्ठ ४२६



२१. (ग) भुजंगासन



२२. शलभासन



२१. (ख) भुजंगासन



२१. (क) उत्थितैकपाद-भुजंगासन



२३. धनुरासन

(क) उत्थितैकपाद-भुजङ्गासन—पेटके बल लेटकर हाथ छातीके दोनों ओरसे कोहनियोंमेंसे घुमाकर भूमिपर टिकावे, भुजङ्गके सदृश छाती ऊपरको उठाकर दृष्टि सामने रक्खे, एक पैर भूमिपर टिका रहे, दूसरा पैर घुटनेको बिना मोड़े जितना जा सके ऊपर उठावे; इसी प्रकार बारी-बारीसे पैरोंको नीचे-ऊपर करे। इससे कटि-दोष, यकृत्, प्लीहादिके विकार दूर होते हैं।

(ख) भुजङ्गासन—पैरोंके पंजे उल्टी ओरसे भूमिपर टिकाकर हाथोंको भी भूमिपर किञ्चित् टेढ़े रखकर धड़को कमरसे उठाकर भुजङ्गाकार होवे। इससे पेट, छाती, कमर, ऊरु, मेरुदण्ड आदिके सब दोष नाश होते हैं।

(ग) सरलहस्त-भुजङ्गासन—हाथोंको भूमिपर सीधा रखकर पैरोंको पीछेकी ओर ले जाकर दोनों हाथोंके बीच कमर आ जाय इस रीतिसे कमर झुकाकर छाती और गर्दन भरसक ऊपर उठाकर सीधे आकाशकी ओर देखे। इससे पेटकी चरबी निकल जाती है, पेट, कमर और गर्दनके सब विकार दूर होते हैं।

२२ *शलभासन*—शलभ टिड्डीको कहते हैं। पेटके बल लेटकर दोनों हाथोंकी अँगुलियोंको मुट्ठी बाँधकर कमरके पास लगावे, तत्पश्चात् धीरे-धीरे पूरक करके छाती तथा सिरको जमीनमें लगाये हुए हाथोंके बल एक पैरको यथाशक्ति एक-डेढ़ हाथकी ऊँचाईपर ले जाकर ठहराये रहे, जब श्वास निकलना चाहे तब धीरे-धीरे पैरको जमीनपर रखकर शनैः-शनैः रेचक करे। इसी प्रकार दूसरे पैरको उठावे, फिर दोनों पैरोंको उठावे।

फल—जंघा, पेट, बाहु आदि भागोंको लाभ पहुँचता है, पेटकी आँतें मजबूत होती हैं और सब प्रकारके उदर-विकार दूर होते हैं।

२३ *धनुरासन*—पेटके बल लेटकर दोनों हाथोंको पीठकी ओर करके दोनों पैरोंको पकड़ लेवे और शरीरको वक्र-भावसे रक्खे। कहीं-कहीं इस आसनको वज्रासनकी भाँति एड़ियोंपर बैठकर पीछेकी ओर झुककर करना बतलाया है।

फल—कोष्ठबद्धादि उदरके सब विकारोंका दूर होना, भूख तथा जठराग्निका प्रदीप्त होना।

बैठकर करनेके आसन

२४ *मत्स्येन्द्रासन*—इसको पाँच भागोंमें विभक्त करनेमें सुगमता होगी—

(क) बायें पाँवका पंजा दाहिने पाँवके मूलमें इस प्रकार रखे कि उसकी एड़ी टूँडीमें लगे और अङ्गुलिएँ पाल्थीके बाहर न हों।

(ख) दायाँ पाँव बायें घुटनेके पास पञ्जा भूमिपर लगाकर रक्खे।

(ग) बायाँ हाथ दाहिने घुटनेके बाहरसे चित डालकर उसकी चुटकीमें दाहिने पाँवका अँगूठा पकड़े, उस दाहिने पाँवके पंजेको बाहर सटाकर रक्खे।

(घ) दाहिना हाथ पीठकी ओरसे फिराकर उससे बायें पैरकी जंघा पकड़ ले।

(ङ) मुख तथा छाती पीछेकी ओर फिराकर ताने तथा नासाग्रमें दृष्टि रक्खे। इसी प्रकार दूसरी ओरसे करे।

फल—पीठ, पेटके नल, पाँव, गला, बाहु, कमर, नाभिके निचले भाग तथा छातीके स्नायुओंका

अच्छा खिंचाव होता है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है और पेटके सब रोग आमवात परिणाम-शूल तथा आँतोंके सब रोग नष्ट होते हैं।

२५ *वृश्चिकासन*—कोहनीसे पंजे तकका भाग भूमिपर रखकर उसके सहारे सब शरीरको सँभालकर दीवारके सहारे पाँवको ऊपर ले जाय, तत्पश्चात् पाँवको घुटनोंमें मोड़कर सिरके ऊपर रख दे।

दूसरे प्रकारसे केवल पञ्जोंके ऊपर ही सब शरीरको सँभालकर रखनेसे भी यह आसन किया जाता है।

यह आसन कठिन है। मोड़चालसे चलनेवाले लड़के इस आसनको शीघ्र कर सकते हैं।

फल—हाथों और बाहोंमें बलवृद्धि, पेट तथा आँतोंका निर्दोष होना, शरीरका फुर्तीला और हल्का होना, मेरुदण्डका शुद्ध और शक्तिशाली होना, तिल्ली, यकृत् एवं पाण्डु रोग आदिका दूर होना।

२६ *उष्ट्रासन*—वज्रासनके समान हाथोंसे एड़ियोंको पकड़कर बैठे। पश्चात् हाथोंसे पाँवोंको पकड़े हुए चूतड़ोंको उठाये, सिर पीछे पीठकी ओर झुकावे और पेट भरसक आगेकी ओर निकाले।

फल—यकृत्, प्लीहा, आमवात आदि पेटके सब रोग दूर होते हैं और कण्ठ नीरोग होता है।

२७ *सुप्त वज्रासन*—वज्रासन करके चित लेटे, सिरको जमीनसे लगा हुआ रक्खे, पीठके भागको भरसक जमीनसे ऊपर उठाये रक्खे और दोनों हाथोंको बाँधकर छातीके ऊपर रक्खे अथवा सिरके नीचे रक्खे।

फल-पेट, छाती, गर्दन और जंघाओंके रोगोंको दूर करता है।

२८ *कन्द-पीड़ासन*—पृथ्वीपर बैठकर दोनों हाथोंसे दोनों पैरोंको पकड़कर ठीक पेटके ऊपर नाभिके पास ले जाकर इस प्रकार मिलाये कि पैरोंकी पीठ मिली रहे और तलुए कुक्षियोंकी ओर हो जायँ, दोनों पैरोंके अँगूठे और कनिष्ठिकाएँ मिली रहें। हाथ इस प्रकार जोड़कर बैठ जाय कि हाथकी हथेली पैरोंके अँगूठेपर और अँगुलियाँ छातीके ऊपर आ जायँ।

फल—पैर, घुटने तथा पेटके रोग दूर होते हैं। क्षुधाकी वृद्धि, तिल्ली और वायुगोलेका नाश होता है। स्कन्ध-स्थानके पवित्र होनेसे शरीरकी सब नाड़ियोंका शोधन होता है।

२९ *पार्वती आसन*—दोनों पैरोंके तलुए इस प्रकार मिलावे कि अँगुलियोंसे अँगुलियाँ और तलुएसे तलुआ मिल जायँ; और मिले हुए भागोंको इस प्रकार घुमावे कि अँगुलियाँ नितम्बोंके नीचे आ जायँ और एड़ियाँ अण्डकोषके नीचे मिलकर सामने दिखायी देने लगें।

फल—घुटने, पैरोंकी अँगुलियों, मणिबन्धों, अण्डकोष और सीवनीके सब रोगोंका नाश होना, वीर्यवाही नसोंका पवित्र होना। ब्रह्मचारिणी स्त्रियोंके लिये भी यह आसन लाभदायक है।

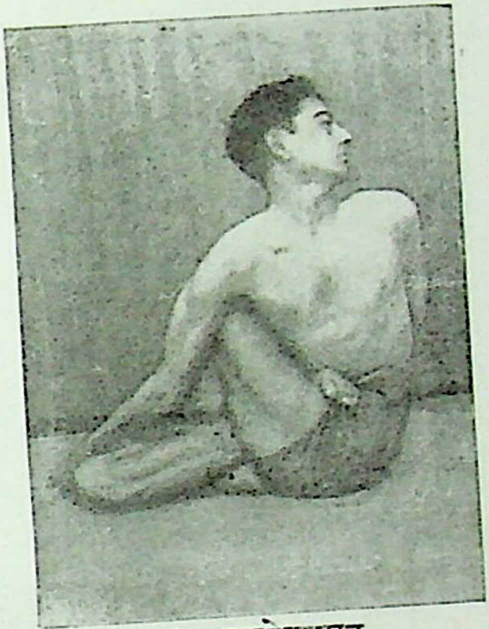
३० *गोरक्षासन*—दोनों पैरोंके तलुओंको पूर्ववत् मिलाकर दोनों एड़ियोंको सीवनीपर जमाकर पैरोंको इस प्रकार चौड़ा करे कि बायें पैरकी अँगुलियाँ बायीं पिंडलीकी ओर आ जायँ और दायें पैरकी अँगुलियाँ दायें पैरमें जा मिलें फिर दोनों हाथोंको पीठकी ओर जंघाके नीचेसे लाकर घुटनेके पाससे पैरोंकी अँगुलियोंको पकड़कर जालन्धर-बन्ध लगाकर चित्तको स्थिर करके बैठे।

फल—कण्ठ, स्कन्ध, बाहु और हृदयादि ऊपरके अङ्गों तथा जंघा, पिंडली, पैर, सीवनी, अण्डकोष और कटिप्रदेशकी व्याधियोंका दूर करना।

३१ *सिंहासन*—दोनों पैरोंको नितम्बोंके नीचे इस प्रकार जमावे कि बाँया पैर दायें नितम्बके



२३. मत्स्येन्द्रासन



२४. मत्स्येन्द्रासन



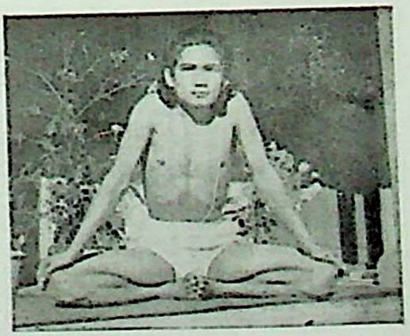
२५. वृश्चिकासन



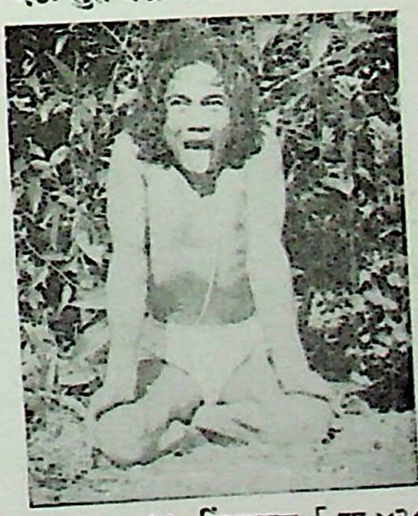
२७. सुप्त वज्रासन



२६. उष्ट्रासन



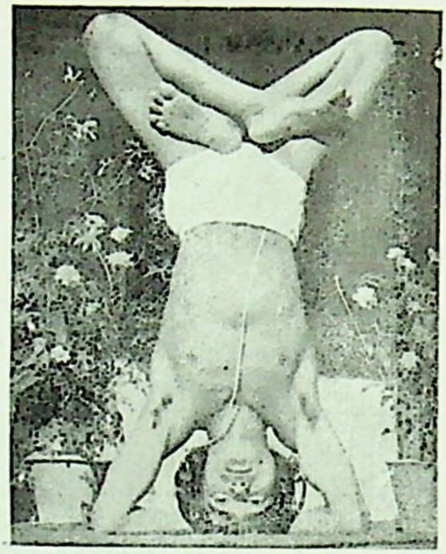
२९. पार्वती-आसन



३१. सिंहासन [पृष्ठ ४२८



३२. बकासन



३५. ऊर्ध्व पद्मासन



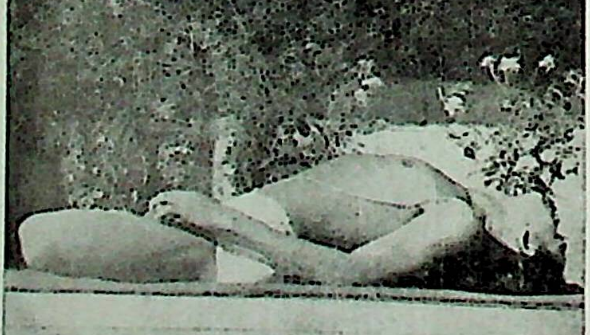
३६. उत्थित पद्मासन



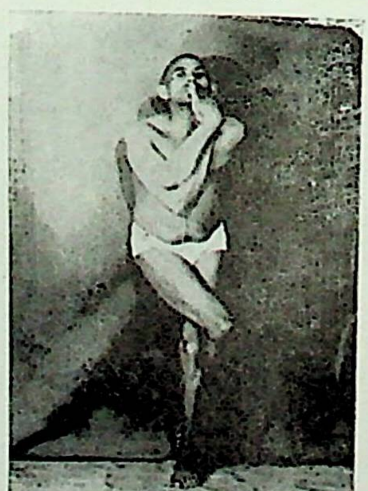
३७. कुक्कुटासन



३८. गर्भासन



४०. मत्स्यासन



४४. गरुडासन

नीचे और दायाँ पैर बायें नितम्बके नीचे आ जाय, फिर दोनों हाथोंको पेटकी ओर अंगुलियाँ करके जंघापर जमावे। पेटको अंदर खींचते हुऐ, छातीको बाहर निकाले हुए, मुँहको खोलकर जिह्वाको बलपूर्वक बाहरकी ओर निकाल ठोढ़ीपर जमा दे।

फल—बाहु और पैरोंका शक्तिशाली होना, गर्दनका नीरोग होना, कटि और सीवनी आदिकी शुद्धि, हकलाना बंद होना।

३२ बकासन—दोनों हाथोंके पंजे जमीनपर रखकर दोनों घुटनोंको बाहुओंके सहारे ऊपर उठाकर पाँवसहित सारे शरीरको ऊपर उठावे, केवल हाथोंके पंजे भूमिपर रहें, शेष शरीर ऊपर उठाये रहे। घुटनोंको अन्दर रखकर भी यह आसन किया जा सकता है।

फल—भुजदण्डोंमें बलवृद्धि, सीनेका विकास, रक्तकी शुद्धि और क्षुधाकी वृद्धि।

३३ लोलासन—बकासनके अनुसार दोनों पंजोंको भूमिपर रखकर केवल उनपर ही सारे शरीरको उठावे। बकासनमें पाँव पीछेकी ओर झुकते हैं और इसमें आगेकी ओर।

फल—बकासनके समान।

३४ एक पादाङ्गुष्ठासन—एक पैरकी एड़ीको गुदा और अण्डकोषके बीचमें लगाकर उसीके अंगूठेको अङ्गुलियोंसहित पृथ्वीपर जमाकर दूसरे पैरको ठीक उसके घुटनेपर रखकर उसपर सारे शरीरका भार सँभालकर बैठे। नासाग्रभागपर दृष्टि जमाकर छातीको किञ्चित् उभारे रहे, दायें-बायें दोनों अङ्गसे बारी-बारीसे करें।

फल—वीर्यदोषका दूर होना और वीर्यवाही नाड़ियोंका शुद्ध और पुष्ट होना।

पद्मासन लगाकर करनेके आसन

३५ ऊर्ध्व पद्मासन—शीर्षासन और ऊर्ध्व सर्वाङ्गासनके साथ।

३६ उत्थित पद्मासन—पद्मासन लगाकर दोनों हाथ दोनों ओर जमीनपर रखकर उनके ऊपर सारे शरीरको पेट अन्दर खींचे हुए और छातीको बाहर निकाले हुए भरसक पृथिवीसे ऊपर उठावे। जितना पृथिवीसे ऊपर उठा रहेगा उतना ही अधिक लाभ होगा।

फल—बाहुबलकी वृद्धि, छातीका विकास, पेटके रोगोंका नाश और क्षुधाकी वृद्धि।

३७ कुक्कुटासन—पद्मासनसे बैठकर दोनों पाँवोंके पञ्जे भीतर रहें, इस प्रकार दोनों जाँघों और पिंडलियोंके बीचमेंसे दोनों हाथ कोहनीतक नीचे निकालकर पञ्जे भूमिपर टिकाकर सारे शरीरको तोलकर रक्खे।

फल—उत्थित पद्मासनके समान लाभ। जठराग्निका प्रदीप्त होना, आलस्यका दूर होना आदि।

३८ गर्भासन—कुक्कुटासन करके हाथोंकी अङ्गुलियोंसे दोनों कान पकड़े।

३९ कूर्मासन—कानोंको न पकड़कर हाथोंकी अङ्गुलियाँ एक-दूसरेके साथ मिलाकर गला पीछेसे पकड़े।

फल—आँतोंके विकारका दूर होना, शौच-शुद्धि, क्षुधा-वृद्धि।

४० मत्स्यासन—पद्मासन लगाकर चित लेटे, दोनों हाथोंसे दोनों पाँवोंके अंगूठे पकड़े और

दोनों हाथोंकी कोहनियाँ जमीनपर टिका दे। सिरको पीछे मोड़कर छाती तथा कमरको भरसक जमीनसे ऊपर उठाये रक्खे।

फल-शौच-शुद्धि, अपानवायुकी निम्न गति, आँतोंके सब रोगोंका नाश इत्यादि। दस-पंद्रह मिनटतक करनेसे विशेष लाभकी प्रतीति होती है। इस आसनसे देरतक जलमें तैरा जा सकता है।

४१ तोलांगुलासन—पद्मासन लगाकर नितम्बोंके नीचे हाथोंकी मुट्ठियाँ रखकर उनपर तराजूके सदृश सारे शरीरको तोल रक्खे।

फल—मत्स्यासनके समान है।

४२ त्रिबन्धासन—मूलबन्ध, उड्डीयान-बन्ध और जालन्धरबन्ध लगाकर पद्मासनसे बैठे। फिर निम्न क्रियाएँ करे—दोनों हाथोंको मिलाकर भरसक ऊपर उठावे। दोनों हाथोंको गोमुख करके रक्खे। दोनों हाथ पीछे फेरकर दाहिने हाथसे बायें पाँवके अँगूठेको और बायें हाथसे दाहिने पाँवके अँगूठेको पकड़े। दोनों हाथोंको भूमिपर जमाकर उनपर सारा शरीर अर्थात् पूरे आसनको उठावे और नितम्बोंको पुनः भूमिपर ताड़न करे।

फल-तीनों बन्धोंके फलके अतिरिक्त इससे कुण्डलिनीकी जागृति और प्राणोंके उत्थानमें विशेष सहायता मिलती है; किंतु सावधानीके साथ करे।

खड़े होकर करनेके आसन

४३ ताड़ासन—गला, कमर, पाँवकी एड़ी आदि सबको समरेखामें करके सीधा खड़ा हो एक हाथको भरसक सीधा ऊपर ताने और दूसरेको जंघासे मिलाये रक्खे। ऊपरवाले हाथको धीरे-धीरे तानता हुआ नीचे ले जाय और नीचेवालेको ऊपर। इसी प्रकार कई बार करे।

फल—सारे शरीरको नीरोग रखना, मेरुदण्डका सीधा करना, शौच-शुद्धि, अर्श रोगका नाश करना इत्यादि।

४४ गरुडासन—सीधे खड़े होकर एक पैरको दूसरे पैरसे लपेटे, तत्पश्चात् दोनों हाथोंको भी उसी प्रकार लपेटकर हथेलीमें हथेली मिलाकर दोनों हाथोंको नाकके पास ले जाय।

फल—पैरोंके स्नायुकी शुद्धि, अण्डकोषकी वृद्धिका रोकना, घुटने और कोहनियों आदिके दर्दका नाश करना।

४५ द्विपाद मध्यशीर्षासन—दोनों पैरोंको भरसक फैलावे, मस्तकको आगेकी ओर झुकाकर दोनों पैरोंके बीचमें ले जाकर पृथिवीपर लगावे।

फल—पेटके स्नायु, कमर, मेरुदण्ड और वीर्यवाही नसोंका पुष्ट होना।

४६ पादहस्तासन—सीधे खड़े होकर धीरे-धीरे आगेकी ओर झुककर दोनों हाथोंसे दोनों पैरोंके अँगूठे पकड़े, उड्डीयान और मूलबन्धके साथ बिना घुटने तथा पाँव झुकाये घुटनेपर सिरको लगा दे।

फल—तिल्ली, यकृत्, कोष्ठबद्धता आदिका दूर होना। देरतक करनेसे विशेष लाभकी प्रतीति होगी।

४७ हस्तपादाङ्गुष्ठासन—सीधा समसूत्रमें दोनों पैरोंको मिलाकर खड़ा हो एक पैरको सीधा उठाकर कटिप्रदेशकी जगहतक ले जाय, दूसरे हाथसे इस पैरके अङ्गूठेको पकड़कर सीधा ताने, दूसरा

हाथ कमरपर रहे। इसी प्रकार दूसरी ओर करे। जब यह आसन लगभग एक मिनटतक टिकने लगे तो मस्तकको फैलाये हुए घुटनेपर लगावे।

फल--पेट, पीठ, जंघा, कमर, कण्ठ आदि अवयवोंका बलवान् होना।

४८ कोणासन—टाँगोंको फैलाकर समसूत्रमें खड़ा हो, तत्पश्चात् एक हाथको सीधा रखकर दूसरे हाथसे बायीं ओर झुककर बायें पैरके घुटनेको पकड़े। इसी प्रकार दूसरी ओर करे।

फल--पीठ, कमरका नीरोग होना, स्नायुओंमें रक्त और खूनका संचार इत्यादि।

यहाँ लगभग सभी मुख्यासन उनके फलसहित बतला दिये गये हैं; किंतु बहुत-से आसनोंको करनेकी अपेक्षा अपनी आवश्यकतानुसार थोड़े-से विशेष-विशेष आसनोंको निम्नलिखित सूची-अनुसार विधिपूर्वक देरतक करना अधिक लाभदायक होगा। आसनोंको ओ३म्के मानसिक जप तथा स्थान-विशेषपर ध्यानके साथ करना अच्छा रहेगा। लंबे समयतक शीर्षासन करनेके पश्चात् ऊर्ध्वसर्वाङ्गासन अथवा ताड़ासन अवश्य करना चाहिये।

१	शीर्षासन (विपरीतकरणी मुद्रा) (९)	२०	मिनट	कम-से-कम
२	मयूरासन (२०)	२	,,	,,
३	ऊर्ध्वसर्वाङ्गासन (१२)	१०	,,	,,
४	पश्चिमोत्तानासन (२)	१०	,,	,,
५	जानुशिरासन (४)	१०	,,	,,
६	उत्तानपादासन (८)	५	,,	,,
७	पवन-मुक्तासन (११)	५	,,	,,
८	भुजङ्गासन (२१)	५	,,	,,
९	शलभासन (२२)	५	,,	,,
१०	त्रिबन्धासन (४१)	५	,,	,,
११	ताड़ासन (४३)	५	,,	,,
१२	पादहस्तासन (४६)	५	,,	,,
१३	सम्प्रसारण भू-नमनासन (३)	५	,,	,,
१४	हृदयस्तम्भासन (७)	५	,,	,,
१५	शीर्षपादासन (६)	५	,,	,,
१६	सर्वाङ्गासन (हलासन) (१३)	५	,,	,,
१७	कर्णपीड़ासन (१४)	५	,,	,,
१८	मस्तक-पादाङ्गुष्ठासन (१८)	५	,,	,,
१९	नाभ्यासन (१९)	५	,,	,,
२०	धनुरासन (२३)	५	,,	,,
२१	उष्ट्रासन (२६)	५	,,	,,
२२	सुप्तवज्रासन (२७)	५	,,	,,

२३ मत्स्यासन (३९)	१० मिनट कम से-कम
२४ द्विपाद मध्यशीर्षासन (४५)	५ ,, ,,

सूर्यभेदी व्यायाम

इन आसनोंके करनेसे शरीरके सब अङ्गोंका संचालन हो जाता है और स्वास्थ्यके लिये बहुत लाभदायक है। तथा ड्रिलमें किये जा सकते हैं।

१ नमस्कार आसन—सीधे खड़े होकर पाँव, चूतड़, पीठ, गला और सिर सम सूत्रमें रखकर दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार करना।

२ उर्ध्व नमस्कार आसन—दोनों हाथोंको सीधे ऊपर ले जाकर उर्ध्व दिशामें हाथ जोड़कर नमस्कार करना। इसमें पेटको किसी कदर आगे बढ़ाकर हाथोंको जितना हो सके उतना पीछे हटाना होता है।

३ हस्त पादासन—हाथोंको ऊपरसे नीचे लाकर दोनों पाँवोंके दोनों ओर भूमिके ऊपर रख दें। घुटने सीधे रहें और पेट अंदर आकर्षित रहे।

४ एकपाद प्रसरणासन—एक पाँव जितना जा सके पीछे ले जाकर सीधा फैलाना। हाथ जहाँ थे वहीं रहें।

५ द्विपाद प्रसरणासन—दूसरे पाँवको भी पीछे ले जाकर सीधे फैलाना। इसमें भूमिमें पाँवके साथ पाँव और हाथके साथ हाथ रखना होता है।

६ भूधरासन—पाँव जितने पीछे ले जा सकें ले जायें, परंतु घुटने सीधे रहने चाहिये और पाँवके तलवे जमीनको पूरे लगने चाहिये। कोहनीके साथ हाथ सीधे होने चाहिये। ठोढ़ी कण्ठकूपमें लगनी चाहिये और पेट अंदर आकर्षित होना चाहिये।

७ अष्टाङ्ग प्रणिपातासन—दोनों पाँव, दोनों घुटने, दोनों हाथ, छाती और मस्तक भूमिपर स्पर्श करने चाहिये। पेट भूमिको न लगना चाहिये। पेटको बलके साथ अंदर खींचना चाहिये।

८ सर्पासन—फणी साँपके समान इस आसनमें सिर जितना पीछे जाय ले जाय और छाती जितनी आगे बढ़ सके बढ़ाएँ। हाथ और पाँव ही भूमिको स्पर्श करें, शेष शरीर भूमिसे कुछ अन्तरपर रहे।

९ भूधरासन—संख्या ६ में देखें।

१० द्विपाद प्रसरणासन—संख्या ५ में देखें।

११ एकपाद प्रसरणासन—संख्या ४ में देखें।

१२ हस्त पादासन—संख्या ३ में देखें।

१३ उपवेशासन—हस्त पादासनमें हाथ और पैरको अपने स्थानमें रखते हुए, सरल रीतिसे बैठ जावे।

१४ नमस्कारासन—संख्या १ में देखें।

१५ ऊर्ध्व नमस्कारासन—संख्या २ में देखें।

आसनका उठना—ध्यानकी अवस्थामें प्राणके दबावसे सूक्ष्म और शुद्ध शरीरवाले साधकोंका कभी-कभी आसन स्वयं उठने लगता है। बहुधा साधकोंको प्राणके उत्थानमें आसनके उठनेका भ्रम हो जाता है।

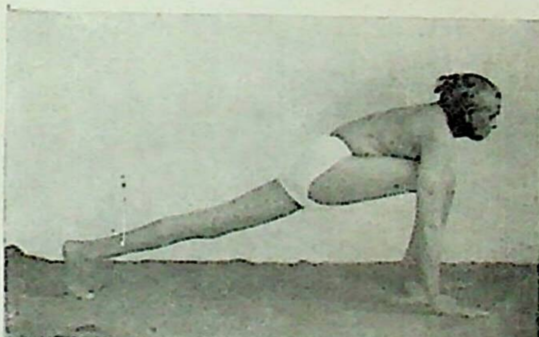
सूर्यभेदी व्यायाम



नमस्काराआसन १, १४



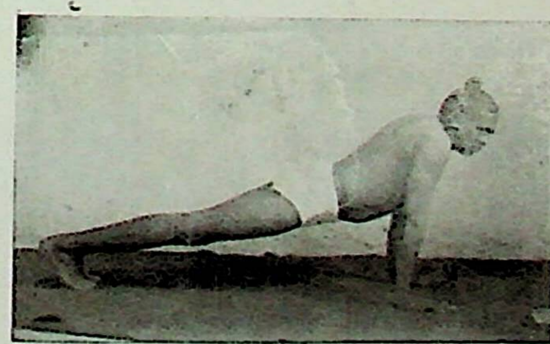
हस्त-पादासन ३, १२



एकपादप्रसरणासन ४, ११

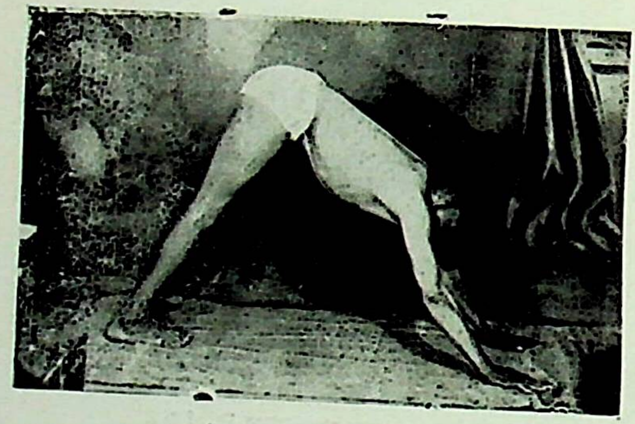


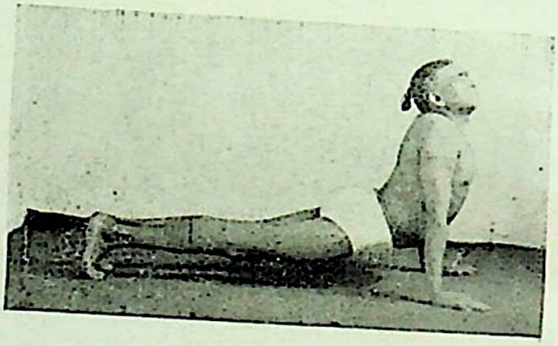
ऊर्ध्व नमस्कार-आसन २, १५



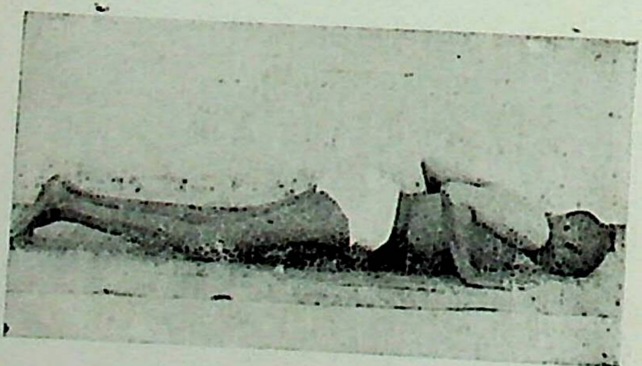
द्विपादप्रसरणासन ५, १०

सूर्यभेदी व्यायाम

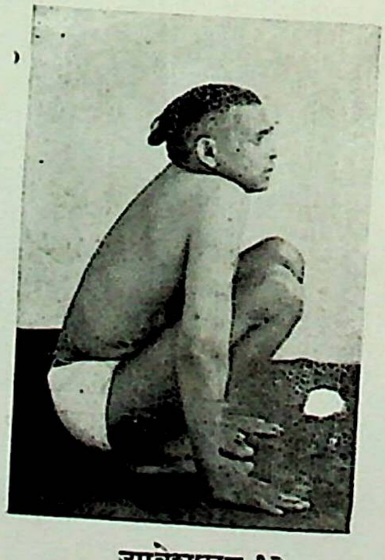




सर्पासन ८



अष्टाङ्ग पर्णिपातासन ७



उपवेशासन १३

आसन उठानेकी विधि— वस्ती अथवा एनिमा आदिसे पेटकी सफाई करके मूल और उड्डीयान बन्ध लगाकर पद्मासनसे बैठे, फिर नीचेसे पेटमें वायुको भरना चाहिये। कुछ दिनोंके अभ्यासके पश्चात् एक विशेष अकथनीय स्वयमेव होनेवाली आन्तरिक क्रियाद्वारा सूक्ष्म और शुद्ध शरीरवालोंका आसन उठने लगता है; किंतु आसनका उठना केवल शारीरिक क्रिया है। इसमें आध्यात्मिकताका लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। इसके प्रदर्शनमें आध्यात्मिक हानि ही है।

गुफामें बैठना—साधारण मनुष्य अधिक समयतक गुफामें बैठनेको ही समाधि समझते हैं।

गुफामें बैठनेकी पहली विधि—इसमें एक लंबे समयतक खान-पान तथा अन्य सब शारीरिक क्रियाओंको छोड़ देनेका अभ्यास होता है। गुफामें जानेसे कई दिन पूर्व वस्ती-धौती आदि यौगिक क्रियाओं-द्वारा शरीर-शोधन और दूध तथा बादामका छोंका आदि सूक्ष्म और अल्प आहार लेना होता है। गुफामें जानेवाले दिन वस्ती, धौती, नेती आदि क्रियाओं तथा Cathetar (कैथेटर) से शरीर-शोधन करना चाहिये। गुफामें नमी (सील) लेशमात्र भी न हो। पक्की होनी चाहिये। कई दिन पूर्व तैयार करा ली जाय, जिससे उसकी सील सब निकल जाय। वायु-प्रवेशके लिये एक जालीदार खिड़की होनी चाहिये। दो-एक अनुभवी देख-भाल करते रहें, जिससे किसी दुर्घटनाकी उपस्थितिमें उसका प्रतीकार किया जा सके। युवक और पुष्ट शरीरवाले ही अपनी शक्तिसे कम समयके लिये ही बैठनेकी चेष्टा करें। इसके लिये शीतकाल उपयोगी समय है।

गुफामें बैठनेकी दूसरी विधि— इसमें पहली विधिमें बतलायी हुई सब बातोंके अतिरिक्त किसी विशेष क्रियासे प्राणकी बाह्य गतिको रोककर एक ही आसनसे निश्चित समयतक बैठना होता है। इसमें खेचरी मुद्रा अधिक उपयोगी होती है। बाह्य प्राणकी गतिके अभावमें प्राणोंकी केवल आन्तरिक क्रिया होती रहती है। इसलिये बाहरकी हवाकी आवश्यकता नहीं रहती। इसमें गुफाको बिल्कुल बंद कर दिया जाता है। इसमें बेहोशी-जैसी अवस्था रहती है। इसलिये श्रोत्र और नासिकादिके छिद्रोंको विशेष रीतिसे बंद कर दिया जाता है, जिससे कोई जीव-जन्तु अंदर प्रवेश न कर सके। शरीरमें दीमक न लगने पावे, इसलिये गुफामें राख डाल दी जाय अथवा अन्य किसी प्रकारसे इसका उपचार करना चाहिये। इस क्रियामें पहली विधिकी अपेक्षा अधिक शारीरिक बल और देख-भालकी आवश्यकता है। कुछ अनुभवियोंको पहलेहीसे सब बातें समझाकर नियुक्त कर देना चाहिये। अपनी सामर्थ्यसे कम समयके लिये बैठना चाहिये तथा गुफामें कोई ऐसी बिजलीकी घण्टी आदि होनी चाहिये कि जिससे दुर्घटनाकी उपस्थितिमें सूचना की जा सके।

वास्तविक समाधि तो तीव्र वैराग्य होनेपर ध्यानद्वारा वृत्तियोंके निरोधपूर्वक होती है जैसा कि योगदर्शनमें बतलाया गया है। उपर्युक्त दोनों प्रकारसे गुफामें बैठना न तो वास्तविक समाधि ही है और न इसका आध्यात्मिकतासे कोई विशेष सम्बन्ध ही है। पहली विधिमें अति कठिन शारीरिक तप है और दूसरी विधिमें उससे भी भयंकर प्राणसम्बन्धी तप और उसकी विशेष क्रियाओंका अभ्यास है। यदि इन दोनों प्रकारकी क्रियाओंमें कार्य-कुशल साधक जनसमूहमें प्रतिष्ठा-मान और धन-प्राप्तिकी अभिलाषाकी उपेक्षा करके वैराग्य और ध्यानद्वारा वृत्तिनिरोधकी ओर प्रवृत्त हों तो बहुत शीघ्र आत्मोन्नतिके शिखर-पर आरूढ़ हो सकते हैं। इस प्रकारकी समाधिका सबसे कठिन और आश्चर्यजनक प्रदर्शन महाराजा

रणजीतसिंहजीके समयमें एक प्रमुख हठयोगी हरिदासने किया था। वह प्राणोंकी बाह्य गतिको किसी विशेष क्रियाद्वारा अन्तर्मुख करके खेचरी मुद्रा लगाकर एक विशेष आसनसे बैठ गया। उसके नाक और कानोंके छिद्रोंको मोम तथा अन्य कई ओषधियोंद्वारा बंद कर दिया गया। एक लोहेके बक्समें रखकर ताला लगाकर उसको जमीन खुदवाकर गड़वा दिया गया। तदुपरान्त उस भूमिपर चने बुवा दिये गये। छः मास पश्चात् जमीनको खोदकर बक्समेंसे उसे निकाला गया और उसकी बतलायी हुई विधिके अनुसार होशमें लाया गया। इतना सब कुछ होते हुए भी कहते हैं कि उसमें वैराग्य तथा ध्यानद्वारा वृत्ति-निरोधके अभ्यासकी कमी थी, जिसके फलस्वरूप (बहुत सम्भव है वज्रोली क्रियाकी सिद्धिकी चेष्टामें) एक क्वाँरी लड़कीको भगाकर ले जानेके प्रयत्नने उसकी सारी प्रतिष्ठा और मानपर पानी फेर दिया। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकारके योगके नामपर प्रदर्शन आरम्भमें जनसमूहमें योगशब्दके प्रति अगाध श्रद्धा और अन्धविश्वास उत्पन्न कर देते हैं; किंतु उनके प्रदर्शकोंकी सांसारिक और स्वार्थमय चेष्टाएँ अन्तमें उससे कहीं अधिक योगके सम्बन्धमें अश्रद्धाकी उत्पादक हो जाती हैं।

आसन, मुद्राएँ आदि सभी यौगिक क्रियाओंका हमने वर्णन कर दिया है। इनमेंसे जो जिसके अभ्यासमें सहायक हों, उनको ग्रहण करना चाहिये। (किंतु मुख्य ध्येय आत्मोन्नतिको छोड़कर केवल इन शारीरिक क्रियाओं और खान-पानके चिन्तनमें ही लगा रहना अहितकर है।)

सङ्गति—आसनकी सिद्धिका उपाय बताते हैं—

प्रयत्नशैथिल्यानन्त्यसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ—प्रयत्न-शैथिल्य = प्रयत्नकी शिथिलता; आनन्त्य-समापत्तिभ्याम् = और आनन्त्यमें समापत्तिद्वारा (आसन सिद्ध होता है)।

अन्वयार्थ—(आसन) प्रयत्नकी शिथिलता और आनन्त्यमें समापत्तिद्वारा सिद्ध होता है।

व्याख्या—सूत्रके अन्तमें 'भवति' वाक्य शेष है। प्रयत्न-शैथिल्य = स्वाभाविक शरीरकी चेष्टाका नाम प्रयत्न है उस स्वाभाविक चेष्टासे अङ्गमेजयत्व (शरीर-कम्पन) के रोकनेके निमित्त उपरत होना प्रयत्नकी शिथिलता है। इस प्रयत्नकी शिथिलतासे आसन सिद्ध होता है। अथवा आनन्त्यसमापत्ति = आकाशादिमें रहनेवाली अनन्ततामें चित्तकी व्यवधानरहित समापत्ति अर्थात् तद्रूपताको प्राप्त हो जानेसे आसनसिद्धि होती है अर्थात् शरीरको प्रयत्नशून्य और मनको व्यापकविषयी वृत्तिवाला करके आसनपर बैठना चाहिये। इस प्रकार शरीर और मनको क्रियारहित करनेसे शरीरका अध्यास छूट जाता है और उससे भूला-जैसा होकर बहुत समयतक स्थिरताके साथ सुखपूर्वक बैठ सकता है। आनन्त्यसमापत्तिसे यह अभिप्राय है कि चित्त वृत्तिरूपसे प्रतिक्षण अनेक परिच्छिन्न पदार्थोंकी ओर घूमता रहता है। उनकी परिच्छिन्नतामें वह अस्थिर रहता है। अपरिच्छिन्न आकाशादिमें जो अनन्तता है, उसमें चित्तको तदाकार करनेसे चित्त निर्विषय होकर स्थिर हो जाता है।

टिप्पणी—॥ सूत्र ४७ ॥ इस सूत्रमें अनन्त पाठ मानकर अनन्त-समापत्तिका अर्थ भिन्न-भिन्न टीकाकारोंने भिन्न-भिन्न अपने-अपने विचारोंके अनुसार किया है इसका कारण यह है कि व्यासभाष्यसे इसका पूरा स्पष्टीकरण नहीं होता है। व्यासभाष्यमें केवल इतना बतलाया है—

अनन्ते वा समापन्नं चित्तमासनं निर्वर्तयतीति ।

'अनन्तमें समापन्न किया हुआ चित्त आसनको सिद्ध करता है ।'

इसीलिये किसीने अनन्तके अर्थ अनन्त पदार्थ, किसीने ईश्वर किये हैं और वाचस्पति मिश्र तथा विज्ञानभिक्षुने अनन्त शेषनागका नाम बताया है, जो अपने सहस्र फणोंपर पृथ्वीमण्डलको धारण किये हुए हैं । इन सबका यह तात्पर्य हो सकता है कि समाधिसिद्धिसे आसनसिद्धि हो जाती है । पर समाधिसे पूर्व प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान— इन चारों अङ्गोंकी पूर्ति शेष रहती है । आसन साधन हैं और समाधि साध्य है । समाधिसिद्धिसे आसनसिद्धि बतलाना साध्यसे साधनको सिद्ध करना है, इसलिये इसके अर्थ हमने 'भोजवृत्ति' के अनुसार किये हैं, जो इस प्रकार है—

यदा चाकाशादिगत आनन्त्ये चेतसः समापत्तिः क्रियतेऽव्यवधानेन तादात्म्यमापद्यते तदा देहाहंकाराभावान्नासनं दुःखजनकं भवति ।

'जब आकाश आदिमें रहनेवाली अनन्ततामें चित्तको व्यवधानरहित तदाकार किया जाता है, तब उसकी तद्रूपता प्राप्त हो जानेपर शरीराभिमानका अभाव हो जानेसे देहकी सुध न रहनेसे आसन दुःखका उत्पादक नहीं होता ।

संगति—उसका फल बतलाते हैं—

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ—ततः = उससे; द्वन्द्व-अनभिघातः = द्वन्द्वकी चोट नहीं लगती ।

अन्वयार्थ—आसनकी सिद्धिसे द्वन्द्वोंकी चोट नहीं लगती ।

व्याख्या—आसन सिद्ध होनेपर योगीको गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास आदि द्वन्द्व नहीं सताते ।

संगति—आसनसिद्धिके अनन्तर प्राणायामको बताते हैं—

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ—तस्मिन् सति = उस आसनके स्थिर हो जानेपर; श्वास-प्रश्वासयोः = श्वास और प्रश्वासको; गतिविच्छेदः = गतिको रोकना; प्राणायामः = प्राणायाम है ।

अन्वयार्थ- आसनके स्थिर होनेपर श्वास-प्रश्वासकी गतिका रोकना प्राणायाम है ।

व्याख्या—श्वास— बाहरकी वायुका नासिकाद्वारा अंदर प्रवेश करना श्वास कहलाता है ।

प्रश्वास—कोष्ठ-स्थित वायुका नासिकाद्वारा बाहर निकलना प्रश्वास कहलाता है । श्वास-प्रश्वासकी गतियोंका प्रवाह रेचक, पूरक और कुम्भकद्वारा बाह्याभ्यन्तर दोनों स्थानोंमें रोकना प्राणायाम कहलाता है । रेचक प्राणायामकी बहिर्गति होनेके कारण उसमें श्वासकी स्वाभाविक गतिका तो अभाव होता ही है पर कोष्ठकी वायुका बहिर्विरेचन करके बाहर ही धारण करनेसे प्रश्वासकी स्वाभाविक गतिका भी अभाव हो जाता है । इसी प्रकार पूरक प्राणायाममें प्रश्वासकी गतिका तो अभाव होता ही है, पर बाह्य वायुको पान करके शरीरके अंदर धारण करनेसे श्वासकी स्वाभाविक गतिका भी अभाव हो जाता है और कुम्भक प्राणायाममें रेचन-पूरण प्रयत्नके बिना केवल विधारक प्रयत्नसे प्राणवायुको एकदम जहाँ-के-तहाँ रोक देनेसे श्वास-प्रश्वास दोनोंको गतिका अभाव हो जाता है ।

जब ठीक आसनसे बैठ जाय, तब ऊपर बतलायी हुई रीतिसे प्राणायाम करना चाहिये। प्राणायामके इन तीनों भेदोंका विस्तारपूर्वक वर्णन अगले सूत्रमें है। आसन यम-नियमकी भाँति योगका स्वतन्त्र अङ्ग नहीं है, वह प्राणायामकी सिद्धिका उपाय है। इसलिये 'तस्मिन् सति' उसके अर्थात् आसनके हो जानेपर यह शब्द लाया गया है।

संगति—सुखपूर्वक प्राणायामकी प्राप्तिके लिये उसका भेद करके स्वरूप बताते हैं—

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ—बाह्य-आभ्यन्तर-स्तम्भवृत्तिः = बाह्य-वृत्ति, आभ्यन्तर-वृत्ति और स्तम्भ-वृत्ति (तीनों प्रकारका प्राणायाम); देशकालसंख्याभिः परिदृष्टः = देश, काल और संख्यासे देखा हुआ; दीर्घसूक्ष्मः = लंबा और हलका होता है।

अन्वयार्थ—(यह प्राणायाम) बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तर-वृत्ति और स्तम्भ-वृत्ति (तीन प्रकारका होता है) देश, काल और संख्यासे देखा हुआ (नापा हुआ) लंबा और हलका होता है।

व्याख्या—बाह्य-वृत्ति (प्रश्वास)—श्वासको बाहर निकालकर उसकी स्वाभाविक गतिका अभाव करना रेचक प्राणायाम है।

आभ्यन्तर-वृत्ति (श्वास)—श्वास अंदर खींचकर उसकी स्वाभाविक गतिका अभाव पूरक प्राणायाम है।

स्तम्भवृत्ति -श्वास-प्रश्वास दोनों गतियोंके अभावसे प्राणको एकदम जहाँ-का-तहाँ रोक देना कुम्भक प्राणायाम है। जिस प्रकार तप्त-लोहादिपर डाला हुआ जल एक साथ संकुचित होकर सूख जाता है, इसी प्रकार कुम्भक प्राणायाममें श्वास-प्रश्वास दोनोंकी गतिका एक साथ अभाव हो जाता है।

इन तीनोंमें प्रत्येक प्राणायाम तीन तीन प्रकारका होता है—

१ देश-परिदृष्ट—देशसे देखा हुआ अर्थात् देशसे नापा हुआ। जैसे (१) रेचकमें नासिकातक प्राणका निकालना, (२) पूरकमें मूलाधारतक श्वासका ले जाना, (३) कुम्भकमें नाभिचक्र आदिमें एकदम रोक देना।

२ कालपरिदृष्ट—समयसे देखा हुआ अर्थात् समयोपलक्षित = समयकी विशेष मात्राओंमें श्वासका निकालना, अंदर ले जाना और रोकना। जैसे दो सेकण्डमें रेचक, एक सेकण्डमें पूरक और चार सेकण्डमें कुम्भक।

३ संख्यापरिदृष्ट संख्यासे उपलक्षित। जैसे इतनी संख्यामें पहला, इतनी संख्यामें दूसरा और इतनी संख्यामें तीसरा प्राणायाम। इस प्रकार अभ्यास किया हुआ प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म अर्थात् लंबा और हलका होता है।

भाव यह है कि ज्यों-ज्यों योगीका अभ्यास बढ़ता जाता है त्यों-त्यों रेचक, पूरक, कुम्भक—यह तीनों प्रकारका प्राणायाम देश, काल और संख्याके परिमाणसे दीर्घ (लंबा), सूक्ष्म (पतला, हलका) होता चला जाता है। अर्थात् पहले-पहल रेचक प्राणायाममें बाहर फेंकते समय जितनी दूरतक प्राण जाता है, धीरे धीरे अभ्याससे उसका परिमाण बढ़ता चला जाता है। इसकी जाँच इस प्रकार की जाती है कि रेचक प्राणायामके समय पहले-पहल नासिकाके सामने पतली-सी रूई रखनेसे जितनी दूर वह

श्वासके स्पर्शसे हिलती है, कुछ दिनोंके अभ्यासके पश्चात् उससे अधिक दूरीपर हिलने लगती है। इस प्रकार जब बारह अंगुलपर्यन्त रेचक स्थिर हो जाय, तब उसको दीर्घ-सूक्ष्म समझना चाहिये।

जिस प्रकार रेचक प्राणायाममें श्वासकी लंबाई बाहर बढ़ती जाती है इसी प्रकार पूरक प्राणायाममें अंदर बढ़ती जाती है। अंदर श्वास खींचनेमें श्वासका स्पर्श चींटी-जैसा प्रतीत होता है। यह स्पर्श अभ्यासके क्रमसे नीचेकी ओर नाभि तथा पादतल और ऊपरकी ओर मस्तिष्कतक पहुँच जाता है। नाभिपर्यन्त पूरक स्थिर हो जानेपर उसको भी दीर्घ सूक्ष्म समझना चाहिये। इस तरह केवल रेचक, पूरककी परीक्षा की जाती है, कुम्भकमें न बाहर कुछ हिलता है, न अंदर स्पर्श होता है। यह देश-द्वारा परीक्षा हुई।

कालद्वारा परीक्षा

इसी प्रकार तीनों प्रकारका प्राणायाम अभ्यासद्वारा कालके परिमाणमें भी बढ़ता जाता है। आरम्भमें जितने कालतक प्राणायाम होता है, धीरे-धीरे उससे अधिक कालतक बढ़ता जाता है। हाथको जानुके ऊपरसे चारों ओर फिराकर एक चुटकी बजा देनेमें जितना काल लगता है, उसका नाम मात्रा है। दिनोंदिन वृद्धिको प्राप्त किया हुआ प्राणायाम जब छत्तीस मात्राओंपर्यन्त श्वास-प्रश्वासकी गतिके अभावमें होने लगे, तब उसको दीर्घसूक्ष्म जानना चाहिये।

संख्याद्वारा परीक्षा

इसी प्रकार संख्याके परिमाणसे प्राणायाम बढ़ता जाता है। प्राणायामके बलसे कई स्वाभाविक श्वास-प्रश्वासका एक-एक श्वास बनता जाता है। जब बारह श्वास-प्रश्वासका एक श्वास बनने लगे, तब जानना चाहिये कि दीर्घ-सूक्ष्म हुआ। यह प्रथम उद्घात मृदु दीर्घ-सूक्ष्म, चौबीस श्वास-प्रश्वासका एक श्वास, द्वितीय उद्घात मध्य दीर्घ-सूक्ष्म और छत्तीस श्वास-प्रश्वासका एक श्वास, तृतीय उद्घात तीव्र-दीर्घ सूक्ष्म कहलाता है। उद्घातका अर्थ नाभिमूलसे प्रेरणा की हुई वायुका सिरमें टक्कर खाना है। यह प्राणायाममें देश, काल और संख्याका परिमाण है। इस प्रकार प्राणायाम अभ्याससे लंबा (घड़ी, पहर, दिन, पक्ष आदिपर्यन्त) और सूक्ष्म बड़ी निपुणतासे जानने योग्य होता चला जाता है।

विशेष वक्तव्य— ॥ सूत्र ५० ॥ प्राणका विस्तारपूर्वक वर्णन पहले पादके चौंतीसवें सूत्रके वि० व० में कर आये हैं। यहाँ प्राणायामका क्रियात्मक रूप बतला देना आवश्यक है। एक स्वस्थ मनुष्य स्वाभाविक रीतिसे एक मिनटमें पंद्रह बार श्वास लेता है। साधारण स्थितिमें श्वासकी गति इस क्रमसे होती है। (१) श्वासका भीतर जाना, (२) भीतर रुकना, (३) बाहर निकलना, (४) बाहर रुकना। श्वासके भीतर जानेको श्वास, बाहर निकलनेको प्रश्वास और अंदर तथा बाहर रुकनेको विराम कहते हैं। इस स्वाभाविक श्वास-प्रश्वासकी गतिके वशीकरणसे शरीरके भीतर प्राणकी समस्त सूक्ष्म गतियोंका वशीकार हो सकता है और नाना प्रकारकी अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त हो सकती हैं। इन दोनों गतियोंके नियमपूर्वक रोक देनेके अभ्याससे आयु बढ़ती है, शरीर स्वस्थ रहता है—कुण्डलिनी जाग्रत् होती है और मन जो अति चञ्चल तथा दुर्निग्रह है, प्राणसे सम्बन्ध रखनेके कारण उसके रुकनेसे शीघ्र स्थिर हो जाता है। योगका अन्तिम लक्ष्य चित्तकी वृत्तियोंका रोकना है, इसलिये सूत्रकारने प्राणायामको योगका

चौथा अङ्ग मानकर उसका लक्षण (नियमपूर्वक) श्वास-प्रश्वासकी गतिका रोकना किया है। तीन नियमित क्रियाओंसे इस गतिका निरोध किया जाता है। इसलिये प्राणायामके तीन भेद पूरक = आभ्यन्तर-वृत्ति, रेचक = बाह्य-वृत्ति और कुम्भक = स्तम्भ-वृत्ति किये हैं।

(१) पूरक (आभ्यन्तर-वृत्ति) द्वारा श्वासको देश (नाभि, मूलाधार आदि आभ्यन्तर प्रदेश-तक ले जाकर), काल (श्वासकी मात्राएँ बढ़ाकर) और संख्या (कई श्वासोंका एक श्वास बनाकर) के परिमाणसे दीर्घ और सूक्ष्म करके उसकी गतिका अभाव किया जाता है। इस प्रकार पूरकद्वारा श्वासकी गतिको रोक देनेको पूरकसहित कुम्भक अथवा आभ्यन्तर कुम्भक कहते हैं।

(२) इसी प्रकार रेचकद्वारा प्रश्वासको देश, काल और संख्याके परिमाणसे दीर्घ और सूक्ष्म करके उसकी गतिको रोक दिया जाता है। इस प्रकार प्रश्वासकी गतिको रोक देनेको रेचकसहित कुम्भक अथवा बाह्य कुम्भक कहते हैं। जहाँ पूरक, रेचक दोनोंसे श्वास-प्रश्वासकी गतिको रोक दिया जाता है, वह सहित-कुम्भक कहलाता है।

(३) बिना पूरक, रेचक किये हुए श्वास-प्रश्वास दोनोंकी गतियोंको कुम्भकद्वारा एकदम जहाँका तहाँ रोक दिया जाता है। यह भी देश (हृदयकी धड़कन, हाथकी नाड़ी आदिकी चालको देखकर), काल (कितनी मात्राओंमें गतिका अभाव रहा) और संख्या (कितनी विरामकी संख्यामें गतिका अभाव रहा) के परिमाणसे दीर्घ और सूक्ष्म होता है। इसको केवल कुम्भक कहते हैं।

(४) इन तीनों प्रकारके प्राणायामोंसे भिन्न एक चौथी विलक्षण क्रिया श्वास-प्रश्वासकी गतिको रोकनेकी है। इसकी संज्ञा योगदर्शनमें "चतुर्थ प्राणायाम" की है। इसमें श्वास-प्रश्वासकी गतिको रोके बिना केवल रेचक, पूरा किया जाता है। इसके निरन्तर अभ्याससे श्वास-प्रश्वासकी गति देश, काल और संख्याके परिमाणसे दीर्घ और सूक्ष्म होती हुई स्वयं निरुद्ध हो जाती है।

समाधिपादके चौंतीसवें सूत्रके वि० व० में मुख्य प्राणके पाँच भेद—प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान तथा प्राणका निवासस्थान हृदय, अपानका मूलाधार और समानका नाभि बतला आये हैं। पूरकमें प्राण समानसे नीचे जाकर अपानके साथ मिलता है और रेचकमें अपान समानसे ऊपर जाकर प्राणसे मिलता है। इसलिये कई योगाचार्योंने प्राणायामका लक्षण 'प्राण और अपानका मिलाना' किया है। यथा—

प्राणापानसमायोगः प्राणायाम इतीरितः।
प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचकपूरककुम्भकैः॥

(योगियाज्ञवल्क्य ६। २)

'प्राण और अपान वायुके मिलानेको प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम कहनेसे रेचक, पूरक और कुम्भककी क्रिया समझी जाती है।'

वर्णत्रयात्मका ह्येते रेचकपूरककुम्भकाः।
स एव प्रणवः प्रोक्तः प्राणायामश्च तन्मयः॥

(योगियाज्ञवल्क्य ६। ३)

'रेचक, पूरक और कुम्भक—यह तीनों तीन वर्णरूप हैं अर्थात् इन तीनोंमें तीन-तीन वर्ण होते हैं। वही यह प्रणव कहा गया है। प्राणायाम प्रणव-रूप ही है। अर्थात् जिस प्रकार ओम्‌में अ, उ, म—ये

तीन वर्ण हैं, इसी प्रकार पूरक, कुम्भक, रेचक तीनोंमें तीन-तीन वर्ण हैं, इसलिये यह तीनों प्रणव ही है। ऐसा जानकर इन तीनोंके अलग-अलग अभ्यासमें प्रणव-उपासनाकी भावना करनी चाहिये। प्राणायामकी क्रियाओंकी भिन्नतासे कुम्भकके आठ अवान्तर भेद बतलाये गये हैं। यथा—

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा केवली चाष्टकुम्भकाः ॥

(गोरक्षसंहिता १९५, घेरण्डसंहिता)

'सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा और केवली भेदसे कुम्भक आठ प्रकारका है।'

हठयोगप्रदीपिकामें कुम्भकका आठवाँ भेद प्लाविनी माना है। इन सब प्रकारके उपर्युक्त कुम्भकोंके वर्णन करनेसे पूर्व इनके सम्बन्धमें कई विशेष सूचनाएँ दे देना उचित प्रतीत होता है।

बन्धोंका प्रयोग— स्थिरासनमें खेचरी मुद्राके साथ नेत्रोंको बंद करके प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये। सिर, गर्दन और मेरुदण्ड सीधे रहें; झुके न रहें। शरीरको तानकर नहीं रखना चाहिये, बल्कि ढीला छोड़ देना चाहिये। मूलबन्ध आरम्भसे अन्ततक तीनों प्राणायामोंमें लगा रहना चाहिये। उड्डीयानको भी लगाये रखनेका प्रयत्न करें। रेचकमें पूरा उड्डीयान करके पेटको पीठसे मिला देना चाहिये। पूरक और कुम्भकके समय पेटकी नाड़ियोंको फुलाकर आगेकी ओर नहीं बढ़ाना चाहिये, वरं सिकोड़कर ही रखना चाहिये। पूरक करके कुम्भकके समय जालन्धर-बन्ध लगाकर वायुको अंदर रोकना होता है। कुम्भककी समाप्तिपर जालन्धर-बन्ध खोलकर रेचक किया जाता है। जालन्धर-बन्ध यद्यपि बहुत लाभदायक है तथापि तनिक-सी असावधानी होनेपर इसमें हानि पहुँचनेकी भी सम्भावना रहती है तथा इसके द्वारा गर्दन झुकानेकी आदत भी कई अभ्यासियोंको पड़ जाती है, इसलिये राजयोगके अभ्यासियोंके लिये अधिक हितकर नहीं है। बिना जालन्धर-बन्ध लगाये दोनों नासिकापुटको अंगुलियोंसे बंद करके अथवा इसके बिना भी कुम्भक किया जाता है।

२ *अंगुलियोंका प्रयोग*—वाम नासिकापुटसे पूरक करते समय दाहिने नासिकापुटको दाहिने हाथके अंगूठेसे दबाना होता है। कुम्भकके समय वाम नासिकापुटको भी दाहिने हाथकी अनामिका तथा कनिष्ठिकासे दबाकर वायुको अंदर रोकना होता है। अर्थात् यदि जालन्धर-बन्ध न लगाना हो तो कुम्भकमें दोनों नासिकापुट (नथुने) सीधे हाथकी नियुक्त अंगुलियोंसे बंद किये जाते हैं। दक्षिण नासिकापुटसे रेचक करते समय केवल वाम नासिकापुटको बंद रखना होता है, दाहिनेपरसे अंगुलियाँ हटा ली जाती हैं, इसी अवस्थामें दाहिने नथुनेसे पूरक किया जाता है और कुम्भकके समय इसको भी पूर्ववत् बंद कर दिया जाता है। बायें नथुनेसे रेचकके समय उस नथुनेपरसे अंगुलियाँ हटा ली जाती हैं। दोनों नथुनोंसे रेचक तथा पूरक करते समय दोनों नथुनेपरसे अंगुलियाँ हटा ली जाती हैं। आरम्भमें ही अंगुलियोंके प्रयोगकी आवश्यकता होती है। अभ्यास परिपक्व हो जानेपर नथुनोंको अंगुलियोंसे दबाये बिना भी रेचक, पूरक, कुम्भक किया जा सकता है। यदि कुम्भकमें जालन्धर-बन्ध लगाया हो तो अंगुलियोंद्वारा नथुनोंको बंद करनेकी आवश्यकता नहीं होती।

आगे बतलाये जानेवाले, रेचक, पूरक, कुम्भकमें अंगुलियोंद्वारा नासिकापुटका खोलना, बंद करना

पाठकगण स्वयं समझ लें, हमें अब उनके बतलानेकी आवश्यकता नहीं रही।

३ प्राणायामके आरम्भमें जिस नासिकापुटसे पूरक करना हो उससे प्रथम पूरा श्वास बाहर निकाल देना चाहिये।

सगर्भ (सबीज) सहित कुम्भक—

सहितो द्विविधः प्रोक्तः प्राणायामं समाचरेत्।
सगर्भो बीजमुच्चार्य निर्गर्भो बीजवर्जितः॥

'सहित-कुम्भक सगर्भ और निर्गर्भ भेदसे दो प्रकारका कहा गया है। उसका आचरण करे। सगर्भ बीजमन्त्रके उच्चारणके साथ किया जाता है और निर्गर्भ बीजमन्त्रको छोड़कर किया जाता है।'

सगर्भ अर्थात् सबीज प्राणायामकी विधि—पूरकका बीजमन्त्र 'अं' है कुम्भकका 'उं' और रेचकका 'मं' है। इस प्रकार सहित-प्राणायामको प्रणवात्मक समझकर उसमें 'प्रणव' की उपासनाकी भावना करते हुए पूरकमें 'अं' का, कुम्भकमें 'उं' का और रेचकमें 'मं' का जाप करते हुए अथवा पूरक, कुम्भक और रेचक तीनोंको अलग-अलग प्रणवात्मक जानकर उनमें 'प्रणव' की उपासनाकी भावना करते हुए तीनोंमें 'ओम्' की निश्चित मात्रासे जाप करना सबीज अथवा सगर्भ प्राणायाम है।

१ *साधारण सहित अथवा अनुलोम विलोम कुम्भक*—बीजमन्त्र 'अं' अथवा ओ३म्का छः बार मानसिक जाप करते हुए बायें नासिकापुटसे धीमे-धीमे बिना आवाज किये हुए वायुको मूलाधारतक पूरक करे। चौबीस बार बीजमन्त्र 'उं' अथवा ओ३म्का मानसिक जाप करते हुए कुम्भक करे। बीजमन्त्र 'मं' अथवा ओ३म्का बारह बार मानसिक जाप करते हुए धीरे-धीरे बिना आवाज किये वायुको दायें नासिका पुटसे रेचक करे। थोड़ी देर (एक सेकण्ड) वायुको बाहर रोककर पूर्ववत् छः मात्रामें 'अं' अथवा ओ३म्का जाप करते हुए इसी नासिकापुटसे पूरक करे। पूरकके पश्चात् पूर्ववत् कुम्भक, तत्पश्चात् बायें नासिकापुटसे रेचक करे, ये दो प्राणायाम हुए। इसी प्रकार दोनों नासिकापुटोंसे एक साथ पूरक, कुम्भक और रेचक करके प्राणायाम किया जा सकता है। प्राणायामकी संख्या यही रहे। मात्राएँ पूरक, कुम्भक और रेचक १-४-२ के हिसाबसे यथाशक्ति बढ़ाते रहें।

निम्नलिखित क्रमानुसार मात्राओंको शनैः-शनैः बढ़ाया जा सकता है—

६ मात्रासे पूरक	८ मात्रासे कुम्भक	६ मात्रासे रेचक	१५ दिनतक
६ ,, ,,	१२ ,, ,,	९ ,, ,,	,, ,,
६ ,, ,,	१८ ,, ,,	१० ,, ,,	,, ,,
६ ,, ,,	२४ ,, ,,	१२ ,, ,,	,, ,,
७ ,, ,,	२८ ,, ,,	१४ ,, ,,	,, ,,
८ ,, ,,	३२ ,, ,,	१६ ,, ,,	,, ,,
९ ,, ,,	३६ ,, ,,	१८ ,, ,,	,, ,,
१० ,, ,,	४० ,, ,,	२० ,, ,,	,, ,,
११ ,, ,,	४४ ,, ,,	२२ ,, ,,	,, ,,

१२ मात्रासे पूरक	४८ मात्रासे कुम्भक	२४ मात्रासे रेचक	१५ दिनतक
१३ ,, ,,	५२ ,, ,,	२६ ,, ,,	,, ,,
१४ ,, ,,	५६ ,, ,,	२८ ,, ,,	,, ,,
१५ ,, ,,	६० ,, ,,	३० ,, ,,	,, ,,
१६ ,, ,,	६४ ,, ,,	३२ ,, ,,	,, ,,
१७ ,, ,,	६८ ,, ,,	३४ ,, ,,	,, ,,
१८ ,, ,,	७२ ,, ,,	३६ ,, ,,	,, ,,
१९ ,, ,,	७६ ,, ,,	३८ ,, ,,	,, ,,
२० ,, ,,	८० ,, ,,	४० ,, ,,	,, ,,

इसके पश्चात् यदि चाहें तो केवल कुम्भक कर सकते हैं। मात्राओंको बढ़ानेमें शीघ्रता न करें, यथाशक्ति शनैः-शनैः बढ़ावें।

साधारण सहित-कुम्भकके अन्तर्गत कई अन्य उपयोगी प्राणायाम—

(क) ताल्युक्त प्राणायाम—हाथकी कलाईपर अंगूठेकी ओर नवज़वाली नाड़ीपर अङ्गुलियोंको रखकर उसकी धड़कन (गति) की चालको अच्छी प्रकार पहचाननेका अभ्यास करनेके पश्चात् इस प्राणायामको निम्न प्रकार करे—

किसी सुखासनसे विधिके अनुसार बैठकर उस नाड़ीकी धड़कनको १ से ६ तक गिनते हुए पूरक, १ से ३ तक गिनते हुए आभ्यन्तर कुम्भक, १ से ६ तक गिनते हुए रेचक और १ से ३ तक गिनते हुए बाह्य कुम्भक करे। यह १ प्राणायाम हुआ, इस प्रकार सात प्राणायाम करे। मात्राएँ इसी क्रमानुसार यथाशक्ति बढ़ाते जायँ। इसी प्रकार अनुलोम-विलोम रीतिसे यह प्राणायाम किया जा सकता है।

फल—मनकी एकाग्रता तथा विना तारके तारवाले यन्त्र (Wireless Telegram) अथवा रेडियो (Radio) के सदृश दूर-दूर स्थानोंमें बैठे हुए दो मनुष्य एक निश्चित समयपर इस प्राणायाम-द्वारा ताल्युक्त होकर अपने विचारकी तरंगें (धारें) एक-दूसरेतक पहुँचा सकते हैं (सूत्र ३२ वि० व० सम्मोहनशक्ति)।

दूसरी विधि—उपर्युक्त विधिके परिपक्व होनेपर सातों चक्रोंपर क्रमानुसार ध्यान करते हुए इस प्राणायामको करे—

मूलाधार चक्र—पूरकमें ऐसी भावना करे कि श्वास उस स्थानमें अंदर आ रहा है। आभ्यन्तर कुम्भकके पश्चात् रेचकमें ऐसी भावना करे कि श्वास वहाँसे बाहर निकल रहा है। फिर बाह्य कुम्भक करे। इस प्रकार सात प्राणायाम करे। इसी प्रकार क्रमानुसार स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपूरक चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्ध चक्र, आज्ञाचक्र तथा ब्रह्मरन्ध्रमें ध्यान करते हुए प्राणायाम करे।

फल—चक्रभेदनमें सहायता, शरीरके किसी विशेष अङ्गके विकारी होनेपर उस स्थानपर इस प्राणायामद्वारा प्राणको भरकर विकारका हटाना।

२ *सूर्यभेदी कुम्भक*—बलपूर्वक सूर्यनाड़ी अर्थात् दाहिने नासिकापुटसे धीरे-धीरे आवाजके साथ

पूरक करें, (प्राणवायुको पूर्णतया कोष्ठमें भरकर नखसे शिखापर्यन्त फैलाकर) बलपूर्वक जबतक वायुको रोक सके कुम्भक करें। इसके पश्चात् चन्द्र-नाड़ी अर्थात् वाम नासिकापुटसे धैर्यके साथ आवाज करते हुए वेगपूर्वक रेचक करें। यह एक प्राणायाम हुआ। आरम्भमें इस प्रकार पाँच प्राणायाम करें, शनैः-शनैः शक्तिके अनुसार संख्या बढ़ाते जायँ। इस प्राणायाममें पुनः-पुनः केवल सूर्यनाड़ीसे ही पूरक और वाम नाड़ीसे ही रेचक किया जाय।

सूर्यभेदी प्राणायामसे शरीरमें उष्णता तथा पित्तकी वृद्धि होती है। वात और कफसे उत्पन्न होनेवाले रोग, रक्त-दोष, त्वचा-दोष, उदर-कृमि आदि नष्ट होते हैं। जठराग्नि बढ़ती है और कुण्डलिनी-शक्तिके जागरण करनेमें सहायता मिलती है। इस प्राणायामका अभ्यास गर्मीके दिनोंमें तथा पित्त-प्रधान प्रकृतिवाले पुरुषोंके लिये हितकर नहीं है।

चन्द्रभेदी प्राणायाम सूर्यभेदी प्राणायामसे बिल्कुल उल्टा अर्थात् चन्द्रस्वर (बायें नासिकापुट) से पूरक और सूर्यस्वर (दाहिने नासिकापुट) से रेचक करनेसे चन्द्रभेदी प्राणायाम होता है। इससे थकावट और शरीरकी उष्णता दूर होती है।

३ उज्जाई कुम्भक—मुखको किसी कदर झुकाकर कण्ठसे हृदयपर्यन्त शब्द करते हुए दोनों नासिकापुटसे (अथवा दाहिने नासिकापुटसे) शनैः-शनैः पूरक करें। कुछ देरतक कुम्भक करनेके पश्चात् बायें नासिकापुटसे इसी प्रकार रेचक करें। यह एक प्राणायाम हुआ। इस प्राणायाममें कुम्भक, पूरक, रेचक स्वल्प परिमाणमें किये जाते हैं। कुम्भकमें वायु हृदयसे नीचे नहीं जाना चाहिये। रेचकमें जितना हो सके शनैः शनैः वायुको विरेचन करना चाहिये। इसमें पूरकमें नासिका-छिद्रद्वारा वायुको बाहरसे खींचकर मुखमें, मुखसे कण्ठमें और कण्ठसे ले जाकर हृदयमें धारण किया जाता है। फिर यथाक्रम रेचकमें हृदयसे कण्ठमें, कण्ठसे मुखमें और मुखसे वायुको बाहर निकाला जाता है। पाँचसे आरम्भ करके शनैः-शनैः यथाशक्ति संख्या बढ़ाते जायँ।

फल—कफ-प्रकोप, उदर-रोग, आमवात, मन्दाग्नि, प्लीहा आदिका दूर होना, अग्निका प्रदीप्त होना एवं कण्ठ, मुख और फेफड़ोंकी स्वच्छता।

दीर्घसूक्ष्म उज्जाई—इसमें कण्ठकी सहायतासे लंबी, दीर्घ और हल्की आवाज उत्पन्न करते हुए मनकी एकाग्रताके लिये केवल पूरक रेचक किया जाता है।

४ शीतली कुम्भक—काकके चोंचकी आकृतिमें जिह्वाको ओष्ठसे बाहर निकालकर वायुको शनैः-शनैः पूरक करें। धीरे-धीरे पेटको वायुसे पूर्ण करके सूर्यभेदी प्राणायामके सदृश कुछ देर कुम्भक करनेके पश्चात् दोनों नासिकापुटसे रेचक करे। पुनः-पुनः इसी प्रकार करे।

फल—अजीर्ण, पित्तसे उत्पन्न होनेवाले रोग, रक्तपित्त, रक्तविकार, पेचिश, अम्लपित्त, प्लीहा, तृषा आदि रोग इससे दूर होते हैं, बल और सौन्दर्यकी वृद्धि होती है। कफ प्रकृतिवाले मनुष्योंके लिये तथा शीतकालमें इस प्राणायामका अभ्यास हितकर नहीं है।

निम्नलिखित प्राणायामोंको शीतलीके अन्तर्गत समझना चाहिये। इनकी विधि तथा फल भी लगभग उसीके समान है। शरीरमें ठंड पहुँचाने तथा क्षय (थाइसिस phthisis) राजयक्ष्मा आदि रोगोंके नाश करनेमें अति उपयोगी होते हैं।

(क) शीतकारी-जिह्वाको ओष्ठोंसे बाहर निकालकर और उसका बिल्कुल अलग भाग दोनों दाँतोंकी पंक्ति एवं ओष्ठोंसे साधारण हल्का दबाकर छिद्रोंसे वायुको शीत्कारपूर्वक अर्थात् शीत्कारकी आवाज उत्पन्न करते हुए पूरक करें, अन्य सब विधि शीतलीके समान।

(ख) काकी प्राणायाम—इसमें ओष्ठोंको सिकोड़कर काककी चोंचके समान बनाकर वायुको शनैः-शनैः पूरक किया जाता है, अन्य सब विधि शीतलीके समान।

(ग) कवि प्राणायाम—दोनों दाँतोंकी पंक्तियोंको दबाकर उनके छिद्रोंद्वारा वायुको शनैः-शनैः पूरक करे, अन्य सब विधि पूर्ववत्। वाणीका मीठा और कण्ठका सुरीला होना यह इसमें विशेषता है।

(घ) भुजङ्गी प्राणायाम—भुजङ्गके सदृश मुखको खोलकर वायुको पूरक करें। अन्य सब विधि पूर्ववत्। इन प्राणायामोंमें कहीं-कहीं पाँच बार केवल पूरक-रेचक करनेके पश्चात् छठी बार कुम्भक करना बतलाया है।

५ *भस्त्रिका-कुम्भक*—भस्त्रिका प्राणायाम कई प्रकारसे किया जाता है। इसके मुख्य चार भेद हैं—मध्यमभस्त्रिका, वामभस्त्रिका, दक्षिणभस्त्रिका और अनुलोम-विलोमभस्त्रिका।

(क) *मध्यम भस्त्रिका*—जैसे लुहारकी धौंकनीसे वायु भरी जाती है, इसी प्रकार दोनों नासिकापुटसे वायुको आवाजके साथ धीमे-धीमे लंबा, दीर्घ और वेगपूर्वक मूलाधारतक पूरक करे। बिना कुम्भक किये इसी प्रकार दोनों नासिकापुटसे रेचक करे। इस प्रकार बिना आभ्यन्तर और बाह्य कुम्भकके आठ बार पूरक-रेचक करके नवीं बार पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करके दसवीं बार उसी प्रकार धीमे-धीमे दोनों नासिकापुटसे रेचक करे। यह एक प्राणायाम हुआ। इस प्रकार तीन प्राणायाम करे।

(ख) *वामभस्त्रिका*—दक्षिण नासिकापुटको बंद करके उपर्युक्त रीतिसे वाम नासिकापुटसे मूलाधारतक आठ बार पूरक, रेचक करके नवीं बार पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करें। तत्पश्चात् उपर्युक्त विधि-अनुसार दक्षिण नासिकापुटसे धीमे-धीमे रेचक कर दे। यह एक प्राणायाम हुआ।

(ग) *दक्षिणभस्त्रिका*—वाम नासिकापुट बंद करके दक्षिण नासिकापुटसे आठ बार बिना आभ्यन्तर और बाह्य कुम्भकके उपर्युक्त विधि-अनुसार पूरक-रेचक करनेके पश्चात् नवीं बार पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करे। तत्पश्चात् वाम नासिकापुटसे रेचक करे। यह एक प्राणायाम हुआ।

वामभस्त्रिका और दक्षिणभस्त्रिकाको मिलाकर करनेकी विधि—पहिले वामभस्त्रिकाका एक प्राणायाम करे, फिर दक्षिणभस्त्रिकाका एक प्राणायाम, तत्पश्चात् वामभस्त्रिकाका एक प्राणायाम। इस प्रकार इन तीन प्राणायामोंमें दो बार वामभस्त्रिका और एक बार दक्षिणभस्त्रिका होगा।

(घ) *अनुलोम-विलोमभस्त्रिका*—जैसे लोहारकी धौंकनीसे वायु भरी जाती है इसी प्रकार बायें नासिकापुटसे वायुको आवाजके साथ धीमे-धीमे लम्बा, दीर्घ और वेगपूर्वक मूलाधारतक पूरक करें। बिना कुम्भक किये इसी प्रकार दक्षिण नासिकापुटसे रेचक करें। बिना बाह्य कुम्भकके उसी नासिकापुटसे पूरक करके फिर बायें नासिकापुटसे विधि-अनुसार रेचक करें। ये चार प्राणायाम हुए। इस प्रकार आठ बार बिना कुम्भक किये केवल पूरक, रेचक करते हुए नवीं बार वाम नासिकापुटसे पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करें। तत्पश्चात् दसवीं बार दक्षिण नासिकापुटसे रेचक करें। यह दस प्राणायामका पहला प्राणायाम हुआ। अब दक्षिण नासिकापुटसे आरम्भ करके नवीं बार कुम्भकके पश्चात् दसवीं

बार वाम नासिकापुटसे रेचक करें। यह दूसरा प्राणायाम हुआ। अब पहले प्राणायामकी भाँति तीसरा प्राणायाम करें।

इन विधियोंमें पूरककी समाप्तिपर मूलाधार चक्रपर एक सेकण्ड (कुछ देर) ध्यानके पश्चात् रेचक करें। इसी प्रकार रेचककी समाप्तिपर नासिकाके अग्रभागपर कुछ देर (एक सेकण्ड) ध्यानके पश्चात् पूरक करें। कुम्भकके समय नाभि-स्थान मणिपुर-चक्रपर ध्यान लगावें। यह प्राणायाम तीन बार ही करें। अर्थात् तीनसे अधिक बार कुम्भक बढ़ानेका यत्न न करें। किंतु तीनों प्राणायामोंकी संख्या दससे ऊपर शनैः-शनैः यथाशक्ति चार-चार बढ़ाते हुए १४, १८, २२ इत्यादि करते हुए चले जायँ। पूरक, रेचक और कुम्भकका समय भी यथाशक्ति बढ़ाते जायँ। अभ्यासीगण यदि चाहें और उनके पास समय अधिक हो तो तीन प्राणायामको बढ़ाकर सात, ग्यारह इत्यादि कर सकते हैं अर्थात् चार-चार बढ़ा सकते हैं।

इस प्राणायामसे त्रिधातु-विकृतिसे उत्पन्न हुए सब रोग नष्ट हो जाते हैं, आरोग्यता बढ़ती है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है। गर्मी, सर्दी सब ऋतुओंमें किया जा सकता है। कुम्भक बढ़ाने, मनके स्थिर करने और कुण्डलिनी जाग्रत् करनेमें अति उपयोगी है। अभ्यासीगण ध्यान करनेसे पूर्व इसे अवश्य करें।

भस्त्रिकामें रेचक, पूरक अधिक लाभदायक होते हैं, इसलिये इनकी संख्या अधिक और कुम्भककी कम बतलायी गयी है। अभ्यासीगण यदि चाहें तो आभ्यन्तर कुम्भकके पश्चात् रेचक करनेके बाद बाह्य कुम्भक भी कर सकते हैं। बाह्य कुम्भकका समय आभ्यन्तर कुम्भकके समयसे आधा अथवा बराबर रख सकते हैं।

(१) बलहीन अशक्त साधकोंको साधारण वेगपूर्वक, (२) स्वस्थ, शक्तिशाली साधकोंको लंबा, दीर्घ वेगपूर्वक और (३) अभ्यस्त साधकोंको अतिवेगपूर्वक पूरक-रेचक करना चाहिये।

रेचकमें पूरकसे अधिक समय देना चाहिये। इसलिये पूरक और कुम्भकमें उतना ही समय देना चाहिये जिससे रेचक करनेके लिये काफी दम बना रहे।

निम्नलिखित दो प्राणायामोंको भस्त्रिकाके अन्तर्गत समझना चाहिये—

(क) अन्तर्गमन प्राणायाम—सिद्धासनसे बैठकर वाम नासिकापुटसे रेचक करते हुए पूरे उड्डीयानके साथ वाम घुटनेपर सिरको टेक देना तत्पश्चात् पूरक करते हुए सीधा हो जाना। इस प्रकार रेचक, पूरक करते हुए दसवीं बार पूरक करके जालन्धरबन्धके साथ सिरको घुटनेपर रखकर यथाशक्ति कुम्भक करना, तत्पश्चात् जालन्धर-बन्ध खोलकर सीधे हो जाना। फिर रेचक करके तीनों बन्धोंके साथ सिरको घुटनेपर रखकर यथाशक्ति बाह्य कुम्भक करना। इसी प्रकार दक्षिणकी ओर करें।

(ख) सिद्ध अथवा पद्मासनसे बैठकर वाम नासिकापुटसे पूरक करें, फिर जालन्धर-बन्ध लगाकर दोनों हाथोंकी अङ्गुलियोंको आपसमें साँठकर उनको उल्टा करके सिरको दबाते हुए यथाशक्ति कुम्भक करें और ऐसी भावना करें कि प्राण ब्रह्मरन्ध्रमें चढ़ रहा है। तत्पश्चात् दोनों हाथोंको सिरपरसे हटाकर और जालन्धर-बन्ध खोलकर दक्षिण नासिकापुटसे रेचक करें। इसी प्रकार कई बार करें।

६ *भ्रामरी कुम्भक*—इस प्राणायाममें पूरक और रेचककी विशेषता है। पूरक वेगसे और भौंरेके शब्दके सदृश शब्दयुक्त होता है और रेचक भृङ्गी (भँवरी) के सदृश मंद-मंद शब्दसे युक्त होता है। रेचकका महत्त्व अधिक है, इसलिये इसका नाम भ्रमरी रखा गया है।

नेत्र बंद करके भ्रूमध्यमें ध्यान करते हुए दोनों नासिकापुटसे भृङ्ग अर्थात् भौंरेके सदृश ध्वनि करते हुए लंबे स्वरमें पूरक करें। यथाशक्ति कुम्भक करके भृङ्गी अर्थात् भौंरीके मन्द-मन्द शब्दके सदृश ध्वनि करते हुए कण्ठसे रेचक करें। आवाज मीठी, सुरीली और एक तानकी होनी चाहिये। इसके साथ-साथ मूल और उड्डीयान बंध लगाते जाना चाहिये। कहीं-कहीं साधारण रीतिसे वेगपूर्वक पूरक करके दृढ़तापूर्वक जालंधर-बंध लगाकर कण्ठसे उपर्युक्त रीतिसे शब्द करते हुए रेचक करना बतलाया है।

घेरण्डसंहितामें दोनों कानोंको अँगुलियोंसे बंद करके शब्द सुननेका अभ्यास करना बतलाया गया है। इस प्रकार पहिले झींगुर, भौंरे और पक्षियोंके चहचहाने-जैसे शब्द सुनायी देते हैं फिर क्रमशः घुँघरू, शङ्ख, घण्टा, ताल, भेरी, मृदङ्ग, नफीरी और नगाड़ेके सदृश शब्द सुनायी देते हैं। इस प्रकार उन शब्दोंको सुनते हुए 'ॐ' शब्दका श्रवण होने लगता है।

अनुलोम-विलोम भ्रामरी प्राणायाम—उपर्युक्त विधि-अनुसार वाम नासिकापुटसे पूरक करके कुछ देर कुम्भकके पश्चात् दक्षिण नासिकापुटसे उसी प्रकार रेचक, फिर दक्षिण नासिकापुटसे पूरक, वामसे रेचक, वामसे पूरक, दक्षिणसे रेचक। यह एक प्राणायाम हुआ।

फल—इस प्राणायामसे वीर्यका शुद्ध होकर ऊर्ध्वगामी होना, रक्त एवं मज्जातन्तुओंका शुद्ध होना और मनका एकाग्र होना है।

ध्वन्यात्मक प्राणायाम—इस प्राणायामको भी भ्रामरीके अन्तर्गत समझना चाहिये। विधि यह है कि दोनों नासिकापुटसे पूरक करके किंचित् मुँहको खोलकर जिह्वा और कण्ठके सहारे 'ओम्' का मीठी सुरीली लगातार एक ध्वनिके साथ उच्चारण करो। आवाजके साथ-साथ मूल और उड्डीयान बंध लगाते जाना चाहिये और रेचक करते जाना चाहिये। इसे प्रणवानुसंधान भी कहते हैं।

फल—भ्रामरी प्राणायामके सदृश।

७ *मूर्च्छा कुम्भक*—(*षण्मुखी सर्वद्वार बंद मुद्रा*)—इस प्राणायाममें पूरक, रेचक भ्रामरी प्राणायामके सदृश किया जाता है। उससे इसमें केवल इतनी विशेषता है कि यह दोनों कान, नेत्र, नासिका और मुँहपर क्रमशः दोनों हाथोंके अंगुष्ठ, तर्जनी, मध्यमा और अनामिका तथा कनिष्ठिकाको रखकर किया जाता है। पूरकके समय नासिकापुटपरसे मध्यमाको किंचित् ऊपर उठाकर पूरक किया जाता है। इसके पश्चात् नासिकापुटको मध्यमासे दबाकर कुम्भक किया जाता है। कुम्भककी समाप्तिपर फिर नासिकापुटसे मध्यमाको शिथिल करके रेचक किया जाता है। यह प्राणायाम अनुलोम-विलोम रीतिसे भी उपर्युक्त विधि-अनुसार किया जा सकता है।

फल—इससे मन मूर्छित और शान्त होता है, अतः इसका नाम मूर्छा है।

८ *प्लावनी कुम्भक*—यथाविधि आसनसे बैठकर दोनों नासिकापुटसे पूरक करे। नाभिपर मनको एकाग्र कर सब शरीर-मात्रकी वायुको उदरमें भरकर पेटको चारों ओरसे मशक या रबड़के गोले-सदृश फुलाकर ऐसी भावना करे कि सारे शरीरका वायु पेटमें एकत्र हो गया है; और शरीरके किसी अङ्ग-प्रत्यङ्गमें वायु नहीं रहा है। यथाशक्ति इस स्थितिमें कुम्भक करके दोनों नासिकासे शनैः-शनैः रेचक कर दें।

फल—प्राणवायुपर पूर्णतया अधिकार, पेटके सब प्रकारके रोग कोष्ठबद्धता आदिका नाश, अपान-वायुकी शुद्धि, जठराग्निकी शुद्धि, वीर्य तथा रक्तकी शुद्धि, जलमें सुखपूर्वक तैरना इत्यादि।

केवल कुम्भक—केवल कुम्भक बिना पूरक-रेचक किये हुए एकदम श्वास-प्रश्वासकी गतिको जहाँका तहाँ रोक देनेसे होता है।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥ (गीता ४। २९)

कोई अपानवायुमें प्राणको हवन करते हैं (पूरकसहित अथवा आभ्यन्तर कुम्भक करते हैं)। कोई प्राणमें अपानवायुको होमते हैं (रेचकसहित अथवा कुम्भक करते हैं)। कोई प्राण-अपान (दोनों) की गतिको रोककर (केवल कुम्भक) प्राणायाम करते हैं।

सहित कुम्भकके निरन्तर अभ्याससे केवल कुम्भक होने लगता है।

केवल कुम्भककी विधि हठयोगद्वारा—तीनों बन्धोंके साथ प्राणको हृदयसे नीचे ले जाकर और अपानको मूलाधारसे ऊपर उठाकर समान वायुके स्थान नाभिपर दोनोंको टक्कर देकर मिलानेसे हठयोग-विधिसे केवल कुम्भक किया जाता है। पर इसमें हानि पहुँचनेकी सम्भावना है और राजयोगियोंके लिये अधिक हितकर नहीं है, उनके लिये सबसे उत्तम प्रकार निम्नलिखित है—

साधारण स्वस्थ अवस्थामें मनुष्यके श्वासकी गति एक दिन-रातमें २१६०० बार बतलायी जाती है। इस स्वाभाविक श्वासकी गतिकी संख्या गायन, भोजन करने, चलने, निद्रा, मैथुन, व्यायाम आदिमें क्रमशः बढ़ जाती है। जिस प्रकार साधारण घटनाओंको छोड़कर एक घड़ी अथवा अन्य यन्त्रोंकी आयु उसके काम करनेकी शक्तिपर निश्चित की जाती है, इसी प्रकार मनुष्यकी आयु उनके श्वास-प्रश्वासकी गतिपर निर्भर बतलायी जाती है। श्वास-प्रश्वासकी गतिकी संख्या जिस परिमाणसे बढ़ती जायगी उसी परिमाणसे आयुका क्षय और जिस परिमाणसे घटती जायगी उसी परिमाणसे आयुकी वृद्धि होती जायगी। केवल कुम्भकमें श्वास-प्रश्वासकी गतिका निरोध होता है। प्राण और मनका घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिये प्राणके रुकनेसे मनका भी निरोध हो जाता है। जो योगका अन्तिम ध्येय है।

केवल कुम्भककी विधि राजयोगद्वारा—श्वास-प्रश्वासकी गतिमें प्रणव-उपासनाकी भावना करे, अर्थात् हर समय यह भावना रहे कि श्वासमें 'ओ' और प्रश्वासमें 'अम्' रूपसे प्रत्येक श्वास-प्रश्वासमें ओम्का जाप हो रहा है, इस ओम्के अजपाजापको केवल कुम्भकमें परिणत करनेकी विधि यह है कि 'ओ' से श्वास लेकर जितनी देरतक शान्तिपूर्वक रोक सकें रोकें, उसके पश्चात् 'अम्' से छोड़ दें। क्रमशः कुम्भकका अभ्यास बढ़ता रहे। इसका अभ्यास नासिका-अग्रभाग, भृकुटि, ब्रह्मरन्ध्र आदि स्थानोंपर गुरु-आज्ञानुसार करना चाहिये। 'ओ' और 'अम्' के उच्चारणकी आवश्यकता नहीं है। केवल अपने नियत स्थानपर श्वास-प्रश्वासकी गतिपर इस भावनासे ध्यान देना होता है। इसको ५१वें सूत्रमें बतलाये हुए चौथे प्राणायामके अन्तर्गत ही समझना चाहिये।

विशेष सूचना—॥ सूत्र ५० ॥ प्राणायामोंको किसी अनुभवीसे सीखकर उनका अभ्यास करना चाहिये, अन्यथा लाभके स्थानपर हानि पहुँचनेकी सम्भावना है। नियमित आहार आदि (१।३४) तथा (२।३२) में बतलाये हुए नियमोंका पालन करना भी अति आवश्यक है।

यद्यपि सभी प्राणायाम स्वास्थ्य, नीरोगता, जठराग्नि, दीर्घ आयु, नाड़ी तथा रक्तशोधन और मनकी स्थिरताके लिये अति उपयोगी हैं और सबकी जानकारी आवश्यक है, पर सबके अभ्यासके लिये पर्याप्त समय मिलना कठिन है, इसलिये राजयोगके साधकोंके लिये चतुर्थ प्राणायामका अभ्यास ही अधिक हितकर

हो सकता है । निम्न तीन प्राणायामोंको चौथे प्राणायाम और ध्यान तथा अन्य सब प्रकारके प्राणायामोंका पूर्व अङ्ग बनानेमें शीघ्र सफलता प्राप्त हो सकती है ।

नाड़ीशोधन-प्राणायाम—वाम नासिकापुटसे एकदम बाहर साँस फेंके, फिर उसी नासिकापुटसे बाहरसे वायुको खींचकर बिना रोके हुए एकदम दूसरे दाहिने नथुनेसे बाहर फेंक दे । पुनः दाहिनेसे वायुको खींचकर बायेंसे फेंके । इस प्रकार कई बार करें । रेचक-पूरकमें नासिकापुटको बतलाये हुए नियमानुसार निश्चित अँगुलियोंसे खोलते और बंद करते रहें ।

२ *कपालभाति*—जिसकी विधि (१ । ३४) के वि० व० में बतलायी है ।

३ *अनुलोम-विलोम भस्त्रिका प्राणायाम*—इसकी विधि आठ कुम्भकोंमें पाँचवें प्राणायाममें बतलायी है ।

संगति—चौथे प्राणायामका लक्षण बताते हैं—

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ—बाह्य-आभ्यन्तर-विषय-आक्षेपी = बाहर अंदरके विषयको फेंकनेवाला अर्थात् आलोचना करनेवाला; चतुर्थः = चौथा प्राणायाम है ।

अन्वयार्थ—बाहर-अंदरके विषयको फेंकनेवाला अर्थात् आलोचना करनेवाला चौथा प्राणायाम है ।

व्याख्या—व्यासभाष्य—

देशकालसंख्याभिर्बाह्यविषयपरिदृष्ट आक्षिप्तः । तथाऽऽभ्यन्तरविषयपरिदृष्ट आक्षिप्तः । उभयथा दीर्घसूक्ष्मः । तत्पूर्वको भूमिजयात्क्रमेणोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामः । तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः । चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणात्क्रमेण भूमिजयादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायाम इत्ययं विशेष इति ॥ ५१ ॥

देश-काल और संख्यासे परिदृष्ट जो बाह्य-विषय (नासा द्वादशान्तादि बाह्य-प्रदेश) है उसके आक्षेपपूर्वक (आलोचनपूर्वक=ज्ञानपूर्वक=विषयपूर्वक=विचारपूर्वक), ऐसे ही देश-काल और संख्यासे परिदृष्ट जो आभ्यन्तर विषय (हृदय, नाभि-चक्रादि आभ्यन्तर प्रदेश) है उसके आक्षेपपूर्वक दीर्घ और सूक्ष्म दोनों प्रकारसे उत्तरोत्तर क्रमसे भूमियोंके जयके पश्चात् जो श्वास और प्रश्वास इन दोनोंकी गतिका अभाव है, वह चौथा प्राणायाम है । तीसरा प्राणायाम तो (बाह्य और आभ्यन्तर) विषयके आलोचन बिना ही (श्वास-प्रश्वासकी) गतिके अभावसे होता है । वह एकदम ही आरम्भ होकर देश-काल और संख्यासे परिदृष्ट दीर्घ और सूक्ष्म हो जाता है । चौथे प्राणायाममें यह विशेषता है कि यह श्वास-प्रश्वासके (आभ्यन्तर और बाह्य) विषयको अवधारण करके उन दोनों (विषयों) के आक्षेपपूर्वक क्रमानुसार भूमियोंके जयसे (श्वास-प्रश्वासकी) गतिके अभावसे होता है ।

व्यास-भाष्यका भावार्थ—पिछले सूत्रमें प्राणायामके तीन भेद रेचक, पूरक और कुम्भक बतलाते हैं ।

१ रेचक प्राणायामसे जब श्वासको बाहर निकालकर उसकी गतिका अभाव किया जाय अर्थात् उसको बाहर ही रोक दिया जाय, तब वह रेचकसहित कुम्भक अथवा बाह्य कुम्भक कहलाता है ।

२ पूरक प्राणायामसे जब श्वासको अंदर खींचकर उसकी गतिका अभाव किया जाय अर्थात् उसको अंदर ही रोक दिया जाय, तब वह पूरकसहित कुम्भक अथवा आभ्यन्तर कुम्भक कहलाता है ।

३ जब प्राणवायुको जहाँ-का-तहाँ एकदम बिना रेचक-पूरकके केवल विधारण प्रयत्नसे रोककर श्वास-प्रश्वासकी गतिका अभाव किया जाय, तब वह केवल कुम्भक कहलाता है।

४ चौथा प्राणायाम बाह्य तथा आभ्यन्तर कुम्भकके बिना केवल रेचक, पूरकद्वारा बाह्य तथा आभ्यन्तर विषय (प्रदेश) के केवल आलोचनपूर्वक स्वयं ही श्वास-प्रश्वासकी गतिके निरोधसे होता है। इसमें तीसरे प्राणायामसे यह विशेषता है कि जहाँ तीसरा प्राणायाम रेचक, पूरकके बिना एकदम दोनों श्वास-प्रश्वासकी गतिके विषय अभावसे होता है, वहाँ चौथा प्राणायाम रेचक, पूरकद्वारा बाह्य तथा आभ्यन्तर (प्रदेश) के आलोचनपूर्वक उत्तरोत्तर भूमियोंके जयके क्रमसे स्वयं ही श्वास-प्रश्वासको गतिके अभावसे होता है। उदाहरणार्थ उसकी चार विधियाँ बतलाये देते हैं—

पहली विधि—केवल रेचकद्वारा जहाँतक जा सके श्वासको बाहर ले जायँ। बिना रोके हुए वहाँसे पूरकद्वारा जहाँतक जा सके अंदर ले जायँ। यह एक प्राणायाम हुआ। इस प्रकार ११, १५, २० इत्यादिकी संख्यामें बिना कुम्भक किये हुए केवल रेचक, पूरक देरतक करते रहनेसे स्वयं दीर्घ और सूक्ष्म होकर दोनों श्वास-प्रश्वासकी गतियोंका स्वयं ही अभाव हो जाता है।

दूसरी विधि—ओ३म्‌के मानसिक जापके साथ यह भावना करें कि 'ओ' से श्वास अंदर आ रहा है और 'अम्' से बाहर निकल रहा है। इस क्रमसे श्वास-प्रश्वासद्वारा ओम्‌का मानसिक जाप करते रहें अर्थात् बाह्यप्रदेश तथा आभ्यन्तरप्रदेश हृदय, नाभि आदितक जहाँतक श्वास जाय वहाँतक उसकी गतिको आलोचनपूर्वक दीर्घकालतक ओम्‌का इस विधिसे जाप करें तो स्वयं श्वास-प्रश्वास दीर्घ और सूक्ष्म होते-होते निरुद्ध हो जायगा।

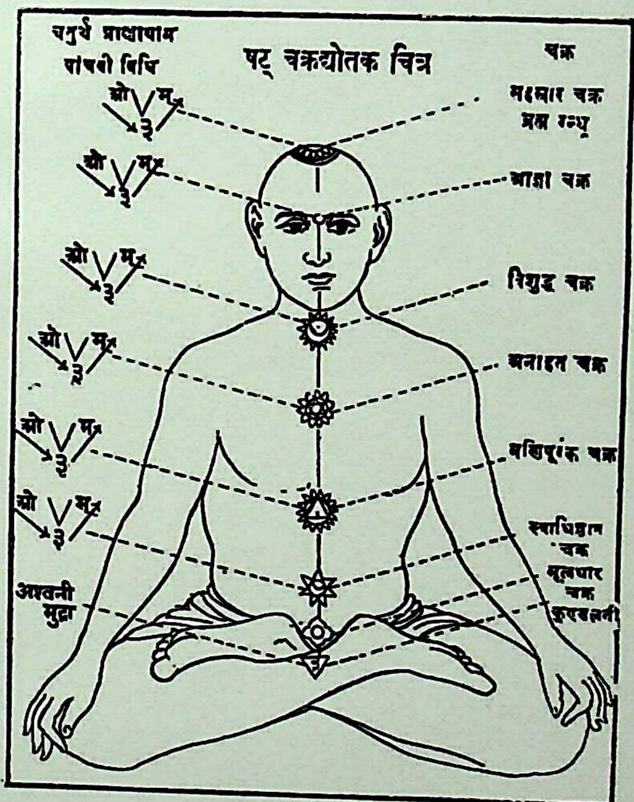
तीसरी विधि—नासिका-अग्रभाग, भृकुटी, ब्रह्मरन्ध्र अथवा अन्य किसी चक्रपर इस भावनासे ओ३म्‌का मानसिक जाप करें कि 'ओ' से उसी प्रदेशमें श्वास अंदर आ रहा है और 'अम्' से बाहर निकल रहा है। इस प्रकार उस विशेष स्थानको श्वास-प्रश्वासका केन्द्र बनाये हुए जापके निरन्तर अभ्याससे श्वास-प्रश्वासकी गति दीर्घ और सूक्ष्म होते हुए स्वयं निरुद्ध हो जाती है।

चौथी विधि—ब्रह्मरन्ध्रमें ध्यान करते हुए श्वास-प्रश्वासकी गतिमें ऐसी भावना करना कि 'ओ' से श्वास मेरुदण्डके भीतर सुषुम्णा नाड़ीमें होता हुआ मूलाधारतक जा रहा है और 'अम्' के साथ वहाँसे ब्रह्मरन्ध्रतक लौट रहा है।

चक्रभेदनमें इस प्राणायामका अभ्यास—इसी प्रकार निचले चक्रों—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक इत्यादिमें ध्यान करते हुए 'ओ' से श्वास और 'अम्' से प्रश्वासकी गतिकी भावना करते हुए उसको ऊपरके चक्रोंमें आलोचन करनेसे किया जाता है।

विशेष वक्तव्य—॥ सूत्र ५१ ॥—इस सूत्रके अर्थ भिन्न-भिन्न टीकाकारोंने भिन्न-भिन्न किये हैं। 'आक्षेप' के अर्थ फेंकनेके हैं। इससे किसीने उलाँघने=त्यागने=हटानेसे अभिप्राय लिया है और किसीने विषय करने=जानने=आलोचनसे अभिप्राय लिया है। यहाँ सूत्रके दूसरे 'आलोचन' अर्थ किये गये हैं। सूत्रके आशयको अधिक स्पष्ट करनेके उद्देश्यसे मूल व्यासभाष्य, उसके शब्दार्थ, भावार्थ तथा चतुर्थ प्राणायामके चार उदाहरण भी दे दिये हैं। चौथे प्राणायामकी विधियाँ राजयोगके उत्तम अधिकारीके लिये हैं तथा गोपनीय और गुरु-गम्य हैं।

आक्षेपीके अर्थ उलाँघने अर्थात् त्यागने करनेसे सूत्रका अर्थ इस प्रकार होगा—


चतुर्थ प्राणायाम
पांचवी विधि
षट् चक्रद्योतक चित्र
चक्र
सहस्रार चक्र
ब्रह्म रन्ध्र
आज्ञा चक्र
विशुद्ध चक्र
अनाहत चक्र
मणिपूरक चक्र
स्वाधिष्ठान चक्र
मूलाधार चक्र
कुण्डलिनी
अश्विनी मुद्रा

[पृष्ठ ४४८

बाहर और अंदरके विषयके अर्थात् रेचक और पूरकको त्यागनेवाला चौथा प्राणायाम है। उसकी विधि निम्न प्रकार होगी—

पाँचवीं विधि— मूलाधार, आज्ञा, ब्रह्मरन्ध्र आदि किसी चक्र अथवा नासिका-अग्रभाग आदि किसी स्थानको बिना रेचक-पूरकके श्वास-प्रश्वासकी गति बनाते हुए अर्थात् ऐसी भावना करते हुए कि 'ओ' से उसी विशेष स्थानपर श्वास आ रहा है और 'अम्' से छूट रहा है, ओम्‌का मानसिक जाप करें। उसके निरन्तर अभ्याससे श्वास-प्रश्वासकी गतिका निरोध हो जाता है। इस विधिको सबसे प्रथम स्थान देना चाहिये। चक्रभेदनमें इस विधिसे शीघ्र सफलता प्राप्त हो सकती है (समाधिपाद वि० व० सूत्र ३४)।

यदि उपर्युक्त रीतिसे जाप करनेमें कठिनाई प्रतीत हो तो उस विशेष स्थानपर केवल मानसिक ओम्‌का जाप करें, अथवा ऐसी भावना करें कि वहाँ ओम्‌का जाप हो रहा है या ओम् शब्दको सुन रहे हैं। मुख्य बात यह है कि उस विशेष ध्येय स्थानपर मन ठहरा रहे।

सङ्गति—प्राणायामका फल बताते हैं—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ—ततः = उस प्राणायामके अभ्याससे; क्षीयते = नाश हो जाता है; प्रकाशावरणम् = प्रकाशका आवरण (विवेक-ज्ञानका पर्दा)।

अन्वयार्थ—उससे प्रकाशका आवरण (विवेक-ज्ञानका पर्दा) क्षीण हो जाता है।

व्याख्या— विवेक ज्ञानरूपी प्रकाश तम तथा रजोगुणके कारण अविद्यादि क्लेशोंके मलोंसे ढका हुआ है। प्राणायामके अभ्याससे जब यह आवरण क्षीण हो जाता है, तब वह प्रकाश प्रकट होने लगता है। जैसे पञ्चशिखाचार्यने कहा है—

तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य ॥

'प्राणायामसे बढ़कर कोई तप नहीं है, उससे मल धुल जाते हैं और ज्ञानका प्रकाश होता है।'

इसी प्रकार मनु भगवान्‌का श्लोक है—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥

'जैसे अग्निसे धौंके हुए स्वर्ण आदि धातुओंके मल नष्ट हो जाते हैं, इसी प्रकार प्राणायामके करनेसे इन्द्रियोंके मल नष्ट हो जाते हैं।'

सङ्गति—प्राणायामका दूसरा फल बतलाते हैं—

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ—धारणासु = धारणाओंमें; च = और; योग्यता-मनसः = मनकी योग्यता होती है।

अन्वयार्थ—और धारणाओंमें मनकी योग्यता होती है।

व्याख्या—प्राणायामसे मन स्थिर होता है। जैसे कि 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य' पाद १ सूत्र ३४ में बतलाया है और उसमें धारणाकी (जिसका वर्णन अगले पादमें किया जायगा) योग्यता प्राप्त हो जाती है।

सङ्गति—प्रत्याहारका लक्षण बताते हैं—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥५४॥

शब्दार्थ—स्वविषय = अपने विषयोंके साथ; असम्प्रयोगे = सम्बन्ध न होनेपर; चित्तस्य-स्वरूप-

अनुकारः इव = चित्तके स्वरूपका अनुकरण अर्थात् नकल-जैसा करना; इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियोंका; प्रत्याहारः = प्रत्याहार कहलाता है।

अन्वयार्थ—इन्द्रियोंका अपने विषयोंके साथ सम्बन्ध न होनेपर चित्तके स्वरूपका अनुकरण (नकल) जैसा करना प्रत्याहार है।

व्याख्या—प्रत्याहारका अर्थ है पीछे हटना, उल्टा होना, विषयोंसे विमुख होना। इसमें इन्द्रियाँ अपने बहिर्मुख विषयसे पीछे हटकर अन्तर्मुख होती हैं। इस कारण इसको प्रत्याहार कहा गया है। जिस प्रकार मधु बनानेवाली मक्खियाँ रानी मक्खीके उड़नेपर उड़ने लगती हैं और बैठनेपर बैठ जाती हैं, इसी प्रकार इन्द्रियाँ चित्तके अधीन होकर काम करती हैं। जब चित्तका बाहरके विषयोंसे उपराग होता है, तभी उनको ग्रहण करती हैं। यम, नियम, प्राणायामादिके प्रभावसे चित्त जब बाहरके विषयोंसे विरक्त होकर समाहित होने लगता है, तब इन्द्रियाँ भी अन्तर्मुख होकर उस-जैसा अनुकरण करने लगती हैं और चित्तके निरुद्ध होनेपर स्वयं भी निरुद्ध हो जाती हैं। यही उनका प्रत्याहार है। इस अवस्थामें चित्त तो बाह्य विषयोंसे विमुख होकर आत्मतत्त्वके अभिमुख होता है, पर इन्द्रियाँ केवल बाह्य-विषयोंसे विमुख होती हैं। चित्तके सदृश आत्मतत्त्वके अभिमुख नहीं होतीं। इसलिये 'अनुकार इव' अर्थात् नकल-जैसा कहा गया है। इस प्रकार चित्तके निरुद्ध होनेपर इन्द्रियोंके जीतनेके लिये अन्य किसी उपायकी अपेक्षा नहीं रहती।

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

(कठोपनिषद् २।४।१)

'स्वयम्भूने (इन्द्रियोंके) छेदोंको बाहरकी ओर छेदा है अर्थात् इन्द्रियोंको बहिर्मुख बनाया है। इस कारण मनुष्य बाहर देखता है। अपने अंदर नहीं देखता। कोई विरला धीर पुरुष अमृतको चाहता हुआ आँखों अर्थात् इन्द्रियोंको बंद करके (अन्तर्मुख होकर प्रत्याहारद्वारा) अन्तर आत्माको देखता है।'

सङ्गति—प्रत्याहारका फल बतलाते हैं—

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्॥ ५५॥

शब्दार्थ— ततः = उससे (प्रत्याहारसे); परमा = सबसे उत्तम—उत्कृष्ट; वश्यता = वशीकरण होता है; इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियोंका।

अन्वयार्थ—उस प्रत्याहारसे इन्द्रियोंका उत्कृष्ट वशीकार होता है।

व्याख्या— सूत्रमें प्रत्याहारसे इन्द्रियोंकी परमवश्यता बतलायी है। यह परमवश्यता किस अपरम-वश्यताकी अपेक्षासे है, इसको व्यासभाष्यमें इस प्रकार बतलाया है—

१ कोई कहते हैं कि शब्द आदि विषयोंमें आसक्त न होना अर्थात् विषयोंके अधीन न होकर उनको अपने अधीन रखना इन्द्रियवश्यता अर्थात् इन्द्रियजय है।

२ दूसरे कहते हैं कि वेद-शास्त्रसे अविरुद्ध विषयोंका सेवन और उनसे विरुद्ध विषयोंका परित्याग इन्द्रियजय है।

३ तीसरे कहते हैं कि विषयोंमें न फँसकर अपनी इच्छासे विषयोंके साथ इन्द्रियोंका सम्प्रयोग होना इन्द्रियजय है।

४ चौथे कहते हैं कि राग-द्वेषके अभावपूर्वक सुख-दुःखसे शून्य शब्दादि विषयका ज्ञान होना इन्द्रियजय है।

इन सब उपर्युक्त इन्द्रियजयके लक्षणोंमें विषयोंका सम्बन्ध बना ही रहता है। जिससे गिरनेकी आशङ्का दूर नहीं हो सकती। इसलिये यह इन्द्रियोंकी परमवश्यता नहीं वरं अपरमवश्यता है।

भगवान् जैगीषव्यका मत है कि चित्तकी एकाग्रताके कारण इन्द्रियोंकी विषयोंमें प्रवृत्ति न होना इन्द्रियजय है। उस एकाग्रतासे चित्तके निरुद्ध होनेपर इन्द्रियोंका सर्वथा निरोध हो जाता है और अन्य किसी इन्द्रिय-जयके उपायमें प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। इसलिये यही इन्द्रियोंकी परमवश्यता है, जो सूत्रकारको अभिमत है।

साधनपादका उपसंहार

पूर्वोक्त प्रकारसे पूर्वपादमें कहे हुए योगके अङ्गभूत क्लेशोंको सूक्ष्म बनानेवाले क्रियायोगको कहकर और क्लेशोंके नाम, स्वरूप, कारण, फलोंको कहकर कर्मोंके भी भेद, कारण, स्वरूप और फलको कहकर विपाकके कारण और स्वरूपको कहा। फिर क्लेशोंके त्याज्य होनेसे, क्लेशोंको बिना जाने त्याग न कर सकनेसे, क्लेश-ज्ञानको शास्त्राधीन होनेसे, शास्त्रको हेय, हेय-हेतु, हान, हान-उपायके बोधनद्वारा चतुर्व्यूहको अपने-अपने कारणसहित कहकर मुक्तिके साधन विवेकज्ञानके कारण जो अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग भावसे स्थित यम-नियमादि हैं उनके फलसहित स्वरूपको कहकर आसनसे लेकर प्रत्याहारतक जो परस्पर उपकार्योपकारक-भावसे स्थित हैं, उनका नाम लेकर प्रत्येकका लक्षण और कारणपूर्वक फल कहा है।

इस उपसंहारमें व्याख्याताके अपने विशेषवक्तव्य, विशेष-विचार, टिप्पणी इत्यादि अर्थात् (प्रथम सूत्रमें) तपका वास्तविक स्वरूप, युक्ताहार, युक्त-विहार, युक्त-स्वप्न, युक्त-बोध, उपवास आदिके नियम गायत्री-मन्त्रकी विशेष व्याख्या, (सूत्र ४ में) 'विदेह' तथा 'प्रकृतिलयों'के सम्बन्धमें संकीर्ण और अयुक्त विचारोंका युक्तियों, व्यासभाष्य और भोजवृत्तिद्वारा निराकरण, (सूत्र ५ में) अविद्याके उत्पत्तिस्थानका निर्देश सत्त्वचित्तोंमें लेशमात्रतम, (सूत्र १२ में) प्रधान कर्माशय, नियत विपाक, अनियत विपाक, अनियत विपाककी तीन गतियाँ, आवागमनके सम्बन्धमें विकासवादियोंकी शङ्काओंका समाधान, आवागमनद्वारा ईश्वरकी दया तथा न्याय, सर्वशक्तिमत्ता, कल्याणकारिता और आवागमनका मनुष्यके विकासके लिये अनिवार्य होना, (सूत्र १७ में) व्यासभाष्यका तथा योगवार्त्तिकका भावार्थ, (सूत्र २०, २१, २२, २३, २४, २५ में) व्यासभाष्य योगवार्त्तिक तथा भोजवृत्तिका भावार्थ, (सूत्र ३० में) यमोंका योगियोंके अभिमत-स्वरूप, (सूत्र ३१ में) यमोंका सार्वभौम-स्वरूप तथा संसारमें फैली हुई अशान्तिको मिटानेका एकमात्र उपाय, केवल उनका यथार्थरूपसे पालन, महाभारत कर्णपर्व अध्याय ६९ के श्लोक जिनमें श्रीकृष्णजी महाराजने राष्ट्रकी सारी परिस्थितियोंको दृष्टिकोणमें रखते हुए सत्यका स्वरूप बताया है, (सूत्र ३२ में) नियमोंका विस्तारपूर्वक वर्णन, हठयोगकी छहों क्रियाओंद्वारा शरीर-शोधन, ओषधियों, प्राकृतिक नियमों, सम्मोहन-शक्ति, संकल्प-शक्तिद्वारा नीरोगता, पाश्चात्त्य देशकी आधुनिक विद्याएँ हिपनोटिज्म, मैस्मेरिज्म, क्लेयरवायन्स, टेलीपैथी, स्प्रीच्युलिज्मका विधिपूर्वक वर्णन, (सूत्र ४६ में) ध्यानपर बैठनेके सब प्रकारके आसन, योगसाधनके नियम, सब प्रकारकी मुख्य-मुख्य मुद्राएँ, बन्ध और आसन, उनके फलसहित; (सूत्र ५० में) आठ प्रकारके प्राणायाम, उनके अवान्तरभेदसहित, (सूत्र ५१ में) चौथे प्राणायामकी पाँच विधियाँ इत्यादि भी उपसंहृत कर लेना चाहिये। इस प्रकार यह योग यम-नियमोंके बीजभावको प्राप्त हुआ, आसन, प्राणायाम आदिसे अङ्कुरित हुआ और प्रत्याहारसे पुष्पवाला होकर धारणा, ध्यान और समाधिसे फलित होगा। इस प्रकार पातञ्जलयोगप्रदीपमें साधनपादवाले दूसरे पादकी व्याख्या समाप्त हुई।

इति पातञ्जलयोगप्रदीपे साधनपादो द्वितीयः।

परिशिष्ट

साधनपाद सूत्र ३२ के विशेष वक्तव्यमें बतलाये हुए शरीरशोधनके चार साधनोंमेंसे चौथा साधन ओषधि यहाँ परिशिष्टरूपसे दिया जाता है।

ओषधिद्वारा शरीर-शोधन (आरोग्यता)

शरीरका शोधन ओषधिद्वारा भी होता है। आजकल लगभग निन्यानवे प्रतिशत मनुष्योंको कोष्ठबद्ध अर्थात् पूर्णतया मलत्याग न होनेका विकार रहता है। जिससे भजन अर्थात् मनकी एकाग्रतामें नाना प्रकारके विघ्न उपस्थित होते हैं, उनके निवारणार्थ चिकित्सकके अभावमें कब्ज तथा अन्य साधारण रोगोंके शान्त करनेके लिये अभ्यासियोंके उपयोगी कुछ अनुभूत तथा अनुभवी संन्यासियों, वैद्यों, डाक्टरों और हकीमोंसे प्राप्त की हुई ओषधियाँ लिख देते हैं।

कोष्ठबद्ध दूर करनेकी कुछ रेचक ओषधियाँ—

(१) त्रिफला (हड़, बहेड़ा, आँवला सम-भाग) दो माशेसे छः माशेतक अथवा केवल बड़ी हड़का चूर्ण दो माशेसे छः माशेतक अथवा इतरी फल ज़मानी एक तोलेसे दो तोलेतक रातको सोते समय दूध अथवा पानीके साथ।

बड़ी हड़का प्रयोग पूरे वर्षके लिये—

चैत और वैशाख	हड़का चूर्ण तीन माशे	शहद एक तोलासे दो तोलाके साथ
ज्येष्ठ और आषाढ़	,, ,,	गुड़ ,, ,,
श्रावण और भादों	,, ,,	सेंधा नमक एक माशेसे तीन माशेके साथ
आश्विन और कार्तिक	,, ,,	मिश्री एक तोलासे दो तोलाके साथ
मार्गशीर्ष और पौष	,, ,,	पीपल एक माशेसे तीन माशेके साथ
माघ और फाल्गुन	,, ,,	सोंठ ,, ,,

(२) गुलाबके फूल एक तोला, सेंधा नमक एक तोला, बड़ी हड़का बक्कल एक तोला, सौंफ एक तोला, सोंठ एक तोला, सनायकी पत्ती चार तोला, इनका चूर्ण दो माशेसे छः माशेतक रातको सोते समय पानीके साथ अथवा दिनमें आवश्यकतानुसार। (अनुभूत)

(३) सनायकी फली छः चार घंटेतक थोड़ेसे (आधी छटाक) पानीमें भिगोकर फली निकालकर पानीको पीना। (अनुभूत)

(४) रब्बूस्सूस एक तोला, बंसलोचन एक तोला, एलुआ दो तोला, रेवनचीनी दो तोला, रूमी मस्तगी एक तोला, सबका चूर्ण खरल करके थोड़ा-सा पानी डालकर चनेके बराबर गोली बनावें। एक गोली सोते समय दूध या पानीके साथ लें। (अनुभूत)

(५) रूमी मस्तगी, असार रेवेन्द, एलुआ, सुरञ्जान शीरीं बराबर-बराबर लेकर चूर्ण करके चनेके बराबर गोलियाँ बनावें। एक गोली सोते समय पानी या दूधके साथ लें। (अनुभूत)

(६) खील सुहागा छः माशे, एलुआ छः माशे, निसौत तीन माशे, बड़ी हड़का बक्कल दो तोला, सनायकी पत्ती दो तोला, सकमोनिया विलायती एक माशा, सबको घीकुमारके रसमें खरल करके चनेके बराबर गोलियाँ बनावें। सोते समय एक गोली दूध या पानीके साथ लें। (अनुभूत)

(७) सकमोनिया विलायती एक तोला, जुलाफा हड़ एक तोला, एलुआ एक तोला, रेवेन्द असार

एक तोला, रूमी मस्तगी एक तोला, सोंठ छः माशे, भरमुक्की छः माशे, सबको पानीमें खरल करके चनेके बराबर गोली बनावें, सोते समय एक गोली दूध या पानीके साथ। (अनुभूत)

वातविकारनाशक तथा रेचक—

(१) रेवन्दचीनी (रेवनचीनी), सोडा खानेका, सोंठ बराबर-बराबर लेकर चूर्ण कर लें, सोते समय एक माशेसे चार माशेतक दूध या पानीके साथ लें।

(२) त्रिकुटा अर्थात् पीपल, काली मिर्च, सोंठ बराबर-बराबर लेकर चूर्ण कर लें, सोते समय तीन माशेसे छः माशेतक दूधके साथ लें। कफ तथा वातनाशक।

(३) एलुआ, तिर्वी सफेद (निसौत), सुरञ्जान मीठा, सब सम भाग—उनके चूर्णको घीकुमारके गूदेमें खरल करके चने-बराबर गोली बनावे, एक या दो गोली रातको सोते समय दूध या ताजे पानीके साथ खाय। रेचक, पाचक, वातविकार (दर्द आदि), कब्ज और आमको दूर करता है। (अनुभूत)

कफनाशक पाचक एवं रेचक—

बड़ी हरड़की बकुली तीन तोला, काली मिर्च चार तोला, पीपल छोटी दो तोला, चव्वह एक तोला, तालीसपत्र एक तोला, नागकेशर छः माशे, पीपलामूल दो तोला, पत्रज डेढ़ माशे, छोटी इलायची तीन माशे, दारचीनी तीन माशे, नीलोफरके फूल तीन माशे, इन सबका चूर्ण बनावें। इन सबकी चारगुणी मिश्रीकी चासनी बनाकर उसमें उस चूर्णको मिलावें, तीन मासेसे एक तोलातक सोते समय दूधके साथ या दोपहरको खानेके बाद लें। (अनुभूत)

(१) बिगड़े हुए जुकाम, खाँसी, सिरका भारी रहना, सिर तथा आधे सिरका दर्द या हर प्रकारके मस्तिष्क तथा पेटके विकारोंके लिये अत्युत्तम रेचक अनुभूत ओषधि—

अयारुज़ फ़िकरा (यूनानी दवा, कई ओषधियोंका चूर्ण) एक माशेसे तीन माशेतक इतरीफल कशनीज़ी एक तोलेसे दो तोलेतकमें मिलाकर प्रातः-सायं दूधके साथ खा सकते हैं।

अयारुज़ फ़िकराका नुसखा—बालछड़, सलीफा, दारचीनी, असार्वन, जाफरान, ऊदबलसान, हुब-बलसान, रूमी मस्तगी एक-एक तोला, एलुआ एक पाव—इन सबका चूर्ण।

अयारुज़ फ़िकराका दूसरा नुसखा—जो स्वयं बनवाना होगा अत्तारोंके पास न मिल सकेगा।

पोस्त इन्द्रायन (हिंजल) पाँच तोला, गाज़ोकोन पाँच तोला, सकमोनिया विलायती पाँच तोला, अफ़तीमून तीन तोला, गूगल शुद्ध तीन तोला, अनीसून तीन तोला, तज तीन तोला, काली मिर्च तीन तोला, सोंठ तीन तोला, उग्तख़द्दूस तीन तोला, गुलाबके फूल तीन तोला, बादरंजबोया तीन तोला, पोदीना दो तोला, पोस्त तुरंज दो तोला, बर्ग गावज़बाँ दो तोला—इन सबके चूर्णसे दुगुना शहद मिलाकर चालीस दिनके पश्चात् तीन माशेसे एक तोलेतक खुराक।

(२) हर प्रकारके बिगड़े हुए जुकाम, दिमाग़ी ख़राबी या हाज़मेके लिये निहायत अनुभूत (मुजर्रब) नुसख़ा—

लौंग एक तोला, पत्रज दो तोला, बड़ी इलायचीका दाना तीन तोला, अकरकरा चार तोला, दारचीनी पाँच तोला, पीपलामूल छः तोला, पीपल छोटी सात तोला, काली मिर्च आठ तोला, सोंठ नौ तोला, लाल चन्दनका चूर्ण दस तोला, इस मात्रामें इनका चूर्ण होना चाहिये। इसलिये इन सबके चूर्णका अलग-अलग नाप लें। सबको एक करके सुबह और शाम चार रत्तीसे एक माशातक शहदके साथ खायँ।

(३) जुकामका बंद होना, सरका दर्द तथा खाँसी एवं दमामें बहुत लाभदायक (अनुभूत)।

नौसादर उड़ाया हुआ अथवा शुद्ध किया हुआ दो रत्ती, भस्म फटकरी एक रत्ती, खील सुहागा एक रत्ती।

साधारण जुकामके लिये—

(४) गुलबनफ़शा छः माशे, तुख्म ख़तमी (ख़तमीके बीज) अथवा ख़तमीका गूदा चार माशे, उस्तख़ुद्दूस चार माशे, मुलहठी चार माशे, गावज़बाँ चार माशे, बड़ी हड़ छः माशे, उन्नाव विलायती सात दाने, ल्हसौड़ा ग्यारह दाने, इनका जोशांदा मिश्री या चीनी डालकर सुबह या सोते समय पीये। इन चीजोंको आवश्यकतानुसार न्यून-अधिक कर सकते हैं। (अनुभूत)

भजन (प्राणायाम, ध्यानादि क्रिया) से उत्पन्न होनेवाली खुश्कीके लिये—

(१) मीठे बादामकी गिरी ग्यारहसे पंद्रहतक, काली मिर्च ग्यारह दाने, सौंफ चार माशे, गुलाबके फूल चार माशे, कासनी चार माशे, गुलबनफ़शा (फूल) चार माशे, बड़ी इलायचीके दाने दो माशे, इन सबको पीस-छानकर मिश्री या बूरा एक छटाँक डालकर पियें। सर्द मौसममें इनको घीमें छौंककर पियें। इन चीजोंको आवश्यकतानुसार न्यून-अधिक कर सकते हैं। (अनुभूत)

(२) इलायचीके दाने, ज़ीरा, बादामकी गिरी, मुनक्का, गुलबनफ़शा, मिश्रीको आवश्यकतानुसार मात्रामें पीसकर चाटें। (अनुभूत)

(३) रूमी मस्तगी, इलायचीके दाने, वंशलोचन सम-मात्रा, इससे दुगुनी मिश्री, सबका चूर्ण एक माशे घी या मक्खनमें खूब खरल करके सोते समय दूध या बिना दूधके खायँ। (अनुभूत)

आँवका रोग मरोड़ एवं पेचिशके लिये—

(१) सौंफ़ आधी भुनी हुई और आधी कच्ची पीसकर उसमें मिश्री या चीनी मिलाकर दिनमें कई बार दो-तीन चुटकी लें। (अनुभूत)

(२) सौंफ़, सोंठ, बड़ी हड़के बक्कल, सब बराबर-बराबर लेकर सोंठ एवं हड़को किसी कदर घीमें भूनकर सबको कूटकर चीनी मिलाकर सोते समय चार माशेसे छः माशे तक पानी या दूधके साथ खायँ। यह रेचक भी है। (अनुभूत)

(३) ईसबगोलका सत अर्थात् उसकी भूसी छः माशे दूधमें घोलकर पीना। (अनुभूत)

(४) गर्मीसे आँव, पेचिश एवं दस्तके लिये गोंद कतीरा एक तोला, बिलगिरी दो तोला, ईसबगोल चार माशे, बिहीदाना तीन माशे, अर्क बेदमुश्क छः छटाँकमें सबका चूर्ण मिलाकर खिलावें। (अनुभूत)

(५) बालंगूके बीज तीन माशे, गुलाबका अर्क एक पाव, रोग़न बादाम एक माशा, शर्बत शहतूत दो तोला सबको पकाकर रातको खिलावें और उस रात खानेको कुछ न दें। (अनुभूत)

साधारण ज्वरके पश्चात् निर्बलता दूर करनेके लिये—

दारचीनी तीन माशे, छोटी इलायचीके दाने छः माशे, पीपल छोटी एक तोला, वंशलोचन दो तोला, गिलोयका सत दो तोला, मिश्री आठ तोला, इनका चूर्ण एक माशा कुछ घीमें चिकना करके शहद मिलाकर खाना। (अनुभूत)

खाँसी खुश्क या तर—

(१) गोंद बबूल छः माशे, कतीरा छः माशे, बहेड़ा छः माशे, मुलहठी एक तोला, काकरासिंगी तीन माशे, रब्बुस्सूस (मुलहठीका सत) छः माशे, नमक काला एक तोला, भुने हुए लाल इलायचीके दाने एक तोला, कूट-छानकर चनेके बराबर गोलियाँ बनावें, एक गोली मुँहमें डालकर रस चूसें। (अनुभूत)

(२) रब्बुस्सूस एक तोला, मुलहठी चार तोला, काकरासिंगी दो तोला, सोंठ एक तोला, काली मिर्च एक तोला, पीपल एक तोला, बिहीदाना एक तोला, मग़ज़ बादाम (बादामकी गिरी) एक तोला पीसकर शहदमें चनेके बराबर गोलियाँ बनावें, एक या दो गोली सोते समय मुँहमें डाले रहें। खाँसीके वक्त भी मुँहमें रखकर चूसते रहें। (अनुभूत)

(३) अनारका छिक्कल जला हुआ चार रत्ती पानके साथ।

साँस, दमा, खाँसी आदिके लिये—

पारा शुद्ध, गन्धक शुद्ध, मीठा तेलिया शुद्ध, त्रिकुटा (सोंठ, पीपल, काली मिर्च), सुहागाकी खील, काली मिर्च सम-भाग लेकर सबका चूर्ण बनाकर अदरकके रसमें खरल करें, एक रत्ती अदरकके रसके साथ लें। (अनुभूत)

दमाके अनुभूत नुस्खे—

(१) स्थायी रूपसे रोगको जड़से हटानेके लिये निम्नलिखित ओषधियाँ अनुभूत सिद्ध हुई हैं—

प्रातःकाल एक छटाँक अदरकका रस शहदके साथ। रात्रिमें किसी समय १ तोला सोंठ, भारंगी और बड़ी हरड़का चूर्ण सम-भाग पानीके साथ। यदि फिर भी कुछ कफ, नजले आदिकी शिकायत रहे तो एक या आधा शुद्ध किया हुआ भिलावा गायके दूधमें औटाकर पीवें; अथवा आधी या एक रत्ती शुद्ध कुचलाके चूर्णको चार रत्ती त्रिकुटाके चूर्णमें मिलाकर सोते समय गायके दूधके साथ सेवन करें।

(२) दमेमें स्थायीरूपसे ताकतके लिये श्वासकुठार, अभ्रक-भस्म, लोह-भस्म प्रातः एवं सायंकाल शहदके साथ लें (अनुभूत)। किंतु दौरेकी अवस्थामें इसको न लें। कफके सूख जानेसे हानि पहुँचनेकी सम्भावना हो सकती है। जरित हिंगुल, चान्द्रोदय, सोमनाथी ताम्र-भस्म, मल्ल चान्द्रोदय और मल्ल सिंदूर भी लाभदायक सिद्ध हुए हैं, किंतु दौरे तथा गर्म ऋतुमें इनका सेवन न किया जाय।

अन्य साधारण ओषधियाँ—

(३) नौसादर धतूरेके रसमें उड़ाया हुआ दो रत्ती पानी या दूधके साथ लें। इसके अभावमें शुद्ध अथवा साधारण नौसादर भी लाभदायक है। (अनुभूत)

उड़ाये हुए नौसादरके साथ भस्म फिटकरी एवं खील सुहागा मिलाना अधिक लाभदायक रहेगा।

(४) चनेके छिलकोंका पाताल-यन्त्रसे निकाला हुआ तेल एक बूँद बताशेके साथ।

(५) पीली कौड़ी तीन दिन पानीमें नमक मिलाकर रखें, फिर गरम पानीसे धोकर एक उपले-पर कौड़ियोंको रखकर दस उपले ऊपरसे रखकर जलावें। जब कौड़ियाँ जल जायँ, तब आकके दूधमें खरलकर टिक्की बनाकर एक मिट्टीके बरतनमें रखकर भीगी मिट्टी लगे हुए कपड़ेसे लपेटकर जलायें; उसको पीसकर आकके दूधमें फिर पकावें, तीन बार ऐसा ही करें फिर इसको पीसकर एक रत्ती शहदके साथ प्रातः-सायं खायँ, ऊपरसे गायका दूध पीयें।

(६) लोहेकी कड़ाहीमें चार तोले कलमी शोरा रखकर उसके ऊपर और चारों ओर एक छटाक भलावा फैलाकर किसी बर्तनसे ढक दें। एक अंगीठीमें कोयले जलाकर उसको ऐसी जगहपर रख दें जहाँ किसीको धुआँ न लगे। जब जलकर जम जाय तो खुरचकर शीशीमें रख लें। खुराक— दो रत्ती बताशेमें। परहेज—खटाई, लाल मिर्च इत्यादि। (अनुभूत)

(७) सं० ३ एवं ६ को वसूटीके खारके साथ दोसे चार रत्तीतक गलेमें डालकर ऊपरसे दूध या पानी पी ले।

(८) मदार, धतूरा, वसूटीका खार, उड़ाये हुए नौसादरके साथ अथवा अलग-अलग चार रत्तीतक उपर्युक्त विधि-अनुसार।

(९) कड़वे तम्बाकूके पत्ते एक पाव मिट्टीके बर्तनमें डालकर मदारके दूधसे खूब भिगो दें। सूख जानेपर बरतनको सम्पुट करके उपलोंमें भस्म कर लें। एक रत्ती भस्म प्रात.काल उबाले हुए चनोंके पानीके साथ। घी-दूधका सेवन रहे। दवाकी मात्रा धीमे-धीमे बढ़ाते जायँ।

(१०) निम्नलिखित ओषधि दमाके लिये अत्यन्त उपयोगी और अनुभूत बतलायी गयी है, यह अत्यन्त गोपनीय थी, हमने प्राप्त तो कर लिया है; किंतु कभी उसको बनवाने तथा प्रयोग करवानेका अवसर नहीं मिला है। पाठकोंके हितार्थ लिखी जाती है—

नौसादर १ तोला, सुहागा भुना हुआ १ तोला, कलमी शोरा १ तोला, खील फटकरी १ तोला, लोटन सज्जी १ तोला। सबको पीसकर आकके १ सेर दूधमें भिगोकर कोरे बरतनमें रखकर उसे सम्पुट करके २४ घंटे तक आँच दें, २-३ बार इसी प्रकार आकके दूधमें भिगोकर आँच दें, यदि जलते हुए कोयलेपर रखनेसे धुआँ दे तो कच्ची समझना चाहिये। प्रयोगविधि—३ रत्ती निहार मुँह २½ तोले शुद्ध मक्खनमें मिलाकर खायँ। दोपहरको मूँगकी दाल, फुलका खायँ, दालमें पकते समय दो तोला शुद्ध घी डालें। ओषधि-सेवनके पाँच घंटे अंदरतक ठंडा जल न पीवें, गर्म पीवें। रातको १ तोला बनफशा उबाल-कर दूध खाँड डालकर पीयें। रात्रिका भोजन बन्द रखें। सब प्रकारके नशे तम्बाकू, सिगरेट, खटाई; तेल आदिका परहेज। यदि कब्ज हो तो २½ तोले गुलकन्द रातको दूधके साथ खायँ।

(११) भाँगके पत्ते डेढ़ तोला, धतूरेके पत्ते डेढ़ तोला, इन दोनोंको कूटकर दो तोले कलमी शोरा पानीमें भिगोकर उसमें मिलाकर धूपमें सुखा लें। एक माशा (Eucaliptus oil) यूकेलिप्टस-आयल मिलाकर रख लें। इनका सिगरेट बनाकर पिलावें। धुआँ कुछ देर रोककर छोड़ दें। तुरन्त दमाका दौरा रुक जायेगा। (अनुभूत)

(१२) लाल फिटकरीकी भस्म एक छटाँक संख्या २ आने भरको कागजी नीबूके रसमें खरल करके बाजरेके दानेके बराबर गोली बनावें। गोली मुँहमें रखकर चूसें। (अनुभूत)

एक छटाँक चना एक पाव पानीमें उबालना चाहिये, जब आधा पाव पानी रह जावे तब उस पानीके साथ एक रत्ती भस्म लेना चाहिये।

परहेज—गुड़, तेल, खटाई, चाय, लाल मिर्च। (अनुभूत)

बदहज़मी, दस्त एवं कैके लिये—

(१) अमृतधाराकी दो-चार बूँदें पानी या बताशेके साथ लें।

अमृतधाराका नुसखा—पीपरमेण्ट एक तोला, काफ़ूर एक तोला, अजवाइनका सत एक तोला, दारचीनीका सत छः माशे, लौंगका सत छः माशे, छोटी इलायचीका सत छः माशे—सबको मिलाकर एक शीशीमें रख लें। दो बूँद पानी अथवा बताशेमें लें। (अनुभूत)

(२) सञ्जीवनी वटी, जो वैद्योंके पास बनी हुई मिलती है, अदरक या सोंठके रसके साथ लें। (अनुभूत)

सञ्जीवनी वटीका नुसखा—वायविडङ्ग, सोंठ, पीपल, काली मिर्च, बड़ी हड़, आँवला, बहेड़ा, बछ, गिलोय, भलावा शुद्ध, मीठा तेलिया शुद्ध सब समभाग, इनका चूर्ण सात दिनतक गोमूत्रमें खरल कर गोलियाँ बनावें।

भलावेकी शोधन-विधि—बिना ब्यायी गाय (बछेरी) के गोबरके साथ पकावें और कच्ची ईंटके चूर्णमें डालकर उसके नोक काटें और गरम पानीमें धोवें। इसके शोधनमें सावधान रहें, धुएँसे बचें। मीठा तेलिया दूधमें पकावें, जब सींक उसमें गड़ने लगे तब समझना चाहिये कि वह पक गया है। सञ्जीवनी वटीको अजीर्ण रोगमें अदरकके रसके साथ एक गोली, हैजेमें दो, साँपके काटेमें तीन, सन्निपात अर्थात् सरसाममें चार और खाँसीमें सोंठके साथ लेना बतलाया गया है।

अजीर्ण (बदहज़मी) के लिये—

(१) अष्टक गोली—सोंठ, काली मिर्च, पीपल, जीरा काला एवं सफेद, अजमोद, प्रत्येक एक-एक तोला, हींग घीमें भुनी हुई छः माशे, नमक काला डेढ़ तोला, गन्धक शुद्ध दो तोला, सबको पीसकर कागजी नीबूके रसमें खरल करके चनेके बराबर गोली बनावें, खानेके बाद एक या दो गोली लें। (अनुभूत)

(२) भुना हुआ सुहागा, पीपल बड़ी, हड़का बक्कल, हिंगुल अर्थात् शिंगरफ़ शुद्ध, एक-एक तोला, सबको कागजी नीबूके रसमें खरल करके मटरके बराबर गोली बनावें। (अनुभूत)

(३) हींग घीमें भुनी हुई छः माशे, जीरा सफेद और काला, मिर्च सफेद (दक्षिणी), सेंधा नमक, पीपल, प्रत्येक ढाई तोला, नीबूका सत छः तोला, मिश्री छः तोला, सबका चूर्ण। खुराक चार माशे।

(४) अजीर्ण, पेटका फूलना, वायुविकार, खाँसी-श्वासादि सब विकारोंको हटाकर जठराग्नि बढ़ानेवाली अनुभूत दवा आनन्द भरव रस—हिंगुल अर्थात् शिंगरफ़ शुद्ध दो तोला, गन्धक आँवलेसार (शुद्ध) एक तोला, मीठा तेलिया शुद्ध एक तोला, खील सुहागा एक तोला, सोंठ एक तोला, पीपल एक तोला, काली मिर्च एक तोला, धतूरेके बीज एक तोला, अदरकके रसमें खरल करके काली मिर्चके बराबर गोली बनावे। एक या दो गोली प्रातः और सायंकाल दूध या पानीके साथ। (अनुभूत)

(५) सोंठ १ तोला, काली मिर्च १ तोला, पीपल छोटी १ तोला, काला जीरा १ तोला, सफेद जीरा १ तोला, अजवायन १ तोला, सेंधा नमक १ तोला, हींग १ तोला, टाटरी ३ माशा, राई १ तोला, आक (मन्दार) के फूल सूखे १ तोला—सबको कूट-छानकर लगभग छः नीबू कागजीके रसमें खरल करके चनेके बराबर गोली बनावें। एक गोली भोजनके पश्चात् पानीके साथ। (अनुभूत)

नोट—दमेमें निहार मुँह गुनगुना पानी नोनमिश्रित पीकर उल्टी करे। धोती, नेती और न्योली अधिक लाभदायक हैं।

संग्रहणी—

(१) बड़ीहड़, मोचरस, पठानी लोद, धावेके फूल, बेलगिरी, इन्द्रजौ, अफीम, पारा शुद्ध, गन्धक आँवलेसार, सब समभाग, गन्धक और पारेकी कजली करके अन्य सब दवाओंका चूर्ण मिलाकर खरल करें। तीन रत्ती प्रातःकाल गौके छाछके साथ, तीन रत्ती सायंकाल बकरीके दूध अथवा खसखसके दूधके साथ। भोजन चावल मूँगकी खिचड़ी दहीके साथ।

(२) एक तोला शुद्ध गन्धक आँवलेसारको एक माशे त्रिकुटेके साथ खूब बारीक पीसकर तीन भाग बनावें। तीन मलमलके टुकड़ोंपर एक-एक भाग रखकर तीन बत्तियाँ बनावें। एक बत्तीको तिलके तेलमें भिगोकर जलावें। तीन बूँद एक पानमें टपकाकर उसमें दो रत्ती शुद्ध पारा डालकर खिलावें। तीन दिनतक ऐसा करें। खुराक दूध-चावल।

हैजा—

मदारका गूदा तीन तोले बारीक पीसकर दो तोले अदरकके रसमें खरल करके चनेके बराबर गोली बनावें। गुलाबके अर्क या ताजा पानीके साथ एक गोली खिलावें।

अम्लपित्तसे हाजमा ठीक न रहना—

अविपत्तिकरचूर्ण, सोंठ, काली मिर्च, पीपल, हड़, बहेड़ा, आँवला, वायविडङ्ग, नागरमोथा, पत्रज, छोटी इलायचीके दाने, बिड़ नमक, एक-एक तोला, लौंग ग्यारह तोला, निसीत चौवालीस तोला, मिश्री छाछठ तोला—इन सबका कपड़छन चूर्ण घीमें चिकनाकर शहद मिलाकर रख लें। तीन माशेसे एक तोलातक रातको सोते समय दूधके साथ या दिनमें भोजनके बाद ताजे पानीके साथ लें। यह रेचक भी है। (अनुभूत)

वात-विकारके लिये रेचक—

(१) वातारि गूगल—गूगल शुद्ध, गन्धक शुद्ध, हड़, बहेड़ा, आँवलाका चूर्ण सब बराबर वजनमें लेकर कैस्टर आइल (अरण्डीका तेल) में छः-छः माशेकी गोली बनावें। सोते समय एक गोली दूधके साथ लें। यह रेचक भी है। वायुके दर्द दूर करता है। (अनुभूत)

(२) वातव्याधिके लिये अरण्डीपाक—यह रेचक है, शीतकालमें अधिक लाभदायक है। त्रिकुटा डेढ़ तोला, लौंग तीन माशे, बड़ी इलायचीके दाने छः माशे, दारचीनी छः माशे, पत्रज छः माशे, नागकेसर छः माशे, असगन्ध एक तोला, सौंफ एक तोला, सनाय एक तोला, पीपलामूल छः माशे, मालेके बीज (निर्गुण्डी) छः माशे, सतावर छः माशे, बिसखपरा (पुनर्नवा सफेद) की जड़का बकल छः माशे, खस छः माशे, जायफल चार माशे, जावित्री चार माशे—इन सबका चूर्ण करें। दस तोले अरण्डीके बीजकी गिरी बारीक पीसकर एक सेर गायके दूधमें मावा बनावें। उसको दो छटाँक गायके घीमें भुनें। फिर दवाओंका चूर्ण और एक सेर बूरा मिलाकर छः-छः तोलाके लड्डू बनावें। खुराक—एक लड्डू गायके दूधके साथ अथवा बिना दूधके प्रातःकाल एवं सायंकाल खाय। यह रेचक भी है। (अनुभूत)

(३) गठिया और प्रत्येक वातविकारके लिये—एक छटाँक अरण्डीके बीज रेतमें या भाड़में भुनाकर चबायें और उसके ऊपर आधसेर या जितना पिया जा सके गायका दूध पिलावें। इससे दस्त आयेंगे। सात दिनतक ऐसा करें। खुराक—दाल मूँग और चावलकी पतली खिचड़ी। हवासे बचाये रक्खें।

(४) वातविकारके लिये असगन्ध, चोबचीनी, आँवला समभाग चूर्ण ६ माशे सोते समय दूध या पानीके साथ ।

(५) वातके रोगकी अत्यन्त पीड़ामें चरस (सुल्फा) आधी रत्ती खिलाकर गायका दूध गायके घीके साथ पिलावें । (अनुभूत)

आधे सिरका दर्द, नथनोंका बंद रहना, सिरका भारी रहना—

(१) बनफशेके फूल, उस्तखदूदूस, बर्ग सिब्बत, बराबर वज़नमें लेकर कपड़छन चूर्ण बनावें, अँगुलीसे नथनोंके अंदर लगावें । (अनुभूत)

(२) नौसादर एक तोला, काफूर तीन माशे पीसकर माथेपर लेप करें और सुँघायें ।

(३) जमालगोटा शुद्ध, यदि शुद्ध न मिल सके तो अशुद्ध पानीमें पीस लिया जाय, एक सींकसे भवोंके ऊपर मस्तिष्कपर बिंदी लगावें । फौरन दर्द दूर हो जायगा । उसी वक्त कपड़ेसे पोंछकर घी या मक्खन लगावें ।

(४) नारंगीके छिलकेका रस दर्दसे दूसरी ओरवाले नथनेमें डालना ।

(५) रीठेका छिलका पानीमें भिगोकर जिस कनपटीमें दर्द हो उसके दूसरी ओरवाले नथुनेमें डालना । कपड़छन रीठेका चूर्ण भी नाकमें लगानेसे सिरका दर्द दूर होता है ।

(६) नौसादर उड़ाया हुआ या शुद्ध किया हुआ, फिटकरीकी भस्म गर्म दूध या पानीके साथ सेवन । ये सब ओषधियाँ अनुभूत हैं ।

प्रमेह, पेशाबमें शक्कर आना, स्वप्नदोषादि वीर्यके हर प्रकारके विकारके लिये—

(१) चन्द्रप्रभा । चन्द्रप्रभाका नुस्खा—वच, नागरमोथा, चिरायता, गिलोय, देवदारु, दारुहल्दी, अतीस, चव्य, गजपीपल, सोनामक्खी भस्म, सज्जीखार, काला नमक, कचूर, दारुहल्दी, पीपलामूल, चीता-की छाल, धनियाँ, हड़, बहेड़ा, आँवला, वायविड़ंग, त्रिकुटा, जवाखार, सेंधा नमक, विड़ नमक, प्रत्येक चार-चार माशे, निसौत, तेजपात, छोटी इलायचीके दाने, गोदन्ती, दारचीनी, वंशलोचन, प्रत्येक एक तोला चार माशे; लोह-भस्म दो तोला आठ माशे, मिश्री पाँच तोला चार माशे, शिलाजीत शुद्ध दस तोला आठ माशे, गूगल शुद्ध दस तोला आठ माशे; सबका चूर्ण कपड़छन करके चनेके बराबर गोली बनावें। वैद्योंके पास बनी हुई मिलती है । सोते समय रातको अथवा प्रातःकाल दूधके साथ एक गोली ।

(२) सूर्यप्रभावटी । सूर्यप्रभावटीका नुस्खा—चित्रक, हड़, बहेड़ा, आँवला, नीमके अंदरकी छाल, पटोलपत्र, मुलहठी, दालचीनी, नागकेशर, अजवायन, अमलबेत, चिरायता, दारुहल्दी, इलायचीके दाने, नागरमोथा, पित्तपापड़ा, नीला थोथाकी भस्म, कुटकी, भारंगी, चव्य, पद्माक, खुरासानी अजवायन, पीपल, काली मिर्च, निसोत, जमालगोटा शुद्ध, कचूर, सोंठ, पोकरमूल, जीरा सफेद, देवदारु, तमालपत्र, कूड़ाकी छाल, रासना, दमासा, गिलोय, निसौत-तालीसपत्र, तीनों नमक (सेंधा, काला और कचिया), धनिया, अजमोद, सौंफ, सुवर्णमाक्षिक (सोनामक्खी) भस्म, जायफल, वंशलोचन, असगन्ध, अनारकी छाल, कनकोल, नेत्रबाला, दोनों क्षार यानी सज्जी और जवाखार, काली मिर्च, प्रत्येक चार-चार तोला, शुद्ध शिलाजीत बत्तीस तोला, गूगल शुद्ध बत्तीस तोला, लोहभस्म बत्तीस तोला, रूपामाक्षिक (चाँदी-मक्खी) भस्म आठ तोला, सबका चूर्ण बनाकर मिश्री चौंसठ तोला, गायका घी सोलह तोला, शहद बत्तीस तोला मिलाकर चीनीके बर्तनमें रखें अथवा गोलियाँ बनावें; खुराक एक माशासे चार माशेतक, प्रातः

अथवा सायं दूधके साथ । सूर्यप्रभावटी Diabetes पेशाबमें शक्कर आना इस रोगके लिये अति लाभदायक सिद्ध हुई है। (अनुभूत)

चन्द्रप्रभा और सूर्यप्रभा सब मौसम और सब अवस्थामें सब प्रकारके रोगोंमें अनुभूत ओषधि हैं। इनसे सब प्रकारके प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, पेशाबमें शक्कर आना इत्यादि, सब प्रकारकी वातव्याधि, उदर रोग, गोला, पाण्डु, संग्रहणी, हृदयरोग, शूल, खाँसी, भगन्दर, पथरी, रक्तपित्त, विषम-ज्वर तथा वातजन्य, पित्तजन्य रोग दूर होकर शरीर स्वस्थ और जठराग्नि प्रदीप्त होती है। अभ्यासियोंके लिये अनुकूल है।

(३) वंगभस्म चार रत्ती पान अथवा शहदके साथ प्रमेहके लिये। (अनुभूत)

(४) हरी गिलोयका रस चार तोला, शहद छः माशेके साथ सुबहको प्रमेहके लिये पियें। (अनुभूत)

(५) सत बड़ चार रत्ती गायके दूधके साथ सिर्फ एक सप्ताहतक लें। अनुभूत)

बड़का सत बनानेकी विधि—बड़की कोपलें दस सेर बारीक काटकर चालीस सेर पानीमें पकावें। जब पत्ते गल जायँ, तब मल-छानकर लोहेकी कढ़ाईमें पकाकर खोआ बना लें। फिर दस तोला बबूलफलीका चूर्ण मिलाकर चार-चार रत्तीकी गोली बनावें। एक गोलीको पानीमें घोलकर उस पानीको दूधमें मिलाकर दूधको जोश दें। केवल सात दिनतक ईसबगोलकी भूसी छः माशे और चीनी डालकर दूधको पीवें। बड़ सत तैयार न हो तो बड़की कोपल दो तोलाको छोटे २ टुकड़ेकर एक पाव पानीमें पकावें। जब पानी एक छटाँक रह जाय तो उसको छानकर आध सेर गायके दूधमें मिलाकर पकावें। फिर ईसबगोलकी भूसी और बूरा मिलाकर सिर्फ सात दिनतक पियें। बिना ईसबगोलकी भूसीके भी ले सकते हैं। यह वीर्यको गाढ़ा करके स्वप्नदोष इत्यादि सब प्रकारके वीर्यपातको रोकता है। अनुभूत, साधुओंकी गुप्त ओषधि है। यह ओषधि पौष्टिक है इसलिये कब्ज न होने दें।

(६) ब्राह्मी घृत—ब्राह्मीके पञ्चाङ्गका रस दो सेर निकालें।

ब्राह्मीके पञ्चाङ्गका रस निकालनेकी विधि—

यदि ब्राह्मी हरी हो तो दो सेर रस कूटकर निकालें, सूखी हो तो दो सेरको आठ सेर पानीमें पकावें। जब दो सेर रह जाय तो छान लें। आँवलेका छिलका, हल्दी, कठमटी (कुश्त शीरी), निसौत (तिर्वी), बड़ी हड़का छिकल, पीपल छोटी, मिश्री, प्रत्येक दो-दो तोला, वच, सेंधा नमक छः-छः माशे, सबको दो सेर पानीमें पकावें, जब आध सेर रह जाय, तब मल-छानकर ब्राह्मीका रस मिलाकर लोहेकी कढ़ाई या कलईके बर्तनमें रखकर आगपर चढ़ावें और आध सेर शुद्ध गौका घृत उसमें डालकर हल्की आँचसे पकावें। जब घृत बाकी रह जाय, तब उतारकर छान लें और साफ बर्तनमें रख लें। खुराक छः माशेसे तीन तोलेतक गौके दूधमें प्रातः एवं सोते समय।

लाभ—वीर्यके सब प्रकारके रोगोंकी निवृत्ति, वीर्यशुद्धि, स्मृति एवं मस्तिष्ककी शक्तिको बढ़ानेके लिये, बुद्धिको तीक्ष्ण करने, कण्ठको साफ करने, बवासीर, प्रमेह, खाँसी आदि रोगोंके लिये अति लाभदायक है। वीर्यदोषसे जिन पुरुषों अथवा स्त्रियोंके संतान उत्पन्न न हो उन दोनोंके लिये अति लाभदायक है।

ब्राह्मीघृतकी दूसरी विधि—हरी ब्राह्मी हो तो पाँच सेर, सूखी हो तो दो सेर, शंखपुष्पी एक पाव, आँवला एक पाव, त्रिफला एक पाव, घुड़वच एक छटाँक, वायबिडङ्ग, पीपल, धनियाँ, निसौतकी जड़, लौंग, छोटी इलायची, तज, सम्भालूके बीज और हल्दी एक-एक तोला, गिलोय दो तोला सबको मोटा

कूटकर दस सेर पानीमें भिगोकर अग्निमें खूब पकावें। जब छः सेर रसके लायक पानी रह जाय तो मलकर छान लेवें। इस रसको लोहेकी कड़ाही या कलईके बरतनमें चढ़ाकर ढाई सेर शुद्ध गौका घृत डालकर पकावें, अग्नि धीमी-धीमी आठ-दस घंटेतक देते रहें। जब पानीका भाग जल जाय और रसका सब भाग इकट्ठा हो जाय तब उतारकर कपड़ेमें छान लें। खुराक—डेढ़ तोलेसे ढाई तोलेतक, आवश्यकतानुसार गायके दूधके साथ प्रातः-सायंकाल।

(७) प्रमेहके लिये—बबूलकी कोंपलें सुखाकर उसका चूर्ण कर लें। सात दिनतक बड़के दूधमें भिगोकर फिर सुखाकर चूर्ण कर लें। यह चूर्ण २ तोला, मूसली सफेद १ तोला, बड़ी इलायचीके दाने २ तोले, अम्बा हल्दी २ तोला, वंग भस्म २ तोला, शतावर ४ तोले, असगन्ध ४ तोले, कच्ची खाँड़ ५ तोले, इन सबको मिलाकर रक्खें। सवा माशा दवाई गायके दूधके साथ देवें। (अनुभूत)

(८) मूसली काली ५ तोला, खैरका गोंद (कत्था) ५ तोले, छोटी इलायचीके दाने ६ माशे, छुआरे ७, बादाम गिरी ७, मिश्री २ तोले, गूलरका दूध २ तोले, सबको मिलाकर खूब कूटकर रक्खें। खुराक १ तोला गायके दूधके साथ २१ दिनतक।

सोते समय पेशाब निकल जाना—

आँवलेका गूदा, काला जीरा सम-भाग शहद मिलाकर।

पेशाबके साथ शकर आना—

(१) गुड़मार दो तोले, जामुनकी गुठली दो तोले, वंशलोचन छः माशे, इलायची छः माशे, गिलोयका सत एक तोला, पीपलकी छाल तीन माशे, मण्डूर-भस्म एक माशा, चाँदी-भस्म चार रत्ती, शिलाजीत शुद्ध तीन माशे—सबका चूर्ण करके चार माशे प्रातः एवं सायंकाल गाय अथवा बकरीके दूधके साथ। (अनुभूत)

(२) गुड़मार, बबूल या गूलरकी जड़की अंतरछाल, जामुनकी गुठली, सोंठ सम-भाग कूट-छानकर छः माशेसे नौ माशेतक गरम पानीके साथ।

(३) गिलोय सब्ज़का रस निकालकर उसमें पाशानभेद और शहद मिलाकर पिलावें।

(४) सूर्यप्रभावटी इस रोगमें आश्चर्यजनक लाभदायक सिद्ध हुई है। (अनुभूत)

बहुमूत्र—

(१) चत्रककी लकड़ी एक तोले कूटकर पावभर पानीमें मिट्टीके बर्तनमें रातको भिगो दें, सुबहको पकावें, जब दो तोले रह जाय, तब मल-छानकर पीवें। पन्द्रह दिनतक पीना चाहिये।

(२) फ़रीद बूटी सायेमें सुखायी हुई एक तोला, मूसली सफेद एक तोला घोटकर सात दिनतक पिलावे।

(३) अजवायन देशी छः माशे, नागरमोथा छः माशे, कुन्दर छः माशे, काले तिल एक तोला—सबको बारीक पीसकर दो तोले गुड़में मिलावें। खुराक छः माशे प्रातः एवं सायंकाल।

(४) पीली हरड़का छिलका और अनारका छिलका समभाग कूट-छानकर चार माशे प्रातः एवं सायंकाल पानीके साथ।

(५) बढ़िया किस्मके बड़े अच्छे गूदेदार छुवारे दिनमें खानेके पश्चात्, रातको दूधसे पहिले। (अनुभूत)

हर प्रकारके बुखारके लिये—

तुख्मकासनी दो तोला, गुल नीलोफ़र छः माशे, बर्गगावज़बाँ छः माशे, तुख्म खरबूज़ा छः माशे,

तुख्म खीरा छः माशे, गुलबनफसा छः माशे, नागरमोथा छः माशे, सब्ज गिलोय छः माशे (सब्ज न मिल सके तो सूखा हुआ काममें लावें), छोटी इलायची छः अदद, मुनक्का पाँच अदद, गुलकन्द पाँच तोला—सब दवाओंको एक सेर पानीमें जोश दें। फिर गुलकन्द मिलावें। ठंडा होनेपर कई बार पियें।

बलगमी बुखारके लिये—

गुलबनफसा छः माशे, नीलोफर छः माशे; गावज़वाँ छः माशे, कासनी छः माशे, मुनक्का पाँच अदद, छोटी इलायची पाँच अदद, नागरमोथा छः माशे, अञ्जीर पाँच अदद, गिलोय एक तोला—इन सबको पानीमें भिगो दें, सुबहको जोश देकर मिश्रीके साथ मिलाकर रख लें। ठंडा होनेपर थोड़ा-थोड़ा पिलाव।

बुखारके लिये, हर प्रकारके अम्लपित्त, गुरदज आदि रोगमें--

गिलोय, धनियाँ, लाल चन्दन, पद्माक, नीमकी छाल—इन सबको बराबर वजनमें लेकर चूर्ण बनावें। शामको आध सेर पानीमें ढाई तोला भिगो दें, सुबहको जोश दें। जब छटाँक-भर रह जाय तब पिलावें।

पित्तज्वरपर 'सफाई' खूनके लिये—

मुनक्का, अमलतास, कुटकी, पित्तपापड़ा, बड़ी हरड़का बक्कल, नागरमोथा—सब बराबर वजनमें लेकर ऊपर वाले नुस्खेकी तरह ढाई तोला लेकर तैयार करके पियें।

बुखारके लिये कुछ और अनुभूत नुस्खे—

(१) मगज करञ्जवा (करंजुएकी गिरी) दो तोला, सेंधा नमक दो तोला—इनका चूर्ण बना लें। चार रत्ती सुबह और शाम ताजे पानीके साथ। चढ़े बुखारमें भी दिया जा सकता है।

(२) करंजुएके पत्ते तवेपर किञ्चित् आँच देकर चूर्ण बनाया जाय। चार रत्ती दिनमें तीन दफा ताजे पानीके साथ खिलावें। (अनुभूत)

(३) फिटकरी लाल एक पाव पीसकर आकके दूधमें भिगोवें, जब आकका दूध सूख जाय, तब मिट्टीके बर्त्तनमें रखकर सम्पुट कर पाँचसे दस उपलोंकी आँचमें जलावें, ठंडा हो जानेपर इस दवाको निकालकर पीस लें। खुराक--एक रत्ती गायके दूधके साथ। खाँसी, दमा, बुखार, तपेदिक आदिके लिये लाभदायक है।

(४) गेरू दो तोला, फिटकरी भुनी हुई दो तोला, शक्कर सुर्ख पाँच तोला मिलाकर दिनमें दो-तीन बार छः-छः माशे ताजे पानीके साथ।

(५) मृत्युंजय रस—शिगरफ दो तोला, गन्धक, आँवलेसार, मीठा तेलिया शुद्ध, खील सुहागा, सोंठ, पीपल, काली मिर्च एक-एक तोला, कागजी नीबूके रसमें खरल करके काली मिर्चके बराबर गोली बनावे। एक गोली ताजा पानीके साथ। (अनुभूत)

(६) *तीसरे दिनका बुखार*—प्रातःकाल और बुखार आनेसे एक घंटा पहले लाल फिटकरीकी भस्म चार रत्तीसे एक माशातक अर्क गुलाबके साथ। (अनुभूत)

(७) *चौथिया बुखारके लिये*—संखिया और शंगर्फ बराबर करेलेके रसमें घोटकर काली मिर्चके बराबर गोली बनावें। पारीवाले दिन बुखारसे एक घंटा पहिले या प्रातःकाल एक गोली पानके साथ देवें। खुराक—दूध, चांवल, घी बुखारके समय बीतनेके पश्चात। तीसरे एवं चौथे दिनके दोनों बुखारोंके लिये अनुभूत बतलायी गयी है।

तपेदिकके लिये—

(१) गिलोयका सत, वंशलोचन, छोटी इलायचीके दाने, काली मिर्च, भलावा शुद्ध, समभाग पीसकर काली मिर्चके बराबर गोली बनावें। पहिले दिन एक गोली एक पाव गायके दूधके साथ लें, प्रत्येक दिन दूध दो तोला बढ़ाते जायँ, एक सेरतक। भलावेकी शोधनविधि सञ्जीवनी बटीके नुस्खेमें देखें।

(२) वर्ग करेला (करेलेके पत्ते) चार तोला, मुश्क काफ़ूर एक तोला—इनको बारीक घोटकर एक माशेकी गोली बनावें, बुखार आनेके चार घंटे पहिले पानीके साथ खिलावें। (अनुभूत)

(३) एक पोईका लहसन यदि न मिले तो साधारण लहसनको ही कूटकर दुगने पानीमें उबालें। फिर मल-छानकर उस पानीको पकावें। जब गाढ़ा हो जावे तो चनेके बराबर गोली बनावें। प्रातः व सायंकाल एक या दो गोली ठंडे पानीके साथ खिलावें।

पायोरियाके लिये दाँतोंका मंजन—

(१) लाहौरी नमक, तेजबल, फिटकरी भुनी हुई, तंबाकूके पत्ते भुने हुए, गेरू, काली मिर्च, सोंठ, सब एक-एक तोला लेकर चूर्ण बनावें, दाँतोंमें मलकर पानी निकलने दें। (अनुभूत)

(२) नमक एवं सरसोंका तेल मिलाकर दाँतोंपर मलें। दातौनसे दाँत साफ करें। लाहौरी नमक और सरसोंका तेल पकाकर रख लें, दातोंपर लगाकर सोवें।

(३) मिट्टीके तेलके गरारे करनेसे भी पायोरिया दूर होता है।

दाढ़का दर्द—

(१) छः-सात माशे कुचला दरदरा करके पानीमें औटाकर गरारे करना।

(२) मदार (आकका पेड़) की लकड़ी जलाकर, दुखती दाढ़से दबाकर राल निकालते रहना। (अनुभूत)

(३) पेटकी सफाई तथा उपर्युक्त किसी रेचक वातनाशक ओषधिका सेवन लाभदायक है।

दाँतोंके सब रोग-नाशक—

(४) कुचला एक तोला, देशी नीलाथोथा तीन तोला—इनको सम्पुट करके जलावें। जब राख हो जाय, तब माजूफलका चूर्ण एक तोला, फिटकरी सफेद छः माशे, सबको बारीक पीसकर बड़की डाढ़ोकी दातौनसे लगावें।

फल—मसूड़ोंका साफ होना, दाँतोंका जमना, पायोरिया तथा मुँहकी बदबूका दूर होना।

दाँत अथवा दाढ़के दर्दके लिये—

(५) तुरुम खासन चार माशे, नरकचूर चार माशे, फिटकरी चार माशे, अफीम चार रत्ती—इनकी दो पोटली बनाना, एक पोटली दुखते दाँत अथवा दाढ़में दबाये रखना, दो घण्टेमें आराम हो जायगा। (अनुभूत)

(६) गोस्तखुरदा और पीब आनेवाले दाँतोंकी दवा—मुश्ककाफूर तीन भाग, बोरिक एसिड (Boric Acid) एक भाग मिलाकर शीशीमें रख लो। रूईकी फुरेरीसे लगावें। (अनुभूत)

दाँतोंको साफ और चमकीला बनानेके लिये—

(७) समन्दरझाग एक तोला, फिटकरी भुनी हुई छः माशे, माजूफल छः माशे, चूना बुझा हुआ छः माशे, बारीक कपड़छान करके दाँतोंपर मलें। (अनुभूत)

(८) मौलसिरीकी छालका चूर्ण दाँतोंपर मलना और लकड़ीसे दातौन करना अति लाभदायक है।

(९) दाँतों एवं मसूड़ोंके सब प्रकारके रोग दूर करनेके लिये सेंधे नमकको पानीमें खूब औटाकर रख लें। उसके कई बार एवं सोते समय गरारे करें।

फोड़े-फुंसी आदि रक्तकी शुद्धिके लिये—

(१) शुद्ध गन्धक त्रिफलाके साथ।

(२) सफेदा कासगरी छः माशे, मुरदारसंग आधा माशा, सिन्दूर तीन रत्ती, हल्दी चार रत्ती, फिटकरी भुनी हुई एक माशा, तूतिया भुना हुआ तीन रत्ती, सरसोंका तेल नौ माशे, मोम एक माशा, मोमको तेलमें पिघलाकर, सब दवाइयोंको छानकर, मिलाकर मरहम तैयार करें। यह मरहम फोड़े-फुंसी एवं घाव आदिके लिये अति लाभदायक है।

(३) खुजलीके लिये हल्दीकी लुगदी और आकके पत्तोंका पानी सरसोंके तेलमें पकावें, जब लुगदी रह जाय, तब लगावें।

(४) फिटकरी दो मात्रा, बोरिक एसिड (Boric Acid) तीन मात्रा, गन्धक चार मात्रा इनका चूर्ण सात माशे आध छटाँक मक्खन मिलाकर खुजली तथा दादवाले स्थानपर मलें।

सफाई खूनके लिये—

(१) सत्यानाशी अर्थात् कटैयाकी जड़ नौ माशे, काली मिर्च नौ दाने पीस-घोटकर पिलावें, खानेके लिये मूँगकी दाल अथवा खिचड़ी दें, सब प्रकारके रक्तविकार, कोढ़, खुजली आदिके लिये सत्यानाशीका खिंचा हुआ अर्क पीना और इसके बीजोंका तेल लगाना अति लाभदायक है। घृत अधिक खावें। (अनुभूत)

(२) चिरायता, गिलोय, पित्तपापड़ा, नीमके अंदरकी छाल, ब्रह्मदण्डी, मुण्डी, इन्द्रायणकी जड़ समभाग, इनका कपड़छन चूर्ण प्रातः एवं सायंकाल पानी अथवा गौके दूधके साथ आवश्यकतानुसार लें।

सफेद कोढ़की दवा—

(१) चीतेकी छाल दो भाग, सफेद घुँघची एक भाग, बावची तीन भाग, अञ्जीर जंगली एक भाग सब मिलाकर गोमूत्रमें खरल करके कोढ़पर लगावें, छाला फूटकर जब मवाद निकल जाय, तब नीमके तेलका मरहम लगावें।

छाजन, लाहौरी फोड़े, बगदादी फोड़े तथा अन्य घाववाले दादोंके लिये अनुभूत ओषधि—

(१) एलोवेसलीन (Yellowvaslin) जिंकओक्साइड (Zincoxide) को मिलाकर रख लें। दाद अथवा जखमको नीमके पानीसे धोकर मरहमका फोया लगाकर पट्टी बाँध ले, उससे जखमका मवाद निकलता रहेगा और ज़ख्म भरता रहेगा। आँखों तथा पलकोंके ज़ख्मोंके लिये भी प्रयोग करे। (अनुभूत)

सूखे दादके लिये—

(२) बादामके छिलकों, शीशमकी लकड़ी, नारियलके जटाके अन्दरके सख्त भागके टुकड़े अथवा गेहूँका तेल दादपर लगावें। यह भी अति उत्तम अनुभूत ओषधि है।

गेहूँके तेल निकालनेकी विधि—एक मिट्टीकी हाँडीमें एक कटोरा रखें, उस हाँडीपर तलीमें सूराख की हुई एक दूसरी हाँडी रखें। सूराखमें कुछ सींकें इस प्रकार रखें कि कटोरेमें गिरे। उस हाँडीको मोटे गेहूँसे भरकर उसपर ढक्कन रख दें। कपड़ेको चिकनी मिट्टीमें सानकर दोनों हाँडियोंपर लपेट दें। फिर एक गढ़ा खोदकर दोनों हाँडियोंको इस प्रकार रखें कि नीचेवाली हाँडी मिट्टीमें दबी रहे। ऊपरवाली हाँडी

के चारों तरफ़ जने उपले रखकर आँच दें, इस तरह उसका तेल कटोरेमें आवेगा। ठंडा होनेपर निकाल लें।

बादामके छिलकोंका तेल निकालनेकी सबसे आसान तरकीब यह है कि एक चौड़े मुँहवाली हाँडीमें बादामके छिलके भरकर उसमें एक कटोरा रख दें। हाँडीके मुँहपर एक तसला रखकर आँटे और मिट्टीसे मुँह बंद करके उसको चूल्हेपर रख दें। तसलेमें पानी भर दें। पानी बदलते रहें, अधिक गर्म न होने पावे। कटोरेमें टिंचरकी शक्लका पानी भर जायगा। यह न केवल दाद एवं एग्ज़माके लिये अकसीर है अपितु जहरीले जानवरोंके काटेपर भी लाभदायक है। इसके अतिरिक्त सारी बातोंमें टिंचरका काम देता है। (अनुभूत)

(३) जंगली गोभीके पत्तोंको सरसोंके तेलमें जलावें और इसको पीसकर रख लें। दादपर इसे लगावें। इस मरहमके अभावमें जंगली गोभीके पत्तोंको दादपर खुजलानेसे भी बड़ा लाभ होता है।

(४) कलमी शोरा एक भाग, नौसादर दो भाग, सुहागा चार भाग, सबको मिलाकर खरल करके फुरैरीसे लगावें।

(५) ऐसिटिकऐसिड (Ascetic acid) टैरिनऐसिड (Tarin acid) को मिलाकर शीशीमें रख ले। फुरैरीसे लगावें। यदि पानी निकले तो वैसलीन लगावें।

भैंसिया दाद अर्थात् काले दादके लिये—

मूँग अथवा मूँगकी दाल छिलकेसहित बारीक पीसकर लगावें।

छाजनका नुस्खा—

(१) सीसा एक छटाक लोहेके चम्मचमें पिघलाकर उसमें तीन तोला पारा डालकर किसी बर्तनमें डाल दे, जब ठंडा हो जाय, तब एक छटाक गन्धकके साथ बारीक पीस ले। इसके चूर्णको सरसोंके तेलमें मिलाकर लगावें।

(२) जहरीला पानी देनेवाले छाजन आदिपर गूलरको दहीके पानीमें बारीक पीसकर उसका लेप करें, जब सूखकर छुट जाय, तब फिर लेप करें, कष्टको सहन कर लें घबरायें नहीं।

चम्बलकी दवा—

पुनर्नवा अर्थात् साँठे (Itsit) की जड़ आध पाव सरसोंके तेलमें मिलाकर, पीसकर एक छटाक सिन्दूर मिलाकर मरहम तैयार करें।

नासूर, भगंदर आदिके लिये—

(१) पारा और रसकपूर दोनोंको खरल करें, फिर मूर्दासङ्ग, प्रवालकी जड़, सुपारीका फूल, कत्था, राल, सिन्दूर, सब एक-एक तोला, वंशलोचन, छोटी इलायची डेढ़ माशा खरल करें। फिर १०१ बार धुले हुए पंद्रह तोला मक्खनमें मिलावे। पतले कपड़ेकी बत्ती बनाकर मरहममें भिगोकर घावमें लगावें।

(२) नौजवान आदमीको खोपड़ीकी भस्म नासूर और भगंदरमें लगावें।

कमरके अंदरका फोड़ा—

अरण्डकी गिरीको पीसकर मोटा प्लास्टर लगावें, कपड़ेके किनारोंको सेंजनेके गोंदसे बंद कर दें जब यह पीबसे भर जाय तो इसी तरह दूसरा प्लास्टर लगावें।

गाँठवाले फोड़ेकी दवा—

नीमके पत्तोंको इतना पीसा जाय कि लेस आ जाय, फिर उसे किसी कपड़ेमें लपेटकर गारा

या मिट्टी लपेटकर भूबलके पकावें, मिट्टी सूख जानेपर निकालें। लगभग एक अंगुल मोटी टिकिया बनाकर लगावें।

भगंदर तथा गुदाके सब प्रकारके रोगोंके लिये अनुभूत ओषधि—

(१) बोरिक एसिड (Boric Acid) एक ड्राम अथवा चार माशा, जिंक आक्साइड (Zinc Oxide) दो माशा, आइडोफोर्म (Ido Form) पाँच रत्ती, एसिड कार्बोलिक (Acid Carbolic) एक माशा या पंद्रह बूँद, सरसों अथवा तिलका तेल ढाई तोला, पानी ढाई तोला इन सबको मिलाकर रूई या कपड़ेका घोथा गुदामें लगाया जाय। (अनुभूत)

(२) एक सेर गायके दूधमें-एक छटाक भंग डालकर उसकी भाप गुदामें पहुँचाना, फिर ऊपरवाले मरहमकी बत्ती गुदामें रखकर इस भंगको गुदामें लंगोट-जैसे पट्टोंसे बाँध देना अधिक लाभदायक होगा। (अनुभूत)

(३) भगंदर, नासूर और पुराने फोड़ेके लिये अनुभूत—फिटकरी पाँच तोला, संगजराहत पाँच तोला, सिन्दूर एक तोला। पीसी हुई फिटकरी तवेपर जलावें। पिसा हुआ संगजराहत एक-एक चुटकी उसमें डालते जायँ और हिलाते जायँ। फिर सिन्दूरको तवेपर भस्म करके उसमें मिला दें। ठंडे किये हुए गायके दूधमें थोड़ी-थोड़ी डालते जायँ और पिलाते जायँ। एक-एक सप्ताहके पश्चात् एक-एक दिन नागा करते जायँ। २१ दिनतक।

अर्श (बवासीर)—

(१) एक तोला संखियाको दस रीठेके तीन पाव पानीमें खरल करे। जब सब पानी उसीमें खप जाय, तब एक चावल इस संखियाको पानीमें घोलकर मस्सेमें लगावें, सात-आठ दिनमें मस्सा गिर जायेगा। फिर सफेदा काश्तकारी घिसकर लगायें। (एक अनुभवी संन्यासीसे प्राप्त किया हुआ नुसखा, किंतु अपना अनुभूत नहीं है।)

बवासीरके मस्सोंका जड़से उखाड़ना—

(२) इकंशा, सिन्दूर, नीलाथोथा, समभाग मिलाकर चूर्ण करें, मस्सेको फिटकरीसे खुजलाकर तुरंत उसपर इस चूर्णको पानीमें घोलकर सींकसे लेप करें, ऊपरसे पके हुए चावल-दही मिलाकर बाँध दें, मस्से जड़से निकल जायेंगे। फिर रालका मरहम लगावें। (यह ओषधि एक अनुभवी फकीरसे प्राप्त हुई है, परंतु अपनी अनुभूत नहीं है।)

(३) रीठेकी गिरी निकालकर उसके छिलकेका चूर्ण आध पाव, रसौत एक छटाकके साथ खूब खरल करें। फिर दो छटाक पुरानेसे पुराना गुड़ उसमें डालकर खरल करें। मटरके बराबर गोली बनावें। प्रातः एवं सायंकाल एक-एक गोली दूधके साथ निगल लें। खटाई, लाल मिर्च, तेल और कब्ज करनेवाली चीजोंसे परहेज।

(४) कुचला मिट्टीके तेलमें घिसकर मस्सोंपर लेप करें सोते समय। मस्से सूख जायेंगे।

(५) छः माशे बोतलपर लगानेका काग, दो तोले सरसोंके तेलमें जलावें फिर उसमें पीली भिड़के छत्तेको मिलाकर खरल करें, मरहमको मस्सेपर लगावें।

(६) सौंफ, किशमिश, भंग, दक्षिणी मिर्च, इलायची सफेद सममाग—इन सबके बराबर मिश्री मिलाकर चार रत्तीसे अपनी आवश्यकतानुसार सेवन करें।

(७) रूमी मस्तगी एक तोला, सफेद इलायचीके दाने छः माशे मिलाकर दहीके साथ खानेसे खूनी बवासीर बंद होती है।

(८) झड़बेरीके पत्ते एक तोला, तीन काली मिर्चके साथ घोटकर पियें।

(९) रीठेका छिलका आठ तोला, तूत अथवा अरण्डके पत्ते एक तोला—दोनोंको मिलाकर इतना कूटें कि मोम-जैसे हो जायँ, यदि चिमिटने लगें तो घी लगा लें, आठ टिकिया बना लें। एक गढ्ढा खोदकर उसमें कोयले जलाकर चिलम रख दें, उसके सूराखद्वारा गुदाको धुआँ दें। आठ दिनतक इसी प्रकार करें।

(१०) करेल अर्थात् करेंट जो एक प्रसिद्ध झाड़दार वृक्ष है, उसकी ताजी जड़का पाताळयन्त्रसे तेल निकाले, दिनमें दो-तीन बार रूईकी फुरैरी भिगोकर मस्सोंपर लगावें, खूनी एवं बादी दोनों प्रकारकी बवासीर बंद हो जायगी।

(११) चिरचिटेकी छार एक रत्ती लें, इसके ऊपर छः माशे चिरचिटेके बीज, ग्यारह कालीमिर्च एक सप्ताहतक घोटकर पियें। गेहूँकी रोटी या दलिया घीके साथ खायँ।

(१२) जंगली गोभीके तीन पत्ते और तीन काली मिर्च घोटकर पियें।

(१३) भंगको पीसकर घीमें पकाकर टिकी बाँधें।

(१४) खूनी बवासीरके लिये मूसाकरनी बूटी २ रत्ती प्रातःकाल, २ छटाक दहीके साथ। लाल मिर्च, बादी और गर्म चीजोंसे परहेज (अनुभूत)।

(१५) खूनी बवासीरके लिये रसौत, एलुआ, नीमकी निबौली, मग्ज बकायन बराबर—सबको पीसकर चनेके बराबर गोली बनावे। प्रातः एवं सायंकाल एक गोली पानीके साथ।

(१६) खूनी बवासीरके लिये पुराने टाटकी राख ६ माशे पानीके साथ।

(१७) लंगूरकी सूखी हुई बीटको जलाकर उसके ऊपर सुराख की हुई हाँड़ी रखकर गुदाको धुआँ दें।

(१८) जंगली कबूतर और मोरकी बीट बराबर लेकर गोली बनावें। गोलीको घिसकर मस्सोंपर लगावें।

तिल्ली—

(१) अजवाइन देशीको आकके दूधमें भिगोकर छायामें सुखावें, फिर कागजी नीबूके रसमें खरल करके आधी रत्तीकी गोली बनायें, एक-एक गोली प्रातः-सायंकाल बासी पानीके साथ खायँ।

(२) नौसादर, कलमी शोरा, सुहागा सफेद, लौंग, रेवन्द चीनी, सब एक-एक तोला, जवाखार, सज्जीखार, सूचल नमक नौ-नौ माशा, घीग्वारके रसमें खरल करके गोली बनायें, प्रातः-सायंकाल एक-एक गोली खायें, बादी और खट्टी चीजोंसे परहेज।

दर्द गुर्दा—

(१) संगबूद (पत्थरका बेर) को दूधमें उबालकर साफकर कूटकर सात दिन मूलीके रसमें खरलकर टिक्की बनाकर मिट्टीके बर्तनमें रखकर उसको सम्पुट करके आगमें रखकर भस्म बनायें। चार रत्ती शरबत नीलोफरके साथ खिलावें।

(२) खरबूजेके बीज नौ माशे, हिजरुलयहूद (पत्थरका वेर) साढ़े तीन माशे, खार खुश्क सात माशे, तुख्म खयारैन नौ माशे, राई छः माशे, पानीमें घोट-छानकर पिलावें।

(३) पोदीना सूखा हुआ धतूरेके पत्ते सूखे हुए दस दस माशे, पीपलके पेड़का दूध १६ बूँदमें मिलाकर तम्बाकूकी तरह चिलममें रखकर पिलावें। उसी वक्त आराम होगा।

जोड़ोंका दर्द—

बड़ी हरड़का गूदा, काली हरड़, बादियान, पीपल, दार-फिलफिल, काला जीरा, करंजुआका गूदा, एक-एक तोला बारीक करके पाँच तोला मुनक्केमें पीसकर चने बराबर गोली बनावें। एक माशासे तीन माशेतक पानीके साथ।

बंद पेशाबका खोलना—

(१) गोखुरू, इन्द्रजौ, सोयेके बीज एक-एक तोला, पाषानभेद दो तोला सबको कूटकर एक सेर पानीमें औटा लो। दिनमें दो-तीन बार दो रत्ती पत्थर बेरकी भस्म दो रत्ती जवाखारके साथ पावें। (अनुभूत)

(२) कलमी शोरा एक तोला, तुख्म खियारैन चार माशे, छोटी इलायचीके दाने दो माशे, दक्षिणी मिर्च दो माशे, सीतल चीनी चार माशे, सबको पीसकर एक सेर पानीमें छानकर दो छटाक सफेद खाँड़ डालकर कई बार पिलावे, पेशाब जोरके साथ आयेगा।

टेसूके फूल उबालकर पेड़ूपर लेप करे।

(३) राई, कलमी शोरा, मिसरी, सम भाग पीसकर पानीके साथ दिनमें दो बार दें। पेड़ूपर कलमी शोरेका लेप करें।

रुक-रुककर पेशाब आना—

बड़ी हड़का गूदा, गोखुरू, अमलतासका गूदा, पाषानभेद, दमासा—धनिया, इनका काढ़ा पिलावे।

वायुगोला—

एलुआ, खीलसुहागा, काली मिर्च, हींग, काला नमक, सबको घीगुवारके गूदेमें खरल करके चना बराबर गोली बनावें। एक गोली पानीके साथ। (अनुभूत)

पेटके कीड़े—

(१) अरंड ककड़ीके बीज पाँच या सात ताजा पानीके साथ खिलानेसे सब कीड़े मर जाते हैं। पाँच दिनमें आराम हो जाता है।

(२) आड़ू, अनार और नीमके पत्तोंको पीसकर अथवा अकेले आड़ूके पत्तोंको पीसकर खिलानेसे पेटके कीड़े मर जाते हैं। (अनुभूत)

(३) विडंगचूर्ण आधा तोला शहदके साथ।

दिमागके कीड़े—

इस रोगका कष्ट देखनेवालेको भी असह्य हो जाता है। उसका एक अनुभूत नुसखा—

खरगोशकी मैंगनीको गुड़में लपेटकर निगलावे, ऊपरसे चादर मुँहतक ओढ़कर धूपमें बैठावे। कीड़े स्वयं थोड़ी देरमें निकलना आरम्भ हो जायँगे, जब इनका निकलना बंद हो जाय तब उठ जाय। एक दिन छोड़कर फिर तीसरे दिन इसी तरह खिलावे, जब कीड़े निकलना बंद हो जाय, तब इसे खिलाना बंद कर दें।

फीलपा, गजपा, Elephantiasis

पुरी आदि स्थानोंमें अधिक होता है ।

१ सदासुहागन २ रामगट्टो ३ अमरवेल ४ दहीको मट्ठो ५ जमोको ढाकन ६ घरको राख गजचर्मको यही उपाय। १ हल्दी, २ आँवला, ३ आकाशवेल, ४ छाछ (मट्ठा), ५ चिरचिरा, ६ चूल्हे आदिके ऊपरकी छतमें जमा हुआ धुँआ । सब सम-भाग लेकर चूर्णकर मट्ठेमें मिलाकर नीम गर्म करके लेप करें । गजचर्मके लिये अनुभूत दवा ।

गठियाका नुसखा—

(१) सोंठ एक तोला, पीपल छोटी एक तोला, मदारके पेड़का गूदा एक तोला, कुचला शुद्ध दो तोले - इन सबको सेंजनेके पत्तोंके रसमें खरल करके मटर बराबर गोली बनायें, प्रातः-सायंकाल एक-एक गोली गौके दूधके साथ खाय ।

(२) धतूरेका फल तीन तोला, अजवायन, सोंठ, छोटी पीपल, कायफल, कड़वी तम्बाकू, बचनाक, अफीम, जायफल, सब एक-एक तोला, केसर खालिस छः माशे सबको कूटकर दो सेर पानीमें पकावें । जब आध सेर रह जाय, तब मल-छानकर एक सेर सरसोंके तेलमें मिलाकर फिर पकावें, जब सिर्फ तेल रह जाय, तब छानकर बोतलमें रखकर एक तोला मुश्ककाफूर मिलावें, दिनमें दो बार मालिश करें ।

(३) शिंगरफ रूमी एक तोला, भंगकी लुग्धीमें रखकर ऊपरसे धागा बाँधकर कढ़ाईमें अलसीके तेलमें पकावें जब भंग जलकर राख हो जावे तब निकालकर भंगको पृथक् कर दें । इस प्रकार चालीस बार करें । फिर शिंगरफकी डलीको पीसकर रख लें । आधी रत्ती मलाईके साथ खिलावें ।

(४) ईसबगोल एक तोला, खशखशके डोड़े एक तोला, दोनोंको पीसकर एक तोला रोगनगुल खालिस और कुछ पानी डालकर पकावें । दर्दवाले स्थानपर बाँध दें । (अनुभूत)

आँखके रोग—

(१) कलमी शोरा दो तोला, नमक शीशा दो तोले, पहिले शोरेको बारीककर कटोरेमें बिछायें । उसके ऊपर नमक शीशा बारीक किया हुआ बिछायें । हल्की आँचपर कटोरेको रख दें । जब नमक काला हो जाय, तब उतारकर खरल करके शीशीमें रख लें, सलाईसे लगायें । आँखकी धुन्ध, खुजली, रतौंध, पानी आना, सुर्खी, दुखने आदिके लिये लाभदायक है ।

(२) भलावा भुना हुआ दो तोले, फिटकरी भुनी हुई एक तोला, खरल करके रख लें । आँखके जाले एवं फूलके लिये लगावें ।

(३) काले गधेकी दाढ़ गुलाबके अर्कमें घिसकर फूले और जाले हटानेके लिये लगावें । (अनुभूत)

(४) आँखके फूलेके लिये — आकके दूधके साथ जलाई हुई नीलेथोथेकी भस्म शहदके साथ सलाईसे लगावें ।

(५) आँखकी ज्योति बढ़ानेके लिये—सीसा, राँगाका बुरादा और पारा सममाग एक खोखले वेलमें बंद करके खूब अच्छी प्रकार डाट लगाकर बंद कर दें उसको खूब हिलाते रहें । चालीस दिनके पश्चात् इसको निकालकर खूब खरल करके सोने या चाँदीकी सलाईसे आँखोंमें लगावें ।

(६) रतौंध— पीपल गोमूत्रमें घिसकर आँखोंमें लगावें ।

(७) मोतियाबिन्द—तम्बाकू और नीलके बीज समभाग पीसकर लगावें ।

(८) आँखके पलकके अंदरका बाल—पुराना गुड़ और सिन्दूर सम भाग मिलायें। बाल उखाड़कर तीन-चार बार लगावें। (अनुभूत)

(९) नीमकी कोंपलको गायके घीमें भूनकर मरहम बनाकर लगावें।

(१०) आँख दुखने और लालीके लिये—अफीम, फिटकरी, रसौत और गोंदका पलास्टर दुखती आँखकी कनपटीपर लगावें। खट्टे अनारका रस एक तोला, मिश्री तीन माशे मिलाकर दो-दो बूँद दोनों समय आँखमें डालें। सरसके बीज एक तोला, मिश्री एक तोला पीसकर तीन माशे शहद मिलाकर चाटें। रसौत और छोटी हड़ घिसकर लगावें।

(११) आँखोंके रोहे—चाकसूको उबालकर अंदरका बीज निकालकर बारीक पीसकर आँखमें लगावे।

(१२) आँख और दिमागकी कमजोरी दूर करनेके लिये त्रिफलापाक और आँवलापाक।

त्रिफलापाक—त्रिफला आधा सेर, शुद्ध शिलाजीत छः माशे, केशर छः माशे, सौंठ, काली मिर्च, पीपल, गोखरू, छोटी इलायची, मोथा, तज, पत्रज, पोखरमूल, चित्रक—एक-एक तोला, धनिया छिला हुआ ढाई तोला।

विधि - त्रिफलेको कूट कपड़छान करके आधा सेर पानीमें भिगो देना चाहिये। जब त्रिफला पानीमें भीगकर भली प्रकार फूल जाय तब पावभर गायके घीमें मन्दी-मन्दी आँचपर कढ़ाईमें भून लिया जाय। कढ़ाईको नीचे उतारकर रख लिया जाय, एक सेर मिसरीकी चाशनी बनाकर शुद्ध शिलाजीतसे लेकर धनियातककी चीजें जो पहिले कूट कपड़छान करके रक्खी थीं, चाशनीमें त्रिफला मिलानेके पश्चात् डालकर भली प्रकार मिला ली जायँ। जब अच्छी तरह मिल जायँ, तब पावभर शहद मिला दिया जाय, बस त्रिफला पाक तैयार हो जायगा। एक-एक तोला सुबह और शाम या अपनी-अपनी शक्ति-अनुसार केवल एक ही समय एक तोला गर्म किये हुए दूधके साथ सेवन करें। यह त्रिफला-पाक नेत्रकी ज्योति और दिमागकी कमजोरी और प्रमेहके लिये लाभप्रद है।

आँवलापाक—आँवलाचूर्ण चालिस तोला, मिश्री ४ सेर, सौंठ ४ तोला, पीपल ४ तोला, सफेद जीरा ४ तोला, धनिया २ तोला, छोटी इलायची २ तोला, तेजपात २ तोला, काली मिर्च २ तोला, दालचीनी २ तोला, चाँदीके वर्क २५ नग।

विधि—आधा सेर आँवलेका चूर्ण कपड़छान करके पाँच सेर गायके शुद्ध दूधमें भिगो दो। फिर भली प्रकार फूल जानेपर उस आँवले मिले हुए दूधका कलईदार बर्तन या कढ़ाईमें मावा बना लिया जाय। फिर कढ़ाई नीचे उतारकर उसमें ४ सेर मिश्रीकी कुछ ढीली बनी हुई चाशनी मिला दो। इसके पश्चात् सौंठसे दालचीनीतककी चीजें कूट-छानकर कढ़ाईमें मिला दो। फिर चाँदीके वर्क मिला दो। ज्यादा गर्म चाशनीमें नहीं मिलाना चाहिये। बस आँवलापाक तैयार हो गया। एक तोला सुबह और एक तोला शामको सेवन करें।

(१३) आँखोंकी ज्योति बढ़ानेके लिये तामेश्वरी सुरमा—शुद्ध ताँबा २ तोला लेकर उसकी बारीक पत्ती करके बहुत छोटे-छोटे टुकड़े (जैसे सुनार टाँकेके करते हैं) करके, एक छटाक फिटकिरीको पीसकर, कागजी नीबूका रस एक पाव, सबको एक बोतलमें डाल दें। बोतलको आधा खाली रखें और ४० दिनतक होशियारीसे ऊँची ताख आदिपर रखें। प्रतिदिन प्रातःकाल केवल एक बार उल्टी फिर सीधी करके बोतलको सावधानीसे रख दें। चालीस दिनके बाद इन सब चीजोंको बोतलसे निकालकर

खरलमें घुटाई करें। जब सुरमे बारीक हो जायँ तो उस लुगदीको लोहेकी कढ़ाईमें बहुत हलकी आँचपर रखकर घुटाई करें। जब बिल्कुल सुरमेकी तरह हो जाय तो बारीक कपड़ेमें छान लें। जो कुछ छाननेसे बचे उसे फेंक दें। रातको सोते समय चाँदी या जस्तेकी सलाईमें थोड़ा-सा लेकर आँखमें लगाकर सो जाय। (अनुभूत)

(१४) आँखकी ज्योति बढ़ाने तथा सब प्रकारके विकारोंको दूर करनेके लिये साधुओंका एक (गुप्त) अति उत्तम अनुभूत सुरमा—

भीमसेनी कपूर २ तोला, रसकपूर २ तोला, बीकानेरी मिश्री आठ तोला। दो छोटे अंदरसे कलई किये हुए भगोने अथवा ऐसे ही कोई अन्य दो बर्तन कलईके लें। उनमेंसे एकमें मिश्रीको दरदरी कर उसके अंदर रसकपूर और भीमसेनी सुरमा दरदरा पीसकर रख दें। उसके अंदर दूसरा भगोना रखकर दोनोंके जोड़ोंको खूब अच्छी तरहसे कपड़े और मुल्तानी मिट्टीसे सम्पुट कर दें। एक छोटा-सा चूल्हा बनाकर उसके अंदर एक बड़े मिट्टीके दीपकमें सरसोंका तेल डालकर खूब मोटी बत्ती जलावें। चूल्हेके ऊपर सम्पुट किये हुए भगोनोंको इस प्रकार रखें कि नीचेके भगोनेके तलेमें उस दीपककी आँच अच्छी तरह लगती रहे। हर पंद्रह मिनटके बाद बत्तीका गुल काटते रहें और भगोनेके तलेमें जमते हुए कालिखको हटाते रहें, जिससे दीपककी आँच भली प्रकार अपना कार्य कर सके। इस प्रकार सत्रह घंटे आँच देते रहें। उसके पश्चात् उतारकर ठंढे होनेपर ऊपरके भगोनेमें जो रसकपूर और भीमसेनी कपूर उड़कर जम गया हो उसको खुरचकर एक साफ शीशीमें रख लें। उसमेंसे बहुत थोड़ा सलाईकी नोकमें लेकर आँखमें लगावें। सूजाक और दमेके रोगमें भी इसके दो चावल मलाई या मक्खनके साथ खाना बहुत लाभदायक है (अनुभूत)।

कानका दर्द—

लहसनका रस ढाई तोला, अफीम दो रत्ती, दस तोले सरसों या तिलके तेलमें पकाकर छानकर कानमें डाले। गेंदेके फूलका रस कानमें डाले अथवा गोमूत्र कानमें डाले।

मुँहके छाले—

तरबूजके छिलके जलाकर लगावें।

दिलकी धड़कनके लिये—

(१) भस्म मूँगा सेवतीके गुलकन्द या मुरब्बा सेवके साथ।

पागलपन या उन्मादकी अनुभूत दवा—

धवलबरुआ जिसको श्वेत बरुआ तथा सर्पगन्धा भी कहते हैं, जो बड़ी वैदिक फारमेसीसे मिल सकती है, उसका चूर्ण चार माशे; खालिस गुलाबके अर्क एक छटाकमें १२ घंटे भिगोकर सात काली मिर्चके साथ पीसकर प्रातः एवं सायंकाल दोनों समय बिना छाने पिलावे। खटाई, लाल मिर्च, गुड़, तेल और गर्म खुश्क चीजोंका सख्त परहेज। घी, दूध, मक्खन-मलाई अधिक-से-अधिक मात्रामें। (अनुभूत)

कई बड़ी फार्मेसियोंमें इसकी गोलियाँ सर्पेना पिल्स (Serpna pills) नामसे बनायी जाने लगी हैं।

नींदका न आना (१) धवलबरुआ एक माशे बादामके शीरे या दूधके साथ सोते समय। अथवा सर्पना पिल लें।

(२) पीपलामूल एक माशा पुराना गुड़ एक माशेमें मिलाकर सोते समय दूध या शीरा बादामके साथ।

बुद्धिवर्धक एवं उन्माद दूर करनेके लिये— सरस्वती चूर्ण, वच, ब्राह्मी, गिलोय, सोंठ, सतावर, शंखपुष्पी, वायविडंग, अपामार्गकी जड़ समभागका कपड़छान किया हुआ चूर्ण दो-तीन माशे शहद या घीके साथ।

नहरुवा—

प्रतिदिन दो आना भर कपूर आध पाव दहीमें घोलकर तीन दिनतक लें।

कायाकल्प तथा पारा आदि रसायनका यौगिक रूपसे प्रयोग करानेवाले अनुभवी इस समय दुर्लभ हैं। इसलिये क्रियात्मिकरूपसे अनुपयोगी और अनावश्यक समझकर उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया गया।

यहाँ साधकों तथा पाठकोंके हितार्थ केवल पारा बाँधनेकी एक अनुभूत सरल और गोपनीय विधि लिखी जाती है—

पारा बाँधना—पारा एक तोला, नीलाथोथा अर्थात् तूतिया एक तोला; नीलाथोथाको पीसकर आधा कढ़ाईमें रख दें, उसके ऊपर पारा रखकर बाकी आधा तूतिया रख दें। दो छटाक पानी उसमें डालकर कढ़ाईको तेज आँचपर रख दें, नीमकी लकड़ीसे उसको इस प्रकार घोटें जिस प्रकार हलुआको कड़छीसे घोटते हैं। पानी जल जानेपर कढ़ाईको तुरंत नीचे उतार लें और दूसरे शुद्ध पानीसे धो डालें। तत्पश्चात् अङ्गुलियोंसे पारेको इकट्ठा करके गोलियाँ बना लें। चार-पाँच घंटे पश्चात् पारा धातु-जैसा सख्त हो जायगा। शीशेके गिलास और कटोरोंके अंदर इस मुलायम पारेको लपेटनेसे पारेके गिलास और कटोरे भी बन सकते हैं। जिनको दूध आदि पीनेके कार्यमें प्रयोग किया जा सकता है। किंतु ये बर्तन बहुत भारी होंगे।

पारेको पहिले नीबूके रस या सेंधा नमकमें खरल करके तह किये हुए कपड़ेमें छान लेना चाहिये। इसीसे वह शुद्ध हो जायेगा।

(यह प्रकरण हमने आवश्यकतानुसार काम निकालने और जानकारीके उद्देश्यसे दिया है। साधकोंकी केवल ओषधि आदि शारीरिक बातोंमें ही अधिक प्रवृत्ति न होनी चाहिये।)

इति पातञ्जलयोगप्रदीपे द्वितीयः साधनपादः समाप्तः ॥

विभूतिपाद

पहले पादमें योगका स्वरूप उत्तमाधिकारीके लिये, दूसरेमें उसके साधन मध्यमाधिकारीके लिये वर्णन करके अब तीसरेमें उसका फल विभूतियाँ, अश्रद्धालुको श्रद्धापूर्वक उसमें प्रवृत्त करनेके लिये दिखाते हैं। साधनपादमें योगके पाँच बहिरङ्ग साधन यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार बतलाये थे। इस पादमें उसके अन्तरङ्ग धारणा, ध्यान, समाधिका निरूपण करते हैं। इन तीनोंको मिलाकर 'संयम' कहा जाता है। इनका विनियोग इस पादमें बतायी हुई विभूतियोंके साथ है, इसी कारण इसको इस पादमें वर्णन किया है।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

शब्दार्थ—देश = देशविशेषमें; बन्धः = बाँधना; चित्तस्य = चित्तका (वृत्तिमात्रसे); धारणा = धारणा कहलाता है।

अन्वयार्थ—चित्तका वृत्तिमात्रसे किसी स्थानविशेषमें बाँधना 'धारणा' कहलाता है।

व्याख्या—चित्त बाहरके विषयोंको इन्द्रियोंद्वारा वृत्तिमात्रसे ग्रहण करता है। ध्यानावस्थामें जब प्रत्याहारद्वारा इन्द्रियाँ अन्तर्मुख हो जाती हैं, तब भी वह अपने ध्येय-विषयको वृत्तिमात्रसे ही ग्रहण करता है। वह वृत्ति ध्येयके विषयके तदाकार होकर स्थिर रूपसे भासने लगती है। अर्थात् स्थिररूपसे उसके स्वरूपको प्रकाशित करने लगती है।

देश—जिस स्थानपर वृत्तिको ठहराया जाय, वह नाभि, हृदय कमल, नासिकाका अग्रभाग, भ्रुकुटी, ब्रह्मरन्ध्र आदि आध्यात्मिक देशरूप विषय हो अथवा चन्द्र, ध्रुव आदि कोई बाह्य देशरूप विषय हो, इसीको ध्येय कहते हैं अर्थात् जिसमें ध्यान लगाया जाय।

बन्ध—अन्य विषयोंसे हटाकर चित्तको एक ही ध्येय विषयपर वृत्तिमात्रसे ठहराना।

इस प्रकार आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदिद्वारा जब चित्त स्थिर हो जाय, तब उसको अन्य विषयोंसे हटाते हुए एक ध्येय विषयमें वृत्तिमात्रसे बाँधना अर्थात् ठहराना धारणा कहलाता है।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ—तत्र = उसमें; प्रत्यय = वृत्तिका; एकतानता = एक-सा बना रहना; ध्यानम् = ध्यान है।

अन्वयार्थ—उसमें वृत्तिका एक-सा (घटोऽयं घटोऽयम् आदि) बना रहना ध्यान है।

व्याख्या—तत्र = उस प्रदेश अर्थात् ध्येय-विषयमें जिसमें चित्तको वृत्तिमात्रसे ठहराया है।

प्रत्यय = ध्येयकी आलोचना करनेवाली वृत्ति अर्थात् वह वृत्ति जो धारणामें ध्येयके तदाकार होकर उसके स्वरूपसे भासती है।

एकतानता = एक-सा बना रहना अर्थात् उस ध्येय आलम्बनवाली वृत्तिका समान प्रवाहसे लगातार उदय होते रहना और किसी अन्य वृत्तिका बीचमें न आना।

धारणामें चित्त जिस वृत्तिमात्रसे ध्येयमें लगता है, जब वह वृत्ति इस प्रकार समान प्रवाहसे लगातार उदय होती रहे कि दूसरी कोई और वृत्ति बीचमें न आये, तब उसको ध्यान कहते हैं।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—तदेव = वही ध्यान; अर्थमात्रनिर्भासम् = अर्थमात्रसे भासनेवाला; स्वरूपशून्यम् इव = स्वरूपसे शून्य-जैसा; समाधिः = समाधि कहलाता है।

अन्वयार्थ—वह ध्यान ही समाधि कहलाता है, जब उसमें केवल ध्येय अर्थमात्रसे भासता है और उसका (ध्यानका) स्वरूप शून्य-जैसा हो जाता है।

व्याख्या—पूर्वोक्त ध्येयविषयक ध्यान ही अभ्यासके बलसे जब अपने ध्यानाकार रूपसे रहित-जैसा होकर केवल ध्येय स्वरूप-मात्रसे अवस्थित होकर प्रकाशित होने लगे तब वह समाधि कहलाता है। ध्यानावस्थामें जो ध्येय आलम्बनवाली वृत्ति, समान प्रवाहसे उदय होती रहती है, वह ध्यातृ, ध्यान और ध्येय तीनोंसे मिश्रित रहती है अर्थात् वह तीनोंमें तदाकार होती हुई ध्येयके स्वरूपसे भासनेवाली होती है। इसी कारण उसमें ध्यातृ और ध्यान दोनों बने रहते हैं। इन दोनोंके बने रहनेसे ध्येयाकार वृत्ति अपने ध्येय विषयको सम्पूर्णतासे नहीं प्रकाशित करती। जितना ध्यान बढ़ता जाता है उतनी ही उस वृत्तिमें ध्येय स्वरूपाकारता बढ़ती जाती है और ध्यातृ तथा ध्यान उसके प्रकाशन करनेमें अपने स्वरूपसे शून्य-जैसे होते जाते हैं। जब ध्यान इतना प्रबल हो जाय कि ध्यातृ और ध्यान अपने स्वरूपसे सर्वथा शून्य-जैसे होकर ध्येय-स्वरूपमात्रसे भासने लगें और ध्येयका स्वरूप ध्यातृ और ध्यानसे अभिन्न होकर ध्येयाकारवृत्तिमें सम्पूर्णतासे भासने लगे तो ध्यानकी इस अवस्थाको समाधि कहते हैं।

'अर्थमात्रनिर्भासं' में 'मात्र' पदसे यह बात बतलायी है कि ध्यानमें ध्येयका भान होता है, ध्येय-मात्रका नहीं। किंतु समाधिमें ध्यान ध्येयमात्रसे भासता है और इस शङ्काके मिटानेके लिये कि ध्यानके अधीन ही ध्येयका भान होता है, समाधिमें यदि ध्यान स्वरूपसे शून्य हो जाता है तो ध्येयका भान किस प्रकार हो सकता है, (स्वरूपशून्यम् इव) 'इव' पद दिया है अर्थात् समाधिकी अवस्थामें ध्यानका सर्वथा अभाव नहीं होता, किंतु ध्येयसे अभिन्नरूप होकर भासनेके कारण स्वरूपसे शून्य-जैसा हो जाता है, न कि वास्तवमें स्वरूपशून्य हो जाता है।

श्रीभोज महाराज समाधिका अर्थ इस प्रकार करते हैं—

'सम्यगाधीयत एकाग्री क्रियते विक्षेपान्परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः'

'जिसमें मन विक्षेपोंको हटाकर यथार्थतासे धारण किया जाता है अर्थात् एकाग्र किया जाता है, वह समाधि है।'

विशेष वक्तव्य ॥ सूत्र ३ ॥—योगके अन्तिम तीन अङ्गों—धारणा, ध्यान और समाधिमें समाधि अङ्गी है और धारणा, ध्यान उसके अङ्ग हैं। जब किसी विषयमें चित्तको ठहराया जाता है, तब चित्तकी वह विषयाकारवृत्ति त्रिपुटीसहित होती है। तीन आकारोंके समाहार अर्थात् इकट्ठे होनेका नाम त्रिपुटी है। वह त्रिपुटी ध्यातृ, ध्यान और ध्येयरूप है। ध्यातृ-ध्यान करनेवाला आत्मासे प्रकाशित चित्त है। चित्तकी यह वृत्ति जिसके द्वारा विषयका ध्यान होता है, ध्यान है और ध्यानका विषय ध्येय है। किसी विषयमें चित्तको ठहराते समय उस विषयाकार वृत्तिमें त्रिपुटीका इस प्रकार अलग-अलग भान होता है कि मैं ध्यान कर रहा हूँ। यह ध्यान है, इस विषयका ध्यान हो रहा है।

धारणा—जबतक त्रिपुटीसे भान होनेवाली इस विषयाकारवृत्तिका समान प्रवाहसे बहना आरम्भ

न हो; किंतु व्यवधानसहित विच्छिन्न हो अर्थात् इस वृत्तिके बीच-बीच अन्य वृत्तियाँ भी आती रहें तबतक वह धारणा कहलायेगी।

ध्यान—जब यह त्रिपुटीसे भान होनेवाली विषयाकारवृत्ति व्यवधानरहित हो जाय अर्थात् अन्य विजातीय वृत्तियाँ बीच-बीचमें न आवें, किंतु सदृश वृत्तियोंका प्रवाह बना रहे तबतक वह ध्यान कहलाता है।

समाधि—जब इस ध्यान अर्थात् व्यवधानरहित त्रिपुटीसे भासनेवाली विषयाकारवृत्तिमें त्रिपुटीका भान जाता रहे और ध्यातृ तथा ध्यान भी विषयाकार होकर अपने स्वरूपसे शून्य-जैसे भासने लगें अर्थात् जब यह भान न रहे कि मैं ध्यान कर रहा हूँ, यह ध्यानकी अवस्था है, किंतु केवल ध्येय विषयके स्वरूपका ही भान होता रहे तब यह समाधि कहलाती है।

पहले पादसे इसी त्रिपुटीको सवितर्क और निर्वितर्क समापत्तिमें ध्येयविषयक शब्द, अर्थ और ज्ञानसे बतलाया गया है।

शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।

(१।४२)

शब्द, अर्थ और ज्ञानके विकल्पोंसे संयुक्त सवितर्क समापत्ति कहलाती है।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।

(१।४३)

स्मृतिके परिशुद्ध होनेपर स्वरूपसे शून्य-जैसे केवल अर्थमात्र (ध्येयमात्र) से भासनेवाली निर्वितर्क समापत्ति कहलाती है।

इसलिये सवितर्क समापत्तिको ध्यानकी ही एक अवस्था और निर्वितर्क समापत्तिको समाधिकी अवस्था समझनी चाहिये।

यह सम्प्रज्ञात योग अथवा सबीज समाधि है, क्योंकि यद्यपि इसमें त्रिपुटीका अभाव हो जाता है तथापि संसारका बीज विषयके ध्येयाकार वृत्तिरूपसे विद्यमान रहता है। जब इस ध्येयाकार वृत्तिका भी अभाव हो जाय, तब सब वृत्तियोंके निरोध हो जानेपर असम्प्रज्ञात योग अथवा निर्बीज समाधि होती है।

सङ्गति—पूर्वोक्त धारणादि तीनों योगाङ्गोंका एक शब्दसे व्यवहार करनेके लिये अपने शास्त्रमें पारिभाषिकी संज्ञा करनेको यह सूत्र है—

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—त्रयम् = तीनों (धारणा, ध्यान, समाधि) का; एकत्र = एक विषयमें होना; संयमः = संयम कहलाता है।

अन्वयार्थ—तीनों (धारणा, ध्यान और समाधि) का एक विषयमें होना संयम कहलाता है।

व्याख्या—समाधि अङ्गी है और धारणा, ध्यान उसके अङ्ग हैं। धारणा और ध्यान समाधिकी ही प्रथम अवस्था है। विभूति आदिमें इन तीनोंकी ही आवश्यकता होती है। इसीलिये योग-शास्त्रकी परिभाषामें इन तीनोंके समुदायको संयम कहा जाता है। जब धारणा, ध्यान और समाधि एक ही विषयमें करनी हों तब उसकी संयम संज्ञा होती है अर्थात् उसको संयम शब्दसे कहते हैं।

सङ्गति—संयमके अभ्यासका फल बतलाते हैं।

तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—तज्जयात् = उस संयमके सिद्ध होनेसे; प्रज्ञा = समाधि-प्रज्ञाका; आलोकः = प्रकाश होता है।

अन्वयार्थ—उस (संयम) के जयसे समाधि-प्रज्ञाका प्रकाश होता है।

व्याख्या—तज्जय = संयमजय = अभ्यासके बलसे संयमका दृढ़ = परिपक्व हो जाना संयम-जय है।

प्रज्ञालोक = अन्य विजातीय प्रत्ययोंके अभावपूर्वक केवल ध्येय-विषयक शुद्ध, सात्त्विक प्रवाह-रूपसे बुद्धिका स्थिर होना प्रज्ञालोक है।

जब संयम अर्थात् धारणा, ध्यान समाधिको एक विषयपर ऊपर बतलाये हुए प्रकारसे लगानेका अभ्यास परिपक्व हो जाय, तब समाधि-प्रज्ञा उत्पन्न होती है, जिससे ध्येयका ज्ञान यथार्थरूपसे होने लगता है और नाना प्रकारकी विभूतियाँ सिद्ध होने लगती हैं। अन्तमें विवेकख्यातिका साक्षात् होने लगता है।

सङ्गति—संयमका उपयोग—

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—तस्य = उस संयमका; भूमिषु = भूमियोंमें; विनियोगः = विनियोग करना चाहिये।

अन्वयार्थ—उस संयमका भूमियोंमें विनियोग करना चाहिये।

व्याख्या—भूमिसे अभिप्राय चित्तभूमिसे है और विनियोगके अर्थ लगानेके हैं अर्थात् उस संयमका स्थूल-सूक्ष्म आलम्बन भेदसे रहती हुई चित्तकी वृत्तियोंमें विनियोग करना चाहिये। चित्तकी स्थूल वृत्तिवाली भूमि जो नीची भूमि है प्रथम उसको विजय करना चाहिये, फिर उससे ऊँची सूक्ष्म वृत्तिवाली भूमिमें संयम करना चाहिये। नीची भूमियोंके जीते बिना ऊपरकी भूमियोंमें संयम करनेवाला विवेक ज्ञानरूपी फलको नहीं प्राप्त होता। जैसे धनुर्धारी लोग पहले स्थूल लक्ष्यका वेधन करके फिर सूक्ष्मका वेधन करते हैं, वैसे ही योगीको चाहिये कि क्रमसे पहले वितर्क अनुगत, फिर विचार अनुगत, फिर आनन्द अनुगत और फिर अस्मिता अनुगत अथवा पहले ग्राह्य फिर ग्रहण फिर ग्रहीतृ इत्यादि प्रकारसे पहली-पहली भूमिको जीतकर ऊँची भूमियोंमें संयम करे, इस प्रकार विवेकज्ञानरूपी फल प्राप्त होता है। यदि ईश्वरके अनुग्रहसे योगीका चित्त पूर्व ही उत्तर भूमियोंमें लगने योग्य हो गया हो तो पूर्व भूमियोंमें लगानेकी आवश्यकता नहीं। 'चित्त किस योग्यताका है' इसका ज्ञान योगीको स्वयं योगद्वारा हो जाता है। जैसा कि कहा है—

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्तते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम्॥

पहिले-योगसे उत्तर-योग जाननेमें आता है और पहिले-योगसे उत्तर-योग प्रवृत्त होता है। इसलिये प्रमादसे रहित जो यत्नशील अभ्यासी है, वह पहिले-योगसे उत्तर-योगमें चिरपर्यन्त रमण करता है।

विशेष वक्तव्य—॥ सूत्र ६ ॥—वास्तवमें धारणा, ध्यान और समाधि तीनों एक ही संयमरूप क्रियाके भाग हैं अर्थात् किसी विषयमें चित्तको ठहरानेका नाम 'धारणा' है। जब देरतक लगातार चित्त इसमें ठहरा रहे, तब वही 'ध्यान' कहलायेगा; और जब वही ध्यान इतना सूक्ष्म और तल्लीनताके साथ हो जाय कि ध्यान करनेवालेको ध्येय विषयके अतिरिक्त और कुछ भी सुध-बुध न रहे, तब वही ध्यानकी अवस्था 'समाधि' कहलायेगी। यह संयमकी क्रिया चित्तके वशीकरण और आत्मोन्नति अर्थात् सारी आध्यात्मिक भूमियोंके विजयपर्यन्त विवेकख्यातिद्वारा असम्प्रज्ञात-समाधि अर्थात् स्वरूपावस्थितिके लाभार्थ

है। किंतु इसके दुरुपयोगद्वारा अधोगति तथा आत्म-अवनतिकी सम्भावना भी हो सकती है; क्योंकि सारी बातें प्रयोगपर ही निर्भर होती हैं। एक उत्तम-से-उत्तम वस्तु भी हानिकारक हो सकती है यदि उसका प्रयोग उचितरूपसे न किया जाय। साधारण मनुष्योंद्वारा बहुत-सी आश्चर्यजनक बातें, जिनके समझनेमें बुद्धि चकरा जाती है, इसी संयमकी सहायतासे की जाती हैं। यद्यपि करनेवाले और देखनेवाले दोनों इस बातसे अनभिज्ञ होते हैं। प्रत्येक वस्तु अपने सूक्ष्म रूपमें अधिक शक्तिकी उत्पादक होती है। जितनी सूक्ष्मता बढ़ती जाती है उतनी ही उसकी शक्तिमें भी वृद्धि होती जाती है। उदाहरणार्थ ओषधियोंके स्थूल रूपकी अपेक्षा उनके सत्त्वोंमें कई गुना बल बढ़ जाता है। धातुएँ अग्निद्वारा भस्म होकर अपने सूक्ष्म परमाणुरूपमें कितनी प्रभावशाली बन जाती हैं। स्थूल भूतोंके सूक्ष्म परमाणुओंमें जिस अद्भुत शक्तिका प्राचीन भारतीय दर्शनकारोंने वर्णन किया है उसका ज्ञान अब पाश्चात्त्य देशवालोंको भी होता जा रहा है। इनके सदुपयोगसे संसारकी अधिक-से-अधिक उन्नति और प्राणीमात्रका कल्याण हो सकता है, किंतु इनके दुरुपयोगका रोमाञ्चक उदाहरण भी हमारे समक्ष है। केवल गंधक, पारा, फौलाद तथा रेडियम (Radium) आदिके सूक्ष्म परमाणुओंसे बने हुए परमाणुबमद्वारा सारे अन्ताराष्ट्रिय नियमोंको उल्लङ्घन करते हुए हेरोशेमा और नागासाकी नामक जापानके नगरोंपर अमरीकाने जो उत्पात उत्पन्न किया है और युद्धसे सर्वथा असम्बन्धित लाखों स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध निरपराधी नागरिकों तथा करोड़ों प्राणधारियोंका जो प्राणहरण किया है और जो अकथनीय पीड़ा पहुँचायी है, उसका उदाहरण सारे भूमण्डलके इतिहासमें ढूँढ़े न मिल सकेगा। इन अमानुष राक्षसीय कार्योंद्वारा देशभक्त स्वतन्त्रता-प्रेमी मृत्युसे सर्वथा निर्भय वीर जापानियोंको अपनी अद्वितीय निर्भयता, वीरता और युद्ध-कला-कौशलको दिखलाये बिना शस्त्र डाल देनेपर विवश कर देनेसे अमरीका अपनेको सफल और कृतकृत्य भले ही समझ ले, किंतु भविष्यमें भूमण्डलके निष्पक्ष और तटस्थ इतिहास-लेखकोंके लिये यह चरित्र अमरीकाके सम्बन्धमें एक लाञ्छनका विषय बना रहेगा।

संयमको भी इसी प्रकार एक परमाणुबम समझ लेना चाहिये, जिसमें सब प्रकारकी अद्भुत शक्तियाँ हैं। कई स्थानोंमें इस बातको बतला आये हैं कि स्थूल भूतोंकी अपेक्षा सूक्ष्म भूत सूक्ष्मतर हैं। उनकी अपेक्षा तन्मात्राएँ और इन्द्रियाँ हैं और उनकी अपेक्षा अहंकार सूक्ष्मतर है और अहंकारकी अपेक्षा चित्त। चित्त—जो गुणोंका प्रथम विषम परिणाम है, संसारके सारे पदार्थोंकी प्रकृति होनेके कारण सब-के तदाकार हो सकता है तथा सबसे सूक्ष्म होनेके कारण सबमें प्रविष्ट होकर उनमें यथोचित परिणाम कर सकता है। संयममें चित्तका ही सारा खेल होता है। इसलिये विभूतिपादमें बतलायी हुई सारी सिद्धियाँ तथा अन्य सब प्रकारके अद्भुत चमत्कार संयमद्वारा किये जा सकते हैं। हिप्नोटिज्म, मैसमेरिज्म आदिमें एक प्रकारसे संयमहीका प्रयोग होता है। कई साधुओंके सम्बन्धमें कहा जाता है कि वे बिना टिकट रेलमें सफर करते हैं। माँगनेपर बहुत-से टिकट दिखा देते हैं और कोई-कोई ट्रेनको भी रोक देता है तथा कई, अघोरी मनुष्योंका मांस खाते हुए दृष्टिगोचर होनेपर मांसको कलाकन्दके रूपमें दिखला देते हैं। इनमें भी दृष्टिबन्ध (Sightism) सम्बन्धी तथा इंजिनकी गतिमें एक प्रकारसे संयम ही काम करता है, यद्यपि वे इस बातसे सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं। संयममें सबसे पहला और सबसे कठिन काम धारणा है। साधारण परिमित-ज्ञान और अल्प-बुद्धिवाले मनुष्योंको बेसिर-पैर और बेतुके मन्त्रों—यथा

'कांगरू देश कमक्षादेवी जहाँ बसे अजयपाल जोगी। अजयपाल जोगीने कुत्ते पाले चार, हरा, पीला, काला, लाल। इन कुत्तोंका डसा न मरे। जोगी अजयपालकी आन'। तथा अपरिचित भयानक शब्द यथा—'ह्रीं, क्लीं', इत्यादि अधिक प्रभावित कर देते हैं। इस अन्धविश्वासद्वारा वे उस विशेष विषय-सम्बन्धी धारणामें योग्यता प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार असभ्य जंगली जातियोंके कई परिवारोंमें विशेष मन्त्रोंके द्वारा विशेष धारणाएँ परम्परासे गुप्त चली आती हैं और वे उस कार्यको उस मन्त्रका ही परिणाम समझते चले आते हैं। उदाहरणार्थ एक बाजीगर तमाशा करनेवाला कहता है 'आकाशमें राक्षसों और देवताओंमें युद्ध हो रहा है। मैं देवताओंकी सहायताके लिये जाता हूँ। इस बीचमें आप मेरे परिवार और सामानकी रक्षा करनेकी कृपा करें।' वह एक रस्सी ऊपर आकाशमें फेंककर उसके द्वारा ऊपर चढ़ता हुआ दृष्टिसे ओझल हो जाता है। थोड़ी देरमें क्रमसे उसके हाथ, पैर, धड़, और सिर ऊपरसे पृथिवीपर गिरते हैं। उसकी स्त्री उनको लेकर सती हो जाती है। उसके कुछ ही समय पश्चात् वह बाजीगर नीचे उतरता है। राक्षसोंपर विजयके शुभ समाचार सुनाकर स्त्रीको तलाश करता है और दर्शकोंमेंसे मुख्य व्यक्तिकी कुर्सीके नीचेसे निकाल लाता है। इस सारे खेलकी जब फोटू ली गयी, तब वह बाजीगर आसन लगाये हुए अपने परम्परासे प्राप्त किये हुए एक विशेष मन्त्रका जप करता हुआ पाया गया, जिसमें इस सारे दृष्टिबन्ध-सम्बन्धी विषयके संयमकी धारणा थी।

एक समय एक जगह मुझे योगसम्बन्धी सात-आठ व्याख्यान (लैक्चर) देने थे। एक संन्यासी महात्मा उनसे प्रभावित होकर यह समझने लगे कि मैंने कभी पिशाच-सिद्धि की होगी अथवा मुझे पिशाच-सिद्धिकी किसी विशेष क्रियाका ज्ञान है। वे बड़ी श्रद्धा और नम्रतापूर्वक उसकी दीक्षाके लिये एकान्तमें मुझसे प्रार्थना करने लगे। बार-बार मना करनेपर भी मेरी इस प्रकारकी बातोंसे उपेक्षावृत्तिका उन्हें विश्वास नहीं होता था। उन्हींके हितार्थ उस दिन यह संयमकी विवेचना की गयी थी।

पिशाच-सिद्धि और भूत-सिद्धिके अभिलाषी कई प्रकारकी हिंसा करते हैं। मरघटादि भयभीत तामसी स्थानोंमें तामसी भावनावाले वेतुके मन्त्रोंसे भूत-पिशाचकी भावनामें धारणा करते हैं। ये सारी बातें अपने तामसी प्रभावसे चित्तको शीघ्रतम भूत-पिशाचाकारमें परिणत करनेके उद्देश्यसे की जाती हैं। इस तामसी भूत-पिशाचादिके आकारमें दृढ़ स्थिति होनेके पश्चात् इस प्रकारके संयमकी धारणाद्वारा कभी-कभी उनसे भूत-पिशाच-जैसे कार्य भी प्रकट होने लगते हैं।

उपर्युक्त सारी बातोंको परमाणु बमके सदृश संयमका दुरुपयोग समझना चाहिये। इस प्रकारकी बातोंको योग, सिद्धि अथवा चमत्कार और उनके करनेवालोंको योगी, सिद्ध और चमत्कारी पुरुष समझना भी अत्यन्त भूल है, प्रत्युत इन प्रयोगोंको घृणा और तिरस्कारकी दृष्टिसे और उनके प्रयोगकर्ताओंको उपेक्षा-वृत्तिसे देखना चाहिये, क्योंकि रेलमें बिना टिकट जाना एक प्रकारका स्तेय (चोरी) है और मांसभक्षण स्वयं हिंसारूपी पाप है। चोरीकी पुष्टि करनेवाली और हिंसाको छिपानेवाली कोई भी क्रिया योग, सिद्धि अथवा चमत्कार नहीं हो सकती और न उनका करनेवाला योगी, सिद्ध अथवा चमत्कारी पुरुष। इसी प्रकार चित्तको भूत अथवा पिशाचाकार और सूक्ष्म शरीरको पिशाच-वृत्तिमें परिणत करना मनुष्यत्वसे नीचे गिरकर अधोगतिको प्राप्त होना है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इस विषयको कितने सुन्दर शब्दोंमें वर्णन किया गया है—

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥
अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥

(१७ । ४—६)

सात्त्विक पुरुष देवताओंको पूजते हैं, राजस पुरुष यक्ष और राक्षसोंको और तामस पुरुष भूत और प्रेतोंको पूजते हैं। जो लोग दम्भ और अहंकारसे युक्त होकर कामना, आसक्ति और बलके अभिमानपर शास्त्रविरुद्ध घोर तप तपते हैं तथा जो मूर्ख शरीररूपसे स्थित भूतसमुदायको अर्थात् शरीर, इन्द्रिय और मन आदिके रूपोंमें परिणत हुए पाँचों पृथ्वी, जल आदि स्थूल भूतोंको और अन्तःकरणमें स्थित मुझ अन्तरात्माको भी व्यर्थ कष्ट देते हैं, उन अज्ञानियोंको आसुरी स्वभाववाला जान ॥४—६॥

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥*

(गीता ९ । २५)

देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, अर्थात् उनका चित्त देवताओंके स्वरूपको धारण करता है। पितरों (तथा यक्ष-राक्षस)को पूजनेवाले पितरों (तथा यक्ष-राक्षसों) को प्राप्त होते हैं, अर्थात् उनका चित्त पितर और यक्ष राक्षसोंके तदाकार हो जाता है। भूतोंको पूजनेवाले भूतों (और प्रेतों) को प्राप्त होते हैं, अर्थात् उनका चित्त भूतों-प्रेतों-जैसे तामसी स्वभावमें परिणत हो जाता है और शुद्ध परब्रह्म परमात्माके उपासक उसको प्राप्त होते हैं, अर्थात् वे शुद्ध परब्रह्म परमात्माके स्वरूपमें अवस्थित होते हैं।

सङ्गति—शङ्का—योगके आठ अङ्गोंमेंसे केवल पहले पाँच अङ्गोंका साधनपादमें वर्णन किया गया। धारणा, ध्यान और समाधिका क्यों नहीं किया ?

उत्तर—पहले पाँच अङ्ग समाधिके साक्षात् साधन नहीं बहिरङ्ग साधन हैं। धारणा, ध्यान, समाधि अन्तरङ्ग साधन हैं। इसलिये इनका विभूतिपादमें लक्षण किया। इसीको अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ— त्रयम् अन्तरङ्गम् = ये तीनों अन्तरङ्ग हैं; पूर्वेभ्यः = पहलोंसे।

अन्वयार्थ—पहलोंकी अपेक्षासे तीनों (धारणा, ध्यान और समाधि) अन्तरङ्ग हैं।

व्याख्या— पहले पादमें बताये हुए यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहारकी अपेक्षासे ये तीनों धारणा, ध्यान और समाधि सम्प्रज्ञात-समाधिके अन्तरङ्ग हैं अर्थात् साधनीय सम्प्रज्ञात-समाधिका जो विषय है वही धारणादिका विषय है, इसलिये समान विषय होनेसे ये धारणादि तीनों सम्प्रज्ञात-समाधिके अन्तरङ्ग हैं और यम-नियमादि पाँचों यद्यपि चित्तको निर्मल बनाकर योगके उपयोगी बनाते हैं

* यहाँ सांख्यकी निष्ठावाले अहङ्कारादेश 'माम् और मद्' शुद्ध परब्रह्म परमात्माके बोधक हैं। (विशेष षड्दर्शन-समन्वयके तीसरे और चौथे प्रकरणमें देखें)।

तथापि समान विषय न होनेसे बहिरङ्ग हैं, इसलिये इन पाँचोंको साधनपादमें और धारणादि तीनोंको विभूतिपादमें वर्णन किया।

सङ्गति—ये धारणादि तीनों भी निर्बीज-समाधिकी अपेक्षासे बहिरङ्ग हैं, यह अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—तत् अपि = वह (धारणा, ध्यान, समाधि) भी; बहिरङ्गम् = बाहरका अङ्ग है; निर्बीजस्य = असम्प्रज्ञात-समाधिका।

अन्वयार्थ—वह धारणा, ध्यान, समाधि भी असम्प्रज्ञात-समाधिका बाहरका अङ्ग है।

व्याख्या—ये धारणा, ध्यान, समाधि सम्प्रज्ञात-समाधिके अर्थात् सबीज-समाधिके अन्तरङ्ग हैं, पर असम्प्रज्ञात (निर्बीज समाधि) के ये भी बहिरङ्ग साधन हैं। अर्थात् जिस प्रकार यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार परम्परासे उपकारक होते हुए भी समान विषय न होनेसे सम्प्रज्ञात-समाधिके बहिरङ्ग साधन हैं, उसी प्रकार धारणा, ध्यान, समाधि परम्परासे उपकारक होते हुए भी समान विषय न होनेसे असम्प्रज्ञात-समाधिके बहिरङ्ग साधन हैं। उसका साक्षात् साधन पर-वैराग्य है। अर्थात् जो साधन साध्यके समान विषयवाला होता है अथवा जिस साधनके दृढ़ होनेके अनन्तर साध्यकी सिद्धि अवश्य ही हो, वह अन्तरङ्ग होता है। धारणा, ध्यानादि सालम्बन (किसीको आलम्बन = सहारा = ध्येय बनाकर) ध्येयरूप समान विषयवाले होते हैं और उनके दृढ़ होनेपर सम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है, इसलिये वे सम्प्रज्ञात-समाधिके अन्तरङ्ग हैं। किंतु असम्प्रज्ञात समाधि निरालम्बन (बिना आलम्बन = सहारा = ध्येयके) निर्विषय होती है और धारणादि संयमके दृढ़ होनेपर असम्प्रज्ञात योग अवश्य ही सिद्ध हो जाय, ऐसा भी कोई निश्चित नियम नहीं है। इसलिये निर्बीज समाधिके प्रति धारणादि तीनों बहिरङ्ग हैं। इसका अन्तरङ्ग पर-वैराग्य है जो निर्बीज समाधिके सदृश निरालम्ब और निर्विषय है और जिसके दृढ़ होनेपर असम्प्रज्ञात समाधि अवश्य ही सिद्ध होती है।

सङ्गति—अब यह शङ्का होती है कि गुणकी वृत्ति चलायमान है अर्थात् वह एक क्षण भी बिना परिणाम नहीं रहती। चित्त त्रिगुणात्मक है, निर्बीज समाधिमें जब चित्त निरुद्ध हो जाता है, तब उसका परिणाम कैसा होता है ? इसी शङ्काकी निवृत्तिमें अगले चार सूत्र हैं। परिणामोंका वर्णन तेरहवें सूत्रमें है। पर जबतक परिणामोंको ठीक-ठीक न जाँच लिया जाय उसके समझनेमें कठिनाई आयेगी। इस कारण उसका संक्षेपसे वर्णन करते हैं—

परिणाम तीन प्रकारके हैं—धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम, अवस्थापरिणाम। ये तीन परिणाम तीनों गुणोंसे उत्पन्न हुए सब द्रव्योंमें पाये जाते हैं। जिसमें ये परिणाम होते हैं उसको धर्मी कहते हैं और वे परिणाम धर्म कहलाते हैं। निरपेक्ष धर्मी केवल कारणरूप प्रकृति है। अन्य उसके सब विकार महत्तत्त्वसे लेकर पाँचों स्थूलभूतपर्यन्त सापेक्ष धर्मी हैं। इन धर्मियोंमें जिस प्रकार ये तीनों परिणाम होते हैं उनको उदाहरण देकर समझाते हैं—

१ धर्मपरिणाम—जैसे मिट्टीके गोले बनाकर कुम्भकार नाना प्रकारके बर्तन बनाता है, यहाँ मिट्टी द्रव्य धर्मी है, उसमें नाना प्रकारके बर्तनके आकार जो क्रमके बदलनेसे हो गये हैं, धर्म हैं। मिट्टी धर्मी ज्यों-

की-त्यों बनी रहती है, उसमें कोई परिणाम नहीं होता। यह बर्तनके आकार जो भिन्न प्रकारके क्रमके बदलनेसे बने हैं, उसके धर्म हैं। इनमेंसे एक धर्मका दबना, दूसरे धर्मका प्रकट होना मिट्टी धर्मीका धर्म-परिणाम कहलाता है।

२ *लक्षणपरिणाम*—ऊपर बतलाये हुए धर्मपरिणाममें बर्तन मिट्टीका एक नया आकार है। यह आकार उसमें छिपा हुआ था, अब प्रकट हो गया। ये बर्तनके आकार मिट्टीहीके धर्म हैं, जो उसमें छिपे रहते हैं। उस छिपे हुए धर्म (आकार) का प्रकट होना अर्थात् भविष्यसे वर्तमानमें आना लक्षण-परिणाम है। लक्षण-परिणाम कालभेदसे होता है। बर्तनका आकार प्रकट होनेसे पहिले धर्मी मिट्टीमें छिपा हुआ था। जबतक प्रकट नहीं हुआ था, तबतक वह अनागत (भविष्य) लक्षणवाला था; जब प्रकट हो गया, तब वर्तमान लक्षणवाला हो गया और जब टूटकर मिट्टीमें मिल गया, तब भूत लक्षणवाला हो गया। बर्तन तीनों कालमें मिट्टीमें वर्तमान है। भूत, भविष्यमें छिपे रूपसे, वर्तमानमें प्रकट रूपसे। इस प्रकार कालभेदसे धर्मीमें तीन लक्षण-परिणाम होते हैं—अनागत (भविष्य) लक्षण-परिणाम, वर्तमान लक्षण-परिणाम, अतीत (भूत) लक्षण-परिणाम।

३ *अवस्थापरिणाम*—ऊपर बतला आये हैं कि बर्तनका प्रकट होना उसका वर्तमान लक्षण-परिणाम है। यह बर्तन ज्यों-ज्यों पुराना होता जाता है त्यों-त्यों जीर्ण होता चला जाता है, यहाँतक कि एक समय इतना जीर्ण हो जाता है कि हाथ लगानेसे टूटने लगता है। यह जीर्ण होनेकी अवस्था प्रतिक्षण होती रहती है। इस कारण उसको अवस्था-परिणाम कहते हैं।

इन परिणामोंमें धर्म और लक्षण-परिणाम वस्तुके उत्पत्ति-समयमें होता है और अवस्था-परिणाम उसके अन्त होनेतक होता रहता है। अन्य कई दर्शनोंमें गुण और गुणीको धर्म और धर्मी कहा गया है, परंतु योगदर्शनमें धर्म, धर्मी शब्द कार्य-कारण अर्थमें लाये गये हैं।

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—व्युत्थान-निरोध-संस्कारयोः = व्युत्थानके और निरोधके संस्कारोंका; अभिभवप्रादुर्भावौ = दबना और प्रकट होना; निरोधक्षण-चित्त = यह जो निरोधकालमें होनेवाले चित्तका (दोनों संस्कारोंमें); अन्वयः = अनुगत अर्थात् सम्बन्ध होना है; निरोधपरिणामः = वह निरोध परिणाम कहा जाता है।

अन्वयार्थ—व्युत्थानके संस्कारका दबना और निरोधके संस्कारका प्रकट होना, यह जो निरोध-कालमें होनेवाले चित्तका दोनों संस्कारोंमें अनुगत होना है, यह निरोध-परिणाम कहा जाता है।

व्याख्या—व्युत्थान—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त—इन तीन पूर्वोक्त भूमियोंको व्युत्थान कहते हैं। यह एकाग्रता (सम्प्रज्ञात-समाधि) की अपेक्षासे व्युत्थान है। निरोध (असम्प्रज्ञात-समाधि) की अपेक्षासे एकाग्रता (सम्प्रज्ञात-समाधि) भी व्युत्थानरूप ही है। इसलिये व्युत्थान पदका अर्थ यहाँ एकाग्रता (सम्प्रज्ञात-समाधि) जानना चाहिये।

निरोध—व्याकरणकी रीतिसे यदि नि-पूर्वक रुध् धातुके आगे करणमें 'घञ्' 'प्रत्यय' मानें तो निरोध शब्दका अर्थ पर-वैराग्य होता है तथा पर-वैराग्यका संस्कार निरोध शब्दका अर्थ होता है;

और यदि भावमें प्रत्यय माने तो निरोध शब्दका अर्थ रुकना है। इसलिये सूत्रमें 'पहिले निरोध शब्दका अर्थ पर-वैराग्य है,' 'दूसरे निरोध शब्दका अर्थ किसी वृत्तिका उदय न होना अर्थात् सब वृत्तियोंका रुक जाना' और 'तीसरे निरोध पदका अर्थ पर-वैराग्यका संस्कार' जानना चाहिये।

अभिभव = छिपना = कार्य करनेकी सामर्थ्यसे रहित निर्बल रूपसे रहना। वर्तमानावस्थासे भूतावस्थामें जाना।

प्रादुर्भाव—अनागतावस्थासे वर्तमान कालमें प्रकटरूपसे आना।

निरोधक्षणचित्तान्वय— निरोधकालमें होनेवाले धर्मी चित्तका अपने धर्म व्युत्थान (एकाग्रता अर्थात् सम्प्रज्ञात-समाधि) और निरोध (पर-वैराग्य) के संस्कारोंमें अनुगत होना।

योगकी सिद्धियोंकी व्याख्या करनेकी इच्छासे सूत्रकार संयमका विषय शोधनेके लिये क्रमसे तीन परिणामोंको कहते हैं। इस सूत्रमें निरोध-परिणामका वर्णन है।

निरोध-परिणाम = चित्त त्रिगुणात्मक होनेसे परिणामी है। उसमें प्रतिक्षण वृत्तिरूप परिणाम हो रहा है। निर्बीज समाधिमें व्युत्थानकी सारी वृत्तियाँ रुक जाती हैं और एकाग्रता-वृत्ति भी नहीं रहती। तब उस निरोधक्षणवाले चित्तमें कैसा परिणाम उस समय होता है? इसको इस प्रकार समझाते हैं—

चित्त धर्मी है, व्युत्थान तथा एकाग्रताके संस्कार उसके धर्म हैं। ये संस्कार वृत्तिरूप नहीं हैं। जैसा कि व्यासभाष्यकारने कहा है—

व्युत्थानसंस्काराश्चित्तधर्मा न ते प्रत्ययात्मकाः। इति प्रत्ययनिरोधे न निरुद्धाः।

व्युत्थानके संस्कार चित्तके धर्म हैं, प्रत्ययात्मक अर्थात् वृत्तिरूप नहीं हैं। इसलिये वृत्तियोंके निरोध होनेपर भी इनका निरोध नहीं हो सकता।

इसलिये वृत्तियोंके रुकनेपर ये संस्कार नहीं रुकते, धर्मी-चित्तमें बने रहते हैं। इसी प्रकार निरोध (पर-वैराग्य) के संस्कार भी चित्तके धर्म हैं। इन दोनों संस्काररूपी धर्मोंमेंसे एक धर्मका दबना, दूसरेका प्रकट होना चित्तरूपी धर्मीका धर्म-परिणाम है। निरोधक्षण (निर्बीज-समाधिकालवाले) चित्तके अंदर उस समय यह परिणाम होता है कि व्युत्थान (एकाग्रता) के संस्कार अभिभूत होते हैं (दबते हैं) और निरोध (पर-वैराग्य) के संस्कार प्रादुर्भूत होते हैं (प्रकट होते हैं)।

व्युत्थानके संस्कार जो पहिले वर्तमानरूपमें थे, अब भूतरूपमें हो गये। यह उनका भूत लक्षण-परिणाम है और निरोधके संस्कार जो पहिले अनागतरूपमें थे, अब वर्तमानरूपमें हो गये। यह उनका वर्तमान लक्षण-परिणाम है। निरोध समयका धर्मी चित्त अपने धर्म इन दोनों व्युत्थान (एकाग्रता) और निरोध (पर-वैराग्य) के संस्कारोंके बदलनेमें (आविर्भाव-प्रादुर्भाव होनेमें) अनुगत रहता है। इस प्रकार एक चित्तके एकाग्रता और पर-वैराग्यके संस्कारोंका बदलना निरोध-परिणाम है। उस समय संस्कार शेष-वाला चित्त होता है, जैसा कि (१। १८) में बतलाया गया है कि असम्प्रज्ञात-समाधिमें चित्तके संस्कार शेष रहते हैं।

शङ्का—वृत्तियोंसे संस्कार उत्पन्न होते हैं। जैसे व्युत्थानकी वृत्तियोंसे व्युत्थानके संस्कार, समाधि (आरम्भ) की वृत्तियोंसे समाधि (आरम्भ) के संस्कार, एकाग्रताकी वृत्तियोंसे एकाग्रताके संस्कार; और सब वृत्तियोंके निरोधका कारण जो पर-वैराग्य है उसकी वृत्तियोंसे पर-वैराग्य (निरोध) के संस्कार उत्पन्न

होते हैं। इसलिये वृत्तियाँ ही संस्कारोंके कारण हैं। निरोध अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधिमें जब पर-वैराग्यकी वृत्तिका भी निरोध हो जाता है, तब उसके कार्य निरोधके संस्कार कैसे शेष रह सकते हैं।

समाधान—कारण दो प्रकारके होते हैं—एक निमित्तकारण, जैसे कुलाल घटका निमित्तकारण है, दूसरा उपादान, जैसे मिट्टी घटका उपादान कारण है। निमित्त कारणके अभावसे कार्यका अभाव नहीं होता, केवल उसके आगेकी उत्पत्ति बंद हो जाती है, किंतु उपादान कारणके अभावमें कार्यका अभाव होता है।

वृत्तियाँ संस्कारोंकी निमित्त कारण हैं, उपादान कारण नहीं हैं। संस्कारोंका उपादान कारण चित्त है। इस उपादान कारणको ही सांख्य तथा योगकी परिभाषामें धर्मी कहते हैं और उसके कार्योंको धर्म। इसलिये निरोधक्षण (असम्प्रज्ञात-समाधि) में सब वृत्तियोंके निरोधके निमित्त कारण पर-वैराग्यकी वृत्ति भी निवृत्त हो जाती है, पर उनके कार्य निरोध (पर-वैराग्य) के संस्कार वर्तमानरूपसे शेष रहते हैं; क्योंकि उनका उपादान कारण धर्मी चित्त विद्यमान रहता है। कैवल्यमें जब चित्त अपने उपादान कारण धर्मीमें लय हो जाता है, तब उसके साथ उसके कार्य निरोधके संस्कार (संस्कारशेष) भी निवृत्त हो जाते हैं।

सङ्गति—उस निरोध-संस्कारका फल कहते हैं—

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

शब्दार्थ— तस्य = उस (चित्त) का; प्रशान्तवाहिता = प्रशान्त बहना; संस्कारात् = निरोध-संस्कारसे (होता है)।

अन्वयार्थ—निरोध-संस्कारसे चित्तकी शान्त-प्रवाहवाली गति होती है।

व्याख्या—प्रशान्तवाहिता = निरोध-संस्कारके अभ्याससे जब निरोध-संस्कार प्रबल होता है, तब व्युत्थानके संस्कार सर्वथा दब जाते हैं और व्युत्थान-संस्काररूप मलसे रहित जो निर्मल निरोध-संस्कारोंकी परम्परा प्रवृत्ति होती है, यही चित्तका प्रशान्त या एकरस बहना, चित्तकी प्रशान्तवाहिता स्थिति है।

भाष्यकार इस सूत्रका आशय यह बतलाते हैं कि निरोध-संस्कारोंके अभ्यासको दृढ़ करनेकी आवश्यकता है, जिससे चित्तकी प्रशान्तवाहिता स्थिति हो जाय; क्योंकि निरोधके संस्कार मन्द होते ही व्युत्थानके संस्कार उनको फिर दबा लेते हैं। यहाँ यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि निरोध-समाधिके भङ्गतक, जो चित्तमें उन्हीं संस्कारोंके दृढ़ और दुर्बल होते हुए प्रशान्त प्रवाहका बहना है, वह उसका अवस्था-परिणाम है।

सङ्गति—निरोध-परिणाम बताकर अब चित्तमें समाधि (सम्प्रज्ञात) परिणाम बताते हैं—

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—सर्वार्थता एकाग्रतयोः = सर्वार्थता और एकाग्रताका; क्षय उदयौ = क्षय और उदय होना; चित्तस्य समाधिपरिणामः = चित्तका समाधि-अवस्थामें परिणाम है।

अन्वयार्थ—चित्त (धर्मी) के सर्वार्थता और एकाग्रतारूप धर्मोंका (क्रमसे) नाश होना और प्रकट होना चित्तका समाधि-अवस्थामें परिणाम है।

व्याख्या—सर्वार्थता = सब विषयोंकी ओर जाना। यह शब्द चित्तकी विक्षेप अवस्थाके लिये यहाँ आया है। विक्षेप अवस्थामें सत्त्वगुण प्रधान होता है पर रजोगुण बना रहता है और अपने कार्य करता

रहता है। इस कारण चित्त सारे विषयोंकी ओर जाता है। यह अवस्था समाधिके आरम्भ-कालमें होती है।

एकाग्रता—समाधिकी अवस्था जिसमें चित्त सब विषयोंको त्यागकर एक विषयपर टिकता है अर्थात् एक ही आलम्बन (सहारा) होनेपर सजातीय प्रवाहमें परिणत होना चित्तकी एकाग्रता कहलाती है। विक्षिप्तता और एकाग्रता दोनों चित्तके धर्म हैं, चित्त धर्मी दोनोंमें अनुगत है। जब विक्षिप्तता-का धर्म दबता है और एकाग्रताका धर्म प्रकट होता है, तब इस प्रकार दोनों धर्मोंमें अनुगत धर्मी चित्त-में समाधि-परिणाम अर्थात् सम्प्रज्ञात-समाधि कालमें होनेवाला चित्तका परिणाम है। चित्तका यह एकाग्रता-का आकार धारण करना चित्तमें धर्म-परिणाम है। एकाग्रता जो चित्तकी सर्वार्थता (विक्षिप्तता) में अनागत रूपसे छिपी हुई थी अब वर्तमान रूपमें आ गयी। यह एकाग्रतारूप चित्त-धर्मीका वर्तमान लक्षण-परिणाम है।

समाधि-परिणाम और निरोध-परिणाममें भेद

निरोध-परिणामसे समाधि-परिणाममें यह भेद है कि निरोध-परिणाममें व्युत्थान-(एकाग्रता) के संस्कारोंका अभिभव और निरोध-संस्कारोंका प्रादुर्भाव होता है और समाधि-परिणाममें संस्कारजनक जो व्युत्थान अर्थात् सर्वार्थतारूप चित्तका विक्षेप है उसका क्षय और एकाग्रतारूप धर्मका उदय होता है अर्थात् प्रथम सम्प्रज्ञातमें व्युत्थानका क्षय और एकाग्रताका उदय किया जाता है फिर असम्प्रज्ञातमें निरोध-संस्कारोंके प्रादुर्भावसे व्युत्थान (एकाग्रता) के संस्कारोंका भी तिरोभाव (दबना) होता है।

सङ्गति— समाधि-अवस्थामें जब विक्षिप्तता बिल्कुल दब जाती है, तब चित्तकी समाहित अवस्थामें एकाग्रता-परिणाम बताते हैं—

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥१२॥

शब्दार्थ—ततः पुनः = तब फिर; शान्त-उदितौ = शान्त और उदय हुई; तुल्यप्रत्ययौ = समान वृत्तियाँ; चित्तस्य एकाग्रतापरिणामः = चित्तका एकाग्र परिणाम है।

अन्वयार्थ—तब फिर समान वृत्तियोंका शान्त और उदय होना चित्तका एकाग्रता-परिणाम है।

व्याख्या—समाहित चित्तकी वृत्तिविशेष ही एक प्रत्यय कहलाती है। यह अतीत (भूत) मार्ग-में प्रविष्ट हुई शान्त और वर्तमान मार्गमें बर्तती हुई उदित कहलाती है।

यह दोनों ही चित्तके समाहित होनेके कारण, तुल्य अर्थात् एक विषयको ही आलम्बन करनेसे सदृश-प्रत्यय हैं। इन दोनोंमें समाहित चित्तका अन्वयी (अनुगत) भावसे रहना एकाग्रता-परिणाम कहलाता है। अर्थात् समाधि-परिणामके अभ्यासबलसे जब चित्तका विक्षेप बिल्कुल दब जाता है, तब वह समाहित हो जाता है। इस अवस्थामें भी चित्त बराबर बदलता रहता है; किंतु जिस प्रकार विक्षेपमें एक वस्तुको छोड़कर दूसरीको पकड़ता था, इस प्रकार समाहित अवस्थामें नहीं होता। इसमें जिस वस्तु-को पकड़ता है उसीमें लगा रहता है। चित्तके बदलनेके कारण वृत्तियाँ बदलती तो हैं पर जैसी वृत्ति दबती है वैसी ही उदय होती रहती है, जबतक समाधि भङ्ग न हो जाय। यह धर्मी चित्तका एकाग्रता-परिणाम है।

समाधिके भङ्ग होनेतक एकाग्रता प्रबल होती रहती है, उसके पश्चात् दुर्बल होती जाती है। यह उसकी अवस्थाका बदलना अवस्था-परिणाम है।

सावधानी—सम्प्रज्ञात-समाधिकी प्राप्तिसे ही योगी अपने-आपको कृतकृत्य न मान बैठे; किंतु व्युत्थानके विक्षेपकी निवृत्तिके लिये असम्प्रज्ञात-समाधिका अनुष्ठान करना चाहिये।

संगति—अब प्रसङ्गसे चित्तके सदृश ही भूत और इन्द्रियोंके परिणाम बताते हैं—

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—एतेन = इससे ही (चित्तके परिणामसे ही); भूत-इन्द्रियेषु = भूत और इन्द्रियोंमें; धर्मलक्षण-अवस्था-परिणामाः-व्याख्याताः = धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम व्याख्यान किये हुए जानने चाहिये।

अन्वयार्थ—चित्तके परिणामसे ही भूतों और इन्द्रियोंमें धर्म, लक्षण और अवस्था-परिणाम व्याख्या किये गये जानने चाहिये।

व्याख्या—जिस प्रकार चित्तके धर्म, लक्षण और अवस्था-परिणाम होते हैं, इसी प्रकार पाँचों भूतों और इन्द्रियोंमें समझना चाहिये। यद्यपि पूर्व चार सूत्रोंमें धर्म, लक्षण और अवस्था-परिणामका नाम नहीं लिया गया है, तथापि उनमें चित्तके ये परिणाम दिखलाये गये हैं। पाठकोंके सुभीतेके लिये नवें सूत्रकी संगतिमें वे उदाहरणसहित समझा दिये गये हैं; और पिछले चार सूत्रोंमें चित्तके निरोध आदि परिणामोंमें भी इनको यथास्थान बतलाते चले आये हैं। यहाँ उनको संक्षेपसे फिर बतलाये देते हैं—

धर्म-परिणाम—धर्मीके अवस्थित रहते हुए पूर्वधर्मकी निवृत्ति होनेपर उसके अन्य धर्मकी प्राप्ति होना धर्म-परिणाम है।—(भोजवृत्ति)

चित्तमें धर्म-परिणाम—नवें सूत्रमें निरोध-परिणाममें धर्म-परिणाम बतला आये हैं। धर्मी-चित्तके दो धर्म व्युत्थान-संस्कार और निरोध-संस्कारमेंसे व्युत्थान-संस्कारका दबना और निरोध-संस्कारका प्रकट होना धर्मी-चित्तका धर्म-परिणाम है, इसी प्रकार सूत्र ग्यारहमें समाधि-परिणाममें धर्मी-चित्तके सर्वार्थता धर्मके दबने और एकाग्रता धर्मके प्रकट होनेमें धर्मी-चित्तका धर्म-परिणाम है।

भूतोंमें धर्म-परिणाम—पृथ्वीका उदाहरण—मृत्तिकारूप धर्मीका पिण्डरूप धर्मको छोड़कर घटरूप धर्मको स्वीकार करना उसका धर्म-परिणाम है।

इन्द्रियोंमें धर्म-परिणाम—नेत्रेन्द्रियका उदाहरण—धर्मी नेत्रका अपने धर्म नील, पीत, रूपादि विषयोंमेंसे एक रूपको छोड़कर दूसरे रूपका आलोचन-ज्ञान धर्म-परिणाम है।

लक्षण-परिणाम—काल-परिणामको लक्षण-परिणाम कहते हैं। वह तीन भेदवाला है, अनागत (भविष्य), उदित (वर्तमान), अतीत (भूत)। प्रत्येक धर्म इन तीन लक्षणोंसे युक्त होता है।

किसी धर्मका वर्तमान कालमें प्रकट होनेसे पहले भविष्यत कालमें छिपा रहना उसका अनागत लक्षण-परिणाम है। उस धर्मका भविष्यकालको छोड़कर वर्तमानकालमें प्रकट होना वर्तमान लक्षण-परिणाम है और वर्तमान कालको छोड़कर भूतकालमें छिप जाना अतीत लक्षण-परिणाम है।

सूत्र ९ में धर्मी-चित्तके निरोध-परिणाममें उसके दोनों धर्म, व्युत्थान-संस्कार तथा निरोध-संस्कार इन तीनों लक्षणोंसे युक्त हैं। उनमेंसे व्युत्थान-संस्कारका, वर्तमान लक्षणको छोड़कर, धर्मभावको न त्यागते हुए, अतीतकालमें छिप जाना उसका अतीत (भूत) लक्षण-परिणाम है। इसी प्रकार निरोध-

संस्कारका अनागत मार्गको छोड़कर, धर्मभावको न छोड़ते हुए वर्तमानकालमें प्रकट होना, उसका वर्तमान लक्षण-परिणाम है। ऐसे ही सूत्र ग्यारहमें चित्तके समाधि-परिणाममें उसके धर्म सर्वार्थता और एकाग्रता दोनों लक्षणवाले हैं। उनमेंसे सर्वार्थताका वर्तमान लक्षणको त्यागकर धर्मभावको न छोड़ते हुए अतीत लक्षणको प्राप्त होना उसका अतीत लक्षण-परिणाम है और एकाग्रता धर्मका अनागत लक्षणको त्यागकर धर्मभावको न छोड़ते हुए वर्तमान लक्षणमें प्रकट होना उसका वर्तमान लक्षण-परिणाम है।

मृत्तिकाके घटरूप धर्मका प्रकट होनेसे पहले, अनागत कालमें छिपा रहना उसका अनागत लक्षण-परिणाम है। अनागत लक्षणसे वर्तमानकालमें प्रकट होना वर्तमान लक्षण और घटरूप धर्मका वर्तमान लक्षणसे अतीत कालमें छिप जाना उसका अतीत लक्षण-परिणाम है।

इसी प्रकार धर्मी नेत्रके, धर्मों अर्थात् नील, पीत रूपादि विषयोंके आलोचनमें इन तीनों लक्षण-परिणामोंको समझ लेना चाहिये। अर्थात् धर्मी नेत्रके धर्म नीलादि ज्ञानके प्रकट होनेसे पूर्व अनागत कालमें छिपा रहना उसका अनागत लक्षण-परिणाम है। अनागत कालसे वर्तमानकालमें प्रकट होना वर्तमान लक्षण-परिणाम है और वर्तमान कालसे अतीत मार्गमें छिप जाना अतीत लक्षण-परिणाम है।

अवस्था-परिणाम — एक धर्मके अनागत लक्षणसे वर्तमान लक्षणमें प्रकट होनेतक उसकी अवस्था-को दृढ़ करनेमें और इसी प्रकार वर्तमान लक्षणसे अतीत लक्षणमें जानेतक उसकी अवस्थाको दुर्बल करनेमें जो प्रतिक्षण परिणाम हो रहा है, वह अवस्था-परिणाम है। सूत्र १० में निरोध-समाधिके भङ्गतक जो निरोध-संस्कारके प्रतिक्षण दृढ़ और उसके पश्चात् उनका दुर्बल होते हुए प्रशान्त प्रवाहका बहना है, वह उनका अवस्था-परिणाम है। इसी प्रकार मृत्तिकाके घटधर्मके अनागत लक्षणसे वर्तमान लक्षणमें आनेतक और वर्तमान लक्षणसे अतीत लक्षणमें जानेतक उसकी अवस्थाको क्रमसे दृढ़ और दुर्बल करनेमें जो प्रतिक्षण परिणाम हो रहा है, वह घटधर्मका अवस्था-परिणाम है। ऐसे ही धर्मी नेत्रके धर्म नील, पीत, रूपादिक विषयके आलोचनमें अवस्था-परिणामको जानना चाहिये। अर्थात् वर्तमान लक्षणवाले नीलादि विषयके आलोचन (ज्ञान) रूप धर्मका स्फुटता-अस्फुटतारूप अवस्था-परिणाम है।

धर्मीका धर्मोंसे, धर्मका लक्षणों (अनागत, वर्तमान, अतीत) से और लक्षणोंका अवस्थासे परिणाम होता है। इस प्रकार गुणवृत्ति एक क्षण भी धर्म-लक्षण और अवस्था-परिणामसे शून्य नहीं रहती। गुणोंका स्वभाव ही प्रवृत्तिका कारण है।

यथार्थमें यह सब एक ही परिणाम है। धर्मीका स्वरूपमात्र ही धर्म है, कोई भिन्न वस्तु नहीं; क्योंकि धर्मीका विकार ही धर्म नामसे कहा जाता है। धर्मीके विकाररूप धर्मका ही धर्मीमें वर्तमान रहते हुए, अतीत, अनागत, वर्तमान मार्गमें अन्यथा भाव होता है, न कि धर्मी द्रव्यका अन्यथापन होता है। जैसे सुवर्णका कोई आभूषण तोड़कर अन्य प्रकारका आभूषण बनानेसे भूषण-आकार अन्यथा होता है, सुवर्णका स्वरूप नहीं बदलता, ज्यों-का-त्यों रहता है। इसी प्रकार चित्त आदि धर्मियोंका स्वरूप नहीं बदलता, उनके निरोध आदि धर्मोंके भाव बदलते रहते हैं।

भाष्यकारने प्रतिपक्षियोंकी शङ्काओंका युक्तिपूर्वक समाधान करते हुए स्वपक्षका विस्तारके साथ वर्णन किया है। हमने सूत्र ९ की संगति और इस सूत्रकी व्याख्या पर्याप्त समझकर विस्तारके भयसे उसे छोड़ दिया है। इतना और बतला देना आवश्यक है कि सांख्य तथा योगमें धर्मी उपादान-

कारणके अर्थमें है और धर्म उसका विकार कार्य है, वैशेषिकवालोंके गुणके अर्थमें नहीं है।

टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद ॥ सूत्र १३ ॥

इस पूर्वोक्त धर्म लक्षण और अवस्थारूप चित्तके परिणामसे भूत और इन्द्रियोंमें धर्मपरिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्थापरिणाम भी व्याख्यात समझने चाहिये। उनमें धर्मीमें व्युत्थान और निरोध धर्मोंका अभिभाव और प्रादुर्भाव धर्मपरिणाम है।

लक्षणपरिणाम—निरोध त्रिलक्षण होता है। तीन अध्व (मार्ग) से युक्त होता है, वह अनागत लक्षण प्रथम अध्व (मार्ग) को छोड़कर धर्मत्वको न छोड़ता हुआ वर्तमान लक्षणको प्राप्त होता है, जहाँ कि इसकी स्वरूपसे अभिव्यक्ति होती है, यह इसका द्वितीय अध्व (मार्ग) है, वह अतीत और अनागत लक्षणसे वियुक्त नहीं है। तथा व्युत्थान त्रिलक्षण तीन अध्वसे युक्त होता है। वर्तमान लक्षणको छोड़कर धर्मत्वका परित्याग न करके अतीत लक्षणको प्राप्त होता है, यह इसका तृतीय अध्व है और वह वर्तमान और अनागत लक्षणसे जुदा नहीं है। इसी भाँति पुनः व्युत्थान उपसम्पाद्यमान अनागत लक्षणको छोड़कर धर्मत्वका उल्लङ्घन न करता हुआ वर्तमान लक्षणको प्राप्त हो जाता है, जहाँ कि इसके स्वरूपकी अभिव्यक्ति होनेपर व्यापार होता है। यह इसका द्वितीय अध्व है। वह अतीत और अनागत लक्षणसे वियुक्त नहीं है। इसी भाँति पुनः निरोध और पुनः व्युत्थान होता रहता है।

तथा अवस्थापरिणाम होता है। उसमें निरोधके क्षणोंमें निरोधके संस्कार बलवान् होते हैं और व्युत्थानके संस्कार दुर्बल होते हैं, यह धर्मोंका अवस्थापरिणाम है। उसमें धर्मीका धर्मोंसे परिणाम होता है, धर्मोंका लक्षणोंसे परिणाम होता है और लक्षणोंका अवस्थाओंसे परिणाम होता है। इस भाँति धर्म, लक्षण और अवस्था परिणामोंसे शून्य एक क्षण भी गुणोंकी वृत्ति नहीं रहती है; क्योंकि गुणोंकी वृत्ति चञ्चल स्वभाव-वाली है, गुणोंका गुणस्वभाव प्रवृत्तिका कारण कहा है, इससे भूत और इन्द्रियोंमें धर्म-धर्मी भेदसे त्रिविध परिणाम जानना चाहिये और परमार्थसे तो एक ही परिणाम है धर्मीका स्वरूपमात्र ही धर्म है, धर्मीकी विक्रिया ही यह धर्मद्वारा विस्तारसे कही है। उस धर्मीमें वर्तमान धर्मके ही अतीत, अनागत और वर्तमान अध्वोंमें भावका अन्यथात्व होता रहता है, द्रव्यका अन्यथात्व नहीं होता। जैसे सुवर्णपात्रको तोड़ अन्यथात्व करनेपर भावका अन्यथात्व होता है, सुवर्णका अन्यथात्व नहीं होता।

दूसरे कहते हैं— धर्मसे धर्मी अन्यूनाधिक होता है, क्योंकि वह पूर्व तत्त्वका अतिक्रम नहीं करता। पूर्व, अपर अवस्था-भेदसे अनुपतित प्राप्त हुआ कौटस्थ्यसे परिवर्तित होगा, यदि वह अन्वयी है?

समाधान— यह दोष नहीं है, क्योंकि यह बात एकान्ततः नहीं मानी है, यह त्रैलोक्य व्यक्तिसे च्युत होता है; क्योंकि इसके नित्यत्वका निषेध किया है, च्युत हुआ भी है; क्योंकि इसके विनाशका प्रतिषेध किया है, संसर्गसे इसकी सूक्ष्मता है और सूक्ष्म होनेसे उपलब्धि नहीं होती।

लक्षणपरिणाम— धर्म अध्वोंमें वर्तमान अतीत होता है, अतीत लक्षणसे युक्त होता है, अनागत और वर्तमान लक्षणसे वियुक्त नहीं होता है तथा अनागत-अनागत लक्षणयुक्त होता है, वर्तमान और अतीतसे वियुक्त नहीं होता तथा वर्तमान-वर्तमान लक्षणसे युक्त होता है, अतीत और अनागत लक्षणसे वियुक्त नहीं होता, जैसे पुरुष एक स्त्रीमें रक्त है, वह शेषोंसे विरक्त नहीं है। यहाँ लक्षणपरिणाममें सर्वथा सर्व लक्षणोंके साथ योग होनेसे अध्वसंकर प्राप्त होता है। यह दूसरे दोष देते हैं?

उसका यह परिहार है—धर्मोंका धर्मत्व अप्रसाध्य है, धर्मत्वके होनेपर ही लक्षण-भेद भी कहना होगा ? उसको धर्मत्व वर्तमान समयमें ही नहीं है, इस भाँति ही चित्त रागधर्मवाला नहीं होगा; क्योंकि क्रोधके समय राग समुदाचार नहीं है। और भी ? तीनों लक्षणोंका एक साथ एक व्यक्तिमें सम्भव नहीं ? क्रमसे तो उसके व्यञ्जककी सहायतासे भाव हो सकता है। उक्तं च—रूपातिशय और वृत्तिअतिशय परस्पर विरोधी हैं। सामान्य तो अतिशयके साथ रहा करते हैं, इस कारणसे संकर दोष नहीं हैं। जैसे रागका ही कहीं समुदाचार है, इसलिये उस समय अन्यत्र अभाव नहीं है; किंतु केवल सामान्यसे समन्वागत है। अतः उस समय उसका वहाँ भाव है तथा लक्षणका भी भाव है।

धर्मी-त्रि-अध्व (तीन मार्गवाला) नहीं होता। धर्म-त्रि-अध्व हुआ करते हैं। वे धर्म लक्षित और अलक्षित उस-उस अवस्थाको प्राप्त हुए अवस्थान्तरके कारण अन्यत्व निर्देश किये जाते हैं, द्रव्यान्तरसे नहीं। जैसे एक रेखा शत स्थानमें शत, दस स्थानमें दस और एक स्थानमें एक होती है, जैसे एकत्व होनेपर भी एक स्त्री माता कहलाती है, पुत्री कहलाती है, बहन कहलाती है। अवस्थापरिणाममें कौटस्थ्यप्रसङ्गदोष कुछ लोगोंने कहा है, किस प्रकार कि अध्वोंके व्यापारसे व्यवहित होनेसे जब धर्म अपने व्यापारको नहीं करता, तब अनागत है; जब करता है, तब वर्तमान है; जब करके निवृत्त हो जाता है, तब अतीत है। इस प्रकार धर्म और धर्मी, लक्षण और अवस्था इन सबको कूटस्थ मानना पड़ेगा—यह दूसरे सज्जन दोष देते हैं। वह दोष नहीं है; क्योंकि गुणोंके नित्य होनेपर भी गुणोंके विमर्द-विनाशकी विचित्रता है। जैसे विनाशी और अविनाशी शब्द आदिकोंका आदिमत् संस्थान धर्ममात्र होता है, वैसे ही विनाशी और अविनाशी सत्त्व आदि गुणोंका आदिमान् लिंग धर्ममात्र है, उसमें विकार संज्ञा है (उसीको विकार कहते हैं)। उसमें यह उदाहरण है—मिट्टी धर्मी अपने पिण्डाकार धर्मसे धर्मान्तरको प्राप्त होता हुआ धर्मसे परिणत घटाकार होता है। यह घटाकार अनागत लक्षण (काल) को छोड़कर वर्तमान लक्षण (काल) में आ गया है। यह लक्षणसे परिणाम होता है—घट नवीनता और पुराणताका प्रतिक्षण अनुभव करता हुआ अवस्थापरिणामको प्राप्त होता है—यह धर्मीको भी धर्मान्तर अवस्था है और धर्मको लक्षणान्तर अवस्था। यह एक ही द्रव्यको परिणामभेदसे दिखलाया है। इसी भाँति पदार्थान्तरमें भी योजित कर लेना चाहिये। धर्म, लक्षण और अवस्था-परिणाम धर्मीके स्वरूपका उल्लङ्घन न करते हुए हैं, इससे एक ही परिणाम उन सब विशेषोंको व्याप्त कर रहा है।

अब यह परिणाम क्या है ? इसका उत्तर देते हैं—

अवस्थित द्रव्यके पूर्व धर्मकी निवृत्ति होनेपर धर्मान्तरकी उत्पत्ति (प्रादुर्भाव) परिणाम है ॥१३॥

'वार्त्तिक' का भाषानुवाद ॥ सूत्र १३ ॥

इस प्रकार योग और योगके अङ्गोंके परिणामरूपकी विलक्षणता उनके विवेकके लिये दिखला दी है। इसी रीतिसे व्युत्थानकालीन चित्तके परिणाम भी व्याख्यातप्राय हो हैं। यहाँसे 'परिणामत्रयसंयमात्' इस आगामी सूत्रकी उपोद्घात संगतिसे सर्वत्र वैराग्यरूपी अग्निको प्रज्वलित करनेके लिये चित्तवत् ही अन्योंमें भी अतिदेशसे ही परिणामोंकी व्याख्या सूत्रकार करते हैं।

'एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः' धर्मोंसे, लक्षणोंसे और अवस्थाओंसे जो परिणाम हैं, वे धर्मलक्षणावस्था परिणाम हैं। उनकी भाष्यमें व्याख्या करनी है। यही परिणाम भूत और

इन्द्रियोंमें होते हैं, कोई तत्त्वान्तर परिणाम नहीं होते। इस असाधारण आशयसे ही यहाँ प्रकृति आदि-में परिणाम नहीं कहे। इससे तत्त्वान्तर-परिणामवत् ये परिणाम भी सब ही यथायोग्य प्रकृति आदिमें भी जानने चाहिये, ऐसा ही भाष्यकार कहेंगे। इस प्रकार धर्म, लक्षण और अवस्था-परिणामोंमें शून्य क्षणभर भी गुण वृत्त नहीं ठहरता (नहीं रहता)—इससे सर्व वस्तुओंमें तीन परिणाम हैं। सूत्रकी व्याख्या करते हैं—एतेनेति (इस पूर्वोक्त धर्मलक्षण और अवस्थारूप चित्तके परिणामसे भूत और इन्द्रियोंमें धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणामकी व्याख्या समझ लेनी चाहिये) भाष्य।

शङ्का—पूर्व सूत्रमें चित्तका परिणाममात्र कहा है—धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम नहीं कहे? इस शंकाको परिणामोंके विभाग दिखलाकर दूर करनेके लिये उपक्रम करते हैं। तत्र व्युत्थानेति—उनमेंसे व्युत्थान और निरोधके अभिभव और प्रादुर्भाव ही धर्मी चित्तमें धर्मपरिणाम प्रथम सूत्रने ही कहा है, 'अवस्थित' धर्मीके पूर्व धर्मका तिरोभाव होनेपर धर्मान्तरके प्रादुर्भावको ही धर्मपरिणामत्व है, यह भाव है। यद्यपि प्रथम सूत्रमें व्युत्थान और निरोधके संस्कारोंका ही अभिभव और प्रादुर्भाव कहा है, तथापि व्युत्थान और निरोधका अपाय और उपजन भी अर्थात् लब्ध है, धर्म द्रव्य है या गुण—यह बात दूसरी है तथा उसी सूत्रने अभिभव और प्रादुर्भाव शब्दोंसे धर्मका लक्षणपरिणाम भी कहा है। अतः भाष्यकार कहते हैं, लक्षणपरिणामश्चेति—लक्षणपरिणाम अवस्थित धर्मका अनागत आदि लक्षणके त्यागने-पर वर्तमान आदि लक्षणके लाभका नाम है, और वह अभिभव और प्रादुर्भाव वचनसे ही लब्ध है, क्योंकि अतीतता और वर्तमानताका ही अभिभव और प्रादुर्भाव हुआ करता है, यह भाव है। उनमेंसे पहले निरोधरूप धर्मके प्रादुर्भाव शब्दसे कहे लक्षणपरिणामका उदाहरण देते हैं। निरोधस्त्रिलक्षण इति—इसीका विवरण है, तीन अध्व (मार्गसे) युक्त है, क्रमके सम्बन्धसे अध्वके तुल्य होनेसे अनागत आदि भाव अध्व कहलाते हैं; तथा धर्मी और धर्मोंके अन्योन्यके व्यावर्तनसे और लक्षण शब्दसे तन्त्रमें कहा है, इससे क्या आया? इसको कहते हैं—खल्विति—वह निरोध प्रादुर्भाव कालमें अनागतलक्षण रूप अध्व नामको छोड़कर इत्यादि अर्थ है। यहाँ सत्कार्यकी सिद्धिके लिये और धर्म-परिणामके उपपादनार्थ 'धर्मत्वमनतिक्रान्तः' कहा हैं। स्वरूपसे अवस्थित ही धर्मके रूपान्तरके हटनेपर रूपान्तरकी उत्पत्तिमें धर्मपरिणाम शब्दका व्यवहार होता है। वर्तमान अवस्थाको इतर दो अवस्थाओंसे विवेचन करके दिखलाते हैं। यत्रेति—स्वरूपसे, अर्थक्रियाकारित्वसे अभिव्यक्ति उपलब्धि है। वह अनागतकी अपेक्षासे द्वितीय अध्व है। यह शिष्यके व्युत्पादनके लिये प्रसंगसे कहते हैं—एषोऽस्येति। असत्की उत्पत्ति और सत्के विनाशके प्रतिषेधके लिये कहते हैं-न चेति। निरोधक्षणमें ही निरोधके लक्षणपरिणामको दिखलाकर व्युत्थानको भी दिखलाते हैं तथा व्युत्थानमिति—सब पूर्ववत् है। विशेष है—वर्तमानताको छोड़कर अतीतताको प्राप्त होता है, यह तृतीय अध्व है। इस भाँति व्युत्थान कालमें भी व्युत्थान और निरोधके लक्षणपरिणामोंको क्रमसे दर्शाते हैं, 'एवं पुनर्व्युत्थानमुपसम्पद्यमानमिति' उपसम्पद्यमान जायमानका नाम है, और वह व्यक्ति अन्तर है, क्योंकि अतीत व्यक्तिका अनुत्पाद आगे कहेंगे। अन्य सब पूर्ववत् है। एवं पुनर्निरोध इति—यहाँ एवं पदसे तथा व्युत्थानम्—इत्यादि वाक्यसे कहे निरोधके तृतीय अध्वकी प्रक्रिया निर्देश की है। अतः निरोधके तृतीय अवस्थाके कथनके अभावकी शून्यता नहीं है, (अर्थात् तृतीय अध्वकी प्रक्रियाके निर्देशसे निरोधकी तृतीय अवस्थाके कथनका अभाव है) यह व्युत्थान निरोध परिणामका चक्र अपवर्गपर्यन्त ही है—यह संक्षेपसे कहते

हैं। एवं पुनर्व्युत्थानमिति—पुनर्व्युत्थान आदि अर्थ है। चित्तके धर्मोंके लक्षण—परिणामको दर्शाकर उस लक्ष्यके अवस्थापरिणामकी 'तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्' इस सूत्रपर व्याख्या हो चुकी है यह दिखलाते हैं—तथा अवस्था-परिणाम—इति-अवस्था-परिणामको कहते हैं—संस्कारोंका बलवत्त्व और दुर्बलत्व घटके नये और पुरानेपनकी भाँति है, वृद्धि और ह्रास–उत्पत्ति और विनाशरूप हैं, लक्षण परिणामसे भेदकी अनुपपत्ति है, लक्षणके ही नवपुराणत्व आदि अवस्था परिणाम आगे कहेंगे—

शङ्का—द्रव्यके ही वृद्धि और क्षय देखे जाते हैं, गुणके नहीं ?

समाधान—यह बात नहीं है, रूप आदि गुणोंके भी वृद्धि और ह्रासका अनुभव होता है। वृद्धि ह्रासको रूपका अन्य भेद मानें तो गौरव होगा, वही रूप अब बढ़ गया है ऐसी जो प्रत्यभिज्ञा होती है वह भी न बनेगी। अतः संस्कार और अदृष्ट आदिका अवस्थापरिणाम होता है। ज्ञान और इच्छा आदिके उत्पत्ति और विनाशका अनुभव होता है। दो क्षणमात्र स्थायी होनेपर भी द्वितीय क्षणमें वर्तमान लक्षणका अवस्थापरिणाम होता है। वह क्षणत्वसे ही उस परिणामका हेतु है, यदि ऐसा न मानें तो सब वस्तुओंके प्रतिक्षण परिणामकी—जो कि आगे कहेंगे—उपपत्ति ही न होगी, इस कथनसे उसका भी खण्डन हो गया, जो किसीने कहा है कि उत्तर वृत्ति विभु-विशेष गुणकी ही ज्ञानादिके नाशक होनेसे एकाग्रता दशामें भी ज्ञानके बहुत क्षण-स्थायी होनेसे अवस्थापरिणाम सम्भव नहीं है। तब इस प्रकार तीनों परिणामोंकी व्याख्या करके उनके आधारको व्यवस्थाको कहते हैं, तत्र धर्मिण इत्यादिसे लक्षणोंका भी अवस्थाओंसे परिणाम होता है, यद्यपि बाल्य आदि अवस्थाओंका भी लक्षणपरिणाम होता है, तथापि यथोक्त क्रम माननेमें कोई अनुपपत्ति नहीं है।

शङ्का—वर्तमान लक्षणका नव पुराण (नया, पुराना) आदि अवस्थापरिणाम हो सकता है, अनागत और अतीत लक्षणका अवस्थाभेद किस प्रकार होगा ?

समाधान—शीघ्र भविष्यता, विलम्ब भविष्यता आदिरूप विशेष उन लक्षणोंका भी अनुमान हो सकता है; क्योंकि सत्त्व आदिकी भाँति ही गुणत्वसे, प्रतिक्षण परिणामित्व सिद्ध है, यथोक्त चित्तके परिणामोंसे सर्व वस्तुओंके परिणामोंका अतिदेश करते हुए वैराग्याग्निको प्रज्वलित करनेके लिये उनकी प्रतिक्षण परिणामिता दिखलाते हैं, एवं धर्मलक्षणेति—वह मनु आदिने भी कहा है—

घोरेऽस्मिन् हतसंसारे नित्यं सततघातिनाम्। कदलीस्तम्भनिःसारे संसारे सारमार्गणम्॥
यः करोति स सम्मूढो जलबुद्बुदसन्निभे।

नित्य सतत घातियोंके इस घोर संसारमें जो कि केलेके स्तम्भके समान निःसार है, जलके बुलबुलेके सदृश पोला और क्षणभङ्गुर है, जो प्राणी सार ढूँढ़ता है वह सम्मूढ़ है।

गुणवृत्त—सत्त्व आदि गुणोंका व्यापार है, वह अपने कार्य धर्मादि परिणामोंसे क्षणभर भी शून्य नहीं रहता, प्रतिक्षण परिणत होता रहता है।

शङ्का—अव्यापार दशामें तो अपरिणामी होगा ?

समाधान—चलं हि गुणवृत्तिमिति—चलं यह भावप्रधान निर्देश है—गुणोंका चाञ्चल्य स्वभाव है—यह तात्पर्यार्थ है।

प्रश्न—प्रतिक्षण चाञ्चल्यमें प्रमाण क्या है ?

उत्तर—गुणस्वभाव्यं त्विति—गुणोंका स्वभाव है, राजाके गुणों—उपकरणों नौकर आदिका स्वामीके लिये प्रतिक्षण ही व्यापार दिखायी देता है। अतः गुणस्वभावता ही सत्त्वादि गुणोंकी भी प्रवृत्तिमें पुरुष पूर्व आचार्यने प्रमाण कहा है। परके ही भोग और अपवर्गका हेतुत्व गुणत्व है। चित्तके दृष्टान्तमें तीनों परिणामोंकी व्याख्या करके दार्ष्टान्तिकमें भी उसकी व्याख्याका आरम्भ करते हैं। एतेनेति—इससे भूत और इन्द्रियोंमें धर्म-धर्मी भेदसे धर्म-धर्मीका आश्रय लेकर तीन प्रकारका परिणाम जानना चाहिये। उन पृथिवी आदि धर्मियोंमें घट आदि धर्मका परिणाम धर्मपरिणाम है, घट आदि धर्मोंकी वर्तमान अतीतता लक्षणपरिणाम है, वर्तमान आदि तीनों लक्षणोंका भी बाल्य-यौवन आदि अवस्थापरिणाम हैं।

शङ्का—तीनों परिणाम भूत और इन्द्रियोंमें किस प्रकार कहे हैं; क्योंकि वे धर्मी हैं। उनमें धर्ममात्र परिणाम होगा ?

समाधान—तीनों धर्म-धर्मी-परिणाम ही परमार्थसे तो एक ही परिणाम हैं, क्योंकि धर्मीस्वरूप ही धर्म होता है। अतः धर्मपरिणाम ही यह लक्षणादि परिणाम है—जो धर्मादिके अवान्तर विभाग ही हैं।

अब प्रतिक्षण परिणाममें क्षणिकता आदिके प्रसङ्ग (अतिव्याप्ति) को हटानेके लिये तीनों परिणामों-की क्रमसे परीक्षा करनी है। प्रथम धर्मपरिणामकी परीक्षा करते हैं, तत्र धर्मस्येत्यादिना—उन परिणामोंके मध्यमें धर्मीके सत्य होनेपर ही धर्मकी अतीत आदि अवस्थाओंमें धर्मीका भावान्यथात्व, धर्मान्यथात्व ही होता है, द्रव्यान्यथात्व नहीं होता। स्वरूपान्यथात्व होनेपर ही प्रतिक्षण परिणामसे क्षणिकताकी आपत्ति, प्रत्यभिज्ञा आदिकी अनुपपत्ति होती है, यह भाव है।

सुवर्णका वर्तन आदि रूप हटनेपर कटकादि धर्मकी अभिव्यक्ति भावान्यथात्व है, प्रत्यभिज्ञाके बलसे सर्वविकारानुगत सुवर्ण सामान्य सिद्ध है। यह सामान्य ही अवयवी रूप धर्मी है। वैशेषिकके अनुयायी तो कहते हैं कि सुवर्णके अन्यथात्व होनेपर भी अवयवोंके संयोगके नाशसे पूर्व सुवर्ण व्यक्ति नष्ट हो ही जाती है। उसमें जो प्रत्यभिज्ञा होती है (यह वही सुवर्ण है) वह जातिविषयक होती है—

वह ठीक नहीं है। ऐसा माननेसे प्रतिक्षण अवयवोंके उपचय और अपचयके लिये अवयवोंका संयोग और विभाग अवश्य ही मानना होगा और उससे शरीर आदि अखिल वस्तुओंकी क्षणिकत्वकी आपत्तिको ब्रह्मा भी न हटा सकेगा और जातिसे ही सर्वत्र प्रत्यभिज्ञाकी उपपत्ति होनेमें प्रत्यभिज्ञासे घटादिके स्थैर्यका जो स्व-सिद्धान्त है उससे विरोध आवेगा। इसलिये अवयवके संयोगका नाश द्रव्यके नाशका हेतु नहीं है; किंतु वह्नि, आदिमें तृण, अरणि और मणि आदिकी भाँति अन्यवस्थित ही फलके बलसे कारणकी कल्पना करनी चाहिये। अथवा विजातीय अवयवविभाग विशेष है, यह स्वरूपान्यथात्ववादी बौद्धोंके धर्म परिणाममें कहे दोषोंको निराकरण करनेके लिये उठाते हैं—

अपर आह—धर्मोंसे धर्मी अतिरिक्त नहीं होता, अत्यन्त अभिन्न होता है, इसमें हेतु हैं, पूर्व तत्त्वका अतिक्रम न होनेसे, पूर्वतत्त्व धर्मीके अनतिक्रमकी आपत्तिसे, कौटस्थ्यकी आपत्तिसे, यह प्रयोजन है। इसीका विवरण करते हैं—'पूर्वापरेति' पूर्व और अपर अवस्था-भेदमें अनुपतित अनुगत कौटस्थ्यसे च्युत हो जायगा, यदि अन्वयी होगा। यदि धर्मी धर्मोंमें अन्वयी होगा, तब पूर्व, अपर, सकल, अवस्थाभेदोंमें अनुगत होनेसे अतीत आदि अवस्थामें भी सत्त्व मानना होगा और वह चित् शक्तिके समान कूटस्थ

रूपसे रहेगा; क्योंकि नित्यत्व और कूटस्थका एक ही अर्थ है और वह तुमको भी अनिष्ट है।

इसका परिहार करते हैं—'अयमदोषः'—यह दोष नहीं है—एकान्तेति—क्योंकि हम एकान्त नित्यत्व नहीं मानते हैं। 'एकान्तेन'का अर्थ है, सर्वथा स्वरूपसे और धर्मसे नित्यत्व ही कौटस्थ्य हम मानते हैं, और वह चिति शक्तिका ही है, धर्मरूपसे, अनित्य धर्मीकी कूटस्थता नहीं है।

विकारव्यावृतत्वं प्रकृतेर्नित्यत्वम्—विकारसे व्यावृत्ति ही प्रकृतिकी नित्यता है, सत्वकी अतीत और अनागत अवस्थासे शून्यत्व नित्यत्व है। स्वरूपसे और धर्मसे नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों रूपता इस प्रपञ्चका प्रतिपादन करते हैं। तदेतदिति—यह कार्य, कारणात्मक त्रिलोकी, चौबीस तत्त्व अपने कार्योंके सहित यथायोग्य धर्मरूपसे और स्वतः व्यक्तिसे वर्तमान अवस्थासे च्युत होते हैं; क्योंकि इनके नित्यत्वका श्रुति निषेध करती है 'नैवेह किंचनाग्र आसीत्' यहाँ आगे कुछ भी नहीं था, 'असद्वा इदमग्र आसीत्' यह प्रपञ्च पहले असत् था इत्यादि श्रुतियोंने नित्यत्वका प्रतिषेध किया है।

व्यक्ताव्यक्तात्मिका तस्मिन् प्रकृतिः सम्प्रतीयत इत्यादि। उसमें व्यक्त और अव्यक्त रूप प्रकृति भलीभाँति प्रतीत होती है इत्यादि स्मृतियोंसे-जो सावयव होता है वह अनित्य होता है जैसे कि घट आदि इस अनुमानसे भी नित्यत्वका प्रतिषेध है।

शङ्का—तब तो अत्यन्त उच्छेद ही हो जायगा!

समाधान—अपेत-अतीत भी प्रकृति आदि धर्मीरूपसे और अतीतरूपसे है, क्योंकि विनाशका प्रतिषेध किया है, अत्यन्त उच्छेदका श्रुतिने निषेध किया है 'तद्धैक आहुरसदेवैकमग्र आसीत्' उसको एक कहते हैं। असद् ही एक आगे था इत्यादि श्रुतिसे अत्यन्त उच्छेदकी आशङ्का करके जब 'कथमसतः सज्जायेत' 'सत्यमेव सौम्येदमग्र आसीत्' इति असत्से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है? हे सौम्य! सत् तो यह आगे था, इस प्रकार श्रुतिने उस असतका प्रतिषेध किया है।

विनाशित्व होनेपर अनादित्व भावकी अनुपपत्ति होती है। यद्यपि सत्यमेव इस श्रुतिमें सत् शब्दका अर्थ परमात्मा ही है, क्योंकि उत्तरवाक्यमें तदैक्षत आया है, तो भी सतके एकीभावसे इदमासीत् यह था, इस वचनसे प्रपञ्चकी भी प्रलयकालमें सत्ता सिद्ध होती ही है। इसी प्रकार 'तद्धेदं' तर्ह्यव्याकृतमासीत्तम-सैवेदमासीत्' यह अव्याकृत था, तमस् ही यह था—

'आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्'—यह प्रपञ्च तमरूप अलक्षण और अज्ञात था इत्यादि श्रुति और स्मृति भी अत्यन्त उच्छेदका निषेध करनेवाली प्रमाण हैं।

युक्ति भी-असत्से सत्की उत्पत्तिमें शशशृङ्ग आदिकी उत्पत्ति माननी पड़ेगी और बन्ध, मोक्ष भी अकारण ही होंगे जो कि नहीं हो सकते यह युक्ति भी प्रमाण हैं। यदि अतीत होनेपर भी है तो उपलब्ध क्यों नहीं होते? इसपर कहते हैं—संसर्गसे उपलब्ध नहीं होते। इस कार्य जगत्का अपने कारण प्रकृतिमें संसर्ग होने, विभक्त न रहने, लय हो जानेसे उपलब्धि नहीं होती है; क्योंकि उसके लौकिक साक्षात्कारमें उनकी सूक्ष्मता प्रतिबन्धक है। इस प्रकार कार्य-कारणके अभेदसे सभी परिणामी प्रकृति आदिकोंके प्रकारभेदसे नित्य और अनित्य उभय रूपकी व्यवस्था हो जानेसे उनके सत् और असत् रूपताका सिद्धान्त सिद्ध हो गया। 'सदसत्ख्यातिर्बाधाबाधाभ्याम्' बाध और अबाधसे सत्, असत् ख्याति है। यह सांख्य-दर्शनका सूत्र भी प्रमाण हो जाता है। यही जड़ोंकी व्यावहारिकी सत्ता पुराण आदिमें कही गयी

है जो 'निःसत्तासत्तं प्रधानम्' भाष्यकारने पूर्व कहा है वह पारमार्थिक सत् और असत्के अभिप्रायसे कहा है। हमने उसकी वहीं व्याख्या कर दी है। इससे आत्मा ही सत् है, अन्य सब असत् है। यह श्रुति और स्मृतिके वादके भी विरुद्ध नहीं है। एकान्त नित्यकी ही पारमार्थिक सत्ता है और वह कूटस्थ नित्यकी ही है, क्योंकि वह असत्ताके संपर्कसे रहित है। प्रकृतियोंकी व्यवहारसत्ता नित्य नहीं है, इसी प्रकार—

नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका।
सदसद्भ्यामनिर्वाच्या मिथ्या भूता सनातनी ॥

माया न सद्रूपा है, न असद्रूपा है, न उभयरूपा ही है। सत् और असत्से अनिर्वचनीया मिथ्यारूपा सनातनी है इत्यादि वाक्य भी संगत हो जाते हैं। आधुनिक वेदान्तियोंके अनिर्वचनीयवादमें संगत नहीं होते; क्योंकि उन्होंने माया नामक जगत्के कारणका भी विनाश या अत्यन्त तुच्छत्व ही परमार्थसे माना है उनके मतमें सनातन शब्दका विरोध है।

धर्मपरिणामकी परीक्षा करके अब लक्षणपरिणामकी परीक्षा करते हैं। 'लक्षणपरिणाम' इति 'अध्वसु वर्तमान' इति—धर्मोंका नित्यत्व कहा है। बिना नित्यत्व अतीत अनागत लक्षणके संयोग असम्भव है। यहाँ एक-एक लक्षणके अभिव्यक्तिके कालमें भी धर्म सूक्ष्म लक्षणान्तरके बिना नहीं होता। यह समुदायका अर्थ है तथा धर्मोंकी भाँति लक्षण भी नित्य ही है। अतः न असत्की उत्पत्ति होती है और न सत्का अत्यन्त उच्छेद होता है। यह प्रसङ्ग दोष नहीं है।

शङ्का—एक लक्षणकी व्यक्तिके कालमें लक्षणान्तरकी अनुपलब्धिसे उनका अभाव ही युक्त है।

समाधान—उनकी उपलब्धि अनुमानसे होती है। उसको दर्शाते हैं—यथेति न शेषासु विरक्त इति—शेषोंमें विरक्त नहीं है। रागके भावी होनेमें विरक्त व्यवहार नहीं देखा जाता, तथा च एक विषयक रागादिके कालमें अन्योंकी सत्ता अनुमानसे सिद्ध होती है। लक्षणपरिणाममें भी दूसरोंके दूषणकी उद्भावना करते हैं। अत्रेति—सब अनागतादिको वर्तमानादि सब लक्षणोंसे योग होनेसे अनागत आदि भी वर्तमान ही हो जायँगे। तब अध्वोंका संकर हो जायगा, यदि उनमें क्रम मानें तो असत्की उत्पत्ति माननी पड़ेगी, अतः वर्तमान लक्षण ही सब वस्तु होंगी। पूर्व और उत्तरकालमें उनका अभावमात्र होगा और अभावके प्रतियोगी होनेसे उनमें अतीतादि व्यवहार हो जायगा। इसमें पहले धर्मोंमें लक्षणत्रयके सम्बन्धकी व्यवस्था करते हैं। धर्माणामिति—धर्मोंका धर्मत्व पूर्व सिद्ध कर चुके हैं, यहाँ सिद्ध नहीं करना है, धर्मत्वके सिद्ध हो जानेपर धर्मोंका लक्षण, भेद और लक्षणबहुत्व भी कहना चाहिये, अर्द्ध—वैनाशिकके कहे वर्तमान मात्र एक लक्षण नहीं है; क्योंकि वर्तमान समयमात्रमें ही इस धर्मका धर्मत्व नहीं है, किंतु अतीतादि समयमें भी धर्मका धर्मत्व है। यहाँ हेतु कहते हैं एवं हीति—क्योंकि इस प्रकार वर्तमान कालमें ही धर्मत्व होनेपर सब ही चित्त रागधर्मक नहीं होंगे, अर्थात् विरक्त होंगे, विरक्त व्यवहारके योग्य होंगे, क्योंकि क्रोधके कालमें रागका आविर्भाव नहीं होता।

भाव यह है—जैसे कि जब कभी चिद्रागकी सत्तासे आपका चित्त रक्त है यह व्यवहार होता है, तथा जब कभी चिद्रागके अभावसे चित्त विरक्त है यह व्यवहार होना चाहिये, अतः अतीतादि कालमें भी राग आदि चित्त आदिके धर्म हैं, धर्मोंका त्रिलक्षणत्व सिद्ध है। जो उन्होंने कहा है कि अभावकी प्रतियोगिता-मात्रसे अतीत आदि व्यवहार होता है, वह भी हेय है; क्योंकि घटके न होनेपर ध्वंसके प्रतियोगिता

आदि रूप अतीतत्वकी वृत्ति ही नहीं बन सकती, संयोगित्व आदिकी भाँति प्रतियोगित्व आदिकी दो सम्बन्धियोंके बिना अनुपपत्ति है, क्योंकि सत् और असत् सम्बन्ध देखा नहीं जाता, अतः ध्वंस और प्रागभाव असिद्ध हैं, घट वर्तमान है। इसकी भाँति, घटोऽतीत, घट अतीत हो गया, घट होगा इन प्रतीतियोंसे घटकी अतीत और होनेवाली अवस्थाविशेष ही सिद्ध है। यदि ऐसा न मानें तो भावका अभाव भी अतिरिक्त सिद्ध होने लगेगा, इत्यादि दोषोंकी स्वयं ऊहा कर लेनी चाहिये। इस प्रकार धर्मोंकी तीन लक्षण (काल) की स्थापना करके अब उसके सांकर्यका परिहार करते हैं—किं चेति—तीनों अनागतादि कालोंका एक वस्तुमें सम्भव नहीं है; किंतु अपने व्यञ्जक, दण्ड, चाक आदि वस्तुके व्यञ्जनके समान जिसके उस प्रकारके लक्षणका क्रमसे भाव होता है उस वस्तुकी अभिव्यक्ति होती है। अतः अभिव्यक्तिमें सांकर्य नहीं है, स्वरूपसे तो सांकर्य इष्ट ही है। अव्यक्त लक्षणोंका व्यक्त लक्षणोंके साथ विरोध नहीं है, इस विषयमें पञ्चशिखाचार्यके वाक्यको प्रमाण देते हैं। उक्तं चेति—'रूपातिशया वृत्त्यतिशया च परस्परेण विरुद्ध्यन्ते सामान्यानि तु अतिशयैः सह वर्तन्ते।' रूप अतिशय और वृत्ति अतिशय आपसमें विरोधी हैं। सामान्य तो अतिशयोंके साथ रहा करते हैं। धर्मसे लेकर अनैश्वर्यतक आठ चित्तके रूप हैं। ज्ञान आदि आश्रय शान्त घोर मूढ़ चित्त परिणाम वृत्ति हैं, इनका अतिशय-अभिव्यक्ति रूप उत्कटता है। इस वाक्यकी व्याख्या 'गुणवृत्तिविरोधाच्च' (२ । १५) 'इस सूत्रपर कर दी है।'

उपसंहार करते हैं—तस्मात् इति—असंकरमें दृष्टान्त कहते हैं। यथेति रागस्यैवेति—धर्मोंके तीन लक्षणोंके सम्बन्धमें रागका ही यह अर्थ है। क्वचित् विषयमें अन्यत्र विषयान्तरमें अभाव है—सामान्याभाव है यह अर्थ है, दार्ष्टान्तिकको कहते हैं 'तथा लक्षणस्येति' कहीं समुदाचार है इत्यादि अर्थ है, यह लक्षण परिणाम धर्मीका नहीं होता; किंतु धर्मोंका ही होता है, इस प्रकार धर्म परिणामसे विशेष कहते हैं—न धर्म इति।

शङ्का—लक्षण परिणाम लक्षणमें है या नहीं ? यदि है तो अनवस्था दोष है। यदि नहीं है अर्थात् लक्षणमें लक्षण परिणाम नहीं है तो लक्षण परिणाममें परिणाम लक्षण असम्भव है, क्योंकि पूर्व लक्षणके अतीत होनेपर लक्षणान्तरकी अभिव्यक्तिको ही लक्षण परिणामत्व है।

समाधान—ऐसा नहीं है क्योंकि बीज और अङ्कुरकी भाँति प्रामाणिक होनेसे यह अनवस्था दोष नहीं है। यदि इसको भी दोष मानें तो धर्मका धर्म उस धर्मका भी धर्म इत्यादि अनवस्थाको भी दोषकी आपत्तिसे धर्म-धर्मीभाव आदि भी सिद्ध न होंगे। अधिक तो निर्वितर्क सूत्र (१ । ४३) पर कह दिया है। इस प्रकार सब धर्मोंका सदा ही तीन लक्षणोंसे सम्बन्ध है और अभिव्यक्ति तीनोंकी क्रमसे होती है। यह बात सिद्ध हो गयी।

शङ्का—यही हो-लक्षणकी अभिव्यक्तिके भी नित्य होनेसे क्रमिकत्व किस प्रकार होगा ? यदि उसमें क्रमिकत्व सम्भव है तो लक्षण क्रमिकत्वने क्या अपराध किया है जो उसमें क्रमिकत्व नहीं माना ?

समाधान—इस विषयमें कहते हैं नित्य और अनित्य उभयरूपके कहनेसे नित्य होनेपर भी सब कार्योंमें अनित्य रूपसे क्रम सम्भव है। लक्षणोंका भी क्रम इष्ट ही है। लक्षणाभिव्यक्तिका क्रम तो लक्षण सांकर्यके लिये प्रकृतमें प्रदर्शित है। अधिक तो निर्वितर्क समापत्ति सूत्रमें हमने कहा है। लक्षण परिणामकी परीक्षा करके अवस्था-परिणामकी परीक्षा करनेके लिये धर्मगत विभागको कहते हैं।

ते लक्षिता इति—लक्षिता-व्यक्ता वर्तमान अलक्षित, अव्यक्त, अतीत और अनागत उस-उस काल,

यौवन और वार्धक्य आदि अवस्थाओंको प्राप्त होते हुए अन्योन्य-अन्यत्वसे—भेदसे बोले जाते हैं। यह बालक है युवा नहीं है इत्यादि रूपसे बोले जाते हैं। वह निर्देश अवस्थान्तरसे, अवस्था-भेदसे ही होता है, द्रव्यके भेदसे नहीं होता है। तब पूर्व अवस्थाके हटनेपर अवस्थान्तरकी प्राप्ति सिद्ध है। वही अवस्था परिणाम है। यह भाव है। यद्यपि इस प्रकारका अवस्थान्तर परिणाम अनागत और अतीत लक्षणोंमें भी पूर्व कहा है, तथापि वर्तमान लक्षणके ही अवस्थापरिणाम स्फुटतया उपलब्ध होते हैं। इस आशयसे वर्तमान लक्षणको आलम्ब करके ही वह उदाहरण दिया है। धर्मीके एक होनेपर भी निमित्तभेदसे अन्यत्व व्यवहारमें दृष्टान्त देते हैं। यथैकेति—जैसे एकत्वकी व्यञ्जक रेखा—अङ्कविशेष जब दो बिन्दुओंके ऊपर (प्रथम बायीं ओर) रहता है तब सौ है—एक नहीं, ऐसा व्यवहार होता है। इनमेंसे एक बिन्दुके लोप होनेपर यह दश है, सौ नहीं है यह व्यवहार होता है और अवशिष्ट बिन्दुके स्थानमें आनेपर एकत्वकी व्यञ्जक रेखा देनेपर ग्यारह है—दश नहीं, यह व्यवहार होता है। दृष्टान्तान्तर कहते हैं। यथा चेति उच्यते चेति—पुत्र-पिता-भ्राताओंसे जनकत्व आदि निमित्तभेदसे व्यवहार होता है।

अवस्था परिणाममें भी बौद्धोंके कहे दूषणको कहते हैं। अवस्थेति-अवस्था परिणामके माननेमें धर्म-धर्मी-लक्षण-अवस्था—इन चारोंको कूटस्थकी आपत्ति है। इसमें हेतु पूछते हैं कथमिति—किस प्रकार-से? उत्तर—अध्वके व्यापारसे व्यवहित होनेसे। क्योंकि व्यापारके निमित्तसे ही सब वस्तुओंमें अनागत आदि अध्वोंके अन्योन्य व्यवधानको माना है, और विभाग माना है, भागरूपसे नहीं माना, क्योंकि धर्म और लक्षणको सदा सत्य स्वीकार किया है। अब विभागके व्यापार-निमित्तक होनेका विवरण करते हैं। 'यदा धर्म' इससे लेकर 'तदा अतीत' इसतक। धर्म शब्द यहाँ आश्रित-वाचक है। न करता है न करेगा आदि और अन्तके अध्वोंके व्यापारकी निमित्तता, व्यापारके अभावके निमित्तसे परम्परासे है। ऐसा होने-पर पूर्वधर्मकी अतीततामें धर्मान्तरकी अभिव्यक्ति होती है, इस प्रकार परिणामलक्षणकी अनित्यता अवस्थाओंकी भी आपको कहनी होगी विनाश नहीं कह सकते। अवस्थाओंके नित्य होनेपर तो कुछ भी अनित्य नहीं होगा। इस भाँति तो सभी धर्म-धर्मी जगत् कूटस्थ होगा। यह दूसरोंने दोष कहा है।

उपसंहार—नित्यत्वमात्र कौटस्थ्य नहीं है, किंतु एकान्त नित्यत्व कौटस्थ्य है। इस आशासे पूर्ववत् उक्त दोषका परिहार करते हैं। नासौ दोषा इति कौटस्थ्य दोष नहीं है। गुण नित्यत्वेऽपेति—धर्मीके नित्य होनेपर भी धर्मोंके विमर्द—विनाशको कूटस्थसे विचित्रता है, विलक्षणता है, अपरिणाम नित्यता ही कौटस्थ्य है और वह पुरुषके अतिरिक्त दूसरेमें नहीं है; यह भाव है। गुणोंके नित्य होनेपर भी गुणोंके विमर्दका उदाहरण देते हैं। यथेति–दृष्टान्तमें नहीं, किंतु उदाहरणमें है। संस्थापनमिति–अर्थके विनाशसे अविनाशी शब्द तन्मात्रा आदिके पञ्चभूतरूप संस्थानधर्ममात्र आदिवाले हैं, अतः वे विनाशी हैं। यह अर्थ है एवं इत्यादिकी इसी भाँति व्याख्या करनी चाहिये। लिङ्ग महत्तत्त्वका नाम है। इसी भाँति अहंकार आदि और घट आदि भी अपने विनाशसे अविनाशी कारणोंके धर्ममात्र और विनाशी हैं, यह बात जाननी चाहिये। वह ही यह श्रुतिने कहा है–'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति' वाचारम्भण—प्रथममात्र विकार नाममात्र है, मृत्तिका है इतना ही सत्य है। सत्य यहाँ विकारकी अपेक्षा स्थिरका नाम है। उस धर्ममें ही विकारसंज्ञा या परिणामसंज्ञा है। अतः धर्मियोंमें परिणामी होनेसे कौटस्थ्य नहीं है और भलीभाँति तो धर्म, लक्षण और अवस्थाओंको कौटस्थ्य नहीं है। तीनों परिणामोंकी

विस्तारसे परीक्षा कर दी। अब भूत और इन्द्रियोंमें तीनों परिणामोंको क्रमसे दिखलाते हैं—उसमें यह उदाहरण है धर्मत इति—धर्मसे परिणामित होते हैं। धर्म परिणामके स्वरूपको दर्शाते हैं, घटाकार इति—परिणाम घटाकार है। नवपुराणतामिति—नवीनताके अनन्तर पुराणताको प्राप्त होता हुआ सब ही धर्म आदिकोंके अवस्थात्वसे अविशेष होनेपर भी गोवलीवर्द न्यायसे ही इनका तान्त्रिक भेदनिर्देश है यह कहते हैं—धर्मियों-के भी—लक्षणकी पुराणत्व आदि अवस्था प्राप्त होनेसे ही नहीं कही है। एक एवेति—एक अवस्था-मात्र ही परिणाम है यह अर्थ है। इस भाँति अवस्था और लक्षणके भी धर्म होनेसे धर्म-परिणाम भी गोवलीवर्द-न्यायसे ही जानने चाहिये। इसी भाँति पदार्थान्तरमें भी जानना चाहिये—भूतान्तरमें, इन्द्रियोंमें, प्रत्यय आदिमें—यह अर्थ है। जिसकी विशेषताको जो पूर्वोक्त ही परिणामोंमें स्मरण कराते हैं। त एते इति—तीनों ही परिणाम धर्मीके स्वरूपका अतिक्रमण न करते हुए धर्मीमें ही अनुगत हैं, अतः धर्म-धर्मीके अभेदसे एक धर्म परिणाममात्र ही है। सामान्यसे धर्मी होता है। वही सब परिणामोंको प्राप्त करता है। सूत्रस्थ परिणाम शब्दकी प्रश्नपूर्वक व्याख्या करते हैं, अथ कोऽयं परिणाम इति—यह परिणाम कौन है, क्या है? उत्तर—अवस्थितस्येति–संस्कारोंमें भी परिणाम कहा है। अतः द्रव्यस्येति—धर्मीका यह अर्थ है। धर्म शब्द आश्रितमात्रका वाचक है। निवृत्ति अतीतता है और उत्पत्ति वर्तमानता है।

शंका—धर्मसे अतिरिक्त धर्मीका अनुभव नहीं होता जिसमें कि धर्म आदि परिणाम हैं। इस शंकापर धर्मसे विवेचन करके धर्मीका प्रतिपादन सूत्रकार करेंगे॥ १३॥

सङ्गति—ऊपर बतलाये हुए तीनों परिणाम जिसके धर्म हैं, उस धर्मीका स्वरूप निरूपण करते हैं।

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी॥ १४॥

शब्दार्थ—(तत्र = उन परिणामोंके)। शान्त = अतीत। उदित = वर्तमान। अव्यपदेश्य = भविष्यत्। धर्मानुपाती = धर्ममें रहनेवाला। धर्मी = धर्मी है।

अन्वयार्थ—(उन परिणामोंके) अतीत, वर्तमान और भविष्यत् धर्मोंमें अनुगत धर्मी।

व्याख्या—सूत्रको तत्र शब्दसे पूरा करके पढ़ें। (व्यासभाष्य) ऊपर उदाहरण देकर समझा आये हैं कि मिट्टी-द्रव्य धर्मी है और मिट्टीके गोले घर्तन और बर्तनके टुकड़े आदि भिन्न-भिन्न आकार जो हो चुके हैं और जो होंगे, उसके धर्म हैं। अर्थात् धर्म धर्मीके विशेष रूप आकार हैं, और धर्मी सामान्यरूप द्रव्य है जो सारे आकारोंमें अनुगत है। द्रव्यके दो रूप हैं सामान्य और विशेष। विशेष धर्म है और सामान्य धर्मी है। विशेष भी अपने अगले विशेषके प्रति धर्मी बन जाता है।

शान्त—इसमें शान्त वे धर्म हैं जो अपना-अपना व्यापार करके अतीत (भूत) मार्ग (काल) में चले गये। जैसे बर्तन (घट) टूटकर मिट्टीमें मिलनेपर वर्तमान धर्मसे अतीत धर्ममें चला गया।

उदित—उदित वे धर्म हैं जो अनागत मार्ग (काल) को त्यागकर वर्तमान मार्ग (काल) में अपना व्यापार कर रहे हैं। जैसे घट (बर्तन) के आकार, मिट्टीके धर्म, जो उसमें छिपे हुए थे, अब उसको छोड़कर वर्तमान धर्ममें आ गये।

अव्यपदेश्य—जो अनागत या भविष्यतमें शक्तिरूपसे रह रहे हैं और जिनका निर्देश नहीं किया जा सकता है अर्थात् जो शक्तिरूपसे स्थित हुए व्यवहारमें न लाये जा सकें और बतलानेमें न आ सकें।

जैसे घट (वर्तन) के आकार मिट्टी धर्मीमें प्रकट होनेसे पहले छिपे रहते हैं जो वर्णनमें नहीं आ सकते। इस प्रकार नियमसे कार्य-कारणरूप योग्यतासे युक्त शक्ति ही धर्म पदार्थ है, उस शक्तिरूप धर्मके उक्त तीन भेद हैं। उन तीनोंमें जो अन्वयीरूपसे रहनेवाली मिट्टी है वह धर्मी है अर्थात् जो मिट्टीके विशेष रूप, आकार आदि हैं वे उसके धर्म हैं; और सामान्यरूपसे मिट्टी द्रव्य जो उन सबमें अनुगत है वह धर्मी है। यहाँ यह समझ लेना भी आवश्यक है कि धर्मीका धर्मों तथा धर्मका धर्मसे परस्पर भेद प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः इनमें अभेद है। धर्मोंकी वर्तमान अवस्थाका प्रत्यक्ष और भूतावस्थाका स्मरण होता है: पर उनकी अनागतावस्था अनुमेय होती है। यदि धर्मी मृत्तिकादिमें अनागत धर्म घटादि न हों तो मृत्तिकामें ही घट होता है, तन्तुओंमें ही पट होता है, यह नियम नहीं बन सकता। इससे सिद्ध है कि मृत्तिका आदि धर्मीमें घटादि अनागत धर्म रहते हैं। अनागतावस्था नैयायिकका प्रागभाव और अतीतावस्था उनका प्रध्वंसाभाव है। वर्तमानावस्थाकी कारण अनागतावस्था है। अनागत धर्म तो वर्तमान मार्गमें आते हैं और वर्तमान धर्म अतीत मार्गमें चले जाते हैं; परंतु अतीत धर्म वर्तमानमें नहीं आते, क्योंकि वर्तमानके कारण अतीत धर्म नहीं हैं बल्कि अनागत धर्म हैं। इसलिये जो घट चूर्ण होकर मिट्टीमें मिलकर अतीत मार्गमें चला गया वह फिर वर्तमान मार्गमें नहीं आयेगा। क्योंकि स्वकारण मिट्टीमें लीन हो जानेसे सूक्ष्मताको प्राप्त होकर वह दर्शनके अयोग्य हो गया है। इसलिये उपलब्धि अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञानका विषय नहीं बन सकता (किंतु पूर्व अनुभूत अतीत लोकों आदिको स्वदेहमें देखा था इत्यादि सिद्ध योगियोंके वाक्य हैं। क्योंकि योगियोंके इस प्रत्यक्षमें विषय और उस अतीत विषयका सन्निकर्ष कारण है।) उसके सदृश अन्य घट अवश्य आ सकते हैं। यहाँ यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि न्याय, वैशेषिकादि दर्शनोंमें गुण-गुणीको प्रायः धर्म और धर्मी कहा गया है। परंतु योगदर्शनमें धर्म और धर्मी शब्द कार्य और उपादान कारणके लिये प्रयुक्त हुए हैं।

इस उपादान कारणरूप धर्मीमें उसके कार्य अव्यपदेश्य (अनागत) धर्म शक्तिमात्र अव्यक्त रूपसे छिपे रहते हैं। उनको अव्यपदेश्य (अनागत) से उदित (वर्तमान) धर्ममें व्यक्तरूपसे प्रकट करने और फिर उदित धर्मसे शान्त (अतीत) धर्ममें अव्यक्तरूपसे छिपानेमें चेतन पुरुष (ईश्वर तथा जीव), देश, काल और संयोग विशेषादि निमित्त कारण होते हैं। अपने-अपने निमित्तोंके मिलनेसे धर्मीके धर्म प्रकट होते हैं।

टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद ॥ सूत्र १४ ॥

योग्यतावच्छिन्न धर्मीकी शक्ति ही धर्म है। उस शक्ति (धर्म) की सत्ता फलकी उत्पत्तिके भेदसे अनुमान की जाती है और वह शक्ति (धर्म) एककी अन्योन्य देखी जाती है।

उनमें वर्तमान स्वव्यापारका अनुभव करता हुआ धर्म-धर्मान्तर जो शान्त और अव्यपदेश्य हैं उनसे भेदित होता है। जब सामान्यसे समन्वागत होता है, तब धर्मी स्वरूपमात्र होनेसे कौन किससे भेदित होवे। उस धर्मीमें तीन धर्म हैं—शान्त, उदित और अव्यपदेश्य। उनमेंसे वे शान्त हैं जो अपना व्यापार करके उपरत हो गये हैं, सव्यापार उदित हैं, और वे अनागत लक्षणके समनन्तर होते हैं, वर्तमानके अनन्तर अतीत होते हैं, अतीतके अनन्तर वर्तमान नहीं हुआ करते; क्योंकि उन अतीत और वर्तमानमें पूर्व पश्चिमताका अभाव है, जैसी अनागत और वर्तमानकी पूर्व पश्चिमता है वैसी अतीत और वर्तमानकी पूर्व

पश्चिमता नहीं है, इसलिये अतीतकी समनन्तरता नहीं है, वह अनागत ही वर्तमानके समनन्तर है ।

अब अव्यपदेश्य कौन हैं ? 'सर्वं सर्वात्मकम्' अव्यपदेश्य हैं जिसके विषयमें कहा है कि जल और भूमिका पारिणामिक रसादिका वैश्वरूप्य स्थावरों (वृक्षादि) में देखा है, तथा स्थावरोंका वैश्वरूप्य जंगमोंमें देखा जाता है और जंगमोंका स्थावरोंमें देखा जाता है । इस प्रकार जातिके अनुच्छेदसे सर्व सर्वात्मक हैं । देश, काल, आकार, निमित्तका सम्बन्ध न होनेसे, समानकालमें आत्माओं (स्वरूपों) की अभिव्यक्ति नहीं होती, जो इन अभिव्यक्त और अनभिव्यक्त धर्मोंमें अनुपाती सामान्य विशेष आत्मा (स्वरूप) है वह अन्वयी धर्मी है । जिसके मतमें यह प्रपञ्च धर्ममात्र निरन्वय है, उसके मतमें भोगका अभाव है, क्योंकि अन्य विज्ञानसे किये कर्मका अन्य भोक्ता कैसे होगा ? और अन्यके अनुभवकी स्मृतिका अभाव होगा, क्योंकि लोकमें अन्यके देखेका अन्यको स्मरण नहीं होता है । वस्तुके प्रत्यभिज्ञानसे (यह वही है जो पूर्व देखा था इससे) अन्वयी धर्मी स्थित है जो धर्मके अन्यथात्वको प्राप्त होकर भी वही प्रतीत होता है । इसलिये यह प्रपञ्च धर्ममात्र निरन्वय नहीं है (इसमें अन्वयी धर्मी अवयवी विद्यमान है) ॥ १४ ॥

विज्ञानभिक्षुके योगवार्त्तिकका भाषानुवाद ॥ सूत्र १४ ॥

उस सूत्रको तत्र शब्दसे पूरा करके पढ़ते हैं, उन परिणामोंके शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी—अतीत, वर्तमान, अनागत धर्मोंमें अनुपाती वर्तमान रूपसे अनुगत धर्मी होता है, यहाँ अव्यपदेश्य विशेषण धर्म और धर्मीके विवेक प्रदर्शनके लिये है । तथा च वर्तमानत्व और अवर्तमानत्व वैधर्म्यसे धर्मी और धर्मका विवेक है, यह भाव है ।

धर्मशब्दार्थकी व्याख्या करते हैं । योग्यतासे अवच्छिन्न धर्मीकी शक्ति ही धर्म है, योग्यतावच्छिन्ना—यह विशेषण दग्धशक्तिके संग्रहार्थ दिया है । वर्तमानताका अर्थ स्वरूपकी योग्यता है । उससे अतीतादि साधारण्यका भी लाभ होता है, वर्तमान आदि विशेष व्यवच्छेदार्थ एवकारका प्रयोग है ।

शक्तित्व यहाँ अनागन्तुकत्व है (स्वाभाविकी) है तथा च अग्निके दाहशक्तिवर्द्धक भी धर्मीमें यावद्द्रव्य भावी है । शक्तिमान्से शक्तिका वियोग नहीं हुआ करता, क्योंकि शक्ति और शक्तिमान्का अभेद सम्बन्ध है । धर्म शब्दके अर्थको कहकर उसके शान्त उदितके उपपादनके लिये अनभिव्यक्ति दशामें भी उनकी सत्ताको सिद्ध करते हैं, स चेति—और वह धर्म शक्तिरूप फलकी उत्पत्तिसे उस समय अनुमित है, अव्यक्त अवस्थामें विद्यमान है । आकस्मिक माननेमें मिट्टीसे ही घटकी उत्पत्ति और तन्तुसे ही पटकी उत्पत्ति इत्यादि भेद फलकी उत्पत्तिमें न होने चाहिये । अतः अनादि कहना होगा; जब अनादि कहेंगे तो अनन्तता भी माननी पड़ेगी (क्योंकि भाव वस्तु अनादि होनेपर अनन्त होती है यह नियम देखा जाता है) ।

एकत्व और अनेकत्वके वैधर्म्यसे भी धर्म-धर्मीके विवेकके लिये कहते हैं—एकस्येति—वे धर्म एक धर्मीके अनेक भी देखे गये हैं । सूत्रके तात्पर्यके विषयधर्मसे धर्मीके विवेकका प्रतिपादन करके पहिले धर्मोंके ही अन्योन्यका प्रतिपादन करते हैं । तत्रेति—उन धर्मोंके मध्यमें वर्तमान धर्म वर्तमानातिरिक्त धर्मान्तरोंसे, शान्त और अव्यपदेश्योंसे भेदित है, विवेचित है, भिन्न है; क्योंकि उनसे इसका वर्तमानत्व और अवर्तमानत्व वैधर्म्य है । वर्तमानका विवरण है—स्वव्यापारमनुभवन्—अपने व्यापारका अनुभव करता हुआ ।

शङ्का—तो क्या इस प्रकार धर्मोंके एकका दूसरेसे अत्यन्त भेद है ? भेद अभेद नहीं है ?

समाधान—'न इत्याह' नहीं—जब तो शान्त और अव्यपदेश्य अवस्थामें धर्म सामान्यतासे अभिव्यक्ति विशेषके विना धर्मीमें अनुगत होता है, विलीन होता है, तब धर्मिस्वरूपमात्रतया अवस्थित होनेसे धर्मीसे विभागरहित होनेसे कौन वह धर्म किस व्यापारसे भेदित हो, भिन्न हो। अयोगी उसका विवेचन कैसे करे, क्योंकि धर्म वा धर्मका लक्षण उपलब्ध नहीं है, अतः उस समय अविभागरूप अभेद भी होता है। इससे भाष्यकारने वेदान्तोक्त ब्रह्माद्वैत भी प्रायः व्याख्यात कर दिया है। प्रलयमें सब वस्तुओंके परमात्मामें ही अविभाग होनेसे जैसा कि आकाशमें बादलोंका लय होता है, तथा च श्रुतिः—'स यथा सर्वासामपां समुद्र एकायनमित्यादिना' वह जैसे कि सब जलोंका समुद्र एक स्थान है इत्यादिसे समष्टि जीवके प्रलयको दिखाकर आत्माद्वैतको कहता है—'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येदिति' जब द्वैतवत् होता है तब एक दूसरेको देखता है। जब तो इसका सर्व आत्मा ही हो गया है तब कौन किसको देखे। अब शान्त, उदित और अव्यपदेश्य शब्दोंके अर्थकी व्याख्या करते हैं—तत्र त्रय इति—वहाँ धर्मीके तीन धर्म होते हैं शान्त, उदित और अव्यपदेश्य। वे शान्त हैं जो व्यापारोंको करके उपरत हो गये हैं। जो व्यापार कर रहे हैं वे उदित हैं। उसकी व्याख्या करके उसके पाठके क्रमसे भ्रमको दूर करनेके लिये कहते हैं—ते चेति—वे उदित अनागत लक्षणके समनन्तर होते हैं। इस प्रकार वक्ष्यमाण अव्यपदेश्यमें भी पाठक्रमका आदर नहीं करना चाहिये। यह कहते हैं कि वर्तमानके अनन्तर अतीत यह पाठक्रम क्यों त्याग दिया, इस आशयसे पूछते हैं—अतीतके अनन्तर वर्तमान क्यों नहीं होते ? उत्तर देते हैं—पूर्वपश्चिमताके अभावसे पूर्व-पश्चिमके द्वारा, उसीका विवरण करते हैं—जैसी अनागत और वर्तमानकी पूर्व-पश्चिमता है, वैसी अतीतकी वर्तमानके साथ नहीं है, तथा च अनागत अवस्थाको जो कि प्रागभाव स्थानीय है, वर्तमान अवस्थामें हेतुता है। अतः अतीत अवस्थाके अनन्तर वर्तमान अवस्था नहीं होती है। उदित और अव्यपदेश्यके पाठक्रमके त्यागमें भी यही बीज है, (यह ही कारण है) उपसंहार करते हैं—'तस्मादिति'—अतीतका समनन्तर नहीं है—पश्चिम लक्षण भेद नहीं है, सत्त्वतः अनागत ही वर्तमानके समनन्तर है, पूर्व है। इससे सत्कार्यवादमें भी पूर्व अभिव्यक्त घटादि फिर उत्पन्न नहीं होते, यह सिद्धान्त याद रखना चाहिये।

शङ्का—क्यों जी ! अनागत और वर्तमानके कार्य-कारण-भाव-सम्बन्धमें ही क्या प्रमाण हैं ?

समाधान—यदि अतीतकी पुनः वर्तमानता हो तो अनिर्मोक्ष होगा। विनष्टान्तःकरणाविद्याकर्मादिका पुनः उद्भव होनेमें मुक्तको भी फिर संसारी होना सम्भव हो जायेगा ! किंच यदि अतीत घट भी पुनः वर्तमान हो जाय तब वह ही यह घट है, इस प्रकारकी प्रत्यभिज्ञा कभी होनी चाहिये ! (परंतु होती नहीं) अतः योग्यकी अनुपलब्धिसे अतीत वस्तुका अनुन्मज्जन निर्णय होता है। यहाँ अनागत और अतीत अवस्थाओंके प्रागभाव और प्रध्वंसरूपोंके कार्यके उत्पादक और अनुत्पादक वैधर्म्यवचनमें अव्यक्त अवस्थाके ही अवान्तर भेद अनागत और अतीत हैं और ये परस्पर विलक्षण हैं यह मानना चाहिये।

शङ्का—यदि यह बात है तो अतीतके पुनः अनुत्पादसे अतीतकी कल्पना ही व्यर्थ है ?

समाधान—नहीं कह सकते, अतीत लोकोंको स्वदेहमें देखा था इत्यादि सिद्ध योगियोंके सैकड़ों वाक्योंकी अनुपपत्तिसे उस अतीतकी सिद्धि होती है, क्योंकि योगियोंके इस प्रत्यक्षमें विषय और उस

अतीत विषयका सन्निकर्ष कारण है। यह भी नहीं कह सकते कि अतीत अर्थका वह स्मरणमात्र है, क्योंकि योगीको पूर्व अनुभूतका भी दर्शन होता है। जो योगज धर्मका भी सन्निकर्ष चाहते हैं उनके मतमें भी असत् पदार्थके सन्निकर्षकी अनुपपत्ति होगी। प्रत्यक्षके प्रति अनेक सन्निकर्षके अनुगमसे हेतुताके ग्रहकी अनुपपत्ति होगी। ज्ञान आदिकोंके विषयता आदि रूप-सम्बन्ध भी असत्में सम्भव नहीं है, क्योंकि सत् पदार्थोंका ही सम्बन्ध देखा जाता है, प्रत्यक्ष आदिमें संयोग आदि ही प्रत्यासत्ति होती है, योगज धर्मसे तो अधर्म—तम आदि प्रतिबन्धमात्रकी निवृत्ति होती है।

शान्त और उदितकी व्याख्या करके अब अव्यपदेश्यकी व्याख्या करनेके लिये पूछते हैं अथाव्यपदेश्याः क इति—अव्यपदेश्य कौन हैं? जो व्यापार करेंगे वे अव्यपदेश्य हैं यह तो कह नहीं सकते; क्योंकि अकरिष्यमाण व्यापार (जो व्यापार नहीं करेंगी) भी केवल अनागत लक्षण वस्तुओंको (योग सिद्धान्तमें) स्वीकार किया है, अतः प्रकारान्तरसे अव्यपदेश्यका लक्षण करते हैं, सर्वं सर्वात्मकमिति। सर्व सर्वात्मक हैं, सर्वात्मक, सर्वशक्तिक, सब शक्ति धर्मवाले हैं, तथा च सर्वत्र परिणामीमें अवस्थित सर्वविकार-जनन-शक्ति ही अव्यपदेश्य है।

शङ्का—वर्तमान और अतीत अवस्थाओंमें तो अनुभव और स्मरण प्रमाण हैं। शक्ति नामकी अनागत अवस्थामें क्या प्रमाण है? और सर्वत्र सर्वशक्तिमत्त्वमें क्या प्रमाण है?

समाधान—यत्रोक्तमिति—अभिव्यक्तिरित्यन्तेन अन्वय है, जिस सर्वत्र सर्वशक्तिमत्त्वमें पूर्वाचार्योंने यह वक्ष्यमाण प्रमाण कहा है, पहले प्रत्यक्षस्थलमें शक्तिका अनुमान कराते हैं—जलभूम्योरिति—जल और भूमिका पारिणामिक रसादि वैश्वरूप्य रस आदिसे स्थावर आदिमें देखा जाता है। मधुर-अम्ल-सुरभि-मृदु-कठिन आदिसे जो अनन्तरूपत्व है वह जल और पृथिवीके परिणामके निमित्तसे है। इस अन्वय और व्यतिरेकसे प्रत्यक्ष देखा जाता है। अतः जल और भूमि स्थावरात्मक हैं, स्थावर शक्तिवाले हैं। शक्तिके विना भी कार्य करना माननेमें अतिप्रसंग होगा, तथा जंगमोंमें जो वैश्वरूप्य है वह स्थावरोंके परिणामके निमित्तसे देखा जाता है। मनुष्य आदिके विषयमें धान्य आदि स्थावरके कार्योंका धान्य आदि विशेषोंके सेवनसे रूपादि विशेष देखा जाता है तथा स्थावरोंका जो वैश्वरूप्य है वह जङ्गमोंके परिणामके निमित्तसे देखा जाता है। गोचर-दुग्धादिसे धान्य चम्पक आदि स्थावरोंके विचित्र रूप-रस आदि देखे जाते हैं, इत्यादि दृष्टान्तोंसे सब वस्तुओंमें सब विकारोंके जननकी शक्ति सिद्ध होती है, यह कहते हैं। इत्येवमिति—जैसे जलादि स्थावरात्मक हैं ऐसे ही अन्य भी सर्वविकारात्मक, सब शक्तिवाले हैं।

शंका—अतीत कार्यमें भावी वस्तु-उत्पादनकी शक्ति नहीं है?

समाधान—जातिके अनुच्छेदसे—यद्यपि अतीत कार्य व्यक्ति उच्छिन्न हो चुकी है तथापि उसकी जातिकी अन्य व्यक्ति उच्छिन्न नहीं है—उनमें शक्ति है, तथा च सर्वात्मकत्व सर्वजातीय शक्तिमत्त्व यहाँ विवक्षित है। यह भाव है, इससे अन्य द्रव्यकी परिणाम व्यक्तियोंके अन्यत्र अभाव होनेपर भी नियमका भङ्ग नहीं होता है, क्योंकि उसकी जातिवाली अन्य व्यक्तियोंमें जननशक्तिका होना सम्भव है। यह बात विष्णुपुराणमें कही है।

यथा च पादपो मूलस्कन्धशाखादिसंयुतः। आदिबीजात् प्रभवति बीजान्यन्यानि वै ततः॥
सम्भवन्ति ततस्तेभ्यो भवन्त्यन्ये परे द्रुमाः। तेऽपि तल्लक्षणद्रव्यकारणानुगता मुने॥

एवमव्याकृतात्पूर्वं जायन्ते महदादयः। सम्भवन्ति सुरास्तेभ्यस्तेभ्यश्चाखिलजन्तवः ॥

जैसे वृक्ष-मूलस्कन्ध और शाखादिसे युक्त आदि बीजसे उत्पन्न होता है और उससे दूसरे बीज उत्पन्न होते हैं; फिर उन बीजोंसे दूसरे वृक्ष उत्पन्न होते हैं। हे मुने! वे वृक्ष भी तल्लक्षणद्रव्यकारणके अनुगत ही होते हैं। इसी भाँति पहले अव्यक्तसे महत् आदि उत्पन्न होते हैं, उस महतसे सुर तथा सुरोंसे अखिल प्राणी उत्पन्न होते हैं।

यदि सर्वत्र सर्वजातीय वस्तुओंके जननकी शक्ति न मानी जाय तब एक ही ब्रह्मासे अखिल देव-दानय, नर, पशु आदि कैसे उत्पन्न हो सकते हैं—अगस्त्यके जठर (जाठराग्नि) से समुद्रका शोषण कैसे हो सकता है? ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, पार्वतीके शरीर आदिमें विश्वका दर्शन कैसे हो सकता है? योगियोंके अपने शरीर और मनसे अनन्त विभूति कैसे उत्पन्न हो सकती है? बहुत कहनेसे क्या लाभ—

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः। येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुमको ज्ञानका उपदेश देंगे जिस ज्ञानसे अशेषतया इन भूतोंको मेरे अंदर देखोगे। सर्वत्र समदर्शी योगयुक्तात्मा सर्वभूतस्थ आत्माको और सर्वभूतोंको आत्मामें देखता है। इत्यादि वाक्योंसे सर्व प्राणियोंके शरीरोंमें सर्वजातीय वस्तुकी सत्ताका वचन शक्तिरूपताके बिना आसानीसे ठीक-ठीक उत्पन्न नहीं हो सकता। अर्जुन आदिने शक्तिरूपसे अवस्थित भावी भीष्मवध आदिको ही कालात्मक कृष्णके शरीरमें दिव्य चक्षुसे देखा था, जैसे कि योगी अतीत और अनागतको देखता है। इससे 'स इदं सर्वं भवति, तस्मात् सर्वमभवत्' वह यह सब हो जाता है, इससे वह सब हो गया था, इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्मवित्की सर्वभावरूपा श्रुत्युक्त सिद्धि भी उत्पन्न हो जाती है।

तथा—जीवोपाधिमें भी जो महैश्वर्य शक्तिमान् होनेसे जीवोंके ईश्वरत्वकी प्रतिपादक श्रुति और स्मृति हैं वे भी उत्पन्न हो जाती हैं। 'त एते सत्या अनृताभिधाना इति' वैसे ही 'वे ये सत्य हैं, अनृतसे ढके हैं' यह श्रुति भी माननी चाहिये।

शङ्का—इस प्रकार सर्वत्र शक्ति माननेमें नाना विकारोंकी एक साथ उत्पत्ति क्यों नहीं होती? और पत्थरके टुकड़ेसे भी अङ्कुर उत्पन्न क्यों नहीं होता? हम लोगोंके शरीरोंसे ब्रह्माकी भाँति संकल्पमात्रसे अखिल प्राणियोंकी उत्पत्ति क्यों नहीं होती?

समाधान—देशकालेति—देश भूलोक आदि, काल-कलियुग आदि, संस्थान—अवयवोंका संयोग विशेष, निमित्त अधर्मादिके प्रतिबन्धक होनेसे (हमारे शरीरोंसे सर्व प्राणियोंकी उत्पत्ति) नहीं होती। एक कालमें विरुद्ध आत्मशक्ति रूपोंकी अभिव्यक्ति वर्तमान लक्षण परिणाम भी नहीं होता है। इस प्रतिबन्ध वचनसे अन्य शंकाओंका भी परिहार हो गया। सहकारीके अभावसे ये सब नहीं होते हैं ऐसा भी कोई परिहार करते हैं। उसका भी प्रतिबन्धनिमित्तक विलम्बमें ही तात्पर्य है, 'निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्' इस आगामी सूत्रमें सब निमित्त कारणोंकी स्वतन्त्रता प्रकृतिके परिणामोंमें प्रतिबन्धके निवर्त्तकतामात्र ही मानी है, अतः पत्थरके टुकड़ेसे अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि अवयव संयोग-विशेष अङ्कुरकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धक हैं। हमारे शरीरसे विश्वकी उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि उसमें अधर्म प्रतिबन्धक है। ब्रह्माण्डादिकी शक्तिवाले घट आदि ब्रह्माण्ड आदिके उत्पादनके बिना ही नष्ट होते देखे गये हैं

वह शक्ति उत्पन्न होकर घटादिके साथ ही नष्ट हो जाती है, क्योंकि उसके आधार घटका नाश हो चुका है। कभी नहुप शरीर आदिके सर्पादिभावकी भाँति परमेश्वर आदिके सङ्कल्पसे घट आदिके भी प्रकृत्यापूरवशसे अवयवोंमें स्थित अखिल परिणाम होते ही हैं। जैसा कि लौकिक लोगोंने भी कहा है—

विषमप्यमृतं क्वचिद् भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छयेति ॥

विष भी कहीं अमृत हो जाता है और ईश्वरकी इच्छासे कहीं अमृत भी विष बन जाता है। इससे तथा ज्ञानके द्वारा पुरुषार्थकी समाप्तिसे चित्तके अत्यन्त विलयके कालमें अनागत शक्तिरूप दुःख भी चित्तके साथ ही नष्ट हो जाता है। अतः 'हेयं दुःखमनागतम्' इस सूत्रोक्त अनागत दुःखकी हेयता भी उपपन्न हो जाती है, ऐसा होनेपर विकारोंका कहीं लक्षणमात्र भी होता है वह अनागत अतीततारूप कहना चाहिये। अन्यथा अनागत दुःखकी हेयता नहीं बन सकेगी; दूसरोंके मतमें अनागत दुःखका हान सिद्ध होनेसे पुरुषार्थ ही नहीं है, और इसमें अनागत दुःख अभावितया नहीं घटेगा। पदार्थोंकी व्याख्या करके समग्र सूत्रार्थको कहते हैं—

य एतेषु—जो इनमें अन्वयी-सर्वधर्मोंमें अन्वयी-स्थिर हैं (वह अन्वयी धर्मी है) तथा च अभिव्यक्त अनभिव्यक्तत्व वैधर्म्यसे धर्म और धर्मीका विवेक-भेद ज्ञान होता है यह सूत्रका तात्पर्यार्थ है। इस भाँति अन्योऽन्य वैधर्म्यसे धर्मोंसे अतिरिक्त होनेसे धर्मीको सिद्ध किया है। अब उसके न माननेमें भाष्यकार बाधक भी कहते हैं। *यस्य तु*—जिनके मतमें धर्ममात्र ही यह सब है और निरन्वय हैं उनके मतमें भोग नहीं बन सकता। धर्ममात्र कहनेसे क्षणिकत्व भी आ जाता है। अनेक क्षण स्थायी होनेपर ही क्षण सम्बन्धरूप धर्मवत्त्व ही पदार्थमात्र होगा! धर्ममात्रका विवरण है—निरन्वय-निर्धार्मिक (धर्मी-रहित धर्म)। धर्मीके निराकरणसे आत्मा क्षणिक विज्ञान है यह भी आ जाता है, तब तो प्रथम पाद में कहेही दूषण हैं—तस्य भोगाभावः—(भोगका सिद्ध न होना)। शेष सुगम है ॥ १४ ॥

सङ्गति—एक धर्मीके अनेक परिणाम (धर्म) किस प्रकार हो सकते हैं। इस शंकाके निवारणार्थ अगला सूत्र है—

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—क्रम अन्यत्वम् = क्रमका भेद; परिणाम-अन्यत्वे = परिणामके भेदमें; हेतुः = हेतु है।

अन्वयार्थ—क्रमोंका भेद परिणामके भेदमें हेतु है।

व्याख्या—एक क्रमसे एक परिणाम होता है। एक धर्ममें अनेक प्रकारके क्रम होते हैं। जितने प्रकारके क्रम होते हैं उतने ही उनके परिणाम होने हैं। पिछले उदाहरणके अनुसार मिट्टीके चूर्णसे पिण्ड, पिण्डसे बर्तन बनना, बर्तन टूटकर कपाल होना, कपालसे ठीकरे होना, ठीकरेसे चूर्ण। यह सब क्रम हैं। इन्हीं क्रमोंके भेदसे इनके परिणाम भेद होते हैं। जो जिस धर्मके पीछे होता है वह उसका क्रम है। जैसे पिण्ड नष्ट होकर बर्तनका उत्पन्न होना। इस प्रकारके क्रमसे धर्म-परिणाम होता है। इसी प्रकार लक्षण-परिणाम भी क्रमसे होता है, जैसे बर्तनके अनागत भावका वर्तमान मार्ग (भाव) में आना एक क्रम है। इससे वर्तमान लक्षण-परिणाम होता है। पिण्डके वर्तमान भावसे अतीत भावमें जाना भी एक क्रम है। इससे अतीत लक्षण-परिणाम होता है। अतीतका वर्तमानमें कोई क्रम नहीं होता। जैसे पूर्व सूत्रमें बतला चुके हैं, इसी प्रकार बर्तनके पकनेसे लेकर चूर्ण होनेतक भी जो क्रम प्रतिक्षण होता

रहता है उससे अवस्था-परिणाम होता रहता है। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिये कि धर्म और लक्षण-परिणाम तो कभी-कभी होते हैं पर अवस्था-परिणाम प्रतिक्षण सूक्ष्मरूपसे होता रहता है और स्थूल भावको प्राप्त होकर प्रकट होता है । इसी परिणामके कारण जो चावल आदि सुरक्षित बुखारियोंमें रखे गये हैं, बहुत वर्षोंके पश्चात् ऐसी दशामें हो जाते हैं कि हाथ लगानेसे चूर्ण हो जाते हैं। ऐसी दशा उनकी अकस्मात् नहीं हुई, किंतु क्षण-क्षणमें क्रम-क्रमसे होती रही है । इसलिये अवस्था-परिणामोंके क्रम यद्यपि प्रत्यक्ष देखनेमें नहीं आते तथापि अनुमानसे जाने जाते हैं। इस प्रकार क्रमोंके भेदरूप हेतुसे एक धर्मीके अनेक धर्म-परिणामोंका; और धर्मोंके तीन प्रकारके लक्षण-परिणामोंका; और वर्तमान धर्मोंके क्षण-क्षणमें होनेवाले असंख्यात अवस्था-परिणामोंका निश्चय होता है ।

यद्यपि वास्तवमें धर्म, धर्मी स्वरूप ही होता है, तथापि धर्म-धर्मीके किञ्चित् भेदकी अपेक्षासे यह तीन प्रकारके क्रमोंका भेद कहा है अर्थात् पृथ्वी आदि विकारोंसे लेकर महत्तत्त्वपर्यन्त ये सब धर्म-धर्मी भाव अपेक्षित हैं । वास्तवमें यह नियम नहीं है कि यह धर्म है और यह धर्मी है, क्योंकि घटादिकोंकी अपेक्षासे जो मृत्तिका धर्मी है वह मृत्तिका भी गन्ध-तन्मात्राका धर्म है । गन्ध-तन्मात्रा जो मृत्तिकाकी अपेक्षासे धर्मी है अहङ्कारका धर्म है। अहङ्कार भी जो गन्ध-तन्मात्राकी अपेक्षासे धर्मी है, महत्तत्त्वका धर्म है; और महत्तत्त्व भी जो अहङ्कारकी अपेक्षासे धर्मी है प्रधान (मूल प्रकृति) का धर्म है । इस प्रकार महत्तत्त्वपर्यन्त धर्म-धर्मी भाव सापेक्ष है, नियत नहीं है । वास्तवमें निरपेक्ष तो मुख्य धर्मी प्रधान ही है जो किसीका धर्म नहीं है। उस धर्मीके ही ये सब परिणाम हैं । ये किंचित् भेदको लेकर तीन प्रकारके कहे गये हैं । वास्तवमें यह एक धर्मीके ही धर्म-परिणामका विस्तार है। यह प्रधान धर्मी ही परिणामी नित्य है ।

जिस प्रकार बाह्य पदार्थोंके अनेक धर्म-परिणाम हैं, इसी प्रकार चित्तमें भी अनेक प्रकारके धर्म-परिणाम हैं। चित्तके धर्म दो प्रकारके हैं—एक परिदृष्ट अर्थात् अपरोक्ष (प्रत्यक्षरूप), दूसरा अपरिदृष्ट अर्थात् परोक्ष (अप्रत्यक्षरूप)। प्रमाणादि (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति, राग, द्वेषादि) चित्तकी वृत्तियाँ प्रत्यक्षरूप हैं; और निरोधादि चित्तके धर्म परोक्ष (अप्रत्यक्ष) रूप हैं, क्योंकि वे प्रत्यक्षसे नहीं जाने जाते, शास्त्र अथवा अनुमानद्वारा ही उनका ज्ञान होता है। वे अपरिदृष्ट सात हैं, जैसा श्रीभगवान् व्यासजीने निम्नश्लोकमें बतलाया है—

निरोधधर्मसंस्काराः परिणामोऽथ जीवनम् ।
चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः ॥

निरोध, धर्म, संस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा, शक्ति चित्तके दर्शन वर्जित (परोक्ष) धर्म है अर्थात् अप्रत्यक्षरूप हैं।

(१) असम्प्रज्ञात-समाधिकी अवस्थामें सब वृत्तियोंका निरोध, 'संस्कारशेष' आगमगम्य है अर्थात् केवल योगशास्त्रसे जाना जाता है, और अनुमानगम्य है; क्योंकि सर्व वृत्तियोंके अभावसे अनुमान किया जाता है ।

(२) चित्तके धर्म पुण्य-पाप केवल सुखदर्शन और दुःखदर्शन आदिसे अनुमेय और आगमगम्य हैं।

(३) चित्तका संस्काररूप धर्म स्मृतिद्वारा अनुमान किये जानेके कारण अनुमेय है ।

(४) चित्तका क्षण-क्षणमें होनेवाला परिणाम अतिसूक्ष्म होनेके कारण अनुमेय है ।

(५) चित्तका जीवनरूप धर्म श्वास-प्रश्वासद्वारा अनुमेय है।

(६) चित्तकी चेष्टा (क्रिया) इन्द्रियों तथा शरीरके अङ्गोंकी चेष्टासे अनुमेय है। क्योंकि इनकी चेष्टा, बिना चित्तके संयोगके नहीं हो सकती और संयोग बिना चित्तकी चेष्टाके नहीं हो सकता।

(७) चित्तमें जो कार्योंकी सूक्ष्मावस्थारूप शक्ति है वह भी स्थूलकार्यके ज्ञानसे अनुमेय है अर्थात् स्थूल राग-द्वेषादिको देखकर सूक्ष्म रागद्वेषादि अनुमान किया जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त सातों चित्तके धर्म अप्रत्यक्षरूप हैं।

सङ्गति—अब यहाँसे पादकी समाप्तितक संयमका विषय और संयमकी विभूतियाँ दिखलायेंगे। उनमेंसे पहले तीनों परिणामोंमें संयम और उसकी सिद्धि बतलाते हैं—

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—परिणाम-त्रय-संयमात् = तीनों परिणामोंमें संयम करनेसे; अतीत-अनागत-ज्ञानम् = भूत और भविष्यत्का ज्ञान होता है।

अन्वयार्थ—तीनों परिणामोंमें संयम करनेसे भूत और भविष्यत्का ज्ञान होता है।

व्याख्या—पिछले सूत्रमें बतलाया गया है कि क्रमोंसे परिणाम होते हैं इसलिये तीनों कालोंमें होनेवाले संसारके समस्त पदार्थ धर्म, लक्षण और अवस्था-परिणामके अन्तर्गत रहते हैं। इसलिये जब योगी किसी वस्तुके इन तीनों परिणामोंको लक्ष्यमें रखकर संयम करता है तो उसको इन तीनों परिणामोंके साक्षात् होनेसे उस वस्तुके सब क्रमोंका अर्थात् जिस-जिस अवस्थामें होकर वह वस्तु इस रूपमें पहुँची है और आगे जिस-जिस अवस्थामें पहुँचेगी और जितने-जितने कालमें पहुँचेगी, सब ज्ञान हो जाता है।

संगति—संयम-साध्य दूसरी विभूति बतलाते हैं—

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—शब्द-अर्थ-प्रत्ययानाम् = शब्द, अर्थ और ज्ञानके; इतर-इतर-अध्यासात् = परस्परके अध्याससे; संकरः = अभेद भासना होता है; तत्-प्रविभाग-संयमात् = उनके विभागमें संयम करनेसे; सर्वभूत = सब प्राणियोंके; रुत-ज्ञानम् = शब्दका ज्ञान होता है।

अन्वयार्थ—शब्द, अर्थ और ज्ञानके परस्परके अध्याससे अभेद भासना होता है। उनके विभागमें संयम करनेसे सब प्राणियोंके शब्दका ज्ञान होता है।

व्याख्या—शब्द-वाचक, जिसको जिह्वासे उच्चारण करते हैं और कानोंसे सुनते हैं जैसे 'गौ' शब्द। जो वक्ताके वागिन्द्रियमें रहता है।

अर्थ—वाच्य, जो शब्दसे जाना जाता है, जैसे दूध देनेवाला, घास खानेवाला पशुविशेष 'गौ'। जो गोशाला या गोचर आदिमें रहता है।

प्रत्यय ज्ञान अर्थात् विषयाकार चित्तकी वृत्ति जो शब्द—गौ और अर्थ—गौ दोनोंको मिलाकर इनका ज्ञान करानेवाली है। जो श्रोताके मनमें रहता है।

यह तीनों अलग-अलग अपनी-अपनी सत्ता रखते हैं और परस्पर भिन्न हैं। अर्थात् गौ शब्द वक्ताके वागिन्द्रियमें रहता है, गौ अर्थ गोशालामें या गोचरमें रहता है और गौ-ज्ञान श्रोताके मनमें

रहता है। पर निरन्तर अभ्यासके कारण तीनों मिले हुए प्रतीत होते हैं। इस कारण जब किसीसे कहा जाता है कि गौको घास-चारा दे आओ, तब वह उस पशुविशेषके पास घास-चारा ले जाता है। वह इन तीनोंमें कोई भेद प्रतीत नहीं करता। पर यदि किसी विदेशी पुरुषसे जिसने अभीतक गौका शब्द नहीं सुना है, कहा जाय कि गौको घास-चारा दे आओ तब वह इन तीनोंके भेदोंको विचारेगा। वह अनुमान करेगा कि पुरुष घास नहीं खाते हैं। इस कारण वह अनुमानसे ही शब्द-गौसे ही अर्थ-गौ और उसके ज्ञानको समझनेका यत्न करेगा। इसी प्रकार सब प्राणी जो शब्द बोलते हैं उसमें शब्द, अर्थ और ज्ञान तीनों होते हैं। योगीको संयम-अभ्याससे समाधि-प्रज्ञा (३.५) प्राप्त होती है। इसलिये वह शब्द, अर्थ और ज्ञानके विभागमें संयम करनेसे इस शब्दका अर्थ और शब्द-अर्थ दोनोंके सम्बन्धी ज्ञानको जान लेता है और सब प्राणियोंकी बोलीको समझ लेता है।

टिप्पणी—इस सूत्रके प्रसङ्गमें भाष्यकारोंने स्फोटवादका बहुत विस्तारके साथ विचार किया है। यह विषय योग-जिज्ञासुओंके लिये उपयुक्त नहीं है इसलिये उसको व्याख्यामें छोड़ दिया गया है, फिर भी इस विषयसे प्रेम रखनेवाले पाठकोंके लिये भोजवृत्ति, व्यासभाष्य तथा वार्तिकका भाषानुवाद और अन्तमें इन सबका संक्षेप विशेष वर्णन रूपमें यहाँ दिये देते हैं—

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ १७ ॥

कर्णेन्द्रियसे ग्रहणके योग्य और नियमसे स्थित है क्रम (पूर्वापर भाव) जिनका ऐसे जो कि नियमसे किसी एक अर्थके बोधक हों वे वर्ण 'शब्द' कहलाते हैं या क्रमशून्य स्फोटरूप ध्वनिसे संस्कृत जो बुद्धि, उससे ग्रहण करने योग्य 'शब्द' कहलाते हैं। दोनों ही प्रकारसे यह रूप (सुबन्त, तिङन्त) पदरूप और वाक्यरूप (सुप्तिङन्तसमुदाय) शब्द होता है। क्योंकि उन दोनोंकी ही एक किसी अर्थके बोधन करानेमें शक्ति है। गोत्वादि जाति, रूपादि गुण, पचनादि क्रिया, देवदत्तादि संज्ञा, शब्दोंके अर्थ हैं। ज्ञान अर्थात् विषयाकारसे परिणत बुद्धि वृत्तिका नाम प्रत्यय है। व्यवहार (कथनादि) में शब्द, अर्थ, प्रत्यय—इन तीनोंके परस्पर अध्याससे (आरोपसे) वस्तुतः भिन्न-भिन्नका भी बुद्धिके साथ एकाकारता होनेसे संकर (मेल) हो जाता है। देखिये, 'गौको ले आ' ऐसा कहनेपर गोत्व जाति युक्तसे सास्ना (गलेका कम्बल) वाले पिण्डरूप अर्थको, उसके कहनेवाले शब्दको और उसके ज्ञानको विना भेदके ही पुरुष निश्चित करता है। यह भेद नहीं होता कि इस अर्थका 'गो' शब्द वाचक है, 'गो' शब्दका अर्थ है, और यह शब्द-अर्थ दोनोंका ग्राहक ज्ञान है। जैसे—यह कौन 'अर्थ' है ? कौन यह 'शब्द' है कौन यह 'ज्ञान' है ? ऐसे पूछनेपर एक रूपसे ही पुरुष उत्तर देता है कि गौ है, यदि 'शब्द' 'अर्थ' 'ज्ञान' इन तीनोंका अभेदाध्यवसाय न हो तो एकाकार उत्तर नहीं बन सकता ऐसी स्थिति है। तथापि शब्दमें वाचकत्वरूप, अर्थमें वाच्यत्वरूप, ज्ञानमें शब्दार्थ-प्रकाशत्वरूप विभाग है।

इस विभेदको करके इसमें जो योगी संयम करता है उसको सब प्राणियोंके अर्थात् पशु, पक्षी, सर्पादिकोंके शब्दसे ज्ञान हो जाता है कि इस अभिप्रायसे उस प्राणीने यह शब्द उच्चारण किया है। ऐसा ज्ञान होनेसे सबको जान लेता है ॥ १७ ॥

व्यासभाष्यका भाषानुवाद ॥ सूत्र १७ ॥

इस विषयमें वाक्—इन्द्रिय वर्णोंमें ही अर्थवती है (वर्णका उच्चारणमात्र ही उसका काम है)।

ध्वनिके परिणाममात्रको विषय करनेवाला श्रोत्रेन्द्रिय है (श्रोत्रका काम ध्वनिके परिणामको ग्रहण करना मात्र है) उसके अर्थको जतलाना नहीं है, पद वर्णात्मक है। जिससे अर्थका कथन होता है—जैसे घटादि—वह नादानुसंहार बुद्धिसे निर्ग्राह्य है (नाद—वर्णोंका नाम है, इसके अनुसंहारकी बुद्धि—एकत्वके आपादनकी बुद्धिसे निर्ग्राह्य है, क्योंकि वर्णोंको बुद्धिसे इकट्ठे करके पदका ग्रहण होता है)।

सब वर्णोंका एक कालमें उच्चारण असम्भव है। अतः परस्पर निरनुग्रहात्मक हैं, परस्पर असंकीर्ण हैं। वे वर्ण समाहाररूप पदको विना छुए—विना उपस्थित किये—विना बनाये ही आविर्भूत—प्रकट और तिरोभूत—लीन होते रहते हैं—अतः प्रत्येक अपदस्वरूप कहे जाते हैं।

फिर एक-एक वर्ण पदात्मा है। पदके निर्माणमें उपादान रूप है, सर्वाभिधान शक्तिसे प्रचित है (सर्व अभिधानोंकी शक्ति संचित है जिसमें), सहकारी वर्णान्तरका प्रतियोगी—सम्बन्धी होनेसे वैश्वरूप्यकी भाँति आपन्न है (असंख्य पद रूप जैसा बना हुआ है)। पूर्व वर्ण उत्तर वर्णके साथ और उत्तर वर्ण पूर्व वर्णके साथ विशेषमें अवस्थापित है, इस प्रकार बहुत वर्ण-क्रमके अनुरोधी, अर्थ संकेतसे अवच्छिन्न (संकेतीकृत अर्थमात्रके वाचक), हैं, इतने ये वर्ण सर्वाभिधान शक्तिसे परिवृत्त हैं, गकार, औकार और विसर्जनीय सास्नादिमान् अर्थ (गौ पशु) को द्योतित करते हैं। जो अर्थ संकेतसे अवच्छिन्न हैं, जिनका ध्वनिक्रम उपसंहृत है—उन वर्णोंका जो एक बुद्धि निर्भास है वह पद वाचक है। वाच्यका संकेतित है, वह एक पद, एक बुद्धि विषय—एक प्रयत्नसे आक्षिप्त—अभाग—अक्रम—अवर्ण—बौध—अन्त्य वर्णके प्रत्ययके व्यापारसे उपस्थापित, दूसरेपर प्रतिपादनकी इच्छासे अभिधान कर्त्ताओंसे अभिधीयमान और श्रोताओंसे श्रूयमाण वर्णोंसे ही अनादि वाग् व्यवहारकी वासनाओंसे अनुविद्ध लोकबुद्धिसे सिद्धवत्—संप्रतिपत्तिसे प्रतीत होता है। उसका संकेत बुद्धिसे प्रविभाग है कि इतने वर्णोंका इस प्रकारका अनुसंहार एक अर्थका वाचक है।

संकेत तो पद और पदार्थके इतरेतराध्यासरूप स्मृत्यात्मक होता है, जो यह शब्द है वही यह अर्थ है और जो यह अर्थ है वही यह शब्द है, इस प्रकार इतरेतराध्यासरूप संकेत होता है। इस प्रकार ये शब्द अर्थ और प्रत्यय इतरेतर अध्याससे संकीर्ण रहते हैं—गौ अर्थ है, गौ शब्द है, गौ ज्ञान है; जो इनके विभागोंका ज्ञाता है, वह सर्ववित् है। सब पदोंमें वाक्यकी शक्ति होती है। वृक्ष इतना कहनेपर—अस्ति (है) क्रिया स्वयं भासने लगती है, क्योंकि पदार्थ सत्तारहित नहीं रहा करता। तथा क्रिया भी असाधन (कारकरहित) नहीं हुआ करती, तथा—पचति (पकाता है) यह कहनेपर सब कारकोंका अध्याहार होता है—चैत्र कर्ता, अग्नि कर्म, तण्डुल करणका कथन तो अनुवादमात्र होता है। वाक्यार्थमें पदोंकी रचना देखी जाती है—श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते (श्रोत्रिय अर्थात् जो छन्द पढ़ता है), जीवति—प्राणान्धारयति (जीता है अर्थात् प्राण धारण करता है), उस वाक्यमें पदार्थकी अभिव्यक्ति होती है, उससे पदका विभाग करके क्रियावाचक है या कारकवाचक है यह व्याख्या करनी चाहिये। अन्यथा (यदि वाक्यमें पदार्थकी अभिव्यक्ति न हो तो भवति (है), अश्व, अज, पय (घोड़ा, बकरी, दूध) इत्यादिमें नाम और आख्यातके समान रूप होनेसे क्रिया और कारकमें अनिर्ज्ञातकी व्याख्या कैसे की जा सकती है। उन शब्द, अर्थ और प्रत्ययोंका विभाग है, जैसे कि 'श्वेतते प्रासादः' (महल सफेद होता है) यह क्रियाका अर्थ है। 'श्वेतः प्रासादः' (महल सफेद है) यह कारकका अर्थ है। शब्द क्रिया और कारक रूप है, उस शब्दका अर्थ प्रत्यय (ज्ञान) है—क्योंकि

सोऽयम्— वह यह इस एकाकार ही प्रत्यय संकेत है। जो श्वेत अर्थ है— वह श्वेत शब्द—और श्वेत प्रत्यय (ज्ञान) का आलम्बनीभूत है (विषय है), वही श्वेत अर्थ अपनी अवस्थाओंसे विकृत होता हुआ न तो शब्दके साथ रहता है और न प्रत्यय (ज्ञान) के साथ रहता है। ऐसे ही शब्द और प्रत्यय भी विकृत होते हुए एक दूसरेके साथ नहीं रहते, शब्द अन्य प्रकारका है, अर्थ अन्य भाँतिका और प्रत्यय इनसे भी विलक्षण है। इस प्रकारसे इनका विभाग है, इस भाँति उनके विभागमें संयम करनेसे योगीको सब प्राणियोंके शब्दका ज्ञान होता है॥ १७॥

विज्ञानभिक्षुके योगवार्तिकका भाषानुवाद ॥ सूत्र १७ ॥

संयमान्तरकी सिद्धिको कहते हैं—शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत् प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्- गौ— इत्यादि शब्द हैं, गौ इत्यादि अर्थ है, गौ इत्यादि प्रत्यय (ज्ञान) है —इनके वक्ष्यमाण संकेतरूप अध्याससे संकर— विवेकका अग्रहण होता है, वास्तवमें इनका भेद है। अतः उनके प्रविभागमें—भेदमें संयमद्वारा साक्षात् करनेपर सर्व भूतोंके शब्दोंका ज्ञान होता है— यह भाग इस अर्थको समझकर इन शब्दोंसे कहता है।

यद्यपि 'साक्षात्कृते सति' यह पाठ सूत्रमें नहीं है तो भी संस्कारसाक्षात्करणात्—इस उत्तर सूत्रसे—साक्षात्कारपर्यन्त ही संयमकी सिद्धि कही है, अतः सर्वत्र सूत्रोंमें संयमकी साक्षात्कारद्वारा ही व्याख्या करनी चाहिये। इसीलिये भाष्यकार भी अनेक सूत्रोंमें दृग्दर्शनार्थ साक्षात्कारपर्यन्त ही संयमकी व्याख्या करेंगे, तीन प्रकारके ही शब्दोंके साथ अर्थ और प्रत्ययोंका और उन शब्दोंके अन्योऽन्य संकरको दर्शानेके लिये पहले शब्दोंके ही तीन प्रकार भाष्यकार दिखलाते हैं— तत्र वागिति—तत्र शब्दके मध्यमें वागिन्द्रिय वर्णोंमें ही प्रयोजनवाली है, वागिन्द्रियजन्य शब्द वर्ण ही हैं—शृङ्ग आदि शब्द और वाचक पद वागिन्द्रियजन्य नहीं हैं। उरः (छाती) आदि स्थानोंमें उत्पद्यमान शब्द—वर्ण है।

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च॥

उर, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ और तालु-वर्णोंके उच्चारणके ये आठ स्थान हैं। इस स्मरणसे वागिन्द्रियकी शरीरसे बाहर वृत्ति (व्यापार) नहीं है, अतः श्रोत्र, ग्राह्य, वक्ष्यमाण शब्द, तदनन्तर श्रोतृबुद्धिग्राह्य वाचक शब्द वागिन्द्रियके कार्य नहीं हैं। क्योंकि श्रोताके श्रोत्रदेशमें वक्ताकी वागिन्द्रियका सम्बन्ध न होनेसे शब्दकी उत्पादकता असम्भव है। वागिन्द्रियजन्य शब्दसे शब्दान्तरको कहते हैं—'श्रोत्रं चेति'— वागिन्द्रियद्वारा शंख आदिमें अभिहत उदानवायुका परिणाम भेद ध्वनि है जिस परिणामसे उदान वायु वक्ताकी देहसे उठकर शब्दधाराको उत्पन्न करता हुआ श्रोताके श्रोत्रको प्राप्त होता है, उस ध्वनिका परिणामभूत वर्णावर्ण साधारण नाद नामक शब्दसामान्य ही श्रोत्र-इन्द्रियका विषय होता है। ध्वनिका अपरिणाम भूत वाचक पद श्रोत्रेन्द्रियका विषय नहीं होता। वह शब्द वर्ण-जातिवाला होनेसे वर्ण कहलाता है। तृतीय शब्दको कहते हैं—पदे पुनर्नादानुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्यमिति—तथा प्रतीति सिद्ध नाद नामक गकारादि वर्णोंका प्रत्येक पद—है—ऐसा प्रत्येकको ग्रहण करके अनु—पीछे जो बुद्धि संहार करती है—एकत्वका सम्पादन करती है—गौः यह एक पद है। इस भाँति—उस बुद्धिसे निर्ग्राह्य वर्णोंसे अतिरिक्त अखण्ड—एक कालमें उत्पद्यमान वक्ष्यमाण स्फोट नामक पद है। इस प्रकार यह तृतीय शब्द अन्तःकरणसे ही ग्राह्य है (अन्तःकरणका ही विषय है)।

उस पदको ही यदि श्रोत्र इन्द्रियसे ग्राह्य माने, तो अन्तःकरणनिष्ठ अनुसंहार बुद्धिको भिन्न अधिकरणमें होते हुए हेतु मानना होगा और वह अयुक्त है— क्योंकि प्रत्यासत्तिमें समानाधिकरणको ही लाघव है। अनुसंहार बुद्धि भी श्रोत्रादिकी ही है। यह नहीं कह सकते, क्योंकि यह असम्भव है। आनुपूर्वीकी एकतासे वर्णोंकी एकताका आपादान होता है और वह आनुपूर्वी गकारके उत्तर औकारादि रूपिणी है, वह अनेक वर्णपदोंमें श्रोत्रेन्द्रियसे ग्रहण नहीं हो सकती। आशुविनाशी होनेसे वर्णोंका मेल नहीं हो सकता, पूर्व-पूर्व वर्णोंके संस्कार और उन संस्कारोंसे स्मृतियाँ जो कि अन्तःकरणनिष्ठ हैं, उनको अन्तःकरणकी सहकारिता ही उचित है। अतः स्मृत वर्णोंकी आनुपूर्वीका मनसे ही ग्रहण हो सकता है—यह भाव है।

शंका—क्यों जी? स्फोट नामक शब्द किस प्रकारका है? और उसका कारण क्या है तथा उसमें प्रमाण क्या है?

समाधान—अत्रोच्यते—जैसे बीज, अङ्कुर आदि अनेक अवस्थाओंमें स्थित वृक्ष धर्मी उन क्रमिक अवस्थाओंसे अतिरिक्त पल्लव आदि रूप अशेष अवस्थासे व्यक्त होता है कि यह आम्र-वृक्ष है। दूसरा वृक्ष नहीं है। वह वृक्ष बीजादिसे भिन्न-अभिन्न है; क्योंकि उसमें भेद और अभेद दोनोंका अनुभव होता है। ऐसे ही गकार, औकारादि अनेक अवस्थावाला गौ इत्यादि अखण्ड स्फोट शब्द क्रमिक गकारादि अवस्थाओंसे अतिरिक्त आनुपूर्वी विशेष विशिष्ट विसर्जनीय आदि रूप चरम अवस्थासे व्यक्त होता है कि यह 'गौ' है यह पद, गौः इति इत्यादि रूपसे व्यक्त नहीं होता, वह स्फोट पद गकार आदि वर्णोंसे भिन्न और अभिन्न है; क्योंकि उसमें भेद और अभेद दोनोंका अनुभव होता है और वह पद नामक शब्द अर्थके स्फुट (साफ प्रकट) करनेसे स्फोट कहलाता है। स्फोट शब्दका कारण एक प्रयत्नजन्य ध्वनि विशेष है, प्रयत्न भेदसे उच्चारणमें व्यवधान होनेपर एक पद व्यवहार नहीं हो सकता। गौः यह एक पद है, यह व्यवहार स्फोटमें प्रमाण है। वर्णोंके अनेक होनेसे, उनसे एकत्व व्यवहार सरलतया नहीं बन सकता, तथा प्रत्येक वर्णसे उत्पद्यमान अर्थ प्रत्ययका हेतुत्व स्फोटमें प्रमाण है। यदि आनुपूर्वी विशिष्ट समूहके एक होनेसे एकत्व व्यवहार होता है और उसी रूपसे अर्थ प्रत्यय (ज्ञान) के प्रति हेतुता मानें, तो संयोग-विशेषसे अवच्छिन्न (युक्त) अवयवसमूहसे ही एकत्व व्यवहार और (घटसे) जलादिके लानेकी सिद्धि हो जायगी, जिससे कि घटादि अवयवी मात्रका उच्छेद हो जायेगा, क्योंकि दोनों दशामें युक्ति समान है।

शंका—तब तो युक्तिसाम्यसे एक-एक वाक्य भी स्फोट रूप हो जायगा?

समाधान—यदि वाक्य स्फोटमें कोई बाधक न हो तो वाक्य स्फोट मानना हमको इष्ट ही है। भाष्यकारने तो वर्णोंके पद होनेका संक्षेपसे निराकरण किया है। वर्णा एकेति—अनेक वर्ण एक कालमें स्थितिके योग्य न होनेसे परस्पर निरनुग्रहात्मा असम्बद्धस्वभाव हैं, अतः वे पदको न छूकर—पदत्वको प्राप्त न होकर— (पद न बनकर) इसीलिये अर्थको उपस्थित न करके (अर्थको बिना प्रकट किये ही) आविर्भूत होकर ही क्षणभरमें तिरोभूत हो जाते हैं। इसलिये प्रत्येकको अविवेकी अपदस्वरूप कहते हैं। यहाँ स्वरूपपदके ग्रहणसे अवस्था और अवस्थावालेके अभेदसे वर्णोंके पदत्वका निराकरण नहीं किया है।

शंका— यदि वर्ण पदस्वरूप नहीं है तो लोग इतने वर्ण क्रमविशेषसे युक्त इस अर्थके वाचक हैं ऐसा संकेत किस प्रकार कर लेते हैं?

समाधान—'वर्णाःपुनरित्यादि' यहाँसे लेकर संकेत्यते इस पर्यन्त वाक्यसे समाधान किया है। उसका अर्थ यह है, यद्यपि वर्ण पदसे भिन्न हैं, तथापि अवस्था और अवस्थावालेके अभेदकी भी सत्ता है। (अभेद भी है) अतः एक-एक भी वर्ण पदरूप हैं—पदसे अभिन्न है। जैसे कि बीज और अङ्कुर वृक्षसे अभिन्न होते हैं। इसीलिये पदरूपसे सर्व पदार्थोंके अभिधानकी योग्यतासे सम्पन्न होते हैं। इसमें हेतु कहते हैं—सहकारीति पदभावमें सहकारी जो वर्णान्तर उनका प्रतियोगी-सम्बन्धी होनेसे अनन्त पद रूपताको प्राप्तकी भाँति आपन्न होता है (बन जाता है)—यहाँ इव शब्दका प्रयोग भाष्यकारने वैश्वरूप्यकी योग्यतामात्रके प्रतिपादनके लिये किया है।

वैश्वरूप्यका प्रकार कहते हैं—पूर्व गकार उत्तर और इस वर्णद्वयके साथ गण इत्यादि पदसे व्यावृत्त होता है (पृथक् होता है)। उत्तर विसर्जनीय, पूर्व गौ इन वर्णद्वयसे गौः इत्यादि पदोंसे व्यावृत्त होकर (पृथक् होकर) विशेष गौः इस अखण्ड स्फोट पदमें तादात्म्यसे (अभेद रूपसे) अवस्थापित होता है। इस हेतुसे इस प्रकारके क्रमानुरोधी बहुत-से वर्ण, आनुपूर्वी विशेषकी अपेक्षा रखनेवाले, पदके अभेदसे अर्थ-संकेतसे अवच्छिन्न (युक्त) नियमित होकर सर्व अभिधानमें समर्थ भी इतने इतनी संख्यावाले ये गकारादि गौको ही अवस्थापित करते हैं (गौका कथन करते हैं) अतः उस प्रकारसे वर्ण मुखसे, वह पद ही अविवेकसे संकेत किया जाता है—यह भाष्यका अन्वय है। उसमें हेतु है वाच्यस्य वाचकमिति—पद ही वाच्यका वाचक है—उपस्थापक है (वाच्यको कहनेवाला है)। अन्यका अन्य रूपसे संकेतमें हेतु है। 'एतेषाम्' से लेकर 'निभासः' तक। जो पद नामक बुद्धिमात्रग्राह्य अर्थसंकेतसे अवच्छिन्न (युक्त) इन वर्णोंका स्फोट है, तथा समाप्त ध्वनिजन्य क्रम आनुपूर्वी विशेष जिन उस प्रकारके वर्णोंकी है, वह एक है, अभिन्न है, यह पदके स्वरूपका कथन किया है। वाक्यार्थ समाप्त हुआ।

भाव यह है, जैसे मिले हुए दो कपाल जल लानेके हेतु होते हैं—यह अविवेकसे बालकोंके लिये कहा जाय, क्योंकि पटसे घटको पृथक् करनेवाला अन्य असम्भव है, उससे बालक कपालके अविवेकसे घटको ही जल लानेका हेतु समझता है। ऐसे ही स्फोटान्तरके व्यावर्त्तनके लिये वर्णोंके अविवेकसे ही स्फोटमें संकेतका उपदेश और संकेतका ग्रहण होता है, अतः वर्णोंमें संकेतताकी अनुपपत्ति असिद्ध नहीं है।

त्रिविध शब्दको दर्शाकर अब उनमेंसे संकेतके कारणका प्रतिपादन करते हैं, तदेकमिति—प्रतीयते, इसके साथ अन्वय है। अर्थ यह है, यद्यपि वह पद स्फोट नामक एक ही है, वर्णोंके समान अनेक नहीं है, और एकत्वमें प्रमाण है एक बुद्धिविषयत्व, तथा वक्ताके एक ही प्रयत्नसे ध्वनि आदिद्वारा उत्पादित है (उत्पन्न होता है), वर्ण तो प्रयत्नभेदसे भी उत्पन्न होते हैं, तथा यह पद अभाग है, निरंश है। वर्णसमूह तो वनके सदृश सांश है, तथा यह पद (स्फोट) अक्रम है, एक कालमें ही उत्पद्यमान है। वर्णोंके समान क्रमसे उत्पन्न नहीं होता, अतः इन हेतुओंसे पद स्फोट वर्णोंसे भिन्न है। किं च—स्फोट बौद्ध है, बुद्धिमात्रसे ग्राह्य है तथा अन्त्य वर्णके प्रत्ययरूप व्यापारसे व्यक्त होता है, वर्ण ऐसे नहीं हैं तो भी दूसरोंके प्रति प्रतिपादनकी इच्छासे वक्ताके बोले और श्रोताके सुने इस प्रकारके वर्णोंके द्वारा ही सिद्धवत्, परमार्थवत् एक दूसरेकी सम्प्रतिपत्तिके संवादसे प्रतीत होते हैं, व्यवहारमें आते हैं, वर्णोंसे भिन्नरूपसे व्यवहारमें नहीं आते, उसमें हेतु है—अनादि वाग् व्यवहारकी वासनाओंसे वशीकृत लौकिक बुद्धि। यहाँ 'अभिधीयमानैः' इससे पदके वाग् इन्द्रियविषयक वर्णोंका अविवेक समझना चाहिये और 'श्रूयमाणैः' इससे पदके श्रोत्रविषयक शब्दका अविवेक जानना चाहिये।

इस प्रकार तीन प्रकारके शब्दोंके अन्योन्याध्याससे संकरको दर्शाया है। अब त्रिविध शब्दसे अर्थ और प्रत्ययके अभ्यासका प्रतिपादन करनेके लिये शब्द व्यवहारके संकेत ग्रहमूलक होनेको कहते हैं तस्येति—उस पदका प्रविभाग विषयकी व्यवस्थाके संकेतके ग्रहणसे ही होता है। प्रविभागको ही कहते हैं एतावतामिति—इतने वर्णोंका, इस प्रकारका, ऐसा आनुपूर्वीवाला अनुसंहार-मिलन, इस अर्थका वाचक है, उपस्थापक है, इस भाँतिका विभाग होता है एकस्यार्थस्य—इस प्रकारका पाठ मानें तो उसका अर्थ होता है—अर्थविशेषका।

संकेतका शब्दार्थ कहते हैं—'संकेतस्त्विति' अध्यास संकेतकर्ताका आहार्य आरोप है जिसका अर्थ है आरोपितका अभेद, उसहीका ज्ञान पदार्थका उपस्थापक होता है, उसमें आधुनिकोंकी कल्पनाकी व्यावृत्तिके लिये स्मृत्यात्मक पदका प्रयोग है, अतः विषय और विषयीके अभेदसे पाणिनि आदिकी स्मृति है। यह भी नहीं कह सकते कि कल्पित अभेद असत्से वह असत् संकेत कैसे हो सकता है? क्योंकि असत्-ख्याति तो स्वीकार ही नहीं है, अन्यत्र सत्-अभेदकी अन्यत्र कल्पना होती है, (अन्यत्र सत् रजतकी अन्यत्र सीपमें कल्पना होती है) अध्यासके संकेतत्वमें प्रमाण कहते हैं—'योऽयं शब्दः' इससे लेकर 'भवति' तक। ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म इत्यादि शास्त्रोंमें, कम्बुग्रीवादिमान् घटः इत्यादि लोकमें पद और पदार्थ-का अभेद आरोप ही संकेत दिखलायी देता है, क्योंकि ओमित्यादिके शब्द वाच्यत्वकी लक्षणामें कोई प्रमाण नहीं है, अतएव कोशोंमें 'अमरा निर्जरा देवाः' इत्यादि शब्द और अर्थका आरोप्यमाण अभेद ही संकेत दिखायी देता है, अतएव इस अनादि अभेदके आरोपसे आगमी लोग मन्त्र और अर्थके अभेद उपासनाका उपदेश करते हैं, और मीमांसक मन्त्रमयी देवता कहते हैं। जो तो—इस शब्दसे यह अर्थ जानना चाहिये इस प्रकारकी ईश्वरकी इच्छाका विषयशक्ति दूसरे तन्त्रोंमें लक्षित है वह अप्रामाणिकी है और लक्षणाशक्ति-जैसी ही है। दूसरी बात यह है कि ईश्वरको न जाननेवालेको भी शब्दार्थ प्रत्यय देखा जाता है तथा पद और पदार्थके अभेदसे संकेत भी युक्त न हो सकेगा, इत्यादि दोष जान लेने चाहिये।

अब संकेत बुद्धिनिमित्तक तीनोंका संकेत है। इसको कहते हैं एवमेव इति—इस प्रकार संकेत बुद्धिके कारणसे वे तीन प्रकारके शब्द, अर्थ और प्रत्यय संकीर्ण—अविविक्त हैं, उनमें संकेतका ग्रह ही शब्द और अर्थका इतरेतर अध्यास है, क्योंकि शब्द और अर्थका तो प्रत्ययके साथ एकाकार होनेसे अन्योन्याध्यास प्रसिद्ध ही है। यह भाव है।

संकरके आकारको कहते हैं—गौरिति य इति—वह ही शब्द आदिका तत्त्वज्ञ है अन्य नहीं। वर्ण, ध्वनि पदोंके अन्योन्य संकरकी भाँति अब पद-वाक्य और उनके अर्थोंके संकरसे भी शब्द-अर्थ और प्रत्ययोंका संकर दिखलाते हैं सर्वपदेष्विति—वाक्यकी शक्तिपदार्थान्तरके सहकारसे वाक्यभवन शक्ति है (वाक्य बननेकी शक्ति है) तथा वृक्ष इत्यादि पदोंकी वृक्षोऽस्ति (वृक्ष है), वृक्षश्चलति (वृक्ष चलता है), वृक्षश्छिद्यते (वृक्ष कटता है) इत्यादि वाक्योंसे संकर—अविवेक होता है यह भाव है। पदोंमें वाक्यशक्तिका उदाहरण देते हैं—वृक्ष-इत्युक्त-इति वृक्ष ऐसा कहनेपर आकांक्षाको पूर्ण करनेके लिये योग्यता आदिके वशसे अस्ति (है) इस क्रियाका अध्याहार होता है। तथा पदमें वाक्यका संकर है यह भाव है।

शंका—शब्दका अध्याहार सम्भव नहीं है क्योंकि एक ही अर्थमें अनन्त शब्दोंका प्रयोग होता है और किसी विशेष शब्दका अनुमापक लिङ्ग उपस्थित नहीं है।

समाधान—यह बात नहीं है क्योंकि अपनी इच्छासे स्वयं कल्पित किसी भी आकांक्षाके पूरक शब्दसे वक्ताके तात्पर्यविषयक अर्थका बोध हो सकता है, अर्थविशेषके अनुमानमें तो योग्यता, आकांक्षा, तात्पर्यादिक लिङ्ग हैं ही। यही कहते हैं, 'न सत्तामिति' योग्यताके दिखलानेसे आकांक्षा तात्पर्य आदि भी उपलक्षित हो गये हैं, क्योंकि केवल योग्यता तो अर्थान्तरमें भी साधारण है, उदाहरणान्तर कहते हैं, तथा नहीति—असाधन-कारकरहित कोई क्रिया नहीं होती, पचति कहनेपर सब कारकोंका आक्षेप, अर्थात् अनुमान होता है।

शंका—यह बात है तो कारकवाचक पदोंका कहीं भी प्रयोग नहीं होगा?

समाधान—नियमाय इति—कारकवाचक पदोंका नियमके लिये अनुवाद होता है, योग्यता आदिसे सर्वत्र विशेष अर्थका अनुमान सम्भव नहीं है, अतः अनुमित कारकोंका भी सामान्यसे 'नियमार्थ—दूसरे कारकोंसे व्यावृत्ति (पृथक् करनेके लिये) प्रयोग होता है' चैत्रोऽग्निना भजनम्—इत्यादि पदोंसे चैत्र, अग्नि, भजन इस कर्ता, करण, कर्मका अनुवाद है। अब अध्याहारके विना भी अर्थके अभेदनिमित्तक पद और वाक्यके संकरको दिखलाते हैं, दृष्टश्चेति-छन्दोऽधीते (छन्द पढ़ता है) इस वाक्यके अर्थमें श्रोत्रिय इस पदकी—तथा प्राणान् धारयति—(प्राणोंको धारण करता है) इस वाक्यके अर्थमें जीवति—इस पदका वचन है—कथन है।

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद् द्विज उच्यते।
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते॥

जन्मसे ब्राह्मण जानना चाहिये और संस्कार (यज्ञोपवीत-संस्कार) से द्विज कहा जाता है, विद्यासे विप्रत्वको पाता है और तीनोंसे (जन्म, संस्कार और विद्या—वेद-विद्यासे) श्रोत्रिय कहलाता है। इस स्मृति-प्रमाणसे और जीव = बलप्राणधारयोः उस अनुशासनसे (साधुपाठ प्रमाणसे)।

शंका—यदि वाक्यार्थकी सिद्धि पदसे भी होती है तो 'गुरुतरस्य छन्दोऽधीते' इस वाक्यका वचन कभी भी न होगा?

समाधान—तत्र वाक्य इति—उस वाक्यमें पदके अर्थकी अभिव्यक्ति होती है, (उससे पदका विभाग करके क्रियावाचक है या कारकवाचक है विवरण करना चाहिये) अतः पद और वाक्यके संकरसे संशयके स्थलमें पदका वाक्यसे विवरण करना चाहिये।

प्रसंगसे कहते हैं, तत इति—क्योंकि वाक्यार्थमें भी पदरचना होती है। अतः संदेहस्थलमें पदका अंश भेदोंके द्वारा वाक्यसे विवरण करना चाहिये। व्याकरण न होनेपर अर्थका बोध न होनेसे वाक्यका व्यवहार ही व्यर्थ हो जायगा। इसके लिये कहते हैं, अन्यथेति—भवति—यह प्रयोग करनेपर नाम और आख्यातके समान रूप होनेसे 'भवति घटः' 'भवति भिक्षां देहि' इन दो अर्थोंमें संदेह होनेपर अनवधारित पदका किस प्रकार किस प्रयोजनसे क्रिया या कारकमें विवरण किया जाय? श्रोताको अर्थका ज्ञान असम्भव है, इसी भाँति 'अश्व' यह कहनेपर 'गतिमकार्षीर्घोटको वा' चला था या घोड़ा है, यह संदेह होता है; क्योंकि नाम और आख्यातमें समानरूपता है। तथा 'अजापयः' यह कहनेपर 'छाग्याः पयः' 'शत्रून् पराभावितवान् वा' इस अर्थमें संदेह होता है; क्योंकि नाम और आख्यात समान रूप हैं। इस प्रकार अर्थ और प्रत्ययोंके संकरको दिखलाकर अब प्रविभागको दिखलाते हैं, तेषामित्यादिसे उनमेंसे पहले

शब्दका भेद होनेपर भी अर्थ और प्रत्ययके अभेदसे शब्द और अर्थके भेदको दिखलाते हैं—'श्वेतते' इससे लेकर 'प्रत्ययश्च' इस तकसे (श्वेतते प्रासादः) यह क्रियाका अर्थ है, (श्वेतः प्रासादः) यह कारकका अर्थ है—शब्द क्रिया कारक रूप है, उस शब्दका अर्थ और प्रत्यय (ज्ञान होता है—यह भाष्य है) क्रियासे साध्यरूप है अर्थ जिसका वह क्रियाका अर्थ है। 'श्वेतते' यह उसका शब्द है, तथा 'कारकः' सिद्धरूप है अर्थ जिसका वह कारकार्थ है—श्वेतः-यह उसका शब्द है। ये शब्द भिन्न हैं, इनका अर्थ क्रिया कारकरूप श्वेतगुणमात्र एक ही है, इसी प्रकार प्रत्यय भी जानना चाहिये। क्रिया कारकात्मक गुणाकार हैं। इसमें प्रमाण पूछते हैं, कस्मात् इति—किस प्रकार ?

उत्तर देते हैं, सोऽयमित्यभिसम्बन्धात्—यह वही है इस सम्बन्धसे क्रिया कारकात्मक गुणाकार है, श्वेतन जो क्रिया है वही यह श्वेतरूपकारक गुण है, और जो 'श्वेतते' इससे श्वेताकार प्रत्यय है वही प्रत्यय 'श्वेतः' इस शब्दसे भी श्वेताकार प्रत्यय ही अभेदकी प्रत्यभिज्ञासे होता है।

शब्द और अर्थके अभेदसे संकेत कैसे होता है ? इस विषयमें कहते हैं—एकाकार इति—एकाकार—आरोपरूप प्रत्यय ही संकेतसे आरोपितके अभेदमें ही संकेत है, पारमार्थिक अभेदरूपमें संकेत नहीं है।

शङ्का—शब्द और अर्थके अभेद प्रत्ययसे प्रत्यभिज्ञाका ही बाध क्यों नहीं हो जाता ?

समाधान—तत्राह—यस्त्विति-जो श्वेत अर्थ है वह शब्द और प्रत्यय (ज्ञान) का विषय होनेसे अपनी शब्द आदिसे भिन्न नयी-पुरानी अवस्थाओंसे विक्रियमाण होनेसे शब्द और प्रत्ययके सहगत (साथ) नहीं रहता, कालसे—कालरूप अधिकरणके भिन्न होनेसे सहचार नहीं रहता। ऐसे ही देशसे भी सहचार नहीं रहता, क्योंकि शब्दका अधिकरण आकाश है और प्रत्यय (ज्ञान) का अधिकरण बुद्धि है और अर्थ श्वेत गुणादि प्रासाद आदिमें रहते हैं। यह भाव है। एवमिति—इस प्रकार शब्द भी अपनी अवस्थाओंसे विक्रियमाण अर्थ और बुद्धिका भी सहचारी नहीं है, इस प्रकार प्रत्यय (ज्ञान) भी शब्द और अर्थका सहचारी नहीं रहता। उपसंहार करते हैं—इत्यन्यथेति—अन्यथा शब्द है, अन्यथा अर्थ है और अन्यथा प्रत्यय है—यह विभाग है। सूत्रके अर्थका उपसंहार करते हैं—एवं—तत्प्रविभागेति (इस प्रकार उनके विभागमें संयम करनेसे योगीको सब भूतोंके शब्दका ज्ञान होता है। इस प्रकार मनुष्यके विषयमें शब्द, अर्थ और प्रत्ययोंमें (जो प्रविभाग है) उसमें संयम करनेसे—साक्षात्-पर्यन्त संयम करनेसे सब भूतोंके शब्द, उसके अर्थ और प्रत्यय (ज्ञान) को योगी जान लेता है, क्योंकि योगज धर्म अचिन्त्य शक्तिवाला है, स्वसदृश फल देना धर्मोंका स्वाभाविक है। हमारे सदृशोंको शब्द, अर्थ और प्रत्ययके भेदका साक्षात्कार होनेपर भी उस साक्षात्कारके संयमजन्य न होनेके कारण सब भूतोंके शब्दका ज्ञान नहीं होता, संयमकी ही यह सिद्धि है-ऐसे ही अगले सूत्रोंमें भी यथास्थल यही समाधान है ॥ १७ ॥

विशेष वर्णन—॥ सूत्र १७ ॥ शब्द तीन प्रकारका है—

१—वर्णात्मक (क, ग आदि) जो वाणीरूप इन्द्रियसे उत्पन्न होता है।

२—ध्वन्यात्मक वा नादात्मक (शङ्ख आदिका शब्द) यह प्रयत्न प्रेरित उदान वायुका परिणाम विशेष है। यही शब्दोंकी धाराको उत्पन्न करता हुआ श्रोताके श्रोत्र इन्द्रियतक जाता है।

३—स्फोट नामक शब्द (स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः) यह अर्थका बोधक और केवल बुद्धि-से गृहीत होता है। निरवयव, नित्य और निष्क्रम है। वर्ण शीघ्र उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं। इनका

मेल नहीं हो सकता; क्योंकि 'गौ' यहाँपर गकारोच्चारणके समयमें औकार नहीं और औकारके उच्चारणके समयमें गकार नहीं इत्यादि । मेल न होनेपर भी, वर्णोंके संस्कार और उन संस्कारोंसे स्मृति होती है अन्तिम वर्ण (जैसे 'पचति' में इकार) स्फोटका व्यञ्जक है। यदि इसे न माना जाय तो 'गौ:' यह एक पद है; ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता; क्योंकि एकताको ग्रहण करनेवाली बुद्धि न वर्णोंमें (जो विनाशी है) हो सकती है और न स्फोटबोधक ध्वनिमें; यह स्फोट-नामक शब्द दो प्रकारका है—पद-स्फोट और वाक्य स्फोट (स्फोटका विषय नागेशकृत मञ्जूषा और वैयाकरणभूषणमें विस्तृतरूपसे लिखा है; व्याकरणाचार्य और योगाचार्य—इनका स्फोट-विषयमें एक मत है। नैयायिक शब्दमात्रको अनित्य मानते हैं । मीमांसक शब्दोंको नित्य मानते हैं, उत्तर मीमांसक 'वेदान्ती' शब्दोंको आपेक्षिक नित्य मानते हैं; ये सब स्फोटवादी नहीं हैं) ।

स्फोटका बड़ा शास्त्रार्थ है । इन तीनों अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञानका परस्पर अध्यास (भिन्नोंमें अभिन्न बुद्धि) होता है । आरोपको अर्थात् अन्यमें अन्य बुद्धि करनेको 'अध्यास' कहते हैं । इन शब्दोंका अर्थ और ज्ञानके साथ संकेतरूप (इस पदका यह अर्थ है एतद्रूप) अध्यास है । पर वस्तुतः शब्द, अर्थ, प्रत्यय तीनों भिन्न हैं । जब उनके भेदमें योगी चित्तकी एकाग्रता करता है, तब उनका प्रत्यक्ष कर वानर, कौवे आदिकी बोलीको जान लेता है कि इस अर्थको लेकर ये बोल रहे हैं । योगियोंमें विचित्र शक्ति होती है । धारणा, ध्यान और समाधिकी बड़ी महिमा है । साधारण लोगोंको जो शब्द, अर्थ और ज्ञानका भेद प्रतीत होता है वह समाधिजन्य नहीं है, इससे वे नहीं जान सकते ।

सङ्गति— दूसरी सिद्धि कहते हैं—

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—संस्कार-साक्षात्-करणात् = संस्कारके साक्षात् करनेसे; पूर्वजातिज्ञानम् = पूर्वजन्मका ज्ञान होता है ।

अन्वयार्थ—संस्कारके साक्षात् करनेसे पूर्वजन्मका ज्ञान होता है ।

व्याख्या—संस्कार दो प्रकारके होते हैं, एक स्मृतिके बीजरूपसे रहते हैं जो स्मृति और क्लेशोंके कारण हैं । दूसरे विपाकके कारण वासनारूपसे रहते हैं जो जन्म, आयु, भोग और उनमें सुख-दुःखके कारण होते हैं । वे धर्म और अधर्मरूप हैं । ये सब संस्कार इस जन्म तथा पिछले जन्ममें किये हुए कर्मोंसे बनते हैं और ग्रामोफोनके प्लेटके रेकार्ड (Records) के सदृश चित्तमें चित्रित रहते हैं । वे परिणाम, चेष्टा, निरोध, शक्ति, जीवन और धर्मकी भाँति अपरिदृष्ट चित्तके धर्म हैं । उनमें संयम करनेसे योगीको उनका साक्षात् हो जाता है । इससे उसको जिस देश, काल और जिन निमित्तोंसे वे संस्कार बने हैं, सब स्मरण हो जाते हैं । यही पूर्वजन्मज्ञान है। (योगियोंके अतिरिक्त बहुत-से शुद्ध संस्कारवाले बालक भी अपने पूर्वजन्मका हाल बतला देते हैं) जिस प्रकार संस्कारोंके साक्षात् करनेसे अपने पूर्वजन्मका ज्ञान होता है इसी प्रकार दूसरेके संस्कारोंके साक्षात् करनेसे दूसरेके पूर्वजन्मका ज्ञान होता है। (विज्ञानभिक्षुके अनुसार, 'पर' अर्थात् भावी जन्मोंका भी इसी भाँति संस्कारके साक्षात् करनेसे ज्ञान हो जाता है)

टिप्पणी—॥ सूत्र १८ ॥ पूर्वोक्त अर्थमें श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिये भाष्यकारोंने आवट्य नामक योगेश्वरका योगिराज जैगीषव्यके साथ एक संवाद उपन्यस्त किया है । उसका यहाँ निरूपण किया जाता

है। भगवान् जैगीषव्य जो प्रसिद्ध योगीश्वर हुए हैं उनके सम्बन्धमें ऐसा प्रसिद्ध है कि वे संस्कारोंके साक्षात्कारसे दश महाकल्पोंमें व्यतीत हुए अपने जन्म-परिणाम-परम्पराका अनुभव करते हुए विवेकज-ज्ञान-सम्पन्न थे और योगिराज भगवान् आवट्यके सम्बन्धमें कहा जाता है कि योगबलसे स्वेच्छामय दिव्य विग्रहको धारण करके विचरते थे। किसी समय इन दोनों योगियोंका संगम हो गया। तब आवट्यने जैगीषव्यसे यह बात पूछी कि दश महाकल्पोंमें देव, मनुष्यादि योनियोंमें उत्पन्न होते हुए आपने जो अनेक प्रकारके नरक, तिर्यक्-योनियोंमें और गर्भमें दुःखोंका अनुभव किया है वह सब आपको परिज्ञात है, क्योंकि स्वच्छ और अनभिभूत बुद्धि सत्त्व होनेके कारण आपको सारे पूर्व जन्मोंका ज्ञान है। इसलिये आप यह बतलायें कि दश महाकल्पोंमें जो आपने अनेक प्रकारके जन्म धारण किये हैं, उन जन्मोंमें आपने सुख और दुःखमें अधिक किसको जाना अर्थात् संसार सुखबहुल है वा दुःख-बहुल? तब जैगीषव्यजीने बतलाया कि इन दश महाकल्पोंमें अनेक प्रकारके नरक तिर्यग्-योनियोंमें दुःखोंका अनुभव करते हुए बारम्बार देव और मनुष्यादि योनियोंमें उत्पन्न होते हुए मैंने जो अनुभव किया है, उन सबको दुःखरूप ही जानता हूँ अर्थात् विषय-सुख, दुःखरूप होनेसे संसार दुःखबहुल ही है सुखबहुल नहीं।

आवट्य मुनिने फिर पूछा—'हे जैगीषव्य मुने! दीर्घायुवाले जो आपको प्रधान वशित्व और अनुत्तम संतोष सुखका लाभ हुआ है क्या वह भी दुःखपक्षमें निक्षिप्त है?' तब भगवान् जैगीषव्यने कहा—'हे आवट्य मुने! विषय-सुखकी अपेक्षासे ही यह संतोष सुख अनुत्तम कहा जाता है। कैवल्यकी अपेक्षासे तो यह दुःखरूप ही है; क्योंकि संतोष बुद्धि सत्त्वका ही धर्म है और जो-जो बुद्धिका धर्म है वह सब त्रिगुणात्मक प्रत्यय होनेसे हेय पक्षमें पतित है।' अर्थात् बुद्धिका धर्म होनेसे संतोष भी सुखस्वरूप नहीं है। सूत्रकारने 'संतोषादनुत्तमसुखलाभः' इस सूत्रसे संतोषको जो अनुत्तम सुखका हेतु कहा है, उसका तात्पर्य यह है कि रज्जुके सदृश पुरुषोंको बाँधनेवाली जो दुःखस्वरूप तृष्णातन्तु है उस तृष्णारूप दुःखका संतोषसे नाश होता है। तब तृष्णाके अभावसे चित्त पीड़ासे रहित होकर प्रसन्न हो जाता है। इस प्रकार तृष्णाकी निवृत्तिद्वारा सर्वानुकूल संतोष सुखको उत्तम कहा है। कैवल्यकी अपेक्षासे तो यह सब दुःखरूप ही है।

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—प्रत्ययस्य = दूसरेके चित्तकी वृत्तिके साक्षात् करनेसे; परचित्तज्ञानम् = दूसरेके चित्तका ज्ञान होता है।

अन्वयार्थ—दूसरेके चित्तकी वृत्तिके साक्षात् करनेसे दूसरेके चित्तका ज्ञान होता है।

व्याख्या—जब योगी किसीके चेहरे तथा नेत्र आदिकी आकृति देखकर उसके चित्तकी वृत्तिमें संयम करता है तो उसको उस चित्तका साक्षात् हो जाता है। इससे उसको ज्ञान हो जाता है कि इस समय उसका चित्त राग, द्वेषादि संसारकी वासनाओंसे रँगा हुआ है अथवा वैराग्ययुक्त है।

सङ्गति—शङ्का—दूसरेके चित्तकी वृत्तिमें संयम करनेसे यह चित्त चित्त-मात्र प्रत्यक्ष होता है अथवा स्वविषयसहित? इसका उत्तर देते हैं—

न च तत् सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥ २० ॥

शब्दार्थ— न-च-तत् = पर नहीं वह (चित्त); स-आलम्बनम् = विषय-सहित (साक्षात् होता है); तस्य = उस विषयसहित चित्तके; अविषयी-भूतत्वात् = संयमका विषय न होनेसे ।

अन्वयार्थ—पर वह (दूसरेका चित्त) अपने विषय-सहित साक्षात् नहीं होता; क्योंकि वह (विषयसहित चित्त) उसका (संयमका) विषय नहीं है ।

व्याख्या—पिछले सूत्रमें दूसरेके चित्तकी वृत्तिमें संयम करना बतलाया है । इससे इतना ही ज्ञान हो सकता है कि चित्त राग-द्वेषादिसे युक्त है अथवा वीतराग है । राग, द्वेष आदिका विषयज्ञान नहीं होता कि किस विषयमें राग है, किस विषयमें द्वेष है इत्यादि । क्योंकि ये उस संयमके विषय न थे । संयमद्वारा उसीका साक्षात् होता है जो उसका विषय है । और संयमका विषय वही होता है जिसको किसी-न-किसी प्रकारसे पहले जान लिया है । बाहरी चिह्नों अर्थात् नेत्र अथवा चेहरेकी आकृतिसे केवल राग-द्वेषादि जाने जा सकते हैं न कि राग-द्वेषादिके विषय । इसलिये वे सालम्बन चित्तके संयमके विषय नहीं बन सकते । यदि राग-द्वेषादि आभ्यन्तर लिङ्गोंद्वारा संयम किया जावे तो उनके विषयका भी अर्थात् सालम्बन चित्तका भी ज्ञान हो सकता है ।

टिप्पणी- विज्ञानभिक्षुने इस सूत्रको भाष्य मानकर उन्नीसवें सूत्रमें ही सम्मिलित कर दिया है । भोज और वाचस्पति मिश्रने इसको अलग सूत्र माना है ।

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥२१॥

शब्दार्थ—काय-रूप-संयमात् = अपने शरीरके रूपमें संयम करनेसे; तद्-ग्राह्य-शक्ति-स्तम्भे = उसकी (रूपकी) ग्राह्य-शक्ति रुक जानेपर; चक्षुःप्रकाश-असम्प्रयोगे = दूसरेकी आँखोंके प्रकाशका संयोग न होनेपर; अन्तर्धानम् = योगीको अन्तर्धान प्राप्त होता है ।

अन्वयार्थ— अपने शरीरके रूपमें संयम करनेसे रूपकी ग्राह्य-शक्ति रुक जाती है । इससे दूसरेके आँखोंके प्रकाशसे योगीके शरीरका संनिकर्ष न होनेके कारण योगीके शरीरका अन्तर्धान (छिप जाना) हो जाता है ।

व्याख्या—चक्षु ग्रहण-शक्ति है और रूप ग्राह्य-शक्ति है । इन दोनों शक्तियोंके संयोगसे ही देखनेका काम होता है । इन दोनोंमेंसे किसी एककी शक्तिके रुक जानेसे देखनेका कार्य बंद हो जाता है । योगी संयमद्वारा शरीरके रूपकी ग्राह्य-शक्तिको रोक देता है । उस कारण चक्षुकी ग्रहण-शक्ति होते हुए भी दूसरे पुरुष उसके शरीरको नहीं देख सकते । यह उस योगीका अन्तर्धान अर्थात् छिप जाना है। इसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रस और गन्धमें संयम करनेसे उस-उसकी ग्राह्य-शक्ति रुक जाती है और उनके वर्तमान रहते हुए भी वे अपने विषय करनेवाली इन्द्रियोंसे ग्रहण नहीं किये जा सकते ।

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥२२॥

शब्दार्थ—सोपक्रमम् = उपक्रमसहित (तीव्र वेगवाले) अथवा आरम्भसहित; च निरुपक्रमम् = और उपक्रमरहित (मन्द वेगवाले) अथवा आरम्भरहित; कर्म = (दो प्रकारके) कर्म होते हैं; तत्-संयमात् = उनमें संयम करनेसे; अपरान्त-ज्ञानम् = मृत्युका ज्ञान होता है; अरिष्टेभ्यः-वा = अथवा उलटे चिह्नोंसे ।

अन्वयार्थ—कर्म सोपक्रम और निरुपक्रम दो प्रकारके होते हैं। उनमें संयम करनेसे मृत्युका ज्ञान होता है अथवा अरिष्टोंसे मृत्युका ज्ञान होता है।

व्याख्या—आयु नियत करनेवाले पूर्वजन्मके कर्म दो प्रकारके होते हैं। एक सोपक्रम अर्थात् वे कर्म जो आयु समाप्त करनेका काम पूरे वेगसे कर रहे हैं, जिनका बहुत-सा फल हो गया है और कुछ शेष है। दूसरे निरुपक्रम अर्थात् वे कर्म जो मन्द वेगवाले हैं, जिन्होंने आयु भोगनेका कार्य अभीतक आरम्भ नहीं किया है। जैसे गीला वस्त्र गरम देशमें विस्तारपूर्वक फैलाया हुआ शीघ्र ही सूख जाता है अथवा जैसे शुष्क तृणोंके ऊपर फेंकी हुई अग्नि चारों ओर वायुसे युक्त होकर शीघ्र ही तृणोंको जला देती है, वैसे ही शीघ्र फल करनेवाले सोपक्रम कर्म हैं। और जैसे वही गीला वस्त्र इकट्ठा लपेटकर शीत देशमें रखा हुआ देरमें सूखता है अथवा जैसे हरित तृणोंपर फेंकी हुई अग्नि वायुरहित स्थानमें देरसे तृणोंको जलाती है, वैसे ही विलम्बसे फल देनेवाले निरुपक्रम कर्मको जानना चाहिये। अपरान्त शरीरके वियोगको कहते हैं। इन दोनों कर्मोंमें संयम करनेसे उनका साक्षात् हो जानेपर योगीको संशय-रहित यह ज्ञान हो जाता है कि आयु कितनी शेष रही है। किस काल और किस देशमें शरीरका वियोग होगा।

अथवा अरिष्टोंसे अर्थात् उलटे चिह्नोंसे जो मृत्युके बतलानेवाले हैं, अपनी मृत्युका ज्ञान हो जाता है। अरिष्ट तीन प्रकारके हैं—

१ *आध्यात्मिक*- अभ्यास होते हुए भी कानोंको बंद करनेपर अंदरकी ध्वनिका न सुनायी देना। अथवा आँखोंको हाथोंसे दबानेपर भी ज्योतिके कनकोंका न दिखलायी देना।

२ *आधिभौतिक*—मरे हुए पुरुषोंका इस प्रकार दिखलायी देना मानो सामने खड़े हैं।

३ *आधिदैविक*—अकस्मात् सिद्धोंका दिखायी देना, अथवा आकाशके नक्षत्र-तारा आदिका उल्टा-पुल्टा दिखायी देना। इन अरिष्टोंके देखनेसे मृत्युके निकट होनेका ज्ञान होता है।

इसी प्रकार प्रकृतिका बदल जाना अर्थात् उदारका कृपण और कृपणका उदार हो जाना इत्यादि; तथा विपरीत ज्ञानका होना, जैसे धर्मको अधर्म, अधर्मको धर्म, मनुष्यलोकको स्वर्गलोक और स्वर्गलोकको मनुष्यलोक समझना इत्यादि भी अरिष्ट अर्थात् संनिहित-मरणके चिह्न हैं।

पहिला संयमद्वारा मृत्युका ज्ञान तो केवल योगियोंको ही होता है। दूसरा अरिष्टोंद्वारा योगियों और साधारण मनुष्योंको भी होता है। मृत्युके जाननेके प्रसङ्गमें अरिष्टोंका भी वर्णन कर दिया है, इन अरिष्टोंसे भी अयोगियोंको साधारण रीतिसे और संशयात्मक ज्ञान होता है। योगियोंको संशय-रहित प्रत्यक्षके तुल्य देश और कालसहित मृत्युका ज्ञान होता है।

सङ्गति—पूर्वोक्त परिकर्म अर्थात् चित्तशुद्धिसे हुई सिद्धियोंको बतलाते हैं—

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—मैत्री-आदिषु = मैत्री आदिमें (संयम करनेसे); बलानि = मैत्री आदि बल प्राप्त होते हैं।

अन्वयार्थ—मैत्री आदिमें संयम करनेसे मैत्री आदि बल प्राप्त होता है।

व्याख्या—पहिले पादके तैंतीसवें सूत्रमें मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा—चार भावनाएँ बतलायी गयी हैं। इनमेंसे पहली तीन भावनाओंमें साक्षात्-पर्यन्त संयम करनेसे योगीका क्रमानुसार मैत्री, करुणा, मुदिता बल बढ़ जाता है। अर्थात् योगीकी मैत्री आदि ऐसी उत्कृष्ट हो जाती है कि सबकी मित्रता

आदिको प्राप्त होता है। जब मैत्रीमें संयम करता है तो सब प्राणियोंका सुखकारी मित्र बन जाता है। करुणामें संयम करनेसे दुखियोंके दुःख दूर करनेकी शक्ति आ जाती है। मुदितामें संयम करनेसे पक्षपाती नहीं होता। चौथा उपेक्षा अर्थात् उदासीनता अभावात्मक पदार्थ है, इस कारण वह संयमका विषय नहीं बन सकता।

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—बलेषु = बलोंमें (संयम करनेसे); हस्ति-बल-आदीनि = हाथी आदिके बल प्राप्त होते हैं।

अन्वयार्थ—हाथी आदिके बलोंमें संयम करनेसे हाथी आदिके बल प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—जब योगी हाथी, सिंह आदिके बल और वायु आदिके वेगमें तदाकार होकर साक्षात्-पर्यन्त संयम करता है तो उन-जैसे बलोंको प्राप्त होता है अर्थात् जिसके बलमें संयम किया जाता है वही बल प्राप्त होता है।

प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—प्रवृत्ति-आलोक-न्यासात् = प्रवृत्तिके प्रकाश डालनेसे; सूक्ष्म = सूक्ष्म (इन्द्रियातीत); व्यवहित = व्यवधानवाली (आड़में रहनेवाली); विप्रकृष्ट = दूरकी वस्तुओंका; ज्ञानम् = ज्ञान होता है।

अन्वयार्थ—प्रवृत्तिके प्रकाश डालनेसे सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट वस्तुका ज्ञान होता है।

व्याख्या—पहले पादके छत्तीसवें सूत्रमें बतलायी हुई मनकी ज्योतिष्मती प्रवृत्तिके प्रकाशको जब योगी संयमद्वारा किसी सूक्ष्म (इन्द्रियातीत) जैसे अदृश्य परमाणु आदि, व्यवहित (ढके हुए) जैसे भूमिके अंदर दबी हुई खानें, दीवारकी ओटमें छिपी हुई वस्तुएँ, शरीरके अंदरके भाग इत्यादि, विप्रकृष्ट—दूरस्थ वस्तुपर, जहाँ आँख नहीं पहुँचती, डालता है तब उनका उसको प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। जैसे सूर्यादिके प्रकाशसे घटादि प्रत्यक्ष होते हैं वैसे ही ज्योतिष्मतीके प्रकाशमें सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट वस्तुका ज्ञान होता है।

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—भुवन-ज्ञानम् = भुवनका ज्ञान; सूर्ये-संयमात् = सूर्यमें संयम करनेसे होता है।

अन्वयार्थ—सूर्यमें संयम करनेसे भुवनका ज्ञान होता है।

व्याख्या—प्रकाशमय सूर्यमें साक्षात्-पर्यन्त संयम करनेसे भूः, भुवः, स्वः आदि सातों लोकोंमें जो भुवन हैं अर्थात् जो विशेष हदवाले स्थान हैं, उन सबका यथावत् ज्ञान होता है। पिछले पचीसवें सूत्रमें सात्त्विक प्रकाशके आलम्बनसे संयम कहा गया है, इस सूत्रमें भौतिक सूर्यके प्रकाशद्वारा संयम बताया गया है, किंतु सूर्यका अर्थ सूर्यद्वारसे लेना चाहिये और यहाँ सूर्यद्वारसे अभिप्राय सुषुम्ना है। उसीमें संयम करनेसे उपर्युक्त फल प्राप्त हो सकता है। श्रीव्यासजीने भी सूर्यके अर्थ सूर्यद्वारसे किये हैं। तथा मुण्डकमें भी सूर्यद्वारका वर्णन है। "सूर्यद्वारेण ते विरजा।"

टिप्पणी—कई टीकाकारोंने सूर्यका अर्थ पिंगला नाड़ीसे लगाया है पर यह अर्थ न भाष्यकारको अभिमत है, न वृत्तिकारको और न इसका प्रसङ्गसे कोई सम्बन्ध है।

भाष्यकारने इस सूत्रकी व्याख्यामें अनेक लोकोंको बड़े विस्तारके साथ वर्णन किया है, उसको इस

विषयके लिये उपयोगी न समझकर हमने व्याख्यामें छोड़ दिया है और सूत्रका अर्थ भोजवृत्तिके अनुसार किया है।

इस भाष्यके सम्बन्धमें कई एकोंका मत है कि यह व्यासकृत नहीं है, इसीलिये भोजवृत्तिमें इसका कोई अंश भी नहीं मिलता।

इसमें अलंकाररूपसे वर्णन की हुई तथा संदेहजनक बहुत-सी बातें स्पष्टीकरणीय भी हैं, इन सब बातोंके स्पष्टीकरणके साथ व्यासभाष्यका भावार्थ पाठकोंकी जानकारीके लिये कर देना उचित समझते हैं—

व्यासभाष्यका भाषानुवाद सूत्र ॥ २६ ॥

भूमि आदि सात लोक, अवीचि आदि सात महानरक (सात अधोलोक जो स्थूलभूतोंकी स्थूलता और तमस्‌के तारतम्यसे क्रमानुसार पृथिवीकी तलीमें माने गये हैं) तथा महातल आदि सात पाताल (सात जलके बड़े भाग जो पृथिवीकी तलीमें सात महानरक संज्ञक प्रत्येक स्थूल भागके साथ माने गये हैं); यह भुवन पदका अर्थ है। इनका विन्यास (ऊर्ध्व-अधोरूपसे फैलाव) इस प्रकार है कि अवीचि (पृथिवीसे नीचे सबसे पहिला नरक अर्थात् तामसी स्थूल भाग। अवीचिके पश्चात् क्रमानुसार स्थूलता और तामस आवरणकी न्यूनताको लेते हुए छः और स्थूल भाग हैं) से सुमेरु (हिमालय पर्वत) की पृष्ठ-पर्यन्त जो लोक है वह भूलोक है, और सुमेरु पृष्ठसे ध्रुव-तारे (Polestar पोलस्टार) पर्यन्त जो ग्रह, नक्षत्र, तारोंसे चित्रित लोक है वह अन्तरिक्ष लोक है (यह अन्तरिक्ष-लोक ही भुवः-लोक कहलाता है)। इससे परे पाँच प्रकारके स्वर्ग-लोक हैं। उनमें भूलोक और अन्तरिक्ष-लोकसे परे जो तीसरा स्वर्गलोक है वह महेन्द्रलोक (स्वःलोक) कहलाता है। चौथा जो महःलोक है वह प्राजापत्य-स्वर्ग कहलाता है। इससे आगे जो जनःलोक, तपःलोक और सत्यलोक नामके तीन स्वर्ग हैं, वे तीनों ब्रह्मलोक कहे जाते हैं। (इन पाँचों—स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यलोकको ही द्यौः-लोक कहते हैं)। इन सब लोकोंका संग्रह निम्न श्लोकमें हैं—

ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्।
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजा ॥

(जनः, तपः, सत्यम्) तीन ब्राह्म लोक हैं, उनसे नीचे महः नामका प्राजापत्य लोक है। उनसे नीचे स्वः नामका महेन्द्र लोक है, उनसे नीचे अन्तरिक्षमें भुवः नामक तारा लोक है, उनसे नीचे प्रजा मनुष्योंका लोक—भूलोक है।

जिस प्रकार पृथ्वीके ऊपर छः और लोक हैं, इसी प्रकार पृथ्वीसे नीचे चौदह और लोक हैं, उनमें सबसे नीचा अवीचि नरक है। उसके ऊपर महाकाल नरक है जो मिट्टी, कंकड़, पाषाणादिसे युक्त है। उसके ऊपर अम्बरीष नरक है जो जलपूरित है। उसके ऊपर रौरव नरक है जो अग्निसे भरा हुआ है। उसके ऊपर महारौरव नरक है जो वायुसे भरा हुआ है। उसके ऊपर महासूत्र नरक है जो अंदरसे खाली है। उसके ऊपर अन्धतामिस्र नरक है जो अन्धकारसे व्याप्त है। इन नरकोंमें वही पुरुष दुःख देनेवाली दीर्घ आयुको प्राप्त होते हैं जिनको अपने किये हुए पाप-कर्मोंका दुःख भोगना होता है। इन नरकोंके साथ महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल, पाताल—ये सात पाताल हैं। आठवीं इनके ऊपर यह भूमि है जिसको वसुमती कहते हैं, जो सात द्वीपोंसे युक्त है, जिसके मध्य भागमें सुवर्णमय पर्वतराज

सुमेरु विराजमान है। उस सुमेरु पर्वतराजके चारों दिशाओंमें चार श्रृङ्ग (पहाड़की चोटी) हैं। उनमें जो पूर्व दिशामें श्रृङ्ग है वह रजतमय है (सम्भवतः यह शान स्टेटका पर्वत-श्रृङ्ग हो, बर्माकी शान स्टेटके नमूर पर्वतमें आजकल रजत निकलती भी है); दक्षिण दिशामें जो श्रृङ्ग है वह वैदूर्य्य-मणिमय (नीली-मणिके सदृश) है, जो पश्चिम दिशामें श्रृङ्ग है वह स्फटिक-मणिमय (जो कि प्रतिबिम्ब ग्रहण कर सकती है) और जो उत्तर दिशामें श्रृङ्ग है वह सुवर्णमय (या सुवर्णके रंगवाले पुष्पविशेषके वर्णवाला) है। वहाँ वैदूर्य-मणिकी प्रभाके सम्बन्धसे सुमेरुके दक्षिण भागमें स्थित आकाशका वर्ण नीलकमलके पत्रके सदृश श्याम (दिखलायी देता) है। पूर्व भागमें स्थित आकाश श्वेत वर्ण (दिखलायी देता) है। पश्चिम भागमें स्थित आकाश स्वच्छ वर्ण (दिखलायी देता) है। और उत्तर भागमें स्थित आकाश पीत वर्ण (दिखलायी देता) है। अर्थात् जैसे वर्णवाला जिस दिशाका श्रृङ्ग है वैसे ही वर्णवाला उस दिशामें स्थित आकाशका भाग (दिखलायी देता) है। इस सुमेरु पर्वतके ऊपर उसके दक्षिण भागमें जम्बू-वृक्ष है जिसके नामसे इस द्वीपका नाम जम्बू-द्वीप पड़ा है (प्रायः विशेष देशोंमें विशेष वृक्ष हुआ करते हैं। सम्भव है यह प्रदेश किसी कालमें जम्बू-वृक्ष-प्रधान देश हो। वर्तमान समयमें जम्मू रियासत सम्भवतः जम्बू-द्वीपका अवशेष हो)।

इस सुमेरुके चारों ओर सूर्य भ्रमण करता है, जिससे यह सर्वदा दिन और रातसे संयुक्त रहता है। (जब कोई बड़े मोटे वेलनके साथ पतला छोटा वेलन घूमता है तब वह भी अपना पूरा चक्र करता है। इस दृष्टिसे उस पतले वेलनके चारों ओर बड़े वेलनका चक्र हो जाता है। इसी प्रकार जब पृथिवी सूर्यके चारों ओर घूमती है तो चौबीस घंटेमें सूर्यका भी पृथिवीके चारों ओर घूमना हो जाता है। इस भाँति सुमेरु पर्वतके एक ओर उजाला और एक ओर अँधेरा है। उजाला दिन है और अँधेरा रात्रि है। इसी प्रकार दिन और रात सुमेरु पर्वतसे मिले जैसे मालूम होते हैं)। सुमेरुकी उत्तर दिशामें नील, श्वेत और श्रृङ्गवान् नामवाले तीन पर्वत विद्यमान हैं जिनका विस्तार दो-दो हजार वर्ग योजन है। इन पर्वतोंके बीचमें जो अवकाश (बीचके भाग = घाटी = valley) हैं उनमें रमणक, हिरण्मय, उत्तर कुरु (श्रृङ्गवान्के उत्तरमें समुद्र-पर्यन्त उत्तर कुरु है। टालेमीने लिखा है कि चीनके एक प्रदेशका नाम उत्तर कोई Ottarakorrba है, जो कि उत्तर कुरु शब्दका अपभ्रंश प्रतीत होता है, इससे आस-पासका समुद्रपर्यन्त प्रदेश उत्तर कुरु प्रतीत होता है।) नामक तीन वर्ष (खण्ड) हैं जो नौ-नौ हजार वर्ग-योजन विस्तारवाले हैं (नीलगिरि मेरुके साथ लगा है। नीलगिरिके उत्तरमें रमणक है। पद्मपुराणमें इसे रम्यक कहा है। श्वेतगिरिके उत्तरमें हिरण्मय है।) और दक्षिण भागमें तीन पर्वत निषध, हेमकूट, हिमशैल दो-दो हजार वर्ग योजन विस्तारवाले हैं (लंकाके उत्तर-पूर्व सागरतक विस्तृत हिमगिरी है। हिमगिरीके उत्तर हेमकूट है। यह भी समुद्रतक फैला हुआ है। हेमकूटके उत्तरमें निषध पर्वत है। यह जनपद शायद विन्ध्याचलपर अवस्थित था। दमयन्तीपति नल निषधके राजा थे)। इनके बीचके अवकाशमें नौ-नौ हजार वर्ग योजन विस्तारवाले तीन वर्ष (खण्ड) हरिवर्ष, किंपुरुष और भारत विद्यमान हैं, (सम्भवतः हिमालयके इलावृत प्रदेश और निषध पर्वतके बीचके प्रदेशको भारत कहा गया हो, हरिवर्ष सम्भवतः वह प्रदेश हो जो कि हरि अर्थात् वानर जातिके राजा सुग्रीवद्वारा कभी शासित होता था) सुमेरुकी पूर्व दिशामें सुमेरुसे संयुक्त माल्यवान् पर्वत है (माल्यवान् पर्वतसे समुद्रपर्यन्त प्रदेश भद्राश्व नामक है। आजकल बर्माके नीचे एक मलय प्रदेश है। सम्भवतः यह

प्रदेश और इसके ऊपरका वर्मा प्रदेश माल्यवान् हो)। माल्यवान्से लेकर पूर्वकी ओर समुद्रपर्यन्त भद्राश्व नामक प्रदेश है [वर्मा और मलयसे पूर्वकी ओर श्याम और अनाम (इण्डो चाइनाके प्रदेश सम्भवतः) भद्राश्व नामक हैं]। सुमेरुके पश्चिममें केतुमाल और गन्धमादन देश हैं। और केतुमाल तथा भद्राश्वके बीचके वर्षका नाम इलावृत है [सुमेरुके दक्षिणमें जो उपत्यका (अर्थात् पर्वतपादकी ऊँची भूमि) है उसे यहाँ इलावृत कहा गया है]।

पचास हजार वर्गयोजन विस्तारवाले देशमें सुमेरु विराजमान है और सुमेरुके चारों ओर पचास हजार वर्गयोजन विस्तारवाला देश है। इस प्रकार सम्पूर्ण जम्बूद्वीपका परिमाण सौ हजार वर्गयोजन है। इस परिमाणवाला जम्बूद्वीप अपनेसे दुगुने परिमाणवाले वलयाकार (कङ्कणके सदृश गोल आकारवाले) क्षार समुद्रसे वेष्टित (घिरा हुआ) है। जम्बू-द्वीपसे आगे दुगुने परिमाणवाला शाक-द्वीप है, जो अपनेसे दुगुने परिमाणवाले वलयाकार इक्षुरस (एक प्रकारका जल) के समुद्रसे वेष्टित है (भारतमें शक जातिने आक्रमण किया था। कास्पीयन सागरके पूर्वकी ओर "शाकी" नामकी एक जातिका निवास है। यूरोपीय पुराविदोंने स्थिर किया है कि वर्तमान तातार, एशियाटिक रूस, साईबेरिया, क्रिमिया, पोलेण्ड, हङ्गरीका कुछ हिस्सा, लिथुयनिया, जर्मनीका उत्तरांश, स्वीडन, नारवे आदिको शाकद्वीप कहा गया है)। इससे आगे इससे दुगुने परिमाणवाला कुश द्वीप है, जो अपनेसे दुगुने परिमाणवाले वलयाकार मदिरा (एक प्रकारका जल) के समुद्रसे वेष्टित है। इससे आगे दुगुने विस्तारवाला क्रौञ्च-द्वीप है जो अपनेसे दुगुने परिमाणवाले वलयाकार घृत (एक प्रकारका जल) के समुद्रसे वेष्टित है। इससे आगे इससे दुगुने परिमाणवाला शाल्मलि-द्वीप जो अपनेसे दुगुने परिमाणवाले वलयाकार दधि (एक प्रकारका जल) के समुद्रसे वेष्टित है। इससे आगे दुगुने परिमाणवाला मगध-द्वीप है जो अपनेसे दुगुने परिमाणवाले वलयाकार क्षीर (एक प्रकारका जल) के समुद्रसे वेष्टित है। इससे आगे दुगुने विस्तारवाला पुष्करद्वीप है, जो अपनेसे दुगुने विस्तारवाले वलयाकार मिष्ट जलके समुद्रसे वेष्टित है। इन सातों द्वीपोंसे आगे लोकाऽलोक पर्वत है। इस लोकाऽलोक पर्वतसे परिवृत जो सात समुद्रसहित सात द्वीप हैं वे सब मिलकर पचास कोटि वर्ग योजन विस्तारवाले हैं [वर्तमान समयमें पृथिवीका क्षेत्रफल १९६५००००० वर्ग मील तथा घन फल २५९८८०००००००० घन मील माना जाता है। साथ ही वर्तमान समयमें योजन ४ कोसोंका तथा कोस २ मीलके लगभग माना जाता है]। यह जो लोकाऽलोक पर्वतसे परिवृत विश्वम्भरा (पृथिवी) मण्डल है वह सब ब्रह्माण्डके अन्तर्गत संक्षिप्त रूपसे वर्तमान है और यह ब्रह्माण्ड प्रधानका एक सूक्ष्म अवयव है; क्योंकि जैसे आकाशके एक अति अल्प देशमें खद्योत विराजमान होता है वैसें ही प्रधानके अति अल्प देशमें यह सारा ब्रह्माण्ड विराजमान है।

इन सब पाताल, समुद्र और पर्वतोंमें असुर, गन्धर्व, किन्नर, किंपुरुष, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, अपस्मारक, अप्सराएँ, ब्रह्मराक्षस, कूष्माण्ड, विनायक नामवाले देवयोनि-विशेष (मनुष्योंकी अपेक्षा निकृष्ट अर्थात् राजसी-तामसी प्रकृतिवाले प्राणधारी) निवास करते हैं। और सब द्वीपोंमें पुण्यात्मा देव-मनुष्य निवास करते हैं। सुमेरु पर्वत देवताओंकी उद्यान-भूमि है, वहाँपर मिश्र-वन, नन्दन-वन, चैत्ररथ-वन, सुमानस-वन — चार वन हैं। सुमेरुके ऊपर सुधर्मा नामक देव-सभा है, सुदर्शन नामक पुर है और वैजयन्त नामक प्रासाद (देव-महल) है। यह सब पूर्वोक्त भूलोक कहा जाता है। इसके ऊपर अन्तरिक्ष लोक है,

जिसमें ग्रह (बुध, शुक्र आदि जो कि सूर्यके चारों ओर घूमते हैं), नक्षत्र (अश्विनी आदि जिसमें कि चन्द्रमा गति करता है), तारका (ग्रहों और नक्षत्रोंसे भिन्न अन्य तारे तथा तारामण्डल) भ्रमण करते हैं। यह सब ग्रह, नक्षत्र आदि, ध्रुव नामक ज्योति (Pole Star पोल स्टार) के साथ, वायुरूप रज्जुसे बँधे हुए (वायु-मण्डलमें स्थित) वायुके नियत संचारसे लब्ध संचारवाले होकर, ध्रुवके चारों ओर भ्रमण करते हैं। ध्रुवसंज्ञक ज्योति मेढिकाष्ठ (एक काठका स्तम्भ जो कि खलिहानके मध्यमें खड़ा होता है जिसके चारों ओर बैल घूमते हैं) के सदृश निश्चल है। इसके ऊपर स्वर्गलोक है। जिसको माहेन्द्र-लोक कहते हैं। माहेन्द्र-लोकमें त्रिदश, अग्निष्वात्त, याम्य, तुषित, अपरिनिर्मित-वशवर्ती, परिनिर्मित-वशवर्ती ये छः देवयोनि-विशेष निवास करते हैं। ये सब देवता संकल्पसिद्ध, अणिमादि ऐश्वर्य-सम्पन्न और कल्पायुपवाले तथा वृन्दारक (पूजने योग्य), कामभोगी और औपपादिक देहवाले (विना माता-पिताके दिव्य शरीरवाले) हैं; और उत्तम अनुकूल अप्सराएँ इनकी स्त्रियाँ हैं।

इस स्वर्गलोकसे आगे महान् नामक स्वर्ग-विशेष है, जिसको महालोक तथा प्राजापत्यलोक कहते हैं। इसमें कुमुद, ऋभु, प्रतर्दन, अञ्जनाभ, प्रचिताभ—ये पाँच प्रकारके देवयोनि-विशेष काम करते हैं। ये सब देवविशेष महाभूतवशी (जिनकी इच्छामात्रसे महाभूत कार्यरूपमें परिणत होते हैं) और ध्यानाहार (विना अन्नादिके सेवन किये ध्यानमात्रसे तृप्त और पुष्ट होनेवाले) तथा सहस्र कल्प आयुवाले हैं। महर्लोकसे आगे जनःलोक है जिसको प्रथम ब्रह्मलोक कहते हैं। जनःलोकमें ब्रह्मपुरोहित, ब्रह्मकायिक, ब्रह्ममहाकायिक और अमर—ये चार प्रकारके देवयोनि-विशेष निवास करते हैं। ये भूत तथा इन्द्रियोंको स्वाधीनकरणशील हैं। जनःलोकसे आगे तपोलोक है जिसको द्वितीय ब्रह्मलोक कहते हैं। तपोलोकमें अभास्वर, महाभास्वर, सत्य-महाभास्वर—ये तीन प्रकारके देवयोनि-विशेष निवास करते हैं, जो भूत, इन्द्रिय, प्रकृति (अन्तःकरण)—इन तीनोंको स्वाधीनकरणशील हैं और पूर्वसे उत्तर-उत्तर दुगुने-दुगुने आयुवाले हैं। ये सभी ध्यानाहार ऊर्ध्वरेतस् (जिनका वीर्यपात कभी नहीं होता) हैं। ये ऊर्ध्व—सत्यादि लोकमें अप्रतिहत ज्ञानवाले और अधर, अवीचि आदि लोकमें अनावृत ज्ञानवाले अर्थात् सब लोकोंको यथार्थरूपसे जाननेवाले हैं। तपोलोकसे आगे सत्यलोक है जिसको तृतीय ब्रह्मलोक कहते हैं। इस मुख्य ब्रह्मलोकमें अच्युत, शुद्ध-निवास, सत्याभ, संज्ञासंज्ञी—ये चार प्रकारके देवता-विशेष निवास करते हैं। ये अकृत-भवनन्यास (किसी एक नियत ग्रहके अभाव होनेसे अपने शरीररूप ग्रहमें ही स्थित) होनेसे स्वप्रतिष्ठित हैं और यथाक्रमसे ऊँची-ऊँची स्थितिवाले हैं। ये प्रधान (अन्तःकरण) को स्वाधीनकरणशील और पूरी सर्ग आयुवाले हैं। अच्युत नामक देव-विशेष सवितर्क ध्यानजन्य सुख भोगनेवाले हैं, शुद्धनिवास सविचार ध्यानसे तृप्त हैं। इस प्रकार ये सभी सम्प्रज्ञात (समाधिपाद सूत्र १७) निष्ठ हैं। ये सब मुक्त नहीं हैं, किंतु त्रिलोकीके मध्यमें ही प्रतिष्ठित हैं। इन पूर्वोक्त सातों लोकोंको ही परमार्थसे ब्रह्मलोक जानना चाहिये। (क्योंकि हिरण्यगर्भके लिङ्ग-देहसे यह सब लोक व्याप्त है)।

विदेह और प्रकृतिलय नामक योगी (समाधिपाद सूत्र १९) मोक्षपद (कैवल्यपद) के तुल्य स्थितिमें हैं, इसलिये वे किसी लोकमें निवास करनेवालोंके साथ नहीं उपन्यास किये गये।

सूर्यद्वार (सुषुम्ना नाड़ी) में संयम करके योगी इस भुवन-विन्यासके ज्ञानको सम्पादन करे। किंतु यह नियम नहीं है कि सूर्यद्वारमें संयम करनेसे ही भुवन-ज्ञान होता हो, अन्य स्थानमें संयम करनेसे

भी भुवन-ज्ञान हो सकता है, परंतु जबतक भुवनका साक्षात्कार न हो जाय तबतक दृढ़चित्तसे संयमका अभ्यास करता रहे और बीच-बीचमें उद्वेगसे उपराम न हो जाय।

उपर्युक्त व्यासभाष्यमें बहुत-सी बातोंका हमने स्पष्टीकरण कर दिया है। कुछ एक बातें जो पौराणिक विचारोंसे सम्बन्ध रखती हैं उनको हमने वैसा ही छोड़ दिया है।

भूलोक अर्थात् पृथिवीलोकको विशेषरूपसे वर्णन किया गया है। उसके ऊपरी भागको जो सात द्वीपों और सात महासागरोंमें विभक्त किया गया है उनका इस समय ठीक-ठीक पता चलना कठिन है; क्योंकि उस प्राचीन समयसे अबतक भूलोकसम्बन्धी बहुत कुछ परिवर्तन हो गया होगा तथा योजन चार कोसको कहते हैं। यहाँ कोसका क्या पैमाना है? यह भाष्यकारने नहीं बतलाया है। यह वही हो सकता है जिसके अनुसार भाष्यकारका परिणाम पूरा हो सके। वर्तमान समयके अनुसार सात द्वीप और सात सागर निम्न प्रकार हो सकते हैं। सात द्वीप—१. एशियाका दक्षिण भाग अर्थात् हिमालय-पर्वतके दक्षिणमें जो अफगानिस्तान, भारतवर्ष, बर्मा और स्याम आदि देश हैं। २. एशियाका उत्तरी भाग अर्थात् हिमालय-पर्वतके उत्तरमें तिब्बत, चीन तथा तुर्किस्तान इत्यादि। ३. यूरोप, ४. अफ्रीका, ५. उत्तरी अमेरिका, ६. दक्षिणी अमेरिका ७. भारतवर्षके दक्षिण-पूर्वमें जो जावा, सुमात्रा और आस्ट्रेलिया आदिका द्वीप-समूह है।

सात महासागरः—

१. हिंद महासागर (Indian Ocean)
२. प्रशान्त महासागर (Pacific Ocean)
३. अन्ध महासागर (Atlantic Ocean)
४. उत्तर हिममहासागर (Arctic Ocean)
५. दक्षिण हिममहासागर (Antarctic Ocean)
६. अरब सागर (Arabian Sea)
७. भूमध्य सागर (Mediterranean Sea)

सुमेरु अर्थात् हिमालय-पर्वत उस समय भी ऊँची कोटिके योगियोंके तपका स्थान था।

स्थूल भूतोंकी स्थूलता और तमस्‌के तारतम्यके क्रमानुसार पृथिवीके नीचे भागको सात अधोलोकोंमें नरक-लोकोंके नामसे विभक्त किया गया है। इनके साथ जो जलके भाग हैं उनको सात पातालोंके नामसे दर्शाया गया है तथा इन तामसी स्थानोंमें रहनेवाले मनुष्यसे नीची राजसी, तामसी योनियोंको असुर राक्षस आदि नामोंसे वर्णन किया गया है।

भुवःलोक अन्तरिक्ष-लोक है, जिसके अन्तर्गत पृथिवीके अतिरिक्त इस सूर्य-मण्डलके ध्रुव-पर्य्यन्त सारे ग्रह, नक्षत्र, तारका आदि तारागण हैं। यह सब भूलोक अर्थात् हमारी पृथिवीके सदृश स्थूल भूतोंवाले हैं। इनमें किसीमें पृथिवी, किसीमें जल, किसीमें अग्नि और किसीमें वायु तत्त्वकी प्रधानता है।

अन्य पाँच सूक्ष्म और दिव्य लोक हैं जिनकी सम्मिलित संज्ञा द्यौः-लोक है। यह सारे भूः-भुवः अर्थात् पृथिवी और अन्तरिक्ष लोकके अंदर हैं। इनकी सूक्ष्मता और सात्त्विकताका क्रमानुसार तारतम्य चला गया है अर्थात् भूः और भुवःके अंदर स्वः, स्वःके अंदर महः, महःके अंदर जनः, जनःके अंदर तपः और तपःके अंदर सत्यलोक है।

इनके सूक्ष्मता और सात्त्विकताके तारतम्यसे और बहुत-से अवान्तर भेद भी हो सकते हैं। इनमेंसे स्वः, महः, स्वर्गलोक और जनः, तपः और सत्यलोक ब्रह्मलोक कहलाते हैं। इनमें वे योगी स्थूल शरीर-को छोड़नेके पश्चात् निवास करते हैं जो वितर्कानुगत भूमिकी परिपक्व अवस्था, विचारानुगत भूमि तथा आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भूमिकी आरम्भिक अवस्थामें संतुष्ट हो गये हैं और जिन्होंने विवेक-ख्याति-द्वारा सारे क्लेशोंको दग्धबीज करके असम्प्रज्ञातसमाधिद्वारा स्वरूपावस्थितिके लिये यत्न नहीं किया है। आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भूमिकी परिपक्व अवस्थावाले उच्चतर और उच्चतम कोटिके विदेह और प्रकृतिलय योगी सूक्ष्म शरीरों, सूक्ष्म इन्द्रियों और सूक्ष्म विषयोंको अतिक्रमण कर गये हैं; इसलिये वे इन सब सूक्ष्म लोकोंसे परे कैवल्यपद-जैसी स्थितिको प्राप्त किये हुए हैं।

सूर्यके भौतिक स्वरूपमें संयमद्वारा योगीको भूलोक अर्थात् पृथिवी-लोक और भुवःलोक अर्थात् अन्तरिक्षलोकके अन्तर्गत सारे स्थूल लोकोंका सामान्य ज्ञान प्राप्त होता है और इसी संयममें पृथिवीका आलम्बन करके अथवा केवल पृथिवीके आलम्बनसहित संयमद्वारा पृथिवीके ऊपरके द्वीपों, सागरों, पर्वतों आदि तथा उसके अधोलोकोंका विशेष ज्ञान प्राप्त होता है।

ध्यानकी अधिक सूक्ष्म अवस्थामें इसी उपर्युक्त संयमके सूक्ष्म हो जानेपर अथवा सूर्यके अध्यात्म सूक्ष्म स्वरूपमें संयमद्वारा सूक्ष्म लोकों अर्थात् स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यलोकका ज्ञान प्राप्त होता है।

वाचस्पति मिश्रने सूर्यद्वारको सुषुम्ना नाड़ी मानकर सुषुम्ना नाड़ीमें संयम करके भुवन-विन्यासके ज्ञानको सम्पादन करना बतलाया है। वास्तवमें कुण्डलिनी जाग्रत् होनेपर सुषुम्ना नाड़ीमें जब सारे स्थूल प्राणादि प्रवेश कर जाते हैं तभी इस प्रकारके अनुभव होते हैं।

उस समय संयमकी भी आवश्यकता नहीं रहती, किंतु जिधर वृत्ति जाती है अथवा जिसका पहलेसे ही संकल्प कर लिया है उसीका साक्षात्कार होने लगता है।

सङ्गति—अन्य भौतिक प्रकाशको संयमका विषय बनाकर भिन्न-भिन्न सिद्धियाँ कहते हैं—

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—चन्द्रे = चन्द्रमामें (संयम करनेसे); तारा-व्यूह-ज्ञानम् = ताराओंके व्यूहका (नक्षत्रोंके स्थान-विशेषका) ज्ञान होता है।

अन्वयार्थ—चन्द्रमामें संयम करनेसे ताराओंके व्यूहका ज्ञान होता है।

व्याख्या—ताराओंकी स्थितिका अर्थात् अमुक तारा अमुक स्थानपर है इसका यथावत् ज्ञान चन्द्रमामें संयम करनेसे होता है। पृथिवी एक दिनमें प्रायः दो-दो घंटोंमें एक-एक राशिके हिसाबसे, बारह राशियोंको एक बार देखा करती है और एक-एक राशिमें एक-एक मासतक निवास करती हुई बारह राशियोंका चक्कर बारह मासोंमें अर्थात् एक वर्षमें करती है; परंतु चन्द्रमा चूँकि अपने चान्द्रमासमें एक बार पृथिवीके चारों ओर घूमता है, अर्थात् एक चान्द्रमासमें बारह राशियोंमें एक बार घूम लेता है, इसलिये एक वर्षमें चन्द्र बारह राशियोंमें बारह बार घूमेगा। इस कारण चन्द्रमें संयमद्वारा योगीको राशि-चक्रका ज्ञान सुगम रीतिसे हो सकता है। ज्योतिषका यह सिद्धान्त है कि जितने ग्रह हैं, उन सबमें चन्द्र एक राशिपर सबसे कम समयतक रहता है, इस हिसाबसे प्रत्येक तारा व्यूह राशिकी आकर्षण-विकर्षण शक्तिके साथ

चन्द्रका अतिघनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः उस आकर्षण-विकर्षण शक्तिके आलम्बनसे युक्त तारा व्यूहके ज्ञानमें चन्द्रकी सहायता ली जा सकती है।

टिप्पणी—कई टीकाकारोंने चन्द्रमासे इड़ा-नाड़ी अर्थ लिया है जो सुषुम्नाके वाम ओरसे गयी है। यह अर्थ व्यासभाष्य और भोजवृत्तिके अभिमत नहीं है और न इसका प्रसङ्गसे कोई सम्बन्ध है।

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—ध्रुवे = ध्रुवमें संयम करनेसे; तद्-गति-ज्ञानम् = उनकी (ताराओंकी) गतिका ज्ञान होता है।

अन्वयार्थ—ध्रुवमें संयम करनेसे ताराओंकी गतिका ज्ञान होता है।

व्याख्या—ध्रुव सब ताराओंमें प्रधान और निश्चल है। इसीलिये उसमें संयम करनेसे प्रत्येक ताराकी गतिका ज्ञान, नियत काल और नियत देश-सहित हो जाता है। अर्थात् इतने समयमें यह तारा अमुक राशि, अमुक नक्षत्रमें जायगा।

टिप्पणी—कई टीकाकारोंने ध्रुवसे सुषुम्ना नाड़ी अर्थ लिया है जो मेरुदण्डमें मूलाधारसे लेकर सहस्रदलतक चली गयी है। पूर्व सूत्रकी टिप्पणीमें इस सम्बन्धमें जो लिख आये हैं वही यहाँ भी समझना चाहिये।

व्यासभाष्यमें इतना और है—ऊर्ध्व (आकाशमें उड़नेवाले) विमानोंमें संयम करनेसे उनका ज्ञान होता है।

सङ्गति—बाहरकी सिद्धियोंका प्रतिपादन करके अब आभ्यन्तर सिद्धियोंका आरम्भ करते हैं—

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—नाभि-चक्रे = नाभि-चक्रमें संयम करनेसे; काय-व्यूह-ज्ञानम् = शरीरके व्यूहका ज्ञान होता है।

अन्वयार्थ—नाभि-चक्रमें संयम करनेसे शरीरके व्यूहका ज्ञान होता है।

व्याख्या—सोलह अरों (सिरों) वाला नाभिचक्र, शरीरके मध्यमें है और सब ओर फैली हुई नाड़ियों आदिका विशेष स्थान है। इसीलिये इसमें संयम करनेसे शरीरमें रहनेवाली वात, पित्त, कफ—तीनों दोष और त्वचा, रक्त, मांस, नाड़ी, हड्डी, चरबी, वीर्य—सातों धातुओंको स्थिति आदिका पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है।

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—कण्ठ-कूपे = कण्ठ-कूपमें (संयम करनेसे); क्षुत्-पिपासा-निवृत्तिः = क्षुधा और पिपासा-की निवृत्ति होती है।

अन्वयार्थ—कण्ठ-कूपमें संयम करनेसे क्षुधा और पिपासा (भूख-प्यास) की निवृत्ति होती है।

व्याख्या—जिह्वाके नीचे सूतके समान एक नस है, उसके नीचे कण्ठ है। उस कण्ठके नीचे जो गढ़ा है उसे कण्ठकूप कहते हैं। उस स्थानमें प्राणादिका स्पर्श होनेसे पुरुषको भूख-प्यास लगती है। इसलिये इस कण्ठ-कूपमें संयमद्वारा प्राणादिके स्पर्शकी निवृत्ति हो जानेसे योगीको भूख-प्यास नहीं लगती है।

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—कूर्मनाड्याम् = कूर्मनाड़ीमें (संयम करनेसे); स्थैर्यम् = स्थिरता होती है।

अन्वयार्थ—कूर्म-नाड़ीमें संयम करनेसे स्थिरता होती है।

व्याख्या—कण्ठ-कूपके नीचे छातीमें कछुवेके आकारवाली एक नाड़ी है। उसे कूर्म-नाड़ी कहते हैं। उसमें संयम करनेसे स्थिरताकी प्राप्ति होती है। जैसे सर्प और गोह स्थिर होते हैं। (प्रसिद्ध भी है और वास्तविक घटना भी है—सर्प छिद्रमें आधा घुसा हो तो आधेको पकड़कर कितना ही बलपूर्वक खींचे वह ऐसा जम जाता है कि चाहे टूट जाये परंतु खिंचता नहीं। यही बात गोहके सम्बन्धमें भी प्रसिद्ध है। प्रायः चोर किसी छतपर चढ़नेके निमित्त गोहके कमरमें रस्सी बाँधकर उसको ऊपर चढ़ा देते हैं। जब वह मुँडेरपर पहुँच जाती है तब पैर जमा लेती है और चोर रस्सीके सहारे ऊपर चढ़ जाते हैं। श्रीअङ्गदजीके पैर न उठनेकी बात भी इसी संयमकी सिद्धिकी सूचक हो सकती है।)

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—मूर्ध-ज्योतिषि = मूर्धाकी ज्योतिमें (संयम करनेसे); सिद्ध-दर्शनम् = सिद्धोंका दर्शन होता है।

अन्वयार्थ—मूर्धाकी ज्योतिमें संयम करनेसे सिद्धोंका दर्शन होता है।

व्याख्या—शरीरके कपालमें ब्रह्म-रन्ध्र नामक एक छिद्र है। उसमें जो प्रकाशवाली ज्योति है वह मूर्धा-ज्योति कहलाती है। उसमें संयम करनेसे सिद्धोंके दर्शन होते हैं। द्यौ और पृथिवीलोकमें विचरनेवाले सिद्ध (व्यासभाष्य) द्यौ और पृथिवीलोकके अन्तरालमें विचरनेवाले सिद्ध, अर्थात् दिव्य-पुरुष जो दूसरे प्राणियोंको अदृश्य रहते हैं, योगी उनको ध्यानावस्थामें देखता है और उनके साथ भाषण करता है। (भोजवृत्ति)

विशेष विचार—इस ज्योतिका सम्बन्ध भ्रुकुटी अर्थात् आज्ञाचक्रसे है। इसलिये ब्रह्मरन्ध्रमें प्राण तथा मनको स्थिर करनेके पश्चात् जब आज्ञाचक्रमें ध्यान किया जाता है तो इस मूर्धा-ज्योतिके सत्त्वगुणके प्रकाशमें सूक्ष्म जगत्का अनुभव होने लगता है। विशेष १। ३४ के वि० व० में देखो।

सङ्गति—सब वस्तुओंको जाननेका उपाय कहते हैं—

प्रातिभाद् वा सर्वम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—प्रातिभाद्वा = अथवा प्रातिभ-ज्ञानसे; सर्वम् = सब कुछ जाना जाता है।

अन्वयार्थ—अथवा प्रातिभ-ज्ञानसे योगी सब कुछ जान लेता है।

व्याख्या—प्रातिभ (Intutional insight) वह प्रकाश अथवा ज्ञान है जो बिना किसी बाहरके निमित्तके स्वयं अंदरसे प्राप्त हो। प्रातिभ ही तारक-ज्ञान (३-५४) का नाम है, यह विवेक-ज्ञानका प्रथम रूप है। जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेका प्रथम ज्ञापक चिह्न प्रभा है, इसी प्रकार प्रसंख्यानके उदय होनेका प्रथम लिङ्ग प्रातिभज्ञान है। जैसे सूर्यकी प्रभाके उत्पन्न होनेपर सब कुछ जाना जा सकता है इसी प्रकार प्रातिभ-ज्ञानकी उत्पत्ति होनेपर योगी बिना संयमके ही सब कुछ जान लेते हैं। वा (अथवा) शब्द इस अभिप्रायसे लगाया गया है कि इससे पूर्व जो-जो संयम कहा गया है उससे जिन-जिन विषयोंका ज्ञान होता है यह सब प्रातिभ-ज्ञानसे हो जाता है।

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—हृदये = हृदयमें (संयम करनेसे); चित्तसंवित् = चित्तका ज्ञान होता है ।

अन्वयार्थ—हृदयमें संयम करनेसे चित्तका ज्ञान होता है ।

व्याख्या—हृदयकमल चित्तका निवासस्थान है, उसमें संयम करनेसे वृत्तिसहित चित्तका साक्षात्कार होता है । विशेष व्याख्या १ । ३४ के वि० व० में अनाहतचक्र देखें ।

टिप्पणी—हृदय शरीरमें विशेष स्थान है; उसमें सूक्ष्म कमलाकार जिसका मुख नीचेको है उसके अंदर अन्तःकरण चित्तका स्थान है । उसमें जिस योगीने संयम किया है, उसको अपने और दूसरेके चित्तका ज्ञान उत्पन्न होता है । अपने चित्तमें प्रविष्ट सब वासनाओं और दूसरेके चित्तमें प्रविष्ट रागादिको जान लेता है । यह अर्थ है । भोजवृत्ति ।

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थान्यस्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ—सत्त्व-पुरुषयोः = चित्त और पुरुष; अत्यन्त-असंकीर्णयोः = जो परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं (इन दोनोंकी); प्रत्यय-अविशेषः = प्रतीतियोंका अभेद; भोगः = भोग है, उनमेंसे; परार्थ = परार्थ-प्रतीति (से); अन्य-स्वार्थ-संयमात् = भिन्न जो स्वार्थ-प्रीति (पौरुषेय प्रत्यय) है उसमें संयम करनेसे; पुरुषज्ञानम् = पुरुषका ज्ञान होता है अर्थात् पुरुष-विषयक प्रज्ञा उत्पन्न होती है ।

अन्वयार्थ—चित्त और पुरुष जो परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, इन दोनोंकी प्रतीतियोंका अभेद भोग है । उनमेंसे परार्थ-प्रतीतिसे भिन्न जो स्वार्थ-प्रतीति है उसमें संयम करनेसे पुरुषका ज्ञान होता है अर्थात् पुरुष-विषयक प्रज्ञा उत्पन्न होती है ।

व्याख्या—सत्त्व अर्थात् चित्त प्रकाश और सुखरूप होनेसे और पुरुष ज्ञानस्वरूप होनेसे तुल्य-जैसे प्रतीत होते हैं, किंतु वास्तवमें ये दोनों अत्यन्त भिन्न हैं; क्योंकि चित्त परिणामी, जड़ और भोग्यरूप है और पुरुष निर्विकार, चैतन्य और भोक्ता-स्वरूप है । इस जड़ चित्तमें चैतन्य पुरुषसे प्रतिबिम्बित होकर जो दुःख, सुख और मोहरूपी वृत्तियोंका उदय होना है, यह प्रत्ययाविशेष है; क्योंकि इससे चित्तके धर्म सुख, दुःख और मोह आदिका चित्तमें प्रतिबिम्बित चैतन्य पुरुषमें अध्यारोप होता है । यही प्रत्ययाविशेष अर्थात् चित्त और चित्तमें प्रतिबिम्बित चेतनके प्रत्ययों (वृत्तियों) का अभेद भोग है । यह भोगरूप प्रत्यय यद्यपि चित्तका धर्म है तथापि चित्तको (परार्थत्वात्) पुरुषके अर्थवाला होनेसे और पुरुषका चित्तका भोक्ता होनेसे यह भोगरूप प्रत्यय भी परार्थ अर्थात् पुरुषके अर्थ है । और जो भोगरूप प्रत्ययसे भिन्न चेतनमात्रको अवलम्बन करनेवाला पौरुषेय प्रत्ययरूप चित्तका धर्म है वह स्वार्थ प्रत्यय है।

अर्थात् यद्यपि सुख-दुःखादिके अनुभवका नाम भोग है और भोगका अनुभव करनेवाला भोक्ता कहलाता है ऐसा भोग-कर्तृत्वरूप भोक्तृत्व निर्विकार-चेतन-पुरुषमें भी वास्तवमें सम्भव नहीं है, तथापि चित्तके धर्म इस प्रत्ययरूप भोग, सुख-दुःख आदिका पुरुषके प्रतिबिम्बद्वारा पुरुषमें आरोप-स्वरूप ही है । जैसे स्वच्छ जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमामें जलके कम्पनसे चन्द्रमा काँपता है, ऐसा कम्पनका आरोप होता है । वास्तवमें चन्द्रमामें कम्पन नहीं होता है, वैसे ही यह भोग चित्तका परिणाम होनेके कारण वास्तवमें चित्तहीमें होता है, परंतु प्रतिबिम्बद्वारा निर्विकार पुरुषमें सुख-दुःखादिका आरोपरूप भोग है । इसलिये आरोपित भोगवाला होनेसे पुरुष भोक्ता कहलाता है। ऐसा चित्तका परिणाम प्रत्ययस्वरूप

भोग जड़ होनेसे परार्थ है और परार्थ होनेसे भोग्य है; क्योंकि जो वस्तु परार्थ होती है वह भोग्य होती है। इस परार्थ जड़-भोगसे भिन्न जो पुरुषका प्रतिबिम्बित रूप प्रत्यय है वह स्वार्थ कहलाता है। वह पौरुषेय प्रत्ययरूप भोग किसीका भोग्य नहीं है। उस प्रतिबिम्बरूप स्वार्थ-प्रत्ययको पौरुषेय-प्रत्यय और पौरुषेय-बोध भी कहते हैं। इस स्वार्थ-प्रत्ययमें संयम करनेसे पुरुष (विषयक) ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् पुरुषको विषय करनेवाली प्रज्ञा उत्पन्न होती है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि चित्तके धर्म पुरुष-प्रत्ययसे पुरुष जाना जाता है, किंतु पुरुष ही चित्तमें प्रतिबिम्बित हुआ स्वात्मावलम्बन (अपने स्वरूप-को प्रकाश करनेवाली) रूप प्रत्ययको देखता है; क्योंकि ज्ञाता पुरुषका वास्तविक स्वरूप चित्तद्वारा नहीं जाना जा सकता है, जैसा बृहदारण्यकोपनिषद्में कहा है—

विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ।

अर्थ—सबको जाननेवाले विज्ञानीको किससे जाना जा सकता है अर्थात् किसीसे नहीं जाना जा सकता है।

विशेष वक्तव्य—सूत्र ३५। वाचस्पति आदिने इस सूत्रमें "परार्थस्वार्थसंयमात्" पाठ पढ़कर 'अन्य' शब्दका अध्याहार करके अर्थ पूरा किया है। पर भोजवृत्तिका पाठ "परार्थान्यस्वार्थसंयमात्" अध्याहारकी अपेक्षा नहीं रखता। इसलिये यहाँ यही पाठ रखा गया है। इस सूत्रके भावको और अधिक स्पष्ट करनेके उद्देश्यसे भोजवृत्तिका भाषार्थ भी दिये देते हैं—

भोजवृत्तिका भाषार्थ—सूत्र ३५। सत्त्व (चित्त = बुद्धि) जो प्रकाश और सुखरूप है वह प्रकृतिका परिणाम-विशेष है। पुरुष उसका भोक्ता और अधिष्ठाता (स्वामी) रूप है। ये दोनों भोग्य-भोक्ता और जड़-चेतनरूप होनेसे अत्यन्त भिन्न हैं। इन दोनोंके प्रत्ययों (वृत्तियों-ज्ञानों) का जो अविशेष अर्थात् अभेदका भासित होना है उससे सत्त्व (चित्त = बुद्धि = अन्तःकरण) की कर्तृत्व-वृत्तिद्वारा जो सुख, दुःखका ज्ञान होना है वह भोग है। सत्त्व (चित्त = बुद्धि) स्वार्थ अर्थात् अपने किसी प्रयोजनकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये वह भोग उसके लिये 'स्वार्थ' नहीं है, किंतु 'परार्थ' दूसरेके निमित्त अर्थात् पुरुषके निमित्त है। उससे भिन्न 'स्वार्थ' पुरुषका अपने स्वरूपमात्रका आलम्बन (अपने स्वरूपका विषय करना) अर्थात् अहंकार-रहित सत्त्व (चित्त = बुद्धि) में जो चेतनकी छाया (प्रतिबिम्ब) का संक्रमण है उसमें संयम करनेवाले योगीको पुरुष-विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार पुरुष स्वावलम्बन (अपने स्वरूपको विषय करनेवाले) सत्त्व (चित्त) में रहनेवाले ज्ञानको जान लेगा है। यह नहीं है (इससे यह न समझना चाहिये) कि इस प्रकार ज्ञाता चेतन पुरुष ज्ञानसे जाना जाता है; क्योंकि ऐसा माननेमें ज्ञाता पुरुष ज्ञेय (ज्ञानका विषय) मानना पड़ेगा और ज्ञाता और ज्ञेयमें अत्यन्त भेद है।

सङ्गति—स्वार्थ-प्रत्ययके संयमके मुख्य-फल अर्थात् पुरुष-ज्ञानके उत्पन्न होनेसे पूर्व जो सिद्धियाँ होती हैं, उनका निरूपण करते हैं—

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ—ततः = उस स्वार्थसंयमके अभ्याससे; प्रातिभ-श्रावण-वेदना-आदर्श-आस्वाद-वार्ताजायन्ते = प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद और वार्ता ज्ञान उत्पन्न होता है।

अन्वयार्थ—उस स्वार्थ-संयमके अभ्याससे प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद और वार्ता ज्ञान उत्पन्न होता है।

व्याख्या—स्वार्थ-संयमके अभ्याससे पुरुष-ज्ञान उत्पन्न होनेसे पूर्व निम्न प्रकारकी छः सिद्धियाँ प्रकट होती हैं—

१ *प्रातिभ*—मनमें सूक्ष्म (अतीन्द्रिय), व्यवहित (छिपी हुई), विप्रकृष्ट (दूरस्थ), अतीत और अनागत वस्तुओंके जाननेकी योग्यता। सूत्र ३। ३३।

२ *श्रावण*—श्रोत्रेन्द्रियकी दिव्य और दूरके शब्द सुननेकी योग्यता।

३ *वेदना*—त्वचा-इन्द्रियकी दिव्यस्पर्श जाननेकी योग्यता।

'वेद्यतेऽनया' इस व्युत्पत्तिके द्वारा स्पर्शेन्द्रियमें उत्पन्न ज्ञानको 'वेदना' संज्ञा है। (भोजवृत्ति)

४ *आदर्श*—नेत्रेन्द्रियकी दिव्य रूप देखनेकी योग्यता।

आ समन्ताद् दृश्यतेऽनुभूयते रूपमनेन।

इस व्युत्पत्तिसे नेत्रेन्द्रियसे उत्पन्न ज्ञानका नाम आदर्श है। —(भोजवृत्ति)

५ *आस्वाद*—रसनेन्द्रियकी दिव्य रस जाननेकी योग्यता।

६ *वार्ता*—घ्राणेन्द्रियकी दिव्य गन्ध सूँघनेकी योग्यता।

शास्त्रीय परिभाषामें वृत्ति शब्द घ्राणेन्द्रियका वाची है 'वर्तते गन्धविषये इति वृत्तिः' गन्ध जिसका विषय है वह वृत्ति है अर्थात् नासिकाग्रवर्ती घ्राणेन्द्रिय है, उससे उत्पन्न हुआ ज्ञान 'वार्ता' कहलाता है। —(भोजवृत्ति)

सङ्गति—स्वार्थ प्रत्ययका संयम पुरुष-ज्ञानके निमित्त किया है; उससे पूर्व इन सिद्धियोंको पाकर योगी अपने-आपको कृतार्थ मानकर उपरामको प्राप्त न हो जावे किंतु पुरुष-ज्ञानके लिये बराबर प्रयत्न करता रहे, इस हेतुसे कहते हैं—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ—ते = वे उपर्युक्त छः सिद्धियाँ; समाधौ-उपसर्गाः = समाधि (पुरुष-दर्शन) में विघ्न हैं; व्युत्थाने-सिद्धयः = व्युत्थानमें सिद्धियाँ हैं।

अन्वयार्थ—वे उपर्युक्त छः सिद्धियाँ समाधि (पुरुष-दर्शन) में विघ्न हैं, व्युत्थानमें सिद्धियाँ हैं।

व्याख्या—पिछले सूत्रमें बतलायी हुई छः सिद्धियाँ एकाग्र चित्तवालोंको समाधि-प्राप्ति (पुरुष दर्शन) में विघ्नकारक हैं; क्योंकि उनमें हर्ष, गौरव, आश्चर्यादि करनेसे समाधि शिथिल होती है, पर व्युत्थान-दशामें विशेष फलदायक होनेसे सिद्धिरूप होती हैं अर्थात् जैसे जन्मका कँगला अत्यल्प द्रव्यको पाकर ही अपने-आपको कृतार्थ समझने लगता है वैसे ही विक्षिप्त चित्तवालोंको ही पुरुष-ज्ञानसे पूर्व होनेवाले उपर्युक्त प्रातिभादि छः ऐश्वर्य सिद्धिरूप दीखते हैं।

समाहित चित्तवाला योगी इन प्राप्त ऐश्वर्योंसे दोष-दृष्टिद्वारा उपराम होकर इनको समाधिमें रुकावट जानकर अपने अन्तिम लक्ष्य आत्मसाक्षात्कारके लिये स्वार्थ-संयमका निरन्तर प्रमाद-रहित होकर अभ्यास करता रहे।

सङ्गति—पुरुष-दर्शनपर्यन्त संयमका फल ज्ञानरूप ऐश्वर्य-विभूतियोंका निरूपण करके अब क्रिया-रूप सिद्धियोंको दिखलाते हैं—

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ—बन्ध-कारण-शैथिल्यात् = बन्धके कारणके शिथिल करनेसे; प्रचार-संवेदनात्-च = और

घूमनेके मार्ग जाननेसे; चित्तस्य = चित्तका (सूक्ष्म-शरीरका); पर-शरीर-आवेशः = दूसरेके शरीरमें आवेश होता है ।

अन्वयार्थ—बन्धके कारणके शिथिल करनेसे और घूमनेके मार्गके जाननेसे चित्त (सूक्ष्म शरीर) का दूसरेके शरीरमें आवेश होता है ।

व्याख्या—चित्तका शरीरमें बन्ध रहनेका कारण धर्माऽधर्म अर्थात् सकाम कर्म और उनकी वासनाएँ हैं । योगी जब धारणा, ध्यान, समाधिके अभ्याससे सकाम कर्मोंको छोड़कर निष्काम कर्मोंका आसरा लेता है तो इन बन्धोंके कारणोंको ढीला कर देता है और नाड़ियोंमें संयम करके चित्त (सूक्ष्म-शरीर) के उनमें आने-जानेका मार्ग प्रत्यक्ष कर लेता है । इस प्रकार जब बन्धके कारण शिथिल हो जाते हैं और नाड़ियोंमें चित्त (सूक्ष्म-शरीर) के घूमनेके मार्गका पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है तब योगीमें यह सामर्थ्य हो जाती है कि वह अपने शरीरसे चित्त (सूक्ष्म-शरीर) को निकालकर किसी दूसरे शरीरमें डाल सके । चित्तके अनुसार ही इन्द्रियाँ भी यथास्थान आवेश कर जाती हैं ।

टिप्पणी—भोजवृत्तिका भापार्थ—। सूत्र ३८ । अन्य सिद्धि कहते हैं—

आत्मा और चित्त व्यापक है, पर नियत कर्मों (भले-बुरे कर्मों) के वशसे ही शरीरके भीतर रहते हैं । उनका जो भोक्ता (आत्मा) और भोग्य (चित्त) बनकर बँध जाना है वह ही शरीरका बन्धन है । इस बन्धनका कारण धर्म और अधर्म जब समाधिसे शिथिल अर्थात् कृश हो जाता है तब हृदयसे लेकर इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंके सम्मुख जो चित्तका प्रचार (फैलाव वा गमनागमनका मार्ग) है उसका ज्ञान हो जाता है कि यह चित्तको बहानेवाली (चित्तके गमनागमनकी) नाड़ी है । इससे चित्त बहता है अर्थात् विषयोंमें जाता है । और यह नाड़ी रस और प्राणादिको बहानेवाली नाड़ियोंसे भिन्न है । जब अपने और दूसरोंके शरीरमें चित्तके संचारको जान जाता है तब दूसरेके मृतक शरीरमें वा जीते हुए शरीरमें चित्तके संचारद्वारा प्रवेश करता है । दूसरेके शरीरमें प्रवेश होनेपर चित्तके पीछे अन्य सब इन्द्रियाँ भी साथ हो लेती हैं, जैसे रानी मक्खीके पीछे अन्य मक्खियाँ । दूसरेके शरीरमें घुसा हुआ योगी अपने शरीरकी तरह उस शरीरमें बर्तता है, क्योंकि चित्त और पुरुष दोनों व्यापक हैं इसलिये भोगोंके संकोचका कारणरूप कर्म (क्रिया) यदि समाधिसे हट गया तो स्वतन्त्रताके कारण सर्वत्र ही भोग-सम्पादन हो सकता ।

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ—उदान-जयात् = संयमद्वारा उदानके जीतनेसे; जल = जल; पङ्क = कीचड़; कण्टक-आदिषु = काँटों आदिमें; असङ्गः = असङ्ग रहना होता है; उत्क्रान्तिः च = और ऊर्ध्व गति होती है ।

अन्वयार्थ—(संयमद्वारा) उदानके जीतनेसे जल, कीचड़, काँटों आदिमें असङ्ग रहना और ऊर्ध्व गति होती है ।

व्याख्या—शरीरमें समस्त इन्द्रियोंमें बर्तनेवाले जीवनका आधार प्राणवायु है । उसके क्रिया-भेदसे पाँच मुख्य नाम हैं—

प्राण—यह इन पाँचोंमें सबसे प्रथम है । यह मुख और नासिकाद्वारा गति करनेवाला है । नासिकाके अग्रभागसे लेकर हृदय-पर्यन्त बर्तता है ।

२ *अपान*—नीचेको गति करनेवाला है । मूत्र, पुरीष और गर्भ आदिको नीचे ले जानेका हेतु है । नाभिसे लेकर पादतलतक अवस्थित है ।

३ समान—खान-पानके रसको सम्पूर्ण शरीरमें अपने-अपने स्थानपर समानरूपसे पहुँचानेका हेतु है। हृदयसे लेकर नाभितक वर्तता है।

४ व्यान—सारे शरीरमें व्यापक होकर गति करनेवाला है।

५ उदान—ऊपरकी गतिका हेतु है। कण्ठमें रहता हुआ शिर-पर्यन्त वर्तनेवाला है। इसीके द्वारा शरीरके व्यष्टि प्राणका समष्टि प्राणसे सम्बन्ध है। मृत्युके समय सूक्ष्म-शरीर इसी उदानद्वारा स्थूल-शरीरसे बाहर निकलता है। जब योगी संयमद्वारा उदानको जीत लेता है तो उसका शरीर रूईकी तरह हल्का हो जाता है। वह पानीपर पैर रखते हुए उसमें नहीं डूबता। कीचड़-काँटोंमें उसके पैर नहीं फँसते; क्योंकि वह अपने शरीरको हल्का किये ऊपर उठाये रखता है। और मरण समयमें उसकी ब्रह्मरन्ध्रद्वारा प्राणोंके निकलनेसे ऊर्ध्व गति (शुक्ल गति) उत्तर-मार्गसे होती है।

विशेष वक्तव्य सं० १। सूत्र ३९।—अन्तःकरणकी दो प्रकारकी वृत्तियाँ होती हैं—

(१) बुद्धिका निश्चय, चित्तकी स्मृति, अहङ्कारका अभिमान, मनका संकल्प करना—यह इन सबका अलग-अलग काम बाह्य-वृत्ति है।

(२) इन सबका साधारण साझा (मिश्रित) काम आभ्यन्तर-वृत्ति है। जैसे सूखे हुए तृणोंमें अग्नि लगानेसे एकदम अग्नि प्रज्वलित हो जाती है अथवा जैसे एक कबूतर पिंजरेको नहीं हिला सकता और बहुत-से मिलकर एक साथ चला सकते हैं इसी प्रकार शरीर-धारणरूपी कार्य जो अन्तःकरणकी मिश्रित आभ्यन्तर वृत्तिसे चल रहा है, इसीका नाम जीवन है। यह जीवनरूप प्रयत्न शरीरमें उपगृहीत वायुकी क्रियाओंके भेदका कारण है। इस जीवनरूप प्रयत्नसे पाँच प्रकारके वायुकी क्रिया होती है। उन क्रियाओं और स्थानोंके भेदसे वायुके प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान पाँच मुख्य नाम हैं।

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या।
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥ (सांख्यकारिका २९)

अपना-अपना लक्षण तीनों (अन्तःकरणों) का काम है। सो यह साझा (काम) नहीं है, अन्तःकरणोंका साझा (काम) प्राण आदि पाँच वायु हैं।

अर्थात् बुद्धिका निश्चय, अहंकारका अभिमान और मनका संकल्प—यह तीनों अन्तःकरणोंका अपना-अपना काम है। साझा काम नहीं है।

प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान—यह पाँच वायु इनका साझा काम है। यह पाँच प्रकारका जीवन-कार्य मन, अहंकार और बुद्धिके आश्रित है, इनके होते हुए होता है।

विशेष वक्तव्य सं० २। सूत्र ३९। मृत्युके समय लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीरकी चार अवस्थाएँ—

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥
(प्रश्नोप० ३-७)

अब उदान जो ऊपरको जानेवाला है वह एक नाड़ी, (सुषुम्ना) के द्वारा (लिङ्ग-शरीरको) पुण्यसे पुण्यलोक (आदित्यलोक वा चन्द्रलोक) को ले जाता है (इन दोनों लोकोंमें अन्तर्मुख होकर जाना होता है)। पापसे पापलोक (पशु-पक्षी, कीट-पतङ्गादिकी योनिको) और दोनों (मिले हुए पुण्य-पाप) से मनुष्यलोकको ले जाता है।

वे मनुष्य जिनकी रुचि सदा पापमें रहती है, जो स्वार्थसिद्धि अथवा बिना स्वार्थके भी दूसरोंको हानि पहुँचाने तथा नाना प्रकारसे हिंसात्मक और नीच कर्मोंमें लगे रहते हैं, उनका लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीर मृत्युके समय वर्तमान स्थूल-शरीरको छोड़कर कीट, पशु, पक्षी आदि तिर्यक्-योनियोंको प्राप्त होता है। और पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ, हिंसात्मक और अहिंसात्मक इन दोनों प्रकारके मिश्रित कर्म करनेवाला जीव मनुष्ययोनिको प्राप्त होता है। इन दोनों प्रकारके मनुष्योंके लिङ्ग-शरीरकी मृत्युके समय अधः तथा मध्यम गति स्थूल लोकोंमें बाहरकी ओरसे होती है।

पितृयाण एवं देवयान

पुण्यात्माओंके लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीरोंकी कृष्ण और शुक्ल गतियोंका पितृयाण और देवयान नामसे वेदों, उपनिषदों और गीतामें सविस्तर वर्णन किया गया है।

यथा—

द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥

(यजुर्वेद १९। ४७; ऋग्वेद १०। ८८। १५)

(अन्तरिक्षलोक और पृथ्वीलोकके बीचमें) मनुष्योंके जानेके लिये मैंने दो मार्ग सुने हैं। जिनमेंसे एकका नाम देवयान और दूसरेका नाम पितृयाण है। इन्हीं दोनों मार्गोंसे समस्त संसारी पुण्यात्माओंके लिङ्ग-शरीर जाते हैं।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥ (गीता ८। २३)

और हे अर्जुन! जिस काल (मार्ग) में शरीर त्यागकर गये हुए योगीजन लौटकर न आनेवाली गतिको और लौटकर आनेवाली गतिको भी प्राप्त होते हैं, उस काल (मार्ग) को कहूँगा।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥ (गीता ८। २६)

क्योंकि जगत्के ये दो प्रकारके शुक्ल और कृष्ण अर्थात् देवयान और पितृयाण मार्ग सनातन माने गये हैं। (इनमें) एकके द्वारा (गया हुआ) पीछे न आनेवाली गतिको प्राप्त होता है और दूसरेके द्वारा (गया हुआ) पीछे आता है अर्थात् जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है।

पितृयाण— सकामी पुण्यात्माओं (तथा सम्प्रज्ञात समाधिकी नीची भूमियोंमें आसक्त योगियों) का लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीर पितृयाण मार्गद्वारा चन्द्रलोक (स्वर्गलोकमें) जाकर अपने सुकृत कर्मोंको भोगनेके पश्चात् उसी मार्गसे लौटकर मनुष्यलोकमें मनुष्य-शरीर धारण करता है। "सकाम कर्म" अविद्या और अज्ञानरूपी अन्धकारसे मिश्रित होते हैं। इसलिये ऐसे लिङ्ग-शरीरोंकी गति निष्काम कर्मयोगियोंकी अपेक्षा रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन-जैसे अन्धकारके समय (मार्ग) तथा अन्धकारके लोकोंमें होकर बतलायी गयी है।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ (गीता ८। २५)

धूम, रात्रि तथा कृष्णपक्ष (जब चन्द्रमाका कृष्ण भाग पृथ्वीके सामने रहता है, जो कृष्ण प्रतिपदासे अमावास्यातक अथवा कृष्ण पञ्चमीसे शुक्लपक्ष पञ्चमीतक अथवा कृष्ण अष्टमीसे शुक्ल अष्टमीतक माना

गया है) और दक्षिणायनके छः महीने (जब उत्तर ध्रुव-स्थानपर रात होती है अथवा सूर्यके कर्कमें संक्रमणसे लेकर छः मास) आषाढ़ शुक्लपक्ष, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष कृष्णपक्ष अर्थात् वर्षा-ऋतु, शरद्-ऋतु और हेमन्त-ऋतु । उस काल (मार्ग) में मरकर गया हुआ सकाम कर्मयोगीका लिङ्ग-शरीर चन्द्रलोक (स्वर्गलोक) को प्राप्त होकर (वहाँ अपने शुभकर्मोंका फल भोगकर) फिर लौटता है (मनुष्य-शरीर धारण करता है) ।

ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिꣳरात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद् यान् षड् दक्षिणैति मासाꣳस्तान्, नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति ॥ ३ ॥

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद् देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति ॥ ४ ॥

तस्मिन् यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते ॥ ५ ॥

(छान्दोग्य उप० ५ । १०)

उनके लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीर धूमको अपना मार्ग बनाते हैं । धूमसे रात्रिके अन्धकारको, रात्रिसे कृष्णपक्षके अन्धकारको, कृष्णपक्षसे छः मास दक्षिणायनके अन्धकारको जिनमें सूर्य दक्षिणको जाता है, मार्ग बनाते हुए आगे जाते हैं । वे संवत्सर (कल्प) को प्राप्त नहीं होते ।

दक्षिणायनके छः महीनोंसे पितृलोकको, पितृलोकसे आकाशको मार्ग बनाते हैं । आकाशसे चन्द्रलोकको प्राप्त होते हैं । यह सोम राजा (चन्द्रमा अर्थात् चन्द्रलोक 'स्वर्गलोक') है । यह पितरोंका अन्न (शुभ कर्मोंके फलोंका भोगस्थान) है, इसको पितर भक्षण करते हैं अर्थात् चन्द्रलोकमें अपने अमृतरूपी सूक्ष्म फलोंको भोगते हैं ।

वे वहाँ (चन्द्रलोकमें) उतनी देर रहते हैं जबतक उनके कर्म क्षीण नहीं होते । तब वे उसी मार्गको फिर लौटते हैं, जैसे गये थे ।

उपनिषदोंमें लिङ्ग-शरीरका वृष्टिद्वारा पृथ्वीलोकमें आना इत्यादि जो बतलाया गया है, वह केवल अधोगतिका सूचक है और कई एक भाष्यकारोंने स्थूलदृष्टिवाले सकाम-कर्मियोंके सकाम-कर्मोंकी निःसारता दिखलाकर उनसे आसक्ति छुड़ानेके लिये इस अधोगतिको और अधिक स्थूलरूपसे वर्णन किया है । यथा—लिङ्ग-शरीरका ओषधियों आदिमें जाकर मनुष्योंसे खाये जाना और वीर्यद्वारा रजसे मिलकर जन्म लेना इत्यादि । वास्तवमें लिङ्ग-शरीरका इस भाँति स्थूल-पदार्थों-जैसा व्यवहार नहीं है । लिङ्ग-शरीरकी गति स्थूल-शरीर तथा स्थूल-पदार्थोंसे अति विलक्षण है । जैसा (सूत्र १ । २८ एवं ४ । १० की) व्याख्यामें विस्तारपूर्वक बतलाया गया है ।

यहाँ चन्द्रसे अभिप्राय यह भौतिक चन्द्र नहीं है, जो आकाशमें हमें दीखता है । यह तो हमारी पृथिवीके सदृश एक स्थूल जगत् है । हमारे मर्त्यलोक पृथिवीकी अपेक्षासे चन्द्र शब्द अमृतके अर्थमें सारे सूक्ष्म लोकोंके लिये प्रयोग हुआ है जिनको द्युलोक, स्वर्गलोक और कहीं-कहीं ब्रह्मलोक भी कहा जाता है (वि० पा० सूत्र २६ का वि० व०) । ये सूक्ष्म लोक तो भूः और भुवः अर्थात् पृथ्वीलोक और सारे स्थूल अन्तरिक्षलोकोंके अंदर है, न कि बाहर । ऊपर बतला आये हैं कि सूक्ष्म लोकोंमें अन्तर्मुख होकर जाना होता है । उसीके उलटे क्रमसे सूक्ष्म लोकोंसे मनुष्यलोकमें बहिर्मुख होना होता है । इसलिये लिङ्ग-शरीरोंका वृष्टिद्वारा पृथिवी-लोकमें गिरना औषधियों आदिद्वारा मनुष्यों आदिसे खाये जानेकी

कल्पना भ्रममूलक है। देवस्थानसे पशु-पक्षी आदि नीची योनियोंमें जानेकी बात भी अयुक्त है, क्योंकि सूक्ष्म लोकोंमें दिव्य शरीरको देनेवाले नियत विपाकके प्रधान कर्माशयोंकी निचली भूमिमें मनुष्य-शरीरको देनेवाले नियत विपाकके कर्माशय ही हो सकते हैं।

छान्दोग्योपनिषद् ६। १० में अधोगति दिखलानेके लिये उस स्थूल गर्भका वर्णन है, जिसमें सकामियोंको चन्द्रलोकके आनन्द भोगनेके पश्चात् मनुष्यलोकमें प्रवेश करना होता है अर्थात् "अभ्र मेघ होकर बरसता है, उससे चावल, ओषधियाँ, तिल आदि उत्पन्न होते हैं। इनसे बड़ी कठिनाईसे वीर्य बनता है अर्थात् जब मनुष्य उनको खाता है, तब उनका अति सूक्ष्म अंश वीर्य बनता है। उस वीर्यको जब वह (स्त्रीकी योनिमें) सींचता है, तब रजसे मिलकर गर्भ बनता है। उस गर्भमें सकामियोंका सूक्ष्म-शरीर चन्द्रलोकसे (वृत्तिरूपसे) प्रवेश करता है।"

सूक्ष्म-शरीरका वीर्यद्वारा प्रवेश करना श्रुतिके विरुद्ध भी है। श्रुतिमें ब्रह्मरन्ध्रद्वारा प्रवेश होना बतलाया है। यथा—

"स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत" (ऐतरेय अध्या० १ खण्ड ३। १२)

तब उसने इसी सीमा ब्रह्मरन्ध्रको फोड़ा और वह इस द्वारसे प्रविष्ट हुआ।

और मन्त्र ७ में इस बातको दर्शाया गया है कि इस लोकमें अच्छे कर्मवाले अच्छे गर्भोंमें और बुरे कर्मोंवाला बुरे गर्भोंमें अर्थात् वे जो इस लोकमें शुभ आचरणवाले हैं तत्काल ही शुभ जन्मको पाते हैं—जैसे ब्राह्मण-जन्म, क्षत्रिय-जन्म, वैश्य-जन्म और जो इस लोकमें निन्दित आचरणवाले हैं, वे शीघ्र ही नीच जन्मको पाते हैं जैसे कुत्तेके जन्म, सूकरके जन्म तथा चाण्डालके जन्म।

देवयान—निष्कामकर्मी (तथा असम्प्रज्ञात समाधिकी भूमिको प्राप्त किये योगी) पुण्यात्माओंका लिङ्ग-शरीर देवयान मार्गद्वारा आदित्यलोकमें आकर मुक्तिको प्राप्त होता है। उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती है। निष्काम-कर्म विद्या और ज्ञानके प्रकाशसे युक्त होते हैं; इसीलिये निष्काम कर्मियोंकी गति सकामकर्मियोंकी अपेक्षा दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण-जैसे प्रकाशके समय (मार्ग) तथा प्रकाशके लोकोंमें होकर बतलायी गयी है। यथा—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ (गीता ८। २४)

अग्नि ज्योति दिन शुक्लपक्ष (जब चन्द्रमाका शुक्ल-भाग पृथ्वीके सामने रहता है अर्थात् शुक्ल प्रतिपदासे पूर्णिमातक अथवा शुक्ल पञ्चमीसे कृष्ण पञ्चमीतक अथवा शुक्ल अष्टमीसे कृष्णपक्ष अष्टमीतक) उत्तरायणके छ मास (जब उत्तर ध्रुव स्थानपर दिन होता है अथवा सूर्यके मकरमें संक्रमणसे लेकर छः मास) पौष शुक्ल, माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़ कृष्ण, अर्थात् वसन्त ऋतु, ग्रीष्म ऋतु और शिशिर ऋतु। इस प्रकारके समय (मार्ग) में मरकर गये हुए योगीजन आदित्यलोकको प्राप्त होते हैं।

अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च न, अर्चिषमेवाभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद् यान् षडुदङ्ङेति मासाꣳस्तान्, मासेभ्यः संवत्सरꣳसंवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथः। एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते॥ (छान्दोग्य० ४। १५। ५)

अब चाहे वे (ऋत्विज्) उनके लिये शवकर्म (अन्त्येष्टि-संस्कार) करते हैं, चाहे न, सर्वथा वे (उपासक) किरण अर्चिको प्राप्त होते हैं। अर्चिसे दिनको, दिनसे शुक्लपक्षको, शुक्लपक्षसे उन छः महीनोंको जिनमें सूर्य उत्तरको जाता है। महीनोंसे बरसको, बरससे सूर्यको, सूर्यसे चन्द्रमाको, चन्द्रमासे बिजलीको। वहाँ एक अमानव (जो मानुषी सृष्टिका नहीं) पुरुष (अर्थात् पुरुषविशेष = ईश्वर = अपरब्रह्म) है।

वह इनको परब्रह्मको पहुँचाता है। यह देवपथ (देवताओंका मार्ग है), ब्रह्मपथ है (वह मार्ग जो पर-ब्रह्मको पहुँचाता है)। वे जो इस मार्गसे जाते हैं, इस मानवचक्र (मानुषी जीवन) को वापिस नहीं आते हैं। हाँ, वापिस नहीं आते हैं।

उपर्युक्त सारे प्रकाशमय मार्गोंके वर्णनसे सकामकर्मियोंकी अपेक्षा निष्कामकर्मियोंकी केवल ऊर्ध्व तथा शुक्ल गतिका ही निर्देश समझना चाहिये। वास्तवमें तो—

स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति। एतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् ॥ (छान्दोग्य० ८। ६। ५)

वह जितनी देरमें मन फेंका जाता है, उतनी देरमें आदित्यलोकमें पहुँच जाता है; क्योंकि यह आदित्यलोक पर-ब्रह्मका द्वार है। ज्ञानियोंके लिये यह खुला हुआ है और अज्ञानियोंके लिये बंद है।

इसी ऊर्ध्व गतिको योगदर्शनके सूत्रमें 'उत्क्रान्तिः' शब्दसे बतलाया गया है। यथा—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति ॥ (छान्दोग्य० ८। ६। ६; कठ० ६। १६)

एक सौ एक हृदयकी नाड़ियाँ हैं। उनमेंसे एक मूर्धाकी ओर निकलती है। उस नाड़ीसे ऊपर चढ़ता हुआ (ज्ञानी) अमृतत्व (ब्रह्मलोक) को प्राप्त होता है। दूसरी (नाड़ियाँ) निकलनेमें भिन्न-भिन्न गति (देने) वाली होती हैं। हाँ, निकलनेमें भिन्न-भिन्न गति देनेवाली होती हैं।

मुक्तिके दो भेद

वेदान्तमें मुख्यतया मुक्तिके दो भेद माने हैं—

१ क्रममुक्ति—जिसमें निष्कामकर्मयोगी जो शबल-ब्रह्मको तो साक्षात् कर चुके, किंतु शुद्ध ब्रह्मको साक्षात् करनेसे पूर्व ही इस लोकसे चल देते हैं। वे उपर्युक्त देवयानद्वारा आदित्यलोकमें पहुँचकर वहाँ शुद्ध ब्रह्मको साक्षात् करके मुक्त होते हैं। (तथा असम्प्रज्ञात समाधिकी भूमिको प्राप्त किये हुए वे योगी जो निरोधके संस्कारोंद्वारा बहुत अंशमें व्युत्थानके संस्कारोंको नष्ट कर चुके हैं, कुछ शेष रह गये हैं, जिस अवस्थामें उन्होंने स्थूल शरीरको त्यागा है वे आदित्यलोकको अर्थात् विशुद्ध सत्त्वमयचित्तको प्राप्त होते हैं। वहाँ ईश्वरके अनुग्रहसे उनके व्युत्थानके शेष संस्कार निवृत्त हो जानेपर कैवल्य अर्थात् परब्रह्मको प्राप्त होते हैं।) यथा—

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्। (वेदान्तदर्शन ४। ३। १०)

आदित्यलोकमें पहुँचकर वह कार्य (शबल ब्रह्म) को उलाँघकर उस कार्यसे परे जो उसका अध्यक्ष परब्रह्म है, उसके साथ ऐश्वर्यको भोगता है। (आदित्यलोक यहाँ आकाशमें दिखलायी देनेवाले भौतिक सूर्यका बोधक नहीं है, जो हमारी पृथिवीके सदृश एक भौतिक स्थूललोक है। इससे अभिप्राय विशुद्ध सत्त्वमयचित्त है, जिसका वर्णन हमने कई स्थानोंमें ईश्वरके चित्तके रूपमें किया है। जो सारे सूक्ष्मलोकोंसे सूक्ष्मतम, कारण लोक अर्थात् कारण जगत् है।)

२ सद्योमुक्ति—वे निष्काम-कर्मयोगी जो शुद्ध ब्रह्मको पूर्णतया साक्षात् कर चुके हैं (तथा असम्प्रज्ञात समाधिकी भूमिको प्राप्त किये हुए वे योगी जो व्युत्थानके सारे संस्कारोंको निवृत्त कर चुके हैं), उनको आदित्यलोकमें जानेकी अपेक्षा नहीं है। वे देहको छोड़ते ही मुक्त हो जाते हैं। यथा—

योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति। (बृह० उप० ४।४।६)

'जो कामनाओंसे रहित है, जो कामनाओंसे बाहर निकल गया है, जिसकी कामनाएँ पूरी हो गयी हैं या जिसको केवल आत्माकी कामना है उसके प्राण नहीं निकलते हैं; वह ब्रह्म ही हुआ ब्रह्मको पहुँचता है।'

ब्रह्मके शबल स्वरूपकी उपासना और उसका साक्षात्कार कारणशरीर (चित्त) से होता है, शुद्ध चेतनतत्त्वमें कारण शरीर तथा कारण जगत् परे रह जाते हैं। यथा—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन। (तै० उप०)

'जहाँसे वाणियाँ (इन्द्रियाँ) मनके साथ बिना पहुँचे लौटती हैं। ब्रह्मके उस आनन्दको अनुभव करता हुआ (शुद्ध परमात्मस्वरूपमें एकीभावको प्राप्त करता हुआ) सर्वतो अभय हो जाता है।'

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ—समान-जयात् = (संयमद्वारा) समानके जीतनेसे; ज्वलनम् = योगीका दीप्तिमान् होना होता है।

अन्वयार्थ—(संयमद्वारा) समानके जीतनेसे योगीका दीप्तिमान् होना होता है।

व्याख्या—जब संयमद्वारा योगी समानवायुको वशमें कर लेता है, तब समान प्राणके अधीन जो शारीरिक अग्नि है, उसके उत्तेजित होनेसे उसका शरीर अग्निके समान चमकता हुआ दिखायी देता है।

संगति—छत्तीसवें सूत्रमें स्वार्थसंयमके अवान्तर फलरूप श्रावणसिद्धिको बतलाया है, अब श्रावणसिद्धिवाले संयमको बतलाते हैं—

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ—श्रोत्र-आकाशयोः = श्रोत्र और आकाशके; सम्बन्ध-संयमात् = सम्बन्धमें संयम करनेसे; दिव्यं श्रोत्रम् = दिव्य श्रोत्र होता है।

अन्वयार्थ—श्रोत्र और आकाशके सम्बन्धमें संयम करनेसे दिव्य श्रोत्र होता है।

व्याख्या—शब्दकी ग्राहक श्रोत्रेन्द्रिय अहंकारसे उत्पन्न हुई है और अहंकारसे उत्पन्न हुए शब्द-तन्मात्राका कार्य आकाश है। इन दोनोंका सम्बन्ध देश-देशी आश्रयाश्रयिभावसे है। इस सम्बन्धमें संयम करनेसे योगीको दिव्य श्रोत्र प्राप्त होता है, जिससे वह दिव्य, सूक्ष्म, व्यवहित (आवृत्त) और विप्रकृष्ट अर्थात् दूरस्थ शब्दोंको सुन सकता है। इसी प्रकार (त्वचा-वायु, चक्षु-तेज, रसना-जल, घ्राण-पृथ्वी) के सम्बन्धमें संयम करनेसे दिव्य त्वचा, दिव्य नेत्र, दिव्य रसना और दिव्य घ्राण प्राप्त होता है। ये सब सिद्धियाँ सूत्र छत्तीसमें पुरुष-ज्ञानसे पूर्व भी बतलायी गयी हैं।

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ—काय-आकाशयोः = शरीर और आकाशके; सम्बन्ध-संयमात् = सम्बन्धमें संयम करनेसे; लघु-तूलसमापत्तेः च = और हल्के-रूई आदिमें समापत्ति करनेसे; आकाशगमनम् = आकाश-गमन (सिद्धि प्राप्त होती है)।

अन्वयार्थ—शरीर और आकाशके सम्बन्धमें संयम करनेसे और हल्के रूई आदिमें समापत्ति करनेसे आकाश-गमन-सिद्धि प्राप्त होती है।

व्याख्या—जहाँ शरीर है वहीं उसको अवकाश देनेवाला आकाश है, इस प्रकार इन दोनोंमें आधेय-आधार व्याप्य-व्यापक भावका सम्बन्ध है। इस सम्बन्धमें संयम करनेसे अथवा रूई-सदृश हल्की वस्तुओंमें समापत्ति (१-४१) करनेसे (तदाकार होनेसे) योगीका शरीर लघुताको प्राप्त करता है। इसलिये जलपर पाँव रखता हुआ चल सकता है। इसके पश्चात् मकड़ीके जाले-सदृश सूक्ष्म तारोंपर चलनेकी सामर्थ्य आ जाती है। अन्तमें शरीरके अति सूक्ष्म हो जानेसे आकाशगमनकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ—बहिः-अकल्पिता = शरीरसे बाहर कल्पना न की हुई; वृत्तिः = वृत्ति; महाविदेहा = महाविदेहा कहलाती है; ततः = उससे; प्रकाश-आवरण-क्षयः = प्रकाशके आवरणका नाश होता है।

अन्वयार्थ—शरीरसे बाहर कल्पना न की हुई वृत्ति महाविदेहा है, उससे प्रकाशके आवरणका नाश होता है।

व्याख्या—मनको शरीरसे बाहर धारण करना "विदेहा-वृत्ति" तथा मनकी 'विदेहा धारणा" कहलाती है। जबतक मन शरीरके अंदर ही स्थित रहे पर उसको वृत्तिमात्रसे बाहर ही धारण किया जाय तबतक वह "कल्पिता" कहलाती है। अभ्यासके परिपक्व हो जानेपर बिना कल्पनाके मन शरीरसे बाहर यथार्थ रूपसे स्थित हो जाता है; तब विदेहा-वृत्ति अकल्पिता कहलाती है। इसीको महाविदेहा कहते हैं। यह योगीको पर-शरीर-आवेश तथा लोक-लोकान्तरोंमें सूक्ष्म-शरीरसे भ्रमण करनेमें सहायक होती है। इन दोनोंमें कल्पित-विदेहा-धारणा साधन है और अकल्पित-विदेहा-धारणा साध्य है; क्योंकि पहले कल्पित विदेहाका अभ्यास किया जाता है, उसके पश्चात् अकल्पित-विदेहाको साधा जाता है। इसके अभ्याससे चित्तके प्रकाशको रोकनेवाले अविद्यादि क्लेश, कर्मविपाक आदि मल जो रजस्‌के मूलक हैं, नाश हो जाते हैं और चित्तमें निरावरण होनेके कारण यथेच्छ विचरनेकी सामर्थ्य हो जाती है।

सङ्गति—सोलहवें सूत्रसे लेकर तैंतालीसवें सूत्रतक समाधिमें श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिये भिन्न-भिन्न संयम और उसकी सिद्धियाँ वर्णन करके अब अपने दर्शनके उपयोगी सबीज और निर्बीज-समाधिकी सिद्धिमें विविध उपाय दिखाते हैं। अगले सूत्रमें प्राद्य पाँचों भूतोंका संयम बताया है—

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ—स्थूल = (पाँचों भूतोंके) स्थूल; स्वरूप—स्वरूप; सूक्ष्म = सूक्ष्म; अन्वय = अन्वय; अर्थवत्त्व = अर्थवत्त्वमें; संयमात् = संयम करनेसे; भूत-जयः = भूतोंका जय होता है।

अन्वयार्थ—पाँचों भूतोंके स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्वमें संयम करनेसे भूतोंका जय होता है।

व्याख्या—पृथ्वी आदि पाँच भूतोंके पाँच-पाँच रूप हैं—

१ स्थूल—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाशका अपना-अपना विशिष्ट आकार स्थूल रूप है।

२ स्वरूप— उपर्युक्त पाँच भूतोंका अपना-अपना नियत धर्म, जिनसे ये जाने जाते हैं—जैसे पृथ्वीकी मूर्ति और गन्ध, जलका स्नेह, अग्निकी उष्णता, वायुकी गति या कम्पन और आकाशका अवकाश देना स्वरूप है।

३ सूक्ष्म—स्थूल भूतोंके कारण गन्ध-तन्मात्रा, रस-तन्मात्रा, रूप-तन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा और शब्द-तन्मात्रा सूक्ष्म रूप हैं।

४ अन्वय रूप—सत्त्व, रजस् तथा तमस् जो तीनों गुण अपने प्रकाश, क्रिया और स्थिति धर्मसे पाँचों भूतोंमें अन्वयीभावसे मिले रहते हैं, अन्वयी रूप हैं।

अर्थवत्त्व— पुरुषका भोग अपवर्ग। जिस प्रयोजनको लेकर ये पाँचों भूत कार्योंमें लगे हुए हैं वह अर्थवत्त्वरूप है। इस प्रकार पाँचों भूतोंके धर्म, लक्षण और अवस्था भेदोंसे पचीसों रूपोंमें क्रमसे साक्षात्-पर्यन्त संयम करनेसे पाँचों भूतोंका सम्यक्ज्ञान और उनपर पूरा वशीकार होता है। इस प्रकार भूतोंके स्वाधीन होनेपर जैसे गायें बछड़ोंके अनुकूल होती हैं, वैसे ही सब भूतोंकी प्रकृतियाँ योगीके संकल्पानुसार हो जाती हैं।

टिप्पणी—व्यासभाष्य व्याख्या सूत्र ४४—पाँचों भूतोंके जो अपने-अपने धर्मों शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध नामवाले विशेष और आकार आदिसहित जो एक-एक रूप हैं, वे स्थूल रूप हैं। जैसे पृथ्वीके गोलादि आकार (अवयवोंका संनिवेश विशेष), गुरुत्व (भारीपन), रूक्षता (रूखाई), आच्छादन (ढाँपना), स्थिरता, सर्वभूताधारता, भेद (विदारण), सहनशीलता (सहिष्णुता), कृशता, मूर्त्ति (कठोरता), सर्वयोग्यतारूप धर्मोंसहित शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध हैं, यह पृथ्वीका एक रूप है; और जलके जो स्नेह (चिकनापन), सूक्ष्मता, प्रभा (कान्ति), शुक्लता, मृदुता, गुरुत्व (भारीपन), शीतल स्पर्श, रूक्षता, पवित्रता, सम्मेलनसहित शब्द, स्पर्श, रूप, रस हैं—यह जलका एक रूप है; अग्निके जो उष्णता, ऊर्ध्वगति, पवित्रता दाह-शीलता, लघुता, भास्वरता, प्रध्वंसन, बलशीलता रूप धर्मोंसहित शब्द स्पर्शरूप हैं—यह अग्निका एक रूप है; वायुके जो वहनशीलता (तिर्यग्गति), पवित्रता, आक्षेप (गिरा देना), कम्पन, बल, चञ्चलता, अनाच्छादन (आच्छादनका अभाव), रूक्षतारूप धर्मोंसहित शब्द-स्पर्श हैं—यह वायुका एक रूप है; और आकाशके जो व्यापकता, विभाग करना, अवकाश देना आदि रूप धर्मोंसहित जो शब्द है—वह आकाशका एक रूप है। इस प्रकार पाँचों भूतोंके अपने-अपने धर्मोंसहित जो शब्दादि हैं, वे सूत्रमें 'स्थूल' पदसे कहे हुए पाँच भूतोंके एक रूप हैं।

पाँचों भूतोंका जो स्व-स्व सामान्य धर्म है, वह सूत्रमें 'स्वरूप' पदसे कहे हुए भूतोंका द्वितीय रूप है। अर्थात् मूर्ति (कठिनता), स्निग्धता (चिकनापन), उष्णता, वहनशीलता और सर्वत्र विद्यमानता, क्रमसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाशके जो द्वितीय रूप हैं, वे स्वरूप हैं। ये मूर्ति (कठिनता) आदि धर्म ही स्व-स्व सामान्य पदके वाच्य हैं। इन कठिनतादि सामान्य धर्मवाले पृथ्वी आदिकोंके परस्पर भेद करनेवाले शब्दादि हैं। इसलिये शब्दादिको विशेष कहा जाता है। जैसे स्निग्ध, उष्णादि रूप जल, अग्नि आदिकोंसे कठिन पृथ्वीका भेदक (भिन्नताका ज्ञापक) मूर्ति (कठिनता) धर्म है; और कठिन, उष्णादिरूप पृथ्वी, अग्नि आदिकोंसे जलका भेदक स्नेह है; और कठिन, स्निग्ध आदि रूप पृथ्वी, जल आदिकोंसे अग्निकी भिन्नताका ज्ञापक उष्णता धर्म है। इस प्रकार भूतोंके परस्पर भेदक

होनेसे मूर्ति (कठिनता) आदि-आदि धर्म विशेष कहलाते हैं । ऐसे ही पञ्चशिखाचार्यजीने कहा है—

"एकजातिसमन्वितानामेषां धर्ममात्रव्यावृत्तिः"

अर्थात् एक जातिवाले पृथ्वी आदिकोंकी अम्ल, मधुरादि धर्ममात्रसे व्यावृत्ति होती है। यद्यपि कठिनतादि धर्म भी पृथ्वी आदिकोंके परस्पर भेदक हैं तथापि नीबूरूप पृथ्वीसे अंगूररूप पृथ्वीका जो भेद है, उसका करनेवाला केवल खट्टा-मीठा रस ही कहा जायगा। इससे रस आदिको विशेष जानना अर्थात् पृथ्वीका जल आदिकोंसे जो भेद है वह तो कठिनतादिरूप असाधारण धर्मोंसे परिज्ञात हो सकता है, परंतु पृथ्वीसे अन्य पृथ्वीका भेदक रस आदि हैं । इस अभिप्रायसे "एकजातिसमन्वितानाम्" इन दोनों सामान्य और विशेषका जो समुदाय है, वही योगमतमें द्रव्य कहा जाता है। प्रसङ्गसे समुदायका निरूपण करते हैं।

समुदाय दो प्रकारका होता है— एक 'प्रत्यस्तमितभेदावयवानुगत', दूसरा 'शब्देनोपात्तभेदावयवानुगत' अर्थात् अवान्तर विभागके बोधक शब्दसे जिन अवयवोंका विभाग बोधन न किया गया हो उन अवयवोंमें अनुगत जो द्रव्य है, वह 'प्रत्यस्तमितभेदावयवानुगत' कहलाता है; जैसे शरीर, वृक्ष, यूथ, वन ये समुदाय हैं। इनके अवान्तर विभागके बोधक शब्दका उच्चारण नहीं किया गया है अर्थात् हस्तादि अवयवोंका समुदाय शरीर पदका वाच्य है, शाखादि अवयवोंका समुदाय वृक्ष पदका वाच्य है, वृक्षादिका समुदाय वन पदका वाच्य है, किंतु इन सब समुदायोंमें अवान्तर विभागका बोधक कोई शब्द नहीं उच्चारण किया गया है, केवल समुदायमात्र उचारण किया गया है; इसलिये यह 'प्रत्यस्तमितभेदावयवानुगत' समुदाय कहा जाता है।

जहाँ अवान्तर विभागके बोधक शब्दका उच्चारण किया जाता है, वह 'शब्देनोपात्तभेदावयवानुगत' समुदाय कहा जाता है। 'उभये देवमनुष्याः' (देवता और मनुष्य दोनों हैं) यह समुदाय है। इस आकाङ्क्षापर कि वे दो अवयव कौन हैं जिनके लिये शब्दका अर्थ है—कहते हैं देव और मनुष्य अर्थात् इस समूहका एक भाग देव है और दूसरा अवयव मनुष्य है। ये दोनों 'देवमनुष्याः' इस शब्दसे उच्चारण किये गये हैं; इसलिये यह समुदाय 'शब्देनोपात्तभेदावयवानुगत' कहा जाता है। यह शब्द 'शब्देनोपात्त-भेदावयवानुगत' समुदाय भेद-विवक्षा और अभेद-विवक्षासे दो प्रकारका है। जैसे 'आम्राणां वनम्' आमोंका वन है और 'ब्राह्मणानां संघः' ब्राह्मणोंका समूह है। यह भेद-विवक्षासे दो प्रकारका समूह है और अभेद-विवक्षासे 'आम्रवनम्' आम ही वह वन है और 'ब्राह्मणसंघः' ब्राह्मण ही संघ है। ये दो समूह हैं। इस प्रकार समूह-समूहकी अभेद-विवक्षासे यहाँ समानाधिकरण है। पुनः यह समुदाय दो प्रकारका है—एक 'युतसिद्धावयव', दूसरा 'अयुतसिद्धावयव'। 'युतसिद्धावयव' समुदाय वह है, जिसके अवयव विरले अर्थात् जुदा-जुदा हों; जैसे वृक्ष और संघरूप समुदायमें वनके अवयव वृक्ष जुदे-जुदे और विरले प्रतीत होते हैं तथा यूथके समुदाय गाय, बैल आदि भी पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं।

'अयुतसिद्धावयव समुदाय' वह है, जिसके अवयव पृथक् प्रतीतिसे रहित निरन्तर मिले हुए हों; जैसे शरीर, वृक्ष, परमाणु आदि। यहाँ त्वक्, रुधिर, मांस, मज्जादिकोंका समुदाय जो शरीर है, उसके ये अवयव मिले हुए होते हैं और मूल शाखादिकोंका समुदाय जो वृक्ष है, उसके भी ये अवयव मिले हुए होते हैं।

यह 'अयुतसिद्धावयव समुदाय' ही पतञ्जलि मुनिके मतमें द्रव्य कहलाता है। यही भूतोंका द्वितीय रूप है और यही स्वरूप पदका अर्थ है। अर्थात् मूर्ति (कठिन) रूप सामान्यका और कठोरता आदि धर्मोंसहित शब्दादिरूप विशेषोंका 'अयुतसिद्धावयव समुदाय' रूप पृथ्वी द्रव्य है। स्निग्ध (चिकना) रूप सामान्यका और स्नेहादि धर्मोंसहित शब्दादि विशेषोंका 'अयुतसिद्धावयव समुदाय' रूप जल द्रव्य

है। इसी प्रकार सामान्य-विशेषोंका 'अयुतसिद्धावयव समुदाय' रूप अग्नि आदि द्रव्य भी जान लेना चाहिये। यही सामान्य-विशेषोंका समुदायरूप द्रव्य सूत्रमें 'स्वरूप' शब्दसे बतलाये हुए पाँचों भूतोंका दूसरा रूप है।

इन पृथ्वी आदि पाँचों भूतोंके कारण पञ्चतन्मात्राएँ हैं और तन्मात्राओंके परिणाम परमाणु हैं अर्थात् तन्मात्राएँ परमाणुओंका 'अयुत सिद्ध अवयवानुगत समुदाय' हैं। इसलिये परमाणु और पञ्चतन्मात्राएँ सूत्रमें सूक्ष्म पदसे बतलाये हुए पाँचों भूतोंके तृतीय रूप हैं अर्थात् पाँचों भूतोंके जैसे परमाणु सूक्ष्म रूप हैं, वैसे ही पञ्चतन्मात्राएँ परमाणुओंके सूक्ष्म रूप हैं।

भूतादि सर्व कार्योंमें अनुगत जो प्रकाश-क्रिया-स्थितिशील तीन गुण हैं, वे सूत्रमें अन्वय शब्दसे बतलाये हुए पाँचों भूतोंका चतुर्थ रूप हैं।

पुरुषके भोग और अपवर्गके सम्पादन करनेका जो गुणोंमें सामर्थ्यविशेष है, वह सूत्रमें अर्थवत्त्व शब्दसे कथन किया हुआ भूतोंका पाँचवाँ रूप है।

यहाँ इतना और जान लेना चाहिये कि गुणोंमें तो भोगापवर्ग-सम्पादनकी सामर्थ्य साक्षात् अनुगत है और तन्मात्राभूत आदिकोंमें परम्परासे (गुणोंद्वारा) अनुगत है तथा साक्षात् और परम्परासे सभी पदार्थ अर्थवत्त्वावाले हैं। इस प्रकार पाँच भूतोंके पाँच रूपोंमें जिस-जिस रूपमें योगी संयम करता है, उस-उस रूपका योगीको साक्षात्कार जय और होता है। स्थूल स्वरूप सूक्ष्मादि रूपोंके क्रमसे पाँचों भूतोंके पाँचों रूपोंमें संयम करनेसे योगीको पाँचों भूतोंका प्रत्यक्ष और वशीकार हो जाता है। ऐसे योगीको भूतजयी कहते हैं। सब भूतोंकी प्रकृतियाँ उसके संकल्पानुसार हो जाती हैं अर्थात् भूतोंका स्वभाव उसके संकल्पानुसार हो जाता है।

उपर्युक्त कथित भूतजयकी कई सिद्धियाँ पूज्यपाद परमहंस श्रीविशुद्धानन्दजी महाराज प्रसिद्ध गन्धबाबा (जिनकी सिद्धियोंसे पाश्चात्त्य विद्वान् भी विस्मित होते थे) में देखी गयी थीं, जिनके जीवनके अन्त समयमें लेखकको लगभग छः मास सेवामें रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

सङ्गति—भूतजयका फल बतलाते हैं—

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ—ततः = उससे (भूतजयसे); अणिमादि-प्रादुर्भावः = अणिमादि आठ सिद्धियोंका प्रादुर्भाव; काय-सम्पत् = काया सम्पत; तत्-धर्म-अनभिघातः-च = और पाँचों भूतोंके धर्मोंसे चोटका न लगना—रुकावट न होना होता है।

अन्वयार्थ—उस भूतजयसे अणिमा आदि आठ सिद्धियोंका प्रादुर्भाव और कायसम्पत् होती है और उन पाँचों भूतोंके धर्मोंसे रुकावट नहीं होती।

व्याख्या—चौवालीसवें सूत्रमें बताये हुए भूतजयसे निम्न प्रकारकी आठ सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

१ *अणिमा*—शरीरका सूक्ष्म कर लेना।

२ *लघिमा*—शरीरका हलका कर लेना।

३ *महिमा*—शरीरका बड़ा कर लेना।

४ *प्राप्ति*—जिस पदार्थको चाहें प्राप्त कर लेना। ये सिद्धियाँ भूतोंमें संयम करनेसे प्राप्त होती हैं।

५ *प्राकाम्य*—बिना रुकावटके इच्छा पूर्ण होना। यह पाँचों भूतोंके स्वरूपमें संयम करनेसे सिद्ध होती है।

६ *वशित्व*—पाँचों भूतों तथा भौतिक पदार्थोंका वशमें कर लेना (भूतोंके सूक्ष्मरूपमें संयम करनेसे)।

७ *ईशितृत्व*—भूत-भौतिक पदार्थोंके उत्पत्ति-विनाशका सामर्थ्य । (यह सिद्धि अन्वयमें संयम करनेसे प्राप्त होती है ।)

८ *यत्रकामावसायित्व*—प्रत्येक संकल्पका पूरा हो जाना अर्थात् जैसा योगी संकल्प करे उसके अनुसार भूतोंके स्वभावका अवस्थापन हो जाना है । वह योगी यदि संकल्प करे तो अमृतकी जगह विष खिलाकर भी पुरुषको जीवित कर सकता है । (यह सिद्धि अर्थवत्त्वमें संयम करनेसे प्राप्त होती है ।)

ये सब संकल्प होते हुए भी योगीके संकल्प ईश्वरीय नियमके विपरीत नहीं होते । अपने परमगुरु नित्यसिद्ध योगिराज ईश्वरके संकल्पानुसार ही योगियोंका संकल्प होता है ।

भगवत्-भाष्यकार कामावसायी योगीके सम्बन्धमें लिखते हैं कि यद्यपि यह योगी सर्वसामर्थ्यवाला है तथापि वह पदार्थोंकी शक्तियोंको ही विपरीत करता है न कि पदार्थोंको । अर्थात् चन्द्रमाको सूर्य और सूर्यको चन्द्रमा तथा विषको अमृत नहीं करता है, किंतु विषमें जो प्राण-वियोग करनेकी शक्ति है, उसको निवृत्त कर उसमें जीवन-शक्तिका सम्पादन कर देता है; क्योंकि पदार्थोंका विपरीत होना नित्यसिद्ध ईश्वरके संकल्पके विरुद्ध है । इसलिये ऐसा नहीं होता है और शक्तियाँ पदार्थोंकी अनियत हैं । इसलिये उनके विपरीत करनेमें कोई दोष नहीं अर्थात् पूर्वसिद्ध अन्यकामावसायी सत्यसंकल्प ईश्वरका यह संकल्प है कि सूर्य सूर्य ही रहे और चन्द्रमा चन्द्रमा ही रहे। इसलिये उसकी आज्ञाके विरुद्ध योगी संकल्प नहीं कर सकता ।

यहाँ यह भी जान लेना चाहिये कि कामावसायी योगी शुद्धचित्त और न्यायकारी होते हैं । उनका संकल्प, ईश्वर-संकल्प और उसकी आज्ञाके विपरीत नहीं होता है । इसलिये जब कभी वे अपने इस ऐश्वर्यको काममें लाते हैं तो वह ईश्वरके संकल्प और उसके आज्ञानुसार न्याय और व्यवस्थाके धारणार्थ ही होता है ।

(२) *कायसम्पत्*—शरीरकी सम्पदा । इसका वर्णन अगले सूत्रमें दिया है ।

(३) *तद्धर्मानभिघातः*—इन पाँचों भूतोंके कार्य योगीके विरुद्ध रुकावट नहीं डालते अर्थात् मूर्तिमान् कठिन पृथ्वी योगीकी शरीरादि क्रियाको नहीं रोकती । शिलामें भी योगी प्रवेश कर जाता है । जलका स्नेहधर्म योगीको गीला नहीं कर सकता । अग्निकी उष्णता उसको नहीं जला सकती । वहनशील वायु उसको नहीं उड़ा सकता । अनावरणरूप आकाशमें भी योगी अपने शरीरको ढक लेता है और सिद्ध पुरुषोंसे भी अदृश्य हो जाता है ।

सङ्गति—अगले सूत्रमें कायसम्पत्को बतलाते हैं—

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ—रूप = रूप; लावण्य = लावण्य; बल = बल; वज्रसंहननत्वानि = वज्रकी-सी बनावट; कायसम्पत् = शरीरकी सम्पदा कहलाती है ।

अन्वयार्थ—रूप, लावण्य, बल, वज्रकी-सी बनावट। कायसम्पत् (शरीरकी सम्पदा) कहलाती है।

व्याख्या—१ *रूप*—मुखकी आकृतिका अच्छा और दर्शनीय हो जाना ।

२ *लावण्य*—सारे अङ्गोंमें कान्तिका हो जाना ।

३ *बल*—बलका अधिक हो जाना ।

४ *वज्रसंहननत्वानि*—शरीरके प्रत्येक अङ्गका वज्रके सदृश दृढ़ और पुष्ट हो जाना। यह कायसम्पत् कहलाती है।

सङ्गति—ग्राह्य भूतोंमें संयम करनेकी विधि दिखलाकर अगले सूत्रोंमें ग्रहण इन्द्रियोंमें संयम दिखलाते हैं—

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ—ग्रहण = ग्रहण; स्वरूप = स्वरूप; अस्मिता = अस्मिता; अन्वय = अन्वय; अर्थवत्त्व = अर्थवत्त्वमें; संयमात् = संयम करनेसे; इन्द्रिय-जयः = इन्द्रियजय होता है।

अन्वयार्थ—ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्वमें संयम करनेसे इन्द्रियजय होता है।

व्याख्या—इन्द्रियोंके निम्न पाँच रूप हैं। इन पाँचों रूपोंमें क्रमसे साक्षात्पर्यन्त संयम करनेसे इन्द्रिय-जय-सामर्थ्य प्राप्त होती है।

१ *ग्रहण*—इन्द्रियोंकी विषयाभिमुखी वृत्ति ग्रहण कहलाती है।

२ *स्वरूप*—सामान्य रूपसे इन्द्रियोंका प्रकाशकत्व, जैसे नेत्रोंका नेत्रत्व आदि स्वरूप कहलाता है।

३ *अस्मिता*—इन्द्रियोंका कारण अहंकार, जिसका इन्द्रियाँ विशेष परिणाम हैं।

४ *अन्वय*—सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों गुण, जो अपने प्रकाश, क्रिया, स्थिति धर्मसे इन्द्रियोंमें अन्वयीभावसे अनुगत हैं।

५ *अर्थवत्त्व*—इनका प्रयोजन पुरुषको भोग-अपवर्ग दिलाना।

टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद ॥ सूत्र ४७ ॥

सूत्रकी उपर्युक्त सरल और संक्षिप्त व्याख्या कर दी गयी है। यहाँ व्यासभाष्यका स्पष्टीकरणके साथ अनुवाद किया जाता है।

पाँच ज्ञानेन्द्रियोंमें एक-एक इन्द्रियके पाँच-पाँच रूप हैं—

(१) इनमें सामान्य-विशेष रूप जो शब्दादि ग्राह्य विषय और श्रोत्रादि इन्द्रियोंकी जो विषयाकार परिणामरूप वृत्ति हैं, वह ग्रहण पदका अर्थ है। यह इन्द्रियोंकी वृत्ति केवल सामान्यमात्रविषयक नहीं होती है, किंतु सामान्य-विशेष दोनों विषयवाली होती है। यदि विशेषविषयक इन्द्रियोंकी वृत्ति न मानी जाय तो इन्द्रियोंसे अनुगृहीत होनेके कारण वह विशेष मनसे निश्चित न किया जा सकेगा; क्योंकि बाह्य इन्द्रियोंके अधीन होकर ही मन बाह्य विषयोंमें अनुव्यवसायवाला होता है, स्वतन्त्र नहीं होता है; इसलिये सामान्य-विशेषरूप विषयाकार ही इन्द्रियोंकी वृत्ति होती है। यह सूत्रमें ग्रहणपदसे कथन किया हुआ इन्द्रियोंका प्रथम रूप है।

(२) प्रकाशात्मक महत्तत्त्वका परिणाम जो अयुतसिद्ध अवयव सात्त्विक अहंकार है, उसमें कार्यरूपसे अनुगत जो सामान्य-विशेष रूप द्रव्य है, वह इन्द्रियोंका स्वरूप है अर्थात् सात्त्विक अहंकारका कार्य जो प्रकाशस्वरूप द्रव्य 'इन्द्रिय' है, वह इन्द्रियोंका 'स्वरूप नामक' दूसरा रूप है।

(३) इन्द्रियोंका कारण जो अहंकार है, वह इन्द्रियोंका अस्मिता नामक तीसरा रूप है। इस सामान्य रूप अहंकारके इन्द्रियाँ विशेष परिणाम हैं।

(४) व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) महत्तत्त्वके आकारसे परिणामको प्राप्त हुए जो प्रकाश-प्रवृत्ति-स्थितिशील गुण हैं, वह अन्वय नामक इन्द्रियोंका चौथा रूप है अर्थात् अहंकारके साथ इन्द्रियोंको

महत्तत्त्वका परिणाम होनेसे और महत्तत्त्वको गुणोंका परिणाम होनेसे तीनों गुण इन्द्रियोंमें अनुगत हैं; इसलिये गुणोंको अन्वयरूप कहा जाता है।

(५) गुणोंमें अनुगत जो पुरुषके भोग-अपवर्ग-सम्पादनकी सामर्थ्य है, वह अर्थवत्त्व नामक इन्द्रियोंका पाँचवाँ रूप है।

इन पाँचों इन्द्रियोंके रूपमें क्रमसे संयम करनेसे उस-उस रूपके जयद्वारा पाँचों रूपोंका जय होनेसे योगीको इन्द्रियजय प्राप्त होता है।

सङ्गति—इन्द्रिय-जयका फल बताते हैं—

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ—ततः = उससे (इन्द्रियजयसे); मनोजवित्वं = मनोजवित्व; विकरणभावः = विकरण-भाव; प्रधान-जयः च = और प्रधानका जय होता है।

अन्वयार्थ—इन्द्रियजयसे मनोजवित्व, विकरणभाव और प्रधानका जय होता है।

व्याख्या—उपर्युक्त इन्द्रियजयसे निम्न फल प्राप्त होते हैं—

१ *मनोजवित्व*—मनके समान शरीरका वेगवाला होना (ग्रहणके संयमसे)।

२ *विकरणभाव*—शरीरकी अपेक्षाके बिना इन्द्रियोंका वृत्तिलाभ अर्थात् बिना शरीरकी परवाके इन्द्रियोंमें काम करनेकी शक्ति आ जाना। दूरके और बाहरके अर्थोंका ज्ञान लेना (स्वरूपमें संयम करनेसे)।

३ *प्रधानजय*—प्रकृतिके सब विकारोंका वशीकार (अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्वमें संयमसे)। सिद्धियाँ जितेन्द्रिय पुरुषसे ही प्राप्त की जा सकती हैं। योगशास्त्रमें ये तीनों सिद्धियाँ मधुप्रतीका कहलाती हैं; क्योंकि इन सिद्धियोंके प्राप्त होनेपर योगीको प्रत्येक सिद्धिमें मधु-समान स्वाद प्रतीत होता है अथवा योगसे उत्पन्न ऋतम्भरा प्रज्ञाका नाम 'मधु' है; उस मधुका प्रतीक अर्थात् कारण जिससे प्रत्यक्ष किया जाय, वह मधुप्रतीक है।

सङ्गति—ग्राह्य और ग्रहणके पश्चात् ग्रहीतृ (चित्त) में संयमका फल बतलाते हैं अर्थात् जिस विवेकख्यातिके लिये यह सब संयम निरूपण किये हैं, उसका अवान्तर फल बतलाते हैं—

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ—सत्त्व-पुरुष-अन्यता-ख्यातिमात्रस्य = चित्त और पुरुषके भेद जाननेवालेको; सर्व-भाव-अधिष्ठातृत्वम् = सारे भावोंका मालिक होना; च-सर्वज्ञातृत्वम् = और सर्वज्ञ (सबका जाननेवाला) होना प्राप्त होता है।

अन्वयार्थ—चित्त और पुरुषके भेद जाननेवालेको सारे भावोंका मालिक होना और सर्वज्ञ होना प्राप्त होता है।

व्याख्या—सर्वभाव-अधिष्ठातृत्वम्—गुणोंका कर्तृत्व-अभिमान शिथिल होनेपर उनके सब परिणामों और भावोंको पुरुषके प्रति स्वामीके समान बर्तना है।

सर्वज्ञातृत्व—वे गुण जो अतीत, अनागत और वर्तमानकालमें धर्मीभावसे अवस्थित रहते हैं, उनका यथार्थ विवेकपूर्ण ज्ञान सर्वज्ञातृत्व कहलाता है। सूत्र (१ । २) में बतला आये हैं कि गुणोंका सबसे प्रथम परिणाम महत्तत्त्व अर्थात् समष्टि चित्त है। इसीमें सृष्टिके सब नियम बीजरूपसे रहते हैं। पुरुषोंके व्यष्टि चित्त ग्रहीतृरूप हैं, जिनके द्वारा गुणोंके परिणामोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके स्वरूप अवस्थित होते हैं। पुरुष चित्तका स्वामी, ज्ञानस्वरूप है पर अविवेकके कारण चित्तमें आत्माका अध्यारोप हो जाता है। यही सर्वक्लेशोंकी मूल अविद्या है। सात्त्विक चित्तके प्रकाशमें संयम करनेसे पुरुष और

चित्तमें भेद करानेवाला विवेक-ज्ञान उत्पन्न होता है, जिसको विवेक-ख्याति कहते हैं। इस विवेक-ख्यातिके हो जानेपर पुरुष अपनेको चित्तसे पृथक् देखता हुआ गुणोंके परिणामोंका सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है और उनपर पूर्ण अधिकार रखते हुए उनका अधिष्ठाता होकर नियममें रखता है। श्रुति भी ऐसा ही बतलाती है "आत्मनो वा अरे दर्शनेनेदं सर्वविदितम्" अर्थात् पुरुष-दर्शन होनेपर सर्वज्ञातृत्व प्राप्त हो जाता है। इस सिद्धिका नाम विशोका है; क्योंकि इसकी प्राप्तिसे योगी क्लेशोंके बन्धनोंके क्षीण होनेसे सबका अधिष्ठाता और सर्वज्ञ होकर शोकसे रहित विचरता है।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि वास्तवमें 'सर्वभावाधिष्ठातृत्व' पाँचों क्लेशोंको दग्धबीज करके उनपर विजय प्राप्त कर लेना है, और 'सर्वज्ञातृत्व' यह साक्षात् कर लेना है कि सारा व्यवहार ग्रहण और ग्राह्यरूप तीनों गुणोंमें चल रहा है अर्थात् सारा ही दृश्य त्रिगुणात्मक है, आत्मा इनका द्रष्टा इनसे सर्वथा भिन्न, असङ्ग, निर्लेप, अजर, अमर, अपरिणामी, निष्क्रिय, ज्ञानस्वरूप कूटस्थ-नित्य है।

टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद सूत्र ॥ ४९ ॥

जब बुद्धि सत्त्वके रज और तम धुल जाते हैं, वह परवैशारद्य परवशीकार अवस्थामें अवस्थित होता है। सत्त्व और पुरुषकी अन्यताख्याति-मात्ररूपमें प्रतिष्ठित होता है, तब बुद्धि सत्त्वको सर्वभावों का अधिष्ठातृत्व हो जाता है। सर्वात्मक गुण व्यवसाय और व्यवसेयरूप गुण स्वामी क्षेत्रज्ञके प्रति अशेष दृश्यरूपसे उपस्थित हो जाते हैं।

सर्वज्ञातृत्व-सर्वात्मकगुण जो शान्त, उदित और अव्यपदेश्य धर्मसे अवस्थित हैं, उनके विषयमें अक्रमोपारूढ (क्रियारहित) विवेकज ज्ञान होता है, यह विशोका नामकी सिद्धि है, जिसको प्राप्त करके योगी सर्वज्ञ क्षीणक्लेशबन्धन और वशी विहार करता रहता है।

योगवार्तिकका भाषानुवाद सूत्र ॥ ४९ ॥

पूर्वोक्त प्रकारसे ग्राह्य और ग्रहण विषयके संयमोंकी सिद्धिको कहकर ग्रहीतृ संयमकी सिद्धिको कहते हैं।

सूत्रमें मात्रशब्दसे संयमरूप ख्याति उपलब्ध होती है तथा सत्त्व और पुरुषकी अन्यताके संयमवाले (धर्म-धर्मीके अभेदसे) चित्तका सर्वभावोंमें प्रकृति और प्रकृतिके कार्यों और पुरुषके विषयमें अधिष्ठातृत्व स्वदेहके समान स्वेच्छया विनियोक्तृत्व हो जाता है।

तथा प्रकृति और पुरुष आदिमें सर्वज्ञातृत्व हो जाता है। यहाँ भी साक्षात्कार तक ही समझना चाहिये; क्योंकि संयमकी सिद्धि ही अन्य सिद्धियोंका हेतु है।

शङ्का—"परार्थात् स्वार्थसंयमात्" इस सूत्रोक्त संयमसे इस संयमका क्या भेद है, जिससे वहाँ पुरुषज्ञानरूप सिद्धि होती है और यहाँ दूसरी सिद्धि होती है।

समाधान—वहाँ सुखादिके अनुभवरूप परिच्छिन्नमें पौरुषेय प्रत्यय ही संयम कहा है और अपरिच्छिन्न पुरुषमें संयम नहीं कहा। यहाँ तो उस संयमसे परिपूर्ण पुरुषका ज्ञान हो जानेपर बुद्धि-विवेक संयम कहा है, यह विशेषता है।

शङ्का—सत्त्व यह विशेष वचन अनुचित है, गुण पुरुषान्यता आदि कहना ही ठीक है।

समाधान—यह शङ्का ठीक नहीं, क्योंकि रजस् और तमस्से पुरुषमें साक्षात् अविवेक हो नहीं सकता, बुद्धिसत्त्वके अविवेकद्वारा ही देह और इन्द्रियादिमें अविवेकसे स्वप्न और बाधिर्य (बहरापन) आदि

अवस्थाओंमें चेतनमें देह और इन्द्रियादिके विवेकको योगके आरम्भकालमें ही साधारण पुरुष भी जानते हैं।

इस सूत्रकी व्याख्या करते हैं—निर्धूतेति-परवैशारद्य-परम स्वच्छताको कहते हैं अर्थात् अतिसूक्ष्म वस्तुके प्रतिबिम्बको ग्रहण करनेके सामर्थ्यका नाम है परम वशीकार संज्ञा। "परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकार" यह कहा है, 'रूपेण प्रतिष्ठस्य रूपप्रतिष्ठस्य' यह तृतीया तत्पुरुष समास है। रूपसे प्रतिष्ठित अन्तःकरण बुद्धि सत्त्वका सर्वभावाधिष्ठातृत्व होता है, इसका विवरण करते हैं सर्वात्मान इति = इसका भी विवरण है व्यवसाय-व्यवसेयात्मक इन्द्रिय और इन्द्रिय-विषयात्मक गुण, अशेष दृश्येति संकल्पमात्रसे पुरुषोंके साथ संयुक्त और असंयुक्त अशेष वस्तुओंके आकारसे परिणत होकर योगीको उपस्थित होते हैं। उसमें 'स्वामिनं क्षेत्रज्ञम्' यह दो हेतुगर्भित विशेषण हैं, क्योंकि वह स्वामी क्षेत्रज्ञ भोक्ता होनेसे प्रेरक है। अतः जैसे अयस्कान्त मणिके पास लोहा खिंच आता है, वैसे ही गुण दृश्यरूप बनकर स्वामी क्षेत्रज्ञको उपस्थित हो जाते हैं। अथवा क्योंकि वह स्वामी क्षेत्रज्ञ गुणोंके परिणाम क्षेत्रादिको प्रेरित करता है, प्रवृत्त करता है या परिणमन प्रकारको जानता है, अतः उसके प्रति वे उपस्थित हो जाते हैं।

यद्यपि सब पुरुष सब गुणोंके अशेषतया स्वामी हैं तथापि पापादिके प्रतिबन्धसे सब गुण सब समय सब पुरुषोंके आदि भोग्यरूपसे उपस्थित नहीं होते, यह भाव है।

ऐसी श्रुति भी इस विषयमें प्रमाण है "स यदि पितृलोककामः संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्तीत्यादि" जब यह पुरुष पितरलोकको कामनावाला होता है, तब संकल्पमात्रसे ही उसको पितर उपस्थित हो जाते हैं इत्यादि।

क्रियैश्वर्यरूप सिद्धिकी व्याख्या करके ज्ञानैश्वर्यरूप सिद्धिकी व्याख्या करते हैं। सर्वज्ञातृत्वमिति = सब आत्मा सब पुरुष बद्ध, मुक्त और ईश्वरोंका और शान्त, उदित तथा अव्यपदेश्यरूप धर्म-विशिष्ट गुणोंका ज्ञान सर्वज्ञातृत्व है। इसका नाम है विवेकज-ज्ञान—विवेकसे जायमान ज्ञान। यह संज्ञा सान्वय है। विशोक संज्ञाके अन्वर्थको कहते हैं 'याम्प्राप्येति'। क्लेशबन्धनके क्षीण होनेसे विशोका नामकी सिद्धि है। जिसका अर्थ है शोकशून्यता।

संगति—विवेकख्याति भी चित्तकी ही अवस्था है, इसलिये उसमें भी वैराग्य बताते हैं अर्थात् विवेकख्यातिका अवान्तर फल कहकर अब उसके मुख्य फल कैवल्यको बतलाते हैं—

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ—तत्-वैराग्यात्-अपि = उसके (विवेक-ख्यातिके) वैराग्यसे भी; दोषबीजक्षये = दोषोंके बीज-क्षय होनेपर; कैवल्यम् = कैवल्य होता है।

अन्वयार्थ—विवेक-ख्यातिसे भी वैराग्य होनेपर दोषोंके बीज-क्षय होनेपर कैवल्य होता है।

व्याख्या—यह विवेक-ख्याति जिससे योगी सर्वभाव-अधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व प्राप्त करता और जिससे अपने शुद्ध, अपरिणामी और ज्ञान-स्वरूपको त्रिगुणात्मक, परिणामी और जड चित्तसे अलग करके देखता है, चित्तहीका एक धर्म है, उसीका एक परिणाम है, अपना वास्तविक स्वरूप नहीं। इसलिये अपने वास्तविक शुद्ध स्वरूपमें अवस्थित होनेके लिये इस विवेक-ख्यातिसे भी विरक्त हो जाता है। इसीको परवैराग्य कहते हैं। जब परवैराग्य पूर्ण तथा परिपक्व हो जाता है, तब चित्तको बनानेवाले गुण पुरुषको भोग-अपवर्ग दिलानेके कार्यको पूर्ण करके अपने कारणमें लीन हो जाते हैं। उनके साथ ही

अविद्या आदि क्लेशोंके संस्कार भी विवेकख्यातिद्वारा दग्ध बीजके सदृश उत्पत्तिके अयोग्य होकर लीन हो जाते हैं, तब आत्माके सामने कोई दृश्य नहीं रहता। यह पुरुषका गुणोंसे अत्यन्त पृथक् होकर अपने केवलीस्वरूपमें अवस्थित होना कैवल्य है।

टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद सूत्र ॥ ५० ॥

क्लेश और कर्मोंके क्षय होनेपर जब इस योगीका ऐसा भाव होता है कि विवेक प्रत्यय बुद्धिरूप सत्त्वका धर्म है और बुद्धि अनात्म होनेसे हेय (त्याज्य) पक्षमें मानी गयी है और शुद्ध स्वरूप अपरिणामी पुरुष बुद्धिसे भिन्न है, तब इस प्रकारके विवेकसे विवेकख्यातिमें भी वैराग्य उदय हो जाता है। उस परवैराग्यवाले पुरुषके चित्तमें जो क्लेश-बीज विद्यमान हैं वे शालि (चावलों) के दग्ध बीजके सदृश अपने अङ्कुरोत्पादनमें असमर्थ हुए मनके सहित ही नष्ट हो जाते हैं। उन क्लेश आदिकोंके प्रलीन होनेपर पुरुष आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक— इन तीनों तापोंको नहीं भोगता है और कर्म, क्लेश विपाकरूपसे चित्तमें विद्यमान चरितार्थ हुए गुणोंका प्रतिप्रसव अर्थात् मनके सहित ही स्वकारणमें लय हो जाता है। यह पुरुषका आत्यन्तिक गुण-वियोग (गुणोंसे अत्यन्त पृथक् हो जाना) कैवल्य है। इस दशामें चितिशक्तिरूप पुरुष स्वरूपप्रतिष्ठित होता है। ५।

सङ्गति— योगके मार्गमें मनुष्य ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों उसके सामने बड़े-बड़े प्रलोभन, दिव्य विषय और विभूतियाँ उपस्थित होती हैं। उनसे सावधान रखनेके लिये अगला सूत्र है—

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ—स्थानि-उपनिमन्त्रणे = स्थानवालोंके आदर-भाव करनेपर; सङ्गस्मय-अकरणम् = लगाव और घमंड नहीं करना चाहिये; पुनः अनिष्ट-प्रसङ्गात् = फिर अनिष्टके प्रसङ्गसे (अनिष्टके लगनेके भयसे)।

अन्वयार्थ— स्थानवालोंके आदर-भाव करनेपर लगाव एवं घमंड नहीं करना चाहिये; क्योंकि (इसमें) फिर अनिष्टके प्रसङ्गका भय है।

व्याख्या—योगियोंको भूमियोंके अनुसार चार श्रेणियोंमें विभक्त कर सकते हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

१ प्रथम काल्पिक—आरम्भिक अभ्यासवाले जो सवितर्क समाधिका अभ्यास कर रहे हैं। (१-४२)

२ मधु-भूमिका—जो निर्वितर्क समाधि नामी ऋतम्भरा प्रज्ञाको प्राप्त करके भूत और इन्द्रियोंके जीतनेका अभ्यास कर रहे हैं। (१–४३) (३–४४–४७)

३ प्रज्ञा-ज्योति—जिन्होंने सविचार समाधिद्वारा भूत-इन्द्रियोंको जीत लिया है और स्वार्थ-संयमद्वारा विशोका-भूमिका अभ्यास कर रहे हैं। (३१, ३५, ४९)

४ अतिक्रान्तभावनीय—जो निर्विचार समाधिद्वारा मधु-प्रतीका और विशोका भूमियोंको प्राप्त करके उनसे विरक्त हो गये हैं, जिनको अब कुछ साधना शेष नहीं रहा केवल असम्प्रज्ञात समाधिद्वारा चित्तका लय करना बाकी है। जो सात प्रकारकी प्रान्त-भूमि प्रज्ञावाले हैं। (२ । २७)

उपर्युक्त श्रेणियाँ भाष्योंके आधारपर लिखी गयी हैं। सुगमताके लिये निम्नश्रेणियोंमें भूमियोंको विभक्त किया जा सकता है। (१) वितर्कानुगत भूमि, (२) विचारानुगत भूमि, (३) आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भूमि (४) विवेकख्यातिकी भूमि।

अपनी-अपनी भूमियोंके स्थानपति देवता बड़े आदरसे नाना प्रकारके भोगों और ऐश्वर्योंका योगियों-को प्रलोभन देते हैं, अर्थात् इन भूमियोंमें नाना प्रकारके भोग, ऐश्वर्य, दिव्य विषय और विभूतियोंके

प्रलोभन आते हैं। इनसे योगियोंको सदा सावधान और सचेत रहना चाहिये। इनमें यदि फँसा तो सब किया हुआ परिश्रम व्यर्थ जायगा। इस कारण इनसे सदा अलग रहना चाहिये। परंतु इन प्रलोभनोंको देखकर और अपनेमें उनको हटानेकी सामर्थ्य समझकर अभिमान भी न करना चाहिये; क्योंकि अभिमान-से उन्नति रुक जाती है और पतन होने लगता है। प्रथम भूमिवाला अभ्यासी इस योग्य ही नहीं होता कि उसके लिये ये प्रलोभन आवें, तीसरे और चौथे भूमिके अभ्यासी इतनी योग्यता प्राप्त कर लेते हैं, कि आसानीसे इनके फंदेमें नहीं आ सकते। दूसरी भूमिवालोंके गिरनेकी बहुत सम्भावना है, इस कारण उनको सबसे अधिक सावधान रहनेकी आवश्यकता है।

सङ्गति—सूत्र ४९ में जो फलरूप विवेक-ज्ञान कहा है, उसीके विषयमें पूर्वोक्त संयमसे भिन्न दूसरा उपाय बतलाते हैं—

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ—क्षण-तत्-क्रमयोः = क्षण और उसके क्रमोंमें; संयमात् = संयम करनेसे; विवेकजम् ज्ञानम् = विवेकज-ज्ञान उत्पन्न होता है।

अन्वयार्थ—क्षण और उसके क्रमोंमें संयम करनेसे विवेकज-ज्ञान उत्पन्न होता है।

व्याख्या—जिस प्रकार द्रव्यका सबसे छोटा विभाग जो भागरहित है, वह परमाणु है, वैसे ही समयकी सबसे छोटी विभागरहित गति क्षण है। अथवा जितने समयमें चलाया हुआ परमाणु पूर्वदेशको छोड़कर उत्तर देशको प्राप्त होवे वह कालकी मात्रा क्षण है। उन क्षणोंके प्रवाहका विच्छेद न होना अर्थात् बने रहना क्रम कहलाता है।

क्षण और उसका क्रम दोनों एक वस्तु नहीं हैं। ये बुद्धिके निर्माण किये हुए मुहूर्त, दिन, रात, मास आदि होते हैं। अथवा इसको यों समझना चाहिये कि काल वास्तवमें वस्तुसे शून्य है, केवल बुद्धि-हीकी निर्माण की हुई वस्तु है। वस्तुसे शून्य होते हुए भी कालको शब्द-ज्ञानके पीछे विकल्प (१।९) से व्यवहारदशामें लोग वस्तुके समान जानते हैं। क्षण, क्रमाश्रित होनेसे कोई वस्तु नहीं है। एक क्षणके पीछे दूसरे क्षणका आना क्रम कहलाता है। योगीजन इसीको काल कहते हैं। दो क्षण एक साथ नहीं हो सकते और क्रमसे भी दो क्षण एक साथ नहीं हो सकते; क्योंकि पूर्ववाले क्षणसे उत्तरवाले क्षणका अन्त न होना ही क्षणोंका क्रम है। इसलिये वर्तमान ही एक क्षण है, पूर्व और उत्तर क्षण नहीं हैं। इसलिये इन दोनोंका एकत्व भी नहीं है। अतीत और अनागत क्षण वर्तमान क्षणके ही परिणाम कहने योग्य हैं। उस एक वर्तमान क्षणसे ही सम्पूर्ण लोक परिणामको प्राप्त होते हैं। सब धर्म उस एक क्षणके ही आश्रित हैं। इसलिये क्षण और उसके क्रममें संयम करनेसे इन दोनोंका साक्षात्कारपर्यन्त विवेकज-ज्ञान उत्पन्न होता है।

भाव यह है कि जैसे नैयायिक सबसे छोटे निर्विभाग पदार्थको परमाणु मानते हैं वैसे ही योगा-चार्य सत्त्वादिके एक परिणाम-विशेषको द्रव्यरूप क्षण मानते हैं। क्षणोंके प्रवाहका अविच्छेद अर्थात् पूर्वापरभाव होना क्रम कहलाता है। पर यह क्रम वास्तवमें सत्य नहीं है, कल्पित है; क्योंकि दो अगले-पिछले क्षणोंका एक समयमें समाहार होना असम्भव है। इसलिये घटिका, मुहूर्त, प्रहर, दिन, रात, मास, वर्ष आदि रूप काल भी वास्तवमें वस्तुशून्य हैं। इनमें विकल्पसे व्यवहार हो रहा है। वास्तवमें

एक वर्तमान क्षण ही सत्य है। उसी एक वर्तमान क्षणका परिणाम यह सारा ब्रह्माण्ड है। ऐसा जो एक वर्तमान क्षण है और उसका जो यह कल्पित क्रम है, उसमें संयम करनेसे विवेकज-ज्ञान उत्पन्न होता है।

विवेकज-ज्ञान—विवेकसे उत्पन्न ज्ञान योगका पारिभाषिक शब्द है, जिसका लक्षण सूत्र ५४ में बतलाया जायगा।

टिप्पणी—भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ ५२ ॥

पूर्व जो फलरूप विवेकज-ज्ञान कहा है उसीके विषयमें पूर्वोक्त संयमसे भिन्न उपाय कहते हैं—

सबके अन्तका, कालका ऐसा अवयव, जिसके फिर हिस्से न हो सकें वह क्षण कहलाता है। उस प्रकारके कालक्षणोंका जो क्रम अर्थात् पूर्वापरभावसे परिणाम है, उनमें संयम करनेसे भी पूर्वोक्त विवेकज-ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। तात्पर्य यह है कि यह क्षण इस क्षणसे पूर्व और इस क्षणसे उत्तर है, इस प्रकार काल-क्रममें संयम करनेवालेको जब अत्यन्त सूक्ष्म क्षण-क्रमका प्रत्यक्ष होता है तो अन्य बुद्धि आदि सूक्ष्म पदार्थोंका भी प्रत्यक्ष हो जाता है ऐसे विवेकज्ञानसे ज्ञानान्तर होते हैं।

सङ्गति—इस विवेकज-ज्ञानका मुख्य फल बतलानेसे पूर्व अवान्तर फल अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ—जाति-लक्षण-देशैः = जाति, लक्षण, देशसे; अन्यता-अनवच्छेदात् = भेदका निश्चय न होनेसे; तुल्ययोः = दो तुल्य वस्तुओंका; ततः = उस विवेकज-ज्ञानसे; प्रतिपत्तिः = निश्चय होता है।

अन्वयार्थ—एक दूसरेसे जाति, लक्षण, देशसे भेदका निश्चय न होनेसे दो तुल्य वस्तुओंका, विवेकज-ज्ञानसे निश्चय होता है।

व्याख्या—जातिः = अनेक व्यक्तियोंमें जो अनुगत सामान्य धर्म है वह जाति है। जैसे गायोंमें गोत्व; भैंसोंमें महिषत्वादि।

लक्षण—जातिसे समान वस्तुओंको पृथक् करनेवाले असाधारण धर्मका नाम लक्षण है। जैसे लाल गाय, काली गाय इत्यादि।

देश—देश नाम पूर्वत्व तथा परत्वका है।

पदार्थोंके, एक दूसरेसे, भेद निश्चित करानेके कारण जाति, लक्षण और देश होते हैं। जैसे एक देशमें समान लक्षण अर्थात् काले रङ्गकी एक गौ और एक भैंस हो तो उन दोनोंमें जातिसे भेद होता है। जाति और देश समान होनेपर जैसे एक चितकबरी गाय और एक लाल गाय हो, उनका भेद लक्षणसे होता है। जाति और लक्षण समान होनेपर जैसे दो आँवले समान जाति और लक्षणके हों तो उनका पूर्व व उत्तर देशसे भेद जाना जाता है। जिसने इन दोनों आँवलोंको पहले देखा है, उसकी दृष्टि बचाकर यदि कोई पूर्व देशके आँवलेको उत्तर देशमें और उत्तर देशके आँवलेको पूर्व देशमें रख दे तो तुल्य देश होनेपर इन दोनोंमें संशयरहित यथार्थ ज्ञानद्वारा यह विभाग निश्चय नहीं हो सकता कि यह पूर्ववाला है, यह उत्तरवाला है। इसका निश्चय विवेकज-ज्ञानसे हो सकता है। यह ज्ञान योगीको विवेकज-ज्ञानसे किस प्रकार होता है ? इसका उत्तर भाष्यकारने इस प्रकार दिया है—कि उत्तर आँवलेके क्षण-सहित देशसे पूर्व आँवलेका क्षण-सहित देश भिन्न है। जब वे आँवले अपने देश-क्षण अनुभवमें भिन्न हैं तब उन

दोनोंके देश-क्षणका अनुभव उन दोनोंके भेदका कारण है। इसी दृष्टान्तके समान जाति, लक्षण, देशके परमाणुओंमें पूर्व देशवाले परमाणुके देश, क्षणोंसहित, साक्षात् करनेसे उस उत्तर देशवाले परमाणुका वह देश निश्चय न होनेपर उत्तरवालेके देशका भिन्न अनुभव क्षणोंसहित भेदसे होता है। उन दोनों देश-क्षण-सहित परमाणुओंके ज्ञानमें समर्थ योगीहीको उन दोनोंके भेदका ज्ञान होता है।

वैशेषिक सिद्धान्तवाले जो यह कहते हैं कि छः पदार्थों (द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय) में जो विशेष पदार्थ है वही द्रव्योंका भेदक है। सो उन विशेषोंमें भी (१) देश, (२) लक्षण, (३) मूर्ति (अवयव संनिवेशविशेष), (४) व्यवधि (व्यवधानविशेष) और (५) जाति, भेद-ज्ञानका कारण होते हैं। यहाँ यह और जान लेना चाहिये कि जाति आदिके भेदसे पदार्थोंका भेद-ज्ञान होना तो साधारण है, किंतु क्षण-भेदसे भेद-ज्ञान होना केवल योगीके ही बुद्धिगम्य है। इससे ही वार्षगण्याचार्यने कहा है "मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वमिति" मूल प्रकृतिमें भेद नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें मूर्ति, व्यवधि, जाति आदि जो भेदके कारण हैं इनका अभाव है।

सङ्गति—इस प्रकार विवेकज-ज्ञानका अवान्तर फल दिखलाकर अब लक्षणद्वारा उसका मुख्य फल बतलाते हैं—

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ—तारकम् = बिना निमित्तके अपनी प्रभासे स्वयं उत्पन्न होनेवाला; सर्वविषयम् = सबको विषय करनेवाला; सर्वथाविषयम् = सब प्रकारसे विषय करनेवाला; अक्रमम् = बिना क्रमके (एक साथ ज्ञानको); विवेकजं ज्ञानम् = विवेकज-ज्ञान कहते हैं।

अन्वयार्थ—बिना निमित्तके अपनी प्रभासे स्वयं उत्पन्न होनेवाला, सबको विषय करनेवाला, सब प्रकारसे विषय करनेवाला, बिना क्रमके एक साथ ज्ञानको विवेकज-ज्ञान कहते हैं।

व्याख्या—विवेकज ज्ञान चार लक्षणोंवाला होता है।

१ तारकम्—बिना बाह्य निमित्तके अपनी प्रभासे स्वयं उत्पन्न होनेवाला और संसारसागरसे तारनेवाला।

२ सर्वविषयम्—महदादिपर्यन्त सब तत्त्वोंका विषय करनेवाला।

३ सर्वथाविषयम्—सब तत्त्वोंको सब अवस्थामें स्थूल, सूक्ष्म आदि भेदसे उनके तीनों परिणामों-सहित सब प्रकारसे विषय करनेवाला।

४ अक्रमम्—क्रमकी अपेक्षारहित होकर सबको एक क्षणमें सब प्रकारसे विषय करनेवाला।

ये सम्पूर्ण विवेक-ज्ञान हैं। इक्यावनवें सूत्रमें बतलायी हुई ऋतम्भरा प्रज्ञावाली मधुमती भूमि इसका एक अंश है। उससे ज्ञानकी वृद्धि करता हुआ योगी इस अवस्थातक पहुँचता है।

यह ज्ञानकी अन्तिम गति है; क्योंकि इसमें कोई वस्तु इसका अविषय नहीं रहती।

सङ्गति—योगीको उपर्युक्त प्रकारसे विवेकज-ज्ञान उत्पन्न हो अथवा न हो, चित्त और पुरुष दोनोंकी समान शुद्धि ही कैवल्यका कारण है—

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ—सत्त्वपुरुषयोः = चित्त और पुरुषकी; शुद्धिसाम्ये = शुद्धि समान होनेपर; कैवल्यम् = कैवल्य होता है; इति = यहाँ तीसरा पद समाप्त होता है।

अन्वयार्थ—चित्त और पुरुषकी समान शुद्धि होनेपर कैवल्य होता है।

व्याख्या—सत्त्व-चित्तका पुरुषके समान शुद्ध होना यह है कि उसमें रजस-तमस्का मैल यहाँतक दूर हो जावे कि वह पुरुष और चित्तका भेद दिखाकर गुणोंके परिणामोंका यथार्थ ज्ञान कराकर पुरुषको अपना स्वरूप साक्षात् करानेके योग्य हो जावे। पुरुषकी शुद्धि यह है कि चित्तमें आत्म-अध्यासके कारण उसके भोगको जो उपचारसे अपना समझ रहा था उसका चित्त और पुरुषके भेदके यथार्थ ज्ञानसे सर्वथा अभाव हो जावे। यही कैवल्य है। इस पादमें बतायी हुई कुछ विभूतियाँ कैवल्य-प्राप्तिमें सहायक हो सकती हैं, पर यह आवश्यक नहीं कि इन भिन्न-भिन्न संयमोंद्वारा भिन्न-भिन्न विभूतियों और भूमियोंको प्राप्त करनेके पश्चात् कैवल्य हो। ये विभूतियाँ और भूमियाँ प्राप्त हों या न हों, कैवल्यके लिये पुरुष और चित्तमें यथार्थरूपसे भेद करानेवाला प्रसंख्यान अर्थात् विवेक-ज्ञान आवश्यक है। विवेक-ज्ञानसे अविद्याका नाश होता है। अविद्याके नाशसे अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेश दग्धबीजसदृश नष्ट हो जाते हैं। उनके न रहनेपर सकाम कार्योंका भी अभाव हो जाता है। सकाम कार्योंके अभावसे उनकी वासनासे फलकी भावनाका वृक्ष भी पैदा नहीं होता। वृक्षके अभावमें उसके फल, जन्म, आयु और भोग भी नहीं लगते। फिर उनका स्वाद दुःख-सुख भी नहीं चखा जा सकता। इस प्रकार गुणोंका प्रयोजन, पुरुषको भोग-अपवर्ग दिलानेका, समाप्त हो जाता है, और वे चरितार्थ होकर अपने कारणमें लीन हो जाते हैं और पुरुष अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाता है। यही कैवल्य है (४ । ३४) कैवल्य, अपवर्ग, निर्वाण, मुक्ति, मोक्ष, स्वरूपावस्थिति, गुणाधिकारसमाप्ति, परमधाम और परमपद एकार्थक शब्द हैं।

उपसंहार

इस प्रकार समाधिके अन्तरङ्ग तीनों अङ्ग (धारणा, ध्यान और समाधि) को कहकर, उन तीनोंकी संयम संज्ञा करके, संयमके विषय दिखलानेको तीन प्रकारके परिणाम बताकर संयमके बलसे उत्पन्न पूर्वान्त, परान्त और मध्यकी सिद्धियोंको दिखाकर, समाधिमें अभ्यास करनेके लिये भुवन-ज्ञानादि रूप बाहरकी और कायव्यूह-ज्ञानादि रूप भीतरकी सिद्धियोंको कहकर, समाधिके उपकारार्थ इन्द्रियजय, प्राणजयादि-पूर्वक सिद्धियोंको दिखाकर मुक्ति-सिद्धिके लिये क्रमसे अवस्थासहित भूतोंके जय और इन्द्रियोंके जयसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धियोंकी व्याख्या करके, विवेकज-ज्ञानके लिये उन-उन उपायोंको बतलाकर, सब समाधियोंके अन्तमें होनेवाले 'तारक' के स्वरूपको कहकर, उसमें समाधिसे कर्तव्यको समाप्त करके चित्तके अपने कारणमें लीन हो जानेसे 'मुक्ति' उत्पन्न होती है यह कहा गया है। सूत्र २६ 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' की टिप्पणीमें व्यासभाष्यका भावार्थ उसमें अलंकाररूपसे वर्णन की हुई और संदेह-जनक बातोंका स्पष्टीकरण तथा सूत्र ३९ विशेष वक्तव्यमें मृत्युके समय सूक्ष्म शरीरकी चार अवस्थाओं, पितृयाण व देवयान इत्यादिका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इस प्रकार पातञ्जलयोगप्रदीपमें विभूति नामवाले तीसरे पादकी व्याख्या समाप्त हुई।

इति पातञ्जलयोगप्रदीपे तृतीयो विभूतिपादः समाप्तः ॥

कैवल्यपाद

पहले पादमें योगका स्वरूप समाधि, दूसरे पादमें उसका साधन, तीसरेमें उससे होनेवाली सिद्धियाँ वर्णन करके अब चौथे पादमें कैवल्यको बताते हैं। कैवल्यका निर्णय चित्त और चितिके अधीन है, इस कारण कैवल्यके उपयोगी चित्तका निर्णय करनेके हेतु सबसे पहले पाँच प्रकारकी सिद्धियाँ और उनसे उत्पन्न होनेवाले पाँच सिद्ध चित्तोंको बताते हैं—

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

शब्दार्थ—जन्म-ओषधि-मन्त्र-तपः-समाधिजाः = जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधिसे उत्पन्न होनेवाली; सिद्धयः = सिद्धियाँ हैं।

अन्वयार्थ- जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधिसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धियाँ हैं।

व्याख्या—शरीर, इन्द्रियों और चित्तमें विलक्षण परिणाम उत्पन्न होने अर्थात् इनकी प्रकृतिमें विलक्षण परिवर्तन होनेको सिद्धि कहते हैं। इनके निमित्त पाँच हैं। जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधि।

इसलिये सिद्धियाँ भी इन निमित्तोंके कारण पाँच प्रकारकी हैं।

१ जन्मजा सिद्धि—वे सिद्धियाँ हैं जिनकी उत्पत्तिमें केवल जन्म ही निमित्त है। जैसे पक्षियों आदिका आकाशमें उड़ना अथवा कपिल आदि महर्षियोंका पूर्व जन्मके पुण्योंके प्रभावसे जन्मसे ही सांसिद्धिक ज्ञानका उत्पन्न होना। ये चित्त जन्मसे ही इस योग्यताको प्राप्त किये हुए होते हैं।

२ ओषधिजा सिद्धि—पारे आदि रसायनके उपयोगसे शरीरमें विलक्षण परिणाम उत्पन्न करना। अथवा सोमरसपान तथा अन्य ओषधियोंद्वारा काया-कल्प करके शरीरको पुनः युवा बना लेना इत्यादि। यह ओषधि आदि सेवनद्वारा चित्तमें सात्त्विक परिणामसे होता है।

३ मन्त्रजा सिद्धि—जैसे (स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः) स्वाध्यायसे इष्ट देवताका मिलना। मन्त्रद्वारा चित्तमें एकाग्रताका परिणाम होता है। उससे यह सिद्धि प्राप्त होती है।

४ तपोजा सिद्धि—"कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः" तपसे अशुद्धिके दूर हो जानेपर शरीर और इन्द्रियोंकी सिद्धि होती है। चित्तमें तपके प्रभावसे यह योग्यता होती है।

५ समाधिजा सिद्धि—समाधिसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धियाँ, जिनका वर्णन तीसरे पादमें सविस्तर है। यह समाधिसे उत्पन्न हुआ चित्त ही कैवल्यके उपयोगी है। इस प्रकार सिद्धियोंके पाँच भेदसे सिद्ध चित्तोंके भी पाँच भेद जान लेना चाहिये।

टिप्पणी—श्रीभोज महाराजने ये जन्म, ओषधि, मन्त्रादि पाँचों सिद्धियाँ पूर्व जन्ममें अभ्यस्त समाधिके बलसे ही प्रवृत्त हुई बतलायी हैं। पाठकोंकी जानकारीके लिये उनकी इस सूत्रकी वृत्तिका भाषार्थ दिये देते हैं—

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र १ ॥

पहले जो सिद्धियाँ कही हैं उनके अनेक प्रकारके जन्मादि (सूत्रोक्त) कारण हैं। इसका प्रतिपादन करते हुए सूत्रकार यह बतलाते हैं कि ये जो सिद्धियाँ हैं वे सब पूर्व जन्ममें अभ्यस्त समाधिके

बलसे ही प्रवृत्त हुई हैं। जन्म, ओषधि आदि सब निमित्तमात्र हैं। इससे अनेक जन्ममें जो समाधि की जाती है उसकी कोई हानि नहीं है अर्थात् एक जन्ममें कोई फल न हो तो जन्मान्तरमें अवश्य होगा, ऐसा जान लेना चाहिये। ऐसे विश्वासको पैदा करनेके लिये और समाधि-सिद्धिकी प्रधानता कैवल्यके लिये (बतलाते हुए यह) कहते हैं— किन्हीं सिद्धियोंके केवल जन्म कारण हैं— जैसे पक्षी आदिका आकाशमें उड़ना आदि अथवा (पक्षी आदिके उड़नेको सिद्धि न माना जाय तो) जन्मके अनन्तर ही जो कपिल महर्षि आदिकोंके स्वाभाविक गुण थे (वह जन्मजा सिद्धि है)। पारे आदि रसायनादिके उपयोगसे ओषधिजन्य सिद्धियाँ होती हैं। किसी मन्त्रके जपसे किन्हींका आकाशमें उड़ना आदि "मन्त्रसिद्धि" है। विश्वामित्र आदिकोंको 'तपःसिद्धि' हुई थी। समाधिसिद्धि इससे पूर्व पादमें बतला चुके हैं। ये सब सिद्धियाँ पूर्व-जन्ममें क्लेशोंको नष्ट करनेवालोंको ही होती हैं। इससे समाधिके तुल्य द्वितीय जन्ममें अभ्यस्त समाधि ही अन्य सिद्धियोंका कारण है। जन्म आदि केवल निमित्तमात्र हैं।

सङ्गति— पूर्वोक्त मन्त्र, तप और समाधि आदिसे जो पाँच प्रकारकी सिद्धियाँ बतलायी हैं वे सिद्धियाँ यही हैं कि शरीर और इन्द्रियों आदिमें विलक्षण शक्ति आ जाय या पहली जातिसे दूसरी जाति बदल जाय। जात्यन्तर परिणाम बिना उपादानके केवल मन्त्रादिसे कैसे हो सकता है? इस शङ्काके निवारणार्थ अगला सूत्र है।

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

शब्दार्थ— जात्यन्तर-परिणामः = एक जातिसे दूसरी जातिमें बदल जाना; प्रकृति-आपूरात् = प्रकृतियोंके भरनेसे होता है।

अन्वयार्थ— एक जातिसे दूसरी जातिमें बदल जाना प्रकृतियोंके भरनेसे होता है।

व्याख्या— 'जात्यन्तरपरिणाम'- एक जातिसे दूसरी जातिमें बदल जाना अर्थात् शरीर, इन्द्रियों आदिका ओषधि मन्त्रादिके अनुष्ठानसे विलक्षण-शक्तिवाला हो जाना। 'प्रकृत्यापूरात्'— प्रकृति उपादान-कारणको कहते हैं। शरीरकी प्रकृति पृथ्वी जलादि पाँच भूत हैं और इन्द्रियोंकी प्रकृति अस्मिता है। प्रकृतियोंका कारणरूपसे कार्यरूप अवयवोंके आकारमें भरने या प्रवेश करनेको 'प्रकृत्यापूर' कहा गया है। इस प्रकृतिकी 'आपूर' पूर्ण होनेसे जात्यन्तर (दूसरे जातिके रूप व आकार) में परिणाम होता है।

सूत्रका भाव यह है कि योगीके इन्द्रियों आदिमें जो जात्यन्तर परिणाम अर्थात् उनका पहले रूपसे विलक्षण-शक्तिवाला हो जाना ओषधि, मन्त्र, तप, समाधि आदिके प्रभावसे होता है, वह प्रकृतियोंके अपूर्व अवयवोंके समूहसे होता है। जैसे शुष्कतृणों व शुष्कवनमें सूक्ष्मरूपसे व्याप्त अग्निके अपूर्व अवयवोंके समूह अग्निकी एक कणिकासे दीर्घ देशव्यापी प्रचण्ड ज्वालारूप हो जाते हैं वैसे ही योगीके शरीर और इन्द्रियों आदिके पहले राजसी व तामसी अवयव अलग हो-होकर ज्यों-ज्यों उनके स्थानपर दूसरे सात्त्विक अवयव भरते चले जाते हैं त्यों-त्यों उसके शरीर, इन्द्रियाँ आदि विलक्षण-शक्तिवाले होते जाते हैं। इस प्रकार उस जातिके अनुकूल अवयव भरते रहनेसे दूसरी जाति बन जाती है। इस जात्यन्तर परिणाममें निमित्त योगज धर्म है जिसे योगी मन्त्र-तप आदिसे सिद्ध करता है।

टिप्पणी—भोजवृत्तिका भावार्थ ॥ सूत्र २ ॥

सूत्र १ की टिप्पणीसे इसका सम्बन्ध देखें—यहाँपर शङ्का होती है कि नन्दीश्वरादिका जाति आदि परिणाम उसी जन्ममें देखा गया है तो फिर किस प्रकार दूसरे जन्मोंमें समाधि किये हुए अभ्यासको कारण कहा जाता है। इस शङ्काका उत्तर अगले सूत्रमें देते हैं।

'यह जो एक जन्ममें ही नन्दीश्वरादिका जात्यादि परिणाम (तपके प्रभावसे देवत्वको प्राप्त करना) है, वह प्रकृतिके अवयव प्रवेश (अथवा प्रकृतिके सर्वत्र व्याप्त होनेसे) हुआ जानना चाहिये। पिछले जन्मकी ही प्रकृति इस जन्ममें अपने विकारोंको प्रवेश करके जाति विशेषाकारसे परिणत होती है।'

नोट—शिवपुराणीय सनत्कुमारसंहिताके ४५ अध्यायमें ऐसा वर्णन है कि शिलाद मुनिका नन्दी नामक कुमार शिवजीकी अति उग्र उपासनाद्वारा मनुष्य-शरीरको त्यागकर उसी जन्ममें देवदेहको प्राप्त हो गया था।

सङ्गति—क्या धर्म जो प्रकृतियोंके आपूरसे जात्यन्तर परिणाममें निमित्त है स्वयं प्रकृतिको ऐसे परिणामके लिये प्रेरता है अथवा केवल प्रतिबन्धकको हटा देता है? इसका उत्तर देते हैं— नहीं, वह केवल रुकावटको दूर कर देता है। रुकावटके दूर होनेसे जाति बदलनेवाले प्रकृतिके अवयव स्वयं भरने आरम्भ हो जाते हैं।

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—निमित्तम् = (धर्मादि) निमित्त; अप्रयोजकम् = अप्रयोजक-प्रेरक नहीं है; प्रकृतीनाम् = प्रकृतियोंका; वरण-भेदः = आवरण-प्रतिबन्धक-रुकावटका तोड़ना (होता) है; तु = किंतु; ततः = उससे अर्थात् धर्मादि निमित्तसे; क्षेत्रिकवत् = किसानकी तरह।

अन्वयार्थ—धर्मादि निमित्त प्रकृतियोंका प्रेरक नहीं होता है, किंतु उससे किसानके सदृश रुकावट दूर होती है।

व्याख्या—धर्मादि निमित्त प्रकृतियों (उपादान-कारणों) के प्रवृत्त करनेवाले नहीं होते। क्योंकि धर्मादि प्रकृतिके कार्य हैं और कार्य कारणका प्रवर्तक नहीं होता। जैसे किसान जब जलसे भरी एक क्यारीमेंसे दूसरी क्यारीमें जल ले जाना चाहता है तो हाथसे पानीको उस क्यारीमें नहीं ले जाता किंतु उस क्यारीकी मेंड (मुहाना जो बंद है) को तोड़ देता है, उस मेडके खुल जानेपर जल, स्वयं दूसरी क्यारीमें भर जाता है। इसी प्रकार धर्म प्रकृतियोंके वरण (आवरण—प्रतिबन्धक अधर्म) को नष्ट कर देता है। उस अधर्मरूपी प्रतिबन्धकके नष्ट होनेपर प्रकृतियाँ स्वयं अपने-अपने कार्यको नये अवयवोंसे भर देती हैं। अथवा जैसे वही किसान धान, गेहूँ, मूँग आदिके मूलमें जल और भूमिके रसोंको प्रवेश करनेमें असमर्थ होता है, किंतु खेतमें जलके सींचनेपर जल-भूमि आदिके रस स्वयं ही धानों आदिके मूलमें प्रवेश हो जाते हैं वैसे ही धर्म भी अपने विरोधी अधर्मकी निवृत्तिमात्र करनेमें कारण है; क्योंकि शुद्ध और अशुद्ध दोनोंमें अत्यन्त विरोध है। प्रकृतिसे प्रवृत्त करनेमें धर्म उपादान-कारण नहीं होता, किंतु निमित्त होता है।

जिस प्रकार धर्म प्रकृत्यापूर अर्थात् प्रकृतियोंकी प्रवृत्तिमें निमित्त (हेतु) है इसी प्रकार अधर्मको भी प्रकृतियोंको प्रवृत्त करनेमें निमित्त जानना चाहिये। जब धर्म अधर्मरूपी रुकावटको दूर करता है तब उसका शुद्ध परिणाम होता है और जब अधर्म धर्मरूप प्रतिबन्धको हटाता है तब अशुद्ध परिणाम होता है।

टिप्पणी—भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र ३ ॥

सूत्र २ की टिप्पणीसे इसका सम्बन्ध देखें। यहाँ यह शङ्का होती है कि धर्म आदि भी तो पूर्व जन्ममें किये गये हैं उन्हींको जात्यन्तर परिणामका कारण क्यों न मान लिया जाय। प्रकृतिको उस परिणामका कारण क्यों माना जाता है। इसका उत्तर देते हैं।

निमित्त जो धर्मादि हैं वे प्रकृतिके अर्थान्तर परिणाममें प्रयोजक नहीं हैं (क्योंकि वे प्रकृतिके ही कार्य हैं) कार्यसे कारणको प्रेरणा नहीं होती। तो फिर धर्मादिका कहाँ काम पड़ता है? इसका सूत्रकार उत्तर देते हैं कि जब उस धर्मसे उसके विरोधी अधर्मका नाश किया जाता है तो प्रतिबन्धकके न रहने-पर प्रकृतियाँ स्वयं अपने कार्यमें समर्थ होती हैं। इसमें दृष्टान्त यह देते हैं कि जैसे खेती करनेवाला, जो कि एक क्यारीसे दूसरी क्यारीमें जल ले जानेकी इच्छा करता है, वह जलकी रोकमात्र (मेंड, मिट्टी आदि) को हटाता है, जब रुकावट दूर हो जाती है तो जल स्वयमेव फैलकर उस क्यारीमें चला जाता है। जलके फैलनेमें किसानका कोई प्रयत्न अपेक्षित नहीं है। इसी प्रकार धर्मादि निमित्त अधर्मादिको हटाते मात्र हैं।

विशेष वक्तव्य सूत्र ३—चित्तभूमि जन्म-जन्मान्तरोंके कर्माशयोंसे चित्रित है। जो कर्माशय नियत विपाक बनकर ऊपरकी भूमिमें आकर प्रधान रूपसे अपना कार्य आरम्भ कर देते हैं वे अपने विरोधी उपसर्जन कर्माशयोंको प्रतिबन्धकरूपसे निचली भूमियोंमें दबाये रखते हैं (सा० पा० सूत्र १३)। सूत्रमें बतलाये हुए निमित्त धर्मोंका केवल इतना काम होता है कि जिन प्रकृतियोंको आपूर अर्थात् भरना होता है उनके विरोधी प्रकृतिवाले प्रधान कर्माशयोंको उनके द्वारा हटा दिया जाता है। इस प्रकार निचली भूमियोंमें दबे पड़े हुए उपसर्जन (गौण) कर्माशय अपने प्रतिबन्धकके हट जानेपर ऊपरकी भूमिमें आकर प्रधानरूपसे अभिमत (इच्छित) प्रकृतियोंके भर देनेका काम आरम्भ कर देते हैं। जिस प्रकार जब किसान खेतमें पानी भरना चाहता है तब उसके प्रतिबन्धक मेंडको काट देता है। इस प्रकार प्रतिबन्धक मेंडके हट जानेपर मेंडसे रुका हुआ खेतसे बाहरका पानी स्वयं खेतमें आना आरम्भ हो जाता है। इसी प्रकार सूत्र सं० २ में बतलाये हुए एक जातिसे दूसरी जातिमें बदल देनेका परिणाम उनकी उपादानकारण प्रकृतिके भर देनेसे होता है। यही कारण है कि कभी-कभी ऐसा देखनेमें आता है कि अकस्मात् एक अधर्मी धर्मात्मा बन जाता है तथा कभी-कभी धर्मात्मा अधर्मी।

सङ्गति—जब योगी बहुत-से शरीरोंका निर्माण करता है तब क्या एक मनवाला होता है वा अनेक मनवाला? इसका उत्तर देते हैं—(व्यासभाष्य)

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—निर्माण-चित्तानि = निर्माण चित्त; अस्मिता-मात्रात् = अस्मिता-मात्रसे (होते हैं)।

अन्वयार्थ—अस्मितामात्रसे निर्माण-चित्त होते हैं।

व्याख्या—चित्तके कारण अस्मितामात्रका लेकर चित्तोंको निर्माण करता है उससे सचित्त होते हैं।—(व्यासभाष्य)

अर्थात् योगी अस्मिता-मात्रसे निर्माण-चित्तोंको अपने संकल्पमात्रसे निर्मित करता है। (बनाता है) इन निर्माण-चित्तोंसे योगीके बनाये हुए सब शरीर चित्तसंयुक्त होते हैं।

भोजवृत्तिमें इस सूत्रकी सङ्गति तथा सूत्रार्थ निम्न प्रकार दिये हैं—

संगति—तत्त्वको साक्षात् करनेवाले योगीको जब एक बार ही कर्मफल भोगनेके लिये अपनी निरतिशय (सबसे बड़ी) सिद्धिके अनुभवसे एक साथ अनेक शरीरोंके रचनेकी इच्छा होती है, तब अनेक चित्त कैसे हो जाते हैं? यह कहते हैं—

योगीके अपने रचे हुए शरीरोंमें जो चित्त होते हैं, वे अपने मूल कारण अस्मिता मात्रसे हो योगीकी इच्छासे फैल जाते हैं। जैसे अग्निसे निकले हुए कण एक बार ही परिणत होते हैं। (भोजवृत्ति)

विशेष विचार सूत्र ॥ ४ ॥ इस सूत्रकी सङ्गति तथा व्याख्यामें हमने व्यासभाष्य तथा भोजवृत्तिके शब्दार्थ दे दिये हैं। योगीकी शक्ति अपरिमित हो सकती है और योगके बलसे ऐसी सिद्धिका होना भी सम्भव हो सकता है। पर यहाँ कई कारणोंसे यह संदेह होता है कि यह शब्द श्रीव्यासजी महाराज तथा भोजजीके ही हैं अथवा अन्य किसी और पुरुषने योगका अद्भुत चमत्कार दिखलानेके लिये एक समयमें बहुत-से शरीर और चित्तोंकी कल्पना करके यह शब्द बढ़ा दिये हैं। संदेहके कारण निम्नलिखित हैं—

(१) योगकी भिन्न-भिन्न प्रकारकी विभूतियाँ विभूतिपादमें वर्णन की गयी हैं। यदि सूत्रकारको कोई ऐसी 'निरतिशय' विभूति बतलाना अभिमत होता तो उसमें इसका कुछ-न-कुछ संकेत अवश्य किया जाता।

(२) अन्य ग्रन्थोंमें जहाँ कहीं बहुत-से भौतिक शरीरोंके एक साथ दिखलानेका वर्णन आया है, वे मायावी बतलाये गये हैं न कि वास्तविक और कर्मफल भोगकी निवृत्तिके लिये प्रकृति आपूर सूत्र २ की विधिके अनुसार निर्माण किये गये हैं।

(३) गुणोंका प्रथम विषम परिणाम चित्त है और पुरुष (चेतनतत्त्व) से प्रतिबिम्बित अर्थात् प्रकाशित चित्तकी संज्ञा अस्मिता है। एक व्यष्टि चित्त दूसरे व्यष्टि चित्तोंका उपादान-कारण अर्थात् प्रकृति नहीं बन सकता। चित्तका विषम परिणाम अर्थात् विकृति अहंकार ही हो सकता है। इसलिये यदि यहाँ निर्माण-चित्तोंको अहंकारके अर्थोंमें लें तो अहंकार भिन्न होनेसे वह योगी उन अहंकारोंके कर्मों और फलोंका भोक्ता नहीं हो सकता है।

(४) यदि निर्माण-चित्तके अर्थ अहंकार न लेकर केवल चित्तके ही लें तो वे भी पुरुष (चेतनतत्त्व) से प्रतिबिम्बित होकर उस योगीसे भिन्न नये पुरुष (जीव) रूप हो जायँगे।

(५) कर्म तीन प्रकारके होते हैं—क्रियमाण, प्रारब्ध और संचित। प्रारब्धकर्म प्रधान कर्माशय नियत विपाकवाले होते हैं और संचितकर्म उपसर्जन कर्माशय अनियत विपाकवाले होते हैं। उन दोनोंमेंसे प्रथम श्रेणीके कर्म तो, जिन्होंने जन्म, आयु और भोग फल देना आरम्भ कर दिया है, भोगने ही होते हैं; किन्तु दूसरी श्रेणीके कर्मोंको जिन्होंने अभीतक फल देना आरम्भ नहीं किया है उनको इतनी सामर्थ्यवाला योगी स्वयं दग्धबीज-तुल्य कर सकता है।

(६) बहुत-से शरीरोंके एक साथ निर्माण करनेका यहाँ कोई प्रसङ्ग नहीं है। यह संगतिके विरुद्ध है।

(७) यहाँ प्रथम सूत्रसे पाँच प्रकारकी सिद्धियोंद्वारा पाँच प्रकारके सिद्ध 'निर्माण' चित्तोंका प्रसङ्ग चला आ रहा है। एक साथ बहुत-से शरीरोंके रचनेका कहीं संकेतमात्र भी नहीं है।

(८) श्रीव्यासजी तथा भोजजी महाराजने स्वयं छठे सूत्रके भाष्य तथा वृत्तिमें निर्माण-चित्तके अर्थ जन्म, ओषधि आदिद्वारा उत्पन्न हुए पाँच सिद्ध चित्त बतलाये हैं न कि एक साथ उत्पन्न हुए अनेक शरीरोंके चलानेवाले अनेक चित्त।

इसको अधिक स्पष्ट करनेके लिये अर्थसहित मूलभाष्य और वृत्ति नीचे लिख देते हैं।

पञ्चविधं निर्माणचित्तं जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धय इति। तत्र यदेव ध्यानजं चित्तं तदेवानाशयं तस्यैव नास्त्याशयो रागादिप्रवृत्तिर्नातः पुण्यपापाभिसम्बन्धः क्षीणक्लेशत्वा-द्योगिन इति। इतरेषां तु विद्यते कर्माशयः ॥ ६ ॥ —(व्यासभाष्य)

जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप, समाधिसे उत्पन्न जो पाँच प्रकारके सिद्ध निर्माण चित्त हैं, उनमें जो ध्यान (समाधि) से उत्पन्न हुआ चित्त है वही वासनारहित है। उसमें ही रागादि प्रवृत्ति और वासनाएँ नहीं होतीं। इस कारण क्लेश नष्ट होनेसे योगीका पुण्य-पापसे सम्बन्ध नहीं होता। दूसरों (चार— जन्म, ओषधि, मन्त्र और तपसे उत्पन्न होनेवाले सिद्ध निर्माण-चित्तों) की तो कर्म और वासनाएँ विद्यमान रहती हैं।

ध्यानजं समाधिजं यच्चित्तं तत्पञ्चसु मध्येऽनाशयं कर्मवासनारहितमित्यर्थः ॥ ६ ॥ —(भोजवृत्ति)

ध्यानजं अर्थात् समाधिसे उत्पन्न हुआ जो चित्त है वह उन पाँचों (सिद्ध निर्माणचित्तों) में अनाशय अर्थात् कर्मकी वासना और संस्कारोंसे रहित होता है यह अभिप्राय है।

उपर्युक्त सब बातोंको दृष्टिकोणमें रखते हुए सूत्र ४ की व्याख्या इस प्रकार होनी चाहिये—

निर्माणचित्तानि = जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप, समाधि—इन पाँच सिद्धियोंसे उत्पन्न होनेवाले पाँच प्रकारके सिद्ध-चित्त जिनका प्रथम सूत्रसे प्रसङ्ग चला आ रहा है।

अस्मितामात्रात् = पुरुषसे प्रतिबिम्बित चित्तसत्त्व (जिससे अहङ्कार उत्पन्न होता है अर्थात् जिसमें अहङ्कार बीजरूपसे रहता है) जो निर्माणचित्तोंकी प्रकृति है। उन विलक्षण शक्तिवाले सिद्ध शरीर इन्द्रियों आदिको चलानेवाले सिद्ध निर्माणचित्त अस्मितामात्रसे उत्पन्न होते हैं अर्थात् उनकी प्रकृति (उपादान कारण) अस्मिता (चित्तसत्त्व) है। जिसके 'आपूर' से उनमें यह विलक्षण परिणाम होता है।

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—प्रवृत्ति-भेदे = प्रवृत्तिके भेदमें; प्रयोजकम् = प्रेरनेवाला; चित्तम् = चित्त; एकम् = एक; अनेकेषाम् = अनेकोंका होता है।

अन्वयार्थ—प्रवृत्तिके भेदोंमें एक चित्त अनेकोंका प्रेरनेवाला होता है।

व्याख्या—एक चित्तसे किस प्रकार अनेक चित्तोंके अभिप्रायपूर्वक प्रवृत्ति होती है। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि सब चित्तोंका प्रवर्तक एक चित्त है, उससे प्रवृत्तिभेद होता है।—(व्यासभाष्य)

उन अनेक चित्तोंके वृत्तिभेद होनेमें एक ही चित्त अधिष्ठाता होकर प्रेरणा करनेवाला होता है। इससे अनेक चित्तोंका मतभेद नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जैसे एक मन अपने शरीरका अधिष्ठाता बनकर चक्षु-हस्तादिकी इच्छापूर्वक प्रेरणा करता है, वैसे ही अन्य कार्योंमें भी प्रेरक माना जाता है।—(भोजवृत्ति)

विशेष विचार ॥ सूत्र ५ ॥ पिछले वि० वि० अनुसार सूत्रकी व्याख्या इस प्रकार होगी— ऊपर बताये हुए पाँचों निर्माणचित्तोंका नाना प्रकारकी प्रवृत्तिमें लगानेवाला अस्मिता अर्थात् अधिष्ठाता चित्त है। इन चित्तोंकी सारी प्रवृत्तियाँ उसी एक अधिष्ठाता चित्तके अधीन हैं।

संगति—इन पाँच प्रकारकी सिद्धियोंसे उत्पन्न हुए निर्माणचित्तोंमेंसे समाधिजन्य चित्तकी विलक्षणता अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—तत्र = उनमेंसे (पाँच प्रकारके निर्माण-सिद्धचित्तोंमेंसे); ध्यानजम् = ध्यानसे उत्पन्न होनेवाला (चित्त); अनाशयम् = वासनाओंसे रहित (होता) है।

अन्वयार्थ—उन पाँच प्रकारके जन्म, ओषधि आदिसे उत्पन्न हुए पाँचों निर्माणसिद्ध-चित्तोंमेंसे समाधिसे उत्पन्न होनेवाला चित्त वासनाओंसे रहित होता है।

व्याख्या—जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधिसे उत्पन्न जो पाँच प्रकारके सिद्धनिर्माण-चित्त हैं, उनमें जो ध्यान (समाधि) से उत्पन्न हुआ चित्त है, वही वासनारहित है। उसमें ही रागादि प्रवृत्ति और वासनाएँ नहीं होतीं। इस कारण क्लेश नष्ट होनेसे योगीका पुण्य-पापसे सम्बन्ध नहीं होता। दूसरों (चार—जन्म, ओषधि, मन्त्र और तपसे उत्पन्न होनेवाले) सिद्ध-निर्माण-चित्तोंकी तो कर्म और वासनाएँ विद्यमान रहती हैं।—(व्यासभाष्य)

ध्यानजं अर्थात् समाधिसे उत्पन्न हुआ जो चित्त है, वह उन पाँचों (सिद्ध निर्माण चित्तोंमें) अनाशय अर्थात् कर्मकी वासना और संस्कारोंसे रहित होता है— यह अभिप्राय है। (भोजवृत्ति)

संगति—जब योगी भी साधारण मनुष्योंकी भाँति कर्म करते देखे जाते हैं, तो उनके चित्त वासनारहित किस प्रकार हो सकते हैं?

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—कर्म = कर्म; अशुक्ल अकृष्णम् = न शुक्ल न कृष्ण; योगिनः = योगीका; त्रिविधम् = तीन प्रकारका; इतरेषाम् = दूसरोंका होता है।

अन्वयार्थ—योगीका कर्म अशुक्लाकृष्ण (नशुक्ल न कृष्ण अर्थात् निष्काम) होता है, दूसरोंका तीन प्रकारका (पाप, पुण्य और पाप-पुण्य-मिश्रित) होता है।

व्याख्या—कर्म चार प्रकारके होते हैं—

१ *कृष्ण*—पापरूप कर्म अर्थात् हिंसा आदि दूसरोंको हानि पहुँचानेवाले स्तेय, व्यभिचार आदि कर्म दुराचारी पुरुषोंके होते हैं।

२ *शुक्ल*—पुण्यकर्म अहिंसा आदि दूसरोंको लाभ पहुँचानेवाले, स्वाध्याय, तप, ध्यान आदि धर्मात्माओंके होते हैं।

३ *कृष्ण-शुक्ल*—पापपुण्यमिश्रित कर्म—जिनमें किसीको हानि; किसीको लाभ हो, साधारण मनुष्योंके होते हैं।

४ *अशुक्ल-अकृष्ण*—न पुण्य न पाप अर्थात् फलोंकी वासनारहित निष्काम शुद्ध कर्म।

इनमेंसे योगियोंके कर्म अशुक्ल अकृष्ण होते हैं अर्थात् न पुण्यवाले न पापवाले। पापकर्म तो वे कभी करते ही नहीं। क्योंकि वे उनके लिये सर्वदा त्याज्य हैं, इस कारण उनके कर्म अकृष्ण हैं। शुक्लकर्मोंको निष्कामभावसे फलोंको त्यागकर करते हैं, इस कारण वे अशुक्ल होते हैं। साधारण मनुष्योंकी तरह उनको कर्ममें प्रवृत्त करनेवाले अविद्या आदि क्लेश नहीं होते; बल्कि वे अपने आपको तथा अपने सब कर्मों और उनके फलोंको ईश्वर समर्पण करके केवल उसकी आज्ञापालनमें अपना कर्तव्य समझते हुए करते हैं। इस कारण वे वासनारहित हैं।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि। योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्। अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥
(गीता ५। १०—१२)

'जो पुरुष सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है वह पुरुष जलसे कमलके पत्तेके सदृश पापसे लिपायमान नहीं होता। निष्काम कर्मयोगी केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं। निष्काम कर्मयोगी कर्मोंके फलोंको परमेश्वरके अर्पण करके परमात्मप्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकामी पुरुष फलोंमें आसक्त हुआ कामनाके द्वारा बँधता है' ॥ १०—१२ ॥

साधारण मनुष्योंके तीन प्रकारके कर्म १—शुक्ल = अच्छे, २—कृष्ण = बुरे, ३—शुक्ल-कृष्ण-मिश्रित—अच्छे-बुरे मिले हुए होते हैं। इस कारण वे चित्तमें फलोंकी वासनाको पैदा करते हैं।

सङ्गति—ऊपर बताये हुए योगियोंसे अतिरिक्त साधारण मनुष्योंके तीन प्रकारके कर्मोंका फल बताते हैं—

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—ततः = उससे (तीन प्रकारके कर्मोंसे); तद्-विपाक-अनुगुणानाम् एव = उन्हींके फलके अनुकूल ही; अभिव्यक्तिः—प्रकटता; वासनानाम् = वासनाओंकी होती है।

अन्वयार्थ—उन तीन प्रकारके कर्मोंसे उनके फलके अनुकूल ही वासनाओंकी अभिव्यक्ति (प्रादुर्भाव) होती है।

व्याख्या योगियोंसे अतिरिक्त सकामी पुरुष फलोंकी वासनासे कर्म करते हैं। जैसे कर्म होते हैं, उनके फलोंके अनुकूल गुणोंवाली वासनाएँ उत्पन्न होती हैं। उन वासनाओंसे फिर वैसे ही कर्म और उनसे फिर उसी प्रकारकी वासनाएँ बनती हैं। वासनाएँ चित्तमें दो प्रकारके संस्काररूपसे होती हैं। एक स्मृतिमात्र फलवाली, दूसरी जाति, आयु, भोग-फलवाली। जब कोई कर्म फल देता है तो उसके फलके अनुकूल ही सारी वासनाएँ प्रकट हो जाती हैं। उदाहरणार्थ—जब कर्मोंका फल मनुष्य-जन्म होता है तो स्मृति फलवाली वासनाएँ, मनुष्य-जाति, आयु और भोगवाली वासनाओंको जो जन्म-जन्मान्तरोंसे

चित्तमें संस्काररूपसे पड़ी हुई है, जगा देती है। उससे भिन्न अन्य जाति, आयु और भोगवाली वासनाएँ चित्तभूमिमें दबी रहती हैं। इसी प्रकार यदि कर्मोंका फल (कर्मविपाक) कोई पशुयोनि हो तो उस जाति-आयु और भोगकी वासनाओंको स्मृति-फलवाली वासनाएँ जगा देती हैं। और वे अपना फल देने लगती हैं। इसका विवरण विस्तारपूर्वक (२। १२। १३) सूत्रमें आवागमनके सम्बन्धमें किया गया है।

सङ्गति—वासनाएँ सैकड़ों जन्म पूर्वकी होती हैं और इनमें देश तथा समयका भी अत्यन्त अन्तर होता है; फिर एक जन्मको देनेके लिये भिन्न-भिन्न जन्मों, देशों और कालोंमें चित्तमें पड़ी हुई वासनाएँ एक साथ किस प्रकार प्रकट हो सकती हैं? उत्तर—

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥९॥

शब्दार्थ—जाति-देश-काल-व्यवहितानाम्-अपि = जाति, देश और कालसे व्यवधानवाली (वासनाओं) का भी; आनन्तर्यम् = व्यवधान (दूरत्व) नहीं होता है; स्मृति-संस्कारयोः = स्मृति और संस्कारके; एकरूपत्वात् = एकरूप होनेसे— समानविषयक होनेसे।

अन्वयार्थ—जाति, देश और कालकृत व्यवधानवाली वासनाओंका भी व्यवधान नहीं होता; क्योंकि स्मृति और संस्कार एकरूप (समानविषयक) होते हैं।

व्याख्या—जाति, देश और कालका निकट होना वासनाओंके संस्कारोंके प्रकट होनेका कारण नहीं होता है; बल्कि उनको प्रकट करनेवाला कारण उनका अपना-अपना अभिव्यञ्जक (प्रकट करनेवाला) होता है। वह संस्कार चाहे कितने ही पिछले जन्मोंके हों और चाहे उनमें कितना ही देश और कालका व्यवधान (फासला) हो अभिव्यञ्जक मिलनेपर तुरंत प्रकट हो जाते हैं। उदाहरणार्थ—जब कर्मफल (कर्मविपाक) यह हो कि मनुष्य किसी पशुयोनिमें जाय तो वह उन सब वासनाओंके संस्कारोंके जगानेमें अभिव्यञ्जक हो जाते हैं जो उस जातिके बनानेवाले अथवा उनमें भोगे जानेवाले हैं। चाहे वे सैकड़ों जन्म पहलेके बने हुए हों, चाहे सहस्रों वर्ष व्यतीत हो गये हों और कितने ही दूर देशोंके क्यों न बने हों। यह व्यवधान उनके प्रकट होनेमें रुकावट न डाल सकेंगे, क्योंकि स्मृति संस्कारोंके सदृश उत्पन्न होती है। जैसे संस्कार हों वैसी स्मृति होती है।

संगति—जब वासनाओंके अनुसार ही जन्म होता है और कर्मोंके अनुसार वासनाएँ तो सबसे पहले जन्म देनेवाली वासना कहाँसे आयी? उत्तर—

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥

शब्दार्थ—तासाम् = उन (वासनाओं) को, अनादित्वं च = अनादिता भी है; आशिषः = आशिषके—अपने कल्याणकी इच्छाके; नित्यत्वात् = नित्य होनेसे।

अन्वयार्थ—उन वासनाओंको आशिष (अपने कल्याणकी इच्छा) के नित्य होनेसे अनादित्व भी है।

व्याख्या—आशिष—अपने कल्याणकी इच्छा कि मेरे सुख साधन सदैव बने रहें। उनसे मेरा वियोग कभी न हो। यह इच्छा सर्वप्राणियोंमें सदैव पायी जाती है। यही संकल्प-विशेष सब वासनाओं-का कारण है। इसके सदासे बने रहनेके कारण वासनाओंका सदासे बना रहना है। यह इच्छा

(संकल्पविशेष) प्रवाहसे अनादि है इसलिये वासनाओंका भी प्रवाहसे अनादित्व सिद्ध होता है, इसका कोई आदि नहीं है।

विशेष वक्तव्य—॥ सूत्र १० ॥ इस सूत्रके भाष्यमें भाष्यकारने प्रसङ्गसे चित्तके परिमाणका विशेषताके साथ वर्णन किया है। उसको बतलानेके निमित्त व्यासभाष्य अर्थसहित लिखे देते हैं।

तासां वासनानामाशिषो नित्यत्वादनादित्वम्। येयमात्माशीर्मा न भूवं भूयासमिति सर्वस्य दृश्यते सा न स्वाभाविकी। कस्मात्। जातमात्रस्य जन्तोरननुभूतमरणधर्मकस्य द्वेषदुःखानुस्मृतिनिमित्तो मरणत्रासः कथं भवेत्। न च स्वाभाविकं वस्तु निमित्तमुपादत्ते। तस्मादनादिवासनानुविद्धमिदं चित्तं निमित्तवशात्काश्चिदेव वासनाः प्रतिलभ्य पुरुषस्य भोगायोपावर्तत इति।

(घटप्रासादप्रदीपकल्पं संकोचविकासि चित्तं शरीरपरिमाणाकारमात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः। तथा चान्तराभावः संसारश्च युक्त इति।

वृत्तिरेवास्य विभुनश्चित्तस्य संकोचविकासिनीत्याचार्यः)

तच्च धर्मादिनिमित्तापेक्षम्। निमित्तं च द्विविधम्—बाह्यमाध्यात्मिकं च। शरीरादिसाधनापेक्षं बाह्यं स्तुतिदानाभिवादनादि, चित्तमात्राधीनं श्रद्धाद्याध्यात्मिकम्। तथा चोक्तम्—ये चैते मैत्र्यादयो ध्यायिनां विहारास्ते बाह्यसाधननिरनुग्रहात्मानः प्रकृष्टं धर्ममभिनिर्वर्तयन्ति। तयोर्मानसं बलीयः। कथं ज्ञानवैराग्ये केनातिशय्यते दण्डकारण्यं च चित्तबलव्यतिरेकेण शारीरेण कर्मणा शून्यं कः कर्तुमुत्सहेत समुद्रमगस्त्यवद्वा पिबेत ॥ १० ॥

अर्थ—आशिषके नित्य होनेसे उन वासनाओंका अनादित्व पाया जाता है। 'मा न भुवं भूयासम्' 'ऐसा न हो कि मैं न होऊँ' किंतु 'बना रहूँ' यह आशिष अर्थात् अपने सदा बने रहनेकी प्रार्थना (इच्छा) हर-एक प्राणधारीमें पायी जाती है। यह स्वाभाविक नहीं है; क्योंकि वह जन्तु जो अभी उत्पन्न हुआ है और जिसने इस जन्ममें किसी भी प्रमाणसे मरनेके दुःखको अनुभव नहीं किया है, वह भी दुःख अनुभवसे पीछे होनेवाले स्मृतिके निमित्त मरण-त्राससे द्वेष करता है। स्वाभाविक वस्तु निमित्तके आश्रय नहीं होती इस कारण यह चित्त अनादि वासनाओंसे बँधा हुआ निमित्तके वशसे किसी वासनाको लब्ध करके पुरुषके भोग आयु प्राप्त कराता है।

अर्थात् यद्यपि चित्त अनादि अनेक जन्मोंकी विलक्षण वासनाओंसे अनुविद्ध (युक्त) है तथापि सब वासनाएँ अभिव्यक्त (प्रकट) नहीं होतीं। किंतु जो कर्म फल देनेको उन्मुख हुआ है वही कर्म जिनका व्यञ्जक होता है, वे वासनाएँ उदित होकर पुरुषके भोगमें निमित्त होती हैं, अन्य वासनाएँ दबी रहती हैं। यहाँ प्रसङ्गसे भाष्यकार चित्तके परिमाणके सम्बन्धमें अन्य तथा योगदर्शनके सूत्रकारके विचार बतलाते हैं—

'घटप्रासाद……युक्त इति' = कई एक दर्शनोंका मत है कि जिस प्रकार दीपकका प्रकाश, दीपकको घटमें रखनेसे संकुचित हो जाता है और महलमें रखनेसे विकसित हो जाता है, इसी प्रकार चित्त (मनुष्य, हाथी, चींटी आदि) जिस शरीरमें जाता है उस परिमाण आकार-मात्र हो जाता

है; इसलिये उसकी (सूक्ष्म-शरीरमें रहते हुए) मृत्युके समय 'अन्तराभाव' परलोकगमन अर्थात् एक स्थूल शरीरका छोड़ना और (उसी सूक्ष्म शरीरमें रहते हुए जन्म लेनेके समय) 'संसार' परलोकसे आगमन अर्थात् दूसरे स्थूल शरीरमें प्रवेश करना 'युक्त' सिद्ध होता है।

'वृत्तिरेव·······आचार्य' = आचार्य अर्थात् योगदर्शनके सूत्रकार श्रीपतञ्जलि महाराजका यह सिद्धान्त है कि इस विभु चित्तकी वृत्ति ही सङ्कोच-विकासवाली है (चित्त सङ्कोच-विकासवाला नहीं है; क्योंकि वह विभु है)" "और यह (चित्तका वृत्तिमात्रसे शरीरमात्रमें) सङ्कोच-विकास धर्मादि (धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य) निमित्तकी अपेक्षासे होता है। यह निमित्त दो प्रकारके होते हैं—बाह्य और आध्यात्मिक। शरीर (इन्द्रिय, धन आदि) की अपेक्षा रखनेवाले स्तुति, दान, अभिवादन आदि बाह्य निमित्त हैं। और चित्तमात्रके अधीन अर्थात् चित्तमात्रसे ही होनेवाले श्रद्धा आदि (श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा, वैराग्य आदि) आध्यात्मिक निमित्त हैं। और ऐसा ही पूर्व आचार्य (पञ्चशिखाचार्य) ने कहा है—यह जो योगियोंके मैत्री आदि तथा श्रद्धा आदि विहार (प्रयत्नसाध्य व्यापार) हैं वे बाह्य साधन (शरीर आदि) की अपेक्षासे रहित हैं और अति प्रकृष्ट (अति उत्तमशुक्ल) धर्मको उत्पन्न करते हैं। इन दोनों (बाह्य और आध्यात्मिक साधनों) मेंसे मानस (आध्यात्मिक) बलवान् है; क्योंकि ज्ञान-वैराग्य जो मानव-धर्म हैं, उनसे अधिक प्रबल कोई बाह्य साधन नहीं है। चित्त-बलके विना (केवल) शारीरिक-बलसे कौन दण्डक वनको (खरदूषणादि चौदह हजार राक्षसोंका क्षय करके राक्षसोंसे) शून्य करनेका उत्साह (श्रीरामचन्द्रजीके सदृश) कर सकता है (तथा) कौन अगस्त्य मुनिके समान समुद्रको पी सकता है।"

भाष्यका स्पष्टीकरण—

१ तासाम्·······दृश्यते। आशिषके नित्य होनेसे वासनाओंका तथा जन्मोंका प्रवाहसे नित्य होना सिद्ध किया है।

२ सा न स्वाभाविकी·······मुपादत्ते॥ नास्तिकोंके इस तर्कका कि तत्काल उत्पन्न हुए जन्तुका इष्ट वस्तुओंके देखनेमें हर्ष और अहितकर वस्तुओंके देखनेमें शोक प्रकट करना कमल-पुष्पके खिलने और मुरझानेके सदृश स्वाभाविक है। इस युक्तिसे खण्डन किया है कि कमलका खिलना और मुरझाना भी स्वाभाविक नहीं, किंतु सूर्यकी किरणोंके निमित्तसे है; क्योंकि स्वाभाविक वस्तुएँ सदा एक-सी रहती हैं— जैसे अग्निकी उष्णता। इसी प्रकार तत्काल उत्पन्न हुए बच्चेका हर्ष, शोक स्वाभाविक नहीं किंतु पूर्व जन्मोंमें सुख-दुःखके अनुभवोंकी स्मृति उसका निमित्त है।

३ तस्मादनादि वा·······—इति॥ चित्तका अनादि अनेक जन्मोंकी वासनाओंसे चित्रित होना और पुरुषके भोगका सम्पादन कराना सिद्ध किया है। (यह सिद्धान्त सब दर्शनकारोंको अभिमत है)।

४ घटप्रासाद·······युक्त इति॥ नैयायिकों तथा वैशेषिकोंका मत दिखलाते हैं, न्याय और वैशेषिकने पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुके उन सूक्ष्म परमाणुओंको जिनका कोई विभाग न हो सके और मनको अणु (सूक्ष्म) परिमाण माना है। दिशा, काल, आकाश तथा आत्माको विभु (व्यापक) महत् परिमाण माना है। अणु और विभु दोनों नित्य होते हैं। अनेक परमाणुओंसे मिलकर जो पदार्थ

बनते हैं वे मध्यम परिमाणवाले होते हैं, जैसे पृथ्वी, जल आदि। ये अनित्य हैं; क्योंकि संयोगका विभाग होना आवश्यक है। यह मध्यम परिमाणवाले पदार्थ वास्तवमें न अणु हैं न विभु। परंतु एक दूसरेकी अपेक्षासे परस्पर अणु और महत् भी कहलाते हैं, जैसे पृथ्वीकी अपेक्षासे घट अणु है और घटकी अपेक्षा पृथ्वी महत् परिमाणवाली है (६। ११ वैशेषिक)। इन दोनों दर्शनोंमें चित्तकी संज्ञा मनकी है जिसमें सब जन्मोंके वासनारूप संस्कार रहते हैं। मन दीपकके तुल्य प्रकाशवाला है। जिस प्रकार एक काँचकी चिमनीमें प्रकाशमान ज्योतिका प्रकाश घटमें रखनेसे उसके परिमाणके अनुसार संकुचित और बड़े मकानमें रखनेसे उसके परिमाणके अनुसार विकसित होता है। इसी प्रकार अणु परिमाण मन संकोच विकासवाला है, सूक्ष्म शरीररूपी चिमनीमें प्रकाशमान जब वह किसी छोटे चींटी आदिके स्थूल शरीरमें जाता है तो उसका प्रकाश उसके शरीरके परिमाणके अनुसार संकुचित हो जाता है और जब मनुष्य हाथी आदि जैसे बड़े स्थूल शरीरमें होता है तो उसके परिमाणके अनुसार विकसित हो जाता है।

तदभावादणु मनः (७। १। २३ वैशेषिक)

उसके अर्थात् विभुत्वके अभावसे मन अणु है।

यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु। (३। २। ६३ न्याय)

उक्त हेतु अर्थात् युगपत् ज्ञानके न होनेसे मन अणु है।

यहाँ यह भी जान लेना चाहिये कि इस न्याय और वैशेषिकमें बतलाये हुए मनकी संज्ञा सांख्य और योगमें अहंकार है।

५ *वृत्तिरेवास्य............स्याचार्यः* ॥ इससे भाष्यकारने योगदर्शनके सूत्रकारका सिद्धान्त बतलाया है अर्थात् चित्त धर्मी विभु है, उसमें संकोच-विकास नहीं होता, उसके धर्म-वृत्तियोंमें ही संकोच-विकास होता है। वृत्तियोंका लाभ जन्म है और उनके छिप जानेका नाम मृत्यु है। ये वृत्तियाँ नैयायिकोंके गुण नहीं हैं किंतु द्रव्य हैं।

शङ्का—चित्त प्रधान प्रकृतिका कार्य होनेसे विभु अर्थात् महत् परिमाणवाला नहीं हो सकता। और यह सांख्य तथा योग-सिद्धान्तके विरुद्ध भी है।

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ॥ (१। १२४ सांख्यदर्शन)

कारणवाला अर्थात् कार्य, अनित्य, अव्यापी, क्रियावाला, अनेक आश्रयवाला; ये कार्यके लिङ्ग हैं (जो कारण प्रकृतिको बतलाते हैं)।

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्। सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्। (१० सांख्यकारिका)

कारणवाला, अनित्य, अव्यापी, क्रियावाला, अनेक आश्रित, चिह्न, अवयववाला, पराधीन, व्यक्त होता है और इससे उल्टा अव्यक्त।

समाधान—उपर्युक्त सांख्यसूत्र तथा कारिकामें प्रकृति और विकृतिके लक्षण बताये हैं। सांख्य और योगने अणुत्व और विभुत्वको न्याय और वैशेषिकके (परमाणु आदिकी अपेक्षासे) पारिभाषिक अर्थमें नहीं प्रयोग किया है, किंतु (गुणोंके परिणामकी अपेक्षासे) अव्यक्त और व्यापी अर्थमें प्रयोग किया है।

उन्होंने आठ प्रकृतियाँ, मूलप्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, पाँच तन्मात्राएँ और १६ केवल विकृतियाँ, पाँच स्थूलभूत और मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ मानी हैं। मूलप्रकृति निरपेक्ष प्रकृति है, अन्य सात प्रकृतियाँ सापेक्ष अर्थात् अपनी प्रकृतियोंकी अपेक्षा विकृति और विकृतियोंकी अपेक्षा प्रकृति हैं। प्रत्येक प्रकृति अपनी विकृतिमें व्यापी होनेसे उसकी अपेक्षा विभु है और उसमें अव्यक्त (सूक्ष्म अप्रकट) रूपसे अनुगत रहनेके कारण उसकी अपेक्षा अणु (सूक्ष्म) है। और विकृतिरूपसे अव्यापी और व्यक्त (प्रकट) होती है। इसी प्रकार (मूल प्रकृतिके अतिरिक्त सातों प्रकृतियोंमेंसे) हरेक प्रकृतिके प्रकृति और विकृति होनेकी अपेक्षासे उपर्युक्त लक्षण जानना चाहिये।

मूल प्रकृति अपने प्रकृति रूपसे अव्यक्त तथा गुणोंके साम्य परिणामवाली होनेसे परोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष करने योग्य नहीं है, केवल उसकी व्यक्त विकृतियोंसे और गुणोंके विषम परिणामोंसे उसकी सत्ता अनुमानगम्य है। गुणोंके साम्य परिणामवाली होनेसे पुरुषके भोग अपवर्ग सम्पादनमें भी निष्प्रयोजन है। भाव यह है कि प्रकृति केवल विकृतिरूपसे ही अपनेको व्यक्त कर सकती है, प्रकृतिरूपसे नहीं। मूल प्रकृति केवल प्रकृति है, स्वयं किसीकी विकृति नहीं है। इसलिये अव्यक्त रूपसे प्रत्यक्ष करने योग्य नहीं है, केवल सत्तामात्र अनुमानगम्य और आगमगम्य है। योगीजन जो विवेक-ख्यातिमें तीनों गुणोंके अलग-अलग परिणामोंको साक्षात् करते हैं, उससे गुणोंके साम्य परिणामकी सत्ताका अनुमान करते हैं। अर्थात् महत्तत्त्वके साक्षात्कारसे मूलप्रकृति अनुमेय है। और यदि उस साक्षात्कारको मूल प्रकृति ही मान लिया जाय तो वह व्यक्त होनेसे किसी और अव्यक्त प्रकृतिकी अपेक्षावाली होगी। इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायगा। इसलिये चित्त यद्यपि प्रधान प्रकृतिकी अपेक्षा अव्यापी लिङ्ग और विषम परिणामवाला है, तथापि अन्य सब विकृतियोंकी प्रकृति होनेसे सारी सृष्टिकी अपेक्षा व्यापी अर्थात् विभु है। इसलिये इसकी संज्ञा महत्तत्त्व अर्थात् विभु परिणामवाला तत्त्व की गयी है।

चित्तमें 'अहम्' भाव पैदा करके भिन्नता करनेवाली महत्तत्त्वकी विकृति अहंकार है। सांख्य तथा योगकी परिभाषामें प्रकृति उपादान कारण और धर्मी तथा विकृति कार्य, धर्म, परिणाम और वृत्ति एकार्थक शब्द हैं। इसलिये वृत्ति शब्द चित्तके धर्म अहंकारके लिये प्रयुक्त हुआ है, अर्थात् विभु चित्तका संकोच-विकास उसके धर्म अहंकाररूपसे होता है। इसी कारण सांख्यने अहंकारमें ही कर्तापन बतलाया है। यथा 'अहंकारः कर्ता न पुरुषः' इस सम्बन्धमें अगले सूत्रोंमें विशेष व्याख्या की जायगी।

शङ्का—मन न अणु है न विभु है, किंतु मध्यम परिमाणवाला है। जैसे—

न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा ॥ सक्रियत्वाद् गतिश्रुतेः ॥

(५ । ६९—५ । ७० सां० द०)

मनको व्यापकता नहीं है करण होनेसे, इन्द्रिय होनेसे, क्रियावाला होनेसे, और (परलोकमें) गति सुननेसे इससे मनके विभु होनेका खण्डन है।

न निर्भागत्वं तद्योगाद्घटवत् ॥ (५ । ७१ सां० द०)

वह निरवयव भी नहीं है, क्योंकि उसका घटके समान योग है। इससे अणु होनेका खण्डन किया है।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ॥ (मुण्डक० २ । १ । ३)

इस (परमात्मा) से प्राण, मन और सारी इन्द्रियाँ उत्पन्न होते हैं। इससे चित्तका मध्यम परिमाण होना सिद्ध है।

समाधान—सांख्यने आठ प्रकृतियाँ और १६ विकृतियाँ मानी हैं जैसा ऊपर बतला आये हैं। यहाँ 'मन' शब्दका 'महत्तत्त्व' प्रकृतिके लिये नहीं प्रयोग हुआ किंतु सोलह विकृतियोंमें जो ग्यारह इन्द्रियाँ हैं, उस मन इन्द्रियके लिये (५, ६९, ७१, ७१ सांख्यदर्शन) प्रयोग हुआ है। वह केवल विकृति होनेसे न विभु है, न अणु है; किंतु मध्यम परिमाणवाला है और (मुण्डक उप० २। १। ३) में पुरुषके शुद्ध स्वरूप अर्थात् परब्रह्मको अक्षर, अव्यक्त, प्रकृतिसे परे तथा सब कार्य-जगत्का निमित्त कारण बतलाया है। प्राण, मन, इन्द्रियादिमें परस्पर भिन्नता अथवा उपादान कार्य-भाव नहीं बतलाया गया है।

श्रुतिमें मनको चित्त अर्थमें विभु ही बतलाया है। जैसे—

अनन्तं वै मनः (बृ० उप०)

चित्त अनन्त (विभु) है।

सारांश—'वृत्तिरेवास्य विभुनश्चित्तस्य संकोचविकासिनी' का थोड़े-से शब्दोंमें इस प्रकार स्पष्टीकरण समझ लेना चाहिये कि वृत्ति, परिणाम, धर्म और विकृति तथा प्रकृति, उपादान कारण और धर्मी एकार्थक शब्द हैं। प्रकृति अपनी विकृतिकी अपेक्षा विभु अर्थात् व्यापक होती है। इसलिये पाँचों तन्मात्राएँ तथा ११ इन्द्रियाँ विभु अहंकारकी वृत्तिरूप हैं। और अहंकार भी विभु चित्तका वृत्तिरूप ही है।

संगति—जब वासनाएँ अनादि हैं तो उनका अभाव भी नहीं हो सकता और उनके अभाव न होनेसे मुक्ति असम्भव है। उत्तर—

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—हेतु-फल-आश्रय-आलम्बनैः = हेतु, फल, आश्रय और आलम्बनसे (वासनाओंका); संगृहीतत्वात् = संगृहीत होनेसे; एषाम् = इनके (हेतु, फल, आश्रय और आलम्बनके); अभावे = अभावमें; तद्-अभावः = उनका (वासनाओंका) अभाव होता है।

अन्वयार्थ—हेतु, फल, आश्रय और आलम्बनसे वासनाओंके संगृहीत होनेसे इनके (हेतु, फल, आश्रय और आलम्बनके) अभावसे उन (वासनाओं) का अभाव होता है।

व्याख्या—१ वासनाओंका हेतु-अविद्या आदि क्लेश, शुक्ल, कृष्ण तथा दोनों मिश्रित सकाम कर्म हैं।

२ वासनाओंका फल—जाति, आयु और भोग है।

३ वासनाओंका आश्रय—अधिकारसहित चित्त है।

४ वासनाओंका आलम्बन—इन्द्रियोंके विषय हैं।

यद्यपि वासनाएँ अनादि हैं और अनन्त हैं तथापि वे सब इन्हीं हेतु-फल-आश्रय और आलम्बनके सहारे रहती हैं। इनकी स्थितिमें वासनाओंकी उत्पत्ति होती है और अभावमें नाश। विवेक-ख्यातिद्वारा तत्त्वज्ञानसे अविद्या आदि क्लेशोंका उनके फल आश्रय और आलम्बनसहित अभाव हो जाता है, उनके नाश होनेपर वासनाओंका भी अभाव हो जाता है।

व्यासभाष्यका भाषानुवाद ॥ सूत्र ११ ॥

हेतु आदिके उदाहरण ये हैं । यथा—धर्मसे सुख, अधर्मसे दुःख, सुखमें राग और दुःखमें द्वेष होता है । इन राग और द्वेषसे प्रयत्न होता है । उस प्रयत्नसे मन, वाणी और शरीरसे चेष्टा करता हुआ किसीपर अनुग्रह करता है और किसीकी हानि । ऐसा करनेसे फिर धर्म-अधर्म, सुख-दुःख, राग-द्वेष होते हैं । इस प्रकार यह छः अरोंवाला संसार-चक्र चलता है । इस प्रतिक्षण घूमते हुए चक्रको चलानेवाली अविद्या है । वही सब क्लेशोंका मूल होनेसे अनन्त-अनादि वासनाओंका हेतु (कारण) है । जिसके आश्रय होकर जो उत्पन्न होता है वह उसका फल है तथा धर्म-अधर्मके सुख-दुःख भोग फल हैं । अधिकारसंयुक्त चित्त वासनाओंका आश्रय है, क्योंकि जिस चित्तकी फलभोगरूप सामर्थ्य समाप्त हो गयी है उसमें ये वासनाएँ निराश्रय होकर नहीं ठहर सकतीं । जिसके सम्मुख होनेसे जो वासना प्रकट होती है वही उसका आलम्बन है (वे रूप, रस आदि इन्द्रियके विषय हैं) । इस प्रकार सब वासनाएँ हेतु, फल, आश्रय और आलम्बनसे संगृहीत हैं (इसलिये यद्यपि ये वासनाएँ अनादि और अनन्त हैं तथापि) इन हेतु आदि चारोंके अभाव होनेपर उनके आश्रय रहनेवाली वासनाओंका अभाव हो जाता है।

भोजवृत्ति भाषानुवाद ॥ सूत्र ११ ॥

उन वासनाओंके अनन्त होनेसे उनका नाश कैसे होता है ? इस आशङ्काको करके नाशका उपाय कहते हैं—

वासनाओंका समीपवर्ती (वर्तमान) ज्ञान कारण है । उस सुखदुःखादिके ज्ञानके राग-द्वेषादि कारण हैं । उन राग-द्वेषादिकोंका कारण अविद्या है । इस प्रकार वासनाओंका कारण साक्षात् अथवा परम्परा-से अविद्या है । वासनाओंके फल शरीरादि और स्मृत्यादि हैं । वासनाओंका स्थान चित्त है । जो ज्ञानका विषय है, वही वासनाओं (संस्कारोंका) का विषय है । इससे उन हेत्वादिकोंसे अनेक वासनाओंका भी संग्रह व्यापन हो रहा है अर्थात् अनेक वासनाएँ व्याप्त हैं । जब वासनाओंके हेत्वादिकोंका नाश हो जाय अर्थात् ज्ञान और योगसे उन हेत्वादिकोंको जले हुए बीजके बराबर कर दिया जाय तो जड़के न रहनेसे वासनाएँ नहीं उगतीं अर्थात् शरीरादिको नहीं आरम्भ करतीं । इस प्रकार अनन्त वासनाओंका नाश हो जाता है ।

सङ्गति—अभावका कभी भाव नहीं होता और भावका कभी अभाव (नाश) नहीं होता । इस कारण वासनाओंका और उनके हेतु, अविद्या आदि क्लेशोंका जो भावरूप हैं अभाव कैसे सम्भव है ? उत्तर—

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—अतीत-अनागतम् = भूत और भविष्यत्; स्वरूपतः-अस्ति = स्वरूपसे रहते हैं क्योंकि; अध्व-भेदात् = कालसे भेद होता है; धर्माणाम् = धर्मोंका ।

अन्वयार्थ—अतीत और अनागत स्वरूपसे रहते हैं, क्योंकि धर्मोंका कालसे भेद होता है ।

व्याख्या—वासनाएँ और उनके हेतु आदिका अभाव कहनेसे यह अभिप्राय नहीं है कि उनका अत्यन्ताभाव हो जाता है । अभिप्राय यह है कि वे वर्तमान अवस्थाको छोड़कर भूत अवस्थामें चले जाते हैं । जितने धर्म हैं वे सदा धर्मीमें बने रहते हैं । जबतक भविष्यत् अवस्थामें रहते हैं तबतक वे अपना कार्य प्रकट नहीं करते हैं । केवल वर्तमान अवस्थामें अपना कार्य दिखाते हैं । फिर जब वे अपना

कार्य बंद कर देते हैं तो वर्तमान अवस्थासे भूत अवस्थामें चले जाते हैं। इसका विस्तारपूर्वक वर्णन ३ । ९ वें सूत्रकी संगतिमें तथा ३ । १३ वें सूत्रकी व्याख्यामें कर दिया है ।

विशेष वक्तव्य—॥ सूत्र १२ ॥ नैयायिकों तथा वैशेषिकोंने अभावको भी एक अलग पदार्थ निरूपण करके पाँच प्रकारका माना है ।

१ *प्रागभाव*—उत्पत्तिसे पहले अभाव, जैसे घटकी उत्पत्तिसे पहले घटका अभाव होता है ।

२ *प्रध्वंसाभाव*—विद्यमान वस्तुका अभाव, जैसे घटका मुद्गर आदिके प्रहारसे टूट जाना ।

३ *अन्योन्याभाव*—एक दूसरेमें भेदरूप अभाव—जैसे घटका वस्त्रमें अभाव और वस्त्रका घटमें अभाव है ।

४ *अत्यन्ताभाव*—जो न उत्पन्न हुआ हो और न उत्पन्न हो सके, जैसे वन्ध्याका पुत्र ।

५ *सामयिकाभाव*—जो समय-समयपर उत्पन्न होकर नाशको प्राप्त हो । जैसे घटके एक स्थानसे दूसरे स्थानपर चले जानेसे उसका अभाव ।

वेदान्त, योग और सांख्यका सिद्धान्त सत्कार्यवाद है । इसके यह अर्थ हैं कि कोई भी कार्य पैदा नहीं होता है किन्तु कार्यकी अभिव्यक्ति होती है । कारणमें कार्य पहले ही विद्यमान होता है । केवल संस्थानादि विशेषसे उसका आविर्भाव होता है । जैसे गीतामें बतलाया गया है—'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' असत् वस्तुका 'भाव' उत्पत्ति नहीं होती और सत् वस्तुका 'अभाव' नाश नहीं होता अर्थात् कार्य सत है, अपनी सत्ता रखता है, उसका न कभी अभाव था न आगे होगा । कार्य-कारण और धर्म-धर्मी पर्यायवाचक हैं, कार्य (धर्म) सदा अपने कारण (धर्मी) में सत्-भावसे अपने स्वरूपसे बना रहता है । भेद केवल इतना ही है कि वर्तमान कालमें व्यक्त, स्थूल प्रकटरूपसे और भविष्यत् तथा भूतकालमें अव्यक्त (सूक्ष्म—अप्रकट) रूपसे रहता है । जिसकी अभिव्यक्ति आगे होनेवाली है वह अनागत (भविष्य), जिसकी अभिव्यक्ति पीछे हो चुकी वह अतीत (भूत) और जो व्यापारमें उपारूढ़ हुआ अभिव्यक्त हो रहा है वह उदित (वर्तमान) रूपसे रहता है । इसी कारण योगीको त्रैकालिक पदार्थ-विषयक योगज ज्ञान हो सकता है ।

इसलिये उपर्युक्त पाँचों अभावोंमेंसे (३) 'अन्योन्याभाव' में वस्त्रमें घटका पहलेसे अभाव था । उस अभावसे ही अभाव घटकी उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार (४) 'अत्यन्त अभाव' में वन्ध्याके पुत्रका पहलेसे अभाव था उस अभावसे ही अभावकी उत्पत्ति होती है । (५) 'सामयिक अभाव' में घटके एक स्थानसे दूसरे स्थानमें जानेमें उसका नाश नहीं होता है; क्योंकि वह दूसरे स्थानपर अपने स्वरूपसे विद्यमान है इसलिये भावसे अभाव नहीं होता । (१) 'प्रागभाव' उत्पत्तिसे पूर्व अनागत कालमें घट अपने कारण (धर्मी) मिट्टीमें अव्यक्त (सूक्ष्म) रूपसे विद्यमान था, इसलिये अभावसे भावकी उत्पत्ति नहीं हुई । (२) 'प्रध्वंसाभाव' में घटके टूटनेसे वह अपने वर्तमान मार्गको छोड़कर अपने कारण (धर्मी) मिट्टीमें अव्यक्त (सूक्ष्म) रूपसे छिप गया, इसलिये भावसे अभाव नहीं हुआ । इसी प्रकार वासनाओंका नाश नहीं होता; किंतु वे भूतावस्थामें (अव्यक्त) हो जाती हैं अर्थात् छिप जाती हैं । और अपना कार्य जाति, आयु और भोग आगेके लिये बंद कर देती हैं ।

टिप्पणी—भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र १२ ॥

शङ्का यह है कि चित्तमें रहनेवाली वासनाएँ और वासनाओंके स्मृत्यादिरूप फल कार्य-कारण भावसे एक कालमें नहीं होते, इससे वासनाओंका और उनके फलोंका भेद है, तो कैसे माना जाय कि चित्तरूपी धर्मी, अपने धर्मोंके साथ एकरूप हैं ? इस शंकाका उत्तर देते हुए धर्म-धर्मीकी एकरूपताका प्रतिपादन करते हैं—

इस दर्शनमें सर्वथा न रहनेवाली वस्तुओंकी उत्पत्ति युक्तियुक्त नहीं समझी जाती, क्योंकि सत् और असत् पदार्थोंका मेल हो ही नहीं सकता। शश-शृङ्गादि (खरगोशके सींग आदि) जो सर्वथा असत् हैं, उनका किसी सद्वस्तुके साथ सम्बन्ध नहीं देखा गया है। यदि कार्यको निरुपाख्य (असत्, तुच्छ) माना जाय तो किसको उद्देश्य करके कारण प्रवृत्त होते हैं, जो वस्तु नहीं है उसको समझकर कोई भी प्रवृत्त नहीं होता। सद्वस्तुओंका असद्वस्तुओंके साथ विरोध है। इसलिये सत् और असत्का कोई सम्बन्ध नहीं और जो वस्तु अपने स्वरूप अनागतादिको लाभ किये हुए है, वह क्योंकर निरुपाख्य और अभावरूप हो सकती है। स्वरूपको प्राप्त हुई वस्तु अपने विरुद्ध रूपको नहीं ग्रहण करती, इससे जो चीज है उसका नाश नहीं हो सकता और जो चीज नहीं है उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती तो उन-उन धर्मसे बदलनेवाला (धर्मी) चित्तादि सदा एकरूप ही रहता है। उसमें तीनों कालोंमें रहनेवाले धर्म अधिक रूपसे रहते हैं। वे धर्म अपने कालमें स्थित हुए स्वरूपको नहीं छोड़ते और जब केवल वर्तमान कालमें रहते हैं तो भोगके योग्य बन जाते हैं। इससे धर्मोंका ही भूत, भविष्यत् आदि रूपसे काल (मार्ग) भेद है। उस रूपसे ही कार्य-कारण भाव इस दर्शनमें माना जाता है, इससे मोक्षपर्यन्त एक ही चित्त धर्मी रूपमें बना रहता है जिसको मोक्षतक अलग नहीं कर सकते।

सङ्गति—धर्मोंका स्वरूप बताते हैं—

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—ते = वे (धर्म); व्यक्तसूक्ष्माः = प्रकट और सूक्ष्म; गुणात्मानः = गुणस्वरूप हैं।

अन्वयार्थ—वे धर्म प्रकट और सूक्ष्म गुणस्वरूप हैं।

व्याख्या—सब धर्म तीनों मार्गोंवाले हैं। वर्तमान मार्गमें व्यक्त (स्थूल) अर्थात् प्रकट होनेवाले होते हैं, और अतीत तथा अनागत मार्गमें अव्यक्त = सूक्ष्म अर्थात् छिपे रहते हैं। ये सारे धर्म महत्तत्त्वसे लेकर स्थूलभूतों-पर्यन्त तीनों गुणोंके ही परिणामविशेष हैं। वास्तवमें देखा जाय तो सब पदार्थ महत्तत्त्वसे लेकर भूत-भौतिकतक गुणोंका संनिवेश (तरकीब) मात्र होनेसे गुणस्वरूप ही हैं। अर्थात् पृथ्वी आदि पाँचों स्थूलभूत पञ्चतन्मात्रा-स्वरूप हैं। पञ्चतन्मात्रा तथा एकादश इन्द्रियाँ अहंकार-स्वरूप हैं। अहंकार महत्तत्त्व स्वरूप है। महत्तत्त्व प्रधान (मूलप्रकृति) स्वरूप है और प्रधान गुण-त्रय-स्वरूप है। इस प्रकार परम्परासे यह सारा प्रपञ्च गुणस्वरूप ही है। यद्यपि गुणोंका असली स्वरूप हमारी दृष्टि-गोचर नहीं होता, जैसा कि भगवान् वार्षगण्यका वचन है—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्॥

गुणोंका असली रूप दिखायी नहीं देता, और जो दृष्टिगोचर होता है वह माया-सा है और विनाशी है।

अर्थात् कारणरूप गुण देखनेमें नहीं आते हैं और जो दीखते हैं, वे माया अथवा इन्द्रजालकी तरह तुच्छ हैं। भाव यह है कि यह सब कार्य गुणत्रयात्मक रूप अपने कारण प्रधान स्वरूप ही हैं।

संगति—जब तीनों गुण ही सम्पूर्ण पदार्थोंके कारण हैं तो पदार्थोंको अलग-अलग धर्मीरूप कैसे कह सकते हैं? उत्तर—

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—परिणाम-एकत्वात् = परिणामके एक होनेसे; वस्तु-तत्त्वम् = वस्तुकी एकता होती है।

अन्वयार्थ—परिणामके एक होनेसे वस्तुकी एकता होती है।

व्याख्या—यह ठीक है कि तीनों गुण ही सब पदार्थोंके कारण हैं, पर वे अपने प्रकाश, क्रिया, स्थिति, स्वभावसे अङ्ग-अङ्गीभावसे गति कर रहे हैं। कहीं सत्त्वगुण अङ्गी है अर्थात् प्रधान है और रज, तम उसके अङ्ग अर्थात् गौण हैं। इसी प्रकार कहीं रज अङ्गी है और कहीं तम अङ्गी है और शेष गुण उसके अङ्ग हैं। इस कारण उनकी परिणामकी एकतासे वस्तु एक ही कही जाती है। इन गुणोंके अङ्ग-अङ्गीभावमें भी नाना प्रकारके भेद होते हैं। इस कारण उनके परिणाम भी भिन्न-भिन्न होते हैं। परिणामकी भिन्नतासे वस्तुएँ भिन्न-भिन्न धर्मोंवाली होती हैं—जैसे यह महत्तत्त्व है, यह अहङ्कार है, यह इन्द्रियाँ हैं, यह पृथ्वी है इत्यादि।

विशेष वक्तव्य ॥ सूत्र १४ ॥

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥

(सांख्यकारिका १३)

सत्त्व हलका और प्रकाशक माना गया है, रजस् उत्तेजक और चल और तम भारी और रोकनेवाला है और दीपकसदृश एक उद्देश्य (पुरुषके भोग अपवर्ग) से इनकी वृत्ति (काम) है।

१ सत्त्व, रजस् और तमस्का साम्य परिणाम 'प्रधान' मूल प्रकृति है।

२ सत्त्वमें रजस्, तमस्का लिंगमात्र विषम परिणाम महत्तत्त्व है।

३ सत्त्व महत्तत्त्वमें अहम् वृत्तिसे भेद उत्पन्न करनेवाला रजस्-तमस्का किञ्चित् अधिक विषम-परिणाम अहंकार है।

४ अहंकारके सत्त्वप्रधान अंशमें रजस्-तमस्का विषम-परिणाम ग्यारह इन्द्रियाँ हैं। इसमें भी सत्त्वप्रधान अंशसे मन, रजःप्रधान अंशसे ज्ञानेन्द्रियाँ और तमःप्रधान अंशसे कर्मेन्द्रियाँ—इन इन्द्रियोंमें भी परस्पर भेद करनेवाली गुणोंकी न्यूनाधिकता है।

५ अहङ्कारके तमः प्रधान अंशमें रजस्-तमस्का परिणाम पाँचों तन्मात्राएँ हैं। इन पाँचोंमें भी गुणोंकी न्यून-अधिकता परस्पर भेदक है।

६ इन तन्मात्राओंमें भी रजस्-तमस्के न्यून-अधिक विषम-परिणाम रूप पाँचों स्थूल भूत परस्पर भेदवाले हैं।

इन पाँचों स्थूल भूतोंके धर्म सब भौतिक पदार्थ सत्त्वगुणकी प्रधानतामें प्रकाशवाले, हलके, सुख देनेवाले, रजस्की प्रधानतामें उत्तेजक, प्रवृत्त करानेवाले और दुःख देनेवाले तथा तमस्की प्रधानतामें भारी, रोकनेवाले और प्रमाद तथा मोह उत्पन्न करनेवाले होते हैं। इसलिये यद्यपि गुण तीन हैं, तथापि जैसे बत्ती, तेल और अग्नि मिलकर एक दूसरेको सहायता देते हुए प्रकाशका काम देते हैं; इसी प्रकार तीनों गुण मिलकर पुरुषके उपयोग अलग-अलग वस्तुओंको भिन्न-भिन्न रूपमें उत्पन्न करते हैं।

संगति—शंका—जिस प्रकार स्वप्नमें चित्तके अतिरिक्त और कोई वस्तु भावरूपसे नहीं होती है, उसीसे सब कल्पित होते हैं। इसी प्रकार जाग्रत् अवस्थामें भी चित्तसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। सब चित्तकी ही रची हुई हैं। चित्त अनादि वासनाओंसे चित्रित है। इस कारण उसको अपनी-अपनी वासनाओंके अनुसार भिन्न-भिन्न वस्तुएँ प्रतीत होती हैं। वास्तवमें चित्तसे भिन्न कोई बाहर वस्तु नहीं है।

समाधान—

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—वस्तु-साम्ये = वस्तुके एक होनेपर (भी); चित्त-भेदात् = चित्तके भेदसे; तयोः-विभक्तः पन्थाः = उन दोनोंका (चित्त और वस्तुका) अलग-अलग मार्ग है।

अन्वयार्थ—वस्तुके एक होनेपर भी चित्तके भेदसे उन दोनों (चित्त और वस्तु) का अलग-अलग मार्ग है।

व्याख्या—प्रत्येक वस्तु अपने-अपने स्वरूपमें ही स्थिर है और बहुत-से चित्तोंका विषय बन सकती है। पर वह न एक चित्तकी कल्पना की हुई होती है, न अनेक चित्तोंकी। क्योंकि एक ही वस्तुको देखकर चित्तके अवस्था-भेदसे किसीको सुख होता है, किसीको दुःख; किसीको मोह और किसीको उदासीनता। यदि चित्तसे भिन्न वह वस्तु न होती तो इतने चित्तोंका विषय न बन सकती। फिर वही वस्तु अनेक चित्तोंको नाना प्रकारके भावोंसे प्रतीत हो रही है। इस कारण वस्तुएँ चित्तकी कल्पनासे नहीं होती हैं; बल्कि चित्तसे भिन्न और उससे बाहर अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखती हैं।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र १५ ॥

यदि कोई शंका करे कि ज्ञानसे भिन्न घटादि पदार्थ हों, तो एक अथवा अनेक वस्तु कहना चाहिये। जब कि एक विज्ञान (चित्त) ही संस्कारवशसे कार्य-कारण-भावको प्राप्त हुआ घटपटादिरूपसे भासता है तो यह कैसे कह सकते हैं कि एक अथवा अनेक वस्तु हैं? इसका उत्तर देते हैं—

ज्ञान और ज्ञेय (जानने योग्य पदार्थ घटादि) का भिन्न मार्ग है अर्थात् ये दोनों भिन्न ही हैं। क्योंकि एक वस्तुमें चित्तों (विज्ञानों) का भेद रहता है। अर्थात् स्त्री आदि एक पदार्थके मिलनेपर स्त्रीकी सुन्दरतामें अनेक देखनेवालोंके चित्तकी भिन्नता सुख-दुःख-मोहरूपसे प्रतीत होती है। जैसे एक सुन्दर रूपवाली स्त्री मिल जाय तो कामीका चित्त सुखी होता है। उस स्त्रीकी सपत्नी (सौत) का चित्त उससे दुखी होता है। और संन्यासीका चित्त उससे उदासीनता अर्थात् उपेक्षा करता है। जब एक ही वस्तुमें अनेक प्रकारकी चित्तवृत्तियाँ होती हैं तो स्त्री आदि चित्तके कार्य नहीं हैं। यदि एक चित्तके ही कार्य हों तो, एक ही रूपसे ज्ञान हो। और दूसरी बात यह है कि यदि वस्तुको चित्तका कार्य माना जाय तो जिस पुरुषके चित्तका कार्य, वह वस्तु है उसके चित्तके दूसरी वस्तुमें लग जानेपर, वह वस्तु कोई वस्तु

ही न रहे ? यदि कहो कि वह वस्तु नहीं रहती, तो अन्य पुरुषोंको वह कैसे मालूम होती है ? प्रतीत होनेसे, वस्तु चित्तका कार्य नहीं है। यदि यह माना जाय कि बहुत-से चित्त मिलकर एक वस्तुको उत्पन्न करते हैं तो बहुतोंकी बनायी हुई चीजोंसे एक चित्तकी बनायी हुई चीज विलक्षण होनी चाहिये। यदि विलक्षण नहीं मानते तो कारणोंसे भिन्न-भिन्न होनेपर भी कार्यका भेद न रहनेसे जगत्को बिना कारणके अथवा एकरूप मानना होगा। बात यह है कि यदि कारणोंके भिन्न होनेपर भी कार्य भिन्न-भिन्न न माने जायँ, तो सब जगत् जो कि अनेक कारणोंसे उत्पन्न हुआ है वह एकाकार होना चाहिये। अथवा कारण विशेषका सम्बन्ध न रहनेसे स्वतन्त्रतासे कारणशून्य होना चाहिये।

शंका—यदि एक चित्त (विज्ञानात्मक) से अनेक वस्तु नहीं होती (तो) तुम्हारे मतमें एक त्रिगुणात्मक चित्तसे एक ही पुरुषको सुख-दुःख मोहरूप अनेक ज्ञान कैसे हो जाते हैं ? अर्थात् जैसे तुम्हारे मतमें एक चित्त अनेकरूपसे परिणत होता है, वैसे हमारे मतमें विज्ञान भी अनेक कार्य-कारण-भावसे अवस्थित है।

उत्तर—हमारे मतमें त्रिगुण यथार्थ हैं। जब चित्तसे अर्थ (घटादि) ज्ञान होता है तो धर्माधर्मसहकारी (साथ रहनेवाले) कारण होते हैं। उन धर्मादिकोंके प्रकाश और तिरोभावसे चित्तका तत्तद्रूपसे प्रकाश होता है। जैसे कामेच्छु पतिके पास स्त्री हो तो धर्म-सहकारी चित्त सत्त्वप्रधान होकर सुखमय परिणत होता है। और अधर्मके साथ रहनेसे सौतका रजःप्रधान चित्त दुःखरूपसे परिणत होता है। अधिक अधर्मका सम्बन्ध होनेसे क्रुद्ध सौतका तमःप्रधान चित्त मोहमय (अज्ञानमय) होता है। इससे सिद्ध हुआ कि विज्ञान (चित्त) से भिन्न बाह्य ग्राह्य अर्थ होता है। तो विज्ञान (चित्त) और अर्थके स्वरूपका भेद होनेसे कार्य-कारणभाव (विज्ञान और अर्थका) नहीं है। कारणके भेद न होनेसे भी यदि कार्यभेद माना जाय तो दण्डसे भीति आदि भी होने चाहिये। इससे अर्थका ज्ञानसे भेद ही है।

विशेष वक्तव्य ॥ सूत्र १५ ॥ बुद्धि, चित्त, विज्ञान ये एकार्थक हैं।

यहाँ उन क्षणिक विज्ञानवादियोंको शंकाओंका समाधान किया गया है जो क्षणिक विज्ञानसे अतिरिक्त वस्तुकी सत्ताको अनुमानद्वारा नहीं मानते। उनका अनुमान है कि जो ज्ञेय है वह विज्ञानसे भिन्न नहीं है; क्योंकि विज्ञानसे भिन्न दशामें उसकी उपलब्धि (विषयका ज्ञान) नहीं होती। जैसे विज्ञानसे विज्ञान अभिन्न है वैसे ही घटादि ज्ञेय भी विज्ञानसे अभिन्न हैं। उनकी शंकाका समाधान इस प्रकार किया गया है कि वस्तु एक होनेपर भी चित्त (विज्ञान) का भेद दिखलायी देता है, जैसे स्त्रीरूप वस्तु एक दशामें बनी रहती है किन्तु उसको देखकर पतिको सुख, सपत्नीको दुःख, कामीको मोह और निष्काम संन्यासीको उसमें उपेक्षा विज्ञान होता है। इस प्रकार विज्ञान (चित्तवृत्ति) चार हैं किन्तु वस्तु एक ही बनी रहती है। जो एक है वह अनेकोंसे भिन्न है। जैसे एक नीलका ज्ञान अनेक पीतादि ज्ञानोंसे भिन्न है वैसे ही एक स्त्रीरूप वस्तु अपने अनेकों विज्ञानोंसे भिन्न है। इसलिये ज्ञान और ज्ञेय एक नहीं हो सकते। ज्ञान विषयी है और ज्ञेय विषय है।

एक प्रकृतिरूप वस्तुसे चित्त अनेक प्रकारका क्यों होता है ? इसका उत्तर यह है कि चित्त और घटादि पदार्थ दोनों त्रिगुणात्मक हैं। जबतक चित्तमें धर्म, अधर्म, अविद्याका सम्बन्ध रहता है तबतक सत्त्व, रजस् और तमस्की क्रमशः अधिकता होनेसे सुख, दुःख और मोह हुआ करते हैं। तत्त्वज्ञान

होनेसे उन त्रिगुणात्मक वस्तुओंमें उपेक्षा हो जाती है। इसलिये अर्थ विज्ञानसे भिन्न है। इसीसे ही जगत् मिथ्यावाद, जगत् स्वप्नवाद, दृष्टि-सृष्टिवाद (ज्ञानके साथ ही वस्तुका होना) के भ्रमोंका समाधान समझना चाहिये।

सङ्गति—*शङ्का*—वस्तुकी सत्ता सत्त्वचित्तोंके ही अधीन ठहरती है; क्योंकि भिन्न भिन्न चित्तको एक ही वस्तु उनके भावके अनुसार ही भिन्न-भिन्नरूपसे प्रतीत होती है।

समाधान—

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—न-च = नहीं और; एक-चित्त-तन्त्रम् = एक चित्तके अधीन है; वस्तु = वस्तु; तत् = वह (वस्तु); अप्रमाणकम् = विना प्रमाणके अर्थात् विना चित्तके; तदा = उस समय; किं-स्यात् = क्या होगी।

अन्वयार्थ—ग्राह्य-वस्तु एक चित्तके अधीन नहीं है; क्योंकि वह (वस्तु) विना प्रमाण (चित्त) के उस समय क्या होगी?

व्याख्या—यदि एक चित्तके ही अधीन वस्तुको माना जाय तो जब वह चित्त किसी दूसरे विषयमें लगा हो तो अथवा निरुद्ध हो गया हो तो उस समय उसका अभाव होना चाहिये। लेकिन हम देखते हैं कि वह विद्यमान रहती है। इसको स्पष्ट रूपसे यों समझो कि शरीरका जो भाग पीठ या हाथ आदि जिस समय दिखलायी न दे तो उसको उस समय चित्तका विषय न होनेसे अविद्यमान नहीं कह सकते। इस कारण वस्तुकी सत्ता स्वतन्त्र है, चित्तके अधीन नहीं।

व्यासभाष्यका भाषानुवाद ॥ १६ ॥

यदि वस्तु एक चित्त (विज्ञान) के ही अधीन हो अर्थात् ज्ञानके साथ ही वह वस्तु उत्पन्न हो तो चित्तके अन्य विषयमें लगनेपर अथवा निरुद्ध होने (रुकने) पर वह वस्तु अप्रमाणक हो जाय अर्थात् उसके स्वरूपका ग्रहण करनेवाला कोई न रहे, ऐसी होगी तो फिर वह होगी ही क्या? क्योंकि वह दूसरेका विषय नहीं बनी और एक चित्तसे उसके स्वरूपका सम्बन्ध नहीं अथवा चित्तके साथ सम्बद्ध हुई भी वह वस्तु कहाँसे उत्पन्न होगी! और जो इसके अनुपस्थित भाग हैं वे भी न होंगे और पीठके न ग्रहण होनेसे पेट भी ग्रहण न किया जायगा। इससे अर्थ (वस्तु) स्वतन्त्र है और सब पुरुषोंके लिये साधारण है, और चित्त (विज्ञान) भी प्रत्येक पुरुषमें स्वतन्त्र है। उन वस्तु और चित्त (विज्ञान) के सम्बन्धसे जो उपलब्धि है वह पुरुषका भोग है।

सङ्गति—*शङ्का*—यदि वस्तुकी सत्ता स्वतन्त्र होती तो वह सदा चित्तको ज्ञात रहती, लेकिन कभी ज्ञात होती है, कभी नहीं। यह बात सिद्ध करती है कि वह चित्तके अधीन है।

समाधान—

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—तद्-उपराग-अपेक्षित्वात् = उस पदार्थके उपराग (विषयका चित्तमें प्रतिबिम्ब पड़ना) की अपेक्षावाला होनेसे, चित्तस्य = चित्तको; वस्तु = वस्तु; ज्ञात-अज्ञातम् = ज्ञात और अज्ञात होती है।

अन्वयार्थ—चित्तको वस्तुके जाननेमें उसके उपराग (विषयका चित्तमें प्रतिबिम्ब पड़ना) की अपेक्षा होती है इसलिये उसको (चित्तको) वस्तु ज्ञात और अज्ञात होती है।

व्याख्या—उपराग = इन्द्रिय-सन्निकर्षद्वारा जो विषयका चित्तमें प्रतिबिम्ब पड़ता है उसको उपराग कहते हैं। विषय अयस्कान्त-मणि (चुम्बक पत्थर) के समान है और चित्त लोहेके समान है। विषय इन्द्रिय-सन्निकर्षद्वारा अपनी ओर आकर्षित कर अपने आकारसे चित्तको चित्रित कर देता है। इस प्रकार जिस विषयसे चित्त उपरक्त होता है अर्थात् जिस विषयका चित्तमें प्रतिबिम्ब पड़ता है वह विषय उसे ज्ञात होता है। वस्तुके ज्ञात-अज्ञात-स्वरूप होनेसे चित्त परिणामी है न कि वस्तुको स्वयं उत्पन्न करनेवाला।

यहाँ यह भी बतला देना उचित प्रतीत होता है कि जब इन्द्रियद्वारा चित्तके साथ जिस वस्तुका सम्बन्ध होता है अर्थात् जब जैसा विषयाकार चित्त होता है तब उसमें चेतन प्रतिबिम्बरूप स्फुरण होता है (यह स्फुरण या उपलब्धि वृत्तिसे भिन्न है) तो उसी वस्तुको अथवा चित्तवृत्तिको अपने प्रतिबिम्ब-द्वारा पुरुष जानता है, अन्य वस्तुको नहीं। घटादिके सम्बन्धसे चित्तकी घटादि ज्ञानरूप वृत्ति होती है, अन्यथा नहीं। इससे चित्तके विषय ज्ञात और अज्ञात हैं इसीसे यह परिणामी है। पौरुषेय-बोध भिन्न है और मानसिक बोध भिन्न।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र १७ ॥

यदि ज्ञान प्रकाशक होनेसे ग्रहणरूप है और घटादि वस्तु ग्राह्यरूप अर्थात् ग्रहण करनेयोग्यरूप है, तो एक बार ही सब वस्तुओंका ग्रहण क्यों नहीं होता ? अथवा सबका स्मरण क्यों नहीं होता ? इस आशङ्काको हटाते हैं—

घटादि वस्तुओंके उपरागकी अर्थात् अपने आकारको चित्तके लिये समर्पणरूप प्रतिबिम्ब-सम्बन्धकी अपेक्षा होनेसे (इन्द्रिय-संनिकर्षद्वारा विषयका चित्तमें प्रतिबिम्ब पड़नेसे) चित्तमें बाहरकी वस्तु, ज्ञात और अज्ञात कहलाती है। तात्पर्य यह है कि सब पदार्थोंको अपना स्वरूपलाभ करानेमें चित्तकी और सामग्रीकी अपेक्षा है (अथवा चित्तरूप सामग्रीकी अपेक्षा है)। नीलादि ज्ञान, अपनी उत्पत्तिमें इन्द्रिय-प्रणालीद्वार चित्तमें समाये हुए अर्थसम्बन्धकी, सहकारिकारणरूपसे अपेक्षा करता है। क्योंकि चित्तसे भिन्न अर्थका बिना किसी सम्बन्धके ग्रहण नहीं हो सकता। इस कारण जो वस्तु अपने प्रतिबिम्बस्वरूपको चित्तके लिये देती है उसी वस्तुको उस वस्तुका ज्ञान व्यवहारके योग्य बनाता है। इससे वह वस्तु ज्ञात कहाती है, और जिसने अपना स्वरूप नहीं दिया वह 'अज्ञात' रूपसे बोली जाती है। जिस जानी हुई वस्तुमें सादृश्यादि किसी पदार्थका ज्ञान, संस्कारोंको जगाता हुआ यदि सहकारी कारण मिल जाय तो उसी वस्तुका स्मरण होता है। इससे न सब जगह ज्ञान हो सकता है और न सर्वत्र स्मृति। इसलिये ज्ञानको ग्रहणरूप होनेपर और घटादि-कोंको ग्राह्य माननेसे कोई विरोध नहीं आता।

सङ्गति—बाह्य जगत्को चित्तसे भिन्न सिद्ध करके अब आत्माको चित्तसे भिन्न दिखाते हैं।

शङ्का—यदि यह मान लिया जाय कि चित्तसे अलग वस्तुएँ हैं और चित्तको उनके उपरागसे ज्ञात और अज्ञात होती हैं तो फिर आत्मा (पुरुष) को चित्तसे अलग माननेकी आवश्यकता नहीं और यदि माना भी जाय तो पुरुष भी चित्तके सदृश परिणामी होता है।

समाधान—

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—सदा ज्ञाताः = सदा ज्ञात रहती हैं; चित्त-वृत्तयः-चित्तकी वृत्तियाँ; तत्-प्रभोः = उस चित्तके स्वामी; पुरुषस्य = पुरुषके; अ-परिणामित्वात् = परिणामी न होनेसे ।

अन्वयार्थ—चित्तका स्वामी पुरुष परिणामी नहीं है, इसलिये चित्तकी वृत्तियाँ उसे सदा ज्ञात रहती हैं ।

व्याख्या—चित्तका जब बाहरके विषयके साथ सम्बन्ध होता है तो वह उसको ज्ञात होता है और जब सम्बन्ध नहीं होता तो अज्ञात होता है, इसलिये वह कभी बाहरके विषयको जानता है, कभी नहीं जानता है । वह जानने, न जानने—इन दोनों अवस्थाओंमें बदलता रहता है । यह उसमें परिणाम होता रहता है, इसलिये वह परिणामी है । पर पुरुषमें यह परिणाम नहीं होता । वह सदा चित्तकी वृत्तियोंका साक्षी है । चाहे उसमें कोई विषय हो या न हो, चित्तका कार्य केवल इतना ही है कि वह जिस विषयसे सम्बन्ध रखता हो उसके आकारमें परिणत होकर उसके स्वरूपको अपने स्वामी चिति (पुरुष) के सामने रख दे । पुरुषको चित्तके ऐसे परिणामका सदा ही ज्ञान बना रहता है । इस ज्ञानसे पुरुषमें चित्तकी भाँति कोई परिणाम नहीं होता । अर्थात् चित्तके विषय घटादि हैं और पुरुषका विषय वृत्तिसहित चित्त है । विषयोंके होते हुए चित्त कभी उन विषयोंको जानता है, कभी नहीं, पर पुरुष अपने चित्तको वृत्तिसहित सर्वदा जानता है । कभी न जानता तो परिणामी होता । अपने काममें सदा जानी हुई भोग्यरूप चित्तवृत्तियाँ ही भोक्ता पुरुषको परिणामशून्य जतलाती हैं । मानसिक ज्ञानमें अर्थाकारतारूप सम्बन्धकी आवश्यकता है, पर पौरुषेय ज्ञानमें पुरुष अर्थाकार (वस्तुके आकारमें परिणत) नहीं होता, किंतु प्रतिबिम्ब-सम्बन्धसे ज्ञाता मात्र होता है । यद्यपि चित्त जड़ है, इससे उसमें ज्ञान (बोध) नहीं हो सकता; तथापि जैसे लोहपिण्डमें अग्निके प्रवेश होनेसे लोह भी प्रकाशरूप होता है, वैसे ही ज्ञानरूप पुरुषके साथ भोग्यता-सम्बन्ध होनेसे चित्तमें ज्ञान कहा जाता है । चित्तको जो जहाँ-तहाँ प्रकाशरूप कहा है वह इसलिये कि शुद्धतासे प्रतिबिम्बको ग्रहण करनेकी इसमें शक्ति है । एक बात और भी है कि चित्तका सर्वदा ज्ञाता पुरुष न हो तो 'मैं सुखी हूँ अथवा नहीं' इत्यादि संशय भी होना चाहिये, सो होता नहीं । इससे भी पुरुष परिणामी नहीं है ।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र १८ ॥

प्रमाता (जाननेवाला) पुरुष भी जिस समय नील पदार्थको जानता है, उस समय पीतादिसे सम्बन्ध रखनेवाले चित्तके आकारका ग्रहण न करनेसे कदाचित् परिणामी हो जायगा, इस आशङ्काको हटाते हैं—

जो प्रमाण-विपर्ययादिरूप चित्तकी वृत्तियाँ होती हैं, उनको ग्रहण करनेवाला चित्तका अधिष्ठाता पुरुष सब कालमें ही जानता है; क्योंकि पुरुषका परिणाम नहीं होता । यदि वह पुरुष परिणामी हो तो परिणामके कभी-कभी होनेसे चित्तकी वृत्तियोंको सदा जाननेवाला नहीं बन सकता । तात्पर्य यह है कि चैतन्यरूप पुरुष, चित्तका सर्वदा स्वामी है, और निर्मल अन्तःकरण भी उसके साथ सदैव रहता है । वह चित्त जिस पदार्थके साथ सम्बन्ध

करता है, उसी पदार्थका ज्ञाता पुरुष कहलाता है; क्योंकि घटाद्याकार वृत्तियोंमें चेतनका प्रतिबिम्ब-सा पड़ता है। इससे पुरुषमें परिणामिताकी शङ्का कभी नहीं हो सकती।

सङ्गति—शङ्का—अग्निकी भाँति चित्त ही वस्तुका भी प्रकाशक है और अपना भी, इसलिये चित्तसे अतिरिक्त किसी अन्य पुरुषके माननेकी आवश्यकता नहीं रहती।

समाधान—

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—न = नहीं; तत् = वह चित्त; स्व-आभासम् = स्वप्रकाश (अपनेको आप ही प्रकाश करनेवाला अर्थात् जाननेवाला) है; दृश्यत्वात् = दृश्य होनेसे।

अन्वयार्थ—चित्त स्वप्रकाश नहीं है; क्योंकि वह दृश्य है।

व्याख्या—जिस प्रकार दूसरी इन्द्रियाँ और शब्द आदि विषय दृश्य होनेसे स्वप्रकाश (अपनेको आप ही प्रकाश करनेवाले अर्थात् जाननेवाले) नहीं हैं, उसी प्रकार चित्त भी दृश्य होनेसे स्वप्रकाश नहीं है, किंतु पुरुषसे प्रकाश्य और जानने योग्य है। अग्निका दिया हुआ दृष्टान्त भी यहाँ लागू नहीं हो सकता। अग्नि जड़ है, उसको स्वयं अपना ज्ञान नहीं होता, उसको जाननेके लिये किसी अन्य ज्ञानवालेकी आवश्यकता होती है। इसी प्रकार चित्त भी जड़ है, उसे जाननेके हेतु उससे अलग चिति (पुरुष) को मानना पड़ेगा। चित्तके दृश्य होनेमें एक प्रमाण यह भी है कि उसमें सुख, दुःख, भय, क्रोध आदिके जो परिणाम होते हैं वे दूसरेसे देखे जाते हैं; जैसे—मैं सुखी हूँ, मैं क्रोधमें था इत्यादि। इससे सिद्ध है कि चित्तकी इस अवस्थाको देखनेवाला उससे अतिरिक्त चेतन पुरुष है।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र १९ ॥

यदि सत्त्वगुणकी प्रधानतासे चित्तको ही प्रकाशक मान लिया जाय तो उसको ही अर्थका और अपने स्वरूपका प्रकाशक माननेसे 'यह घट है' इत्यादि व्यवहार हो जायँगे, पुरुषको माननेकी क्या आवश्यकता है। इस शङ्काको हटानेके लिये यह सूत्र है।

वह चित्त, स्वभास अर्थात् अपने स्वरूपका स्वयं प्रकाशक नहीं है, किंतु पुरुषसे प्रकाश्य है। क्योंकि वह दृश्य (देखनेके योग्य अथवा प्रकाशके योग्य) है। जो-जो दृश्य है, वह-वह द्रष्टासे प्रकाश्य है, यह व्याप्ति है। जैसे घटादि दृश्य हैं और द्रष्टासे प्रकाश्य हैं। चित्त भी दृश्य है, इससे स्वयं प्रकाशक नहीं हो सकता।

सङ्गति—शङ्का—यदि यह मान लिया जाय कि चित्त ही विषयका ज्ञान करता है और चित्तही अपना ज्ञान भी करता है। तो उपर्युक्त दोषकी निवृत्ति हो जाती है। इसका उत्तर देते हैं—

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ—एक-समये-च = एक समयमें और; उभय-अनवधारणम् = दोनोंका विषय और चित्तका ज्ञान नहीं हो सकता।

अन्वयार्थ—और एक समयमें दोनों विषय और चित्तका ज्ञान नहीं हो सकता।

व्याख्या—यदि यह कहा जाय कि चित्त ही विषयका ज्ञान प्राप्त करता है और चित्तको ही अपना ज्ञान होता है तो इसमें यह दोष आता है कि एक समयमें दो ज्ञान नहीं हो सकते अर्थात् एक विषय-

ज्ञान, दूसरा विषयवाले चित्तका ज्ञान। इस कारण चित्तसे अतिरिक्त इसका साक्षी अन्य चेतन पुरुषका मानना अनिवार्य है।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र २० ॥

उक्तार्थमें एक शङ्का तो यह है कि चित्तका दृश्यत्व सिद्ध नहीं हुआ, इससे दृश्यत्व साध्यके तुल्य है, इसलिये 'दृश्यत्व' हेतु 'साध्यसम' हेत्वाभास है। और दूसरी शङ्का यह है कि पुरुषकी बुद्धिके व्यापारको जानकर ही हितप्राप्ति और अहित-निवृत्तिके लिये वृत्तियाँ होती हैं तथापि 'क्रुद्धोऽहम्'-'अत्र मे रागः' 'मैं क्रोधी हूँ' 'मेरी इसमें प्रीति है,' इत्यादि प्रवृत्तियाँ बिना बुद्धिकी वृत्तिके नहीं हो सकतीं, तो फिर बुद्धिको ही स्वप्रकाशक क्यों न माना जाय? इन दोनों शङ्काओंका उत्तर इस सूत्रमें दिया है—

'यह वस्तु सुखका हेतु अथवा दुःखका हेतु है', इस प्रकार व्यवहारकी योग्यता करनेवाला एक वस्तु-सम्बन्धी बुद्धिका वृत्तिरूप व्यापार है। और 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार व्यवहारका सम्पादक बुद्धिका वृत्तिरूप व्यापार दूसरा है। अर्थज्ञान-कालमें ऐसे दो विरोधी व्यापारोंका होना असम्भव है अर्थात् एक कालमें चित्त अपने स्वरूपको और वस्तुओंको निश्चित नहीं कर सकता, इससे चित्त स्वप्रकाशक नहीं है; किंतु उक्त प्रकारके दो व्यापारोंको करनेके बाद ही दो प्रकारके स्फूर्तिरूप (प्रकाशरूप उपलब्धि वृत्तियोंसे भिन्न है। फलोंका भान होता है अर्थात् फलरूप भान होता है, इसलिये बहिर्मुखरूपसे ही अपनेमें रहनेवाले चित्तको पुरुष स्वयं जानता है, इससे पुरुषमें ही वह फल है, चित्तमें नहीं।

वृत्तिका तात्पर्य—घट और चित्त दोनोंका चित्तको एक ही क्षणमें ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये इन दोनोंका साक्षी पुरुष है। अर्थात् 'घटमहमद्राक्षम्' 'घटको मैंने देखा' इस प्रकारका जो स्मृतिज्ञान होता है वह चित्त और घटके अनुभवसे उत्पन्न होता है। एकचित्तके क्षणमें ही नहीं हो सकता, इसलिये इन दोनोंका अनुभवकर्ता इनसे पृथक् पुरुष है।

सङ्गति—शङ्का—यदि ऐसा मान लिया जाय कि एकचित्तसे विषय ग्रहण किया जाता है और उस विषयसहित चित्तको दूसरा चित्र ग्रहण करता है तो विषय और चित्त दोनोंका ज्ञान हो सकता है। इसका उत्तर—

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—चित-अन्तर-दृश्ये = एकचित्तको दूसरे चित्तका दृश्य माननेमें; बुद्धिबुद्धेः = चित्तका चित्त होना; अतिप्रसङ्गः = अनवस्था दोष होगा; स्मृति-सङ्करः च = और स्मृतियोंका गड़बड़ हो जाना भी।

अन्वयार्थ—यदि पहले चित्तको दूसरे चित्तका दृश्य माना जाय तो चित्त (ज्ञान) के चित्त (ज्ञान) का अनवस्था दोष होगा और स्मृतियोंका संकर भी हो जायगा।

व्याख्या—यदि यह माना जाय कि क्षण-क्षणमें चित्त बदलता रहता है, अर्थात् एक चित्तने एक विषय ग्रहण किया और उस विषयसहित चित्तको दूसरे चित्तने। इसी प्रकार उसको तीसरेने, तीसरेको चौथेने, तो यह क्रम बराबर चलता रहेगा—कभी समाप्त न हो सकेगा, इसमें अनवस्था दोष आ जायगा, अर्थात् पहले एक वस्तुका ज्ञान, फिर उस वस्तुके ज्ञानके ज्ञानका ज्ञान, इस प्रकार कभी एक ज्ञान भी समाप्त न होने पायेगा। दूसरा दोष स्मृतिसंकरका है। जितनी

बुद्धियोंका अनुभव है, उतनी ही स्मृति होंगी। अनुभव अनन्त हैं, जब उन सबकी स्मृति होने लगे तो उनके संकर होनेसे यह स्मृति किसकी है? यह धारणा न हो सकेगी अर्थात् उनमें गड़बड़ी हो जायगी। कुछ पता न चल सकेगा कि किसकी कौन-सी स्मृति है। इस कारण चित्तसे अतिरिक्त द्रष्टा पुरुषको मानना ही पड़ता है।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र २१ ॥

बुद्धिका स्वयं ग्रहण न हो, पर एक बुद्धिका द्वितीय बुद्धिसे ग्रहण हो जायगा (फिर पुरुषान्तर क्यों मानना ?) इस आशङ्काका उत्तर देते हैं—

यदि बुद्धिको जाननेवाली द्वितीय बुद्धि मानेंगे तो वह दूसरी बुद्धि भी अपने स्वरूपको न जानकर अन्य बुद्धिको प्रकाशित करनेमें असमर्थ है, इससे उस द्वितीय बुद्धिको ग्रहण करनेवाली तृतीय बुद्धि कल्पित करनी चाहिये और उसकी भी ग्राहिका अन्य, इस प्रकारकी अनवस्था हो जायगी तो बिना पुरुषके अर्थज्ञान नहीं होगा; क्योंकि बिना बुद्धिके ज्ञान हुए अर्थज्ञान होता नहीं (इससे बुद्धिसे भिन्न पुरुष मानना चाहिये)। दूसरा दोष यह होगा कि स्मृतियोंका मेल हो जायगा। रूप और रसमें जो बुद्धि उत्पन्न हुई है उस बुद्धिको ग्रहण करनेवाली अनन्त बुद्धियोंके उत्पन्न होनेसे, उन बुद्धियोंसे उत्पन्न संस्कार भी अनेक होंगे। उन अनेक संस्कारोंसे जब एक बार ही बहुत-से स्मृतिज्ञान किये जायँगे तो बुद्धिके समाप्त न होनेसे बहुत-सी बुद्धिस्मृतियोंकी एक बार ही उत्पत्ति होगी। एक बार ही उत्पत्ति माननेसे किस विषयमें यह स्मृति हुई है, यह ज्ञान न हो सकेगा तो स्मृतियोंका मेल हो जायगा। इस गड़बड़ीसे यह रूपविषयमें स्मृति है, यह रसविषयमें, इस प्रकारका विभक्त ज्ञान न हो सकेगा।

संगति—पुरुष क्रियारहित और अपरिणामी है और ज्ञान प्राप्त करने अथवा किसी विषयको ग्रहण करनेमें क्रिया और परिणाम दोनों होते हैं। फिर पुरुष चित्तके विषयका ज्ञान किस प्रकार कर सकता है?

समाधान—

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—चितेः = चिति अर्थात् चेतन पुरुषको, अ-प्रति-संक्रमायाः = जो क्रिया अथवा परिणाम-रहित है; तद्-आकार-आपत्तौ = स्वप्रतिबिम्बित चित्तके आकारकी तरह आकारकी प्राप्ति होनेपर, स्व-बुद्धि-संवेदनम् = अपने विषयभूत बुद्धि (चित्त) का ज्ञान होता है।

अन्वयार्थ—पुरुषको, जो क्रिया अथवा परिणामरहित है, स्वप्रतिबिम्बित चित्तके आकारकी प्राप्ति होनेपर अपने विषयभूत चित्तका ज्ञान होता है।

व्याख्या—यद्यपि अपरिणामी भोक्तृ शक्ति पुरुष अप्रतिसंक्रम अर्थात् किसी विषयसे सम्बद्ध न होनेसे निर्लेप है तथापि विषयाकार परिणामी बुद्धि (चित्त) में प्रतिबिम्बित हुआ तदाकार होनेसे वह उस बुद्धि (चित्त) की वृत्तिका अनुपाती (अनुसारी) हो जाता है। इस प्रकार चैतन्य प्रतिबिम्बित ग्राहिणी बुद्धि-वृत्ति (चित्त-वृत्ति) के अनुकारमात्र होनेसे ही बुद्धिवृत्तिमें अभिन्न हुआ वह चेतन ज्ञान-वृत्ति कहा जाता है। परमार्थमें वह चेतन ज्ञाता नहीं है। क्योंकि चेतनके प्रतिबिम्बका आधार होनेसे जो चित्तका चेतनाकार हो जाना है वह तदाकारापत्ति है। इस तदाकारापत्तिके होनेसे जो चित्तमें दर्शन-

कर्तृत्व है उसको लेकर ही चेतनको द्रष्टा कहा जाता है, वास्तवमें तो यह दृशिमात्र ही है। (२। २०)

अर्थात् निर्विकार पुरुषमें दर्शनकर्तृत्व, ज्ञातृत्व स्वाभाविक नहीं हैं, किंतु जैसे निर्मल जलमें प्रतिबिम्बित हुए चन्द्रमामें अपनी चञ्चलताके बिना ही जलरूप उपाधिकी चञ्चलतासे चञ्चलता भासती है वैसे ही चित्त-प्रतिबिम्बित जो चेतन है वह भी स्वाभाविक ज्ञातृत्व और भोक्तृत्वके बिना ही केवल प्रतिबिम्बाधार चित्तके विषयाकार होनेसे तदाकार भासता है।

अथवा चेतन पुरुषका प्रतिबिम्ब पड़नेसे चित्तका जो चेतनवत् आकार होना है वह तदाकारापत्ति है। ऐसी तदाकारापत्ति हुए चित्तमें जो ज्ञातृत्व है उसीका निर्विकार पुरुषमें आरोप होता है।

इस प्रकार चैतन्य-प्रतिबिम्बित चित्त ही चिदाकार हुआ अपनेको दृश्य और चेतनको द्रष्टा कर देता है। वास्तवमें पुरुष द्रष्टा नहीं है केवल ज्ञानस्वरूप है, चित्त और चेतनका अभिन्न रूपसे भान होनेसे ही ऐसा कहा गया है। निम्न वाक्यसे चेतनको बुद्धिवृत्त्यविशिष्ट कहा गया है ?

न पातालं न च विवरं गिरीणां नैवान्धकारं कुक्षयो नोदधीनाम्।
गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां कवयो वेदयन्ते॥

जिस गुफामें शाश्वत (नित्य) ब्रह्म निहित है वह गुफा न तो पाताल है, न पर्वतोंकी गुफा है, न अन्धकार है, न समुद्रोंकी खाड़ी है, किंतु प्रतिबिम्बित चेतनसे अभिन्न-सी जो बुद्धिवृत्ति (चित्तवृत्ति) है उसीको कवि (ब्रह्मज्ञानी) ब्रह्मगुहा कहते हैं।

टिप्पणी—उपर्युक्त व्याख्या व्यासभाष्यानुसार है। यह सूत्र अधिक महत्त्वका है इसलिये भोजवृत्तिका भाषार्थ भी यहाँ देते हैं—

भोजवृत्तिका भाषानुवाद॥ सूत्र २२॥

यदि बुद्धि स्वयं प्रकाश नहीं और भिन्न बुद्धिसे उसका ग्रहण नहीं होता तो बुद्धि-ज्ञानरूप व्यवहार कैसे होता है ! इस आशङ्काको करके अपना सिद्धान्त कहते हैं—

पुरुष जो कि चैतन्यरूप है, वह किसीसे मिला हुआ नहीं अर्थात् जैसे सत्त्व, रजस् आदि गुणोंका जब अङ्गाङ्गिभाव लक्षण परिणाम होता है तो वे गुण अपने प्रधान गुणके-से रूपको धारण कर लेते हैं। अथवा जैसे लोकमें फैलते हुए परमाणु एक विषय (घटादि) को बना देते हैं, वैसे चैतन्य शक्ति नहीं है, क्योंकि वह सर्वदा एकरूप सुप्रतिष्ठित रहती है, उस चैतन्यशक्तिके सङ्ग होनेसे जब बुद्धि चैतन्य-सी हो जाती है, और जब चेतन शक्ति बुद्धिवृत्तिमें प्रतिफलित हुई बुद्धिवृत्तिसे मिली हुई जानी जाती है, तब (चितिको) बुद्धिमें अपने स्वरूपका ज्ञान होता है।

वृत्तिका तात्पर्य यह है कि यद्यपि जैसे बुद्धिका क्रियाद्वारा घटादि सम्बन्ध होता है, वैसे चितिका बुद्धिके साथ संयोग नहीं है; क्योंकि चिति परिणामशून्य है। तथापि जैसे सूर्यका जलमें प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे चितिका बुद्धिमें प्रतिबिम्ब पड़ता है, इससे बुद्धिको चिदाकारता होनेसे चितिको बुद्धिवृत्तिसहित बुद्धिका भान होता है।

सङ्गति—पिछले आठ सूत्रोंमें यह सिद्ध करके कि बाह्य जगत् और पुरुष चित्तसे भिन्न है, अब यह बताते हैं कि चित्तको ही बाह्य वस्तु और आत्मा मानने और उससे अतिरिक्त इन दोनोंका अस्तित्व न माननेमें क्यों भ्रान्ति होती है ?

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—द्रष्टृ-दृश्य-उपरक्तम् = द्रष्टा और दृश्यसे रँगा हुआ; चित्तम् = चित्त; सर्वार्थम् = सारे अर्थोंवाला (आकारवाला) होता है।

अन्वयार्थ—द्रष्टा और दृश्यसे रँगा हुआ चित्त सारे अर्थोंवाला होता है।

व्याख्या—१ चित्त, गुणोंका प्रथम सात्त्विक विषम परिणाम, प्रसवधर्मी (क्रियावाला), परिणामी और अचेतन (जड़) है। यह उसका अपना ग्रहण स्वरूप है।

२ पुरुषसे प्रतिबिम्बित होकर चित्त चेतन अर्थात् ज्ञानवाला प्रतीत होता है। यह उसका द्रष्टासे उपरक्त हुआ गृहीता स्वरूप है। इसीसे ही चित्तको चेतन और उससे अन्य किसी पुरुषके न होनेकी भ्रान्ति होती है।

३ बाह्य विषयोंसे प्रतिबिम्बित होकर चित्त उन-जैसा भासने लगता है। यह उसका दृश्य उपरक्त ग्राह्य स्वरूप है। इसीसे यह भ्रान्ति होती है कि चित्तसे अतिरिक्त कोई बाह्य विषय और बाह्य जगत् नहीं है।

वास्तवमें चित्त, बाह्य जगत् और वस्तुएँ, और पुरुष तीनों अलग-अलग हैं और अपनी अलग-अलग सत्ता रखते हैं।

चित्त केवल दृश्य (अर्थ) से ही उपरक्त (सम्बद्ध) नहीं होता है, किंतु अपनी वृत्ति (प्रतिबिम्ब) द्वारा विषयी पुरुष (प्रतिबिम्बित चेतन) भी उसके साथ सम्बन्धवाला है। इसीसे 'घटमहं जानामि' (मैं घटको जानता हूँ) यह जो प्रत्यक्षरूप ज्ञान है वह विषय और विषयी इन दोनोंका उपस्थापक होता है, केवल दृश्य अर्थका ही उपस्थापक नहीं होता है।

इस प्रकार चित्त अचेतन विषयरूप होते हुए भी चेतन और विषयीके सदृश होनेसे चेतनाचेतन स्वरूप तथा विषय-विषयी अर्थात् दृश्य-द्रष्टारूपसे भासता हुआ स्फटिक मणि (बिल्लौर) के सदृश अनेक रूपवाला है।

जिस प्रकार एक स्फटिक मणि (बिल्लौर) के पास एक नीला पुष्प और एक लाल पुष्प रख दें तो वह एक बिल्लौर ही नीले फूल और लाल फूलके प्रतिबिम्बसे और तीसरे अपने निज रूपसे तीन रूपवाला प्रतीत होता है, इसी प्रकार एक ही चित्त विषय और पुरुषके प्रतिबिम्बसे और तीसरे अपने रूपसे ग्राह्य, गृहीता और ग्रहणस्वरूप होकर तीन रूपवाला हो जाता है अर्थात् अपने रूपसे ग्रहणाकार, विषयके प्रतिबिम्बसे ग्राह्याकार और पुरुषके प्रतिबिम्बसे ग्राहकाकार होनेसे चित्त सर्वार्थ है।

अथवा सिनेमाके साधारण श्वेत रङ्गकी चादर (पर्दा) के सदृश चित्तका अपना ग्रहणाकार रूप है। विद्युत्से प्रकाशित चादरके समान उसका आत्मासे प्रकाशित द्रष्टृ उपरक्तरूप है और चित्रोंसे युक्त चादर जैसा विषयसहित चित्तका ग्राह्याकार दृश्य उपरक्त रूप है। इस प्रकार चित्त सर्वार्थ है।

चित्तकी इस सर्वार्थताके ही कारण किन्हीं-किन्हीं अभ्यासियोंको चित्तको पुरुषके प्रतिबिम्बसे भासते हुए उसके गृहीत्राकार स्वरूपको देखकर यह भ्रान्ति उत्पन्न होती है कि चित्तके अतिरिक्त अन्य कोई पुरुष (आत्मा) नहीं है तथा उसके दृश्यके प्रतिबिम्बसे भासते हुए ग्राह्याकार स्वरूपको

देखकर किसी-किसीको यह भ्रम होता है कि चित्तसे भिन्न कोई ग्राह्य वस्तु नहीं है।❀

उनका यह भ्रम समाधिद्वारा आत्माके साक्षात्कारसे दूर हो सकता है। अर्थात् समाधिकालमें जो सविकल्प प्रज्ञा होती है, उस प्रज्ञामें प्रतिबिम्बित अर्थ भिन्न है और जिसमें विषयका प्रतिबिम्ब पड़ता है वह प्रज्ञा भिन्न है तथा प्रतिबिम्बित पदार्थयुक्त प्रज्ञाको अवधारण करनेवाला जो पुरुष है वह भिन्न है। चित्त ही सब कुछ नहीं हो सकता; क्योंकि गृहीता, ग्रहण और ग्राह्य सब भिन्न-भिन्न हैं, एक नहीं हैं।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र २३ ॥

इस प्रकार, पुरुषसे जाना हुआ चित्त, सब वस्तुओंके ग्रहण करनेकी शक्तिके कारण, सब व्यवहारोंके निर्वाह योग्य होगा, यह कहते हैं—

द्रष्टा पुरुष है, उसके साथ चित्त भी चेतन-सा हो जाता है और जब दृश्य विषयोंके साथ सम्बन्ध करता है अर्थात् विषयाकाररूपी परिणामको प्राप्त होता है, तब वही चित्त सब वस्तुओंको ग्रहण करनेकी शक्तिसे सम्पन्न होता है। जैसे निर्मल स्फटिक (बिल्लौर) दर्पण (शीशा) आदि ही प्रतिबिम्बको ग्रहण करनेमें समर्थ होता है वैसे रजोगुण और तमोगुणसे अनाक्रान्त, शुद्ध चित्त सत्त्व ही, चेतन प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेमें समर्थ होता है। रज और तम, दोनों अशुद्ध होनेके कारण प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेमें असमर्थ हैं। वह चित्त रज और तमको दबाता हुआ सत्त्वप्रधान बनकर स्थिर दीपककी शिखा (चोटी) के आकार-सा चेतन प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेकी शक्तिके कारण सदा एक रूपसे परिणत होता हुआ मोक्ष-तक रहता है। जैसे चुम्बकके निकट होनेपर लोहका चलना प्रकट होता है। ऐसे ही चैतन्य रूप पुरुषके निकट सत्त्वका अभिव्यंग्य चैतन्य प्रकट हो जाता है। इसीसे इस शास्त्रमें दो प्रकारकी चित्-शक्ति (ज्ञानशक्ति) मानी जाती है। एक नित्योदिता (नित्य उदित), द्वितीय अभिव्यंग्य (प्रकाश होने योग्य) नित्योदिता। चेतन शक्ति पुरुष है। उसीकी निकटतासे प्रकाशनीय है चैतन्य, जिसका ऐसा सत्त्व प्रकटित होता है, वही अभिव्यंग्य चिच्छक्ति है। वह अत्यन्त समीप होनेसे पुरुषका भोग्य है। अर्थात् नित्योदित कूटस्थ चित् शक्तिका सुखादिकी समानरूपताको प्राप्त हुई, चित्प्रतिबिम्बरूप चित्-शक्ति भोग है। वही सत्त्व, शान्त ब्रह्मवादी सांख्यों (योगाचार्यों) से, परमात्माद्वारा अधिष्ठेय अर्थात् कर्मानुकूल सुख-दुःखका भोक्ता कहा जाता है। तीनों गुणोंवाले, सुख-दुःखादि रूप, (घटादि) जो कि

❀ जैसा कि कहा गया है—चित्तं प्रवर्तते चित्तं चित्तमेव विमुच्यते। चित्तं हि जायते नान्यच्चित्त-मेव निरुध्यते ॥ लंकावतार सूत्र। चित्तकी ही प्रवृत्ति होती है और चित्तकी ही विमुक्ति होती है। चित्तको छोड़कर दूसरी वस्तु उत्पन्न नहीं होती और न उसका नाश होता है। चित्त ही एकमात्र तत्त्व है ॥ दृश्यं न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्तं हि दृश्यते। देहभोगप्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम् ॥ अर्थात् बाहरी दृश्य जगत् बिल्कुल विद्यमान नहीं है। चित्त एकाकार है। परंतु वही इस जगत्में विचित्र रूपसे दीख पड़ता है। कभी वह देहके रूपमें और कभी भोग (वस्तुओंके उपभोग) के रूपमें प्रतिष्ठित रहता है, अतः चित्तहीकी वास्तवमें सत्ता है। जगत् उसीका परिणाम है ॥ चित्तमात्रं न दृश्योऽस्ति द्विधा चित्तं हि दृश्यते। ग्राह्यग्राहकभावेन शाश्वतोच्छेदवर्जितम् ॥ लंकावतार ३। ६५। अविभागो हि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः। ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥ —स० सि० सं० पृ० १२। अर्थात् चित्त ही द्विविध रूपसे प्रतीयमान होता है—(१) ग्राह्य विषय, (२) ग्राहक विषयी ॥ भ्रान्त दृष्टिवाला व्यक्ति ही अभिन्न बुद्धिमें ग्राह्य, ग्राहक, ग्रहण—इस त्रिपुटीकी कल्पना कर उसे भेदवती बनाता है ॥

विना किसी विशेपताके, किसी गुणके प्रधान होनेसे प्रतिक्षण परिणत होते रहते हैं, वे कर्मानुसारी (चित् प्रतिविम्वयुक्त) शुद्ध सत्त्वमें, अपने आकारको समर्पण करनेसे ज्ञेय बन जाते हैं। जिसमें चेतनका प्रतिविम्व पड़ता है, जिसका विशिष्ट आकार, विषयोंके आकारको ग्रहण करनेसे बनता है और जो वस्तुतः चेतन न होनेपर भी चित् प्रतिविम्वके बलसे चेतन-सा प्रतीत होता है वह पहला चित्त सत्त्व ही, सुख-दुःखरूप भोगका अनुभव करता है। वही भोग पुरुषके भी अत्यन्त निकट होनेसे भेद ज्ञान न होनेसे अभोक्ता पुरुषका भी भोग कहा जाता है। इसी अभिप्रायसे विन्ध्यवासी (किसी आचार्य) ने कहा है कि — चित्त सत्त्वका दुःखादि ही पुरुषका दुःखादि है और अन्यत्र भी लिखा है कि "विम्वके रहते हुए, प्रतिविम्वित छायाके सदृश छायाका प्रकट होना प्रतिविम्व शब्दसे कहा जाता है"। वैसे ही चित्त सत्त्वमें भी पुरुषके प्रतिविम्वके तुल्य चैतन्यका प्रकट होना "प्रतिसंक्रान्ति" शब्दका अर्थ है। तात्पर्य यह है कि दो प्रकारका भोग है, एक चिदवसानतारूप और दूसरा परिणामलक्षण। प्रतिविम्वित चिच्छक्तिरूप पुरुषका चिदावसानतारूप भोग है और प्रतिविम्वित हुआ है चैतन्य जिसमें ऐसी सुखादि आकारसे परिणत होनेवाली बुद्धि (चित्त) का परिणामलक्षण भोग है।

शङ्का यह है कि जिसका परिणाम नियत अर्थात् परिच्छिन्न हो ऐसी निर्मल वस्तुका, निर्मल (शुद्ध) वस्तुमें प्रतिविम्व पड़ता है; जैसे मुखका शीशेमें। परंतु अत्यन्त निर्मल पुरुषकी अपेक्षा, जो अशुद्ध सत्त्व है, उसमें अत्यन्त निर्मल, व्यापक, अपरिणामी (परिणामशून्य) पुरुषका प्रतिविम्व कैसे पड़ता है? उत्तर यह है कि — प्रतिविम्वके स्वरूपको न जानकर शङ्काकारने यह कहा है — क्योंकि सत्त्वमें प्रकाशनीय चैतन्य शक्तिका पुरुषकी निकटतासे प्रकटित हो जाना ही प्रतिविम्व है, और पुरुषमें जैसी चेतनशक्ति है उसीकी छाया भी इसमें प्रकट होती है। यह कहना कि अत्यन्त निर्मल पुरुष, अशुद्ध सत्त्वमें कैसे प्रतिविम्वित होता है, यह भी व्यभिचरित है अर्थात् अत्यन्त शुद्ध वस्तुका भी अपनेसे अशुद्ध वस्तुमें प्रतिविम्व पड़ता है। जैसे निर्मलतासे निकृष्ट जलादिमें, अत्यन्त निर्मल सूर्यादि प्रतिविम्वित हुए मालूम होते हैं। यह कहना कि — व्यापकका प्रतिविम्व नहीं होता, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि व्यापक आकाशका शीशेमें प्रतिविम्व मालूम होता है। ऐसे प्रतिविम्व माननेमें कोई दोष नहीं। द्वितीय शङ्का यह है कि सत्त्वगुणके परिणामरूप बुद्धि सत्त्व (अन्तःकरण) में पुरुषकी निकटतासे प्रकाशित चित् शक्तिका जो बाह्य वस्तुओंके सम्बन्ध होनेपर भोग है, वही पुरुषका भोग है, यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि यदि प्रकृति परिणामरहित है तो चित्त सत्त्व कैसे हो सकता है? और यदि प्रकृतिमें परिणाम होता है तो वह परिणाम उसका क्यों होता है? यह कहना कि पुरुषार्थ कर्तव्यताको अर्थात् पुरुषको सुख-दुःखादि देनेके लिये प्रकृतिका परिणाम होता है, ठीक नहीं, क्योंकि 'पुरुषार्थ मुझे करना चाहिये' इस प्रकारकी इच्छाको 'पुरुषार्थकर्तव्यता' कहते हैं। प्रकृति जड़ है। उसमें ऐसी इच्छा पहले कहाँसे आयी? यदि वैसी इच्छा है तो प्रकृतिको जड़ क्यों कहा जाता है? (उत्तर) प्रकृतिमें अनुलोम और प्रतिलोम — दो प्रकारके स्वाभाविक परिणाम होते हैं। वे ही परिणाम 'पुरुषार्थकर्तव्यता' कहलाते हैं। वह परिणामरूप शक्ति, जड़ प्रकृतिमें भी स्वाभाविक है। इस प्रकृतिका बहिर्मुख रूपसे महत् आदिसे लेकर पञ्चमहाभूतपर्यन्त अनुलोम परिणाम होता है; फिर अपने-अपने कारणमें प्रवेशद्वारा (अर्थात् पृथ्वीका जलमें, जलका तेजमें, तेजका वायुमें, वायुका आकाशमें

इत्यादि रूपसे) अस्मितातक प्रतिलोम परिणाम होता है। इस तरह जब पुरुषके भोगोंकी समाप्ति हो जानेसे प्रकृतिकी स्वाभाविक उक्त दोनों शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, तब मुक्त पुरुषके प्रति प्रकृति कृतार्थ हुई (अपने कामको समाप्त करनेवाली) (उस मुक्त पुरुषके लिये) फिर परिणामको नहीं आरम्भ करती। जड़ प्रकृतिको ऐसी पुरुषार्थ-कर्तव्यता माननेसे कोई दोष नहीं।

शङ्का—यदि ऐसी स्वाभाविक शक्ति प्रकृतिमें है तो मुमुक्षु पुरुष मोक्षके लिये क्यों प्रयत्न करता है ? यदि मोक्ष इष्ट न हो तो मोक्षका उपदेशक शास्त्र व्यर्थ ही हो जाय। अर्थात् जब इच्छादि प्रकृतिमें हो है तो मुक्ति और बन्धन प्रकृतिके ही अधीन हुए, फिर पुरुष क्यों यत्न करता है ?

उत्तर—प्रकृति और पुरुषका भोग्य-भोक्तारूप सम्बन्ध अनादिसे है, उसके रहते हुए प्रकटित हुआ है चैतन्य जिसमें ऐसी प्रकृतिको 'कर्तृत्वाभिमान' 'मैं करता हूँ' इस प्रकारका अभिमान होता है, उस अभिमानसे दुःखका अनुभव होता है। दुःखके अनुभव होनेसे (पुरुष) यह चाहता है कि मुझे यह अत्यन्त दुःखनिवृत्ति कैसे हो, तो दुःखनिवृत्तिके उपायके उपदेशक शास्त्रकी अपेक्षा प्रकृतिको होती है। दुःख-निवृत्तिका इच्छुक कर्माधिकारी अन्तःकरण शास्त्रोपदेशका विषय है। अन्य दर्शनोंमें भी इस प्रकारका ही अविवेकी शास्त्रमें अधिकारी है। वही अधिकारी मोक्षके लिये यत्न करता हुआ, ऐसे शास्त्रोपदेशरूपी कारणकी अपेक्षासे मोक्षरूप फलको प्राप्त होता है। सब कार्य अपनी सामग्रीको प्राप्त होनेपर ही स्वरूपको लाभ करते हैं। प्रकृतिके प्रतिलोम परिणामद्वारा उत्पन्न मोक्षरूप कार्यकी ऐसी ही सामग्री शास्त्रादि प्रमाणोंसे निश्चित है। द्वितीय प्रकारसे उपपादन नहीं हो सकता, तो शास्त्रोपदिष्ट यम, नियम, विवेक-ज्ञानादि रूप सामग्रीके बिना मोक्ष कैसे हो सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि विषयोंके आकारको ग्रहण करनेवाला और प्रकट हुआ है चैतन्यप्रतिबिम्ब जिसमें ऐसा अन्तःकरण, विषयोंका निश्चय करके सब व्यवहारोंको चलाता है। इस प्रकारके कथनसे ऐसे ही चित्तको मानते हुए और जगत् स्वसंवेदन चित्त मात्र है (स्वेन स्वरूपेण संवेदनं प्रकाशो यस्य तच्चित्तं तदेव) अर्थात् अपने स्वरूपसे ही प्रकाश है जिसका ऐसा केवल चित्त ही जगत् है, इस प्रकार कहनेवाले लोग समझाये जाते हैं। (क्योंकि चित्तसे भिन्न ज्ञाता, ज्ञेयादि भी हैं)।'

विशेष वक्तव्य—॥ सूत्र २३ ॥ वार्तिककारादिने इस सूत्रपर और इससे पूर्व सूत्रपर जो भाष्य लिखा है, उसका तात्पर्य निम्न प्रकार है—

भोक्ता पुरुष परिणामशून्य है, इससे उसमें कहीं आना-जाना नहीं होता, किंतु बुद्धिवृत्तिमें वह प्रतिबिम्बित-सा होता है, इसलिये बुद्धिवृत्तिको चेतन-तुल्य बना देता है। अन्यथा 'घटमहं जानामि' 'मैं घटको जानता हूँ' यह बुद्धिवृत्ति चेतन भावार्थ नहीं हो सकती; क्योंकि अहं पदका अर्थ केवल जड़ बुद्धि नहीं है। जैसे बुद्धि (अन्तःकरण) इन्द्रियादिद्वारा अर्थोंके संनिकर्षसे अर्थों (घटादिकों) के आकारमें परिणत होकर अर्थाकार होती है, वैसे ही पुरुषके अत्यन्त संनिकर्ष भोग्य-भोक्तृस्वरूप सम्बन्धसे उसके प्रतिबिम्बको ग्रहण करके आत्माकार बन जाती है। परिणाम बुद्धिमें ही होता है, वह बहिर्मुख होकर विषयाकार होती है (विषयाकार होनेसे ही, मनकी स्वप्नावस्थामें तत्तदाकार-से वृत्तियाँ होती रहती हैं) और अन्तर्मुख होकर आत्माकार प्रतिबिम्बको ग्रहण करना ही उसकी आत्माकारता है। वस्तुतः प्रतिबिम्बके न होनेपर भी, बुद्धिका आत्माकार हो जाना ही प्रतिबिम्ब

है। अपने (इस प्रकार) प्रतिबिम्बद्वारा ही चेतन भोक्ता कहलाता है। अर्थात् कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व—ये सब बुद्धिवृत्तिमें वास्तविक हैं और पुरुषमें आरोपित हैं। तात्पर्य यह कि बुद्धिवृत्ति तत्तदाकारसे परिणत हुई अपने स्वरूपको पुरुषके लिये समर्पण करती है, इससे पुरुषमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व समझा जाता है। और आत्मा भी प्रतिबिम्बद्वारा अपने रूपको बुद्धिके अर्पण करता है, इससे बुद्धि चेतन समझी जाती है। आत्माकार-सा बुद्धिवृत्तिका हो जाना प्रतिबिम्बके तुल्य होनेसे प्रतिबिम्ब कहलाता है। केवल वृत्तियोंका बोध भी क्रोधादि वृत्तियोंके तुल्य है, वह 'जानामि' 'मैं जानता हूँ' इस वृत्तिका विषय होता है। इस सूत्रमें चित्तको 'सर्वार्थ' कहा है। इस शब्दका अर्थ यह है कि चित्त ग्राह्य, ग्रहण, गृहीता — इन सबको ग्रहण करता है 'अयं घटः' 'यह घट है' इस व्यवसायात्मक ज्ञानके अनन्तर 'घटमहं जानामि' 'मैं घटको जानता हूँ' इस प्रकारका जो अनुव्यवसायात्मक ज्ञान होता है वह भी पूर्व ज्ञानके तुल्य साक्षिभाव्य है, इसलिये सर्वार्थ कहना ठीक है। इस उत्तर-ज्ञानमें ज्ञेय, ज्ञाता, ज्ञान—तीनों समान होते हैं। 'द्रष्टृदृश्योपरक्तम्' अर्थात् पुरुष और विषय-दोनोंके आकारवाला चित्त होता है। पुरुष और बुद्धिकी अत्यन्त समीपता है, इससे शब्दाद्याकारादिवत् पुरुषाकार बुद्धिवृत्ति होकर पुरुषमें प्रतिबिम्बित होती है, उस बुद्धिवृत्तिका प्रकाश होना ही पुरुषमें शब्दादिका ज्ञान और पुरुषका ज्ञान कहलाता है। इससे पुरुष-ज्ञानके लिये पुरुषान्तर अथवा ज्ञानान्तरकी अपेक्षा नहीं और न कर्मकर्तृ विरोध है अर्थात् 'अहं जानामि' 'मैं जानता हूँ' इत्यादि प्रतीतियोंका आश्रय होनेसे कर्ता और उक्त प्रतीतियोंका विषय होनेसे आत्मा कर्म होता है। पर आत्माके विरुद्ध कर्मकर्तृत्व कैसे रह सकते हैं इस प्रकारका विरोध नहीं है। क्योंकि अन्तः-करणको द्वार माना जाता है। जैसे स्फटिक मणि दोनों तरफ भिन्न-भिन्न प्रकारकी वस्तुओंके और अपने स्वरूपके साथ तीनों रूपवाला-सा प्रतीत होता है वैसे ही चित्तकी दशा है (यहाँ स्फटिकका दृष्टान्त, सर्वांशमें नहीं है, क्योंकि उसमें प्रतिबिम्बमात्र पड़ता है और चित्त तदाकारसे परिणत भी होता है। इससे उस-उस वस्तुके साथ मेल होनेसे वैसा-वैसा प्रतीत होनेमात्रमें दृष्टान्त है)।

सब वस्तुओंको भ्रममात्रसे कल्पित मानना भी ठीक नहीं। सीपमें जो चाँदीका अथवा रज्जुमें जो सर्पका ज्ञान होता है वह सारूप्य दोषसे है, इससे अविद्याकी सर्वत्र कल्पना करना अयुक्त है। भ्रम-स्थलोंमें विषयका आकार चित्तमें रहता है, विषय सत्य ही है।

जिन सांख्ययोगी वेदान्तियोंने विवेकद्वारा गृहीता, ग्रहण और ग्राह्य—इन तीनोंको परस्पर विजातीयरूपसे पृथक्-पृथक् जान लिया है, वही समदर्शी है, उन्होंने ही पुरुषके स्वरूपको जान लिया है। अन्य जो अविवेकी हैं वे सब भ्रान्तिमें हैं। उनकी उपेक्षा न करनी चाहिये, किंतु कृपा करके उनको बोधन कराना चाहिये।

सङ्गति—शङ्का—जब चित्तसे सब व्यवहार चल रहे हैं और उसीमें सब वासनाएँ रहती हैं तो द्रष्टा प्रमाणशून्य होकर चित्त ही भोक्ता सिद्ध होता है।

समाधान—

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—तत् = वह = चित्त; असंख्येय-वासनाभिः-चित्रम्-अपि = अनगिनत वासनाओंसे चित्रित हुआ भी; पर-अर्थम् = दूसरेके लिये है; संहत्य-कारित्वात् = संहत्यकारी होनेसे।

अन्वयार्थ—चित्त अनगिनत वासनाओंसे चित्रित हुआ भी परार्थ है; क्योंकि वह संहत्यकारी है।

व्याख्या—जो वस्तु कई चीजोंसे मिलकर कामकी बनती है वह संहत्यकारी कहलाती है; जैसे मकान, शय्या आदि। संहत्यकारी वस्तु अपने लिये नहीं होती, बल्कि किसी दूसरेके लिये होती है, जैसे मकान, शय्या आदि अपने लिये नहीं हैं; बल्कि किसी दूसरेके रहने और आरामके लिये हैं। इसी प्रकार चित्त भी सत्त्व, रजस् और तमस् गुणोंके अङ्ग-अङ्गीभावके मेलसे सत्त्वप्रधान बना है। इसलिये वह भी संहत्यकारी है और किसी दूसरेके लिये होना चाहिये सो पुरुषके ही भोग-अपवर्गके लिये इसकी प्रवृत्ति होती है।

यद्यपि यह ठीक है कि अनन्त वासनाओंसे चित्रित होनेके कारण चित्तहीको भोक्ता मानना चाहिये, क्योंकि जो वासनाका आश्रय होता है वह भोगका आश्रय होनेसे भोक्ता बन सकता है, अन्य नहीं। तथापि जड़ संहत्यकारी होनेसे वह चित्त स्वार्थ नहीं किंतु परार्थ ही है अर्थात् पुरुषके ही भोग-अपवर्ग सम्पादन अर्थ जानना चाहिये। इसलिये सुखाकार जो चित्त है, वह चित्तके भोगार्थ नहीं है और तत्त्वज्ञानाकार जो चित्त है, वह भी चित्तके अपवर्गार्थ नहीं, किंतु यह दोनों प्रकारका चित्त परार्थ है और वह जो इस भोग और अपवर्ग अर्थसे अर्थवाला है, वही असंहत केवल पुरुष है।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र २१ ॥

यदि उक्त प्रकारके चित्तसे ही सब व्यवहार चलते हैं, तो प्रमाणरहित द्रष्टा क्यों माना जाता है? इस शङ्काको करके द्रष्टामें प्रमाण देते हैं—

वह चित्त ही असंख्यात वासनाओंसे नाना प्रकारका हुआ अपने स्वामीके लिये है अर्थात् भोक्ता जीवके भोग और मोक्षरूपी प्रयोजनको सिद्ध करता है; क्योंकि मिलकर काम करनेवाला है। जो-जो मिलकर काम करते हैं वे अन्यके लिये होते हैं। जैसे शय्या, आसनादि (मिले हुए किसी पुरुषके लिये होते हैं) सत्त्व, रज, तम—ये तीनों चित्तरूपसे परिणत होनेवाले मिलकर कार्य करते हैं, इससे परके लिये हैं। जो इनसे पर (भिन्न) है वह पुरुष है।

शङ्का—शय्या, आसनादिके दृष्टान्तसे तो शरीरवाला ही 'पर' सिद्ध होता है और तुमको तो केवल चिन्मात्र पुरुष इष्ट है, दृष्टान्त उससे विपरीतकी सिद्धि करता है, तो 'संहत्यकारित्वात्' यह हेतु तुम्हारा इष्टसाधक नहीं।

उत्तर—यह ठीक है कि सामान्यरूपसे केवल परविषयिणी व्याप्ति (जो-जो मिलकर कार्य करता है वह-वह परार्थ है, इस प्रकारकी) गृहीत होती है। परंतु सत्त्वादि गुण तो मिलकर कार्य करनेवाले ही हैं, इनसे विलक्षण कोई अन्य धर्मी होना चाहिये, ऐसा विचार करनेपर सत्त्वादि गुणोंसे विलक्षण, असंहत चिन्मात्ररूप भोक्ता सिद्ध होता है। जैसे काष्ठोंसे घिरे हुए पर्वतमें विलक्षण धूमसे पर्वतकी लकड़ियोंसे उत्पन्न अन्य वह्नियोंसे विलक्षण प्रकारका ही वह्नि (अग्नि) अनुमित होता है। वैसे यहाँ भी भोग्य सत्त्व गुणसे, परार्थताका अनुमान करनेपर उससे विलक्षण ही भोक्ता, स्वामी, चेतनरूप, असंहत (किसीसे नहीं मिला हुआ) सिद्ध होता है। यदि उसपर (पुरुष) में परत्वधर्म, सर्वोत्कृष्टत्व (सबसे उत्तमतारूप) ही माना जाय तो भी तमोगुण प्रधान विषयोंसे शरीर उत्तम है, क्योंकि यह प्रकाशरूप इन्द्रियोंका आश्रय है। उस शरीरसे भी उत्तम इन्द्रियाँ हैं। उन इन्द्रियोंसे भी उत्तम चित्तसत्त्व है। उस चित्तका भी जो प्रकाशक है, जिसका कोई अन्य प्रकाशक नहीं, वह चेतनरूप ही है, उसमें मेल कहाँसे हो सकता है।

सङ्गति—यहाँतक चित्त और पुरुषका भेद युक्तिद्वारा बतलाया गया, पर आत्मा कैसा है, क्या

है ? यह युक्तिसे नहीं जाना जा सकता; क्योंकि यह अनुभवका विषय है, इसका वास्तविक स्वरूप समाधिद्वारा जाना जा सकता है। इसको अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

विशेषदर्शिनः आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—विशेष-दर्शिनः = (विवेकख्यातिद्वारा पुरुष और चित्तमें) भेदके देखनेवालेकी; आत्म-भाव-भावना = आत्मभावकी भावना; विनिवृत्तिः = निवृत्त हो जाती है।

अन्वयार्थ—विवेकख्यातिद्वारा पुरुष और चित्तमें भेदके देखनेवालेकी आत्मभावकी भावना निवृत्त हो जाती है।

व्याख्या—आत्मभावभावना = आत्मभावकी चिन्ता कि मैं कौन हूँ, कैसा हूँ, क्या था, आगे क्या होऊँगा इत्यादि।

विशेष-दर्शिनः = पुरुष और चित्तके भेदको विवेकख्यातिद्वारा साक्षात् करनेवाला विवेकज्ञानी।

विवेकख्यातिद्वारा जब योगीको पुरुष और चित्तका भेद साक्षात् हो जाता है तब उसकी आत्मभावना कि मैं कौन हूँ, क्या हूँ इत्यादि निवृत्त हो जाती है। वह चित्तमें ही सारे परिणामोंको देखता है और उसके धर्मोंसे भिन्न अपनेको अपरिणामी ज्ञानस्वरूप अनुभव करने लगता है।

जिस पुरुषके चित्तमें यह भावना होती है, वही आत्मज्ञान उपदेशका अधिकारी है और वही योगाभ्यासद्वारा विवेक-ज्ञानका सम्पादन करता है। उसी विवेकज्ञानसे यह आत्मभाव-भावना निवृत्त होती है। जिसको यह आत्मभाव-भावना ही नहीं उसको न तो इस आत्मज्ञानके उपदेशका अधिकार हो है, न उसको विवेकज्ञान ही उत्पन्न होता है और न आत्मभाव-भावनाकी निवृत्ति होती है।

किसके चित्तमें यह भावना उदय हुई है और किसके चित्तमें नहीं उदय हुई है इसका भाष्यकार इस अनुमानसे जान लेना बतलाते हैं कि जैसे वर्षा ऋतुमें तृणोंके अङ्कुरोंका प्रादुर्भाव देखकर उन तृणोंके बीजोंकी सत्ताका अनुमान किया जाता है वैसे ही जिस पुरुषको मोक्षमार्ग श्रवणसे रोमाञ्च, हर्ष और अश्रुपात होवे उस पुरुषने विवेक-ज्ञानके बीजभूत तथा अपवर्गके साधन जो यम, नियम आदि कर्म हैं उनका पूर्व जन्ममें अनुष्ठान कर लिया है और उसके चित्तमें आत्मभाव-भावनाका उदय भी है। जिन पुरुषोंकी पूर्व जन्ममें शुभ कर्मोंके अनुष्ठानके अभावसे केवल पूर्वपक्षमें ही रुचि हो और सिद्धान्तमें अरुचि हो उनके चित्तमें अनुमानसे आत्मभाव-भावनाका अनुदय जान लेना।

सङ्गति—विशेष-दर्शनके उदय होनेपर विशेष-दर्शीका चित्त कैसा होता है ? इसको बतलाते हैं—

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—तदा = तब (विशेषदर्शनके उदय होनेपर); विवेकनिम्नम् = विवेककी ओर निम्न अर्थात् झुका हुआ—विवेकमार्ग संचारी; कैवल्य-प्राग्भारम् = कैवल्यकी प्राग्भारवाला अर्थात् कैवल्यके अभिमुख; चित्तम् = विशेषदर्शीका चित्त होता है।

अन्वयार्थ—विशेषदर्शनके उदय होनेपर विशेषदर्शीका चित्त विवेक-मार्ग-संचारी होकर कैवल्यके अभिमुख होता है।

व्याख्या—निम्न—जलके प्रवाहके संचारयोग्य जो ढलवान् अर्थात् झुका हुआ प्रदेश है वह निम्न कहलाता है।

प्राग्भार—ऐसी उठी हुई भूमि अर्थात् ऊँचे प्रदेशको जहाँ जलका प्रवाह रुक जाता है प्राग्भार कहते हैं।

यहाँ चित्तकी उपमा बहते हुए जलसे दी गयी है, जिस प्रकार पानी नीचेकी ओर बहता है इसी प्रकार योगीका चित्त जो पहले अविवेकके मार्गमें बहता हुआ विषयोंकी ओर जा रहा था विशेषदर्शनसे वह मार्ग बंद हो जाता है और चित्तका प्रवाह आत्मानात्मरूप विवेक-ज्ञानके मार्गकी ओर निम्न होकर कैवल्य प्राग्भारके अभिमुख हो जाता है। अर्थात् चित्त अज्ञानके कारण जो संसारी विषयोंमें लगा हुआ था, विशेषदर्शनद्वारा विवेकज्ञान होनेपर उसकी प्रवृत्ति कैवल्यकी ओर हो जाती है। इसी प्रकारकी उपमा १। १२ में दी गयी है।

सङ्गति—विवेक-प्रवाही चित्तमें भी बीच-बीचमें कभी-कभी व्युत्थानकी वृत्तियाँ क्यों उत्पन्न होती हैं ? इसको बताते हैं—

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—तत् = उस (विवेक-ज्ञानके); छिद्रेषु = छिद्रोंमें—बीच-बीचमें—अन्तरालमें; प्रत्यय-अन्तराणि = दूसरी (व्युत्थानकी) वृत्तियाँ; संस्कारेभ्यः = (पूर्वके व्युत्थानके) संस्कारोंसे होती हैं।

अन्वयार्थ—उस विवेक-ज्ञानके बीच-बीचमें अन्य व्युत्थानकी वृत्तियाँ (भी) (पूर्वके व्युत्थानके) संस्कारोंसे उदय होती रहती हैं।

व्याख्या—छिद्र = विवेकज्ञानके बीचमें कभी-कभी होनेवाला विवेक-अभावरूप अवकाश, अन्तराल अथवा अवसर।

जबतक चित्तमें पुरुष और चित्तकी भिन्नताका ज्ञान प्रबलतासे रहता है तबतक उसकी प्रवृत्ति कैवल्यकी ओर रहती है, पर जब-जब इस विवेकज्ञानमें शिथिलता आने लगती है, तब-तब व्युत्थानके संस्कार अर्थात् व्युत्थानकी ममता और अहंताकी वृत्तियाँ 'यह मेरा है' 'मैं सुखी हूँ' 'मैं दुखी हूँ' इत्यादि उत्पन्न हो जाती हैं। यह प्रत्ययान्तराणि अर्थात् समाधिकी वृत्तियोंसे भिन्न व्युत्थानकी वृत्तियाँ इसलिये बीचमें उत्पन्न होती हैं कि विवेकख्याति (विशेषदर्शन) अभी अत्यन्त परिपक्क नहीं हुई है और अनादि-कालसे प्रवृत्त व्युत्थानके संस्कार अभी किंचित् बलवान् हैं।

सङ्गति—उनके त्यागका उपाय बताते हैं—

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—हानम् = निवृत्ति; एषाम् = उनकी (व्युत्थानके संस्कारोंकी) क्लेशवत् = क्लेशोंकी तरह; उक्तम् = कही गयी है।

अन्वयार्थ—उन (व्युत्थानके संस्कारों) की निवृत्ति क्लेशोंकी निवृत्तिके तुल्य कही गयी जानना चाहिये।

व्याख्या—जैसे दूसरे पादके दसवें और ग्यारहवें सूत्रोंमें क्लेशोंका नाश बतलाया है वैसे ही व्युत्थान-के संस्कारोंका भी नाश जान लेना चाहिये अर्थात् जिस प्रकार प्रसंख्यानरूप अग्निसे क्लेश दग्ध-बीज-

भावको प्राप्त होकर अपने अंकुर-उत्पादनमें असमर्थ हो जाते हैं वैसे ही विवेक अभ्यासरूप प्रसंख्यान अग्निसे पूर्वके जन्मोंके व्युत्थानके संस्कार भी दग्धबीज होकर व्युत्थानकी वृत्तियोंको नहीं उत्पन्न करते। अपरिपक्व विवेकनिष्ठ चित्तमें ही व्युत्थानके संस्कारोंका प्रादुर्भाव होता है, परिपक्व ज्ञाननिष्ठ चित्तमें नहीं होता। इसलिये पहले विवेकज्ञानके अभ्याससे विवेकज्ञानके संस्कारोंका सम्पादन करके व्युत्थानके संस्कारोंका निरोध करना चाहिये। फिर निरोधसंस्कारोंसे विवेकके संस्कारोंका क्षय करना चाहिये। उसके पश्चात् निरोधके संस्कारोंका भी असम्प्रज्ञात समाधिद्वारा लय कर देना चाहिये। विवेक-ज्ञानमें ही अपनेको कृतकृत्य न समझ लेना चाहिये।

सङ्गति—व्युत्थानके निरोधका उपाय विवेक-अभ्यासरूप प्रसंख्यान बतलाकर अब प्रसंख्यानके निरोधका उपाय कहते हुए जीवन्मुक्तिकी परमकाष्ठारूप धर्ममेघ समाधिका स्वरूप कहते हैं—

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—प्रसंख्याने-अपि-अकुसीदस्य = प्रसंख्यान ज्ञानमें भी विरक्त है जो योगी, उसको; सर्वथा-विवेकख्यातेः = निरन्तर विवेक-ख्यातिके उदय होनेसे; धर्म-मेघः-समाधिः = धर्ममेघ समाधि होती है।

अन्वयार्थ—जो योगी प्रसंख्यान ज्ञानसे भी विरक्त है उसको निरन्तर विवेक-ख्यातिके उदय होनेसे धर्ममेघ समाधि होती है।

व्याख्या—प्रसंख्यान = जितने तत्त्व परस्पर विलक्षण स्वरूपवाले हैं; उनका यथाक्रम विचार करना प्रसंख्यान कहलाता है। (भोजवृत्ति) इसीको विवेकज्ञान भी कहते हैं।

धर्ममेघः = अति उत्तम पुण्य-पापसे रहित परम पुरुषार्थके साधक धर्मकी जो वर्षा करता है वह धर्ममेघ कहलाता है। (भोजवृत्ति)

अकुसीद—ऋण देकर मास-मासमें धनकी वृद्धि करना अर्थात् सूद (ब्याज) लेनेको कुसीद कहते हैं। यहाँ जो योगी प्रसंख्यानकी लिप्सावाला है उसके लिये कुसीद और जो फलकी इच्छासे विरक्त है उसके लिये अकुसीद शब्दका प्रयोग हुआ है।

जब ब्रह्मनिष्ठ योगी पर-वैराग्यद्वारा प्रसंख्यान अर्थात् विवेक-ज्ञानसे भी किसी फल (सर्वज्ञत्वादि जिनको ३। ४९ में बतला आये हैं) की इच्छा नहीं रखता तो उसके विरक्त हो जानेपर इसपर वैराग्यशील योगीकी सर्वथा विवेक-ख्याति उदय होती है, अर्थात् निरन्तर विवेकज्ञानका प्रवाह बहने लगता है। इससे व्युत्थानके संस्कारोंके बीज नितान्त भस्म हो जाते हैं। इस कारण व्युत्थानकी वृत्तियाँ बीच-बीचमें उत्पन्न नहीं होतीं। ज्ञानकी इस परिपक्व अवस्थाको धर्ममेघ समाधि कहते हैं। सम्प्रज्ञात समाधिकी सबसे ऊँची अवस्था विवेक-ख्याति (प्रसंख्यान) है। विवेक-ख्यातिकी परिपक्व अर्थात् निरन्तर रहनेवाली अवस्था धर्ममेघ समाधि है। इसकी पराकाष्ठा ज्ञानप्रसाद-नामी पर-वैराग्य है। जिसका फल असम्प्रज्ञात अर्थात् निर्बीज समाधि है।

सङ्गति—धर्ममेघ समाधिका फल क्लेशकर्मकी निवृत्ति बताते हैं—

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—ततः = उस (धर्ममेघ समाधि) से; क्लेश-कर्म-निवृत्तिः = क्लेश और कर्मोंकी निवृत्ति होती है।

अन्वयार्थ—उस धर्ममेघ समाधिसे क्लेश और कर्मोंकी निवृत्ति होती है।

व्याख्या—उस धर्ममेघ समाधिकी प्राप्तिपर अविद्या आदि पाँचों क्लेश और शुक्ल, कृष्ण तथा मिश्रित तीनों प्रकारके कर्म (सकाम कर्म) और उनकी वासनाएँ मूलसहित नाश हो जाती हैं। इस प्रकार क्लेश और कर्मोंके अभावमें योगी जीवन्मुक्त होकर विचरता है और शरीर त्यागनेके पश्चात् विदेह मुक्त पदको प्राप्त होता है अर्थात् पुनः जन्म-धारण नहीं करता जैसा कि भाष्यकार लिखते हैं 'कस्माद् यस्माद्विपर्ययो भवस्य कारणम्, न हि क्षीणक्लेशविपर्ययः कश्चित् केनचित्क्वचिज्जातो दृश्यत इति।' क्योंकि विपर्यय ज्ञान अर्थात् अविद्या ही संसारका कारण है। इसलिये जिसके अविद्यादि क्लेश नष्ट हो गये हैं ऐसा पुरुष कोई भी किसी कारणसे भी, कहीं भी उत्पन्न हुआ नहीं देखा जाता। महर्षि गौतमने भी न्याय-दर्शनमें ऐसा ही कहा है। 'वीतरागजन्मादर्शनात्' (३। १। २५) जिसके राग बीत गये हैं ऐसे पुरुषका संसारमें जन्म न देखे जानेसे।

सङ्गति—क्लेशकर्मकी निवृत्तिपर क्या होता है?

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—तदा = तब क्लेशकर्मकी निवृत्तिपर; सर्व-आवरण-मल-अपेतस्य = सारे आवरण मलसे अलग हुए; ज्ञानस्य = ज्ञानके—चित्तके प्रकाशके; आनन्त्यात् = अनन्त होनेसे; ज्ञेयम् = जानने योग्य वस्तु; अल्पम् = थोड़ी रह जाती है।

अन्वयार्थ—तब सब क्लेशकर्मोंके क्षय-कालमें सर्व आवरणरूप मलोंसे रहित होकर चित्तरूप प्रकाशके अनन्त होनेसे ज्ञेय पदार्थ अल्प हो जाता है।

व्याख्या—चित्त सत्त्वप्रधान सूर्यके सदृश प्रकाशशील है। जिस प्रकार शरद् ऋतुमें मेघ सूर्यके प्रकाशको ढक देते हैं, उसी प्रकार रजस्-तमस्-मूलक अविद्या आदि क्लेश और सकाम कर्मकी वासनाएँ चित्तके प्रकाशपर आवरण डाले हुए रहते हैं। बादलोंके हटनेपर जब सूर्यका प्रकाश चारों दिशाओंमें फैलता है तो सारी वस्तुएँ स्पष्ट दीखने लगती हैं, ये सारी वस्तुएँ उसके सवत्र फैले हुए प्रकाशकी अपेक्षा अति न्यून परिच्छिन्न हैं, इसी प्रकार धर्ममेघ समाधिद्वारा जब रज-तम-मूलक क्लेश और कर्म वासनाओंके मलका पर्दा चित्तसे हट जाता है तो उसके अपरिमित ज्ञानके सर्वत्र फैले हुए प्रकाशमें कोई वस्तु छिपी नहीं रहती। उसका प्रकाश इतना बढ़ जाता है कि जानने योग्य कोई वस्तु अज्ञात नहीं रह सकती। विषय बहुत न्यून, परिच्छिन्न और ज्ञानका प्रकाश अनन्त अपरिच्छिन्न हो जाता है। ज्ञेय सांसारिक वस्तुएँ उसकी दृष्टिमें अल्प अर्थात् तुच्छ हो जाती हैं, जैसे प्रकाशमें जुगनू। श्रीव्यासजी महाराज उसके विषयमें निम्न दृष्टान्त देते हैं—

अन्धो मणिमविध्यत्तमनङ्गुलिरावयत्। अग्रीवस्तं प्रत्यमुञ्चत्तमजिह्वोऽभ्यपूजयत् ॥ इति ॥

अन्धेने मणियोंको बींधा, बिना अँगुलीवालेने उसमें धागा पिरोया, ग्रीवारहितके गलेमें वह डाली गयी और जिह्वारहितने उसकी प्रशंसा की।

अर्थात् जैसे यह वाक्य आश्चर्यरूप जान पड़ता है, ऐसे ही आश्चर्यरूप दशा योगीकी इस कालमें होती है।

सङ्गति—धर्ममेघ समाधिसे क्लेशकर्मोंकी निवृत्ति हो जानेपर भी गुण जो स्वतः ही परिणाम

स्वभाववाले हैं, विद्यमान रहते हुए उस पुरुषके लिये शरीर और इन्द्रियोंको क्यों नहीं उत्पन्न करते ? इसका उत्तर अगले सूत्रमें देते हैं—

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—ततः = तब; कृतार्थानाम् = कृतार्थ हुए; गुणानाम् = गुणोंके; परिणामक्रमः = परिणामके क्रमकी; समाप्तिः = समाप्ति हो जाती है।

अन्वयार्थ—तब कृतार्थ हुए गुणोंके परिणामके क्रमकी समाप्ति हो जाती है।

व्याख्या—गुणोंकी प्रवृत्ति पुरुषके भोग-अपवर्गके लिये है। जबतक पुरुषके यह दोनों प्रयोजन सिद्ध नहीं हो लेते तबतक वे इसके लिये अपने परिणामके क्रम (शरीर, इन्द्रिय आदिके आरम्भ) को जारी रखते हैं।

धर्ममेघ समाधिसे क्लेश और कर्मोंकी निवृत्ति होती है। उसके फलस्वरूप रजस् तमस् गुणोंका आवरण हटनेसे ज्ञान अनन्त (अपरिमित) और ज्ञेय अल्प हो जाता है। यह अपरिमित ज्ञान ही प्रकृतिके दोषोंका दिखलानेवाला होनेसे पर-वैराग्यरूप है। उस उत्कृष्ट वैराग्यके बाद गुणोंका जो अनुलोमतया (सीधे) सृष्टि उन्मुख और प्रतिलोमतया (उल्टे) प्रलय उन्मुख प्रधान-अप्रधान भावसे स्थितिरूप परिणाम है, उसके क्रमकी उस पुरुषके प्रति समाप्ति हो जाती है। उस पुरुषके लिये फिर गुण प्रवृत्त नहीं होते।

भाव यह है कि धर्ममेघ समाधिके पश्चात् जब पुरुषके भोग और अपवर्ग प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं, तो इन गुणोंका उस पुरुषके लिये कोई कार्य शेष नहीं रहता। इस कारण उसकी ओरसे कृतार्थ अर्थात् कर्तव्य पूरा करके अपना परिणाम-क्रम समाप्त कर देते हैं और दूसरे पुरुषोंके इसी प्रयोजनको सिद्ध करनेमें लगे रहते हैं (२। २२)।

सङ्गति—क्रमका स्वरूप बताते हैं—

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—क्षण-प्रतियोगी = क्षणोंको सम्बन्धी—प्रतिक्षण होनेवाली; परिणाम-अपरान्त-निर्ग्राह्यः = परिणामकी समाप्तिपर ग्रहण करने योग्य (जो गुणोंकी अवस्थाविशेष है वह); क्रमः = क्रम कही जाती है।

अन्वयार्थ—प्रतिक्षण होनेवाली परिणामकी समाप्तिपर जानी जानेवाली (गुणोंकी अवस्थाविशेष-का नाम) क्रम है।

व्याख्या—क्षणोंकी निरन्तर (परम्पराके) धाराके आश्रित जो परिणामोंकी निरन्तर परम्परा है, उसको परिणाम-क्रम कहते हैं अर्थात् क्षण-क्षणमें जो प्रत्येक वस्तुमें परिणाम होता रहता है; उसको क्रम कहते हैं। परिणाम इतना सूक्ष्म होता है कि ग्रहण नहीं हो सकता। वह होते-होते अन्तमें स्थूलरूप होनेपर दिखलायी देने लगता है। जैसे वस्त्र कितना ही सुरक्षित क्यों न रखा जाय, एक समयपर इतना जीर्ण हो जाता है कि हाथ रखनेसे फटने लगता है। यह परिणामका क्रम उसी समय नहीं हुआ बल्कि प्रत्येक क्षणमें होता रहा है। परन्तु इतने सूक्ष्म रूपमें हो रहा था कि देखा नहीं जा सकता था, अन्तमें बहुत-से परिणामोंका स्थूलरूपमें होनेपर वह दिखलायी देने लगा। यही गुणोंके धर्मपरिणाम और

लक्षण-परिणामका क्रम है। अर्थात् परिणामोंकी जो आगे-पीछेकी एक धारा या सिलसिला है वह क्रम है। किसी क्रमका आरम्भ एक विशेष क्षणमें होता है और समाप्ति एक दूसरे क्षणमें। पहले क्षणको, जहाँसे क्रम आरम्भ होता है, पूर्वान्त और अन्तिम क्षणको, जहाँ यह क्रम समाप्त होता है, अपरान्त कहते हैं।

यह क्रम धर्म, लक्षण और अवस्था—तीनों परिणामोंमें पाया जाता है। ऊपर वस्त्रके उदाहरणसे बताया है कि अवस्था-परिणामका क्रम सूक्ष्मरूपसे होता हुआ दिखायी नहीं देता है। उसका अन्तिम फल ही प्रत्यक्ष होता है। धर्म और लक्षण-परिणामका क्रम भी जो दिखलायी देता है वह भी कई परिणामोंका स्थूल रूप ही है; जो क्रम प्रत्येक क्षणमें सूक्ष्मरूपसे होता रहता है, वह इनमें भी साक्षात् नहीं दिखायी देता।

यह परिणाम-क्रम गुणोंमें बराबर होता रहता है यदि यह शङ्का हो कि गुण तो नित्य हैं, उनमें परिणाम कैसे हो सकता है? उसका समाधान करते हैं। अतीतावस्थासे शून्य होनामात्र ही नित्यका सामान्य लक्षण है न कि अपरिणामी होना। इसलिये नित्यता दो प्रकारकी होती है— एक कूटस्थ नित्यता, दूसरी परिणामी नित्यता।

१ *कूटस्थ नित्यता*—स्वरूपसे सदा एक बना रहना और किसी प्रकारका परिणाम न होना। यह पुरुषकी नित्यता है, जिसमें वह सदैव एक रूपमें बना रहता है और उसमें कोई परिणाम नहीं होता।

२ *परिणामी नित्यता*—अवस्थासे परिणाम होता रहना, स्वरूपसे सदा एक बने रहना। यह परिणामी नित्यता गुणोंकी है। गुण परिवर्तनको प्राप्त होते हुए भी स्वरूपसे नष्ट नहीं होते हैं। उन नित्य धर्मी गुणोंके परिणामोंकी कोई अन्तिम सीमा नहीं प्रतीत होती। जहाँ सीमा प्रतीत होती है वह अन्य धर्मियोंकी है जो अनित्य हैं, जैसे बुद्धि, इन्द्रिय, तन्मात्रा, पाँचों भूत, शरीर आदि।

अब यह शङ्का होती है कि स्थिति और गति अर्थात् सृष्टि-प्रलय प्रवाहरूपसे जो गुणोंमें वर्तमान संसारक्रम है, इस क्रमकी समाप्ति होती है या नहीं? यदि समाप्ति मानी जाय तो ऊपर जो कहा गया है कि 'गुणोंके परिणामकी कोई अन्तिम सीमा नहीं' इसका खण्डन होता है और यदि समाप्ति न मानी जाय तो पूर्व सूत्रमें गुणोंके क्रमकी समाप्ति क्यों कही? इस शङ्काके निवारणार्थ भाष्यकारोंने यह कहा है कि यह प्रश्न एकान्त वचनीय नहीं है अर्थात् एक बार ही 'हाँ' अथवा 'ना' में उत्तर देने योग्य नहीं है, किंतु अवचनीय है। प्रश्न तीन प्रकारके होते हैं—

१ *एकान्त वचनीय*—जो नियमसे एक ही समाधानद्वारा उत्तर देने योग्य है।

२ *विभज्य वचनीय*—जो विभागपूर्वक उत्तर देने योग्य है।

३ *अवचनीय*—जिसका उत्तर एकान्तरूपसे एक प्रकारसे कहने योग्य नहीं होता।

जैसे 'क्या सब जगत् जो उत्पन्न हुआ है मरेगा'? उत्तर—'हाँ अवश्य मरेगा'। यह एकान्त वचनीय अर्थात् एक ही उत्तर देनेकी योग्यतावाला है। 'क्या जो-जो मरेगा वह सब उत्पन्न होगा'? उत्तर—'केवल जिसको विवेकज्ञान उदय हो गया है और जो तृष्णारहित हो गया है वह उत्पन्न न होगा अन्य उत्पन्न होगा'। 'मनुष्यजाति उत्तम है या नहीं?' उत्तर—'मनुष्यजाति पशुओंसे उत्तम है, देवताओं-

से उत्तम नहीं है'। यह विभज्य-वचनीय है। 'यह संसार अन्तवान् है या अनन्त है?' यह अवचनीय है। क्योंकि दोनोंमेंसे एक विशेष कहने योग्य नहीं है। परन्तु आगमप्रमाण (शब्दप्रमाण) से इसका उत्तर यह है कि ज्ञानियोंके संसार-क्रमकी समाप्ति है, अर्थात् ज्ञानियोंका संसार अन्तको प्राप्त होता है, अज्ञानियोंको नहीं होता। ज्ञानी संसारक्रमके समाप्त होनेपर अर्थात् संसारके अन्त होनेपर मुक्त हो कैवल्यपदको प्राप्त होते हैं।

टिप्पणी—भोजवृत्तिमें यह सूत्र कुछ पाठान्तरके साथ लिखा गया है, इसलिये इस सूत्रका भोजवृत्तिके अर्थसहित पाठकोंकी जानकारीके लिये देते हैं।

क्षणप्रतियोगी परिणामोऽपरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

उक्त क्रमका लक्षण कहते हैं—

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र ३३ ॥

सबसे छोटे कालका नाम क्षण है, (क्षण भी क्रियात्मक और शब्दबोधात्मक परिणाम ही है।) उस क्षणका जो प्रतियोगी (निरूपक) क्षणसे भिन्न परिणाम है, वह गुणोंका क्रम है। जाने हुए क्षणोंमें पीछे जोड़ लगानेसे ही वह ग्रहण किया जाता है। बिना जाने हुए क्षणोंके उनमें क्रम नहीं जाना जा सकता, इससे उसे 'अपरान्तनिर्ग्राह्य' कहा है।

विशेष वक्तव्य—॥ सूत्र ३३ ॥ श्रीविज्ञान भिक्षु आदि सूत्रमें 'परिणामापरान्त' पाठ मानते हैं। श्रीरामानन्द यति कुछ विभिन्न व्याख्यान करते हैं। वे क्षणप्रतियोगी शब्दका षष्ठी समास नहीं, किन्तु बहुव्रीहि करते हैं (वही ठीक मालूम होता है) अर्थात् 'क्षणौ प्रतियोगिनौ निरूपकौ यस्य, असौ क्षणप्रतियोगी'। क्षण हैं निरूपक बतलानेवाले जिसके, वह क्षणप्रतियोगी है। क्षण कलांश (परिमाणविशेष) को कहते हैं। क्षणोंमें बुद्धिको समाधिस्थ करके ही क्रम (पूर्वापरभाव) जानने योग्य है। इससे यह बता दिया कि क्षणिक परिणाम होता है। उस क्रममें प्रमाण देते हैं—

'अपरान्तनिर्ग्राह्यः'। कहीं क्रम प्रत्यक्ष और कहीं अनुमेय है। मृत्तिकामें पिण्ड, घट, कपाल, चूर्ण कणरूपी प्रत्यक्ष परिणाम होते हैं। उनका पूर्वान्त पिण्ड है और अपरान्त कण है। इनमें पूर्वोत्तर अवधिके ज्ञानसे क्रम, निश्चितरूपसे गृहीत होता है, अर्थात् मृत् पिण्डके अनन्तर घट होता है ऐसा क्रम प्रत्यक्ष है। अच्छे प्रकार रक्खा हुआ वस्त्र भी पुराना पड़ जाता है। वस्त्रमें पुरानापन एक बार तो आता नहीं, किंतु क्षण-क्षणमें पूर्वान्त नवीनतासे लेकर पुराणता होती रहती है। अर्थात् नवीन होनेके बाद अत्यन्त सूक्ष्म पुराणता, फिर सूक्ष्म पुराणता इत्यादिरूपसे पुराणता होती रहती है। वहाँपर क्रम अनुमान करने योग्य है। यह क्रम नित्य और अनित्य दोनों प्रकारके पदार्थोंमें होता है। नित्य दो प्रकारके हैं। एक—कूटस्थ नित्य होते हैं जैसे—पुरुष। द्वितीय—परिणामी नित्य होते हैं, जैसे सत्त्वादि गुण। धर्म, लक्षण, अवस्था—इन तीनों प्रकारों (तृतीय पादके १३ वें सूत्रोक्त) से परिणाम होनेपर भी, धर्ममें स्वरूपका नाश न होना 'परिणामी नित्यता' है। एक धर्मको छोड़ धर्मान्तरको ग्रहण करना 'परिणाम' है। अनित्य बुद्धि आदि धर्मियोंमें जो क्रम है, वह अवधिसहित है। बुद्धिमें रागादि परिणाम 'पूर्वान्त' और पुरुषका प्रत्यक्ष करना 'अपरान्त' क्रम है। परिणामी नित्य गुणोंमें परिणामका क्रम, अवधि (हद) से रहित है। क्योंकि मुक्त पुरुषोंके प्रति, गुणोंका परिणाम न होनेपर भी बद्ध जीवोंके प्रति होता ही रहता है।

प्रश्न— सब जीव मुक्त हो सकते हैं या नहीं ? यदि हो सकते हैं, तो प्रकृति (गुणों) का परिणाम अवधिसे रहित मानना ठीक नहीं और नहीं हो सकते तो तत्त्वज्ञानमें किसे विश्वास होगा अर्थात् तत्त्वज्ञान होनेपर भी, यदि नहीं हो सकते तो तत्त्वज्ञानमें विश्वास उठ जायगा, विश्वास उठनेसे कोई मुमुक्षु न रहेगा; इत्यादि दोष होंगे।

उत्तर—तीन प्रकारका प्रश्न हो सकता है—एकान्तवचनीय, विभज्यवचनीय, अवचनीय। यदि पहला प्रश्न किया जाय कि क्या सब उत्पन्न हुए मरेंगे ? तो यह एकान्तवचनीय है, अर्थात् कहना चाहिये कि हाँ अवश्य मरेंगे। आपका किया हुआ जो दूसरा प्रश्न है, वह 'विभज्यवचनीय' है अर्थात् विभाग करके उत्तरणीय है—कि जिसे तत्त्वज्ञान होगा, वह मुक्त हो जायगा और जिसे न होगा, वह नहीं। जीव अनन्त हैं, सृष्टि-प्रलय भी अनन्त है। इससे सबकी मुक्ति नहीं हो सकती। तीसरा प्रश्न यह हो सकता है कि प्रकृतिका परिणामक्रम समाप्त होता है या नहीं ? इसके उत्तर दो हो सकते हैं—प्रथम यह है कि निश्चित नहीं कर सकते कि समाप्त होता है या नहीं। द्वितीय यह है कि जो ज्ञानी हैं, उनके लिये समाप्त होता है; अन्योंके लिये नहीं। वास्तविक परिणामक्रम परिणामी नित्य गुणोंमें है और पुरुषमें कल्पित है, वस्तुतः नहीं अर्थात् बुद्धिके परिणामोंका आरोप है इत्यादि भाष्यका तात्पर्य है।

सङ्गति—गुणोंके परिणामक्रमकी समाप्तिपर कैवल्य कहा गया है। उसका स्वरूप अगले सूत्रमें बताते हैं—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—पुरुषार्थशून्यानां-गुणानाम् = पुरुष-अर्थसे शून्य हुए गुणोंका; प्रतिप्रसवः = अपने कारणमें लीन हो जाना; कैवल्यम् = कैवल्य है; वा = अथवा; स्वरूप-प्रतिष्ठा = अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाना; चितिशक्तिः = चितिशक्तिका (कैवल्य है); इति = और यह पाद तथा योगशास्त्र समाप्त होता है।

अन्वयार्थ—पुरुषार्थसे शून्य हुए गुणोंका अपने कारणमें लीन हो जाना कैवल्य है अथवा चितिशक्तिका अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाना कैवल्य है।

व्याख्या—गुणोंकी प्रवृत्ति पुरुषके भोग अपवर्गके लिये है। इसलिये भोग और अपवर्ग ही पुरुषार्थ है। इसी पुरुषार्थके लिये गुण शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि आदिमें परिणत हो रहे हैं। जिस पुरुषका यह प्रयोजन सिद्ध हो गया उसके प्रति इनका कोई कार्य शेष नहीं रहता। तब उस पुरुषके भोग तथा अपवर्गरूप पुरुषार्थके सम्पादनसे कृतार्थ हुए पुरुषार्थ-शून्य कार्य-कारण स्वरूप गुण प्रतिप्रसवको प्राप्त होते हैं अर्थात् प्रतिलोम परिणामसे अपने कारणमें लीन हो जाते हैं। अर्थात् व्युत्थान समाधि और निरोधके संस्कार मनमें लीन हो जाते हैं—मन अहंकारमें, अहंकार बुद्धि (चित्त) में और बुद्धि प्रधान प्रकृतिमें लय हो जाती है। इस प्रकार पुरुषका अन्तिम लक्ष्य अपवर्ग सम्पादन करनेके पश्चात् गुणोंके अपने कारणमें लीन हो जानेका नाम कैवल्य, अर्थात् गुणोंका उस पुरुषसे अलग होना है। अथवा यों कहना चाहिये कि धर्म चित्तके परिणाम क्रम बनानेवाले गुणोंका अपने कारणमें लीन हो जानेपर चितिशक्ति पुरुषका चित्तसे किसी प्रकारका सम्बन्ध न रहनेपर अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जानेका नाम कैवल्य है। इसकी सविस्तर

व्याख्या तृतीय पादके ५५ वें सूत्रमें कर दी गयी है । यहाँ यह और जान लेना चाहिये कि जैसे वेदान्त-में अज्ञानकी निवृत्ति और परमानन्दस्वरूप ब्रह्म-प्राप्तिको समकाल होनेपर भी कहीं अज्ञानकी निवृत्तिको जैसे 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' और फिर अन्तमें सारी माया निवृत्त हो जाती है और कहीं ब्रह्मकी प्राप्तिको जैसे 'स यो वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' जो निश्चय उस ब्रह्मको जानता है ब्रह्म ही हो जाता है' मुक्ति कहा है । वैसे ही यहाँपर भी गुणोंका प्रतिप्रसव और चितिशक्तिकी स्वरूपप्रतिष्ठा इन दोनोंके समकाल होनेपर भी तात्पर्यकी एकता होनेसे कैवल्यके दो लक्षण कहे हैं । लक्षणभेदसे कैवल्यका भेद नहीं किया है ।

सम्यग् ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः ॥
प्राप्ते शरीरं भेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥ (सां० का० ६७, ६८)

यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिसे जब कि धर्म आदि अकारण बन जाते हैं, तब पुरुष (पिछले) संस्कारके वशसे चक्रके सदृश शरीरको धारण किये हुए ठहरा रहता है । शरीरके छूट जानेपर और चरितार्थ होनेसे प्रधानकी निवृत्ति होनेपर ऐकान्तिक (अवश्य होनेवाले) और आत्यन्तिक (बने रहनेवाले) दोनों प्रकारके कैवल्यको प्राप्त होता है ।

'इति' शब्द इस पाद तथा योगशास्त्रकी समाप्तिके लिये लाया गया है ।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र ३४ ॥

अब फलरूप मोक्षके सामान्यस्वरूपको कहते हैं—जो सत्त्वादि गुण भोग और मोक्षरूप पुरुषार्थको समाप्त कर चुके उनका जो उल्टे-उल्टे परिणामकी समाप्ति होनेपर क्षणोंमें विकारका पैदा न होना अथवा वृत्तियोंके तुल्यरूपकी निवृत्ति होनेपर चेतनशक्तिका अपने स्वरूपमात्रमें स्थिति करना मोक्ष कहा जाता है, केवल हमारे ही दर्शन (मत) में मोक्षावस्थामें पुरुष इस प्रकारका चेतनरूप नहीं होता, किंतु अन्य दर्शनोंमें भी विचार करनेपर स्वरूपावस्थित होता है । जैसे—

आत्मा क्षणिक विज्ञान नहीं है—संसारावस्थामें कर्ता, भोक्ता और विचार करनेवाला आत्मा प्रतीत होता है । अन्यथा यदि एक कोई चेतन उस प्रकारका न हो और ज्ञानक्षणोंको ही, जो कि पूर्वापरविचारसे शून्य हैं आत्मा माना जाय तो कर्म और फलका सम्बन्ध नियमपूर्वक नहीं हो सकता और किये हुएकी हानि, नहीं किये हुएकी प्राप्तिरूप दोष भी हो । जिसने शास्त्रोंमें ही कहे हुए कर्मको किया है, वही यदि भोक्ता रहे तो सबकी प्रवृत्ति कल्याणप्राप्तिके लिये दुःखकी निवृत्तिके लिये हो सकती है । ग्रहण करना या छोड़ना विचारसे ही होता है । इससे और ज्ञानक्षणोंको परस्पर भिन्न होनेसे (पूर्वापर) विचारशून्यता है । यदि कोई उनका अनुसंधान करनेवाला न रहे तो किसीका भी व्यवहार नहीं चल सकता । इससे जो कर्ता, भोक्ता, अनुसंधाता (विचार करनेवाला अथवा जाननेवाला) है वह आत्मा है यह व्यवस्था की जाती है । मोक्षावस्थामें केवल चैतन्यरूप ही आत्मा रहता है; क्योंकि मोक्षदशामें तो ग्राह्य-ग्राहकरूप अर्थात् ग्रहण करना आदि सब व्यवहारोंके न रहनेसे केवल चैतन्य ही शेष रहता है । वह चैतन्य, अपने स्वरूपको जाननेसे नहीं है, किंतु स्वरूपसे है; क्योंकि विषयोंको ग्रहण करनेकी सामर्थ्य ही चेतनका स्वरूप है । अपने स्वरूपको ग्रहण करना नहीं (ऐसा ही श्रुति बतलाती है) । यथा—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' सबके

जाननेवाले विज्ञाताको किससे जाना जा सकता है। तथा 'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्' जिससे ये सब कुछ जाना जाता है उसको किससे जानें? जैसे चेतनसे गृहीत हुई वस्तु 'यह है' इस प्रकार ग्रहण की जाती है और चेतनका स्वरूप 'अहं' अर्थात् 'मैं हूँ' इस प्रकार ग्रहण किया जाता है। आपसमें विरुद्ध, बहिर्मुखता और अन्तर्मुखतारूप दो व्यापार एक कालमें नहीं हो सकते तो चेतनस्वरूपसे ही शेष रहता है। इससे मोक्षावस्थामें गुणोंके कार्योंकी समाप्ति होनेपर केवल चैतन्यरूप ही आत्मा रहता है यही ठीक है, और संसारदशामें तो ऐसे ही आत्माको कर्ता, भोक्ता और अनुसंधाता होना सब ठीक है।

आत्माका संसारदशा और मुक्ति-अवस्थामें एक ही रूप है। देखिये जो ये प्रकृतिके साथ अज्ञानमूलक भोग्यका भोग करनारूप अनादि स्वाभाविक सम्बन्ध है उसके होनेपर और जो पुरुषार्थ-कर्तव्यतारूप शक्तियोंके होनेसे (चौथे पादके २३ वें सूत्रोक्त) प्रकृतिका महान् आदिरूपसे परिणाम है, उसमें संयोग होनेपर जो आत्माका अधिष्ठाता (स्वामी) बनना अर्थात् अपने प्रतिबिम्बको समर्पण करनेकी शक्ति अन्तःकरणकी पड़े हुए चेतन प्रतिबिम्बको ग्रहण करनेकी शक्ति रखना, तथा चेतनके सम्बन्धसे बुद्धिमें कर्तृत्व, भोक्तृत्वका निश्चय है, उसीसे स्मृतिपूर्वक व्यवहारोंकी सिद्धि हो जायगी; फिर अन्य तुच्छ कल्पनाओंसे क्या प्रयोजन? (अर्थात् कोई प्रयोजन नहीं) यदि इस प्रकारके मार्गको छोड़कर आत्मामें पारमार्थिक कर्तृत्वादि धर्मोंको स्वीकार किया जाय, तो आत्माको परिणामी मानना पड़ेगा। परिणामी और अनित्य माननेपर आत्माका आत्मभाव अर्थात् एकरससे रहना न बनेगा। क्योंकि एक ही समयमें, एक रूपसे, परस्पर विरुद्ध अवस्थाओंका ज्ञाता नहीं हो सकता। जैसे जिस अवस्थामें आत्मामें समवाय सम्बन्धसे सुख उत्पन्न हुआ, उसी अवस्थामें आत्मामें दुःखका अनुभव करना नहीं हो सकता तो अवस्थाओंके भेद होनेसे अवस्थाओंसे अभिन्न अवस्थावालेका भेद मानना चाहिये। भेद माननेसे परिणामी मानना पड़ेगा और परिणामी माननेपर न आत्मामें आत्मभाव रह सकता है, न नित्यभाव। इसलिये योगाचार्य तथा सांख्याचार्य आत्माका संसार-दशामें और मुक्ति-अवस्थामें एक ही रूप स्वीकार करते हैं।

आत्मा वृत्ति-ज्ञानसे विलक्षण स्वयंप्रकाश ज्ञान-स्वरूप है। जो वेदान्ती लोग (उपनिषदों तथा व्यास भगवान्‌के तात्पर्यको भली प्रकार न समझकर) चिदानन्दमय होना, आत्माकी मुक्ति मानते हैं उनका मत ठीक नहीं है। क्योंकि आनन्द सुखरूप ही है और सुख सर्वदा ज्ञेय (जानने योग्य) रूपसे ही भान होता है और ज्ञेयता बिना ज्ञानके नहीं हो सकती, तो ज्ञान, ज्ञेय दो पदार्थोंको माननेसे (उसके माने हुए) अद्वैतवादकी हानि होगी। मुक्ति-प्राप्त आत्माको सुखरूप मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान, ज्ञेय एक नहीं हो सकते। अद्वैतवादी लोग कर्मात्मा और परमात्माके भेदसे दो प्रकारका आत्मा मानते हैं, तो जिस प्रकारसे कर्मात्माको सुख-दुःखका भोग होता है उसी रूपसे यदि कर्मात्माके तुल्य परमात्माको सुख-दुःखका भोक्ता माना जाय तो परमात्मा परिणामी और अज्ञानी हो जाय। 'ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि श्रुतियोंसे परमात्मा ज्ञानस्वरूप ही सिद्ध होता है और जहाँ कहीं आनन्द शब्द ब्रह्मके साथ आया है वहाँ उसको ज्ञान अर्थमें लेना चाहिये और यदि सुखके अर्थमें लिया जाय तो वह अपर-ब्रह्म = सबल ब्रह्म = सगुण ब्रह्म अर्थात् ईश्वरका बोधक होगा न कि पर-ब्रह्म = शुद्धब्रह्म = निर्गुण ब्रह्म अर्थात् परमात्माका, क्योंकि सुख प्रकृतिके सत्त्व गुणमें है और शुद्ध ब्रह्म परमात्मा प्रकृतिसे परे है। और यदि आत्माको साक्षात् भोग नहीं होता, किंतु बुद्धिद्वारा आरोपित भोग होता है अर्थात् परमात्मासे प्राप्त भोक्तृत्वको

उदासीनरूपसे अधिष्ठाता हुआ स्वीकार करता है। यह माना जाय तो हमारे मतमें (योगोक्त मतमें) प्रवेश होगा। आत्मा आनन्द (सुख) रूप है, यह पहले ही खण्डन कर दिया। और यदि आत्माको अविद्या स्वभाव माना जाय तो स्वयं स्वभावशून्य होनेसे अर्थात् अपनेमें किसी धर्मके न रहनेसे शास्त्रका अधिकारी कौन रहेगा ? क्योंकि सर्वदा मुक्त होनेसे परमात्मा (शास्त्रका अधिकारी) नहीं हो सकता, और न अविद्या स्वभाव होनेसे कर्मात्मा (शास्त्रका) अधिकारी हो सकता है। तो अधिकारी न होनेसे सब शास्त्र व्यर्थ हो जायँगे। यदि जगत्को अविद्यामय माना जाय तो वह अविद्या किसको है ? यह विचार किया जाता है—परमात्माको अविद्या है, यह नहीं कह सकते; क्योंकि वह नित्यमुक्त है और विद्यारूप है अर्थात् चैतन्यरूप है। और न कर्मात्माको अविद्या है क्योंकि वह (अविद्याके) स्वयं स्वभावशून्य होनेसे शशविषाण (खरगोशके सींग) के तुल्य होनेसे अर्थात् कल्पनामात्र होनेसे अविद्याके साथ कैसे सम्बद्ध हो सकता है ? यदि यह कहा जाय कि विचारमें न आना ही अविद्याका अविद्यापन है अर्थात् जो सूर्यकिरणोंके स्पर्शसे ही नीहार (बर्फका कुहर) के तुल्य नष्ट हो जाय वह 'अविद्या' है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जो वस्तु कुछ काम करती है उसे अवश्य किसीसे भिन्न अथवा अभिन्न कहनो चाहिये। और अविद्याका संसाररूपी कार्यका करना अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा। उस कार्यके करनेपर भी अनिर्वचनीय अविद्याको माननेसे कोई भी पदार्थ निर्वचनीय न रहेगा तो ब्रह्म भी निर्वचनीय न ठहरेगा अर्थात् सत्य, ज्ञानादिरूपसे उसका निरूपण न हो सकेगा। इससे चैतन्यरूप अधिष्ठातृताके सिवा पुरुषका अन्यरूप सिद्ध नहीं हो सकता अर्थात् वृत्तिज्ञानसे विलक्षण स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूप आत्मा है।

आत्मत्वादि जातियोंसे भिन्न मुक्तात्मा अधिष्ठान चैतन्यरूप है—जो नैयायिक आदि (गौतम मुनि और कणाद मुनिके अभिप्रायको न जानकर) बुद्धिके योगसे आत्माको चेतन मानते हैं और बुद्धिको भी मनके संयोगसे उत्पन्न मानते हैं; जैसे कि इच्छा, ज्ञान-प्रयत्नादि जीवात्माके गुण व्यवहारदशामें अर्थात् संसारावस्थामें आत्मा और मनके संयोगसे उत्पन्न होते हैं। उन्हीं गुणोंसे आत्मा स्वयं ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता कहा जाता है और मोक्षदशामें तो मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होनेसे मिथ्याज्ञानमूलक राग-द्वेषादि सब गुणोंकी भी निवृत्ति हो जाती है तो आत्माके विशेष गुण अर्थात् ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, सुख, दुःख, द्वेष—इन सबका अत्यन्त नाश हो जाता है; फिर आत्मा अपने स्वरूपमात्रमें स्थित होता है। यह उनका पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि मोक्षदशामें नित्यत्व, व्यापकत्व आदि गुण तो आकाशादिकोंके भी रहते हैं, इससे उनसे विलक्षण आत्माका चैतन्यरूप अवश्य अङ्गीकार करना चाहिये। आत्मत्व जातिका सम्बन्ध ही आकाशादिकोंसे विलक्षणता है, यह नहीं कह सकते। क्योंकि आत्मत्व-जातिका योग तो संसारी जीवोंमें भी है (मुक्तात्माको संसारियोंसे विलक्षण होना चाहिये) इससे आत्मत्वादि जातियोंसे भिन्नता मुक्तात्माकी अवश्य माननी चाहिये; और वह भिन्नता अधिष्ठानचैतन्यरूप माननेसे ही घट सकती है अन्यथा नहीं।

आत्मा 'अहम्' प्रतीतिका विषय नहीं, किंतु केवल चिद्रूप अधिष्ठाता है—जो मीमांसक लोग (जैमिनि मुनिके सिद्धान्तको ठीक-ठीक न समझते हुए) आत्माको कर्म-कर्तारूप मानते हैं, उनका पक्ष भी ठीक नहीं है। उनकी प्रतिज्ञा है कि 'अहम्' (मैं) प्रतीति (ज्ञान) से ग्रहणके योग्य आत्मा है, 'अहम्' प्रतीतिमें आत्माको (आश्रयता सम्बन्धसे) कर्तृत्व और (विषयता सम्बन्धसे) कर्मत्व है। पर यह

उनका मन्तव्य अयुक्त है। क्योंकि प्रमातृत्वरूप कर्तृत्व और प्रमेयत्वरूप कर्मत्वका विरोध है (प्रमाता जाननेवाला, प्रमेय जानने योग्य) अर्थात् जाननेवाला और जानने योग्य होना ऐसे विरुद्ध धर्मोंका एक कालमें, एक पदार्थमें समावेश नहीं हो सकता। जो विरुद्ध धर्मोंके अधिष्ठान हैं, वे एक नहीं; जैसे—भाव और अभाव। कर्तृत्व, कर्मत्व भी परस्पर विरुद्ध धर्म हैं। यह कहना कि कर्तृत्व और कर्मत्वका विरोध नहीं, किंतु कर्तृत्व और करणत्वका है, ठीक नहीं; क्योंकि विरोधी धर्मोंका अध्यारोप दोनों स्थानोंमें तुल्य होनेसे केवल कर्तृत्व और करणत्वका ही विरोध है, कर्तृत्व-कर्मत्वका नहीं, यह कौन कह सकता है? (अर्थात् कोई नहीं कह सकता)। इससे आत्माको अहं प्रतीतिका विषय न मानकर, केवल चिद्रूप अधिष्ठाता ही मानना चाहिये।

आत्मा अव्यापक शरीर-तुल्य परिमाणवाला और परिणामी नहीं है—जो द्रव्यबोध पर्यायभेदसे अर्थात् नामान्तर रखकर आत्माको अव्यापक शरीर-तुल्य परिमाणवाला और परिणामी मानते हैं, उनका पक्ष तो उठकर ही मरा हुआ है अर्थात् बिल्कुल ही निकम्मा है; क्योंकि परिणामी माननेसे चेतन कहाँ रहा वह तो जडरूप हो गया। (जो परिणामी है, वह अचेतन है यह व्याप्ति है) जड माननेपर आत्मामें क्या आत्मभाव रहा इससे अधिष्ठातृतारूप चैतन्य ही आत्मा है।

आत्मामें साक्षात् कर्तृत्व धर्म नहीं है—कोई कर्तारूप ही आत्माको मानते हैं। जैसे—घटादि विषयोंके समीप होनेपर, जो ज्ञानरूप क्रिया उत्पन्न होती है, उस क्रियाका विषय संवेदन अर्थात् विषयोंका प्रकाशरूपी फल है। उस फलमें फलका स्वरूप प्रकाशरूपसे भासित होता है और विषय ग्राह्यरूपसे तथा आत्मा ग्राहकरूपसे; क्योंकि 'घटमहं जानामि' (घटको मैं जानता हूँ) इस आकारसे वह फल उत्पन्न होता है। क्रियाका कारण कर्ता ही है, इससे कर्तृत्व और भोक्तृत्व आत्माका ही रूप है। यह पक्ष भी युक्ति-युक्त नहीं। (क्योंकि इन विकल्पोंका उत्तर नहीं बन सकता) यह बताओ कि संविचिरूप फलोंका कर्ता आत्मा एक कालमें ही होता है अथवा क्रममें? एक किसी कालमें सबोंका कर्ता मानो तो अन्य क्षणोंमें कर्ता नहीं रहेगा (तो आत्माको कर्ता मानना ठीक नहीं) और क्रमसे कर्ता होना भी एकरूप आत्माका नहीं घट सकता; क्योंकि यदि उसे एक रूपसे ही कर्ता माना जाय तो वह सर्वदा (व्यापक होनेसे) पास तो है ही, सब फल भी एकरूप होने चाहिये। और यदि अनेकरूपसे कर्ता माना जाय तो परिणामी होनेसे चिद्रूप नहीं हो सकता। इससे सिद्ध हुआ कि आत्माको चैतन्यरूप माननेवालोंको आत्मामें साक्षात् कर्तृत्व धर्म नहीं मानना चाहिये, किंतु कूटस्थ, नित्य, चिद्रूप आत्माका कर्ता होना जैसा हमने प्रतिपादन किया है, वह ही ठीक है।

जो ऐसा मानते हैं कि विषयोंके ज्ञान अथवा प्रकाशद्वारा आत्मामें ग्राहकता-शक्ति प्रकट हो जाती है, उनका पक्ष भी उक्त विकल्पोंसे खण्डित जानना चाहिये।

आत्मा विमर्शरूपसे चेतन नहीं है। कोई विमर्शरूपसे आत्माको चेतन मानते हैं, वे कहते हैं कि बिना विमर्श (विचार) के आत्माको चेतनरूप नहीं बतला सकते। चैतन्यरूप जगत्से भिन्न है; पर, विचारके सिवा अन्यथा उसकी स्थिति नहीं हो सकती (अर्थात् विचाररूप ही है)। यह पक्ष भी अयुक्त है; क्योंकि विचारका नाम 'विमर्श' है। वह बिना अस्मिता (द्वितीय पादके ६ सूत्रोक्त) के नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मा (अन्तःकरण) में पैदा होनेवाला विमर्श 'अहमेवंभूतः' 'मैं ऐसा हूँ'

इस आकारसे जाना जाता है। और इस प्रतीतिमें अहं शब्दसे भिन्न आत्म-रूपी अर्थका प्रकाश होनेसे विकल्पस्वरूपता अर्थात् यथार्थज्ञानसे भिन्नता है। स्वभावसिद्ध निश्चयात्मक ज्ञान बुद्धिका धर्म है, चेतन-का नहीं; क्योंकि कूटस्थ नित्य होनेसे चैतन्य सदा एकरूप रहता है। चितिको नित्य होनेसे ही अहङ्कारमें अन्तर्भाव नहीं कर सकते। इससे आत्माको विचाररूप सिद्ध करनेवालेने बुद्धिको ही आत्मा भ्रान्तिसे समझ लिया है। प्रकाशरूप आत्माके स्व-रूपको नहीं समझा।

सब दर्शनोंमें आत्माका अधिष्ठातृतारूप ही और वृत्तियोंके सदृश रूपोंको छोड़कर स्वरूपमें स्थित होना ही चिति-शक्तिका कैवल्य सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार सब दर्शनोंमें ही अधिष्ठातृताको छोड़कर, आत्माका अन्यरूप नहीं बन सकता। जड़से भिन्न चैतन्यरूपता ही 'अधिष्ठातृता' है। जो चित्तरूपसे अधिष्ठान करता है, वह ही (बुद्धिको) भोग्य बनाता है। और जो चेतनसे अधिष्ठित है वह सब कार्मोंके योग्य होता है। इस प्रकार आत्माको नित्य माननेसे प्रकृतिके व्यापारकी निवृत्ति होनेपर जो आत्माका मोक्ष हमने वर्णन किया है उसे छोड़कर अन्य मतोंकी कोई गति नहीं। इससे यह युक्ति-युक्त कहा है कि वृत्तियोंके सदृश रूपोंको (जो कि प्रतिबिम्बित होते रहते हैं) छोड़कर अपने स्वरूपमें स्थित होना चितिशक्तिका कैवल्य (मुक्ति) है।

नोट—यहाँ यह न समझना चाहिये कि वृत्तिकारने अन्य दर्शनोंका खण्डन किया है, किंतु 'अन्य शास्त्रोंमें ऐसी ही मुक्ति बन सकती है' यह सिद्धकर कैवल्य (मुक्ति) के स्वरूपका निरूपण किया है। विशेष जानकारीके लिये भूमिकारूप 'षड्दर्शन-समन्वय' में देखें।

उपसंहार

उक्त प्रकारसे (इस पादमें) अन्य सिद्धियोंसे भिन्न सब सिद्धियोंकी मूल समाधि-सिद्धिको कहकर अन्य जातिमें परिणामरूप सिद्धिकी प्रकृतिकी पूर्णता कारण है, यह सिद्ध कर; धर्माधर्मकी प्रतिबन्धकको हटानेमात्रमें शक्ति है; यह दिखाकर सिद्धिजन्य पाँचों चित्तोंका अस्मितामात्रसे होना बतलाकर, (सूत्र ४ के विशेष वक्तव्यमें) एक समयमें भोगनिवृत्तिके लिये बहुत-से चित्तों और शरीरोंकी अस्मितामात्रसे उत्पत्ति बतलानेवाले शब्दोंके प्रामाणिक होनेमें जो संदेह उत्पन्न होते हैं उनको दिखलाकर सूत्र ४ की प्रसङ्गानुसार व्याख्या कर, पाँच प्रकारकी सिद्धियोंसे उत्पन्न हुए निर्माण चित्तोंमेंसे समाधिजन्य चित्तको अपवर्गका भागी बतलाकर, योगीके कर्मोंकी, लौकिक कर्मोंसे विचित्रताको सिद्धकर, कर्म-फलानुकूल वासनाओं (संस्कारों) के प्रकट होनेको समर्थनकर, कार्य-कारणकी एकता सिद्ध करनेसे व्यवधान (बीच) युक्त वासनाओंकी समीपताको सिद्धकर, वासनाओंके अनन्त होनेपर भी, हेतु-फलादिद्वारा उनका नाश बताकर, भूतादि कालोंमें घटादि धर्मोंकी स्थितिको उपपादन कर, विज्ञानवादियोंकी शङ्काओंको निवृत्तकर, चित्तद्वारा पुरुषको ज्ञाता माननेसे सब व्यवहारोंकी सिद्धिको निरूपणकर, पुरुषके होनेमें प्रमाण दिखाकर, मुक्तिके निर्णयके लिये दस सूत्रोंसे, क्रमसे उपयोगी अर्थोंको कहकर, अन्य शास्त्रोंमें भी 'ऐसी ही मुक्ति बन सकती है' यह सिद्धकर, मुक्तिके स्वरूपका निर्णय किया। इस प्रकार पातञ्जल-योग-प्रदीपमें कैवल्य नामवाले चौथे पादकी व्याख्या समाप्त हुई।

इति पातञ्जलयोगप्रदीपे कैवल्यपादः चतुर्थः

मूल सूत्र

इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे समाधिनिर्देशो नाम प्रथमः पादः ॥ १ ॥

अथ साधनपादः—२

इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे साधननिर्देशो नाम द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

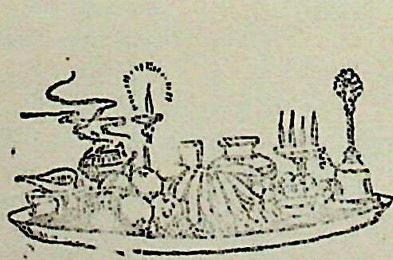
अथ विभूतिपादः—२

इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे विभूतिनिर्देशो नाम तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

अथ कैवल्यपादः—४

इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे कैवल्यनिरूपणं नाम चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

॥ समाप्तं योगदर्शनम् ॥



वर्णानुक्रमसूत्रसूची

तत्त्वसमाससांख्य-सूत्र

पातञ्जलयोग-सूत्र

शब्दानुक्रमणी

षड्दर्शनसमन्वय

(अ)

(आ)

(इ)

(ई)

(उ)

विषयसूची

पातञ्जलयोगप्रदीप

(१) समाधिपाद

(२) साधनपाद

परिशिष्ट ५

पुस्तकके छप जानेके बाद बढ़ाये हुए विषय

पृष्ठ-संख्या ४१ अन्तिम पंक्तिके पश्चात्—

विवर्त्तवादद्वारा रज्जुरूप आत्मसत्तासे सर्परूप त्रिगुणात्मक मायाको हटाकर शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति करायी जाती है। परिणामवादद्वारा सर्परूप त्रिगुणात्मक प्रकृतिसे रज्जुरूप आत्मसत्ताको पृथक् करके शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति करायी जाती है। किन्तु शंकरने तो अपने "निर्वाण पट्क" में क्रियात्मक रूपसे परिणामवादको ही सिद्ध किया है।

"मनोबुद्धिरहङ्कारचित्तानि नाहम्" यहाँ रज्जुरूप आत्मसत्ताको सर्परूप त्रिगुणात्मक मन, बुद्धि, अहंकार और चित्तसे पृथक् करके शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति करायी गयी है।

वास्तवमें शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थितिरूप लक्ष्यकी प्राप्तिमें इन दोनों वादोंमें कोई भेद नहीं है। सत् अर्थात् भाव पदार्थ और असत् अर्थात् अभाव पदार्थके लक्षण करनेमें ही अन्तर है। सांख्य और योग सत् अर्थात् भाव पदार्थमें कूटस्थ नित्यके साथ परिणामी नित्यको भी सम्मिलित करते हैं। शंकर सत् अर्थात् भाव पदार्थमें केवल कूटस्थ नित्यको ही मानते हैं। परिणामी नित्य पदार्थको इससे पृथक् करके असत् अर्थात् अभाव पदार्थमें रखते हैं। यद्यपि वे त्रिगुणात्मक परिणामिनी मायाको सत्-असत् दोनोंसे विलक्षण मानकर अनिर्वचनीय कहते हैं।

कैवल्य प्राप्त किये हुओंकी अपेक्षासे मायाका अभाव हो जाता है अर्थात् माया अनादि सान्त है, इसलिये शंकर उसको असत्की श्रेणीमें रखते हैं। सांख्य और योग "कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्" (योग० २। २२) के अनुसार, प्रकृति यद्यपि कैवल्य प्राप्त किये पुरुषोंके प्रति नष्ट हो जाती है किन्तु अपने स्वरूपसे नष्ट नहीं होती क्योंकि वह दूसरे पुरुषोंके भोग और अपवर्गके सम्पादनमें लगी रहती है, अर्थात् यद्यपि प्रकृति कृतार्थ पुरुषोंके लिये सान्त है किन्तु अपने स्वरूपसे तो अनादि और अनन्त ही है। विवर्त्तवादके अनुसार यदि मायाको ब्रह्मकी अनिर्वचनीय शक्ति ही माना जाय तब भी वह "पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" श्रुतिके अनुसार अपने स्वरूपसे अनादि, अनन्त ही सिद्ध होती है इसलिये उसको सत् अर्थात् भाव पदार्थकी श्रेणीमें रखते हैं।

यदि विवर्त्तवादवाले सत् अर्थात् भाव पदार्थकी श्रेणीमें परिणामी नित्य पदार्थको भी सम्मिलित कर लें तो उनको परिणामवादके माननेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार यदि परिणामवादवाले सत् अर्थात् भाव पदार्थकी श्रेणीमेंसे परिणामी नित्य पदार्थको अलग कर दें तो उनको भी विवर्त्तवादके माननेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकेगी।

यह भेद हमने केवल इसलिये दर्शाया है कि दोनों वादवाले एक दूसरेके अभिप्रायको ठीक-ठीक रूपसे समझ सकें।

मुद्रक—गौरीशंकर प्रेस, मध्यमेश्वर, वाराणसी।

मिलनेका पता—

गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)